गुरु-गङ्गेश्वर-ग्रन्थमाला : प्रसून—११

भगवद्गीता और वेदगीता

लेखक :

न्यायभूषण श्री जगन्नाथ शास्त्री सारस्वत

प्रिंसिपल : महिला संस्कृत कालेज, लैया

आमुख-लेखक :

वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी

गङ्गेश्वरानन्दजी उदासीन
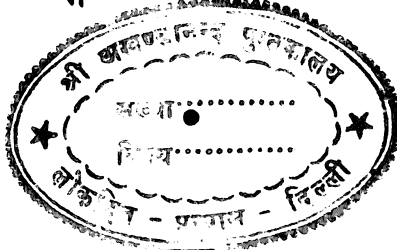
प्रकाशक :

गुरु-गङ्गेश्वर-चतुर्वेद-संस्थान

गुरु-गङ्गेश्वर-जयन्ती, २०३० विक्रमाब्द

प्रकाशक :
गुरु-गङ्गेश्वर-चतुर्वेद-संस्थान
बम्बई

●

प्रथम संस्करण :
दिसम्बर १९७३
मूल्य : तीस रुपया

●

मुद्रक :
भार्गव भूषण प्रेस
त्रिलोचन, वाराणसी
२/८–७३

●

प्राप्तिस्थान :
१. उदासीन संस्कृत महाविद्यालय
ढुण्ढिराज, वाराणसी
२. गङ्गेश्वर-धाम, १३, पार्क एरिया,
करोलबाग, नई दिल्ली–५
३. उदासीन सद्गुरु गङ्गेश्वर जन-कल्याण ट्रस्ट,
तुलसी निवास, डी रोड, चर्चगेट, बम्बई–१

दो शब्द

जब मैं गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वारसे सम्बद्ध गुरुकुल मुलतानमें संस्कृताध्यापक हुआ तो वहाँ उच्च कक्षाओंमें न्यायदर्शन एवं ईशादि पाँच उपनिषदोंके अध्यापनका अवसर प्राप्त हुआ। इससे पूर्व शास्त्रि-परीक्षामें निर्धारित पाठ्यक्रमके रूपमें ऋग्वेदके ८०-९० सूक्त तथा निरुक्तके आरम्भिक ७ अध्याय एवं वेदव्रत सामश्रमीकृत निरुक्तालोचन ही पढ़ा था। अध्यापन कार्यमें नियुक्त होनेपर वेदके स्वाध्यायकी इच्छा बलवती हो गई।

स्वाध्याय करनेपर अथर्ववेद (१९-९-५) में 'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि' इस मन्त्रको देखा तो श्रीमद्भगवद्गीताका 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति' (१५-७) यह वचन स्मरण हो आया। तब गीताके प्रत्यध्यायकी पुष्पिकामें पठित 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इस वचन और गीताके माहात्म्यमें आए 'सर्वोपनिषदो गावः' श्लोकके आधारपर यह समझते देर न लगी कि वेदोंका सार उपनिषद् और उपनिषदोंका सार गीता है। अनन्तर ही वेदोंसे गीताके समन्वयकी भावना प्रबल हो उठी और इस ओर प्रयास आरम्भ कर दिया।

सन् १९३५ ई० में संस्कृत-व्याख्या-सहित वेदगीता पूरी हो गई। उसमें-से वैदिकी-व्याख्यासहित अष्टादशश्लोकी गीता जयपुरसे महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीके सम्पादकत्वमें प्रकाशित होनेवाले 'संस्कृत-रत्नाकर' मासिक पत्रमें प्रकाशित हुई। तत्पश्चात् महामहोपाध्याय श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीने 'वैदिक धर्म' मासिक पत्रके पृष्ठोंपर 'वेदगीतांक' शीर्षकके साथ अनेक अंकोंमें क्रमशः हिन्दी-अनुवाद-सहित पूरी वेदगीता मुद्रित कर दी। वे धन्यवादार्ह हैं।

सन् १९७० ई० में जब महामण्डलेश्वर श्रौतमुनि वेददर्शनाचार्य श्री १०८ स्वामी गंगेश्वरानन्दोदासीनवर्य महाराजके दर्शनार्थ

गंगेश्वरधाम, करोलबाग, नई दिल्ली गया तो उन्होंने इसका आद्यो-पान्त अवलोकन किया और अपने आमुख एवं गीताके प्रथम अध्यायकी स्वोपज्ञ व्याख्याके साथ इसे प्रकाशित करानेका मुझे आश्वासन दिया।

श्री स्वामीजीके चरणोंमें सश्रद्ध कृतज्ञता अर्पित है कि उन्होंने मेरे जीवन-कालमें ही इसे प्रकाशित करा दिया और अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिकासे इसे अलंकृत कर मुझे मेरी कामनासे भी अधिक संतृप्ति प्रदान कर दी। अब मैं इस कामसे निष्काम हो गया।

गीता-जयन्ती
२०३० वैक्रम

विद्वद्वशंवदः
जगन्नाथशास्त्री सारस्वत

अनुक्रम

आमुख

भगवद्गीता और वेदगीता

परिशिष्ट

आमुख

वेददर्शनाचार्य श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी उदासीन

गीताका आरम्भ : वैदिक धरातलपर !

सुविदित है कि पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने महाभारत-युद्धभूमि कुरुक्षेत्रमें धर्माधर्मके विषयमें किंकर्तव्यविमूढ़ अपने जिज्ञासु भक्त अर्जुनके प्रति अनादि एवं अपौरुषेय वेदोंका जो निष्कृष्टार्थ गान किया उसीका श्रीवेदव्यास-द्वारा संगुम्फित स्वरूप श्रीमद्‌भगवद्‌गीता है, जिसका सात सौ श्लोकोंका अष्टादशाध्यायात्मक आकार है। इन सात सौ श्लोकोंमें-से प्रथम अध्यायके सैंतालीस तथा द्वितीय अध्यायके दस, कुल सत्तावन श्लोक ऐतिहासिक पृष्ठभूमिसे सम्बन्ध रखते हैं, शेष छह सौ तैंतालीस श्लोक दार्शनिक भावोंके सूक्ष्म विवेचनसे सम्बद्ध हैं।

गीताके आविर्भावके पश्चात्से ही तत्तत्कालीन भाष्यकार, सम्प्रदायाचार्य तथा उनके अनुयायी विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोणसे इन दार्शनिक भावोंका सुविशद विवेचन करते आ रहे हैं और सबने यत्र-तत्र यह स्वीकृत भी किया है कि गीता के दार्शनिक भावोंकी आधारशिला वेद ही है। किन्तु वेद और गीताके समन्वयका सोदाहरण प्रतिपादन करके दोनोंका सीधा सम्बन्ध दिखानेका प्रयास बहुत कम किया गया है।

कुछ समय पूर्व पण्डितप्रवर न्यायभूषण श्री जगन्नाथशास्त्री सारस्वतद्वारा विरचित 'वेदगीता' अथवा गीताकी वेद-संवादिनी व्याख्या देखनेको मिली तो निस्सीम हर्ष हुआ। उन्होंने गीताके दार्शनिक भावोंसे ओतप्रोत श्लोकोंकी वेदमन्त्रोंसे तुलनाका कथापथातीत प्रशंसनीय प्रयास किया है। ऐतिहासिक भावोंसे सम्बद्ध श्लोकोंकी वेदमन्त्रोंसे तुलना करनेके प्रसंगमें उन्होंने भी मौन धारण कर लिया। लगता है, ऐतिहासिक अंशके प्रति उपेक्षाका भाव दिखानेमें वे पूर्वाचार्योंसे ही प्रभावित हैं। ऐसा तो नहीं माना जा सकता कि गीताके कथांश-की वेदमन्त्रोंसे तुलना करना उनके लिये कोई कठिन कार्य था, क्योंकि पुराणादि ग्रन्थोंका भी वेदमन्त्रोंसे साम्य निरूपित करनेमें वे सिद्धहस्त हैं। अभी निकट अतीतमें गुरु-गंगेश्वर-ग्रन्थमालाका दशम पुष्प 'गोपीगीतम्' प्रकाशित हुआ है जिसकी वेदसंवादिनी व्याख्यामें उन्होंने श्रीमद्‌भागवतके एक-एक श्लोककी तुलनामें कहीं-कहीं एक-एक तो क्या, दो-तीन-चारतक वेदमन्त्र प्रस्तुत किये हैं।

वेदोंका स्वाध्याय करते समय श्रीमद्‌भगवद्‌गीताके कथांश भागको वेदसे

समन्वित करनेकी दृष्टिसे जब हम विचार करते हैं तो अनेक मन्त्र उपस्थित हो जाते हैं। वेदगीताका कलेवर पुष्कल विस्तृत हो चुका है अतः उपर्युक्त आरम्भके सत्तावन श्लोकोंमें-से प्रत्येककी तुलनामें वेदमन्त्र प्रस्तुत करना समुचित न मानकर हम गीताके उस अंशका विषय-विभाग कर लेना ठीक समझते हैं। तदनन्तर एक-एक प्रसंगपर निदर्शनके रूपमें वेदमन्त्र प्रस्तुत कर देनेमें विस्तार-भय न रहेगा।

प्रथम अध्यायसे द्वितीय अध्यायके दशम श्लोकतक छह विषय स्पष्टतः प्रतीत होते हैं :

१. धृतराष्ट्रका प्रश्न (गी० १-१) ।

२. संजयके उत्तरमें दुर्योधनद्वारा दोनों सेनाओंके प्रमुख योद्धाओंका वर्णन (गी० १-२—११)।

३. भयानक शंखनादका वर्णन (गी० १-१२—१९) ।

४. अर्जुनके अनुरोधपर श्रीकृष्णद्वारा दोनों सेनाओंके बीच रथ-स्थापन तथा सैन्य-निरीक्षणका आदेश (गी० १-२०—२७॥) ।

५. दोनों सेनाओंमें उपस्थित स्वजनोंको देखकर उनके भावी मरणकी कल्पनासे अर्जुनकी व्याकुलता (गी० १-२८ के उत्तरार्धसे ४७ तक) ।

६. अर्जुनका विषाद निरस्त कर उसे युद्धार्थ प्रोत्साहित करनेके लिये श्रीकृष्णका उद्‌बोधन और अर्जुनकी जिज्ञासा तथा शिष्यत्व-स्वीकृति । अब इन छहोंमें-से क्रमशः प्रत्येक प्रसंगके द्योतक वेदमन्त्र हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

इम इन्द्र भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चिकितुर्न प्रपित्वम् ।
हिन्वन्त्यश्वमरणं न नित्यं ज्यावाजं परिणयन्त्याजौ ॥[1]

(ऋ० ३-५३-२४)

---

१. इमे—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे युयुत्सया समवेताः मामकाः पाण्डवाश्च सर्वे। भरतस्य पुत्राः—चन्द्रवंशे त्रयोविंशतितमस्य राज्ञः भरतस्य पुत्राः सन्ततयः वंशधराः। अपपित्वं चिकितुः—विश्लेषं विग्रहं जानन्ति अभ्यस्यन्ति। प्रपित्वं न—सन्धिं नैव जानन्ति, वंशरक्षानिमित्तं न संहिताः, विगृहीतवन्त एवेत्यर्थः। तथा सति तेषां प्रवृत्तं युद्धं विशेषतः त्वं मां श्रावय इति तात्पर्यम्। अयं धृतराष्ट्रस्य प्रश्नः। सञ्जयः समाधत्ते—इन्द्र ! राजन् ! ते भरतवंशीयाः। अश्वम्—उपलक्षणमिदमन्येषां वाहनानाम्। अश्वरथगजारोहा योद्धारः अश्वादीनि वाहनानि यथायथं हिन्वन्ति—इतस्ततो धावयन्ति। तत्र

मन्त्रके पूर्वार्धमें धृतराष्ट्रकी जिज्ञासा तथा उत्तरार्धमें संजयका उत्तर वर्णित है। (इमे) धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे समवेत यानी इकट्ठे हुए, (भरतस्य पुत्राः) भरतवंशी मेरे पुत्र दुर्योधनादि, पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर आदि तथा पञ्चालराज द्रुपद आदि [चन्द्रवंशके आदिपुरुष चन्द्रमासे तेईसवीं पीढ़ीमें दुष्यन्तके पुत्र जो भरत हुए, ये सब लोग उसी भरतकी परम्परामें हैं], (अपपित्वम्) वियुक्त होना या युद्ध करना, (चिकितुः) जान गये हैं, (प्रपित्वम्) परस्पर मिल-जुलकर रहना, (न) नहीं सीख पाये अर्थात् अपने वंशकी रक्षाकी दृष्टिसे उन्होंने सन्धि तो नहीं की, विग्रह ही आरम्भ कर दिया। मैं धृतराष्ट्र तुझ संजयसे अनुरोध करता हूँ कि उस युद्धका विस्तृत वर्णन मुझे सुना। इसपर संजय कहते हैं : (इन्द्र !) राजन् ! आपके पुत्र तथा पाण्डव, (अश्वम्) अपने-अपने वाहनोंको अर्थात् अश्वारोही अश्वोंको, रथी रथोंको तथा हस्त्यारोही हाथियोंको, (अरणं न) वेगसे बहनेवाले जलके समान, (हिन्वन्ति) इधर-उधर दौड़ाते हैं, इतना ही नहीं अपितु, (आजौ) युद्धमें अपना युद्धकौशल प्रदर्शित करनेके लिये, (नित्यम्) निरन्तर, (ज्यावाजम्) प्रत्यंचाके बल या वेगको अर्थात् बलपूर्वक अपने-अपने धनुषोंको, (परिणयन्ति) चढ़ाते हैं अर्थात् धनुषोंपर शरसन्धान कर रहे हैं।

गीताके प्रथम श्लोकमें धृतराष्ट्रने जो 'मामकाः' शब्दका प्रयोग किया है वह 'मेरे पुत्र' मात्र अर्थमें प्रयुक्त नहीं है अपितु कौरव-पक्षके सभी योद्धाओंका संग्राहक है। प्रथम श्लोकसे समन्वित वेदमन्त्रमें आए 'भरतस्य पुत्राः' शब्दसे इस बातपर विशेष प्रकाश पड़ता है। धृतराष्ट्र खिन्न हो रहे हैं कि पञ्चालनरेश द्रुपद, मगधराज जरासन्ध आदि सब हमारे चन्द्रवंशकी भरतशाखासे ही तो सम्बन्धित हैं, क्योंकि चन्द्रवंशमें चन्द्रमासे दुष्यन्तके पुत्र भरतका स्थान तेईसवाँ है। उससे हस्तिका छठा (मूलतः अट्ठाईसवाँ), अजमीढ़का सातवाँ (मूलतः उन्तीसवाँ) और कुरुका दसवाँ (मूलतः बत्तीसवाँ)। कुरुके पुत्र प्रथम परीक्षितकी सन्तान हम हैं। उनसे मेरा स्थान सत्रहवाँ (मूलतः उनचासवाँ) है। कुरुके पुत्र नीलसे जरासन्धका स्थान पन्द्रहवाँ (मूलतः सैंतालीसवाँ) है। इस प्रकार जरासन्ध और हम कुरुवंशी ही हैं। यह विधिकी विडम्बना ही है कि हम इतने समीपवर्ती जरासन्धसे सन्धि करके अपनी शक्ति तो नहीं बढ़ा पाए प्रत्युत

दृष्टान्तः—अरणं न—वेगातिरेकेण प्रवहणशीलं जलमिव। नित्यम्—सन्ततम्। ज्यावाजम्—ज्यायुक्तानां धनुषाम्। वाजम्—बलम्। परिणयन्ति—धनुरधिज्यं कृत्वा स्वयुद्धकौशलं प्रकटयितुम् उद्युञ्जते।

राजसूय यज्ञके अवसरपर उस महाबलीकी उपेक्षा कर दी। फलतः हमारे शत्रु पाण्डुपुत्र भीमद्वारा द्वन्द्वयुद्धमें उसका वध हो गया। पाण्डव बाजी जीत गए। इसके अतिरिक्त पञ्चाल क्षत्रिय द्रुपद आदिसे हमने व्यर्थ शत्रुता बढ़ा रखी है। वे तो हमारे निकटके बन्धु ही हैं, क्योंकि अजमीढ़के पुत्र ऋक्षरूपी शाखालताके पुष्प हम हैं तथा अजमीढ़के पुत्र नीलकी सन्तान द्रुपद हैं। ऋक्षसे हम बीसवीं (मूलतः उनचासवीं) पीढ़ीमें हैं, उधर नीलसे दिवोदासका दसवाँ (मूलतः उनतालीसवाँ) ही स्थान है। दिवोदासके पुत्र मित्रयुसे पृषतपुत्र द्रुपदका स्थान आठवाँ (मूलतः सैंतालीसवाँ) है। इस प्रकार क्या पञ्चालराज द्रुपद, क्या मगधराज जरासन्ध, क्या भाई पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिरादि, सबके सब भरतवंशी ही तो हैं। समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता तथा शिष्ट-शिरोमणि होकर भी हम सब परस्पर युद्धके ही प्रयासमें दत्तचित्त हैं। कोई ऐसा वंशप्रेमी नहीं है जो मध्यस्थता करके युक्तिपूर्वक सन्धि करा दे। भरतवंशका भविष्य अच्छा नहीं दिखाई देता। यह सारा वंश पारस्परिक कलहाग्निमें आहुति बनने जा रहा है। अस्तु, दैव ही प्रबल है। होनी होकर ही रहेगी। संजय ! तुम मुझे युद्धका विशद वर्णन सुनाओ। यही अभिप्राय वेदमन्त्रगत 'भरतस्य पुत्राः' शब्दसे द्योतित है।

दूसरा प्रसंग है संजयके उत्तरमें दुर्योधनद्वारा दोनों सेनाओंके प्रमुख योद्धाओंका वर्णन (गी० १-२–११)। पाण्डवपक्षीय सेना-संव्यूहन देखें :

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥

(ऋ० १०-१०३-८)

(आसाम्) इन पाण्डव-सेनाओंके, (इन्द्रः) अर्जुन, और, (बृहस्पतिः) बृहस्पतिके समान नीतिनिपुण श्रीकृष्ण, (नेता) सञ्चालक, मुख्य योद्धा एवं परामर्शदाता मन्त्री हैं ही। गीतामें ही भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं :

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ॥

(१०-२४,३७)

इन वचनोंसे अर्जुनका मुख्य योद्धा और भगवान् श्रीकृष्णका बृहस्पति होना स्पष्ट है। इन्द्र और बृहस्पति शब्दोंके प्रयोगका अभिप्राय यहाँ यह है कि जैसे देवासुर-संग्राममें देवराज इन्द्र वज्रपाणि रहकर स्वयं संग्राम करते हैं, बृहस्पति कभी शस्त्र ग्रहण नहीं करते, केवल इन्द्रका मार्गदर्शन करते हैं, उसी प्रकार यहाँ इन्द्रस्थानीय अर्जुन साक्षात् योद्धा है तथा बृहस्पतिस्थानीय श्रीकृष्ण निःशस्त्र

रहकर केवल राजमन्त्रीकी भाँति नीति-निर्धारण एवं परामर्श-प्रदान करते हैं। यद्यपि सेनापति धृष्टद्युम्न हैं, किन्तु उनके प्रमुख निर्देशक अर्जुन ही हैं, उन्हींके निर्देशपर तो धृष्टद्युम्न सेनाका संचालन करते हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण-की रणनीति और बुद्धिकौशल तथा अर्जुनकी वीरताके परिणामस्वरूप ही पाण्डवोंको राजलक्ष्मी, वैभव एवं विजयकी प्राप्ति हुई। गीताके उपसंहार प्रकरण (१८-७८) में यह बात स्पष्ट कही भी गई है :

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

(यज्ञः दक्षिणा=दक्षिणतः) यज्ञसमुद्भूत धृष्टद्युम्न दक्षिण दिशामें रहें, क्योंकि वे पाण्डवोंके दाहिने हाथ ही थे। लोक-व्यवहारमें भी किसी प्रमुख व्यक्तिके विशिष्ट सहायकको उसका दाहिना हाथ कहनेका प्रचलन है। वर्तमान राजनीतिक नियमोंके अनुसार भी संभवतः प्रधान सेनापतिको राष्ट्रपति या राजाके दाहिनी ओर ही बैठाया जाता है।

(सोमः पुरः एतु) सोमपुत्र अभिमन्यु सेनाके आगे चले। कुमार अभि-मन्युकी रक्षाके लिये, (मरुतः) मरुद्गणके अंश विराट, द्रुपद एवं सात्यकि, (अभिभञ्जतीनां जयन्तीनां देवसेनानाम्) शत्रुसेनाका विनाश करनेवाली विश्वविजयिनी देवांशसमुद्भूत पाण्डवोंकी सेनाओंके, (अग्रे यन्तु) अगुआ बनकर आगे चलें ताकि अभिमन्युका कोई बाल बाँका न कर सके।

यहाँ मरुद्गणांश सात्यकि, विराट और द्रुपदके अग्रगामी होनेका निर्देश यह अभिप्राय रखता है कि अभिमन्यु विराटका जामाता है, सात्यकिके परम-श्रद्धास्पद गुरु अर्जुनका पुत्र है तथा द्रुपदसुता द्रौपदीके परमाराध्य श्रीकृष्णका भागिनेय है। अतः ये सब अतिशय आत्मीयता होनेके कारण निश्चय ही प्राणपणसे अभिमन्युकी रक्षा करेंगे। इसीलिए अन्य किसीका निर्देश न कर इन्हें ही अभि-मन्युकी रक्षाका भार सौंपा गया।

आगेके योद्धाओंकी नामावलिका भगवान् वेदने श्लेषकी महिमासे मनोरंजक चित्र उपस्थित किया है :

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः॥
(ऋ० १०-१०३-१)

(आशुः) शीघ्रगामी मरुद्गण अर्थात् मरुद्गणके अंश युयुधान यानी सात्यकि, विराट और द्रुपद [देखें महाभारत, आदिपर्व, अंशावतार प्रकरण]।

(शिशानः) तीक्ष्णमति चेकितान। ज्ञानार्थक 'कित ज्ञाने' धातुसे चेकितान शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है निशितप्रज्ञ, बुद्धिमान् या ज्ञानी। अथवा शिशानः=तीक्ष्ण, कठोर, अतिक्रोधी धृष्टकेतु। क्रोधी व्यक्तिका धृष्ट होना नैसर्गिक है। शिशानः शब्दका तीक्ष्णबुद्धि या प्रज्ञाकौशलके कारण नर-श्रेष्ठ अर्थ है ही अतः नरपुङ्गव शब्दके विशेष्य, शिबि देशके राजा, युधिष्ठिरके श्वशुर शैब्य भी अभिप्रेत हैं। (वृषभः) धर्मराज युधिष्ठिर। इतिहास-पुराणादिके अनेक स्थलोंपर धर्म शब्दका वृष तथा वृषभ पर्याय आया है। मनु-स्मृतिका तो स्पष्ट कथन है : 'वृषो हि भगवान् धर्मः'। (न) 'न' शब्द 'च' के अर्थमें प्रयुक्त अर्थात् समुच्चयबोधक है। (भीमः) भीम तो उग्रकर्मा वृकोदर भीमसेन ही हैं। (घनाघनः) हनन करनेवाले, हन्ता, क्रोधहन्ता, काशिराज। महाभारतमें काशिराजके क्रोधहन्ता, सेनाबिन्दु तथा अभिभू नामोंका उल्लेख है। (चर्षणीनां क्षोभणः) प्राणिमात्रको क्षुब्ध करनेवाला, जिसे रणमें उपस्थित देखकर योद्धा पलायन कर जायँ। ये हैं कुन्तिभोजके पुत्र, युधिष्ठिरादिके मामा राजा पुरुजित्। (संक्रन्दनः) युद्धभूमिमें योद्धाओंको ललकारने अथवा रुला देनेवाला, जिसके उपस्थित होते ही विपक्षी योद्धाओंमें खलबली मच जाय, वे त्रस्त होकर भागने लगें। अतः संक्रन्दन शब्द विक्रान्त युधामन्यु, वीर्यवान् काशिराज, वीर्यवान् सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु तथा द्रौपदीके पाँच पुत्र, इन आठों महारथियोंका उपलक्षक है। युधामन्यु शब्दका अर्थ है 'युधि आ समन्तात् मन्युः क्रोधातिरेको यस्य'—युद्धभूमिमें जिसे अतिशय क्रोध आ जाय। युधामन्युजी ऐसे ही थे। (अनिमिषः) जो शत्रुविजयमें पलक गिरनेभरका भी समय न लगावे, अविलम्ब ही शत्रुको जीत लेनेवाला, (एकवीरः) अद्वितीय वीर, (इन्द्रः) इन्द्रांश अर्जुन, (शतं सेनाः साकम् अजयत्=जयति) शत्रुओंकी असंख्य सेनाको स्वपक्षीय योद्धाओंकी सहायतासे जीत लेता है।

कौरवपक्षीय योद्धाओंका वर्णन भी इसी मन्त्रमें किस कौशलसे उपनिबद्ध है, देखिए :

(आशुः) बिना विचार किए सहसा कार्य करनेवाला, शीघ्रकारी, अदूर-दर्शी दुर्योधन। (शिशानः) तीक्ष्ण बुद्धिवाले, शस्त्र-शास्त्र-प्रवीण, कौरव-पाण्डवोंके गुरु द्रोणाचार्य। (वृषभः—वृषेण धर्मादरेण द्रौपदीवसनाकर्षण-समये सभायां निःशङ्कसत्यभाषणादिना भाति शोभते इति वृषभः विकर्णः) भरी सभामें जब दुःशासन द्रौपदीका वस्त्राहरण कर रहा था उस समय दुर्योधनका भाई होते हुए भी जिसने धर्मके नाते सत्यभाषणका लोकोत्तर साहस किया और

जगत्का आदरणीय बना वह विकर्ण। (घनाघनः भीमः=भीष्मः, सुडभावः छान्दसः) शत्रुसेनाके संहारक पितामह भीष्म। सुडागमका अभाव छान्दस है। महाबली पितामह भीष्म प्रातःकाल युद्ध आरम्भ होनेके अनन्तर प्रथम प्रहारमें दस सहस्र शत्रुसेनाका संहार करके ही विराम लेते थे अतः उनके लिये 'घनाघनः' विशेषण उपयुक्त ही है। (चर्षणीनां क्षोभणः) प्राणिमात्रके क्षोभक कृपाचार्य। ये प्रख्यात युद्धविजेता थे इसीलिये गीतामें 'समितिंजयः' शब्दसे इनकी विशेषता बतलाई गई है। (संक्रन्दनः) युद्धभूमिमें सबको रुला डालने-वाले अश्वत्थामा। इन्होंने सुप्तावस्थामें पांञ्चाल वीरों एवं द्रौपदीके पाँच पुत्रोंका नृशंसतापूर्वक वध कर डाला था। इस घटनासे न केवल पाण्डव अपितु दुर्योधन भी वंश-विच्छेदकी आशंकासे सन्तप्त हो गया और समस्त जनतामें हाहाकार मच गया था अतः उनके लिये 'संक्रन्दनः' विशेषण सर्वथा उचित है। (अनिमिषः) शौर्यातिरेकके कारण तत्क्षण शत्रुविनाशक सोमदत्तसुत भूरिश्रवा। (एकवीरः) अद्वितीय वीर कर्ण। (शतम्) इनके अतिरिक्त भी कौरवसेनामें असंख्यात योद्धा थे। 'शतम्' का अभिप्राय दुर्योधनका भ्रातृशतक भी हो सकता है। (सेनाः) उपर्युक्त योद्धाओंसे युक्त सारी सेनाको, (इन्द्रः) अर्जुन, (साकम्=युगपत्) एक साथ एक बारमें ही, (अजयत्=जयति) जीत लेता है। अर्जुनके समक्ष ससैन्य कौरव योद्धा टिक नहीं सकते थे। महाभारतके विराटपर्वमें कौरवों-द्वारा गोहरणका जो प्रसंग है उसकी ओर भी यह वाक्य इंगित करता है।

इन्द्र शब्दसे अर्जुनका ग्रहण वेदसमर्थित है। महाभारतमें अर्जुनके नामोंके उल्लेखके प्रसंगमें उनका एक नाम जिष्णु भी आया है। निम्नलिखित वेदमन्त्रमें जिष्णु शब्दके विशेषणभूत इन्द्र शब्दका प्रयोग इन्द्रका अर्जुन अर्थ होनेमें प्रमाण है :

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥
(ऋ० १०-१०३-२)

पाण्डवोंके सेनापति धृष्टद्युम्न अपने सैनिक योद्धाओंको प्रोत्साहित कर रहे हैं : (युधः नरः!) हे सेनाके मुख्य योद्धाओ! (तत्) युद्धको, (जिष्णुना) अर्जुनके द्वारा, (जयत) जीत लो, (तत् सहध्वम्) उस युद्धका सामना करो अर्थात् शत्रुसेनाका अभिभव करो, उसे भगा दो। अर्जुनके पर्यायवाची 'जिष्णुना' शब्दके ही शेष सब तृतीयान्त विशेषण हैं। वह अर्जुन (इषुहस्तेन) जो हाथमें बाण धारण किए है, (धृष्णुना) जो युद्धमें अतिशय प्रगल्भ है, (संक्रन्दनेन)

जो शत्रुसेनाको घबराहटमें डाल देता है, (अनिमिषेण) जो निमिषार्ध[1]में ही शत्रुओंका संहार कर डालता है, (दुश्च्यवनेन) जिसे शत्रुसेना विचलित नहीं कर सकती, (युत्कारेण) जो दारुण युद्ध करनेवाला है, तथा (वृष्णा) जो मेघके समान बाणोंकी वर्षा करनेवाला है। (इन्द्रेण) इतना ही नहीं, वह साक्षात् देवराज इन्द्रस्वरूप है।

तीसरा प्रसंग शंखनादकी भयानकताका वर्णन है। इस प्रसंगमें निम्नलिखित वेदमन्त्र द्रष्टव्य हैं :

एतत् त्यत् त इन्द्रियमचेति येनावधीर्वरशिखस्य शेषः।
वज्रस्य यत् ते निहतस्य शुष्मात् स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार ॥

(ऋ० ६-२७-४)

धृष्टद्युम्नका कथन है : (इन्द्र !) महाबाहु अर्जुन ! (वरशिखस्य) उत्तम पुरुषोंमें शिखाके समान राजाधिराज धृतराष्ट्रकी, (शेषः) सन्तानोंको, (येन) जिस पराक्रमसे, (अवधीः) आप मार डालेंगे, (एतत् त्यत्) वह यह, (इन्द्रियम्) आपका पराक्रम, (अचेति) हमें ज्ञात हो गया है अर्थात् आपके अद्भुत पराक्रमसे निश्चय ही धृतराष्ट्रकी पराजय होगी, (यत्) क्योंकि, (ते) आपके, (शुष्मात् निहतस्य वज्रस्य) बलसे, बलपूर्वक ताडित, वादित यानी फूंके हुए वज्रके समान भयोत्पादक शब्दवाले शंख-समुदायकी, (स्वनात्) ध्वनिसे, (परमः—परा मा लक्ष्मीर्यस्य) धर्मकी अपेक्षा धनको महत्त्व देनेवाला दुर्योधन, (ददार) विदीर्ण हो गया है अर्थात् आपके शंख, भेरी आदिके भयंकर घोषसे धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादिका हृदय विदीर्ण हो गया है।

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥

(ऋ० १०-१०३-९)

(वृष्णः) युद्धमें वर्षाकालीन मेघके समान निरन्तर बाणोंकी वर्षा करनेवाले, (इन्द्रस्य) इन्द्रके अंश अर्जुनका, तथा, (वरुणस्य) प्रजाके दुःखोंके-निवारक

---

१. महाभारतमें आया है :

अहमेकं त्रिभिर्द्रोणः पञ्चभिः सूर्यनन्दनः।
द्रौणिर्निमिषमात्रेण निमिषार्धेन धनञ्जयः ॥

अर्थात् मुझे शत्रुसंहारमें एक दिन, द्रोणाचार्यको तीन दिन, कर्णको पाँच दिन तथा अश्वत्थामाको एक निमिष यानी एक क्षण लग सकता है किन्तु अर्जुन आधे क्षणमें ही शत्रुसेनाका विनाश करनेमें समर्थ है।

था श्रेष्ठ राजा होनेके कारण जनता-जनार्दनसे सम्भजनीय, आराधनीय, (राज्ञः) प्रजाके अतिप्रिय युधिष्ठिरके, (आदित्यानाम्) सूर्यके समान तेजस्वी, (मरुताम्) मरुद्गणके अंश सात्यकि, विराट तथा पञ्चालराज द्रुपद, इन सबका, (शर्धः) बल, (उग्रम्) शत्रुओंका त्रासक एवं उद्वेजक है। (भुवनच्यवानाम्) भुवन-मात्रके च्यावक, विचलित करनेवाले त्रिलोकविजेता, (जयताम्) उत्तरोत्तर प्रगतिशील, (देवानाम्) देवोंके अंश, (महामनसाम्) युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, अभिमन्यु आदि महानुभाव योद्धाओंका, (घोषः) शंख, भेरी आदिका शत्रुहृदय-विदारक महान् घोष, (उदस्थात्) उत्थित हुआ जिससे पृथ्वी तथा आकाश प्रतिध्वनित हो उठे।

इसके पश्चात् चौथा प्रसंग अर्जुनके अनुरोधपर श्रीकृष्णद्वारा दोनों सेनाओंके बीच रथ-स्थापन तथा सैन्य-निरीक्षणके आदेशका है। इसके आरम्भमें ही गीता १-२० में अर्जुनके लिये 'कपिध्वजः' शब्दका प्रयोग हुआ है। इससे विदित होता है कि प्राचीनकालमें मुख्य योद्धाओंके रथोंपर विभिन्न चिह्नोंसे युक्त पताकाएँ रहा करती थीं। तदनुसार अर्जुनके रथकी पताका कपिचिह्नसे सुशोभित थी। महाभारतके अनुसार भीमसे वचनबद्ध होनेके कारण रामभक्त हनुमान् स्वयं ही उनकी ध्वजापर विराजते थे। शेष उभयपक्षके रथोंकी ध्वजाओंपर विशेष चिह्न थे। रथपर ध्वजारोपणकी प्राचीन वैदिक संस्कृतिका सुन्दर चित्रण निम्नलिखित मन्त्रमें है :

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु॥

(ऋ० १०-१०३-११)

संग्रामसे पूर्व योद्धागण, उनके हितैषी गुरुजन अथवा सेनानायक प्रार्थना करते हैं : (अस्माकं ध्वजेषु समृतेषु) हमारी पताकाओंके शत्रुपक्षीय पताकाओंसे संयुक्त होनेपर अर्थात् दोनों सेनाओंका तुमुल युद्ध आरम्भ होनेपर, (इन्द्रः) परमात्मा रक्षा करे। (अस्माकं याः इषवः) हमारे योद्धाओंद्वारा प्रयुक्त जो बाण हैं, (ताः जयन्तु) वे विजयी हों अर्थात् उनका निशाना सटीक बैठे, (अस्माकं वीराः उत्तरे भवन्तु) हमारे वीर उत्कृष्ट हों अर्थात् विजयलाभ करें, (उ) अपि च, (देवाः !) हे देवगण !, (हवेषु) युद्धोंमें, (अवत) आप हमारी रक्षा करें, आपकी कृपासे विजयलक्ष्मी हमारा वरण करे।

कपिध्वज अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे दोनों सेनाओंके मध्य रथस्थापनाका जो अनुरोध किया उससे यह तो सिद्ध ही है कि वे आग्रहपूर्वक भगवान्-

को अपने रथका सारथि बना चुके हैं। निम्नलिखित वेदमन्त्रमें इस भावका कैसा स्पष्ट वर्णन है :

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥

(ऋ० २-२३-१९)

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना कर रहे हैं : (ब्रह्मणस्पते !) हे वेदरक्षक परमात्मा श्रीकृष्ण ! (त्वम्) आप, (अस्य) इस मेरे रथके, (यन्ता) सारथि बनें। (सूक्तस्य=सूक्तम्) गीता १-२१ के उत्तरार्धसे २२-२३ तक 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत' इत्यादि सार्धश्लोकद्वयात्मक रथ-स्थापनानुरोधरूप मेरे सुन्दर कथनको, (बोधि=बुध्यस्व) जानें। आप साक्षात् जगत्पिता हैं अतः (तनयम्) पुत्रतुल्य पाण्डव परिवारको, (जिन्व) युद्धमें विजयी बनाकर आनन्दित करें। (देवाः) अग्नि-सूर्यादि देवगण, (यद् भद्रम्) जिस वित्त-गृह-प्रजा-पशुरूप[1] कल्याणकी, (अवन्ति) रक्षा करते हैं अर्थात् अपने प्रिय भक्तको वित्तादि सुखकर एवं कल्याणकर जो वस्तुएँ प्रदान करते हैं, (तद् विश्वम्) वे सम्पूर्ण वित्तादि कल्याणकारी पदार्थ आपकी कृपासे हमें प्राप्त हों तथा सुरक्षित रहें, कोई उन्हें हमसे छीन न पावे। (विदथे) राज-सूय यज्ञके समान विजयके पश्चात् भावी अश्वमेध आदि यज्ञोंमें, (सुवीराः) शोभनवीर अथवा शूर-वीर मित्रगणोंसे युक्त हम, (बृहद् वदेम) समागत अतिथियोंके स्वागतमें श्रेष्ठ वाक्योंका उच्चारण करें।

इस प्रसंगमें यह बात सुस्पष्ट है कि भक्त-वशंवद त्रिलोकीपति भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनका सारथ्य कर्म किया इसीलिये वे पार्थसारथि भी कहलाते हैं। इस विषयका ऋग्वेद के चार सूक्तों (८-३९–४२) के छत्तीस मन्त्रोंमें सुस्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें 'नभन्तामन्यके समे' वाक्य आता है जिसका अर्थ है : 'भक्तविरोधी सब कुत्सित शत्रु मर जायँ, शत्रु मेरे प्रिय भक्तका बाल भी बाँका न कर पावे।' इसी अभिप्रायसे अर्थात् भक्तकी रक्षाके लिये भगवान् अर्जुनके सारथि बने। उन चारों सूक्तोंमें-से प्रत्येक मन्त्रकी व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है अतः निदर्शनके रूपमें केवल एक मन्त्रकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

---

१. ऋग्वेद १-१-६ के भाष्यमें सायणाचार्यने 'भद्रम्' शब्दकी व्याख्या की है : 'वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणम्'। इसके समर्थनमें शाट्यायनिश्रुतिका वचन उद्धृत किया है : 'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्।'

यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता।
त्रितं जूती सपर्यत व्रजे गावो न संयुजे युजे अश्वाँ अयुक्षत
नभन्तामन्यके समे ॥

(ऋ० ८-४१-६)

(यस्मिन्) जिस परमात्मा श्रीकृष्णमें, (विश्वानि काव्या=काव्यानि) सम्पूर्ण काव्य, क्रान्तदर्शी महर्षिगणोंसे दृष्ट वेद तथा उनके द्वारा निर्मित रामायण-महाभारतादि, (चक्रे नाभिः इव श्रिता=श्रितानि आश्रितानि) रथके चक्रमें नाभिकी भाँति आश्रित हैं। भाव यह कि समस्त वेद-शास्त्रोंके प्रतिपाद्य एकमात्र परमात्मा श्रीकृष्ण[1] ही हैं। (त्रितम्) तीनों गुणोंमें स्थित अथवा तीनों गुणोंके नियन्ता उन श्रीकृष्णकी, (जूती=जूत्या, वेगेन) शीघ्रतासे, 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार अविलम्ब ही, (सपर्यत) पूजा करो, क्योंकि वे भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण, (व्रजे गावः न) व्रजमें गायोंकी भाँति, (संयुजे) युद्धमें, (अश्वान्) अश्वोंको, (अयुक्षत) अर्जुनके रथमें जोड़ते हैं।

भगवान्के सारथि बननेका कारण उपर्युक्त चार सूक्तोंमें-से तीन सूक्तोंमें प्रत्येकमें दस बार तथा चतुर्थ सूक्तमें छह बार, कुल छत्तीस बार दुहराया गया है। शत्रुगण मेरे भक्तको कोई बाधा न पहुँचा सकें, मैं सन्निहित रहकर उसकी पूरी देख-रेख करता रहूँ, प्रभुकी यही भावना उनके सारथि बननेके रहस्यरूपमें प्रतिपादित है।

गीता १-२५ के उत्तरार्धमें भगवान्का आदेश है: 'पार्थ ! पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति।' यहाँ भगवान्के अंगुलिनिर्देशपूर्वक इस कथनका अभिप्राय यही है कि अर्जुन ! इन कौरवोंने पहले भी तुम पाण्डवोंका अनेक प्रकारसे अपकार किया है तथा इस समय प्रत्यक्ष ही तुम्हें मारनेके लिये सज्जित होकर खड़े हैं। द्रौपदीके अपमानका बदला लेनेका यही अवसर है। बन्धुत्वकी भावनावश स्नेहबन्धनमें पड़कर चूक न जाना। शास्त्रकी आज्ञा है कि अन्यायीको दण्ड देना ही चाहिए। शक्ति रहते अन्यायका प्रतीकार न करनेका अर्थ है

---

१. कठोपनिषद्में आया है: 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (१-२-१५)। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है: 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (१५-१५)। महाभारतका कथन है:

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥

(म० भा० स्व० ६-९३, गणपत कृष्णाजी, बम्बई संस्करण)

अन्यायको प्रोत्साहन देना और वह निश्चित रूपसे अधर्म है। अतः इन शकुनि, दुःशासन, कर्ण, दुर्योधन आदि अधर्मी दुराचारियोंका शीघ्र ही हनन कर डालो। निम्नलिखित वेदमन्त्र भी इसी अभिप्रायका सूचक है :

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥

(ऋ० ७-१०४-२२)

यातु शब्द राक्षसका वाचक है। 'यातयति पीडयति लोकान्' अर्थात् जो लोगोंको यातना, पीड़ा देता है। राक्षसोंका यह स्वभाव ही होता है। बाह्य राक्षसोंसे हम कदाचित् सुरक्षित रह भी सकें किन्तु अपने हृदयमें ही निवास करनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छह महान् राक्षसोंसे निवृत्ति पाना अत्यन्त कठिन है। उलूक आदि छह पक्षियोंके आचारसे समानता होनेके कारण कामादि षड्रिपु ही यहाँ उलूक, यातु आदि शब्दोंसे अभिप्रेत हैं। दुर्योधनादि भी उन्हीं दुर्जेय कामादि शत्रुओंके प्रतीक हैं। उलूक दिवान्ध होता है। प्रकाशमें भी उसे दिखाई नहीं देता। मोह भी उसीके समान है। शास्त्रादिका अध्ययन करनेपर भी यह प्राणीको विवेक-दृष्टिसे वंचित ही रखता है। दुर्योधनका मातुल अविवेकी शकुनि मोहके कारण कपट-द्यूतक्रीडाको हितकर समझता है। उसकी दृष्टि कपटद्यूतके दुष्परिणामकी ओर सर्वथा नहीं जाती अतः मोहका प्रतीक शकुनि ही यहाँ उलूकयातु है।

शुशुलूक शब्दका अर्थ भेड़िया, वृक, अरण्यश्वा है। वह बालकोंको क्रूरतासे ले जाकर मार डालता है। अश्वत्थामा भी क्रूरतामें भेड़ियेसे कम नहीं। सुप्त पंचाल क्षत्रियोंको तथा द्रौपदीके पाँच पुत्रोंको मारना निस्सीम क्रूरताका ही निदर्शन है। अतः क्रूरता, क्रोधका प्रतीक अश्वत्थामा ही यहाँ शुशुलूक शब्दसे अभिप्रेत है।

श्वयातु शब्दसे ईर्ष्यालु, मत्सरका प्रतीक दुश्शासन गृहीत है। कोकयातु शब्दसे कामका प्रतीक सिन्धुराज जयद्रथ विवक्षित है। कोक चक्रवाक पक्षीका नाम है। वह नितान्त कामुक होता है। सती-साध्वी द्रौपदीके हरणसे जयद्रथकी कामुकता स्फुट ही है।

सुपर्णयातु शब्दका अर्थ है कर्ण। सुपर्ण पक्षिराज गरुड़ दर्पकी प्रतिमूर्ति है। कर्ण भी उन्हींके समान अति दृप्त एवं महा अभिमानी, मदका प्रतीक ही माना जायगा।

गृध्रयातुमें गृध्र लोभका प्रतीक है। वह इसी ताकमें रहता है कि कब कोई मरे कि उसका मांस सुलभ हो। उसीके समान कुरुराज दुर्योधन मूर्ति-

मान् लोभ ही है। भारतीय योद्धा गृहकलहकी आहुति न बनें, रक्तकी नदियाँ प्रवाहित न हों, विश्वमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो, इस भावनासे केवल पाँच ही ग्राम पाण्डवोंको दे दिए जायँ, यह सन्धिकी शर्त यद्यपि साक्षात् त्रिलोकीपति श्रीकृष्णने प्रस्तुत की किन्तु दुर्योधनने उस प्रस्तावको ठुकराते हुए कह दिया :

सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन यावद् भिद्यति मेदिनी ।
तावन्नाहं प्रदास्यामि विना युद्धेन केशव ॥

अर्थात् केशव ! सूच्यग्रपरिमित भूमि देनेके लिये भी मैं तैयार नहीं हूँ, पाँच ग्रामदानकी तो चर्चा ही व्यर्थ है !

निस्सन्देह दुर्योधनको लोभका पुतला ही कहना होगा। वही गृध्रयातु शब्द-का वाच्य है ! अतः काम-क्रोधादि षड्रिपुओंके प्रतीक शकुन्यादि रक्षःकल्प कुरुयोधाओंका 'जहि'—शीघ्र हनन करो। जैसे पाषाणसे मिट्टीका ढेला खण्ड-विखण्ड किया जाता है, ठीक उसी प्रकार काम-क्रोधादिस्थानीय शत्रुगणका मर्दन कर डालो। यही भगवान्के 'एतान्' कहनेका अभिप्राय है।

किन्तु अर्जुनकी दृष्टि तो महर्षि-मैत्रेयद्वारा दिए गए शापपर थी। वह जानता था कि दुर्योधनादिकी बुद्धि शापके कारण भ्रष्ट हो गई है अतः ये लोभ-रूपी पापसे ग्रस्त हैं। ये धर्म-अधर्मका निर्णय नहीं कर सकते, इनमें इस समय सद्विचार उत्पन्न नहीं हो सकता, तभी तो मरनेके लिये तैयार होकर सामने खड़े हैं। इसीसे उसने कहा : 'यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः' (गी० १-३८)। कौरवोंके इस लोभोपहतचेतस्त्वका मूल निम्नलिखित वेदमन्त्रमें देखिए :

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥

(ऋ० १०-१०३-१२)

कपटद्यूतसे हृतराज्य पाण्डवोंके वनगमनका समाचार पाकर महर्षि मैत्रेय धृतराष्ट्रके पास पधारे और उन्हें समझाया कि आपके रहते इस प्रकारका अन्याय होना उचित नहीं है। तभी उनकी दृष्टि पार्श्ववर्ती दुर्योधनपर जा पड़ी तो वे उससे बोले : 'देखो वत्स ! मैं तुम्हारे कल्याणकी बात कह रहा हूँ। गृहकलहसे सदा सबकी हानि ही होती है। दूसरी बात यह है कि पाण्डवोंका पक्ष सबल है, तुम उन्हें जीत भी नहीं पाओगे, अतः वैर छोड़कर पाण्डवोंसे सन्धि कर लो और प्रेमसे रहो।' किन्तु दुर्योधनपर इस उपदेशका अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा। प्रत्युत्तरमें वह जंघा ठोंकते हुए चिढ़कर मैत्रेयकी ओर उपेक्षापूर्ण दृष्टिसे देखने लगा। उसके दुर्व्यवहारसे महर्षिको क्रोध आ गया और उन्होंने अञ्जलिमें जल

लेकर दुर्योधनको शाप दे दिया : (अप्वे !) हे पापाभिमानिनी[1] देवते ! (अमीषां चित्तम्) महात्मा तथा परमात्मासे विमुख[2] श्रद्धाहीन इन कौरवोंके चित्तको, (प्रतिलोभयन्ती) मोहित करते हुए, (गृहाण) पकड़ लो यानी इन्हें भ्रान्तचित्त तथा उन्मत्त बना दो । (परेहि) हे अप्वे ! उन्हें उन्मत्त बनाकर फिर लौट आओ, और, (अभि प्रेहि) उनके सहायक अन्य लोगोंकी ओर भी उन्मुख होकर उन्हें भी वैसा ही बना दो। शत्रुओंके पास पहुँचकर तुम उनके, (हृत्सु=हृदयानि) हृदयोंको, (शोकैः) अनेक प्रकारके शोकोंसे, (निर्दह) जला डालो, जिससे कि, (अमित्राः) पाण्डवोंके अपकारी दुर्योधनादि तथा उनके सहायक सब राजाओंके समूह, (अन्धेन तमसा सचन्ताम्) प्रगाढ़ मोहान्धकार या प्रबल अविवेकसे सम्बद्ध हो जायँ ।

अर्जुनका पक्ष है कि ये लोग तो शापग्रस्त होनेके कारण लोभ-मोहसे अभिभूत होकर विवेकहीन हो गए हैं । विवेकहीन प्राणी कुछ भी कर सकता है । किन्तु हम लोग तो वैसे नहीं हैं अतः हमें तो धर्माधर्मका विचार करना ही चाहिए। युद्ध हुआ तो ये सबके सब मारे जायँगे । बच जायँगी स्त्रियाँ, सो वे व्यभिचारिणी बनकर वर्णसंकर सन्तानें उत्पन्न करेंगी। श्राद्धादिके अभावमें पितरोंकी अधोगति होगी तथा अधार्मिक लोग नरकमें गिरेंगे । अर्जुन कहता है कि यह बात हमने वेदवेत्ताओंसे सुनी है : 'नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम' (१-४४) । अनुश्रुतिका अर्थ है परम्परासे सुना हुआ ज्ञान अर्थात् वेद ।

---

१. अप्वा शब्द निघण्टु और निरुक्तमें दो-दो बार आया है (निघण्टु ४-३-४८ तथा ५-३-२७, निरुक्त ६-१२ तथा ९-३२) । निरुक्त ६-१२ में यास्कने लिखा है : 'अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते। व्याधिर्वा भयं वा।' ऋग्वेद १०-१०३-१ के सायणभाष्यमें अप्वाका अर्थ बताया गया है पापाभिमानिनी देवता । 'अप्' उपसर्गपूर्वक अन्तर्भावितण्यर्थ 'वा गतिगन्धनयोः' धातुसे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३-२-१०१) इस पाणिनि-सूत्रद्वारा ड प्रत्यय करनेपर अप्वा शब्द बना है । शुक्लयजुर्वेद १७-४४ के भाष्यमें महीधर लिखते हैं : 'अपगमयति सुखं प्राणांश्चेत्यप्वा' अर्थात् सुख तथा प्राणोंको जो विनष्ट कर दे वह अप्वा है। तात्पर्य यह कि व्याधि, भय, अथवा उसके हेतु पापकी अभिमानिनी देवताका नाम अप्वा है।

२. 'इदम्' शब्द सन्निकृष्टार्थ तथा 'अदस्' शब्द विप्रकृष्टार्थमें प्रयुक्त होता है। भक्त पुरुष महात्मा तथा परमात्माके निकटवर्ती होते हैं तथा दुर्जन उनसे दूर रहते हैं, इसीलिये यहाँ दुर्योधनादिके लिये 'अदस्' शब्दके षष्ठी विभक्तिके बहुवचनके रूप 'अमीषाम्' पदका प्रयोग हुआ है।

अधार्मिकोंके नरकमें गिरनेका प्रसंग वेदमें भी देखिए :

हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम ॥

(निरुक्त १-११)

कुछ लोग, (हविर्भिः) दर्श-पौर्णमासादि हविर्यज्ञोंके अनुष्ठानसे, (इतः) इस पृथ्वीलोकसे जानेके अनन्तर, (स्वः) स्वर्गका, (सचन्ते) सेवन करते हैं। कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जो, (सवनेषु) प्रातःसवनादि सवनप्रधान अग्निष्टोम आदि सोमयागोंमें, (सोमान्) सोमलताओंका, (सुन्वन्तः) अभिषव करते हुए अर्थात् सोमलताको पीस-निचोड़कर, उसका रस ग्रहनामक यज्ञपात्रोंमें भरकर यथासमय उस रसकी आहुतिपूर्वक यज्ञानुष्ठान करते हुए पृथिवीसे स्वर्ग पहुँच जाते हैं। कुछ लोग, (शचीः=शचीभिः) मधुर स्तुतियों या सामगानोंसे, (मदन्तः) देवताओंको प्रसन्न करते हुए स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं। (उत=अपि) कुछ दूसरे प्राणी, (दक्षिणाभिः) स्वर्ण-रजत-वस्त्र आदि विविध द्रव्योंके दानसे स्वर्गतक सीढ़ी लगा लेते हैं। (नेत्) हमें भय है कि, (जिह्मायन्त्यः=जिह्मायन्तः, लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः) इससे विपरीत यानी धर्मविरुद्ध आचरण करते हुए हम स्वर्ग जाना तो दूर रहा, (नरकं पताम) उल्टे नरकमें जा गिरेंगे। भाव यह कि शास्त्रोक्त धर्मसे विपरीत आचरण नरकपातका हेतु होता है।

गीता १-२८ के उत्तरार्धसे समाप्तिपर्यन्त १९॥ श्लोकोंमें अर्जुनका विषाद व्यक्त हुआ है जिसके कारण मोहजन्य शोकोत्थ शरीरके अंगोंकी शिथिलता, मुखका शोष, कम्प एवं रोमांच, हाथसे गाण्डीवका पतन, चित्तका भ्रमित-सा होना वर्णित है। उसी विषादसे निर्विण्ण अर्जुन भगवान्की शरण ले रहा है। विषण्ण व्यक्ति ही गुरुचरण-शरण ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त विषादकी निवृत्तिका उपायान्तर भी नहीं। दूसरे शब्दोंमें अर्जुनके हृदयमें निर्वेद, उच्चकोटिका वैराग्य उद्भूत हुआ। अब वह त्रिलोकीके सभी पदार्थोंसे विरक्त हो रहा है।

साधक जब यह अनुभव कर लेता है कि पुण्यके फल ऐहिक-आमुष्मिक भोग अनित्य, विनाशी हैं, इनमें आसक्त होना मानव-जन्मको निष्फल खोना है तब उसके हृदयमें वैराग्यका आविर्भाव होता है और वह ज्ञातव्य ब्रह्मतत्त्वको समझनेके लिये हाथमें समिधादि उपहार लिए ऐसे गुरुकी सेवामें उपस्थित होता है जो वेदका पण्डित एवं वेदप्रतिपाद्य ब्रह्मका साक्षात्कार कर चुका हो।[1]

---

१. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् । नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।
(मुण्डको० १-२-१२)

अर्जुनका गुरुशरणागतिका अधिकार अथवा शिष्य बननेकी लालसाकी भूमि तैयार हो चुकी है अतः द्वितीयाध्यायके १ से १० श्लोकोंतक अर्जुनकी विषाद-निवृत्तिके लिये श्रीकृष्णार्जुनसंवाद है।

द्वितीयाध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुनको व्याकुल देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसे योग्य परामर्श दे रहे हैं और यह वृत्तान्त संजय धृतराष्ट्रको सुना रहे हैं। भगवान्ने द्वितीय-तृतीय श्लोकमें कुछ कटु भाषाका प्रयोग करते हुए अर्जुनसे कहा है : 'क्लीबताने तुम्हें कहाँसे घेर लिया ? यह तुम्हारे स्वरूपके अनुकूल नहीं। इससे तुम अनार्य कक्षामें चले जाओगे, साथमें तुम्हारी निन्दा होगी और मैं नहीं मानता कि इससे तुम्हें स्वर्गलाभ होगा। मोहवश क्षात्रधर्मका त्याग करनेसे पाप ही लगेगा। स्वधर्मानुष्ठान ही सच्ची भगवत्पूजा और पुण्यकृत्य है।' अतः 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप'—परन्तप ! शत्रु-सन्तापक अर्जुन ! छोड़ो तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको। उठो, और क्षत्रियके स्वधर्म युद्धकार्यको आरम्भ करो। निम्नलिखित मन्त्र इस श्लोकसे कितना साम्य रखता है !

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ।
उप प्रयन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥

(ऋ० १-४०-१)

(ब्रह्मणः) गौकी रक्षाके लिये प्रार्थी ब्राह्मणके, (पते !) पालक, अर्जुन ! (उत्तिष्ठ) उठो, क्षत्रियके लिये युद्धरूप वेदविहित आज्ञाको शिरोधार्य कर तत्क्षण युद्ध आरम्भ करो। महाभारतके सभापर्वमें वर्णित है कि सिंहने किसी ब्राह्मणकी गौपर आक्रमण किया। ब्राह्मणने अर्जुनसे गोरक्षाकी प्रार्थना की। जिस भवनमें द्रौपदीके साथ महाराज युधिष्ठिर एकान्तवासमें थे उस भवनसे अपना धनुष-बाण लाकर अर्जुनने सिंहका संहार किया और प्रतिज्ञानुसार सहर्ष उसके बदले बारह वर्ष वनवास-यातनाका दण्ड स्वीकार किया। पाण्डवोंकी परस्पर प्रतिज्ञा थी कि द्रौपदीके साथ हम भाइयोंमें-से कोई भी जब एकान्तमें बैठा हो उस समय जो वहाँ पहुँचकर एकान्तभंग करेगा उसे बारह वर्ष वनवास करना होगा। स्नेहवश युधिष्ठिरादि अन्य भाइयोंकी इच्छा न होनेपर भी सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनने उस कठोर नियमका पालन किया। अपनेको असह्य संकटमें डालकर भी वे वेदवेत्ता ब्राह्मणकी रक्षा करनेमें कभी चूकते न थे। अतः वेद भगवान् उन्हें ब्रह्मणस्पति संज्ञा दे रहे हैं। (देवयन्तः) देवोंके हितैषी हम सब, (त्वा) तुझसे, (ईमहे) युद्ध करनेकी याचना करते हैं। ज्ञातव्य है कि इस समय असंख्य असुर अपने अंशोंसे धराधामपर धर्मविप्लवके उद्देश्यसे अवतीर्ण

हो रहे हैं। युद्धके द्वारा उनका संहार किए बिना धर्मकी रक्षा सम्भव नहीं और देवोंकी प्रसन्नता भी शक्य नहीं। देवोंका जीवन यज्ञादिमें दत्त हवियोंपर अवलंबित है, असुरांश राजन्योंद्वारा यज्ञादियोंका प्रतिरोध होनेपर देवोंका खिन्न होना नैसर्गिक है अतः इस समय युद्ध करना किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं अपितु देवगणोंकी सच्ची सेवा है। अतः, (इन्द्र !) अर्जुन ! (मरुतः) मरुद्गणोंके अंश तुम्हारे स्नेही सात्यकि, विराट तथा द्रुपद राजागण युद्ध करनेके लिये, (उप प्रयन्तु) प्रस्तुत हों। तात्पर्य, सद्यः देवहितके उद्देश्यसे युद्ध आरम्भ करें। (सुदानवः) जो भलीभाँति दानादि धर्ममें निरत हैं अथवा देवविरोधी असुरांश राजन्यवर्गके अवखण्डन, शिरश्छेदनमें कुशल हैं। 'दा' धातुका अर्थ है दान तथा अवखण्डन। पाणिनीय धातुपाठ में 'डुदाञ् दाने' 'दो अवखण्डने' इस प्रकारकी दो धातुएँ उपलब्ध हैं। तुम भी, (सचा) उनके साथी, (प्राशूर्भवा) अति शीघ्र बनो। तात्पर्य, युद्धकार्यमें शीघ्रातिशीघ्र उनका सहयोग दो।

अर्जुनने चौथे-पाँचवें श्लोकमें अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता चित्रित की और प्रभुसे प्रार्थना की कि आप शरणागत शिष्य समझकर मुझे मेरे वास्तविक कर्तव्यका मार्गदर्शन करें : 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—मैं आपकी शिष्यता स्वीकार करता हूँ, मुझे शरणागत समझकर मार्गदर्शन करें। शिष्यको मार्गदर्शन कराना गुरुका उत्तरदायित्व है। इसीका निर्देश शुक्लयजुर्वेद ३-१ में उपलब्ध होता है :

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥

भारतीय संस्कृतिमें शिष्य गुरुके पास रिक्तहस्त नहीं जाता। अवश्य ही वह गुरुकी दिनचर्याके उपयुक्त दन्तधावनादि छोटी-मोटी भेंट लेकर ही उपस्थित होता है। 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इस श्रुतिवाक्यका आदेश भी ऐसा ही है। योग्य शिष्यके अधिकारसे अवगत होनेपर कृपालु गुरुदेव उसे स्वयं दीक्षाग्रहणके लिये आज्ञा करते हैं। बहुधा प्रथा है कि शिष्य ही गुरुसे दीक्षाके लिये प्रार्थना करे। छा० उ०, ४-४-५ में हारिद्रुमत गौतम नामक आचार्यने सत्यभाषणादिसे प्रभावित होकर सत्यकाम जाबालको दीक्षाग्रहणकी स्वयं आज्ञा दी : 'समिधं सोम्याहर। उप त्वा नेष्ये' इस वाक्यसे गुरुने योग्य शिष्यको कहा कि 'तेरे सत्यभाषणादिसे तेरी दीक्षाग्रहणकी योग्यता मुझे ज्ञात हो गई है अतः दीक्षाग्रहणके अंग समिधादि उपहारके साथ उपस्थित हो। तुझे मैं दीक्षित करूँगा।' उसी प्रकार अर्जुनको दीक्षाग्रहणके लिये उपस्थित होनेकी भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आज्ञा कर रहे हैं : (समिधा) समित् आदि उपहारसे युक्त हो,

(अग्निम्) दैत्यदावाग्नि, दैत्यवनके दाहक मुझ कृष्णकी, (दुवस्यत) पूजा करो अर्थात् विधिवत् दीक्षाग्रहणके लिये मेरे पास आओ। फिर क्या था, जिज्ञासु अर्जुनने विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहणकर श्रीकृष्णकी शिष्यता स्वीकार की। दीक्षित शिष्यको गुरुसे अपने कर्तव्य-प्रश्नका वैध अधिकार है। गुरुका भी शिष्यकी शंका-का निराकरण करना उत्तरदायित्व है। अतः अर्जुन भगवान्से प्रार्थना करता है : 'गुरुदेव ! (घृतैः) घृततुल्य, स्निग्ध, मधुर वाक्योंसे, (अतिथिम्) आपके चरणकमलसद्मके अतिथि अर्थात् श्रीचरणोंमें नतमस्तक शरणागत मुझ शिष्य-को कृपया, (बोधयत) धर्म और ब्रह्मके तत्त्वका उपदेश दें।' इस आशयके द्वितीय चरण 'घृतैर्बोधयतातिथिम्' का अनुवादक है 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (गी० २-७ श्लोकका चतुर्थ चरण)। मन्त्रके तृतीय चरणमें भगवान्ने अर्जुनको गीतासारका उपदेश दिया : '(अस्मिन्) मुझ श्रीकृष्ण परमात्मामें, (हव्या=हव्यानि) दातव्य समस्त वस्तुओंका, (आजुहोतन) समर्पण करो। दूसरे शब्दोंमें—तुम कोई भी दानादि क्रिया करो, मुझे वह अर्पित कर दो। फलाकांक्षा-पिशाचीको कभी भी अपने हृदयमें स्थान न दो। मेरी प्रसन्नताके लिये निष्काम कर्मका अनुष्ठान करो।' यही गीता-क्षीरसागरका मन्थनोत्थ नवनीत है। गीताके 'यत्करोषि' (९-२७) इस श्लोकमें इसी कर्मयोगका स्पष्ट उल्लेख है। विस्तारके जिज्ञासु इस मन्त्र (शु० यजु० ३-१) का मत्कृत संस्कृत समन्वय भाष्य पढ़ें।

अर्जुन जब प्रभुके शरणागत हो गया, आत्मनिवेदन हो चुका, तो ८ और ९ श्लोकमें बुद्धिवादका सहारा लेकर 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर चुपचाप बैठ गया। यद्यपि उसे ऐसा करनेका कुछ भी अधिकार न था, फिर भी मोहके दृढ़ संस्कारोंके कारण गुरुके समक्ष इस प्रकारकी धृष्टता करनेके लिये विवश हुआ। बस, उसी अनुचित कर्तव्यपथकी ओर प्रेरित करनेवाले महामोहके विनाश-के लिये ही गीताका उपदेश हुआ। अर्जुनने उपसंहारमें स्वयं भी स्वीकार किया : 'नष्टो मोहः' (गी० १८-७३)। 'भगवन् ! मेरा मोह अब सर्वथा विनष्ट हो गया है। सर्वथा अब मैं सावधान हो गया हूँ। अब कभी भूल न होगी। सतत कर्तव्य-स्मरण बना ही रहेगा। मेरा सन्देह चला गया, अतः आप जैसा आदेश करें, वैसा ही मैं पालन करूँगा।'

किंकर्तव्यविषण्ण अर्जुनकी हँसी-सी उड़ाते हुए (गी० २-१०) भगवान् अग्रिम उपदेश (गी० २-११ से) आरम्भ करते हैं। इस अभिप्रायके दशम श्लोकका आधार भी शुक्लयजुर्वेद (३४-५७) में स्पष्ट है :

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥

(ब्रह्मणस्पतिः) वेदके रक्षक, वैदिक संस्कृतिको अक्षुण्ण रखनेके लिये हयग्रीव-मत्स्यादि विविधावतारधारी परमात्मा श्रीकृष्ण, (नूनम्) निश्चित ही, (उक्थ्यम्) प्रशंसायोग्य, अत्युत्तम, (मन्त्रम्) गीतोपदेशरूप रहस्यको, (प्रवदति) उस युद्धभूमिमें कहना प्रारम्भ करते हैं, जिसमें, (इन्द्रः) सम्राट् युधिष्ठिर, (वरुणः) वरणीय, भक्तजनोंके आराधनीय स्वयं श्रीकृष्ण अथवा दिव्य शक्तिके कारण शत्रुओंके विनाशक भीम, (अर्यमा) शत्रुओंके नियन्ता वशीकर्ता, शत्रुविजयी पञ्चालराज द्रुपदादि एवं अन्य, (देवाः) मरुद्गणादि देवोंके अंश सात्यकि, विराट तथा धृष्टद्युम्न, जो अग्निके अंशावतार थे, (ओकांसि) स्थान, (चक्रिरे) बनाए हुए थे अर्थात् युद्धभूमिमें अवस्थित थे ।

गीताके प्रथम अध्यायमें प्रयुक्त प्रायः सभी प्रमुख पात्रोंके नाम वेदोंमें उपलब्ध हो जाते हैं। केवल ऋग्वेदमें ही भीमका ३३ बार, अर्जुनका ६ बार तथा कृष्णका ६३ बार नामोल्लेख हुआ है। उदाहरणके लिये भीमके नामोल्लेखका एक स्थल देखें :

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताळ्हि वि मृधो नुदस्व ॥

(ऋ० १०-१८०-२)

जयद्रथके द्वारा बलपूर्वक आहरण की जाती हुई भयभीत द्रौपदीका महाबली भीमसे निवेदन है : '(इन्द्र ! =ईश्वर !) हे शत्रुविजयमें समर्थ ! आप, (भीमः) शत्रुओंके लिए भयानक हैं अतः भीम कहे जाते हैं, (गिरिष्ठाः मृगः न) पर्वतोंमें निवास करनेवाले सिंहके समान अत्यन्त पराक्रमी हैं, (कुचरः) समस्त पृथ्वीपर संचरण करनेवाले हैं अर्थात् दुर्गम भूभागोंमें भी आपकी गति अव्याहत है, अतः आप, (परस्याः परावतः) अत्यन्त दूरवर्ती प्रदेशसे भी, (आजगन्थ) आ जायँ अर्थात् पृथ्वीमें यदि कहीं दूर स्थित दुर्गम प्रदेशमें भी भ्रमण कर रहे हों तो भी मेरी रक्षाके लिये तत्काल यहाँ उपस्थित हों, तथा, (सृकं तिग्मं पविम्) शत्रुओंकी ओर गमनशील तीक्ष्ण वज्रके समान अमोघ शस्त्रको, (संशाय) और भी तीक्ष्ण करके, (शत्रून्) जयद्रथ आदि शत्रुओंको, (वि ताढि) आहत कर डालें, (मृधः) यदि उनकी सहायताके लिये अन्य लोग उपस्थित हों तो युद्धके लिये उत्सुक उन सब शत्रुओंको, (वि नुदस्व) मारकर भगा दें।' बहुवचनमें शत्रु शब्दके प्रयोगका आशय यह है

कि केवल जयद्रथको ही नहीं अपितु जिनके बलपर दृप्त होकर इसने मुझ अबला-पर आक्रमण करनेका दुस्साहस किया है उन दुर्योधनादिको भी अतिशीघ्र यम-लोक पहुँचा दें।

यही नहीं, निम्नलिखित वेदमन्त्रमें तो कृष्ण और अर्जुन नामोंका एक साथ ही प्रयोग किया गया है :

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥

(ऋ० ६-९-१)

'आहरति कर्माणि, फलकामनां परित्यज्य सततम् अनुतिष्ठति इति अहः'— फलकामनाका परित्याग करके नित्य कर्मानुष्ठान करनेवाला अर्थात् निष्काम कर्मयोगी। 'अहः' शब्दका जहाँ दिनके अर्थमें प्रयोग है वहाँ उसका अर्थ है : 'आहरन्ति लोकाः कर्माणि अस्मिन्' अर्थात् जिसमें लोग कर्म सम्पादित करें। अहः शब्द नित्य नपुंसकलिंग है अतः उसके विशेषणरूपमें प्रयुक्त होनेके कारण इस मन्त्रमें अर्जुन और कृष्ण शब्द भी नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त हुए हैं, अथवा छान्द-सत्वेन भी क्लीबलिंगता उपपन्न हो सकती है। एक प्रकार यह भी है कि 'विद्धि' क्रियाका अध्याहार मानकर इन्हें द्वितीयान्त मान लिया जाय। (अहश्च कृष्णम्) श्रीकृष्ण कर्मयोगी हैं, (अहश्च अर्जुनम्) और अर्जुन भी कर्मयोगी हैं अथवा श्रीकृष्ण और अर्जुनको कर्मयोगी, (विद्धि) जानें। नर-नारायणकी मूर्ति वे दोनों, (रजसी=लोके—ङरीकारश्छान्दसः) संसारमें, (वेद्याभिः) ज्ञातव्य, अविस्मरणीय लोकोत्तर प्रवृत्तियोंसे, अलौकिक कर्तव्योंसे, (विवर्तेते) विशिष्ट स्थान रखते हैं अथवा लोकसंग्रहके लिये विविध व्यवहार करते हैं। लोकसंग्रही वे दोनों महानुभाव निरन्तर परोपकारी कार्योंमें निरत हैं। (न) 'न' यहाँ 'तु' के अर्थमें प्रयुक्त है। (जायमानः) धर्मस्थापनाके लिये प्रादुर्भूत, धरा-धाममें अवतीर्ण, (वैश्वानरः) समस्त जगत्के स्वामी श्रीकृष्ण तो अग्नि, दैत्य-दावानल हैं, (राजा) दीप्तिमान्, स्वप्रकाश चिदात्मा हैं, (ज्योतिषा) कारा-गारमें आविर्भावके समय अपने दिव्य प्रकाशसे, (तमांसि) अन्धकारको, (अवातिरत्=अवातिरति, विनाशयति) नष्ट कर डालते हैं। नानार्थक शब्दोंके एक ही अर्थमें तात्पर्यनिर्णायक जो संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध आदि हेतु साहित्यशास्त्रमें निरूपित हैं उनमें साहचर्य और विरोध प्रमुख हैं। जैसे, राम शब्दके तीन अर्थ हैं : परशुराम, भगवान् रामचन्द्र और बलराम। 'रामलक्ष्मणौ' में लक्ष्मणके साहचर्यवश रामका अर्थ है—भगवान् रामचन्द्र।

'रामकृष्णौ'में कृष्णके साहचर्यसे राम शब्दका अर्थ है—बलराम, तथा 'रामार्जुनौ' में परस्पर विरोधके कारण अर्जुनका अर्थ है—सहस्रार्जुन और रामका अर्थ है परशुराम। इसी प्रकार इस मन्त्रमें अर्जुन और कृष्ण शब्द अन्योन्यसाहचर्यवश पार्थ और पार्थसारथि अर्थके ही द्योतक हैं।

ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके सौवें सूक्तके तो द्रष्टा ही पाँचों पाण्डव हैं। क्यों न हों, जब घोर आंगिरस महर्षिके शिष्य, पाण्डवोंके सखा स्वयं श्रीकृष्ण आंगिरस ऋग्वेदके छह सूक्तों (८-८५-८७ तथा १०-४२-४४) के मन्त्रद्रष्टा महर्षि हैं तो उनके अनुगामी सखा पाण्डवोंको भी होना ही चाहिए। उपर्युक्त सूक्तके ऋषि-विवरणमें लिखा है : 'वार्षागिराः ऋज्राश्वाम्बरीष-सहदेव-भयमान-सुराधसः।' इसमें सहदेवका तो सुस्पष्ट उल्लेख है, शेष चारों बन्धुओंका 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' (ऐ० उ० १-३-१४) इस वैदिक सिद्धान्तके अनुसार परोक्षरूपसे विचार करनेपर स्पष्ट ही ज्ञान हो जाता है कि ऋज्राश्व, अम्बरीष, भयमान, सुराध नाम क्रमशः नकुल, युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुनके हैं। क्रमशः इन नामोंकी उपपत्ति देखें।

ऋज्राश्व—महाभारत विराट पर्वके अज्ञातवास-मन्त्रणा प्रकरणमें वर्णित है कि नकुल अश्वविद्यामें निष्णात थे इसीलिये विराट राजाके यहाँ उन्होंने अश्वशालाध्यक्ष बनकर निवास किया था। अतः 'ऋज्राः गतिमन्तः सुशिक्षणेन साधुगतियुक्ताः अश्वाः यस्य' अर्थात् सुशिक्षित होनेके कारण जिसके घोड़े उत्तम गतिवाले हों, इस अर्थके अनुसार ऋज्राश्व नकुलका ही अन्वर्थ नाम है।

अम्बरीष—'अवि शब्दे' धातुसे इषुन् प्रत्यय और रुदागम करनेपर 'अम्बरीष' शब्द निष्पन्न होता है। 'अम्बति कथयति धर्मतत्त्वम् इति अम्बरीषः' अर्थात् जो धर्मतत्त्वका उपदेश करे। इस अर्थके अनुसार अम्बरीष शब्दसे धर्मावतार सत्यनिष्ठ युधिष्ठिरका ही ग्रहण उचित है। यह भी माना जा सकता है कि सूर्यवंशमें जो अतिशय भगवद्भक्त, प्रजावत्सल और धर्मात्मा राजा अम्बरीष हुए, उनके सदृश होनेके कारण लक्षणया युधिष्ठिर भी अम्बरीष कहलाए।

भयमान—'ञिभी भये' धातुसे शानच् प्रत्यय करने तथा णिजर्थका अन्तर्भाव माननेपर भयमान शब्द निर्मित होता है जिसका अर्थ है अपने बलातिरेकसे शत्रुओंको त्रास देनेवाला। स्पष्ट है कि ये बलातिरेकशाली भीम ही हैं।

सुराधा—'शोभनं राधो धनं यस्य' अर्थात् शोभन धनसे युक्त। राजसूय यज्ञसे पूर्व दिग्विजय करके प्रचुर धनका आहरण करनेवाले धनंजय अर्जुनका ही पर्याय सुराधस् शब्द है।

वार्षागिर—वार्षागिर शब्द पाँचों पाण्डवोंके विशेषणरूपमें प्रयुक्त है। भाष्यकारोंने केवल 'वर्षागिर राजाके पुत्र' ही अर्थ किया है। मैं समझता हूँ कि वर्षाप्रधान गिरि होनेके कारण हिमवान् पर्वत ही वर्षागिरि है। विन्ध्य आदि और भी अनेक पर्वत हैं किन्तु उनपर हिमालय जैसी वृष्टि नहीं होती। महाराज पाण्डु जब अपनी कुन्ती और माद्री दोनों पत्नियोंके साथ हिमाचलपर तपोमय जीवन व्यतीत कर रहे थे उस समय पाण्डुका आदेश पाकर मन्त्राहूत देवताओंके प्रसादसे कुन्तीने तीन तथा माद्रीने दो पुत्रोंको जन्म दिया था। इस प्रकार वर्षा-गिरिमें प्रादुर्भाव होनेके कारण पाण्डवोंकी वार्षागिर संज्ञा हो गई। 'वर्षाम् गिरति उद्गिरति इति वर्षागीः' अर्थात् वर्षाको उगलनेवाला प्रचुरवृष्टिसम्पन्न हिमालयका पर्याय वर्षागीः, उससे भवार्थमें अण् प्रत्यय करनेपर भी वार्षागिर शब्द निष्पन्न माना जा सकता है :

वेदोंमें मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंका नामोल्लेख ऋचाओंमें प्रायः बहुत ही कम हुआ है। किन्तु वेद तो भगवान् नारायण ही हैं और अर्जुन उनके परम सखा, सहचर हैं। अतः उन्हें वेदनारायण अपनेसे भिन्न कैसे रख सकते हैं! सम्भवतः इसीलिये निम्नलिखित वेदमन्त्रमें पूरे सूक्तके द्रष्टा पाँचों पाण्डवोंका नामग्रहण-पुरस्सर उल्लेख है।

एतत् त्यत्त इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभि गृणन्ति राधः।
ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः॥
(ऋ० १-१००-१७)

द्रौपदी तथा कुन्तीका कथन है : '(इन्द्र! =ईश्वर!) हे भगवान् श्रीकृष्ण! (वार्षागिराः) हिमाचलसे प्रादुर्भूत वीरश्रेष्ठ राजर्षि, (अम्बरीषः) युधिष्ठिर, (भयमानः) भीम, (सुराधाः) अर्जुन, (ऋज्राश्वः) नकुल, और, (सहदेवः) सहदेव, (वृष्णः ते) भक्तोंके अभीष्ट फलोंके वर्षक आपके, (राधः) प्रीतिकर, (त्यत्=तत्, एतत्=इदम्, उक्थम्) उस इस स्तोत्रका, (प्रष्टिभिः) पार्श्वस्थ ऋषिगणोंके साथ, (अभिगृणन्ति) आपकी ओर उन्मुख होकर उच्चारण या गान करते हैं।'

प्रतीपके पौत्र तथा विचित्रवीर्यके पुत्र महाराज धृतराष्ट्र गीताके तो क्या, महाभारतके भी एक प्रमुख पात्र हैं। दुर्योधनादि कौरवोंके पिता इन्हीं धृतराष्ट्र-के प्रश्नपर संजयने पूरी गीताका अविकल वाचन किया। गीताके आरम्भमें इनका एक ही बार उल्लेख हुआ है। भगवान् वेदमें पितृ-परिचयके साथ इनका भी नाम देखिए :

तान् बको दाल्भिरब्रवीद् यूयमेवैतान् विभजध्वमिममहं धृतराष्ट्रं वैचित्रवीर्यं गमिष्यामि। (का० सं० १०-६)

गीता १-८ में कौरवपक्षीय मुख्य योद्धाओंकी गणनामें जिस सोमदत्त-सुत भूरिश्रवाका उल्लेख आया है उसके पितामह वाह्लीकका नाम वेदमें देखिए जहाँ उनके पिता प्रतीपका भी नामोल्लेख साथ ही हुआ है :

तद्ध ह वाह्लीकः प्रातिपीयः (प्रातिपेयः) शुश्राव। कौरव्यो राजा…
(श० ब्रा०[1] १२-९-३-३)

घोर आंगिरसके शिष्यरूपमें भगवान् श्रीकृष्णका उल्लेख पहले मन्त्रद्रष्टा महर्षिके रूपमें हो चुका है। उसी स्वरूपके साथ देवकीपुत्रके रूपमें भी उनका उल्लेख वेदमें उपलब्ध है :

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच…।
(छा० उ० ३-१७-६)

अधिक क्या कहें, गीताका कोई भी प्रसंग लें, अन्वेषण करनेपर उसका बीज अवश्य ही वेदमन्त्रोंमें उपलब्ध हो जाता है। यहाँ गीताके प्रथम अध्यायके ४७ और द्वितीय अध्यायके १०, कुल ५७ श्लोकोंके प्रसंगपर चर्चा चल रही है। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर भी वेदोंमें इस अंशका मूल उपलब्ध हो जाता है। ऋग्वेद-के अप्रतिरथसूक्त (१०-१०३) के १३ मन्त्र, शुक्लयजुर्वेदके सत्रहवें अध्यायमें कण्डिका संख्या ३३ से ४९ तक १७ मन्त्र तथा सामवेदके पूरे इक्कीसवें अध्याय-के २७ मन्त्रोंमें पूर्वापर रूपसे इसी कथानकका वर्णन है। योगानुयोगसे इनकी संकलित गणना भी ५७ हो जाती है। यद्यपि इन मन्त्रोंमें आकृतिभेद नहीं है किन्तु 'प्रतिवेदं मन्त्रा भिद्यन्ते, प्रत्युच्चारणं च शब्दः भिद्यते' इस सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक मन्त्रकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है।

मान लीजिए यहाँ इस बातको चित्त न ही स्वीकार करे तो निम्नांकित अन्य प्रकारसे भी ५७ वेदमन्त्रोंकी गणना पूरी हो जाती है जिनमें इन्हीं प्रसंगोंका सुस्पष्ट वर्णन है :

---

१. मन्त्रकी भाँति ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद ही हैं : 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आपस्तम्बश्रौतसूत्र, यज्ञपरिभाषा २४-१-३१)। 'सनातनधर्मोद्धार' ग्रन्थमें पण्डित नकछेदजीने ब्राह्मणग्रन्थोंके वेदत्व-समर्थनमें जो सहस्राधिक प्रमाण उद्धृत किए हैं वे वहाँ देखे जा सकते हैं, अतः वेद शब्दसे संहिताओंकी भाँति शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थ भी ग्राह्य हैं।

ऋग्वेद		१-८९-६, ८	— २
		३-५३-२४	— १
		६-२७-४	— १
	युद्धसूक्त	६-७५-१–१९	—१९
		८-४१-१–१०	—१०
		१०-[illegible]३-१–१३	—१३
		१०-१५२-३–४	— २
		१०-१८०-२	— १
यजुर्वेद		३४-५६–५८	— ३
सामवेद		उ० ९-[illegible]-४-३	
		उ० ९-३-६-१	
		उ० ९-३-६-२	} ५
		उ० ९-३-७-३	
		उ० ९-३-८-२	
			५७

उपर्युक्त सभी वेदमन्त्रोंका संस्कृत-भाष्यसहित हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करने तथा विस्तारसे संगति-विचार करनेपर एक स्वतन्त्र पुस्तक ही निर्मित हो जायगी, जो यहाँ अभीष्ट नहीं है। इसीलिये निदर्शनरूपमें उपर्युक्त मन्त्रोंमें-से प्रसंगानुकूल कुछ ही मन्त्रोंका हिन्दी अनुवाद दिया गया है।
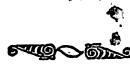
महाभारतका आकार-प्रकार

गीताका ऐतिहासिक अथवा कथांश भाग (गीता १-१-४७ तथा २-१-१० =५७ श्लोक) वेदसे सम्बद्ध है, इसका सोदाहरण विवेचन आरम्भमें किया जा चुका है। अब यहाँ महाभारतके सम्बन्धमें थोड़ा विचार आवश्यक है क्योंकि चतुर्विध पुरुषार्थोंसे सम्बद्ध अनन्त उपदेश-रत्नोंके महासागर तथा वेद, पुराण, उपनिषद्, दर्शन आदिके एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ इस महाभारतका ही गीता एक महत्त्वपूर्ण अंश है,[1] जो संभवतः लौकिक-पारलौकिक दोनों दृष्टियोंसे मानव-मात्रके लिये अतिशय उपादेय तथा नित्य प्रयोजनीय होनेके कारण अलग निकाल ली गई।

महाभारतमें आए विवरणोंके ही आधारपर विदित होता है कि श्री वेद-व्यासजी ने पहले ६० लाख श्लोकोंमें महाभारतके बड़े-छोटे ४ संस्करण निर्मित किए थे,[2] जो क्रमशः ३०, १५, १४ और १ लाख श्लोकोंके थे। इनमें-से प्रत्येकमें आकारके अनुसार विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूपमें महाभारतकी सम्पूर्ण कथावस्तु थी। ये क्रमशः देवलोक, पितृलोक, गन्धर्वलोक और मनुष्यलोकमें नारद, असित देवल, शुक और व्यास-शिष्य वैशम्पायन-द्वारा प्रथित हुए।[3] मर्त्यलोकमें

---

१. महाभारत (नीलकण्ठी व्याख्या, गणपति कृष्णाजी प्रेस, बम्बई-संस्करण) के अनुसार भीष्मपर्वके २५–४२ अध्यायतक १८ अध्यायोंमें गीता है। संशोधित पूना-संस्करणमें २३–४० अध्यायोंमें है।

२. षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम्॥ (म० भा० आदि० १-१०५)

३. त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम्।
पित्र्ये पञ्चदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश॥
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम्।
नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन्॥
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्॥
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत॥ (म०भा०आदि० १-१०६–९)

प्रचलित होनेवाले लक्षश्लोकात्मक महाभारतका ही दूसरा नाम जय था।[१] इसका एक तीसरा नाम आदिभारत भी कहा गया है।[२] कृष्णद्वैपायन-द्वारा आविर्भूत होनेके कारण यह कार्ष्णवेद भी कहा जाता था।[३] महाभारत नाम-करणका हेतु यह बताया गया है कि एक बार देवताओंने एक ओर इस कार्ष्णवेदको तथा दूसरी ओर चारों वेदोंको रखकर तौला तो कार्ष्णवेद ही भारी निकला, अतः आकार-गौरव तथा भारवत्त्वके कारण यह महाभारत कहलाया।[४] अथवा भरतवंशी राजाओंके वंशका महान् वर्णन होनेके कारण भी इसका महाभारत नाम पड़ा।[५] इसमें-से उपाख्यानोंको हटाकर व्यासजीने २४००० श्लोकोंका एक संक्षिप्त संस्करण भी बनाया जिसका नाम भारत था।[६]

व्यासजीने महाभारतको सौ पर्वोंमें सम्भवतः इसलिये विभक्त किया कि पर्वके नामग्रहणके साथ ही उसमें आनेवाली प्रधान कथाका भी ज्ञान हो जाय किन्तु बादमें सम्भवतः सौ पर्वोंकी सूची कण्ठस्थ करनेमें कठिनताका अनुभव करके अतिप्रधान घटना या व्यक्तिके आधारपर सूतपुत्र उग्रश्रवाने १८ मुख्य पर्वों-में ही उन सौ पर्वोंका अन्तर्भाव कर दिया।[७] इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

---

१. इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा॥
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा॥ (म०भा०आदि० ६२-१४, २०)

२. इदं शतसहस्रं तु श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्॥
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्। (म० भा० आदि० १-१०१-२)

३. कार्ष्णवेदमिमं विद्वाञ्छ्रावयित्वार्थमश्नुते। (म० भा० आदि० १-२६८)

४. एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः॥
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा॥
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम्॥
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते। (म० भा० आदि० १-२७१-२७४)

५. भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते॥ (म० भा० आदि० ६२-३९)

६. चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्॥
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः। (म० भा० आदि० १-१०२-३)

७. एतत्पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना॥
यथावत्सूतपुत्रेण लौमहर्षणिना ततः।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु॥ (म० भा० आदि० २-८३-८४)

आर्ष साहित्यके मूर्धन्य इस सर्वशास्त्र-संग्रह-ग्रन्थके आदिप्रवक्ता व्यासशिष्य वैशम्पायननें व्यासजीके आदेशसे जनमेजयको इसकी कथा सुनाई थी।[१] वहीं सूतपुत्र उग्रश्रवाने भी यह कथा सुनी और फिर वे शौनक आदि ऋषियोंको सुनाने लगे। इस प्रकार व्यास-शिष्य वैशम्पायन, सूत और सूतपुत्र उग्रश्रवा व्यासके ही समकालीन थे। अतः पुनः सम्पादनके समय आवश्यक समझकर या तो वैशम्पायन-जनमेजय-संवाद और सौति-शौनक-संवाद व्यासजीनें ही आदिभारतमें सम्मिलित कर दिए होंगे या उनकी आज्ञासे इन्हीं प्रवक्ताओंने वह अंश संयुक्त कर सम्पादित कर दिया। तदनन्तर विषय-कथाक्रम-द्योतक अनुक्रमणिकाध्याय और पर्व-अध्याय-श्लोकांक-द्योतक पर्वसंग्रहाध्याय व्यवस्थित करके आरम्भमें जोड़ दिया। आज भी मूल ग्रन्थ निर्मित होनेके पश्चात् उसका एक बार अवलोकन करके ही परिशिष्ट, विषयानुक्रमणी, भूमिका आदिका सम्पादन-मुद्रण होता है। वाल्मीकि-रामायणमें भी आरंभिक सर्गके १०० श्लोकोंमें संक्षिप्तरूपसे क्रमशः रामायण-गत सभी कथाप्रसंग दिए गए हैं जो मूलरामायण नामसे अलग भी मुद्रित है। इसे चाहें तो पूरी रामायणकी कथासूची भी कह सकते हैं।

कतिपय आधुनिक विद्वानोंने जो यह निराधार कल्पना की है कि महाभारत-के जयनामक लगभग ८००० श्लोकोंवाले लघु संस्करणकी रचना व्यासने की, भारतनामक २४००० श्लोकोंवाले मध्यम संस्करणकी रचना व्यासशिष्य वैश-म्पायनने की तथा महाभारतनामक लक्षश्लोकात्मक बृहत् संस्करणकी रचना सूतपुत्र उग्रश्रवाने की, इत्यादि, उसका महाभारतके ही प्रमाणोंके आधारपर प्रस्तुत किए गए उपर्युक्त विवरणसे स्वतः निरसन हो जाता है।

सम्पादन तथा मुद्रण-कलाके चरम विकासके वर्तमान युगमें तो बड़े-बड़े ग्रन्थोंके विषय, श्लोक, पद, विशिष्ट पद आदिकी वर्णानुक्रमणिकाएँ विरचित होने लगीं अतः स्वाध्यायका मार्ग अत्यन्त सरल हो गया है किन्तु मुद्रण-कलाके आविष्कारसे पहले ही हमारे दयालु महर्षियोंने श्रमपूर्वक इस कौशल और उद्देश्य-से अनुक्रमणिकाओंकी रचना कर दी कि इन लोकोपकारी प्रामाणिक ग्रन्थोंका कोई भाग लुप्त न होने पावे तथा कोई इनमें कुछ अनुचित सन्निवेश भी न कर सके। वेदोंकी सर्वानुक्रमणिकाओंके बलपर ही आज हम मन्त्रोंकी गणना

---

१. तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके॥
कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत्पुरा।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि॥ (म० भा० आदि० ६०-२१-२२)

निश्चित करनेमें समर्थ हो पाते हैं, यद्यपि फिर भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो ही जाती हैं।[१]

महाभारतके आरम्भमें इस प्रकारकी तीन महत्त्वपूर्ण अनुक्रमणियाँ प्रस्तुत की गई हैं :

१. कथानुक्रमणी—यह आदिपर्व (संशोधित पूना संस्करण) में १-६२ 'ततोऽध्यर्धशतं भूयः' से आगे प्रायः १५० श्लोकोंमें वर्णित है। इसमें महाभारतमें आई सम्पूर्ण कथाओंका क्रमपूर्वक उल्लेख कर दिया गया है।

२. शतपर्वानुक्रमणी—आदिपर्व (सं० पू० सं०) द्वितीय पर्वसंग्रहाध्यायमें तैंतीसवें[२]से सत्तरवें[३] श्लोकतक यह अनुक्रमणिका दी गई है।

३. अष्टादशपर्वानुक्रमणी—यह आदिपर्वके द्वितीय अध्यायमें इकहत्तरवें[४]से दो सौ तैंतीसवें[५] श्लोकतक वर्णित है। इसमें १८ पर्वों और उनके अवान्तर विषयोंका विवरण है। १८ पर्वोंमें १०० पर्वोंका अन्तर्भाव-प्रकार भी दर्शाया गया है।

महाभारतका स्वाध्याय करनेसे पूर्व आरम्भके इन दोनों अध्यायोंके सम्यक् परिशीलनसे महाभारतकी पूरी रूपरेखा सुस्पष्ट हो जाती है। अतः इस दृष्टिसे इनका विशेष महत्त्व है। यहाँ यह बता देना अध्ययनमें सहायक होगा कि संशोधित पूना संस्करणमें आदिपर्वके प्रथम अध्यायमें २१० एवं नीलकंठी संस्करणमें २७५ श्लोक हैं। आगे संशोधित पूना संस्करणके द्वितीय अध्यायमें २४३ तथा नीलकंठी संस्करणमें ३९६ श्लोक हैं।

इसी प्रकार महाभारतके आरम्भके विषयमें भी पहलेसे ही मतभेद है। तीन विभिन्न स्थलोंसे महाभारतके आरम्भका विवरण महाभारतमें ही प्राप्त होता है :

---

१. देखें मेरी कृति वेदोपदेशचन्द्रिकामें 'ऋग्वेदकी वास्तविक ऋक्संख्या' नामक लेख (पृ० ३६५—६९)।

२. अस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः।
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसङ्ग्रहः॥ (म० भा० आदि० २-३३)

३. एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना।
यथावत् सूतपुत्रेण लौमहर्षणिना पुनः॥ (म० भा० आदि० २-७०)

४. कथितं नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु।
समासो भारतस्यायं तत्रोक्तः पर्वसङ्ग्रहः॥ (म० भा० आदि० २-७१)

५. अष्टादशैवमेतानि पर्वाण्युक्तान्यशेषतः।
खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यच्च प्रकीर्तितम्॥ (म० भा० आदि० २-२३३)

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथा परे ।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥

(म० भा० आदि० १-५० सं० पू० सं०)

अर्थात् कुछ लोग महाभारतका आरम्भ मनुसे यानी मनुप्रतिपादित सृष्टिक्रमके वर्णनसे, कुछ लोग आस्तीकपर्वके आरम्भ (आदिपर्व, अध्याय १३) से तथा कुछ लोग राजा उपरिचरके आख्यान (आदिपर्व, अध्याय ५७) से मानते हैं।

किन्हीका मत है कि मनु शब्द यहाँ मन्त्रके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस मतके समर्थकोंमें भी कुछ लोग 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इसे मन्त्र मानते हैं तो कुछ लोगोंकी मान्यता है कि 'नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्' यह पूरा मंगलश्लोक ही मन्त्र शब्दसे यहाँ विवक्षित है। अतः इन मतोंके अनुसार आरम्भमें जहाँ पूर्वोक्त द्वादशाक्षर मन्त्र अथवा मंगलश्लोक आए हैं वहींसे महाभारतका आरम्भ माना जाता है।

मुद्रण-युगके आरम्भके पश्चात् महाभारतके भी अनेक संस्करण प्रकाशमें आए। नीलकण्ठी-संस्कृत-टीका-सहित एक संस्करण गणपति कृष्णाजी प्रेस (बम्बई) तथा दूसरा चित्रशाला प्रेस (पूना) से प्रकाशित हुआ। हिन्दी-भाषी जनताके लाभकी दृष्टिसे इण्डियन प्रेस (प्रयाग) ने मूलश्लोकविहीन हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। गीताप्रेस (गोरखपुर) ने मूलश्लोकोंके साथ हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया। इसी प्रकारका वेदमूर्ति श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-द्वारा संपादित एक संस्करण प्रकाशमें आया जिसमें सामयिक विवेचना भी की गई है। इधर एक गवेषणापूर्ण संशोधित विशिष्ट संस्करण भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट (पूना) से प्रकाशित हुआ है। संस्थानका प्रयास निस्सन्देह प्रशंसनीय है। इसमें दिए गए पाठान्तरों तथा भूमिका और परिशिष्टोंमें प्रदत्त गवेषणापूर्ण सामग्रीकी सहायतासे मौलिक पाठ निश्चित करनेमें पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है।

महाभारतमें गीताकी अवस्थिति किस पर्वके किस अध्यायसे किस अध्याय-तक है, यह जाननेसे पूर्व महाभारतके पर्व, अध्याय आदिकी संख्या तथा क्रम जान लेना आवश्यक है। अतः पहले १८ पर्वोंमें १०० पर्वोंके अन्तर्भावका प्रकार प्रदर्शित किया जाता है।

---

१. निष्प्रभेऽस्मिन्निरालोके सर्वतस्तमसावृते ।
ब्रह्मदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमक्षयम् ॥
(म० भा० आदि० १-२७ सं० पू० सं०)

महाभारत (संशोधित पूना संस्करण) के आदिपर्व, द्वितीय अध्यायमें श्लोकसंख्या ३३ से ७० तक शतपर्वसूची है और १८ पर्व, उनमें अन्तर्भूत १०० पर्वों तथा उनके विषयोंका जो विवरण श्लोकसंख्या ७१ से २३३ तक दिया गया है उसीका सार यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :

१. आदिपर्व—इसमें निम्नलिखित १९ पर्व समाविष्ट हैं :

१. कथानुक्रमणीपर्व, २. पर्वसंग्रहपर्व, ३. पौष्यपर्व, ४. पौलोमपर्व, ५. आस्तीकपर्व, ६. आदिवंशावतारण या अंशावतारपर्व, ७. सम्भव या उत्पत्तिपर्व, ८. लाक्षागृह-दाहपर्व, ९. हैडिम्बपर्व, १०. बकवधपर्व, ११. चैत्ररथपर्व, १२. द्रौपदी-स्वयंवरपर्व, १३. वैवाहिक पर्व, १४. विदुरागमपर्व, १५. राजलम्भपर्व, १६. अर्जुन-वनवासपर्व, १७. सुभद्राहरण-पर्व, १८. हरणहारिकपर्व, १९. खाण्डवदाहपर्व।

२. सभापर्व—इसमें निम्नलिखित ९ पर्व हैं :

१. सभापर्व (२०), २. मन्त्रपर्व (२१), ३. जरासन्धपर्व (२२), ४. दिग्विजयपर्व (२३), ५. राजसूयिक पर्व (२४), ६. अर्घाभिहरणपर्व या उपहारपर्व (२५), ७. शिशुपालवधपर्व (२६), ८. द्यूतपर्व (२७), ९. अनुद्यूतपर्व (२८) ।

३. आरण्यकपर्व—इसमें निम्नलिखित १६ पर्व हैं :

१. आरण्यकपर्व (२९), २. किर्मीरवधपर्व (३०), ३. कैरातपर्व (३१), ४. इन्द्रलोकाभिगमनपर्व (३२), ५. तीर्थयात्रापर्व (३३), ६. जटासुर-वधपर्व (३४), ७. यक्षयुद्धपर्व (३५), ८. आजगरपर्व (३६), ९. मार्कण्डेय-समस्यापर्व (३७), १०. द्रौपदी-सत्यभामा-संवादपर्व (३८), ११. घोषयात्रापर्व (३९), १२. मृगस्वप्नभय-पर्व (४०), १३. व्रीहिद्रौणिकपर्व (४१), १४. जयद्रथद्वारा द्रौपदी-हरणपर्व (४२), १५. कुण्डलाहरणपर्व (४३), १६. आरणेय-पर्व (४४) ।

४. विराटपर्व—इसमें निम्नलिखित ४ पर्व समाविष्ट हैं :

१. वैराटपर्व (४५), २. कीचक-वधपर्व (४६), ३. गोहरण-पर्व (४७), ४. उत्तरा-अभिमन्यु-विवाहपर्व (४८) ।

५. उद्योगपर्व—इसमें निम्नलिखित ११ पर्व समाविष्ट हैं :

१. उद्योगपर्व (४९), २. संजय-यानपर्व (५०), ३. धृतराष्ट्र-प्रजागरपर्व (५१), ४. सनत्सुजातीयपर्व (५२), ५. यानसन्धपर्व

(५३), ६. भगवद्यानपर्व (५४), ७. कर्ण-विवादपर्व (५५), ८. कुरु-पाण्डव-सैन्य-निर्याणपर्व (५६), ९. रथातिरथपर्व (५७), १०. उलूकदूतागमनपर्व (५८), ११. अम्बोपाख्यानपर्व (५९) ।

६. भीष्मपर्व—इसमें निम्नलिखित ५ पर्व समाविष्ट हैं :

१. भीष्माभिषेचनपर्व (६०), २. जम्बूखण्ड-विनिर्माणपर्व (६१), ३. भूमिपर्व (६२), ४. गीतापर्व (६३), ५. भीष्मवधपर्व (६४) ।

७. द्रोणपर्व—इसमें निम्नलिखित ८ पर्व समाविष्ट हैं :

१. द्रोणाभिषेकपर्व (६५), २. संशप्तक-वधपर्व (६६), ३. अभिमन्यु-वधपर्व (६७), ४. प्रतिज्ञापर्व (६८), ५. जयद्रथ-वधपर्व (६९), ६. घटोत्कच-वधपर्व (७०), ७. द्रोण-वधपर्व (७१); ८. नारायणास्त्र-मोक्षपर्व (७२) ।

८. कर्णपर्व (७३)—इसमें अन्य कोई पर्व समाविष्ट नहीं है ।

९. शल्यपर्व—इसमें निम्नलिखित ४ पर्व समाविष्ट हैं :

१. शल्यपर्व (७४), २. ह्रदप्रवेशपर्व (७५), ३. गदायुद्धपर्व (७६), ४. सारस्वतपर्व (७७) ।

१०. सौप्तिक पर्व—इसमें निम्नलिखित ३ पर्व समाविष्ट हैं :

१. सौप्तिकपर्व (७८), २. ऐषीकपर्व (७९), ३. जलदानिकपर्व (८०)।

११. स्त्रीपर्व—इसमें निम्नलिखित ५ पर्व समाविष्ट हैं :

१. स्त्रीपर्व (८१), २. श्राद्धपर्व (८२), ३. युधिष्ठिराभिषेचनपर्व (८३), ४. चार्वाक-निग्रहपर्व (८४), ५. गृह-प्रविभागपर्व (८५) ।

१२. शान्तिपर्व—इसमें निम्नलिखित ३ पर्व समाविष्ट हैं :

१. राजधर्मपर्व (८६), २. आपद्धर्मपर्व (८७), ३. मोक्षधर्मपर्व (८८) ।

१३. आनुशासनिक पर्व—इसमें निम्नलिखित २ पर्व समाविष्ट हैं :

१. आनुशासनिक पर्व (८९), २. भीष्मस्वर्गारोहणपर्व (९०) ।

१४. आश्वमेधिक पर्व—इसमें निम्नलिखित २ पर्व समाविष्ट हैं :

१. आश्वमेधिक पर्व (९१), २. अनुगीतापर्व (९२) ।

१५. आश्रमवासीपर्व—इसमें निम्नलिखित ३ पर्व समाविष्ट हैं :

१. आश्रमवासपर्व (९३), २. पुत्रदर्शनपर्व (९४), ३. नारदागमपर्व (९५) ।

१६. मौसल पर्व (९६)—इसमें अन्य कोई पर्व समाविष्ट नहीं है ।

१७. महाप्रास्थानिक पर्व (९७)—यह पर्व भी स्वतन्त्र है ।

१८. पाण्डवस्वर्गारोहणपर्व (९८)।

इनमें २ परिशिष्टपर्व १. हरिवंशपर्व (९९) और २. हरिवंश-पुराणका अन्तिम भाग भविष्यत्पर्व (१००) जोड़ देनेसे सौ पर्व पूरे हो जाते हैं।

महाभारत (संशोधित पूना संस्करण, आदिपर्व, द्वितीय पर्वसंग्रहाध्याय, श्लोक ९५–२३२) में दिए गए विवरणके अनुसार प्रतिपर्व अध्यायों और श्लोकोंकी गणना इस प्रकार है :

आदिपर्व अ. २ के विवरण-श्लोकांक	पर्वनाम	अध्याय-गणना	पाठान्तरित अध्याय-गणना	पर्वकी श्लोक-गणना	पाठान्तरित श्लोक-गणना तथा अन्तर
९५	१. आदिपर्व	२१८	२२७ २२८ २३०	७९८४	
१०३-४	२. सभापर्व	७२	७८	२५११	२९११=४००
१२८	३. वनपर्व	२६९		११६६४	
१३५	४. विराटपर्व	६७	६४	२०५०	३०५०=१०००
१५२-५३	५. उद्योगपर्व	१८६		६६९८	
१५८-५९	६. भीष्मपर्व	११७		५८८४	
१६७	७. द्रोणपर्व	१७०		८९०९	
१७२	८. कर्णपर्व	६९		४९००	
१७६	९. शल्यपर्व	५९		३२२०	
१८९	१०. सौप्तिकपर्व	१८		८७०	
१९४	११. स्त्रीपर्व	२७		७७५	
१९९	१२. शान्तिपर्व	३३९	२२९	१४५२५	
२०५	१३. अनुशासनपर्व	१४६		६७००	
२१०	१४. अश्वमेधपर्व	१३३	१०३	३३२०	
२१८	१५. आश्रमवासिकपर्व	४२		१५०६	
२२८	१६. मौसलपर्व	८		३००	
२३१	१७. महाप्रास्थानिकपर्व	३		१२०	
२३२	१८. स्वर्गारोहणपर्व	५		२००	
		१९४८		८२१३६	१४००=८३५३६

विस्मय इस बातपर होता है कि प्रायः सभी संस्करणोंमें पूरे महाभारतके सूचीरूपमें प्रस्तुत आदिपर्वके पर्वसंग्रहनामक द्वितीय अध्यायमें प्रतिपर्वके अध्यायों-की जो संख्या प्रतिज्ञात है वह संख्या आगे चलकर ग्रन्थमें उस पर्वके समाप्त होनेपर कहीं-कहीं नहीं प्राप्त होती। उससे भिन्न ही संख्या उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ संशोधित पूना संस्करणके कुछ पर्वोंमें दोनों प्रकारकी अध्याय-संख्याओंमें विरोध इस प्रकार है :

पर्व	अध्यायोंकी संख्या	
	आदिपर्व द्वितीय अध्याय-गत विवरणके अनुसार	प्रतिपर्वके अन्ततक गणनाके अनुसार
१. आदिपर्व	२१८	२२५
२. वनपर्व	२६९	२९९
३. उद्योगपर्व	१८६	१९७
४. द्रोणपर्व	१७०	१७३
५. शल्यपर्व	५९	६४
६. शान्तिपर्व	३३९	३५३
७. अनुशासनपर्व	१४६	१५४
८. अश्वमेधपर्व	१३३	९६
९. आश्रमवासिकपर्व	४२	४७
१०. मौसलपर्व	८	९
	१५७०	१६१७

उपर्युक्त जिन दस पर्वोंकी अध्याय-संख्यामें विरोध है उनके योगफलके अनुसार दोनों संख्याओंमें ४७ का अन्तर स्पष्ट है। गणपति कृष्णाजी प्रेस (बम्बई) वाले नीलकण्ठी संस्करणमें आदिपर्व, द्वितीय अध्यायमें निर्दिष्ट आदिपर्वकी अध्याय-संख्या २२७ के विरुद्ध, पर्वकी समाप्तिपर गणनानुसार २३४ अध्याय-संख्या देखकर सम्पादकने खिन्न होकर यह टिप्पणी दी है : 'व्यासनिर्मित पर्वसंग्रहसूचीमें २२७ संख्या है, उसके विरुद्ध आदिपर्वके अन्तमें अध्यायोंकी संख्या २३४ उचित नहीं।' ऐसी स्थितिमें पाठभेदके कारण आदि-पर्वके आरम्भिक अध्यायोंमें निर्दिष्ट अध्याय-संख्याएँ सन्दिग्ध ठहरती हैं।

उनपर निर्भर रहकर किसी निर्णयपर पहुँचना कठिन है। अतः महाभारतके अध्याय तथा श्लोकोंकी गणना बहुजनस्वीकृत नीलकण्ठी संस्करणके आधारपर करना समीचीन होगा।

गणपति कृष्णाजी प्रेसमें मुद्रित नीलकण्ठी संस्कृत टीकासहित महाभारतमें प्रतिपर्वकी समाप्तिपर अध्याय-संख्या निम्नलिखित है :

१. आदिपर्व	२३४
२. सभापर्व	८१
३. वनपर्व	३१५
४. विराटपर्व	७२
५. उद्योगपर्व	१९६
६. भीष्मपर्व	१२२
७. द्रोणपर्व	२०२
८. कर्णपर्व	९६
९. शल्यपर्व	६५
१०. सौप्तिकपर्व	१८
११. स्त्रीपर्व	२७
१२. शान्तिपर्व	३६५
१३. अनुशासनपर्व	१६८
१४. अश्वमेधपर्व	९२
१५. आश्रमवासीपर्व	३९
१६. मौसलपर्व	८
१७. महाप्रस्थानपर्व	३
१८. स्वर्गारोहणपर्व	५
	२१०८

चित्रशाला प्रेस (पूना) से मुद्रित नीलकण्ठी महाभारतमें भी यही अध्यायगणना स्वीकृत है।

महाभारत, इंडियन प्रेस, प्रयाग, हिन्दी-संस्करण, द्वितीय अध्याय, श्लोक १३१–३७९ में प्रदत्त विवरणके अनुसार प्रतिपर्व अध्यायों और श्लोकोंकी गणना इस प्रकार है :

पर्व	अध्याय	श्लोक
१. आदिपर्व	२२७	८८८४
२. सभापर्व	७८	२५११
३. वनपर्व	२६९	११६६४
४. विराटपर्व	६७	२०५०
५. उद्योगपर्व	१८६	६६९८
६. भीष्मपर्व	११७	५८८४
७. द्रोणपर्व	१७०	८९६४
८. कर्णपर्व	६९	४९६४
९. शल्यपर्व	५९	३२२०
१०. सौप्तिकपर्व	१८	८७०
११. स्त्रीपर्व	२७	७७५
१२. शान्तिपर्व	३२९	१४७३२
१३. अनुशासनपर्व	१४६	८०००
१४. अश्वमेधपर्व	१०३	३३२०
१५. आश्रमवासीपर्व	४२	१५०६
१६. मौसलपर्व	८	३२०
१७. महाप्रास्थानिकपर्व	३	३२०
१८. स्वर्गारोहणपर्व	५	२०९
	१९२३	८४८९१

ये उपर्युक्त संख्याएँ ग्रन्थमें पर्वोंकी समाप्तिपर अनेक स्थलोंपर नहीं मिलतीं। वहाँ किंचित् परिवर्तनके साथ नीलकण्ठी-सम्मत ही अध्याय-संख्या स्वीकृत है। परिवर्तन मात्र इतना है कि इन्होंने आदिपर्वमें २३७, स्त्रीपर्वमें २६, शान्तिपर्वमें ३६६ और स्वर्गारोहणपर्वमें ६ अध्याय माने हैं। आदि-पर्वके विशेष ३ और स्वर्गारोहणपर्वका १ विशेष मिलकर ४ का ही अन्तर पड़ता है। स्त्रीपर्वमें १ अध्यायकी न्यूनता शान्तिपर्वमें १ अध्याय अधिक मान लेनेसे पूर्ण हो गई है। इसीलिये जहाँ नीलकण्ठी संस्करणमें सम्पूर्ण अध्यायोंका योग २१०८ है वहाँ इंडियन प्रेसके संस्करणमें २११२ है।

सातवलेकरद्वारा संपादित संस्करणमें भी सर्वत्र नीलकण्ठीका ही अनुसरण है, केवल स्वर्गारोहणपर्वके अध्याय ५ के स्थानपर ६ माने गए हैं।

गीताप्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित सानुवाद संस्करणमें नीलकण्ठीसे केवल इतना अन्तर है कि आदिपर्वकी अध्याय-संख्या २३४ के स्थानपर उन्होंने २३३ मानी है। विवादास्पद नियोगाध्याय न देनेके कारण यह अन्तर आ गया है।

कुम्भकोणसे मुद्रित महाभारतमें सबसे अधिक (२३१३) अध्याय हैं। प्रतिपर्व उसकी अध्याय-संख्या इस प्रकार है :

१. आदिपर्व	२६०
२. सभापर्व	१०१
३. वनपर्व	३१५
४. विराटपर्व	७८
५. उद्योगपर्व	१९६
६. भीष्मपर्व	१२२
७. द्रोणपर्व	२०३
८. कर्णपर्व	१०१
९. शल्यपर्व	६६
१०. सौप्तिकपर्व	१८
११. स्त्रीपर्व	२७
१२. शान्तिपर्व	३७५
१३. अनुशासनपर्व	२७४
१४. अश्वमेधपर्व	११८
१५. आश्रमवासीपर्व	४१
१६. मौसलपर्व	९
१७. महाप्रस्थानपर्व	३
१८. स्वर्गारोहणपर्व	६
	२३१३

अध्याय-संख्यामें इस न्यूनाधिक्यका समाधान एक अध्यायमें अनेक अध्यायों-का अन्तर्भाव मानकर किया जा सकता है। जैसे स्वर्गारोहणपर्वके पाँचवें अध्यायके ६८ और छठे अध्यायके १०५ श्लोकोंको सम्मिलित कर १७३

श्लोकोंका एक अध्याय मानते हुए स्वर्गारोहणपर्वकी संख्या ५ ही मान लेनेमें कोई अनौचित्य नहीं है। ऐसा ही अन्य पर्वोंमें भी समझकर काम चलाया जा सकता है। किन्तु श्लोक-संख्याका वैषम्य अवश्य उलझनमें डाल देता है।

संशोधित पूना संस्करण, आदिपर्व, अध्याय २ के विवरणके अनुसार महाभारतकी श्लोकसंख्या ८२१३६ होती है। नीलकण्ठी आदि संस्करणोंके आधारपर यह संख्या लगभग ८४००० आती है।[1]

भारतसावित्री, *प्रथम भाग* (पृष्ठ १५) में श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि दक्षिण भारतमें प्रकाशित विस्तृत पाठमें, जिसे महल्लक पाठ भी कह सकते हैं, अध्यायोंकी संख्या १९५९ और श्लोकोंकी संख्या ९५५८६ है। उनकी धारणा है कि काश्मीरसे प्राप्त शारदालिपिमें लिखित महाभारतकी प्रतियाँ पाठकी दृष्टिसे सर्वाधिक प्रामाणिक हैं, क्योंकि उनके पाठ प्राचीन हैं एवं मूलके अधिक निकट हैं और अन्य संस्करणोंकी अपेक्षा श्लोकसंख्या भी उनमें कम है। दक्षिण भारतके संस्करणमें सबसे अधिक मिलावट है जो सभापर्व, विराटपर्व, अनुशासनपर्व, अश्वमेघपर्व और आश्रमवासिकपर्वमें पाई जाती है। कुल मिलाकर उसमें १३४५० श्लोक काश्मीरी प्रतियोंकी अपेक्षा अधिक हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अग्रवालजी भारतीय संस्कृतिके समर्थकोंमें मुख्य थे। उनका आर्यसाहित्यका ज्ञान भी उच्च कक्षाका था परन्तु अध्ययन पाश्चात्य पद्धतिसे होनेके कारण ऐतिहासिक समालोचनामें पाश्चात्य विद्वानोंकी विचार-धारासे वे अछूते नहीं रह सके।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलकको भारतीय संस्कृतिका प्राण कहना अत्युक्ति न होगी। उनका लक्ष्य यह था कि पाश्चात्य विद्वानोंकी धारणाओंका पाश्चात्य पद्धतिसे ही प्रत्याख्यान किया जाय ताकि पाश्चात्य विद्वान् अनायास ही उसे हृदयंगम कर सकें। इसीलिये ऐतिहासिक विचारणाके क्षेत्रमें उन्होंने भी ऐसा मार्ग अपनाया कि पाश्चात्य दृष्टिकोणसे स्वल्प प्रभावित ही प्रतीत होते हैं, अस्तु।

---

१. सातवलेकरके संस्करणमें जो कुल श्लोकोंका योग ८४०९५ मुद्रित है उसमें जोड़ने या छपनेमें कुछ भूल हो गई प्रतीत होती है, क्योंकि वास्तविक संख्या योग करनेपर ८४२५३ आती है। इंडियन प्रेसवाले ग्रन्थमें यह योग ८४८९१ है। एक लेखकने अपनी गणनाके अनुसार ८४२४४ श्लोक बत-लाए हैं।

लोकप्रसिद्धि भी है कि महाभारतमें एक लाख श्लोक हैं। गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित सानुवाद महाभारतके आरम्भिक 'नम्र निवेदन' में यह उपपत्ति प्रदर्शित की गई है कि इन ८४००० श्लोकोंमें हरिवंशके १६००० श्लोक मिला देनेसे महाभारतकी बहुश्रुत एक लाख श्लोकसंख्या पूरी हो जाती है। यद्यपि :

दशश्लोकसहस्राणि विंशच्छ्लोकशतानि[1] च।
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा॥

(म० भा० आदि० २-२३३ की पादटिप्पणी, सं० पू० सं०)

इस श्लोकके अनुसार हरिवंशकी संख्या १२००० ही निश्चित होती है किन्तु ४००० श्लोकोंका अन्तर खटकनेकी बात है। यह भी हो सकता है कि उपर्युक्त श्लोकके द्वितीय चरणका 'षष्टिश्लोकशतानि च' पाठान्तर मानकर गीताप्रेसने हरिवंशके १६००० श्लोकोंका उपपादन मान लिया हो। दूसरा प्रकार यह भी है कि उसी टिप्पणीमें निर्दिष्ट 'अष्टादशसहस्राणि श्लोकानां कीर्तितानि वै' तथा 'अष्टादशसहस्राणि श्लोकानां च शतं तथा' इन पाठान्तरोंको स्वीकृत कर लिया जाय तो संशोधित पूना संस्करण आदिपर्वके पर्वसंग्रहाध्यायके अनुसार निर्दिष्ट ८२००० श्लोकोंमें १८००० का योग कर देनेसे एक लाख श्लोकोंकी गणना पूरी हो जाती है। इस प्रकार अवलोकन करनेसे प्रतीत होता है कि महाभारतके संबन्धमें कोई विवाद या जिज्ञासा उत्पन्न हो तो उसीकी सामग्रीसे उन सबका निराकरण सम्भव है। कहीं बाहरसे साक्ष्य, प्रमाण या सहायताकी आवश्यकता नहीं है।

महाभारतके स्वरूपपर व्यापक विचार करें तो सहज ही इस निष्कर्ष-पर पहुँच सकते हैं कि गीतारूपी प्राण जिस शरीररूपी महाभारतमें अन्त-र्निहित है वह महाभारत और कुछ नहीं, केवल स्वाराध्य भगवान् श्रीकृष्ण-की कृति गीताके सिद्धान्तोंकी ही व्यासजीद्वारा विरचित सुविशद सोदाहरण व्याख्या है। अतः गीताके किसी भी सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करने चलें तो महाभारतके पूर्वोत्तर प्रसंगोंपर दृष्टिपात किए बिना यथार्थावगति प्रायः सुलभ न होगी।

महाभारतकी तात्पर्यप्रकाश (या भावप्रकाश) टीकाके निर्माता सदानन्द यतिने 'धर्मक्षेत्रे' (गीता १-१) की व्याख्या करते हुए जहाँ गीतामें अध्यात्म-

---

१. विंशतिसंख्यकानि श्लोकशतानि = २००० + १०००० = १२०००।

वादका सजीव चित्र उपस्थित किया है वहाँ उसके समर्थनमें महाभारत (आदि० १-६५–६६) के 'दुर्योधनो मन्युमयो' इत्यादि सन्दर्भका प्रमाण-रूपसे उपन्यास किया है।

माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेदके 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (४०-२) में कर्मयोगका जो बीज निहित है उससे उत्पन्न महापादप गीतालक्षण कर्मयोगशास्त्र महाभारतके १८ अध्यायोंमें वर्णित भागवत-धर्मरूपी सलिल (नारायणीय उपाख्यान—शान्तिपर्व, अध्याय ३४–५१) से सिंचित है। अर्थात् गीताके कर्मयोगका विशद वर्णन उससे विशेषतया सम्बद्ध है। उसके साथ गीताकी तुलना करें तो कतिपय बहुमूल्य सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते हैं। भगवद्‌गीता शब्दमें गीताका विशेषण भगवत् अथवा श्रीकृष्णका विशेषण भगवान् शब्द भागवत धर्मकी ही देन है। भागवत धर्मका वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध नामक चतुर्व्यूह-सिद्धान्त छोड़कर उसका कर्मयोग-सिद्धान्त गीताने अपना लिया। सम्भव है, गीताके बारहवें अध्यायमें वर्णित व्यक्तोपासना या साकारोपासना भी भागवत धर्मसे गृहीत हो। गीताकी यह शैली है भी। उदाहरणके लिये सांख्यशास्त्र और गीताको देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि गीता सांख्यके २५ तत्त्वोंको तो अपनाती है पर अन्य स्थलोंमें सांख्यशास्त्रकी दासता उसे मान्य नहीं है। अतः वह छब्बीसवें तत्त्व ईश्वरकी ओर संकेत करती है जिसके तत्त्वावधानमें प्रकृति-पुरुष दोनों मिलकर सृष्टिचक्रके संचालक बनते हैं।

गीतोपदेशकी पृष्ठभूमि ही महाभारत है अतः धृतराष्ट्र, संजय, कौरव, पाण्डव तथा उभयपक्षके सब योद्धागण पहले तो महाभारतके पात्र हैं, तदनन्तर गीताके। ऐसी स्थितिमें उन सबका परिचय भी महाभारतका अवलोकन किए बिना सम्भव नहीं है।

महाभारतका पर्यालोचन किए बिना गीताकी व्याख्या करनेका क्या परिणाम होता है यह एक उदाहरणसे सुस्पष्ट हो जायगा। महाभारत भीष्मपर्वके तेरहवें अध्यायमें यह वर्णन आया है कि युद्ध आरम्भ होनेके दसवें दिन जब पितामह भीष्मका पतन हो गया और संजय कुरुक्षेत्रसे लौटे तो उन्होंने महाराज धृतराष्ट्रको यह समाचार सुना दिया कि 'हतो भीष्मः शान्तनवः' (भीष्मपर्व १३-३ नीलकंठी संस्करण) अर्थात् शन्तनुके पुत्र भीष्मका हनन हो गया। आगे भीष्मपर्वके २५वें अध्यायके प्रारम्भ यानी गीता प्रथम अध्यायके प्रथम श्लोकमें धृतराष्ट्र संजयसे युद्धकी विस्तृत जानकारी प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पूछते हैं: 'किमकुर्वत' अर्थात् कौरव-पाण्डवोंने किस प्रकार या कैसा युद्ध किया ? इस 'किमकुर्वत' की टीकामें कतिपय टीकाकारोंने धृतराष्ट्रके प्रश्नका यह भाव

व्यक्त किया है कि 'क्या धर्मक्षेत्रके प्रभाववश मनःस्थितिमें परिवर्तनके कारण मेरे पुत्रोंने राज्यरूपी पैतृक सम्पत्तिपर पाण्डवोंके उत्तराधिकारकी वैधता स्वीकृत करके उनका छीना हुआ आधा राज्य उन्हें वापस दे दिया और उनसे सन्धि कर ली ? अथवा मेरे अधार्मिक पुत्रोंपर धर्मक्षेत्रका प्रभाव न भी पड़ा हो तो धर्मपुत्र युधिष्ठिर या परम धार्मिक पाण्डवोंपर तो उसका प्रभाव पड़ा ही होगा अतः राज्यलिप्सासे आरब्ध युद्धको कुलक्षयकारी समझकर वे अपना अधिकार छोड़ बैठे और युद्धसे विरत हो गए ? उभयविध कल्याणकारिणी इन दोनों घटनाओंमें-से कौन-सी घटना घटी ?' भला बताइए, जब धृतराष्ट्र यह जानते हैं कि दस दिनोंतक युद्ध चल चुका, भीष्मके हत होनेका समाचार पाकर उनके निधनसे खिन्न होकर वे विलाप भी कर चुके, तब उनके 'किमकुर्वत' प्रश्नका यह आशय कैसे सम्भव है ? अस्तु।

हम तो समझते हैं कि गीताध्यायीको महाभारतका सावधानीसे पर्यालोचन करना चाहिए जिससे गीताकी भावावगतिमें कोई भ्रम या भूल न हो। इसीलिये लोकमान्य तिलकने ब्रह्मदेशस्थित माण्डाले जेलमें वर्षोंतक महाभारत-सागरका मन्थन करके गीता-व्याख्या गीतारहस्यरूपी रत्न प्रस्तुत किया जो न केवल भारतको, अपितु सारे विश्वको प्रकाशकिरण दे रहा है।

गीताके मूलभूत आकरग्रन्थ महाभारतके आकार-प्रकारका संक्षिप्त लेखा-जोखा कर लेनेके अनन्तर अब हम गीतामें वेद-सम्मत मुक्तिसाधनके विषयमें थोड़ा विचार करेंगे।

गीतामें वेद-सम्मत मुक्ति-साधन

आप किसी पक्षीके लिए सोनेका पिंजड़ा बना दें और उसमें जड़ दें माणिककी डंडी। वहाँ रत्नोंकी कटोरियाँ गढ़कर धर दें और उनमें चुगनेके लिए अनार-अंगूरके दाने और पीनेके लिए छोड़ दें मानस-सरोवरका मधुर-शीतल-सुगन्धित जल। फिर भी पक्षीको वहाँ शान्ति नहीं मिलती। वह सदैव यही चाहता है कि ऐसे भी स्वर्णिम पिंजड़ेसे शीघ्रसे शीघ्र छूट जाऊँ, भले ही दिनभर दिनकरके प्रचण्ड आतपका सामना करना पड़े; इस पेड़से उस पेड़पर और इस छोरसे उस छोरतक अनन्त-अपार निरालम्ब गगनमें घूमना पड़े; कहीं कुछ दाने या कुछ कच्चे-पक्के फल मिलनेपर उदरकी ज्वाला शान्त कर पाऊँ या यों ही भूखा रहना पड़े। कारण, सब सुख होनेपर भी वह बँधा हुआ है। अपनी इच्छाके अनुसार चल नहीं सकता। जब जड़मति, चपलगति और चंचलमन एक पक्षी इस प्रकारके स्वर्णिम बन्धनसे भी घबड़ाता है तो बुद्धिमान् मानव किसी भी बन्धनसे क्यों न घबड़ा उठे?

मानव स्वभावतः स्वतन्त्र और उन्मुक्त बना रहना चाहता है। चाहता ही नहीं, उसके लिए सभी सम्भव लौकिक उपायोंमें लगा रहता है। फिर भी वह कभी अपने सब बन्धनोंसे मुक्त होकर शाश्वत सुखसे भरी स्वतन्त्रताकी साँस ले नहीं पाता। प्रत्येक बार वह किसी अज्ञात शक्तिसे स्वयंको बद्ध पाता है। प्रश्न होगा : 'अन्ततः उसकी यह शाश्वत-सी बद्धता कैसे मिटे?'

कहना न होगा कि यह बद्धता सदाके लिए मिटानेका एकमात्र उपाय है जीवके स्वाभाविक बन्धनद्वयकी निवृत्ति और अपने वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूपकी साक्षात् अनुभूति, जिसे हम भूले हुए हैं। इसके लिए मात्र दर्शन-शास्त्रकी ही शरण लेनी होगी। उसमें बतायी पद्धतिसे उस लक्ष्यतक पहुँचना पड़ेगा। किन्तु जब हम दर्शनाटवीकी बीहड़ वीथीसे चल पड़ते हैं तो अनेकानेक परस्पर विरुद्ध मार्ग दीखने लगते हैं। मनमें संशय उठ खड़ा होता है कि किस मार्गसे चलें? साधककी इसी उलझनका ध्यान कर परमदयालु औदास्य-सम्प्रदायाचार्य श्री श्रीचन्द्रजी महाराजने एक ऐसा मार्ग दिखा दिया, जहाँ सभी मार्ग आकर मिल जाते हैं। वहाँ वैमत्यको अवकाश ही नहीं। भारतीय संस्कृतिके सभी आकार एवं प्रकारोंका वहाँ पूर्ण सामञ्जस्य पाया जाता है।

सचमुच औदास्य-सम्प्रदायाचार्य श्री श्रीचन्द्रजी महाराजने दार्शनिक जगत्में अपने श्रौताद्वैत-दर्शनकी प्रवर्तना करके एक नयी क्रान्ति ला दी। जहाँ एक ओर उन्होंने भारतीय संस्कृतिकी आधारशिला वेदोंमें वर्णित श्रुतिसिद्ध अद्वैततत्त्वको मूल प्राप्तव्य लक्ष्यके सर्वोच्च पदपर प्रतिष्ठित कराया, वहीं वहाँ पहुँचनेका मार्ग जैव एवं दैव द्विविध बन्धोंकी निवृत्ति बतलाते हुए उसका साधन भक्ति और ज्ञानका समुच्चय घोषित कर दिया, जिसके फलस्वरूप इन साधनोंमें-से एक-एकको लेकर चिरकालसे चला आ रहा साधनविषयक साम्प्रदायिक वैमनस्य सदाके लिए मिट गया।

श्रौताद्वैत ही चरम लक्ष्य

आचार्य श्री श्रीचन्द्र महाराजने बड़ी दृढ़ताके साथ बताया कि दार्शनिक जगत्का एकमात्र परम प्राप्तव्य पद वेदसम्मत श्रौताद्वैत ही हो सकता है। भारतीय वाङ्मयकी आदिम उपलब्धि ऋग्वेदसंहिता एवं उसके भाष्यस्वरूप उपनिषदोंमें हमारी इस प्रस्थापनाके अनेकानेक सुदृढ़ साक्ष्य, प्रमाण उट्टङ्कित हैं। ऋग्वेदके पहले ही मण्डलका १६४वाँ 'अस्य वामीय' नामक सम्पूर्ण सूक्त ही श्रौताद्वैतकी सुदृढ़ स्थापना करता है। उदाहरणके लिये ५२ मन्त्रोंके उस सूक्तके एक (४६वें) मन्त्रका स्वरूप देखिये :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १-१६४-४६)

अर्थात् ये इन्द्र, मित्रादि विभिन्न नाम एक ही तत्त्वके गुण एवं कर्मभेदोंसे चल पड़े, मूलतः तत्त्व एक अद्वितीय ही है।

यही क्यों, आगे इसी ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलके २६-२७वें सूक्त—'अहं मनुरभवम्····' तथा 'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा··' पुनः उसी श्रौताद्वैतका निरूपण करते हैं। चतुर्थ मण्डलके ही ४०वें सूक्तकी 'हंसवती' ऋचा (सं० ५)—'हंसः शुचिषद्····' आदि तथा अन्तिम दशम मण्डलका १२५वाँ पूरा वागाम्भृणी सूक्त— 'अहं रुद्रेभिर्वसुभि····' आदि भी इसी श्रौताद्वैतका प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० ६-४७-१८) इत्यादि वचन तो बहुल मात्रामें श्रौताद्वैतके स्थापनार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उपनिषद्ग्रन्थ तो संहिताप्रतिपाद्य श्रौताद्वैतकी विस्तृत व्याख्या ही हैं। इस प्रकार विपुल वैदिक साक्ष्योंके आधारपर श्रौताद्वैत ही दर्शनका मूल सिद्धान्त प्रतिष्ठित होता है।

मुक्तिका स्वरूप

आचार्यने इस प्रकार श्रौताद्वैत सिद्धान्तकी प्रस्थापना कर उसे आविर्भूत करनेका प्रकार 'मुक्ति' का स्वरूप भी ऐसा ठोस प्रस्तुत कर दिया है कि वह कभी टससे मस होनेवाला नहीं। संक्षेपमें वह जैव और दैव द्विविध बन्धोंसे निवृत्तिस्वरूप है। इसका पूरा स्वरूप इसके साधनके विवेचनमें स्पष्ट हो जायगा। अतः मुक्तिके इस साधनकी दिशामें ही इस विचारकी धारा मोड़ना उचित होगा।

मुक्तिका साधन

विभिन्न आचार्यों एवं मनीषियोंने मुक्तिके साधनके सम्बन्धमें अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् मान्यताएँ रखी हैं। कोई कर्मको मुक्तिका साधन मानता है, कोई मात्र भक्तिको, तो कोई मात्र ज्ञानको ही। किन्तु आचार्य श्री श्रीचन्द्रमहाराज तो मुक्तिका एकमात्र साधन भक्ति और ज्ञानका समुच्चय या भक्तिसहित ज्ञान ही मानते हैं। उसके उदयके लिए अपेक्षित चित्तकी शुद्धिमें कर्मकी सार्थकताको अस्वीकार नहीं करते। उनका आशय यह है कि अन्ततः हम भारतीयोंको अपना चरम प्रमाण वेदनारायणको ही मानना होगा। तटस्थ होकर उसका परिशीलन करनेपर आत्मसाक्षात्कारके निमित्त कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका निरूपण पाया जाता है। एक शुक्लयजुर्वेद ही ले लें तो उसके १–२५ अध्यायोंमें दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोमादि जैसे कर्मोंका विधान है। ३१वें अध्यायके पुरुषसूक्तमें 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः' (९) आदिसे भावयज्ञात्मक उपासनाका तथा ४०वें अध्यायकी ईशावास्य उपनिषद्द्वारा ज्ञानका स्पष्ट निरूपण है। ब्राह्मणभाग वेदनारायणके कर्मोपदेशका भाष्य, आरण्यक उसी वेद-नारायणके उपासनोपदेशके भाष्य तथा उपनिषद् उसके ज्ञानोपदेशके भाष्य हैं। इस प्रकार वेदमें त्रिविध साधनोंका निरूपण होनेपर भी उनमें-से कर्मोंका चित्त-शुद्धिरूप फल सर्वधर्मशास्त्रानुमोदित होनेसे उनकी वहीं कृतकृत्यता हो जाती है। शेष उपासना और ज्ञानके समुच्चयको मुक्तिका साधन मानना सर्वथा वेदानुमोदित सिद्ध हो जाता है। यह विषय समझनेके लिए दर्शनके 'अविद्या' और 'माया' के स्वरूप समझने होंगे।

अविद्या और माया

अद्वैतवादके आचार्योंने 'अविद्या' और 'माया' को एक मानकर उनका निरास ज्ञानद्वारा स्वीकार किया है। वास्तवमें माया और अविद्यामें सूक्ष्मतम भेद है, जिसे समझ न पानेसे ऐसी धारणा बनी हुई है। कुछ आचार्योंने इन दोनोंमें अनिर्वचनीयता, त्रिगुणात्मता और भावरूपता ये तीन धर्म सदृश पाये तो दोनोंको

एक मान लिया। किन्तु पर्यवसानमें दोनों एक नहीं, दोनोंमें परस्पर ईषत् भेद अवश्य है। अविद्या व्यष्टि-बन्धन है तो माया है समष्टि-बन्धन। एक लौकिक उदाहरणद्वारा यह बात सरलतासे ध्यानमें आ सकती है।

मान लीजिये, कोई एक नगर है। उसके चारों ओर विशाल प्राचीर (परकोटा या चहारदीवारी) घिरी है। प्राचीरका विशाल द्वार (गोपुर) मात्र राजाकी आज्ञापर खुलता और बन्द हुआ करता है। नगरवासी अपने-अपने घरोंके द्वार खोलने या बन्द करनेमें स्वतन्त्र हैं। किन्तु जब कोई नागरिक रातके समय नगरसे बाहर जाना चाहेगा तो अपने घरके द्वार तो स्वयं खोलकर बाहर आ सकता है, पर नगरद्वारका खुलना राजाकी आज्ञापर ही निर्भर है।

ठीक इसी प्रकार साधक व्यष्टि-बन्धन अविद्याकी निवृत्ति तो ज्ञानद्वारा कर सकता है। किन्तु प्राचीरद्वारकी भाँति समष्टि-बन्धन मायाका अपसारण तो मात्र भक्तिद्वारा प्रभुकी प्रसन्नतापर ही निर्भर है। ज्ञानद्वारा व्यष्टि-बन्धन अविद्याके निवृत्त हो जानेपर समष्टि-बन्धन मायाके अपसारणके लिए साधकको भक्तिमार्गका अवलम्बन लेकर प्रभुको प्रसन्न करना ही होगा। माया-बन्धनके अपसरणके बिना मुक्ति सम्भव ही नहीं। अतः यह निर्विवाद है कि भक्तिसहित ज्ञान ही मुक्तिका प्रमुख साधन है।

जैव और दैव-बन्धन

गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि 'जिन जीवात्माओंका अपना अज्ञान परमात्माके यथार्थ ज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है' :

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

यहाँ अज्ञानपदसे जैव व्यष्टिबन्धन विवक्षित है, इसके सूचनार्थ ही 'आत्मनः' पद प्रयुक्त है। अन्यथा वह व्यर्थ हो जायगा। गीताके इस वचनसे यही सिद्ध होता है कि जैव-बन्धन अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति ज्ञानद्वारा होती है और दैव-बन्धन मायाका अपसारण मात्र भगवद्भक्तिसे ही सम्भव है। इसकी पुष्टि गीताके निम्नलिखित श्लोकसे होती है :

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(७-१४)

अर्थात् 'मेरी यह अति अद्भुत त्रिगुणात्मिका माया बड़ी दुस्तर है। किन्तु जो पुरुष केवल मेरी शरण आते हैं, वे इस मायासे पार पा जाते हैं, संसारसे तर जाते हैं।' यहाँ 'प्रपद्यन्ते' का अर्थ है प्रपत्ति या शरणागति। यदि गीताके

मतमें 'अविद्या' और 'माया'—व्यष्टि-बन्धन और समष्टि-बन्धन किंवा जैव-बन्धन और दैव-बन्धन—एक ही होती, तो श्लोकमें 'प्रपद्यन्ते' के स्थानपर 'प्रपश्यन्ति' पढ़ा जाता। ऐसा करनेपर छन्दोभंगका भी भय न था। 'प्रपश्यन्ति' अर्थात् 'साक्षात्कुर्वन्ति'। मायाका अपसारण शरणागतिपर ही निर्भर है, इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है :

किसी नदीमें लगाये जा रहे जालकी हलचलसे घबराकर जो मछलियाँ जालकी ओर बढ़ जाती हैं वे उसमें फँस जाती हैं। पर जो मल्लाहके चरणोंकी ओर आ जाती हैं वे बच निकलती हैं। ठीक इसी तरह जो भक्त प्रभुकी शरण आ जाते हैं वे मायाजालसे बचकर मुक्त हो जाते हैं।

आगे भी श्री भगवान् (गी० ७-२५ में) कहते हैं :

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

अर्थात् अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं आता। साधारण मनुष्योंकी दृष्टि मायाके उस जालसे पार नहीं हो सकती। जैसे बादलोंसे सूर्यका ढँका जाना कहा जाता है, वैसे ही योगमायासे भगवान्‌का ढँका जाना है। यहाँ मायाका 'योग' विशेषण विशेष अर्थका द्योतक है। यानी 'योग-माया' का अर्थ है : भगवत्सङ्कल्प-वशवर्तिनी माया। श्री मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं : 'योगो भगवत्सङ्कल्पः'।

दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि प्रभुका संकेत मिलते ही इस मायाका अपसरण होनेपर साधक कृतकृत्य हो जाता है। योगमाया भारतीय सती नारीके समान प्रभुके संकेतपर ही काम करती है। जब साधक भक्तिद्वारा प्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है तब प्रभुका संकेत पाकर उनकी योगमाया उस साधकका पीछा छोड़ देती है और वह मुक्त हो जाता है। इससे सिद्ध है कि मायाका अपसरण भगवद्भक्तिसे ही सम्भव है।

पाञ्चरात्र और भागवत भी पोषक

मुक्तिकी प्राप्तिमें भक्तिकी साक्षात् उपयोगिता 'नारदपाञ्चरात्र' भी अनुमोदित करता है :

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्ता तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

इस श्लोकमें ज्ञानसहित भक्तिद्वारा मुक्तिकी प्राप्ति सुस्पष्ट है, केवल ज्ञानसे नहीं। 'तया' का अर्थ है, ज्ञानसहित भक्तिसे।

श्रीमद्भागवत भी इसी भावकी पुष्टि करता है :

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

(भाग० १०-१४-४)

अर्थात् जो साधक भक्तिकी उपेक्षा कर केवल ज्ञानके बलपर मुक्ति पानेका यत्न करते हैं, उनका वह यत्न केवल स्थूल (चावलविहीन) तुषों (छिलकों) को पीटकर चावल पानेकी कामनाकी भाँति सर्वथा व्यर्थ चला जाता है । इस प्रकार भागवत-कारने स्पष्ट ही मुक्तिके लिए ज्ञानसहित भक्तिकी अनिवार्यता सिद्ध कर दी है ।

वेदान्ताचार्योंकी भी प्रकारान्तरसे सम्मति

यद्यपि 'संक्षेप-शारीरक' के कर्ता श्री सर्वज्ञ मुनि और 'पञ्चपादिका-विवरण'-कार श्री प्रकाशात्म यतिने माया और अविद्यामें अभेद माना है । फिर भी कुछ प्रसिद्ध-प्रतिष्ठित आचार्योंने प्रकारान्तरसे दोनोंमें भेद स्वीकार कर लिया है ।

'प्रकटार्थ'कारने समष्टि प्रकृतिको 'माया' और प्रकृतिके एकदेशको 'अविद्या' लिखा है, जिससे समष्टिबन्धन माया और व्यष्टिबन्धन अविद्या स्पष्टतः पृथक्-पृथक् सिद्ध हो जाती हैं ।

पञ्चदशीकार श्री विद्यारण्य स्वामी तो स्पष्ट ही लिखते हैं :

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।

(पञ्चदशी, तत्त्वविवेक)

अर्थात् शुद्धसत्त्वप्रधाना माया है तो मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या । 'मायाविद्ये' इस द्विवचनसे ही उन्होंने दोनोंका भेद मान लिया है । इस प्रकार अनेक प्रमुख वेदान्ताचार्योंने अप्रत्यक्षतः माया और अविद्याके भेदको स्वीकृति दे दी है ।

वेद भगवान्का साक्ष्य

इस प्रकार गीता तो मुक्तिके लिए भक्ति-ज्ञान-समुच्चयकी अनिवार्यता स्वीकार करती ही है, स्वयं वेद भगवान् भी इस समुच्चयका मुक्तकण्ठ गुणगान करते हैं :

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥[1]

(शु० यजु० ४०-१४)

---

१. चान्द्रभाष्यम्—यः=पुमान् । विद्याम्=ज्ञानम्, आत्मदर्शनम् । अविद्याम्=भगवदुपासनाम्, अकारो वासुदेवस्तस्य विद्या=उपासनेति व्युत्पत्तेः । तत्=

अर्थात् जो साधक ज्ञान और भगवदुपासना दोनोंको एक साथ मुक्तिका साधन मानता है वह भक्तिद्वारा मृत्यु-साधन समष्टि-बन्धन मायाको हटाकर ज्ञान-द्वारा अविद्याका नाश कर स्वस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्मभावको प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि बन्धन दो प्रकारके हैं : १. समष्टि-बन्धन और २. व्यष्टि-बन्धन। समष्टि-बन्धन माया है जो भक्तिसे अपसारित की जाती है और व्यष्टि-बन्धन अविद्या ज्ञानसे नष्ट होती है। फिर साधक निष्कण्टक हो तत्क्षण मुक्ति-माताकी गोदमें बैठ जाता है। जबतक दोनोंमें-से एक भी बन्धन शेष रहेगा, तबतक मुक्तिकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

प्रस्तुत मन्त्रमें 'च' शब्द दो बार प्रयुक्त है। प्रथम 'च' का अर्थ है, केवल ज्ञान मोक्षसम्पादनमें समर्थ नहीं। द्वितीय चकारसे ध्वनित होता है कि केवल भगवदुपासनासे भी अपवर्ग-प्राप्ति असम्भव है।

अविद्याका अर्थ भगवदुपासना कैसे ?

प्रश्न हो सकता है कि मन्त्रमें पठित 'अविद्या' शब्दका आपने 'भगवदुपासना' अर्थ कैसे कर लिया ? तो देखिये : 'अ' शब्दका अर्थ है, भगवान् वासुदेव विष्णु। इसमें तो किसीको भी विप्रतिपत्ति नहीं, 'अकारो वासुदेवः स्यात्' यह एकाक्षरी कोष ही उनका सन्देह दूर कर देता है। इस विष्णुवाचक 'अ' शब्दसे अपत्य (सन्तान) अर्थमें 'इञ्' प्रत्यय करनेपर बने 'इ' शब्दका अर्थ होगा—विष्णुपुत्र कामदेव। किन्तु 'अ' शब्दसे 'अस्य स्त्री' इस अर्थमें 'ङीष्' प्रत्यय करनेपर 'ई' दीर्घ शब्द बनता है, जो विष्णुपत्नी महालक्ष्मी अर्थमें यत्र-तत्र बाहुल्येन प्रयुक्त

ज्ञानोपासनलक्षणम्। उभयम्=द्वयम्। सह=समुच्चितं समुदितं मिलितम्, वेद=मन्यते, मुक्तिसाधनमिति शेषः।

अत्र च-शब्दो द्विधा प्रयुक्तः, न मोक्षाय क्षमते केवलमात्मदर्शनमिति प्रथम-'च'शब्दार्थः। भगवदुपासनापि केवला क्रमते नापवर्गायेति द्वितीय-'च'-शब्दार्थः।

सः=साधकः। अविद्यया=भगवदुपासनया। मृत्युम्=तत्साधनं मायाख्यं समष्टि-बन्धनम्। तीर्त्वा=अतिक्रम्य, अपसार्य। विद्यया=ज्ञानेन व्यष्टि-बन्धनं विद्याख्यं निवर्त्य। अमृतम्=अविनाशि ब्रह्मस्वरूपम्। अश्नुते=प्राप्नोति, मुच्यत इत्यर्थः।

अयं भावः—समष्टि-व्यष्टिभेदेन द्विविधो बन्धो मायाविद्याभिधानः। तत्र भक्त्या मायाबन्धोऽपसरति, ज्ञानेन च अविद्या निवर्तते। ततश्च निष्प्रत्यूहं साधकः स्वं रूपं सच्चिदानन्दैकरसं समासादयतीति।

होता है। इसी प्रकार यहाँ भी "'अ'स्य विद्या, अविद्या" अर्थात् विष्णुवाचक 'अ' शब्दके साथ उपासनावाचक 'विद्या' शब्दका षष्ठी-तत्पुरुष समास करनेपर 'अविद्या' का अर्थ विष्णुकी उपासना या भगवदुपासना माननेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं।

इसपर पुनः यह शङ्का उठायी जा सकती है कि 'योगाद् रूढिर्बलीयसी' (योगशक्तिकी तुलनामें रूढिशक्ति बलवती होती है) इस शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार रूढ़िसे प्रचलित अर्थका त्याग अनुचित है ? तो वह भी कुछ बल नहीं रखती। बात यह है कि वृत्तिकार भर्तृप्रपञ्च और भाष्यकार भगवत्पाद शङ्कराचार्य प्रस्तुत मन्त्रगत 'अविद्या' शब्दका अर्थ 'कर्म' मानते हैं, जो रूढ्यर्थके त्यागपर ही निर्भर है। बिना रूढिशक्तिकी उपेक्षा किये 'अविद्या' का अर्थ 'कर्म' कभी सम्भव नहीं। इससे स्पष्ट है कि कहीं-कहीं श्रुति-वाक्योंमें रूढ्यर्थकी उपेक्षा प्राचीन आचार्योंकी सुप्रयुक्त शैली ही हैं। अतः उसका अनुगमन त्याज्य नहीं, ग्राह्य ही ठहरता है।

भगवान् वेदव्यासने भी 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (वेदान्तदर्शन १-१-२२) इस सूत्रमें रूढि-विरुद्ध लिङ्गके अनुरोधसे 'आकाश' शब्दके रूढ्यर्थ 'भूताकाश' की उपेक्षा करके 'आ समन्तात् काशते = प्रकाशते' इस योगशक्तिके अनुसार 'आकाश' शब्दका ब्रह्म अर्थ किया है। अतः यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि जहाँ पूर्वोत्तर वाक्योंके अर्थके विरुद्ध रूढ्यर्थ प्रतीत होता हो वहाँ उसकी उपेक्षा कर योगार्थ ही आदरणीय होता है।

इसपर कोई पूछ सकता है कि भर्तृप्रपञ्च और भाष्यकार शङ्कराचार्यने उक्त मन्त्रमें 'अविद्या' शब्दका अर्थ 'कर्म' शक्तिसे नहीं, लक्षणा वृत्तिसे माना है, क्योंकि कारणवाचक शब्दका कार्यमें और कार्यवाचक शब्दका कारणमें लक्षणासे प्रयुक्त होना विद्वत्सम्मत है। जैसे—'आयुर्वै घृतम्' यहाँ कार्यवाचक आयु-शब्दका 'आयुर्वर्धक' रूप कारणमें और 'अन्नं वै प्राणाः' यहाँ कारणवाचक शब्दका अन्न-कार्य, तत्साध्य जीवनमें लक्षणासे प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

इस शङ्कापर यह समाधान है कि यदि उपर्युक्त नियमके अनुसार अज्ञानवाचक 'अविद्या' शब्दका अज्ञान-कार्य 'कर्म'में लक्षणासे प्रयोग वृत्तिकार एवं भाष्यकार साधु मानते हैं तो 'कर्म'की भाँति 'उपासना' भी अज्ञानका कार्य हुआ अतः 'अविद्या' शब्दका लक्षणासे 'उपासना' अर्थमें प्रयोग होनेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं।

इस मन्त्रके चान्द्र भाष्यके परिशीलनसे भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि

भक्ति-ज्ञान-समुच्चयका सिद्धान्त सर्वथा युक्तिसंगत है। एक पक्षके प्रबल दो योद्धाओंके साथ द्वन्द्वयुद्धके लिए दूसरे पक्षके दो प्रबल योद्धाओंका होना अनिवार्य होता है। महाभारतमें पाण्डव पक्षके द्रुपद और अर्जुन दो योद्धाओंके साथ कौरवपक्षके द्रोणाचार्य एवं कर्ण दो प्रतिस्पर्धी योद्धाओंका द्वन्द्वयुद्ध स्पष्ट वर्णित है। ठीक इसी प्रकार जब व्यवहार-पक्षके समष्टि-व्यष्टिबन्धनरूप दो योद्धा हैं तो उनके साथ द्वन्द्वयुद्धमें भाग लेनेके लिए परमार्थ-पक्षके दो योद्धा अवश्य मानने होंगे। परमार्थ-पक्षके ज्ञान और भगवदाराधन दो योद्धाओंका वर्णन ही उपर्युक्त मन्त्रमें स्पष्टतः किया गया है।

परमार्थ-पक्षके योद्धा ज्ञान और भगवदाराधन हैं। इन दोनोंके प्रतिस्पर्धी व्यवहार-पक्षके दो योद्धाओं, दो प्रकारके बन्धनोंका स्पष्ट परिचय प्राप्त करनेके लिए 'प्रश्नोपनिषत्' का निम्नलिखित मन्त्र देखें :

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ।[1]

(प्रश्नोप० १-१६)

अर्थात् जिन आत्मदर्शी भगवदाराधकोंमें ब्रह्मस्वरूपाच्छादक विपरीत बुद्धिका कारण अनृत यानी अज्ञान नहीं है। कारण, भगवदाराधनसे माया हट चुकी है। यहाँ 'अनृत' शब्दका अर्थ 'अज्ञान' 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' इस छान्दोग्य (८-३-२) श्रुतिसे सर्वथा अनुमोदित है। इस श्रुतिवाक्यमें 'अनृत' शब्द सत्यस्वरूपाच्छादक अज्ञान इस अर्थमें प्रयुक्त है। समग्र वाक्यार्थ निम्नलिखित है: 'प्रतिदिन सभी प्राणी स्वप्रकाश ब्रह्मधाममें जानेपर ब्रह्मको प्राप्त नहीं करते। कारण, वे अनृत या अज्ञानद्वारा ब्रह्मस्वरूपसे बहिष्कृत हैं अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप अज्ञानसे आवृत है।'

---

१. चान्द्रभाष्यम् : येषु=आत्मदर्शिभगवदाराधकेषु। जिह्मम्=कुटिलं विपरीतप्रत्ययोत्पादकम्। अनृतम्=ऋतं सत्यं ब्रह्म, तद्विरोधि तत्स्वरूपाच्छादकमज्ञानम्। इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एनं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति। 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः'(छा० उ० ८-३-२) इत्यत्र अनृतशब्दस्य अज्ञानार्थे प्रयोगदर्शनात्। न=नैव, वर्तत इति शेषः। ज्ञानेन तस्य निवृत्तेः। न माया, च=चोऽप्यर्थः, मायापि न वर्तते, भगवदाराधनेन तदपसरणात्। तेषाम्=ज्ञानभगवदाराधनाभ्यां निवर्त्याज्ञान-मायाख्य-व्यष्टिसमष्टि-बन्धनानाम्। असौ=प्राकृतजनाप्रत्यक्षः, शास्त्रप्रसिद्धो वा। विरजः=विशुद्धः। ब्रह्मलोकः=स्वात्मभूतं स्वप्रकाश-नित्यानन्दघनैकरस-ब्रह्मस्वरूपम्, लभ्यत इति शेषः।

अद्वैताचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती भी 'अद्वैतसिद्धि' में उक्त श्रुतिगत 'अनृत' शब्दका अर्थ अज्ञान ही मानते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त श्रुतिवचनोंके अनुमोदनके साथ गीताके पूर्वोक्त श्लोकोंके आधारपर हम सुस्पष्ट कह सकते हैं कि गीता भी मुक्तिका साधन भक्तिसहित ज्ञान या भक्ति-ज्ञान-समुच्चय ही मानती है। इसका विस्तार वेदान्तदर्शन, प्रथम सूत्र चान्द्रभाष्यमें द्रष्टव्य है।

गीतासम्मत मुक्तिसाधनके विवेचनके पश्चात् अगले प्रकरणमें गीताके कतिपय स्थलोंकी ग्रन्थियोंको खोलनेका प्रयास किया जायगा।

गीता-ग्रन्थि-विमोचन

गीताका स्वाध्याय करते समय कभी-कभी ऐसे स्थलोंपर बुद्धि अटक जाती है जिनमें आर्ष सिद्धान्तोंसे विपरीत होनेका भ्रम उत्पन्न हो जाता है या जहाँ अर्थ-संगति बैठाने लगें तो गीताके पूर्वापर वचनोंमें विरोध प्रतीत होने लगता है, समझमें ही नहीं आता कि इस वचनको प्रमाण मानें या दूसरेको। ऐसी स्थितिमें पूज्य गुरुदेवने एक राजमार्ग सुझाया था : सन्दिग्ध स्थलके वक्ता, भगवान् अथवा ऋषिके ध्यानमें निमग्न हो जाना। ध्यानकी परिपक्वावस्थामें ध्याता, ध्यान, ध्येय इस त्रिपुटीका लय होनेपर ध्याताका ध्येयसे जब तादात्म्य हो जाता है उस समय उसके कथनका कोई भी अभिप्राय अव्यक्त नहीं रह जाता। इसी प्रक्रियावश गुरुकृपासे प्राप्त बुद्धिद्वारा गीताके कतिपय सन्दिग्ध स्थलोंपर प्रकाश डालना गीताके अध्ययनमें सहायक ही होगा।

१. व्यष्टिसे समष्टि प्रथम

द्वितीय अध्यायतक गीताका अध्ययन कर चुकनेपर स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक २० श्लोकोंमें ब्रह्मात्मैक्यका तथा इकतीसवेंसे अड़तीसवेंतक ८ श्लोकोंमें धर्मका निरूपण है। यहाँ यह सन्देह होता है कि 'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये' इस पुरुषार्थानुशासनसूत्रके अनुसार पहला स्थान धर्मका है, दूसरा ब्रह्मका। श्रुतिका वचन है : 'धर्मेण पापमपनुदति' अर्थात् निष्काम धर्मके अनुष्ठानसे अन्तःकरणका पाप दूर होता है तब निष्पाप अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि तथा श्रवण-मनन आदि अन्तरंग साधनोंके अनुष्ठानसे आत्माका साक्षात्कार होता है। अन्यत्र भी ब्रह्मज्ञानसे पहले स्ववर्णाश्रमधर्मका पालन आवश्यक बतलाया गया है।[1] अतः पहले धर्मका निरूपण करके तब ब्रह्मात्मैक्यका निरूपण करना उचित था। तब भगवदुक्त गीतोपनिषद्में इस क्रम-व्यत्ययका क्या अभिप्राय है ?

विचार करनेपर यहाँ यह आशय समझमें आता है कि अर्जुन क्षत्रिय था अतः क्षत्रियके लिये विहित युद्धरूप स्वधर्ममें उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक थी जिसे

---

१. आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः।
पश्चात्समासादितशुद्धमानसः समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये॥
(अध्यात्मरामायण, रामगीता ७)

बन्धु-विनाशकी कल्पनासे हृदयके सन्तापरूपमें प्रकट हुए शोकने अभिभूत कर लिया था। अर्जुनका यह शोक द्विविध-मोहजन्य था। स्वप्रकाश, परमानन्द-स्वरूप आत्मा समस्त सांसारिक धर्म-बन्धनोंसे रहित यानी असंग है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप है, उसमें कल्पित मिथ्या संसार-धर्मको सत्य और आत्माका धर्म मानना पहले प्रकारका मोह है। यह मोह न केवल अर्जुनको, अपितु सारे विश्वको विमूढ़ बनाए हुए है अतः समष्टिगत मोह है।

स्वधर्मरूप युद्धमें हिंसादिका बाहुल्य देखकर अधर्मका भ्रम दूसरे प्रकारका मोह है। इससे केवल अर्जुन ही ग्रस्त हो रहा था अतः यह व्यष्टिगत मोह है। यहाँ व्यष्टिगत मोहकी अपेक्षा समष्टिगत मोहके निवारणको प्राथमिकता देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने आत्माके अजर, अमर, असंग, सच्चिदानन्दमय स्वरूपका निरूपण किया और बताया कि स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीररूपी उपाधिके अविवेक-से ही इस आत्मामें अनात्म-धर्मों (पञ्चकोशोंके जन्म-मरण आदि धर्मों) की कल्पना होती है।

प्राचीन टीकाकारोंने माना है कि देहत्रयसे आत्मा भिन्न है, जन्म-मरण आदि वास्तविक नहीं अपितु कल्पित हैं, स्वप्नतुल्य हैं। स्वप्नमें प्राप्त राज्य, बन्धु-विनाश आदि सुख-दुःखोंका जाग्रत् अवस्थामें अभाव हो जानेपर कोई भी बुद्धिमान् हर्ष-शोक नहीं करता।

एक किंवदन्ती है कि एकमात्र पुत्रके मर जानेपर भी तत्त्वदर्शी पुरुषके शोकाकुल न होनेपर उसकी पत्नीने उलाहना-भरे स्वरमें जब उससे इसका कारण पूछा तो उस तत्त्वदर्शी पुरुषने कहा कि आज रात्रिको स्वप्नमें मेरे दस विवाह हुए, प्रत्येक पत्नीसे दस-दस पुत्र भी हुए। निद्रा-भंग हुआ तो निद्रादोषसे उत्पन्न स्वप्नके वे सब पत्नी-पुत्र चल बसे। अब मैं उन सबका शोक करूँ या इस एकका ? यदि कहो कि वे मिथ्या थे, कल्पित थे, इसलिये उनके शोकके लिये स्थान नहीं, तो जाग्रत् अवस्थाके पदार्थ भी तो मिथ्या हैं, कल्पित हैं। यदि कहो कि स्वप्नके पदार्थ इसलिये मिथ्या माने जाते हैं कि जाग्रत् अवस्थामें उनका अस्तित्व नहीं रह जाता तो उसी प्रकार जाग्रत् अवस्थाके पदार्थोंका स्वप्नावस्थामें कहाँ अस्तित्व है ? यदि कहो कि स्वप्नजगत्के पदार्थ अल्पकाल ही रहते हैं, जाग्रत् जगत्के चिर-कालतक स्थिर रहते हैं तो यह कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि स्वप्नावस्थामें उस कालके पदार्थोंमें भी जाग्रत् अवस्थाकी ही भाँति चिरस्थायिताका आभास होता है। तात्पर्य यह कि तात्त्विक दृष्टिसे जाग्रत् भी स्वप्नतुल्य ही है। योगवासिष्ठ आदि वेदान्त-ग्रन्थोंमें अनेक दृष्टान्तोंद्वारा संसारका मिथ्यात्व हृदयंगम कराया गया है।

इस प्रकार आत्मामें अनात्मधर्मकी मान्यताको अविवेकजन्य बतलाकर भगवान् श्रीकृष्णने समष्टिगत मोहका पहले निराकरण किया। लोकमें भी एक व्यक्तिकी व्याधिकी अपेक्षा सम्पूर्ण-ग्रामव्यापी महामारी आदि व्याधिके निराकरणका पहले प्रयास किया जाता है। इस रूपमें भगवान्ने यह आदर्श प्रस्तुत किया कि स्वार्थी बनकर व्यक्तिसेवामें संलग्न रहनेकी अपेक्षा समाजसेवाको महत्त्व देना कहीं अधिक कल्याणकारी है।

धर्मशास्त्रीय वचनोंका बलाबल

इसके अनन्तर अर्जुनका युद्धरूप स्वधर्ममें हिंसादिकी दृष्टिसे अधर्मत्व-कल्पनारूप दूसरे प्रकारका व्यष्टिगत मोह दूर करनेके लिये भगवान्ने धर्मका निरूपण आरम्भ किया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अर्जुन महारथी ही नहीं, अतिरथी वीर था। शस्त्रविद्याके साथ जो व्यक्ति शास्त्रविद्याका भी पारदृश्वा हो उसे ही ये विशेषण प्राप्त होते थे। इसीलिये अर्जुनका पक्ष सामान्य नहीं, धर्मशास्त्रके वचनोंपर आधारित था। भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने सूक्ष्म-विवेचन-द्वारा उन धर्मशास्त्रीय वचनोंमें निहित गूढ अभिप्रायके स्पष्टीकरणद्वारा युद्धरूप स्वधर्म-पालनका औचित्य सिद्ध करके धर्मकी स्थापना की। यहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनके बीच जिस धर्मशास्त्र-सम्बन्धी वार्तालाप का गीता में संकेत मात्र है उसे शंकासमाधानके रूपकद्वारा पाठकोंकी जानकारीके लिये प्रस्तुत किया जाता है। इससे भारतकी प्राचीन धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओंकी एक झलक भी सामने आ जायगी।

अर्जुनने 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि', 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इत्यादि शास्त्रीय वचनोंके आधारपर हिंसाप्रधान युद्धको दूषित ठहराया। तब भगवान्ने पराशर-स्मृतिका विशेष वचन उद्धृत करके अर्जुनको समाधान देनेका प्रयास किया। वह वचन है :

क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान्।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

अर्थात् क्षत्रियको चाहिए कि वह हाथोंमें शस्त्र लेकर अपने राज्यके भीतर अराजकता फैलानेवाले अपराधियोंको दण्ड दे और इस प्रकार प्रजाकी रक्षा करे। प्राणिमात्रपर समानतासे दयालुताका व्यवहार करना जैसे सन्तोंके लिये अनिवार्य है वैसे ही समाजकी सुख-शान्तिको भंग करनेवाले अपराधियोंके प्रति कठोर बनकर उनका शासन करना क्षत्रियके लिये अनिवार्य है। यदि कोई बाहरी शत्रु भी राज्यपर आक्रमण कर दे तो क्षत्रियको चाहिए कि शत्रुकी सेनाको युद्ध-

द्वारा जीतकर धर्मपूर्वक उससे पृथ्वीका पालन, रक्षण करे। इस प्रकार वीरता-पूर्वक राज्यके भीतरी-बाहरी शत्रुओंका दमन करके ही वह प्रजाकी रक्षा तथा विद्वानों, ब्राह्मणों, गुरुजनों, त्यागी महात्माओं और वीतराग महापुरुषोंकी सेवामें समर्थ हो सकता है।

अर्जुनके मनमें बात बैठी नहीं। उसने कहा कि यह कर्तव्य तो केवल मूर्धाभिषिक्त राजाके लिये विहित है। प्रजाकी रक्षा, धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन आदि कार्य राजाके ही द्वारा सम्पन्न होते हैं, क्षत्रिय-मात्रके द्वारा नहीं। अपनी बातके समर्थनमें उसने मनुस्मृतिका यह वचन प्रस्तुत किया :

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥
संग्रामेष्वनिर्वातित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्॥

(७-८७-८८)

अर्थात् शत्रु चाहे हीनबल हो, समबल हो या अधिकबल हो, यदि वह युद्धके लिये ललकारे तो प्रजापालक राजाको क्षत्रिय-धर्मका स्मरण करते हुए संग्रामसे विमुख नहीं होना चाहिए। संग्रामसे पीछे न हटना, प्रजाका पालन और ब्राह्मणों अर्थात् उत्तम वर्ण या उत्तम आश्रमोंके महानुभावोंकी सेवा, ये तीनों कार्य राजाके लिये परम कल्याणकारी हैं।

उक्त वचनोंमें वे सब कर्त्तव्य स्पष्टतः राजाके लिये ही विहित बताए गए हैं जो आपने मुझसे कहे हैं। अतः आप यह उपदेश महाराज युधिष्ठिरको ही दें, मुझे नहीं।

तब अर्जुनको समझानेके लिये भगवान्ने उदाहरणोंका सहारा लिया। 'राजासौ गच्छति' कहनेसे जैसे इतना ही बोध नहीं होता कि केवल राजा जा रहा है अपितु उसके मन्त्री, सेनापति, सेना आदि सबका बोध होता है तथा 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः' इन श्रुतिवाक्योंमें जैसे राजन्य शब्दसे क्षत्रियका बोध होता है वैसे ही यहाँ मनुके कथनमें राजा शब्दका क्षत्रिय अर्थ ही गृहीत होगा, केवल राजा नहीं। दूसरी बात यह है कि यदि यहाँ यह कर्तव्य राजा-मात्रका ही बताना होता तो 'क्षत्रियो हि' के स्थानपर 'भूपालो हि' अथवा 'क्षात्रं धर्म…' के स्थानपर 'राज्ञो धर्म…' कहना क्या कोई कठिन कार्य था ? ऐसा समझकर तुम्हें युद्धरूपी स्वधर्मसे विचलित नहीं होना चाहिए।

अर्जुनको अभी सन्तोष नहीं हुआ। वह बोला : ठीक है, यदि किसी आक्रमणकारी शत्रुके साथ युद्ध करनेकी बात हो तो स्वधर्म होनेसे वह कर्तव्य हो सकता

है पर यहाँ तो अपने आचार्य, पिता-पितामह, बन्धु-बान्धव आदि ही युद्धार्थ अवस्थित हैं ? मनुस्मृतिका कथन है :

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥
(४-१६२)

अर्थात् उपनयन करके वेद पढ़ानेवाले, वेदकी व्याख्या करनेवाले, माता-पिता, गुरु, ब्राह्मण, गौ और सभी तपस्वियोंकी हिंसा न करे।

इस प्रकार तो यह युद्ध महान् दोषका कारण है।

भगवान् श्रीकृष्णने फिर शास्त्रकी संगति लगाई : अर्जुन ! उसी मनुस्मृतिमें इस सामान्य वाक्यका बाधक विशेष वचन भी तो देखना चाहिए। लिखा है :

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
(८-३५०, ५१)

अर्थात् गुरु, बालक, वृद्ध या बहुत बड़ा वेदपाठी ब्राह्मण ही क्यों न हो, यदि वह आततायी हो तो सामने आते ही बिना कोई विचार किए उसका वध कर देना चाहिए। जन-समाजके बीच अथवा एकान्तमें, जहाँ भी आततायी आक्रमण करने आवे, वहीं उसका वध कर देनेपर वधकर्ताको कोई पाप नहीं लगता, क्योंकि आततायी या आक्रान्ताका क्रोध ही हन्ताके क्रोधको उद्दीप्त करके आततायीकी मृत्युका हेतु बन जाता है।[१]

अर्जुन ! विभिन्न विधिवाक्योंके अनुसार कर्त्तव्यका निर्णय करनेमें उत्सर्गापवाद-न्यायका अवश्य ध्यान रखना चाहिए। जैसे यदि कहा जाय कि 'सब ब्राह्मणोंको दही परोस दो किन्तु कौण्डिन्यको तक्र परोसना' तो यहाँ सबको दही परोसनेका आदेश सामान्य वाक्य है, उत्सर्ग है, और कौण्डिन्यको तक्र देनेकी बात विशेष वचन है, अपवाद है। सामान्यसे विशेष या उत्सर्गसे अपवाद बलवान् होता है। यदि तुम्हें ही परोसनेको कहा जाय तो क्या उपर्युक्त पूरा आदेश सुनकर भी तुम कौण्डिन्यको दही ही परोसोगे ? कदापि नहीं। इसी प्रकार यहाँ 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह अहिंसाविधायक सामान्य वाक्य है जो 'क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन्'

१. आज भी यदि आत्मरक्षार्थ प्रतीकार करनेवाले किसी व्यक्तिके द्वारा किसीका वध हो जाय तो इसी आधारपर न्यायालयसे उसे छूट मिल जाती है।

इस युद्धविधायक विशेष वाक्यसे बाधित हो गया। इसी प्रकार 'आचार्यं च प्रवक्तारम्' यह मनुस्मृतिका सामान्य वाक्य मनुस्मृतिके ही 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इस विशेष वाक्यसे बाधित है। अब तुम्हीं निर्णय कर लो कि तुम्हारा क्या कर्तव्य है!

अर्जुन अभी भी सन्तुष्ट न हुआ। उसे अपने पक्षके समर्थनके लिये, युद्धको अधार्मिक कार्य सिद्ध करनेके लिये एक युक्ति पुनः दिखाई पड़ी। उसने कहा: प्रभो! 'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः' (या० स्मृ० व्यव० २-२१) के अनुसार उत्सर्गापवाद-न्यायका आश्रय लेना उचित ही है किन्तु इसी श्लोकके उत्तरार्धमें यह विशेष व्यवस्था भी है कि 'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्र-मिति स्थितिः' अर्थात् धर्मशास्त्री महर्षियोंका सिद्धान्त है कि अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रमें यदि विरोध उपस्थित हो तो वहाँ धर्मशास्त्र प्रबल माना जाता है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रको मैं इस रूपमें जानता हूँ कि जिस कार्यका जीवनरक्षा, विजयलाभ आदि कोई लौकिक प्रयोजन न दिखाई पड़े, जो केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे किया जाय, ऐसे कार्योंके विधायक शास्त्रको धर्मशास्त्र कहते हैं। इसके ठीक विपरीत जिन कार्योंके मूलमें लौकिक अर्थ या प्रयोजन दृष्ट हों उन कार्योंका विधायक शास्त्र अर्थशास्त्र कहा जाता है। यहाँ 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' आदि अहिंसाविधायक शास्त्रके पालनमें कोई लौकिक प्रयोजन दृष्ट होनेकी बात ही दूर है, उलटे प्राण-संशय भी उपस्थित हो सकता है। कोई दुर्जन अकारण मारने आये और अहिंसाकी भावनासे उसका प्रतीकार न किया जाय, तो वह प्रहार करेगा ही, प्राण भी ले सकता है। अतः अहिंसाविधायक शास्त्र विशुद्ध रूपसे धर्मशास्त्र हैं। दूसरी ओर युद्ध, आततायि-हनन आदि कर्मोंके मूलमें अधि-कारलिप्सा, सुखोपभोग, प्राणरक्षा आदि लौकिक प्रयोजन स्पष्ट ही दिखाई देते हैं अतः हिंसाविधायक शास्त्र अर्थशास्त्र ही कहे जायँगे। इन दोनों शास्त्रोंमें विरोध-की स्थिति उत्पन्न होनेपर अहिंसाविधायक धर्मशास्त्र ही बलवान् सिद्ध होता है। उसके अनुसार दुर्योधन आदि आततायी हों तब भी उनके वधसे पाप लगेगा ही, अतः हिंसादोषसे दूषित होनेके कारण युद्ध न करना ही श्रेयस्कर है।

भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराए और बोले: अर्जुन! तुम्हारी बातसे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब तुम समाधानके बहुत निकट पहुँच गए हो। एक ही बात समझनी शेष रह गई है, इसे भी समझ लो। बात यह है कि लौकिक प्रयोजनका दृष्ट होना या न होना नहीं, अपितु लौकिक प्रयोजनकी अपेक्षा या अनपेक्षा ही किसी कार्यको अर्थ या धर्मकोटिमें प्रक्षिप्त कर देती है। अतः युद्धरूप कार्यसे यदि विजय, अधिकार, भोग आदि सब फलोंकी अपेक्षा, कामना हटा ली जाय तो केवल

कर्तव्य-बुद्धिसे किए जानेपर वह धर्मकार्य हो जायगा और उसका विधायक (युद्ध, हिंसा आदिका विधायक) शास्त्र धर्मशास्त्र ही माना जायगा। धर्म-शास्त्रीय विभिन्न वचनोंमें भी परस्पर विरोध उपस्थित होनेपर उत्सर्गापवाद-न्यायसे ही अहिंसाविधायक सामान्य शास्त्रका बाध हो जायगा। इस प्रकार विशेष धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाके अनुसार तुम्हारे लिए निष्कामभावसे युद्धरूप स्वधर्म ही पालनीय है।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने धर्मका स्वरूप प्रतिष्ठित करके गीताके १-३१–४६ तथा २-४–५, ७–८ इन बीस श्लोकोंमें अर्जुनद्वारा की गई आठ शंकाओंको गीताके २-३१–३३, ३८ इन चार श्लोकोंसे ही समाहित कर दिया। गीताकी भाषामें उस शंका-समाधानके क्रमका भी अवलोकन करें :

१. पहली बात अर्जुनने यह कही कि युद्धमें स्वजनोंको मारकर मैं कोई भलाई नहीं देखता : 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' (१-३१)। इसका समाधान भगवान्ने यह किया कि धर्मयुद्धसे भिन्न क्षत्रियके लिये कुछ दूसरा कल्याण है ही नहीं : 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' (२-३१)।

२. दूसरा सन्देह अर्जुनका यह था कि मुझे विजय, राज्य, सुख आदि तो क्या, जीवनकी भी आकांक्षा नहीं है, तब मुझे युद्धमें प्रवृत्त होनेकी आवश्यकता ही क्या है ? (१-३२–३५), इसका समाधान भगवान्ने केवल इतना ही कहकर कर दिया कि अपना धर्म समझकर युद्ध करो : 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (२-३१)।

३. फिर अर्जुनने युद्ध न करनेमें तीसरा हेतु प्रदर्शित किया कि इन आत-तायियोंको मारनेसे तो हमें पाप ही लगेगा : 'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः' (१-३६)। इसका भी समाधान भगवान्ने २-३१ में ही दे दिया कि युद्धको धर्म समझकर करो तो पापसे भयभीत होनेका कोई अवसर ही नहीं रहेगा : 'न विकम्पितुमर्हसि'।

४. चौथी शंका अर्जुनकी यह थी कि अपने भाई-बन्धुओंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? : 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव !' (१-३७), इसका समाधान प्रभुने यह कहकर किया कि इस प्रकारका युद्ध जिन्हें प्राप्त होता है वे ही सुखी होते हैं : 'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्' (२-३२)।

५. पाँचवाँ तर्क अर्जुनका यह था कि कुलका क्षय कर देनेवाला यह युद्ध धर्मनाश आदिके द्वारा नरकका ही हेतु और महान् पाप है (१-४०–४५)। इसका समाधान २-३१ में युद्धके 'धर्म्यात्' इस विशेषणसे ही हो गया अर्थात् युद्ध स्वधर्म होनेसे पाप नहीं हो सकता अतः नरकका भी हेतु नहीं है।

६. छठी भ्रमपूर्ण बात अर्जुनने यह कही कि शस्त्रधारी कौरवगण यदि शस्त्रविहीन तथा प्रतीकार न करते हुए मुझे मार भी डालें तो यह मेरे लिये अधिक कल्याणकी बात होगी :

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥

(गी० १-४६)

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने सीधे कह दिया कि इस धर्मयुद्धको न करनेसे कल्याणकी तो बात ही मत करो, उलटे अपना धर्म और अपनी कीर्ति भी खो बैठोगे। इतना ही नहीं, तुम पापके भी भागी[1] बनोगे :

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

(गी० २-३३)

७. अर्जुनकी सातवीं उक्ति यह है कि गुरुजनोंका वध करनेकी अपेक्षा मैं भिक्षावृत्तिसे जीवन चला लेना कल्याणकारी समझता हूँ : 'कथं भीष्ममहं संख्ये', 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' (२-४, ५) । इसका समाधान प्रथम आशंकाके ही समाधानमें निहित है कि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर कल्याणकारी कोई दूसरा कार्य है ही नहीं (२-३१) ।

८. आठवीं शंका अर्जुनकी यह थी कि हम कौरवोंको जीत लें या कौरव हमें जीत लें, इसमें कौन-सा पक्ष हमारे लिये उत्तम है, यह भी नहीं ज्ञात होता : 'न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' (२-६) । इसका समाधान प्रभु श्रीकृष्णने यह कहकर कर दिया कि सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा

---

१. युद्धसे विमुख होनेपर पापभागी होनेका समर्थन धर्मशास्त्रमें इस प्रकार है :

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥

(म० स्मृ० ७-९४–९५)

अर्थात् संग्राममें भयभीत अथवा युद्धसे विमुख हुआ जो योद्धा शत्रुओं-द्वारा मारा जाता है वह अपने स्वामीके सम्पूर्ण पापोंका भागी होता है तथा युद्धसे विमुख होकर मारे गए योद्धा-द्वारा परलोकके लिए सम्पादित सभी सुकृत उसके स्वामीको प्राप्त हो जाते हैं ।

जय-पराजयको बराबर समझकर युद्ध करोगे तो पापको नहीं प्राप्त होओगे :

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

(गी० २-३८)

यह सुनते ही अर्जुनको भगवान्‌का पूर्वकथन (२-३७) स्मरण हो आया और उसने पुनः अपना सन्देह व्यक्त किया : भगवन् ! लौकिक दृष्टप्रयोजनकी आकांक्षासे रहित, केवल कर्तव्य-भावनासे अनुष्ठेय युद्धको आपने अर्थशास्त्रकी कक्षासे हटाकर धर्मशास्त्रकी कोटिमें मान लिया जिससे सामान्य अहिंसाविधायक धर्मशास्त्रसे उसे कोई दुर्बल न कह सके और उत्सर्गापवाद-न्यायसे युद्ध-विधायक शास्त्रकी सबलता सिद्ध हो सके । किन्तु अभी-अभी आपने मुझसे कहा है :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

(गी० २-३७)

अर्थात् मारा जायगा तो स्वर्ग प्राप्त करेगा या जीत जायगा तो पृथ्वीका उपभोग करेगा अतः अर्जुन ! युद्ध करनेका निश्चय करके उठ खड़ा हो ।

आपके इस आदेशमें युद्धभूमिमें मृत्युके अनन्तर स्वर्ग-लाभ अथवा युद्धमें विजय-प्राप्तिके अनन्तर पृथ्वीका उपभोगरूप लौकिक प्रयोजन स्पष्टतया दृग्गोचर हो रहे हैं । इससे भी पहले मुझे अकीर्तिका भय दिखाकर कीर्तिरूप दृष्टफलको आपने स्वयं माना है । तब युद्धविधायक शास्त्रको अर्थशास्त्रकी कक्षामें समाविष्ट न करना किस प्रकार न्यायसंगत माना जाय ? इसका भी समाधान करनेकी कृपा करें ।

भगवान्‌ने कहा : प्रिय अर्जुन ! तुम्हारा सन्देह उचित है किन्तु मेरे कथन-पर थोड़ा ध्यान देकर विचार करोगे तो समाधान मिल जायगा । बात यह है कि सुख-दुःखके साधन लाभ-हानि और इनके साधन जय-पराजयमें समभाव रखते हुए युद्ध करनेकी सलाह मैंने दी है । अर्थात् यदि तुम अपने मनमें किसी फलकी कामना न रखते हुए युद्ध करोगे तो तुम्हें पाप स्पर्श नहीं करेगा । स्वर्गलाभ, कीर्तिलाभ, पृथ्वीका उपभोग आदि तो मैंने युद्धरूप स्वधर्म-पालनके आनुषंगिक फल बताए हैं, उद्देश्य नहीं । उद्देश्य तो प्रधान रूपसे स्वधर्म-पालन ही है ।

महर्षि आपस्तम्बका कथन है कि फल प्राप्त करनेकी कामना या उद्देश्यसे यदि कोई आमका वृक्ष लगाए तो छाया और सुगन्ध तो उसे अयाचित ही प्राप्त

होंगे ।[१] इसी प्रकार निष्काम धर्मका पालन करनेवालेको अर्थ तथा कामकी प्राप्ति आनुषंगिक ही होती है, इनकी प्राप्ति उसका उद्देश्य नहीं होता । यदि धार्मिक व्यक्तिको अर्थ एवं कामादिकी प्राप्ति न भी हो तो वह अपनी किसी प्रकारकी हानि नहीं अनुभव करता, क्योंकि उसका उद्देश्य तो मात्र स्वधर्मपालन रहता है । वह ईश्वरकी आज्ञा मानकर स्वधर्मका पालन करता है और उसे भी भगवान्को अर्पित कर देता है । यह स्वधर्म-पालनकी कामना उसकी सफल होती ही है । यदि अर्थ-कामादि फल प्राप्त होते भी हैं तो वे न चाहे हुए ही प्राप्त होते हैं, अतः लौकिक कामनाओंसे रहित युद्धविधायक शास्त्रको अर्थ-शास्त्रकी कक्षामें नहीं रखा जा सकता, वह धर्मशास्त्र ही माना जायगा ।

पूर्वोक्त रीतिसे अर्जुनकी सभी शंकाओंका समाधान करके भगवान्ने आगे निम्नलिखित श्लोकमें सर्वोत्तम श्रेयसाधन इस निष्काम धर्मकी विशिष्ट महत्ता भी बतलाई :

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(गी० २-४०)

अर्थात् हे अर्जुन ! कामनारहित होकर स्वधर्मका पालन अन्तःकरणकी शुद्धि-द्वारा मुक्तिका साधन बन जाता है । निष्काम धर्मका आरम्भ कभी निष्फल नहीं होता । कोई कामना न होनेके कारण पापक्षयरूप फल ही प्राप्त होता है । उसके अनुष्ठानमें किसी प्रकारसे पापकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है । आरम्भ करनेके पश्चात् यदि वह पूर्ण न हो या विधिवत् सम्पन्न न होनेके कारण विगुण, न्यून या अपूर्ण रह जाय तो भी जन्म-मरणरूप संसार-भयसे धर्म-पालन करनेवालेकी रक्षा करता है । तात्पर्य यह कि निष्काम होकर धर्म-पालन करने-वालेका सदा उत्थान ही होता है, पतन नहीं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत तथा महाभारतके अन्तर्निहित गीताका उपदेश निष्काम धर्मका पालन ही है । पहले कहा जा चुका है कि महाभारतका पूरा कथाभाग गीताके सिद्धान्तोंका ही सोदाहरण समर्थन है, इसीलिये महा-भारतके उपसंहारमें धर्मकी महत्ता बताते हुए कहा गया है कि किसी कामना, भय या लोभके कारण तो क्या, प्राण जानेका भय उपस्थित हो तब भी अपने धर्म-का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है, अविनाशी है, सुख-दुःख अनित्य

---

१. तद् यथा आम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते । नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवतीति । (आपस्तम्बधर्मसूत्र)

हैं। जीव नित्य है तथा उसका धातु, धारक यानी भोगायतन यह शरीर अनित्य है। तात्पर्य यह कि नित्य जीवका साथ नित्य धर्म ही दे सकता है, संसारकी अन्य कोई अनित्य वस्तु नहीं :

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्यः॥
(म० भा० स्व० ५-६३)

इस श्लोकके अनन्तर ही श्लोक-संख्या ६४ में इस श्लोकको 'भारतसावित्री' संज्ञा दी गई है जिसका तात्पर्य है वेदसार गायत्रीकी भाँति यह श्लोक भी महाभारतका सार या गायत्री है। गीताके प्रथम श्लोकका प्रथम शब्द 'धर्म' और गीताका सर्वान्तिम शब्द 'मम' मिला देनेसे 'धर्मो मम' वाक्य बनता है अर्थात् गीताका सार भी यही है कि धर्म ही अपना है, और कुछ नहीं। स्वर्गारोहणपर्वमें वर्णन आया है कि अन्तिम समयमें जब सहधर्मिणी द्रौपदी तथा भीम-अर्जुन आदि प्रिय भ्राताओंने भी युधिष्ठिरका साथ छोड़ दिया, उस समय केवल श्व-रूपधारी धर्मने अन्ततक उनका साथ दिया। तात्पर्य यह कि प्राणिमात्रका परलोकतकका सच्चा साथी केवल धर्म है अतः उसका त्याग किसी भी दशामें उचित नहीं है। लोग जिस ब्रह्मज्ञान या मुक्ति आदिकी चर्चा करते हैं उस सर्वान्तिम उद्देश्यकी सिद्धिका मूल आधार भी एकमात्र निष्कामरूपसे स्वधर्म-पालन ही है।

२. प्रारब्ध प्रबल या पुरुषार्थ ?

गीताके कतिपय सन्दिग्ध स्थलोंके समाधानका प्रसंग चल रहा है। पीछे द्वितीय-अध्याय-गत ब्रह्मात्मैक्य और धर्मके निरूपणमें क्रम-व्यत्ययके हेतुपर विचार किया गया। प्रसंगवश धर्मशास्त्रीय वचनोंके बलाबलपर भी विचार हुआ। आगे तृतीय अध्यायके ३३-३४ संख्यक श्लोकोंमें प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनोंकी प्रधानताका विषय भी पाठकोंको उलझनमें डाल देता है अतः इसपर कुछ विचार किया जाता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गी० ३-३३)

अर्थात् ज्ञानवान् मनुष्य भी अपनी प्रकृति (पूर्वजन्ममें किए हुए धर्म-अधर्म आदिके संस्कारोंका वशवर्ती स्वभाव) के अनुसार ही चेष्टा करता है, मूर्ख मनुष्योंकी तो बात ही क्या ! तात्पर्य यह कि सभी प्राणी उस प्रकृतिका ही

अनुगमन करते हैं। बलका प्रयोग करके उन्हें अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार चलनेसे कोई रोक ही कैसे सकता है !

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(गी० ३-३४)

अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द तथा वाणी आदि विषयोंमें राग-द्वेष अवश्य ही होते हैं। राग-द्वेषके अनुसार ही मनुष्यकी प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। इन दोनों अर्थात् राग-द्वेषके वशमें नहीं आना चाहिए, क्योंकि दोनों ही बड़े डाकू हैं ।

यहाँ पहले तो तैंतीसवें श्लोकमें यह कहा गया कि कोई प्राणी स्वतन्त्र नहीं है, सब अपने-अपने प्रारब्धसे जैसी प्रेरणा पाते हैं वैसा कर रहे हैं । कोई किसीको वैसा करनेसे रोक नहीं सकता। इसके अनन्तर ही श्लोक-संख्या ३४ में यह बात कही गई कि राग-द्वेषके वशीभूत नहीं होना चाहिए अर्थात् पुरुषार्थ करके उन राग-द्वेषरूपी डाकुओंसे बचे रहना चाहिए। दोनों बातें एक-दूसरेसे विरुद्ध प्रतीत हो रही हैं। तब प्रश्न उठता है कि प्रारब्ध[1]को प्रधान मानकर हाथपर हाथ रखकर बैठ जायँ या पुरुषार्थको प्रधान मानकर प्रतिकूल प्रारब्धके विपरीत कोई उद्योग करें ?

पुरुषार्थको चुनौती देनेवाले प्रारब्ध-समर्थक वचनों तथा आख्यानोंकी पुराण, काव्य आदिमें कमी नहीं है। नैषधीयचरित महाकाव्यमें महाकवि श्री हर्षका कथन है :

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥

(१-१२०)

अर्थात् विधिकी इच्छाके पीछे प्राणीको सर्वथा विवश होकर वैसे ही चलना पड़ता है, जैसे बवंडरके साथ तिनका बे-बस घूमता रहता है।

महाकवि भवभूतिका कथन है कि सबपर एकच्छत्र शासन करनेवाली एकमात्र भगवती भवितव्यता या होनी ही है : 'सर्वङ्कषा भगवती भवितव्यतैव' (मालतीमाधव)।

---

१. प्रारब्ध, अदृष्ट, विधि, नियति, दैव, भाग्य, भवितव्यता, होनहार, सबका अर्थ प्रायः एक-सा ही है।

राग-द्वेषपर विजय प्राप्त कर लेना यदि साध्य होता या अवश्य होनेवाली घटनाका प्रतीकार यदि सम्भव होता तो तीनों युगोंके तीन युगपुरुष नल, राम, तथा युधिष्ठिरको इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ता ?

अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥

भर्तृहरि तो एकमात्र प्रारब्धको ही सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मानते हैं। उनका कहना है कि संसारमें भाग्यलेखको मिटानेवाला कोई है ही नहीं :

यद् धात्रा निजभालपट्टलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः !

तब क्या सचमुच पुरुषार्थको प्रारब्धके सम्मुख घुटने टेक देने चाहिए ? नहीं, पहले प्रारब्धको अन्यथा करके पुरुषार्थकी विजय-वैजयन्ती लहरानेवाले कालजयी मार्कण्डेय, सती सावित्री तथा शारदा देवीसे भी इस विषयमें परामर्श कर लें।

मार्कण्डेयको प्रारब्धने केवल आठ ही वर्ष आयु दी थी किन्तु वे चिरजीवी हो गए। सती सावित्रीने अपने पतिका शरीर निष्प्राण हो जानेके अनन्तर यमराजको तीन बार चक्करमें डाल दिया और यमराजको न केवल उसके पतिके प्राण वापस करने पड़े अपितु प्रारब्धके द्वारा विहित उसके श्वशुरका अन्धत्व तथा राज्यनाश भी मिटाना पड़ा। शिवपुराणकी विप्रकन्या शारदा अपने मृत पतिका शरीर लेकर जो शिव-मन्दिरमें बैठी तो पति-पुत्रवती होनेका सफल वरदान लेकर, मृत पतिका जीवित शरीर लेकर ही उठी। इस प्रकार पुरुषार्थका पक्ष भी कम सबल नहीं है।

तब अवश्य ही प्रारब्ध और पुरुषार्थकी सीमाओंकी सन्धिमें कोई ऐसी गूढ़ बात है जिसे न समझनेके कारण प्रारब्ध और पुरुषार्थके बलाबलका समुचित निर्धारण नहीं हो पाता। इसे समझनेके लिये यदि हम प्रारब्धके प्रवृत्त होनेकी प्रक्रियापर विचार करें तो बात कुछ स्पष्ट हो सकती है। प्रारब्धके अनुसार मनुष्यके किसी काममें लगने या उससे हटनेमें तीन क्रम होते हैं : १. पहले उस कार्यके करनेमें लाभालाभकी भावना, २. फिर उसे करने या उससे हटनेकी रुचि या अरुचि और ३. उस इच्छाके अनुसार प्रयत्न। दार्शनिक भाषामें हम पहलेको इष्टसाधनता या अनिष्टसाधनताका ज्ञान, दूसरेको राग या द्वेष और तीसरेको प्रवृत्ति या निवृत्ति कहते हैं।

शास्त्रकारोंने बताया है कि जब मनुष्य किसी कार्यमें प्रवृत्त या किसी कार्यसे निवृत्त हो चुकता है तब उसे उस निर्णयसे हटाना अत्यन्त कठिन होता है, दूसरे

क्रम अर्थात् राग-द्वेषकी स्थिततक अपेक्षाकृत कम कठिन और प्रथम क्रम अर्थात् शुभाशुभ भावनाकी उत्पत्तिसे पूर्व ही मन-बुद्धिको नियन्त्रित कर लेना सरल होता है। इस बातको उदाहरण-द्वारा समझना सरल होगा।

मान लीजिए शत्रुने हमारे राज्यकी सीमापर आक्रमण कर दिया। हमारे मन्त्रीने हमें सूचित करते हुए सचेत किया, किन्तु हमने उसकी उपेक्षा कर दी : 'आने दो उसे, वह क्या बिगाड़ सकता है हमारा ! रंगमें भंग मत करो।' तबतक शत्रु दुर्गके बाहरतक आ गया और दुर्गकी दीवारें तोड़ने लगा। मन्त्रीने फिर सावधान किया हमें, किन्तु अपने राग-रंगमें मस्त होनेके कारण हमने पुनः उपेक्षा कर दी : 'आ जाने दो उसे, हमारे दुर्गकी लौहमय दीवारें दुर्भेद्य हैं। वह महीनों उन्हें तोड़नेमें उलझा रहेगा। इस समय राग-रंगमें विघ्न मत डालो।' तबतक शत्रु दुर्ग तोड़कर हमारे राजभवनमें प्रविष्ट हो गया। मन्त्रीने आकर सूचना दी तो हम मानो सोते से जगे और चौंककर मन्त्रीसे बोले : 'यह तो बहुत बुरा हुआ ! कोई उपाय करो।' क्रुद्ध मन्त्री डाँटकर बोला : 'अब क्या उपाय होगा ? अब चलो तुम और हम उसके बन्दी बनकर रहें और वह जो नाच नचावे, नाचें।'

तात्पर्य यह कि कुकर्मके प्रति शोभन बुद्धि या सत्कर्मके प्रति अशोभन बुद्धि प्रारब्धका प्रथम आक्रमण है, कुकर्ममें रुचि या सत्कर्ममें अरुचि द्वितीय आक्रमण और कुकर्ममें प्रवृत्ति या सत्कर्ममें अप्रवृत्ति या उससे निवृत्ति तीसरा आक्रमण। प्रारब्धके प्रथम दो आक्रमणोंको शास्त्रश्रवण, सत्संग तथा भगवद्भजन आदिके द्वारा विफल कर दिया जाय तो प्रारब्ध दुर्बल पड़ जायगा तथा पुरुषार्थ-द्वारा उन्नतिका मार्ग निर्विघ्न हो जायगा।[1] यहाँ राग-द्वेष-वशवर्ती न होनेके लिये पुरुषार्थ करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है।[2]

शास्त्रश्रवण किया हुआ मनुष्य पहले तो असत्की ओर प्रवृत्त होगा ही नहीं,

---

१. विषयस्मरणादिना रागद्वेषावुत्पाद्यानवहितं पुरुषमनर्थेऽपि गम्भीरे स्रोतसीव प्रकृतिर्बलात् प्रवर्तयति। शास्त्रं तु ततः प्रागेव विषयेषु रागद्वेष-प्रतिबन्धके परमेश्वरभजनादौ प्रवर्तयति। गम्भीरस्रोतःपातात् पूर्वमेव नावमाश्रित इव नानर्थं प्राप्नोतीति। (गीता ३-३४, श्रीधरी व्याख्या)

२. गीता ३-३४ की व्याख्यामें महाभारतके नीलकण्ठव्याख्याकारने स्पष्ट लिखा है : 'तत्र तयोर्वशं नागच्छेदिति शास्त्रस्याभ्यनुज्ञा। पुरुषस्य च तदनुष्ठाने स्वातन्त्र्यमस्ति।'

यदि हो भी जाय तो पूर्वश्रुत शास्त्रवचनोंका स्मरण आते ही तत्काल अपनी स्थिति-में परिवर्तनके लिये प्रयत्नशील हो जाता है। अनेक आख्यानोंद्वारा पुराणादिमें इस तथ्यपर प्रकाश डाला गया है। सत्संग और भगवद्भजनकी तो महिमा ही अनिर्वचनीय है। सन्त तुलसीदासजीने सत्संगसे पापक्षय और भगवन्नाम तथा भगवदुपासनासे प्रारब्ध-परिवर्तनकी सुस्पष्ट घोषणा ही कर दी है :

सन्त दरस जिमि पातक टरहीं ॥
मन्त्र महा मनि विषय ब्याल के।
मेंटत कठिन कुअंक भाल के ॥
जौ तप करइ कुमारि तुम्हारी।
भाविउ मेटि सकैं त्रिपुरारी ॥

इस प्रकार पहले श्लोक (गी० ३-३३) में बताई हुई प्रारब्धकी दुर्निवारता-से दूसरें श्लोक (गी० ३-३४) में प्रतिपादित पुरुषार्थोपक्रमके विरोधका कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

३. क्वचिदन्यतोऽपि !

तीसरा सन्दिग्ध स्थल है गीताके चतुर्थ अध्यायका पाँचवाँ श्लोक, जिसमें भगवान्‌ने अपने और अर्जुनके अनेक जन्म होनेकी बात कही है :

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव [1]चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि 'अर्जुन! तेरे और मेरे एक साथ बहुत जन्म हो चुके हैं। हे परन्तप ! उन सब जन्मोंको सर्वज्ञ होनेके कारण मैं तो जानता हूँ किन्तु तू नहीं जानता।'

यहाँ यह सन्देह होता है कि कृष्णार्जुनके दो ही प्रसिद्ध अवतार सुननेमें आते हैं : एक नर-नारायणका अवतार, जिसमें भगवान् कृष्ण नारायण थे तथा अर्जुन नर। दूसरा उन्हीं तत्त्वोंका अवतार कृष्णार्जुन रूपमें हुआ। श्लोकमें यद्यपि 'व्यतीतानि' पदका प्रयोग है जिसका अर्थ होता है 'बीत चुके', किन्तु यहाँ उसका 'जातानि'[2] अर्थ माननेपर वर्तमान कृष्णार्जुन अवतारका भी ग्रहण हो जाता है। तब 'बहूनि' अर्थात् 'बहुत' अर्थकी संगति किस प्रकार बैठेगी ? संस्कृत व्याकरण-

---

१. चकारोऽत्र इतरेतरयोगे बोध्यः, इतरेतरयोगश्च मिथः सम्बन्धः।
२. स्थितिमपेक्ष्योत्पत्तेरतीतत्वाभिप्रायेणात्र भूतकालप्रयोगः।

के अनुसार 'बहूनि' शब्दके प्रयोगके लिये कमसे कम तीनकी गणना पूरी होनी आवश्यक है और नर-नारायण एवं कृष्णार्जुनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण एवं अर्जुनके संयुक्त जन्मका विवरण पुराणादिमें कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

पुराणादिमें जो आख्यान वर्णित हैं उनके विषयमें अनुभवी सन्तोंका कथन है कि सामान्य रूपसे प्रकाशित होनेयोग्य, सर्वसाधारणके जाननेयोग्य बातें ही अधिकारी लेखकों या कवियोंद्वारा पुराण, काव्य आदिके ग्रन्थरूपमें उपनिबद्ध की गई हैं। भगवान् और उनके भक्तोंसे सम्बद्ध बातें इतनी ही नहीं हैं जितनी प्रकाशमें आई हैं। बहुत-सी बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें जाननेके अधिकारी कुछ विशिष्ट जन ही होते हैं अतः ऐसी बातें सामान्य रूपसे प्रकाशमें नहीं लाई गईं। लोकमें भी देखा जाता है कि विशिष्ट लोकनायक या उससे सम्बद्ध व्यक्तिके विषयकी अथवा उनके आपसी सम्बन्धोंके बीचकी वही बातें प्रकाशमें आ पाती हैं जिनके विषयमें उनके निजी सचिव आदिकी स्वीकृति रहती है। सेंसर बोर्डका तो काम ही इस बातकी देखरेख करना है कि विभिन्न दृष्टिकोणोंसे न प्रकाशित होनेयोग्य बातें प्रकाशित न होने पावें। भगवल्लीलामें भक्तद्वारा एकान्तानुभूत बहुत-सी बातें ऐसी ही होती हैं जिन्हें प्रयत्न करके भी जाना नहीं जा सकता।

तात्पर्य यह कि भगवल्लीला प्रकट और अप्रकटरूपसे दो प्रकारकी होती है। प्रकट तो सम्पूर्ण वाङ्मय ही है किन्तु अप्रकट लीलाका अनुभव केवल भक्तों या सन्तजनोंको ही होता है और बिना उनके बताए वह सामान्य जनके लिये ज्ञान-का विषय नहीं होती। भक्तों या सन्तोंके द्वारा प्रकाशित उन लीलात्मक तथ्यों-को भी वेद-शास्त्र आदिकी भाँति प्रमाण माना जाता है, उनमें सन्देह नहीं किया जाता। सन्त तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें जो लीला या आध्यात्मिक सिद्धान्त वर्णित किए हैं वे नानापुराण-निगमागम-सम्मत तो हैं ही, क्वचि-दन्यतोऽपि, अर्थात् कहीं-कहीं उन भगवद्भक्तों, सन्त-महात्माओंके चरित्र अथवा वाणीसे भी गृहीत हैं जिनका भगवान्‌से तादात्म्य हो चुका है। ऐसे ही तादात्म्यापन्न सन्तके अनुभवसे श्रीकृष्णार्जुनके एक और अतीत जन्मका वर्णन प्राप्त हुआ है जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

श्रीकृष्णार्जुन-अवतारसे पूर्व अर्जुनने एक नगरमें अतिशय धनी तथा परम-धार्मिक सेठके रूपमें जन्म लिया था। अपने आसपासके क्षेत्रमें जहाँतक शक्य था, वह दीन-दुखियों, ब्राह्मणों तथा सन्त-महात्माओंकी सब प्रकारसे देखरेख तथा सेवा किया करता था। अन्न-वस्त्रादिके अनेक सत्र चल रहे थे। देवालयों,

मन्दिरों, धर्मशालाओंकी व्यवस्थामें कोई त्रुटि न होने पाती थी। तभी भगवान् नारायणको अपने भक्तमें और निखार लानेके लिये परीक्षा लेनेकी सूझी। वे एक अशक्त वृद्ध एवं मुमूर्षु ब्राह्मणका रूप धारण कर पासके जंगलमें एक ऐसे झुरमुटमें बैठ गए जहाँ न किसीकी दृष्टि पहुँचे, न किसी व्यक्तिके होनेकी सम्भावना हो। सेठजी नित्य अपनी व्यवस्थाओंका निरीक्षण करने निकला करते थे। यह भी उद्देश्य रहता था कि कहीं कोई दीन-दुखी दृष्टिमें आ जाय तो मुझे सेवाका अवसर प्राप्त हो।

एक दिन ईश्वरकी प्रेरणासे वे उसी ओर चल पड़े जहाँ भगवान् वृद्ध ब्राह्मण बनकर पड़े कराह रहे थे। आहट पाकर सेठजी ठीक स्थलपर पहुँचे तो देखते ही पूछा : 'आप इस निर्जन स्थानमें कैसे पहुँच गए, कबसे पड़े हैं, क्या कष्ट है आपको ?'

वे बोले : 'तीन दिनोंसे भूखा-प्यासा पड़ा हूँ, किसीने खोज-खबर न ली। कैसे अधार्मिक लोग यहाँ बसते हैं ! बड़ा कष्ट है। लगता है अब यहीं प्राणान्त हो जायगा।'

सेठजी त्वरा दिखाते हुए बोले : 'भगवन् ! अभी जाकर वाहन भेजता हूँ। आप मेरी कुटिया पधारें, वहाँ सब ठीक हो जायगा।'

वे कुछ निराश होकर बोले: 'अभी तू जायगा, वाहन भेजेगा, तब यह शरीर उसपर बैठकर वहाँ पहुँचेगा। इस बीच न जाने प्राण कब शरीरको छोड़ दें ! इतना समय कहाँ रह गया है अब !'

सेठजीने और भी त्वरा दिखाई : 'भगवन् ! मैं जाकर तत्काल पहले भोजन-की सामग्री और जल भेज देता हूँ। आप आश्वस्त हो लें तब चले चलेंगे।'

वे खिन्न होकर बोले : 'तुमने मुझे समझ क्या रक्खा है ! मैं तुम्हारे चौके-से निकलकर यहाँतक आया हुआ भोजन कैसे करूँगा ? धार्मिक मर्यादाओंका तुम्हें तनिक भी स्मरण नहीं रह गया है ? यही तुम्हारा अतिथि-सत्कार है ? न पाद-प्रक्षालन, न अर्घ्य, न पूजन ! मैं कोई भिखमंगा तो हूँ नहीं। ऐसा निरादर सहनेसे तो मर जाना ही अच्छा है। तुम जाओ, अपना काम देखो।'

धर्मभीरु सेठजीके प्राण काँप गए। वे निवेदनकी मुद्रामें बोले : 'भगवन् ! अविनय क्षमा करें। आप अभी मेरी पीठपर बैठकर घर चलें। समय भी न लगेगा और समुचित रीतिसे आपके शरीरको विश्राम भी मिल जायगा। इस समय लाघवका इससे अधिक सरल उपाय दूसरा नहीं सूझ रहा। आप कृपया मेरे कल्याणके लिये मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकृत करें।'

वृद्ध ब्राह्मण बोले : 'ठीक है, किन्तु मेरा भार तुम कैसे सह सकोगे ?'

सेठजी गिड़गिड़ाकर बोले : 'भगवन् ! इसकी चिन्ता आप छोड़ दें।'

वृद्ध विप्रने सेठजीकी पीठपर बैठनेकी कृपा की और सेठजी चल पड़े। वे क्या जानें कि उनकी पीठपर बैठे वृद्ध महोदय सामान्य ब्राह्मण नहीं अपितु बलिसे तीन पग पृथ्वीकी याचना करके त्रिलोकी नाप लेनेवाले साक्षात् भगवान् नारायण ही समवस्थित हैं।

धीरे-धीरे सेठजीकी पीठपर भार बढ़ने लगा, क्रमशः बढ़ता ही गया। मानवीय शक्ति तो सीमित है। फिर जब साक्षात् भगवान् नारायण अपना भार बढ़ानेपर तुल जायँ तो मनुष्य कहाँतक साहस कर सकेगा ? सेठजीने बड़ा साहस बटोरा। कुछ दूर चले किन्तु लड़खड़ाकर गिर पड़े। सामनेका एक दाँत टूट गया।

विप्रदेव भी लुढ़क गए। बिगड़कर बोले : 'मेरा सन्देह ठीक ही था। तुम मेरे हाथ-पैर भी तोड़ डालोगे। अब रहने दो। मैं अपनी ही मृत्युसे मरूँ तो अच्छा है।'

सेठजी दाँत टूटनेकी वेदना भी नहीं प्रकट कर पाए। बेचारे हाथ जोड़कर बोले : 'क्षमा करें भगवन् ! भूल हो गई। पत्थरोंपर पैर लड़खड़ा गए। अब सावधानीसे चलूँगा।' और पुनः उन्होंने सँभालकर विप्रदेवको पीठपर लाद लिया। अबकी बार तो वे पहलेसे भी अधिक भारी लग रहे थे। सेठजी बोले तो कुछ नहीं किन्तु उनके मनमें ब्राह्मण देवताके प्रति मानवसुलभ खीझ उमड़ पड़ी। विचार आया : 'बहुत साधु-ब्राह्मण देखनेके अवसर आए हैं, पर ऐसा तो साला कोई अबतक नहीं दिखाई पड़ा !'

पीठपर बैठे भगवान् नारायण बोल पड़े : 'क्या उलटी-सीधी गाली दिए जा रहा है ? मैंने पहले ही मना किया था तब नहीं माना। अब गाली दे रहा है !'

सेठजी घबराए, बोले : 'नहीं भगवन् ! आपको भ्रम हुआ होगा। आपको गाली कैसे दे सकता हूँ ! मैंने तो एक भी शब्द मुँहसे नहीं निकाला।'

नारायण बीचमें ही बात काटकर बोले : 'मैं समझ रहा हूँ। यह तूने मुझसे नया सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अच्छा, अब अगले जन्ममें मैं तेरा साला ही बनूँगा। छोड़ मुझे।' और पीठपरसे उछलकर सेठजीके सामने अपने वास्तविक रूपमें खड़े हो गए, सेठजीको आश्वस्त किया और वहीं विलीन हो गए।

यही रहस्य है जिसके कारण कृष्णावतारमें प्रभु श्रीकृष्ण अर्जुनके साले बने। यहाँ जो 'बहूनि मे व्यतीतानि' इत्यादि श्लोकमें भगवान्ने अपने और अर्जुनके बहुत जन्म होनेकी बात कही है उसमें नर-नारायण और कृष्णार्जुनके अतिरिक्त

यही सेठजी और वृद्ध ब्राह्मणवाला एक जन्म और सम्मिलित है, जिससे तीनकी गणना पूरी हो जाती है और 'बहूनि' शब्दके प्रयोगमें सन्देहका कारण समाप्त हो जाता है।

४. अन्वयका चमत्कार !

अब अवतारवादका विरोधी होनेका भ्रम उत्पन्न करनेवाले एक स्थलका अवलोकन करनेके लिये पहले गीताके चतुर्थ अध्यायका निम्नलिखित प्रकरण द्रष्टव्य है:

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा: अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं परन्तु हे परन्तप ! उन अपने और तेरे सब जन्मोंको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा, अविनाशी तथा सब प्राणियोंका स्वामी होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी मायासे प्रकट या अवतरित होता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अर्जुन ! जब-जब धर्मका ह्रास और अधर्मकी प्रबलता होती है, तब-तब मैं अपना सृजन करता या अवतार धारण करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधुजनोंकी सब प्रकारसे रक्षा और अधार्मिक लोगोंके विनाशके लिये मैं युग-युगमें आविर्भूत होता अर्थात् अवतार लेता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

इस प्रकार मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं इस बातको जो यथावत् जानता है वह देहका त्याग करनेके अनन्तर पुनर्जन्मको नहीं, अपितु मुझे ही प्राप्त करता है।

इस प्रकरणमें भगवान्ने स्वयं जन्म, सम्भव तथा सृजन शब्दोंके द्वारा स्पष्ट-

तया सगुण अवतार ग्रहण करनेका सहेतुक स्पष्टीकरण किया है। भगवान्के इस वक्तव्यसे विरुद्ध प्रतीत होनेवाला सप्तम अध्यायका यह श्लोक देखिए :

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

मेरे सर्वोत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए बुद्धिहीन मनुष्य मुझ अव्यक्त यानी निर्गुण, निराकार परमात्माको व्यक्त, प्रकट हुआ यानी सगुण या साकार मानते हैं।

चतुर्थ अध्यायका उपर्युल्लिखित प्रभुके अवतारवादका प्रकरण पढ़नेके अनन्तर यहाँ यह नहीं समझमें आता कि अव्यक्त परमात्माको प्रकट हुआ माननेवाले क्या अनुचित करते हैं ! सप्तम अध्यायके इस श्लोकसे तो स्पष्ट ही समझमें आता है कि जो लोग उस अज, अविनाशी ईश्वरको अवतरित हुआ मानते हैं वे बुद्धिहीन हैं। अर्थात् बुद्धिमत्ताकी बात यह हुई कि निर्गुण-निर्विकार परमात्म-तत्त्वको अवतार-रूपमें प्रकट हुआ नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार ये दोनों वचन परस्पर विरुद्ध प्रतीत हो रहे हैं। तब भगवान्के अवतरित विग्रहके विषयमें किस प्रकारकी धारणा स्थिर की जाय ?

इस प्रसंगमें आगे नवम अध्यायके ग्यारहवें श्लोककी ओर भी ध्यान जाता है :

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

सम्पूर्ण भूतोंके एकमात्र स्वामी मेरे उस परमभाव यानी परमात्मस्वरूपको न जानते हुए मोहग्रस्त मनुष्य मानव-शरीर धारण किए हुए मुझ परमात्माके प्रति अनादरकी भावना रखते हैं, मेरी निन्दा करते हैं।

यहाँ भी इस कथनका यही अभिप्राय व्यक्त होता है कि भगवान्के अवतार-विग्रहका समादर करना चाहिए, ऐसा न करना मूढ़ता है। तात्पर्य यह कि चतुर्थ अध्यायके पंचमसे नवम श्लोकतकमें अवतारवादका जो विस्तार है उसका यहाँ भी समर्थन ही प्राप्त होता है। तब सप्तम अध्यायके चौबीसवें श्लोकका अर्थ कैसे समन्वित किया जाय ?

सभी भाषाओंमें, विशेषकर संस्कृत भाषामें अर्थको दिशा प्रदान करने या अर्थकी दिशा बदलनेमें अन्वय बड़ा बलशाली सहायक होता है। इस अन्वयकी महिमासे अवगत होनेके लिये एक उदाहरण देखें। मान लीजिए किसीने हमसे पूछा : 'मेरी पत्नी सगर्भा है, उसके गर्भसे पुत्र उत्पन्न होगा या पुत्री ?' हमने उत्तर दे दिया : 'पुत्रो न पुत्री।' अब अपनी विवक्षा या प्रयोजनके अनुसार

हम इस एक कथनके तीन अर्थ कर सकते हैं : १. पुत्र उत्पन्न होगा, पुत्री नहीं। २. पुत्र नहीं, पुत्री उत्पन्न होगी, ३. न पुत्र उत्पन्न होगा न पुत्री। तीनों अर्थ शुद्ध हैं। कोई व्यक्ति किसी एक भी अर्थमें किसी प्रकारकी भूल या असंगति नहीं बता सकता। अतः मीमांसादर्शनके संदंशन्यायसे बाध्य होकर संदिग्ध अर्थके द्योतक श्लोक (७-२४) का अन्वय बदलना आवश्यक है, तभी पूर्वापर स्थलोंकी भाँति तदनुकूल अवतारवाद-समर्थक भाव यहाँ प्राप्त हो सकेगा।

संदंश लौहनिर्मित एक यन्त्र है जिसे सँड़सी कहते हैं। रसोईमें नित्य इसका उपयोग होता है। लोहारोंकी फैक्टरियोंमें इससे गरम लोहा पकड़ लिया जाता है। फिर उसे चाहे जैसे उलट-पलटकर हथौड़ेसे पीटिए, वह छूट नहीं सकता, क्योंकि दोनों ओरसे जकड़ा रहता है। इसी प्रकार प्रकृत स्थलमें चतुर्थ अध्याय (४-५-९) तथा नवम अध्याय(९-११)के दोनों प्रसंग संदंशस्थानीय हैं जिनके बीच सातवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक जकड़ा हुआ है अतः पूर्वापर प्रसंगके अनुकूल ही अर्थ उसे देना पड़ेगा। इस उद्देश्यसे हम उसका अन्वय इस प्रकार करेंगे : 'मम अव्ययम् अनुत्तमम् परं भावम् अजानन्तः अबुद्धयः व्यक्तिम् आपन्नं माम् अव्यक्तं मन्यन्ते।' इस अन्वयके अनुसार अर्थ यह होगा कि बुद्धिहीन, मूर्ख मनुष्य दुर्जन-निग्रह, सज्जनानुग्रह आदि कार्योंके निमित्त नृसिंह-रामादि विग्रहोंमें अवतरित हुए मुझ सगुण-साकार-विग्रहधारी परमात्माको अव्यक्त अर्थात् निर्गुण, निराकार ही मानते हैं, क्योंकि इस मनुष्य-शरीर, सगुण अवतारके रूपमें भी मैं सर्वश्रेष्ठ परम अविनाशी परमात्मा हूँ, इस बातको सम्यक् बुद्धि न होनेके कारण वे नहीं जान पाते। निष्कर्ष यह कि यद्यपि मैं दुर्जननिग्रह, सज्जन-अनुग्रहादि कार्योंके निमित्त नृसिंह, रामादि सगुण-साकार विग्रह धारण किया करता हूँ, फिर भी मुझे केवल अव्यक्त निर्गुण-निराकार माननेका जो आग्रह रखते हैं वे बुद्धिहीन, मूढ ही हैं।

ऐसा अर्थ स्वीकार कर लेनेपर इससे (७-२४ से) भी चतुर्थ-अध्यायगत अवतारवादका समर्थन हो जाता है और विरोधकी प्रतीति समाप्त हो जाती है।

५. सुदुराचारी साधु कैसे ?

अब गीताके निम्नलिखित दो ऐसे श्लोक देखिए जिनमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे पापी जीवोंकी शरणागतिके विषयमें अपना अभिमत व्यक्त किया है। यहाँ भी दोनों श्लोकोंमें व्यक्त किए गए भावोंमें परस्पर विरुद्ध होनेका भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

प्रथम श्लोक गीताके सप्तम अध्यायमें आया है :

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

अर्थात् मायाद्वारा हरण किए हुए ज्ञानवाले, आसुरी वृत्ति ग्रहण किए हुए तथा चोरी-हिंसा आदि पापकर्म करनेवाले मोहग्रस्त अधम मनुष्य मेरी शरणमें नहीं आते ।

दूसरा श्लोक नवम अध्यायका है :

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

अर्थात् अतिशय दुराचारी भी मनुष्य यदि अन्य सब ओरसे मन हटाकर केवल एक मेरा ही भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने भलीभाँति एकमात्र भगवद्भजनरूप उत्तम निश्चय कर लिया है ।

यहाँ पूर्वश्लोकमें स्पष्ट ही कहा गया है कि दुष्कृती यानी दुराचारी मनुष्य भगवान्‌की शरणको नहीं प्राप्त होते अर्थात् भगवद्भक्तिकी ओर प्रवृत्त ही नहीं होते । फिर दूसरे श्लोकमें इससे बिल्कुल विपरीत भाव व्यक्त किया गया है कि दुराचारी ही नहीं, दुराचारियोंका शिरोमणि भी यदि अनन्य भावसे अर्थात् सम्पूर्ण सांसारिक सम्बन्धोंसे विच्छिन्न होकर, सब देवी-देवताओंका आश्रय छोड़कर एकमात्र मुझे ही सब कुछ समझते हुए मेरा ही भजन करता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए । आगे यह भी कहा गया है कि 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति' अर्थात् वही महान् दुराचारी अपने शोभन निश्चयके कारण धर्मात्मा बन जाता है और ऐकान्तिक शान्ति भी प्राप्त कर लेता है ।

इन दोनों परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले भगवद्वचनोंको देखकर प्रश्न होता है कि इनकी संगति किस रूपमें हृदयस्थ की जाय ?

इस प्रश्नके समाधानके लिये पहले दोनों श्लोकोंमें आए हुए नराधम और सुदुराचारी शब्दोंका अर्थ जानना आवश्यक है । संसारके सम्पूर्ण मनुष्योंको चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है : १. स्वार्थी, २. परमस्वार्थी, ३. उपकारी और ४. परमउपकारी ।

१. स्वार्थी व्यक्ति वे होते हैं जो केवल भौतिक समृद्धिको ही जीवनका उद्देश्य माने बैठे हैं, भगवान्‌की ओर उनका तनिक भी ध्यान नहीं जाता; २. परमस्वार्थी वे होते हैं जो सभी सांसारिक वैभवों तथा सम्बन्धोंको तुच्छ समझकर केवल भगवत्प्राप्तिके यत्नमें लगे रहते हैं; ३. उपकारी वे हैं जो संसारमें केवल अपनी ही नहीं अपितु दूसरे प्राणियोंकी भी समृद्धिके लिये प्रयत्नशील रहते

हैं और ४. परम उपकारी वे कहे जाते हैं जो स्वयं ही नहीं अपितु सारे जन-समाजको भगवद्भक्तिमें लगाकर उन्हें परम-कल्याणभाजन बनानेके प्रयत्नमें संलग्न रहते हैं।

इनमें-से पहले प्रकारका जो स्वार्थी मनुष्य है उसीकी ओर गीतोक्त प्रथम (७-१५) श्लोकमें नराधम शब्दसे संकेत किया गया है क्योंकि वह केवल सांसारिक सुख-समृद्धिके साधनोंसे सम्पन्न होनेके लिये ही आजीवन प्रयत्नशील रहता है। विषय-वासनाओंकी सन्तुष्टि और न्याय या अन्यायसे अपने शरीरका पोषण ही उसका लक्ष्य रहता है। अपने प्रयोजनके लिये हिंसा, लूट-मार, चोरी, झूठ, कपट, विश्वासघात आदि जघन्य कार्योंमें ही वह निरन्तर लगा रहता है, क्योंकि स्वर्ग, नरक, भगवान्, उनकी भक्ति आदिका ज्ञान उससे कोसों दूर रहता है। तात्पर्य यह कि भौतिक समृद्धिकी सिद्धि ही उसकी इतिकर्तव्यता होती है अतः ऐसे व्यक्तिका भगवत्-शरणापन्न होना असम्भव ही है।

दूसरे प्रकारके परमस्वार्थी लोग यहाँ सुदुराचारी शब्दसे अभिप्रेत हैं। शास्त्र-सम्मत कार्योंका करना ही आचार-पालन है। अतः शास्त्रोंकी अवज्ञा करके मनमाना आचरण करनेवाले दुराचारी कहे जाते हैं। जो एक बार नहीं, अनेक बार शास्त्रकी आज्ञाका उल्लंघन करे वही सुदुराचारी हुआ। शास्त्रकी आज्ञा है कि माता-पिता, बड़े भाई आदि श्रेष्ठ जनोंकी आज्ञा माननी चाहिए, अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करना चाहिए, स्त्रियोंको पतिकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। किन्तु देखा जाता है कि विद्याध्ययनके लिये या विरक्ति होनेके कारण भगवद्भजनके लिये लोग घरसे छिपकर भाग जाते हैं, झूठ बोलते हैं। स्त्रियाँ पतिकी वशवर्तिनी नहीं रह जातीं। समझाने-बुझानेका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे ही लोगोंके प्रति दूसरे (गीता ९-३०) श्लोकमें प्रयुक्त सुदुराचारी शब्दसे संकेत किया गया है।

यद्यपि शास्त्रीय आज्ञाका उल्लंघन पाप है किन्तु भगवद्भक्तिके निमित्त यह शास्त्रकी अवज्ञा भी पुण्य बन जाती है। निष्कर्ष यह कि व्यक्तिगत सांसारिक सुखोंके लिये शास्त्राज्ञाका उल्लंघन अवश्य ही पाप है किन्तु प्रभु-प्राप्तिके निमित्त शास्त्रीय मर्यादाका त्याग पाप नहीं, प्रत्युत पुण्यका हेतु बन जाता है। भक्तवर प्रह्लाद, परमभक्ता मीराबाई आदिकी गणना इसी कोटिमें होती है।

सन्त तुलसीदासजीने विनयपत्रिकाके एक पद्यमें गीताके इस मर्मका सुस्पष्ट उद्घाटन किया है :

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

तज्यौ पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यौ, कंत ब्रज बनितन, भए जग मंगलकारी ।।

इत्यादि।

अर्थ स्पष्ट ही है कि भगवद्भक्तिमें प्रतिबन्ध उपस्थित करनेवाले परमस्नेही व्यक्तिको भी महान् शत्रु समझकर छोड़ देना चाहिए। तुलसीदासजीके इस क्रान्तिकारी निर्णयको हम कदाचित् सन्देहकी दृष्टिसे देखें, अतः उन्होंने हमारे ही चिरपरिचित श्रद्धास्पद आदर्शोंको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत कर दिया : प्रह्लादने अपने पिता हिरण्यकशिपुका, विभीषणने अपने ज्येष्ठ भ्राता रावणका, भगवान् रामके परमप्रिय अनुज भरतने अपनी माता कैकेयीका, राजा बलिने अपने गुरु शुक्राचार्यका, भक्तिका अनुपम आदर्श प्रस्तुत करनेवाली गोपियोंने अपने-अपने पतिका त्याग कर कोई शास्त्र-सम्मत कार्य नहीं किया, किन्तु इससे वे पापी नहीं कहलाए प्रत्युत इतने समुन्नत एवं समादरणीय हो गए कि उनका स्मरण भी मंगलदायक माना जाता है।

सारांश यह कि व्यक्तिगत लौकिक स्वार्थकी भावना ही सारे अनर्थोंका मूल और भगवद्भक्ति अखिल कल्याणका हेतु है। इस प्रकार विवेचन करनेपर उपर्युक्त दोनों श्लोकोंकी अर्थसंगतिमें विरोधका भ्रम उत्पन्न करनेवाला कोई हेतु नहीं रह जाता।

६. चतुर्भुजका रहस्य

अब आइए, गीताके एकादश अध्यायका वह प्रकरण देखें जहाँ भगवान्का विराट् रूप देखकर संत्रस्त हुए अर्जुनने उनकी स्तुति करते हुए उस स्वरूपका संवरण और सौम्य रूप धारण करनेका निवेदन किया है। श्लोक इस प्रकार है :

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।

(११-४६)

अर्थात् हे विश्वरूप! मैं आपको वैसा ही या उसी प्रकार मस्तकपर मुकुट तथा हाथोंमें गदा और चक्र धारण किए देखना चाहता हूँ अतः हे सहस्रों भुजाओंवाले! आप पुनः उसी चतुर्भुज रूपसे युक्त हो जाइए।

यहाँ 'तथैव' (तथा+एव) और 'तेनैव' (तेन+एव) शब्दोंमें मूलतः 'तत्' सर्वनामका प्रयोग हुआ है जो पूर्वदृष्ट, पूर्वानुभूत या पूर्वोक्त संज्ञाके अर्थमें या उसका विशेषण बनकर प्रयुक्त हुआ करता है। यहाँ जिस चतुर्भुज शब्दके विशेषणरूपमें उसका प्रयोग हुआ है वह चतुर्भुजरूप क्या अर्जुनद्वारा पूर्वदृष्ट या

पूर्वानुभूत है ? निश्चितरूपसे नहीं है, क्योंकि यदि अर्जुनने चतुर्भुज रूपका दर्शन कर लिया होता तब वह उनकी महिमासे अपरिचित न रह जाता और उसके द्वारा प्रमाद या प्रणयसे भी कोई भूल सम्भव न होती जिसके लिये उसने ११-४१—४५ में भगवान् श्रीकृष्णसे क्षमायाचना की है। इस प्रकार 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन' का 'उसी चतुर्भुज रूपसे संयुक्त' अर्थ माननेपर ११-४१—४५ श्लोकोंकी अर्थ-संगति ठीक नहीं बैठती।

'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च' इस शब्दसाम्यके कारण गीता ११-१७ में चतुर्भुज रूपके उक्त होनेका भ्रम हो सकता है किन्तु एक तो वहाँ चतुर्भुज शब्द नहीं है, दूसरे, अनेककिरीटादिधारी, सब ओरसे प्रचण्ड-अग्नि-सूर्यादिकी लपटोंके कारण दुर्निरीक्ष्य उस अत्यन्त भयानक तेजःपुञ्ज विश्वरूपको देखकर ही तो अर्जुन सन्त्रस्त हुआ है। उसी रूपका संवरण कर सौम्य स्वरूप दिखानेकी प्रार्थना कर रहा है, तब पुनः उसी रूपको देखनेकी कामना वह क्यों करेगा ? अतः प्रश्न उठता है कि 'चतुर्भुजेन' शब्दका क्या अर्थ समझा जाय ? 'तेनैव' का संकेत-स्थल क्या है ?

हम समझते हैं कि 'चत्वारो भुजाः बाहवो यस्य सः' अर्थात् 'जिसकी चार भुजाएँ हों' चतुर्भुज शब्दका यह अर्थ यहाँ इष्ट नहीं है अपितु 'चतुर्भिर्भक्तैर्भावैर्वा भुज्यते अनुभूयते इति चतुर्भुजः' अर्थात् चार प्रकारके भक्तों अथवा चार प्रकारके भावोंद्वारा जिसका अनुभव किया जाता हो वह चतुर्भुज है, यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। चार प्रकारके भक्तोंका उल्लेख गीतामें ही पहले हो चुका है :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(७-१६)

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी, इन चार प्रकारके भक्तोंद्वारा जो भोगा जाय, प्रेमकी पराकाष्ठामें अनुभव किया जाय वह चतुर्भुज है। इन चारों प्रकारके भक्तोंद्वारा भोग्य, दर्शनीय, साक्षात्करणीय केवल भगवान् श्रीकृष्ण हैं अतः उनके लिये चतुर्भुज शब्दका प्रयोग किया गया है।

दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरभाव (कान्ताभाव), इन चारों भावोंका भी हृदयग्राही चित्र समीप ही गीतामें अभिव्यक्त हुआ है। विश्वरूप देखकर भयभीत अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे क्षमा-प्रार्थना कर रहा है :

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥
(११-४४)

अर्थात् हे त्रैलोक्यमें अप्रतिम प्रभाववाले प्रभु ! आप चराचर जगत्के पालक, स्वामी और आदिगुरु हैं तथा आपसे अधिक तो क्या, आपके समान भी तीनों लोकोंमें कोई नहीं है, इसलिये हे देव ! मैं आपको प्रणाम करके, अपना शरीर आपके चरणोंमें भलीभाँति समर्पित करके, स्तुति किए जानेयोग्य आपको प्रसन्न करता हूँ। जैसे पिता पुत्रके, सखा सखाके तथा प्रिय प्रियाके अपराध सह लेते हैं इसी प्रकार आप मेरे अपराध सहन करनेयोग्य हैं।

अर्जुनका कथन है कि 'हे भगवन् ! आपकी सेवा ही मेरे जीवनका व्रत है अतः मैं दास्यभाव-द्वारा अपना शरीर आपके चरणोंमें समर्पित करता हूँ। आप अपना दास समझकर मेरे अपराधोंको क्षमा करें।' यहाँ मन-वचन-कर्मसे आजीवन सेवाका व्रत लेना, प्रणाम करना तथा शरीर अर्पित करना अर्जुनके दास्यभावके ही द्योतक हैं।

किन्तु दास्यभावमें अर्जुनको कुछ कमी दिखाई पड़ी। उसने सोचा कि दाससे कोई भारी भूल हो जाय तो स्वामी उसे निकाल बाहर करता है और उसे सेवासे वंचित होना पड़ता है अतः उसने वात्सल्य भावका सहारा लिया : 'पितेव पुत्रस्य'। 'हे प्रभु ! जैसे पिता अपने पुत्रके छोटे-मोटे अपराधोंपर दृष्टि नहीं डालता, कोई गुरुतर अपराध हो जाय तो भी क्षमा कर देता है इसी प्रकार आप मुझे अपना पुत्र समझकर मेरे सभी अपराध क्षमा कर दें।' भगवान्को पिता तथा स्वयंको पुत्र मानना (पिता-पुत्रभाव) भी साधकका वात्सल्यभाव है। पुत्र कितना भी अपराधी हो, पिता उसे निर्दोष ही समझता है, दूसरोंसे पुत्रके दोष सुनकर भी उसे निर्दोष प्रमाणित करनेका यत्न करता है। नन्दबाबाको व्रज-वासियों-द्वारा अपने बालमुकुन्दके विरुद्ध लगाए गए आरोपोंपर विश्वास ही नहीं होता था। वे कह उठते थे कि व्यर्थ ही ये सब मेरे बच्चेके पीछे पड़े रहते हैं। यह महिमा है वात्सल्यभावकी।

किन्तु यहाँ भी अर्जुनका मन स्थिर नहीं हुआ। उसे लगा कि घरपर ही यदि बच्चोंसे कुछ भूल या उपद्रव हो जाय तो मार पड़ ही जाती है। भगवान् श्रीकृष्णके ही यशोदा मैयाने अनेक बार कान ऐंठे, छड़ी दिखाई, उलूखलमें बाँध दिया। राजा सगरने प्रजाकी शिकायतपर अपने पुत्र असमंजसको देशसे निकाल बाहर किया। अतः अर्जुनका मन सख्यभावपर आकर जमा : 'सखेव सख्युः'— 'भगवन् ! आप मेरे अपराधोंको इस प्रकार क्षमा कर दें जैसे मित्रके अपराधोंको मित्र क्षमा कर देता है।' मित्रके अपराध अपराध समझे ही नहीं जाते। आपके घर आपका कोई मित्र आये और उससे कुछ वस्तुएँ टूट-फूट जायँ या कोई

अन्य क्षति हो जाय तो उसके खेद व्यक्त करनेपर भी आप कहेंगे : 'जाने भी दीजिए, मुझसे ही यह क्षति हो जाती तो क्या होता ! मुझमें-आपमें कोई भेद है क्या ? यह सब कुछ आपका ही तो है।' भेद-भावरहित निस्संकोच व्यवहार ही सख्यभाव है। ग्वालबाल कभी यशोदानन्दनको अपने कन्धोंपर बैठा लेते, कभी उन्हींके कन्धोंपर बैठ जाते थे। इस प्रकारकी मैत्री भगवान्से जिसकी हो जाय उसे फिर अपनी रक्षाकी क्या चिन्ता ! यह चिन्ता तो भगवान्को हो जायगी।

एक मनोरंजक किंवदन्ती है। कोई मदोन्मत्त विलासी युवक किसी सुसज्जित तरुणी वेश्याको साथ लिए जा रहा था। वर्षाऋतु होनेसे भूमि पंकिल थी। एक ओरसे एक सन्त भी कुछ शीघ्रतासे निकल गए तो सन्तके पैरसे थोड़ा कीचड़ उछला और वेश्याके वस्त्रोंपर जा लगा। अपनी प्रियाके बहुमूल्य चमकीले वस्त्रों-पर कीचड़ लगा देख युवकको क्रोध आ गया और उसने निरपराध सन्तको पाँच-सात कोड़े लगा दिए। अवधूत सन्त कुछ बोले नहीं, भगवन्नामका स्मरण करते आगे बढ़ गए। किन्तु सन्त तो अनन्तका ही दूसरा रूप है। अपने अपराधीको सन्त भले ही छोड़ दें, भगवान् बिना दण्ड दिए कैसे छोड़ सकते हैं ! थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही उस युवकके पेटमें असह्य पीड़ा उठी और वह धरतीपर गिरकर तड़पने लगा। वेश्याको कारण समझते देर न लगी। नारी-स्वभाव-सुलभ श्रद्धा-वश वह दौड़कर सन्तके चरणोंपर गिर पड़ी और बोली : 'भगवन् ! मेरे प्रेमीने आपके साथ जो दुर्व्यवहार किया है उसे क्षमा करें। उस अज्ञानीको अपने पापका फल मिल चुका। अब वह मारे पीड़ाके मरा जा रहा है। प्रभो ! वह अबोध है। अबोधपर क्रोध नहीं, अपितु दया करना ही सन्तका सहज स्वभाव है। अतः उसपर दया कीजिए।' अवधूत सन्त हँसते हुए बोले : 'बेटी, तू क्यों दौड़ी आई ? तेरा-मेरा तो कोई झगड़ा नहीं। तेरे मित्रको क्रोध आया तो उसने मुझे कोड़े लगा दिए, अब मेरे मित्रको रोष आ गया है तो वह तेरे प्रेमीको ठीक कर रहा है। हमें-तुम्हें बीचमें पड़नेका क्या काम ! मित्रोंका झगड़ा है, स्वयं समझ लेंगे।'

भगवान्के प्रति सख्यभावकी यह महिमा है कि दूसरेका भय निवृत्त हो जाता है। जिसके भयसे सूर्य-चन्द्रादि भी नियत समयपर नियत रूपसे कार्य करते रहते हैं, कोई त्रुटि नहीं होने देते, उस ईश्वरसे ही जब डर नहीं रहा तो दूसरा कौन डरानेवाला है !

किन्तु दो अन्तरङ्ग मित्रोंमें भी घातक शत्रुताके उदाहरण अर्जुनके मनमें कौंध गए। गुरु द्रोणाचार्य द्रुपदके मित्र ही तो थे। मित्रको मित्र कह देना ही

अनर्थका हेतु हो गया। जीवनव्यापिनी प्राणघातक शत्रुता हो गई। अतः अर्जुनको माधुर्यभाव (कान्ताभाव) ही निरापद समझमें आया। वह माधुर्यभाव जहाँ उपास्य और उपासक एकप्राण हो जाते हैं : 'किशोरमूर्तिद्वयमेकजीवितम् ।' भारतीय संस्कृतिमें पति-पत्नी दोनों एक-दूसरेके अर्धशरीर माने जाते हैं। इसीलिये भारतीय सन्तोंने अपने जीवको स्त्रीरूप माना और प्रियतम रूपमें परमात्माकी उपासनाका आदर्श प्रस्तुत किया है : 'कह कबीर मोहिं ब्याह चले हैं पुरुष एक भगवाना' अर्थात् सन्त कबीर कहते हैं कि अद्वितीय पुरुष भगवान् दूल्हा बनकर मुझे दुल्हनरूपमें स्वीकृत करके ले जा रहे हैं।

कबीरका ही एक और दोहा है :

कहन सुनन की कछु नहीं देखा देखी बात ।
दूल्हा दुलहिन मिलि गए फीकी परी बरात ॥

अर्थात् जब दुल्हन यानी पत्नीरूपी जीवात्माका दूलहस्वरूप परमात्मासे सम्मिलन हो गया तो अंतरंग-बहिरंग सभी साधनोंका समुदाय निष्प्रयोजन हो गया, ठीक वैसे ही, जैसे कन्याके पाणिग्रहणके अनन्तर सभी बराती निष्प्रयोजन हो जाते हैं, यथाशीघ्र अपने-अपने घरका मार्ग पकड़ते हैं। यह आँखों-देखी बात है। इसमें किसी प्रमाण या बहुत कहने-सुननेकी कोई आवश्यकता नहीं।

सन्त कबीर ही नहीं, दादूदयाल, मलूकदास, पलटूदास, चरणदास, रैदास, भीखासाहब, यारीसाहब आदि सभी प्रसिद्ध सन्तोंकी उपासना-पद्धतिमें इसी भावके दर्शन होते हैं। सहजोबाई, मीराबाई आदि परमभक्ताओंको तो यह भाव सहज सात्म्य था, क्योंकि वे शरीरतः भी नारी थीं। कहते हैं वृन्दावनमें एक बार मीराबाईने एक प्रसिद्ध महात्माका दर्शन करना चाहा तो उन्होंने यह कहकर अपनी अस्वीकृति दे दी कि हम स्त्रियोंसे नहीं मिलते। प्रत्युत्तरमें मीराबाईने कहला भेजा कि 'अबतक तो मैं समझती थी कि यहाँ एकमात्र श्यामसुन्दर ही पुरुष हैं, शेष सब स्त्रियाँ हैं। पर आज यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि व्रजमण्डलमें उनके अतिरिक्त एक और भी पुरुष आकर विराजमान हो गए ! किन्तु यह कैसा भेद है कि श्यामसुन्दर तो स्त्रियोंके बीच ही रास-विहार करते पाए जाते हैं और एक आप हैं कि स्त्रियोंको दर्शन देना भी निषिद्ध मानते हैं !' बात जब महात्माजीकी समझमें आई तो उन्होंने स्वयं आकर मीराबाईके दर्शन किए और क्षमा-याचना की।

प्रकारान्तरसे भी इसी भावकी सम्पुष्टि होती है। यदि आप किसी सुनारको आभूषण बनानेके लिये कुछ स्वर्ण दें तो उससे निर्मित आभूषणोंके भी स्वामी आप

ही होंगे, दूसरा नहीं। इसी प्रकार शास्त्रोंके सिद्धान्तानुसार जब यह चराचर जीव-जगत् मायाका ही विस्तार या रूपान्तर है तब जो उस मायाका स्वामी है वही इस जीव-जगत्के रूपमें विस्तृत विश्वका भी स्वामी है। इसपर हमारी-आपकी स्वामित्व-कल्पना तो ऐसी ही है जैसे स्वर्णनिर्मित एक आभूषणका दूसरे आभूषणपर स्व-स्वामित्वका मिथ्या गर्व करना। इस दृष्टिसे जागतिक पुरुष पुरुष नहीं पुरुषाभास हैं। पुरुष तो एकमात्र परमात्मा ही है। इसीलिये केवल वही आदिपुरुष, महापुरुष, परमपुरुष, पुरुषोत्तम आदि नामोंका वाच्यार्थ माना जाता है, अस्तु। यह महिमामय कान्ताभाव मनमें अंकित होते ही अर्जुनने तत्क्षण निवेदन किया : 'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्' अर्थात् हे देव ! आप मेरे सब अपराधोंको इस प्रकार सहन करें, क्षमा करें, जैसे प्रियतमाके दोषोंको प्रियतम सहन कर लेता है, क्षमा कर देता है।

उपर्युक्त पद्यमें सेवामूलक दास्यभाव, स्नेहातिरेकमूलक वात्सल्यभाव, संकोचाभावमूलक सख्यभाव तथा एकप्राणतामूलक मधुरभाव, इन चारों भावों-का बड़े कौशलसे संकेत किया गया है। दास्यादि सभी भावों तथा नवधाभक्तिके श्रवणादि अंगोंका वेदमें भी विशद वर्णन है जिसका निरूपण आगे किया जायगा।

उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि गीता ११-४६ में अत्युग्र विश्व-रूपके दर्शनसे भयभीत अर्जुन चार प्रकारके भक्तों अथवा चार प्रकारके भावोंसे प्रेमकी पराकाष्ठामें अनुभूयमान भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका दो भुजाओंवाला वही पूर्वदृष्ट सौम्यस्वरूप देखनेकी कामना तथा निवेदन कर रहा है। वैकुण्ठ-लोकवासी भगवान् नारायणके चतुर्भुज स्वरूपसे वह परिचित भी नहीं है तथा वह उसका उपास्य भी नहीं है, इसीलिये उस स्वरूपका दर्शन उसे अभीष्ट नहीं है। उसके उपास्य तो वृन्दावनविहारी, मोरमुकुटधारी वही गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण हैं जिनके एक हाथमें मुरली और दूसरेमें सुदर्शनचक्र सुशोभित रहता है। उनके इसी स्वरूपसे वह परिचित भी है। अतः 'तथैव' और 'तेनैव' शब्दोंसे भी इसी पूर्वदृष्ट द्विभुज स्वरूपकी ही ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार चतुर्भुज शब्दका जो अर्थ ऊपर स्पष्ट किया गया है उससे 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन' में अर्जुनद्वारा चतुर्भुज स्वरूपकी अदृष्टपूर्वतावश जो सन्देह उत्पन्न होता है उसका भलीभाँति निराकरण हो जाता है। गीताका रचनाकौशल निराला है। यदि यहाँ चतुर्भुज शब्दसे चार-भुजाओंवाला भगवत्स्वरूप विवक्षित होता तो 'सरोजिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं सशङ्खम्' पाठ दे देना कोई बहुत कठिन बात न थी।

श्लोकमें आए 'गदिनम्' शब्दका अर्थ है : 'गदः स्वभ्राता गदनामधेयः अनुजः अस्येति गदी, तं गदिनम्' अर्थात् गदनामके लघु भ्रातावाले। श्रीकृष्णचरित्र-पाठक जानते हैं कि श्रीकृष्णके बड़े भाईका नाम बलराम तथा छोटे भाईका नाम गद था। बाणासुर आदि असुरोंके साथ युद्धके प्रसंगमें गदका पराक्रम श्रीमद्-भागवत, हरिवंश आदि पुराणोंमें विशदरूपसे वर्णित है।

७. भक्ति पहले या ज्ञान ?

सप्तम सन्दिग्ध स्थल गीताके अष्टादश अध्यायका वह प्रकरण है जहाँ ब्रह्म-ज्ञान होनेके पश्चात् भक्तिकी प्राप्ति और उसके अनन्तर फिर ब्रह्मज्ञानका प्रति-पादन किया गया है। प्रकरणसे सम्बद्ध दो श्लोक निम्नलिखित हैं :

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(१८-५४)

अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हुआ साधक प्रसन्नचित्त रहता है। न वह किसी विनष्ट हुई वस्तुका शोक करता, न अप्राप्त वस्तुकी कामना करता। राग-द्वेष न होनेके कारण वह किसीका शत्रु-मित्र भी नहीं रह जाता अर्थात् सबमें समभाव रखता है। ऐसा साधक मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८-५५)

उस प्राप्त हुई भक्तिके द्वारा साधक, मैं वास्तवमें जैसा हूँ जो हूँ, उस रूपमें मुझे जान लेता है, फिर मुझे यथार्थरूपमें जानकर तब मुझमें प्रवेश कर जाता है, मेरा स्वरूप हो जाता है, जीवभावको खोकर ब्रह्मभावारूढ़ हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें पहले ब्रह्मभूतः शब्दसे ब्रह्मका ज्ञान होना कहा गया तब पराभक्तिकी प्राप्ति बतलाई गई। भक्तिके द्वारा फिर तत्त्वज्ञानका प्रति-पादन किया गया। यहाँ यह सन्देह होता है कि शास्त्रोंमें भक्तिका प्रायः ज्ञानके साधनरूपमें वर्णन हुआ है अर्थात् तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये पहले भक्ति की जाती है। उस साध्यरूप तत्त्वज्ञानका जब साधनरूप भक्तिसे पहले वर्णन हो चुका तब पुनः भक्तिके पश्चात् किस विलक्षण तत्त्वज्ञानका होना बतलाया गया है ? तत्त्वज्ञानके तो अनेक भेद होते नहीं, वह तो एक ही प्रकारका होता है, भक्तिसे पूर्व हो या पश्चात्। अतः इन श्लोकोंके अनुसार ज्ञानसे भक्तिका उदय माना जाय

या भक्तिसें ज्ञानका ? तथा भक्तिके पूर्वोत्तरवर्ती दो तत्त्वज्ञान किस रूपमें हृदयङ्गम किए जायँ ?

इस प्रकरणपर विचार करते समय अद्वैताचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती-द्वारा भक्तिरसायन ग्रन्थके १-३२-३४ श्लोकोंमें प्रतिपादित भक्तिकी एकादश भूमिकाओंकी ओर ध्यान जाता है। यद्यपि उन एकादश भूमिकाओंमें-से षष्ठी, सप्तमी तथा अष्टमी भूमिकाओंके विवरणका ही प्रकृत विषयसे सम्बन्ध है फिर भी सभीका नामोल्लेख अप्रासंगिक न होगा। वे सभी भूमिकाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं :

प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः॥

१. प्रथमं महतां सेवा—सर्वप्रथम भगवान्में अनुराग रखनेवाले ब्रह्मवेत्ता सन्तोंकी सेवामें सँल्लग्न रहना।

२. तद्दयापात्रता ततः—तदनन्तर सेवासे सुप्रसन्न सन्तोंका दयापात्र बन जाना।

३. श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु—इसके पश्चात् भागवत धर्म श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्तिमें विशेष अभिरुचि।

४. ततो हरिगुणश्रुतिः—तब हरिगुणश्रवण आदि नवधा भक्तिका सतत अनुष्ठान। श्रवणार्थक श्रुतिशब्द यहाँ कीर्तनादिका भी उपलक्षण है।

५. ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः—नवधा भक्तिके अनुष्ठानसे द्रवीभूत चित्तमें भगवदाकारता यानी चित्तवृत्तिका भगवदाकार हो जाना। यह पञ्चमी भूमिका ही भक्तिका तात्त्विक स्वरूप है।

६. स्वरूपाधिगतिस्ततः—उस भक्तिकी महिमासे भगवदभिन्न एवं देहादिव्यतिरिक्त, 'त्वम्' पदके लक्ष्य प्रत्यगात्माका साक्षात्कार। इसी दशाको प्राप्त होनेपर साधकके अन्तःकरणमें 'सोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि भावोद्गार स्वयं उठते हैं। ऊपर उद्धृत गीताके प्रथम श्लोक (१८-५४) के तीन चरणोंमें इसी भूमिकाका निरूपण हुआ है।

७. प्रेमवृद्धिः परानन्दे—स्वात्मसाक्षात्कार होनेके अनन्तर साधकके मनमें पर-वैराग्यका उदय होता है और अनासक्ति दृढ़ होते ही निरतिशयानन्दघन

परमात्माके प्रति प्रेमकी वृद्धि हो जाती है। या यों कहें कि निजानन्द स्वात्मदेवके प्रेममें मग्न साधक लौकिक सुध-बुध भूल जाता है अतः किसी प्रकारकी अन्य भावनाके लिये न तो उसके हृदयमें स्थान रह जाता, न अवसर ही। इसी भूमिकाका वर्णन गीतोक्त प्रथम (१८-५४) श्लोकके अन्तिम चरणमें किया गया है।

८. तस्याथ स्फुरणं ततः—सप्तमी भूमिकासे ऊपर उठनेपर साधक स्वात्मासे अभिन्न भगवान्की झाँकी प्राप्त करने लगता है। उस समय वह अनुभव करता है कि मेरे आराध्यदेव मुझसे अलग नहीं हैं, न मैं ही उनसे अलग हूँ। जब वे मेरे ही स्वरूप हैं तब एक-दूसरेसे अलग होनेकी बात ही नहीं उठती। इस स्थितिमें साधक समस्त लौकिक प्रलोभनोंसे बहुत ऊपर उठ जाता है अर्थात् संशय-विपर्यय-रहित अतिपरिपक्व स्वात्मनिष्ठाकी निष्पत्ति हो जाती है। अब साधकको आगे बढ़नेमें कोई विघ्न-बाधा नहीं रह जाती। जब अपनेसे भिन्न कोई रहा ही नहीं तो विघ्न भी किससे होगा? अष्टमी भूमिकाको प्राप्त इस साधकके विषयमें बृहदारण्यक उपनिषद्ने कहा है 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषां स भवति' (१-४-१०) अर्थात् ऐसे साधकके अकल्याणके लिये देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह तो देवताओंका ही अपना आत्मा हो जाता है। अस्तु।

अष्टमी भूमिकामें निरूपित भगवत्स्वरूप-स्फुरण अर्थात् परमप्रेमास्पद, 'तत्' पदके लक्ष्य, निरतिशयानन्दरूप भगवान्की निरन्तर अनुभूति ही गीतोक्त द्वितीय (१८-५५) श्लोकमें सम्पूर्ण भगवत्स्वरूपके तात्त्विक ज्ञान (तत्त्वज्ञान) के रूपमें वर्णित है। इस प्रकार गीताके उपर्युक्त दोनों (१८-५४, ५५) श्लोकोंमें श्री मधुसूदन सरस्वती-द्वारा प्रतिपादित एकादश भूमिकाओंमें-से षष्ठी, सप्तमी और अष्टमी भूमिकाओंका स्वरूप—१. स्वात्म-साक्षात्कार, २. स्वात्मभूत भगवान्में प्रेमवृद्धि अर्थात् निरतिशय प्रेम, और ३. निरन्तर परमप्रेमास्पद भगवान्की स्फूर्ति या अनुभूतिके रूपमें वर्णित किया गया है।

इसके अनन्तर साधकमें अवशिष्ट भक्ति-भूमिकाएँ क्रमशः निम्नलिखित रूपोंमें विकसित होती हैं:

९. भगवद्धर्मनिष्ठा—भगवद्धर्ममें अयत्नसिद्ध (नैसर्गिक) निष्ठा।

१०. अतः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता—अनन्तर भक्तमें भगवान्के दिव्य ऐश्वर्यका आविर्भाव या भगवान्के समान ही अणिमादि विभूतियोंका विकास।

११. प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठा—और इसके पश्चात् प्रेमकी पराकाष्ठा ।

इनका विशेष विवेचन गुरु गंगेश्वर ग्रन्थमालाके प्रथम-पुष्पान्तर्गत 'वेदमें प्रेमयोग' शीर्षक लेखमें (पृष्ठ ३ से २२ तक) देखना चाहिए।

चान्द्रभाष्यमें भक्ति-ज्ञान-समुच्चयवादी विश्ववन्द्य आचार्य श्री श्रीचन्द्रमहाराजने उपर्युक्त दोनों श्लोकोंकी संगति इस प्रकार लगाई है : उनके सिद्धान्तसे फलमें रूप-रसादि पाँचों विषयोंके आवरण होते हैं । इनमें-से रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका तो स्पष्ट ही चक्षु, रसना, घ्राण और त्वक्से प्रत्यक्ष होता है, फल जब वृक्षसे गिरता है तो शब्द भी उसीसे होता है जिसका साक्षात्कार श्रवणेन्द्रियसे होता है । इस प्रकार जैसे फलगत रूप-रसादि पाँचों आवरणोंका भंग क्रमशः पञ्चज्ञानेन्द्रियोंसे होता है वैसे ही सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मके सत्, चित् और आनन्द, इन तीनोंके आवरणोंका भंग क्रमशः कर्म, ज्ञान और भक्तिसे ही सम्भव है । इसीलिए इनमें-से किसी एककी ही ब्रह्मज्ञानके प्रति स्वतन्त्र साधनता नहीं अपितु तीनोंकी समन्विति साधन मानी जाती है ।

वेदवाक्यों-द्वारा विहित कर्मके विधानसे आत्माका परोक्ष ज्ञान होनेके अनन्तर उसका सत्-आवरण भंग होता है तब उसके अस्तित्वका ज्ञान होता है । चिदावरण अविद्या है जिसे व्यष्टि-बन्धन भी कहते हैं । इसका भंग ज्ञानसे होता है । ज्ञानसे अविद्याका नाश सुप्रतिपादित एवं सर्वसम्मत है । भगवन्मायाके कार्यभूत आनन्दावरणके भंगके लिये भगवान्की शरणागति, भगवद्भक्तिका ही आश्रय लेना पड़ता है। समष्टि-बन्धनभूता मायाके कार्य इस आनन्दावरणका भंग भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी साधनसे शक्य नहीं है ।

आचार्य श्री श्रीचन्द्रजीके इसी सिद्धान्तके अनुसार शास्त्रसिद्ध स्वात्माके परोक्ष-ज्ञानसे सदावरण-भंग होनेके अनन्तर, गीताके उपर्युक्त पहले (१८-५४) श्लोकके तीन चरणोंमें, चिदावरणके भंगके लिये व्यष्टि-बन्धनभूत अविद्याके निवर्तक तत्त्वज्ञानका निरूपण तथा चतुर्थ चरणमें समष्टि-बन्धनरूपा मायाके कार्य आनन्दावरणकी निवर्तिका भगवत्प्रपत्ति, भगवद्भक्तिका निरूपण किया गया है । इस प्रकार ज्ञानसे व्यष्टि-बन्धन अविद्याका और भक्तिसे समष्टि-बन्धन मायाका निरास होनेके अनन्तर भगवान्के पूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूपका साक्षात्कार होनेकी बात गीताके उपर्युक्त दूसरे (१८-५५) श्लोकमें कही गई है ।

इस चान्द्रभाष्यके सिद्धान्तका विशेष स्पष्टीकरण 'गीतामें वेद-सम्मत मुक्ति-साधन' शीर्षक प्रसंगमें हो चुका है । अब प्रसंगवश 'वेदमें नवधा भक्ति' विषयपर विचार किया जायगा ।

वेद्में नवधाभक्ति तथा पञ्चभाव

'तस्य ते भक्तिवांसः स्याम' (अथर्व० ६-७९-३)

हम सदा पूर्वोक्त गुणविशिष्ट आपकी अतिशय भक्तिसे युक्त रहें।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भगवत्प्राप्तिके प्रति भक्तिकी साधनताका अनेक प्रकारसे[1] उपदेश दिया है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें भक्तिके नौ भेद बताए गए हैं :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

(भाग० ७-५-२३)

वेदमें भी विभिन्न स्थलोंपर भक्तिके इन नवों भेदोंका पृथक्-पृथक् वर्णन तो है ही, जिसका दिग्दर्शन आगे किया जायगा, यहाँ भगवान् वेदका वह मन्त्र उद्धृत

---

१. सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः (६-३१), श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः (६-४७), चतुर्विधा भजन्ते माम् (७-१६), भजन्ते मां दृढव्रताः (७-२८), भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव (८-१०), भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया (८-२२), भजन्त्यनन्यमनसः (९-१३), नमस्यन्तश्च मां भक्त्या (९-१४), पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति (९-२६), ये भजन्ति तु मां भक्त्या (९-२९), भजते मामनन्यभाक् (९-३०), न मे भक्तः प्रणश्यति (९-३१), अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् (९-३३), इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः (१०-८), तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् (१०-१०), भक्त्या त्वनन्यया शक्यः (११-५४), मद्भक्तः सङ्गवर्जितः (११-५५), यो मद्भक्तः स मे प्रियः (१२-१४, १६), भक्तिमान् यः स मे प्रियः (१२-१७), भक्तिमान् मे प्रियो नरः (१२-१९), भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः (१२-२०), भक्तिरव्यभिचारिणी (१३-१०), भक्तियोगेन सेवते (१४-२६), स सर्वविद् भजति माम् (१५-१९), मद्भक्तिं लभते पराम् (१८-५४), भक्त्या मामभिजानाति (१८-५५)।

किया जाता है जिसमें भक्तिके उपर्युक्त सभी प्रकारोंका अद्भुत कौशलके साथ एकत्र ही समावेश किया गया है :

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
(ऋ० १-८९-८)

(देवाः !) हे देवगण ! हम, (भद्रम्) भजनीय, सेवनीय, आराधनीय, विद्वानोंकी 'कल्याणानां निधानम्' इस उक्तिसे कल्याणमय तथा 'मङ्गलं मङ्गला-नाम्' इस उक्तिसे परममङ्गलमय परमात्माको, (कर्णेभिः शृणुयाम) कानोंसे सुनें अर्थात् उनके दिव्य गुण, कर्म और चरित्रको सुनें । तात्पर्य यह कि हमारी कर्णेन्द्रियाँ निरन्तर हरिकथा-श्रवणमें सँल्लग्न रहें ।(यजत्राः) भगवान्‌के अर्चक हम भक्त, (स्थिरैः अङ्गैः) कर-पादादि अङ्गोंसे, तथा, (तनूभिः) अवयवी शरीरोंसे संयुक्त होकर, (तुष्टुवांसः) भगवत्कीर्तन करते हुए, (देवहितम्) देवके, भगवान्‌के हितार्थं यानी भगवत्प्रीत्यर्थ, (यत्—इण् गतौ, शतरि रूपम्, आयुः) प्रवहमान जीवनको, (व्यशेम) प्राप्त हों अर्थात् हमारे जीवनका लक्ष्य लौकिक स्वार्थसिद्धि नहीं अपितु भगवान्‌की सेवाद्वारा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना हो । इस प्रकार श्रवण आदि साधनोंसे भक्तिके अनुष्ठानके फल-स्वरूप नैसर्गिक प्रेमका उदय होनेपर, (अक्षभिः) नेत्रोंसे, (पश्येम) अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करें ।

इस मन्त्रमें प्रयुक्त 'शृणुयाम' पदसे श्रवणका, 'तुष्टुवांसः' से कीर्तनका, 'देवहितम्' और 'आयुः' से आत्मनिवेदनका तथा 'यजत्राः' से अर्चनभक्तिका प्रति-पादन हुआ है । इसी प्रकार 'स्थिरैरङ्गैः' पदोंसे परमात्माकी स्थावर मूर्तियों, मन्दिरोंमें स्थापित प्रतिमाओं तथा जंगम मूर्ति महात्माओंकी पादसेवा सूचित की गई है । भाव यह कि भगवान्‌की स्थावर-जंगम द्विविध मूर्तियोंकी पाद-सेवामें ही हाथोंकी सार्थकता है । मस्तक भगवान्‌के निवासाश्रय सम्पूर्ण प्राणियोंकी वन्दना करके अपनेको सार्थक करे और यह शरीर प्रभुके दास्य एवं सख्य भावका साधन हो । शरीरग्रहण मनका भी उपलक्षक है अतः इससे मानस स्मरण भक्ति भी प्रतिपाद्य है । इस प्रकार भक्तिके सभी प्रकारोंका निर्देश इस मन्त्रमें हुआ है ।

इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेदका एक मन्त्र देखिए जिसमें भक्तिके श्रवण-कीर्त-नादि सभी भेदोंका एक साथ प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है :

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः

शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च
शरदः शतात् ॥ (शु० यजु० ३६-२४)

प्रकाशदाता सूर्य प्रभुकी प्रत्यक्ष ज्योतिर्मय मूर्ति है अतः साधक उसी रूपमें अपने इष्टदेवकी प्रार्थना करता है : हे भास्करात्मक प्रभो ! (तत्) पूर्वमन्त्रोंसे प्रतिपादित, (देवहितम्) देवताओंके प्रिय, (शुक्रम्) शुद्ध, पापरहित अथवा तेजोमय, (चक्षुः) समस्त विश्वके प्रकाशक, नेत्रस्थानीय आप, (पुरस्तात्) पूर्वदिशामें, (उच्चरत्=उच्चरति) विश्वकल्याणके लिये उदित होते हैं। (शतं शरदः जीवेम)[१] हम आपकी सेवाके उद्देश्यसे सौ शरद् ऋतुओंतक अर्थात् सौ वर्ष जीवन धारण करें, (शतं शरदः शृणुयाम) सौ वर्षोंतक आपकी गुणगाथाका श्रवण करते रहें, (शतं शरदः प्रब्रवाम) सौ वर्षोंतक आपके पराक्रमोंका प्रवचन, पुनः-पुनः वर्णन या कीर्तन करें तथा अन्तमें, (शतं शरदः पश्येम) श्रवण, कीर्तन, आत्मनिवेदन आदिकी महिमासे नैसर्गिक प्रेमदशामें सौ वर्षोंतक आपका दर्शन करें, श्रवणादि साधनोंसे साध्य भगवद्दर्शनहेतु सहजानुरक्ति चिरकालस्थायिनी हो। आगे भक्त अपनी पूर्ण शरणागति, अनन्य निष्ठाका परिचय दे रहा है : (शतं शरदः अदीनाः स्याम) सौ वर्षोंतक हम किसीके सम्मुख दीनता न दिखावें। जब एकमात्र प्रभु ही दाता हैं, विश्वम्भर हैं, विश्वके बड़े-से-बड़े राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार सब उसीके द्वारके भिखारी हैं तो एक भिक्षुक दूसरे भिक्षुकसे क्या माँगे, क्यों माँगे ? अतः हम एक उसी प्रभुसे मनोरथ-पूर्तिकी प्रार्थना करें, अन्यसे नहीं। 'शतं शरदः' पद अर्थात् सौ वर्ष सुदीर्घकालके ही द्योतक हैं। किन्तु भक्तकी प्रार्थना है कि (भूयश्च शरदः शतात्) सौ वर्षोंसे भी अधिक कालतक यह अनन्य-शरणागति, साध्य-साधन-भावापन्न भक्तिकी धारा हमारे हृदयमें प्रवाहित होती रहे।

ईश्वरप्रेरित प्रारब्धके अनुरूप जीवन आदि क्रियाएँ स्वतःसिद्ध हैं, उनके लिये प्रार्थनाका विशेष महत्त्व नहीं है अतः श्रवण-कीर्तनादि भक्तिकी सतत स्थितिके लिये प्रभुसे प्रार्थना ही इस मन्त्रका प्रतिपाद्य है। प्राचीन भाष्यकारोंने उपर्युक्त दोनों मन्त्रोंकी अन्धत्व-बधिरत्वादि-दोष-निवारणपरक जो व्याख्याएँ की हैं वे चमत्कृतिशून्य होनेसे विशेष आदरणीय नहीं जान पड़तीं। अतलस्पर्श वेदरत्नाकरमें गहराईतक डुबकी लगानेपर ही आत्मनिवेदनादि बहुमूल्य चमत्कृतिपूर्ण भावरत्न अधिगत होते हैं।

---

१. शब्दक्रमसे अर्थक्रमकी प्रबलताके कारण पहले 'जीवेम', तदनन्तर 'शृणुयाम', 'प्रब्रवाम', 'पश्येम' पदोंकी व्याख्या की गई है।

भक्तिके नौ भेदोंके एक ही मन्त्रमें प्रतिपादित होनेके उदाहरण दो वेदमन्त्र ऊपर उद्धृत किए गए हैं। अब भक्तिके नौ भेदोंमें-से क्रमशः श्रवण आदि एक-एक भेदके दिग्दर्शक वेदवाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं।

श्रवण

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्। (ऋ० १-३२-१)

मैं मन्त्रद्रष्टा ऋषि इन्द्रके पराक्रमोंका प्रवचन करता हूँ।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम्। (ऋ० १-१५४-१)

विष्णुके पराक्रमोंका प्रवचन करता हूँ।

इन दोनों वेदवाक्योंमें 'नु' और 'कम्' पादपूरक निपात हैं। प्रवचन सदा श्रवण-सापेक्ष ही होता है। श्रोताके उपस्थित रहनेपर ही प्रवक्ता प्रवचनके लिये उत्साहित होता है। कोई सुननेवाला न हो तो प्रवचन निरर्थक, अरण्यरोदन ही होगा। अतः जहाँ-जहाँ 'वोचम्' 'वोचेम' आदि वक्तृत्वमूलक क्रियापद आए हों वहाँ-वहाँ 'शृणु' 'शृणुयाः' आदि श्रवणार्थक क्रियापदोंका अध्याहार करना ही होगा। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों वाक्योंका अर्थ यह हुआ कि 'मैं मन्त्रद्रष्टा ऋषि इन्द्र तथा विष्णुके पराक्रमोंका प्रवचन करता हूँ, साधकगण सुनें।' यदि लिङर्थ विवक्षित होगा तब यह अर्थ मानना होगा कि 'यदि आप लोग श्रवण करना चाहें तो मुझे अनुमति दें। मैं इन्द्रादिके पराक्रमोंका प्रवचन आरम्भ करूँ।'

पूरे ऋग्वेदमें 'वोचम्' पदका १९ बार तथा 'वोचेम' पदका ६ बार जहाँ-जहाँ प्रयोग हुआ है वे सब मन्त्र वचोभङ्गीसे नवधा भक्तिके प्रथम भेद श्रवणके ही प्रतिपादक हैं, क्योंकि प्रवचनका श्रवणसे नियत साहचर्य है।

कीर्तन

प्रवचनमें किसीके गुण-कर्मादिका अनेक प्रकारसे कथन ही अभिप्रेत होता है अतः कीर्तनको प्रवचनका पर्याय माना जाय तो अर्थकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस दृष्टिसे उपर्युक्त श्रवण-सम्बन्धी सभी वेदवाक्योंमें कीर्तनका सहज ही प्रतिपादन हो गया है, इसलिये वे सभी स्थल कीर्तनके भी स्पष्ट उदाहरण हैं। कीर्तन शब्दका दूसरा भी अर्थ है गुणगान। इस अर्थमें कीर्तनके निर्देशक कुछ स्थल वेदमें निम्नलिखित हैं:

गायन्ति त्वा गायत्रिणः। (ऋ० १-१०-१)
सुष्टुतिमीरयामि। (ऋ० २-३३-८)
बृहदिन्द्राय गायत। (ऋ० ८-८९-१)

इन्द्रमभि प्र गायत । (ऋ० ८-९२-१)
प्र गायत्रेण गायत । (ऋ० ९-६०-१)
प्र गायताभ्यर्चाम । (ऋ० ९-९७-४)

इन सबका अर्थ स्पष्ट ही है। अर्थका विचार करते समय एक बातका अवश्य ध्यान रहना चाहिए कि अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके नामसे सर्वत्र ईश्वरका ही ग्रहण अभिप्रेत है। इसका विशेष विवरण वेदोपदेशचन्द्रिकाके 'देवता-विचार'-शीर्षक लेख (पृ० ३७६) में दिया गया है। इस प्रसंगमें अथर्ववेदका निम्नलिखित मन्त्र विशेष महत्त्वका है जो अहर्निश भगवत्कीर्तनका सुस्पष्ट आदेश दे रहा है :

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि । आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥
(अथर्व० ६-१-१)

([1]आथर्वण !) हे एकाग्रचित्त साधक ! (दोषा उ गाय) रात्रिमें भी भगवान्‌के गुणोंका गान करो अर्थात् दिन-रात भगवत्कीर्तनका अनुष्ठान करते रहो। (बृहत् गाय) विशाल गान करो अर्थात् अकेले ही नहीं अपितु संकीर्तन-सम्मेलन आदिकी योजना बनाकर कीर्तन-मण्डलियोंके साथ मिलकर विशाल कीर्तन करो जिसकी ध्वनिसे धरती-आकाश गूँज उठें। (द्युमत्) तेजोमय सात्त्विक चित्तको, (धेहि) भगवान्‌में स्थापित करो अर्थात् जिह्वासे कीर्तन करते समय अपना चित्त भी भगवच्चरणारविन्दमें लगाए रहो। (सवितारम्) जगत्‌के उत्पादक अथवा प्रेरक, (देवम्) देवकी, परमात्माकी, (स्तुहि) स्तुति करो। इस मन्त्रमें 'गाय' और 'स्तुहि' क्रियापदोंसे भगवद्-यशोगान और भगवद्गुणानुकथन उभयविध कीर्तनका निर्देश किया गया है।

कार्ष्णिकलापाचार्य श्री स्वामी गोपालदासजी महाराजने भक्तिप्रकाशमें कीर्तनका लक्षण लिखा है : 'भगवतो यशोगानं रटनं वा मुहुर्मुहुः' अर्थात् भगवान्‌का यश गाना अथवा पुनः पुनः रटना यानी गुणानुकथन ही कीर्तन है।

स्मरण

वेदमाता गायत्रीका द्वितीय पाद ही स्मरणात्मिका भक्तिका सर्वोत्तम निदर्शन है :

भर्गो देवस्य धीमहि । (ऋ० ३-६२-१०)

१. थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः अथर्वन्नित्यतः स्वार्थिकोऽण् । अथर्वैवाथर्वणः तत्सम्बुद्धौ आथर्वणेति ।

(देवस्य) परमात्माके, (भर्गः) तेजोमय स्वरूपका, (धीमहि) ध्यान, चिन्तन यानी स्मरण करें।

पादसेवन

निम्नलिखित मन्त्रमें भगवच्चरणारविन्दका माहात्म्य द्योतित किया गया है जो मानवको उनके अर्चन या सेवनकी ओर प्रेरित करता है :

पदं देवस्य मीळ्हुषोऽनाधृष्टाभिरूतिभिः। भद्रा सूर्य इवोपदृक् ॥

(ऋ० ८-१०२-१५)

(मीळ्हुषः देवस्य) अभीष्ट पदार्थोंके वर्षक परमात्माका, (पदम्) चरण आराधनीय, सेवनीय है। तृतीयचरणोक्त 'भद्रा' शब्दका देहली-दीपक-न्यायसे लिङ्गव्यत्यय करके 'पदम्' के साथ भी अन्वय करनेपर आराधनीय या सेवनीय अर्थ ठीक बैठ जाता है। आगे भगवच्चरणके सेवनीय होनेमें हेतु प्रदर्शित किया गया है : क्योंकि वह भगवच्चरण (अनाधृष्टाभिः) शत्रुओंसे अनभिभूत, (ऊतिभिः) रक्षाओंसे युक्त है। तात्पर्य यह कि उसकी रक्षा, छत्रच्छायामें कोई भक्तका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। (उपदृक्) उस परमात्माका समीपसे दर्शन या साक्षात्कार, (सूर्यः इव) सूर्यके समान, (भद्रा) कल्याणका हेतु है। अथवा वह देव, परमात्मा सूर्यकी भाँति उपदृक्, उपद्रष्टा, प्राणिमात्रके शुभाशुभ कर्मोंका साक्षी है। गीतामें इसी भावसे परमपुरुष परमात्मदेवको उपद्रष्टा कहा गया है :

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

(१३-२२)

अर्चन

वेदमें अर्चनाके प्रतिपादक कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

अर्कमर्चन्तु कारवः। (ऋ० ८-९२-१९)

(कारवः) स्तोतृगण, (अर्कम्) अर्चनीय परमात्माकी, (अर्चन्तु) अर्चना, पूजा करें।

अर्चत प्रार्चत। (साम० पू० ४-२-३-३)

(अर्चत) साधकगण! आप लोग परमात्माकी अर्चा करें, (प्रार्चत) अतिशयतासे अर्थात् पूर्ण सावधानीसे, तन्मयतासे पूजा करें।

अर्चन्त्यर्कमर्किणः। (ऋ० १-१०-१)

(अर्किणः) अर्चात्मक मन्त्रोंके पाठक, पुजारी, (अर्कम्) पूजनीय

परमात्माकी, (अर्चन्ति) अर्चा करते हैं । तात्पर्य यह कि प्रभुके भक्त अर्चनामें विनियुक्त वेदमन्त्रोंसे विधिवत् अपने इष्टदेवका पूजन करते हैं । इसी प्रकार :

त्र्यम्बकं यजामहे (ऋ० ७-५९-१२)

यह अतिप्रसिद्ध मन्त्र भी अर्चन-भक्तिका उदाहरण है ।

वन्दन

वन्दन शब्द 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' (भ्वा० आत्मने० ११) धातुसे निष्पन्न होता है । 'वदि' धातुका अर्थ है अभिवादन यानी नमस्कार और स्तुति । स्तुति अर्थ माननेपर वन्दनका कीर्तनमें ही अन्तर्भाव हो जायगा । अतः नवधा भक्तिके प्रकरणमें वन्दनका अभिवादन या नमस्कार अर्थ ही ग्रहण किया गया है । वन्दन-भक्तिके वैदिक उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित मन्त्र देखिए जिसमें सीताकी वन्दना की गई है ।

हल जोतते समय खेतपर जो विदीर्ण रेखा बनती है वह सीता कही जाती है ('सीता लांगलपद्धतिः' अमरकोश) और इसीसे आविर्भाव होनेके कारण जगज्जननी जानकीका नाम भी सीता पड़ गया । वैदिक-स्तुति-प्रकरणमें जहाँ स्तुत्यके रूपमें जड़ पदार्थ सम्बोधित होते हैं वहाँ उनके अधिष्ठातृ-देवताका ग्रहण किया जाता है । तदनुसार यहाँ भी सीता शब्दसे भूमिपर पड़ी हुई उस रेखाकी अधिष्ठात्री देवीकी वन्दना की गई है ।

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ॥

(ऋ० ४-५७-६)

(सुभगे सीते !) हे सुरूपे सीतानामक देवते ! (अर्वाची भव) तुम हमारे अभिमुख होओ, हमारे अनुकूल बनो । (त्वा=त्वाम् वन्दामहे) हम तुम्हारी वन्दना करते हैं, (यथा=यतः) क्योंकि तुम, (नः) हमारी, (सुभगा असति) शोभनधनदात्री हो, तथा, (सुफला अससि) शोभनफलप्रदात्री हो । निष्कर्ष यह कि शोभन-धन-धान्य-प्राप्तिके निमित्त हम तुम्हें नमस्कार करते हैं । तुम्हारी कृपासे हमारी खेती फले-फूले, प्रचुर अन्न उत्पन्न हो, जिसके विनिमय-द्वारा हम स्वर्ण आदि भी प्राप्त करें । इसी प्रकार वेदके सभी नमस्कार-बोधक मन्त्र वन्दन-भक्तिके उदाहरण हैं ।

शुक्लयजुर्वेदके 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' (१६-१) से 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्याम्' (१६-६६) तकके सभी मन्त्र वन्दन-भक्तिके ही प्रतिपादक हैं । प्रसंगवश यहाँ इन मन्त्रोंका स्वल्प परिचय भी दे देना उचित है ।

इस प्रकरणमें आए मन्त्र दो प्रकारके हैं। कुछ उभयतोनमस्कारात्मक हैं, कुछ अन्यतरतोनमस्कारात्मक। जहाँ नन्तव्यदेवतावाचक पदद्वयके पूर्व और देवतावाचक तृतीय पदके पश्चात् नमः शब्द प्रयुक्त है वे उभयतोनमस्कारात्मक मन्त्र हैं। 'नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमः' (शु० यजु० १६-२१) यहाँ 'वञ्चते' और 'परिवञ्चते' इन दोनों पदोंसे पूर्व तथा तृतीय नाम 'स्तायूनां पतये' के पश्चात् 'नमः' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'वञ्चते' पद यहाँ 'परिवञ्चते' का विशेषण है अतः रुद्रद्वय ही मन्त्रका प्रतिपाद्य है, रुद्रत्रितय नहीं। जहाँ यजुर्द्वयके आरम्भमें ही नमः शब्द निर्दिष्ट है वे अन्यतरतोनमस्कारात्मक मन्त्र कहे जाते हैं। 'नमः शंभवाय च मयोभवाय च' (शु० यजु० १६-४१) यहाँ केवल आरम्भमें ही नमः शब्दका प्रयोग है अतः शंभव और मयोभव रुद्रयुगल अन्यतरतोनमस्कार्य हैं।

शुक्लयजुर्वेदके सोलहवें रुद्राध्यायमें नौ अनुवाक हैं जिनमें क्रमशः १६, ५, ५, ५, ५, ४, १, ५, २० कण्डिकाएँ हैं। सत्रहवींसे सत्ताईसवींतक ११ कण्डिकाओंमें कुल ८८ रुद्रोंका वर्णन है, क्योंकि प्रत्येक कण्डिकामें ८-८ रुद्र वर्णित हैं। अट्ठाईसवीं कण्डिकाके दो आरम्भिक रुद्र—'नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमः' और छियालीसवीं कण्डिकाके सप्तम-अष्टम—'नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः' इन चारोंका ८८ में योग करनेपर उभयतोनमस्कार्य ९२ रुद्र होते हैं। उन्तीसवींसे पैंतालीसवींतक १७ कण्डिकाओंमें प्रत्येकमें ८ के क्रमसे कुल १३६ रुद्र वर्णित हैं। अब अट्ठाईसवीं कण्डिकाके अन्तिम ६ तथा छियालीसवींके आरम्भके ६, कुल १२ का १३६ में योग करनेपर १४८ अन्यतरतोनमस्कार्य रुद्र सिद्ध होते हैं। निष्कर्ष कि शुक्लयजुर्वेदके 'नमो हिरण्यबाहवे' (१६-१७) से 'धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः' (१६-४६) तकके मन्त्रोंमें २४० यजु एवं उनके प्रतिपाद्य उतने ही रुद्र हैं। छियालीसवीं कण्डिकाके अन्तमें 'नमो वः किरिकेभ्यः' आदि जो ४ यजु हैं उनके प्रधान प्रतिपाद्य अग्नि-वायु-सूर्यात्मक रुद्रदेवता ही हैं। चालीसवीं कण्डिकामें १० तथा इकतालीसवींमें ६ रुद्रोंका प्रतिपादन है, फिर भी प्रत्येक कण्डिकामें अनुपात ८-८ का ही है।

इस प्रकार इस अध्यायमें द्विविध नमस्कारोंकी परम्परा वन्दन-भक्तिकी वृष्टिधारा दृग्गोचर होती है।

दास्य

दास्य भक्तिका वैदिक उदाहरण निम्नलिखित है :

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥

(ऋ० ८-९३-४)

(वृत्रहन्!) स्वरूपाच्छादक अज्ञानके विनाशक, (सूर्य !) हे सूर्यात्मक, (इन्द्र !) परमेश्वर ! (अद्य) सृष्टिकालमें, (यत् कच्च अभि) जिस किसी पदार्थके अभिमुख या समक्ष, (उदगाः) आप उदित होते हैं, (तत् सर्वम्) वह समस्त पदार्थ, भवदुद्भासित विश्व, (ते वशे) आपके वशीभूत है। भाव यह कि आप विश्वके स्वामी हैं, मैं उस विश्वके अन्तर्गत हूँ अतः आपका सहज दास हूँ। दीनबन्धो ! मुझपर दया करके मेरे अज्ञानका नाश करें ताकि मैं संसार-बन्धनसे मुक्त हो सकूँ। इसी भावका सूचक भगवान्का 'वृत्रहन्' विशेषण यहाँ दिया गया है। भगवत्कृपासे स्वात्मदर्शन होनेपर जब अज्ञान नष्ट होता है तभी भक्त संसार-बन्धनसे मुक्त हो पाता है।

सख्य

अस्य प्रियासः सख्ये स्याम। (ऋ० ४-१७-९)

(प्रियासः=प्रियाः) प्रेमास्पद हम, (अस्य) इस परमात्माके, (सख्ये) मैत्रीभावमें, (स्याम) स्थित हों अर्थात् हम ईश्वरके प्रिय विश्वसनीय सच्चे मित्र बनें।

देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्। (ऋ० १-८९-२)

(वयम्) हम साधक-गण, (देवानाम्) सर्वदेवमय प्रभुके, (सख्यम्) सख्यभावको, मित्रताको, (उपसेदिम) प्राप्त हैं अर्थात् सर्वदेवात्मक भगवान्के हम सच्चे मित्र बन चुके हैं अतः अब हमें भव-बन्धनका कोई भय नहीं है।

आत्मनिवेदन

स नो जीवातवे कृधि। (ऋ० १०-१८६-२)

(सः=त्वम्) वह आप अर्थात् पूर्वोक्त-गुण-विशिष्ट, हमारे सर्वस्व प्रभो ! (नः) हमें, (जीवातवे) जीवनके हेतु, एकमात्र परम लक्ष्य, अपनी सेवाके लिये, (कृधि) स्वीकार करें। यहाँ साधक प्रभुकी सेवाके लिये अपनेको समर्पित कर रहा है। सच्चा भक्त प्रभुकी सेवाके लिये ही जीवित रहता है। भगवत्सेवामें जीवनके उपयोगकी सम्भावना मिटते ही वह प्राणोत्सर्ग कर देता है। एक प्रसिद्ध किंवदन्ती है कि पतिप्राणा देवी पद्माने राजभृत्य-द्वारा अपने प्राणनाथ पतिदेव जयदेवकी मृत्युका समाचार पाते ही तत्क्षण प्राणोंका परित्याग कर दिया। आत्मनिवेदनका इससे श्रेष्ठ और क्या उदाहरण हो सकता है ! आत्मनिवेदनका ही नामान्तर शरणागति है जिसका उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद्में है: 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (६-१८)।

नवधा भक्तिका आचरण साधक अवस्थामें होता है। उस समय प्रभुमें साधकका प्रेम वैध होता है। माता, पिता, गुरुजन, शास्त्र आदिका आदेश विधि है। उससे प्रेरित होकर, न चाहते हुए भी साधक विवश होकर भगवान्‌की अर्चा—वन्दना करता है। इसीलिये शास्त्रोंमें नवधा भक्तिको वैधी भक्ति माना गया है। इसके निरन्तर अभ्याससे परिपक्व दशामें प्रभुके प्रति नैसर्गिक प्रेम उत्पन्न हो जाता है। जैसे नदियोंका समुद्रकी ओर, पतंगका दीपककी ओर, चकोरका चन्द्रके प्रति तथा चातकका मेघके प्रति सहज आकर्षण होता है वैसे ही प्रभुके चरणोंमें स्वाभाविक प्रेमका उदय नैसर्गिक भक्ति या भगवदनुरक्ति है।

साधन दशामें जिन दास्य-सख्यादिकी गणना की गई है, वे सब सतत-अभ्यास-वश परिपक्व हो जानेपर नैसर्गिक प्रेमसे सम्बद्ध दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, इन चार प्रधान भावोंमें समाविष्ट हो जाते हैं। इन चारोंके मूलमें वैराग्यातिरेक-परिपुष्ट शान्त भाव रहा करता है। जैसे पाँचों भूतोंके शब्दादि विशेष गुण उत्तरोत्तर अपने कार्यभूतोंमें संक्रान्त होते हैं, क्योंकि कारण-गुणोंका कार्यमें संक्रान्त होना दार्शनिक सिद्धान्त है, तदनुसार आकाशका शब्दगुण वायुमें, वायुका स्पर्श तेजमें, तेजका रूप जलमें, जलका रस पृथिवीमें संक्रान्त होता है, पृथिवीका अपना गुण केवल गन्ध है, उसमें रहनेवाले शेष चार गुण कारणभूतोंकी देन हैं। इसी प्रकार शान्तभावका निज गुण विषयतृष्णात्याग दास्यमें, दास्यका सेवा सख्यमें, सख्यका संकोचाभाव वात्सल्यमें और वात्सल्यका ममतातिरेक मधुर-भाव (कान्ताभाव) में समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार मधुरभावमें उसके निजगुण एकप्राणताके अतिरिक्त पूर्वोक्त भावोंके विषय-वैतृष्ण्य, सेवा, निःसंकोचता और ममतातिरेक भी समाविष्ट रहते हैं। मधुरभावमें पाँचों गुणोंका एक साथ समावेश होनेके कारण भावुक भक्तोंकी दृष्टिमें ही नहीं, भगवान्‌की दृष्टिमें भी वह भाव सर्वोच्च माना गया है। इसीलिये गोपियोंका प्रेमराज्यमें सर्वोच्च स्थान है।

अब पाठकोंकी जानकारीके लिये क्रमशः उन शान्तादि भावोंके वैदिक उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

शान्त-भाव

शान्त-भावके प्रतिपादक निम्नलिखित वेदमन्त्रमें गर्भस्थ प्राणीकी दयनीयताका हृदयावर्जक चित्र प्रस्तुत किया गया है :

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥
(ऋ० १-१६४-३२)

(यः) जो पुत्राभिलाषी पिता, (ईम्=एनम्) इस गर्भको, (चकार=करोति) उत्पन्न करता है अर्थात् पत्नीके उदरमें शुक्रनिक्षेप-द्वारा गर्भधारण कराता है, तथा, (यः) जो कुटुम्बीजन, (ईम्=एनम्) इस गर्भको, (ददर्श=पश्यति) उदर-वृद्धि आदि लक्षणोंसे देखता है अर्थात् जानता है कि यह देवी सगर्भा है, (न सः अस्य वेद) वह यानी वे दोनों इस गर्भस्थित जीवकी रहस्यपूर्ण स्थितिको नहीं जानते अर्थात् उन्हें इसकी व्यथाका कोई ज्ञान नहीं होता। (तस्मात्) उस गर्भोत्पादक पिता और गर्भानुमापक कुटुम्बीजनसे, (सः) वह गर्भस्थ जीव, (हिरुक् इत् नु) पृथक् या अन्तर्हित ही है, इसमें सन्देह नहीं। भाव यह है कि गर्भमें जीवका शरीर उलटा लटका रहता है। उसके पैर ऊपर तथा सिर नीचेकी ओर रहता है। इस स्थितिमें वह गर्भावरक चर्ममय पतली झिल्लीसे गठरीके समान आवेष्टित रहता है। उसके सुकोमल शरीरको गर्भकीटोंका दंशन तथा मातृभुक्त कट्वम्ल-लवण आदि रसोंकी तीक्ष्णता एवं दाह सहना पड़ता है। किसीसे कहनेपर दुःख कुछ हल्का पड़ जाता है किन्तु वहाँ उसे इसका भी अवसर नहीं। न वाणी है, न कोई श्रोता ही। अतः अत्यन्त खिन्न होते हुए इस वेदनातिशयसे मुक्त होनेके लिये वह मन ही मन भगवान्से प्रार्थना करता है : हे प्रभो ! जिन लोगोंको सुख पहुँचानेके लिये मैंने अनेक कुकर्म करके धन कमाया वे सब सुखके ही साथी निकले। इस समय अपने दुष्कर्मोंका दण्ड मैं अकेला भोग रहा हूँ। इस दुःखसागरका कोई पारावार नहीं दिखाई पड़ता। दयानिधे ! मुझे क्षमा करें। इस मल-मूत्रके भण्डारसे बाहर निकाल दें। अब पहले-जैसी भूल न करूँगा। यहाँसे छूटकर केवल भगवत्सेवा एवं ब्रह्मचिन्तन ही जीवनका व्रत बना लूँगा, इत्यादि। गर्भावस्थामें जीवकी इस यातना, पश्चात्ताप तथा क्षमायाचनासे उसके पिता तथा कुटुम्बीजन सर्वथा अपरिचित रहते हैं इसलिये जीवको इन सबसे पृथक् अथवा गुप्त कहा गया है। इसके अनन्तर जीवकी आगेकी दशाका वर्णन है : (सः) वह जीव, (मातुः योनौ अन्तः) माताके गर्भमार्गके भीतर, (परिवीतः) जरायु एवं मल-मूत्रादिसे वेष्टित रहता है किन्तु परमदयालु परमात्माकी कृपासे गर्भसे बाहर आनेके पश्चात् फिर भी, (बहुप्रजाः) अनेक जन्मोंको प्राप्त करता है अर्थात् भगवद्भजन छोड़कर फिर ऐसे दुष्कर्म करता है जिनके फलस्वरूप अनेक योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है अथवा स्वयं बहुत-से पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न करके उनके भरण-पोषणादिमें निमग्न हो जाता है और प्रभुका चिन्तन छोड़कर, (निर्ऋतिम् आविवेश) महान् दुःखको प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त मन्त्रमें गर्भवासकालकी एकान्त यातना, लोकमें पुत्र-कलत्र-परि-

वारादिके निमित्त दुष्कर्म-सम्पादन, दारिद्रय-कलहादि अनिष्ट-भोग तथा मृत्युके उपरान्त अनेक योनियोंमें जन्म इत्यादि कष्टोंसे त्राण पानेके हेतु सांसारिक पदार्थोंको तुच्छ समझकर उनसे उपरति एवं भगवदाराधनके प्रति उन्मुखता ही शान्त भाव है।

इस दशाको प्राप्त भक्तके सहज उद्गार इस रूपमें व्यक्त होते हैं: 'किं तया चिन्तया चिन्तयामो हरिम्' अर्थात् सांसारिक विषयोंकी चिन्तासे क्या लाभ? अब तो हम हरिका चिन्तन करें। 'असारे खलु संसारे सारं संराधनं हरेः' अर्थात् संसार असार है, विषय-चिन्तन विष-लता है अतः अब तो मैं पापापहारी वृन्दावन-विहारी दयालु परमात्माकी आराधना-नौकाके सहारे संसार-सागरसे पार होने-का प्रयास करूँगा। संसारमें इतना ही सार है। संसारका कोई प्रलोभन अब उसके मार्गमें बाधा नहीं डाल सकता। वह मुक्तकण्ठ उद्घोषित कर देता है:

आस्तामकण्टकमिदं वसुधाधिपत्यं त्रैलोक्यराज्यमपि नैव तृणाय मन्ये।

अर्थात् पड़ा रहे यह सारी धरतीका निष्कण्टक आधिपत्य! मैं तो त्रिलोकीका राज्य भी तृण-तुल्य नहीं समझता।

अब भक्तकी लालसा यह रहती है कि

संस्मृत्य संस्मृत्य तदद्भुतं द्वयं द्वैतं जगद् विस्मृतिमेतु मेऽखिलम्।

उस अलौकिक इष्टदेवता-युगलका स्मरण कर-करके मेरी सारी द्वैतजगत्की भावना विस्मृत हो जाय।

भक्तोंकी बात निराली है। ज्ञानी जहाँ अद्वैतके चिन्तन-द्वारा द्वैतकी विस्मृति प्राप्त करते हैं वहाँ भगवद्भक्त द्वैतकी निवृत्तिके लिये द्वैतका ही सतत स्मरण करते हैं। भक्तोंकी साधना तर्कगम्य नहीं होती। तभी तो कठोपनिषद्का कथन है: 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (१-२-९) अर्थात् भगवान्के विषयमें भक्तोंकी विश्वासप्रधान धारणा न तो तर्कसे प्राप्य है, न तर्कसे निराकरणीय। प्रेमी भक्तोंकी भावनातक तर्कनाशक्तिकी पहुँच ही सम्भव नहीं है: 'सुन्दर कोउक जानि सकै, यह गोकुल गाँवको पैंड़ो ही न्यारो।'

दास्य-भाव

निम्नलिखित मन्त्रमें दासकी उपमा-द्वारा दास्य-भावका सुरम्य प्रतिपादन किया गया है:

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति॥

(ऋ० ७-८६-७)

(अहम्) मैं साधक, (दासः न) दासकी भाँति, (मीळ्हुषे) अभीष्ट-वर्षक, (भूर्णये) जगत्के पालक, (देवाय) परमात्माकी प्रसन्नताके लिये, (अरम्=अलम्) पर्याप्त, (कराणि) पाद्य-अर्घ्य-आचमनीय-स्नान-चंदन-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य आदि षोडश उपचारोंसे विधिवत् परिचर्या, सेवा करूँ। उनकी कृपासे, (अनागाः) पापरहित बनूँ अर्थात् भगवत्पूजासे अनेकजन्मार्जित पापोंका क्षय हो। (अर्यः) विश्व-स्वामी, (देवः) अभीष्ट-दानादि-गुण-युक्त प्रभु, (अचितः) हम अज्ञानी जीवोंको, (अचेतयत्=चेतयतु) ज्ञानी बनावें, अथवा (अचितः) जड़ पाषाण आदिको प्राण-प्रतिष्ठा किये जानेपर, (अचेतयत्=चेतयति) अपने सान्निध्यसे चेतनतुल्य बनाते हैं। निष्कर्ष यह कि पाषाण आदिकी जड़ प्रतिमाएँ प्राण-प्रतिष्ठा-द्वारा प्रभुके सन्निधानसे चेतन-तुल्य पूजनीया बन जाती हैं। (कवितरः) महाप्राज्ञ, निरतिशय-सर्वज्ञ परमेश्वर, (गृत्सम्) स्तोताको, (राये) धन-प्राप्तिके निमित्त, (जुनाति—'युञ् बन्धने' क्र्यादिः १४८०, जकारश्छान्दसः) समीचीन साधनोंके साथ बाँधते हैं अर्थात् धनप्राप्तिके अनुष्ठानकी प्रेरणा करते हैं।

सख्य-भाव

सख्य-भावकी वेद-प्रतिपाद्यताके लिये निम्नलिखित वैदिक वाक्य द्रष्टव्य हैं :

स न इन्द्रः शिवः सखा । (ऋ० ८-९३-३)

(सः) वह, (इन्द्रः) परमेश्वर, (नः) हमारा, (शिवः) कल्याण-कारी, (सखा) मित्र है।

इन्द्रो मुनीनां सखा । (ऋ० ८-१७-१४)

(इन्द्रः) परमेश्वर, (मुनीनाम्) चतुर्थाश्रमी उदासीन[1] महात्माओंका, (सखा) मित्र है।

---

१. त्रेतायुगमें चतुर्थाश्रमी महात्माओंकी यति और मुनि नामसे दो शाखाएँ हो गईं। यति त्यागी थे, मुनि कर्मयोगी। यतियोंके नेता दत्त थे, मुनियोंके दुर्वासा। मुनि शाखाका ही दूसरा नाम उदासीन सम्प्रदाय है। उदासीन महात्मा जनताको यज्ञ-यागादिकी ओर प्रेरित करते थे, जब कि यति-गण समाजको कर्मानुष्ठानसे रोकते थे अतः देवराज इन्द्र यतियोंके विरोधी तथा मुनियोंके मित्र बन गए। अन्तमें यतिवर्गमें त्यागके नामपर अकर्मण्यताका बोलबाला हो गया अतः कर्मयोगके आचार्य योगेश्वर श्रीकृष्णने यतियोंके नेता अपने पूर्वज राजा यदुके गुरु दत्तको कुलगुरु होनेपर भी त्याग दिया

मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः । (ऋ० १०-१३६-४)

(सौकृत्याय) शोभन-कर्मानुष्ठान या निष्काम कर्मयोगके प्रचारके लिये, (हितः) समाहित, कृतनिश्चय अथवा अपने आचार्य दुर्वासा मुनिद्वारा नियुक्त, (मुनिः) चतुर्थाश्रमी मुनि-वर्ग, इन्द्रका ही नहीं अपितु, (देवस्य देवस्य) समस्त देवोंका अथवा यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णुका, (सखा) मित्र बन गया । मन्त्रमें षष्ठयन्त देव शब्दकी द्विरुक्ति विष्णुकी सर्वदेवमयताकी सूचक है ।

वात्सल्य-भाव

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥

(ऋ० १-१-९)

(अग्ने !) हे दैत्यदावानल ! अथवा अविद्यादाहक, प्रकाशस्वरूप, मायापते परमात्मन् ! (सः) वह आप, (नः) हमारे लिये, (सूनवे पिता इव) पुत्रोंके लिये पिताके समान, (सूपायनः भव) सुप्राप, सुलभ या शोभन-उपहार-युक्त हों । भाव यह कि जैसे पिता प्रवासी होकर भी पुत्रको नहीं भूलता, उसके लिये नाना प्रकारके उपहार—खिलौने, खाने-पीनेकी वस्तुएँ आदि लेकर उसके पास आता है, उसीके लिये अपने समस्त वैभवका उदारतापूर्वक उपयोग करता है, उसी प्रकार हे प्रभो ! आप भी हमें सांसारिक सुखोपभोगके लिये विविध भोग्य सामग्री प्रदान करें । केवल भुक्ति ही नहीं, अपितु भृगुके पिता वरुणकी भाँति ब्रह्मविद्याके उपदेशद्वारा, (नः) हमारे, (स्वस्तये) कल्याणके लिये, जन्म-मरणाभाव या मुक्तिके लिये, (सचस्व) समवेत या सन्नद्ध रहें । तात्पर्य यह कि आप भुक्ति-मुक्ति दोनोंके प्रदाता हैं, पिता हैं अतः हम बच्चोंको भुक्तिके साथ मुक्ति भी प्रदान करें ।

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

(ऋ० ७-३२-२६)

(इन्द्र !) हे परमेश्वर ! आप, (पिता यथा पुत्रेभ्यः) पुत्रोंके लिये पिताके समान, (नः) हमारे लिये, (क्रतुम्) कर्म या प्रज्ञानका, (आभर) सम्पादन करें । (नः शिक्ष=देहि) हमें धन प्रदान करें । (अस्मिन् यामनि) इस यज्ञमें, (पुरुहूत !) अनेक यजमानोंसे आमन्त्रित प्रभो ! (जीवाः) हम

और मुनिशाखाके नेता दुर्वासाके शिष्य बन गए । विस्तृत विवरणके लिए देखें : श्रौतमुनिचरितामृत, उत्तरार्ध, पंचम प्रवाह, पृष्ठ ३४ पर यति और मुनि शब्दोंपर संस्कृत टिप्पणी एवं शाखा-द्वैविध्यका हिन्दी विवरण ।

जीव, (ज्योतिः) स्वप्रकाश ब्रह्मतत्त्वको, (अशीमहि) व्याप्त करें अर्थात् तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा ब्रह्मभावको प्राप्त करें।

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ।

(ऋ० ६-१-५)

(तरणे !) हे तारक प्रभो ! (त्वं त्राता) आप हमारे रक्षक हैं, एवं, (मानुषाणाम्) मनुष्य-मात्रके, (सदमित्) सदैव, जन्म-जन्मान्तरोंमें, (पिता-माता) पिता-माता हैं, अतः, (चेत्यः भूः) चिन्तनीय, अवश्य ज्ञातव्य हैं।

यहाँ प्रभुके वात्सल्य-भावके निरूपणमें एक महत्त्वकी बात समझनेयोग्य है। विश्वके सभी आस्तिक व्यक्ति यह मानते हैं कि ईश्वर परमदयालु और न्यायी है। किन्तु दयालुता और न्यायप्रियता दोनों परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं। ये दोनों एक साथ एक आधारपर कैसे रह सकते हैं ? इसका एक ही समाधान है कि भगवान् भक्तवत्सल हैं। गौका वत्सके प्रति जो भाव होता है वही वत्सलता शब्द-का अर्थ है। वत्सका अर्थ है बछड़ा। गौका स्वाभाविक नियम है कि वह भूखी भले ही मर जाय किन्तु घासमें गोबर लगा हो तो उसे नहीं खा सकती। वही गौ नवप्रसूत बछड़ेके गोबरलिप्त शरीरको अपनी जीभसे चाट-चाटकर स्वच्छ कर देती है। भगवान्‌का भक्तके प्रति यही भाव रहता है। एक ही नारीमें भ्राता, पुत्र, पति आदिके प्रति भगिनीत्व, मातृत्व, पत्नीत्व आदि अनेक भावोंकी सत्ता सर्वानुभूत है। इसी प्रकार कर्मठ सकाम भक्तके लिये प्रभु न्यायकारी एवं वत्सकल्प निष्काम भक्तके लिये परमदयालु, दयानिधान हैं।

मधुर-भाव

पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा ।

(ऋ० ६-३६-४)

हे जगदीश्वर ! आप, (जनानाम्) समस्त प्राणियोंके, (असमः पतिः बभूथ) असाधारण पति हैं, और, (विश्वस्य भुवनस्य) सम्पूर्ण, चतुर्दश भुवनोंके, (एकः राजा) अद्वितीय शासक भी हैं।

पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ।

(ऋ० १०-१४९-४)

(पतिः जायाम् इव) पति जैसे पत्नीसे मिलने जाता है उसी प्रकार, (नः अभि) हम प्रिय भक्तोंके समक्ष, (दिवः धर्ता) त्रिलोकीके धारक, (सविता) प्रेरक, सर्वान्तर्यामी, (विश्ववारः) विश्व-वरणीय, विश्ववन्द्य परमात्मा, (नि एतु=एति) निरन्तर जाते हैं अर्थात् पतिस्थानीय प्रभु जाया-

स्थानीय भक्त जीवको आलिंगनद्वारा तृप्त करनेके लिये अविलम्ब उसके पास उपस्थित हो जाते हैं।

मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥ (ऋ० ३-३३-१०)

(कन्या मर्यायि इव) जैसे कन्या पुरुष, पतिके आलिंगनके लिये सदा नत[1] रहती है अर्थात् उत्सुक रहती है इसी प्रकार हम नदीस्थानीय साधक, (ते शश्वचै) समुद्रस्थानीय आपसे संगमके लिये निरन्तर नत हैं, उत्सुक हैं अर्थात् हम साधकोंका मन सदा आपसे संगमनके निमित्त उत्कण्ठित रहता है।

उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋ० १०-७१-४)

(उत उ) अपि च, (सुवासाः पत्ये उशती जाया इव) सुन्दर वस्त्रादिसे सज्जित तथा पतिके लिये उत्सुक पत्नी जैसे पतिके लिये, (तन्वं विसस्रे) अपने शरीरको विस्रस्त या विवृत कर देती है, पति-सेवाके लिये अपना शरीर अर्पित कर देती है उसी प्रकार वाग्देवी[2] भगवती श्रुति, (त्वस्मै) एक परमात्माकी सेवाके लिये अपना शरीर प्रस्तुत कर देती है। गोपी-विग्रह-धारण कर श्रीकृष्णकी सेवामें श्रुतियोंके उपस्थित होनेका श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें स्पष्ट वर्णन है।

भक्तिकी प्रसादनिष्ठा, धामनिष्ठा, सेवानिष्ठा आदि अनन्त निष्ठाएँ हैं किन्तु उनमें नामनिष्ठा और रूपनिष्ठा, ये दो प्रमुख हैं। नामनिष्ठा निम्नलिखित दो वेदमन्त्रोंमें प्रदर्शित है :

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥

(ऋ० ३-३७-३)

(शतक्रतो !) हे अनन्तप्रज्ञ ! सर्वज्ञ ! (इन्द्र !) हे ईश्वर ! (आभिमातिषाह्ये) मनुष्य, सिंह, व्याघ्र आदि बाह्य शत्रु तथा काम-क्रोध आदि आन्तर शत्रु, इनके अभिभवके लिये, हम, (ते नामानि) आपके नामोंको, (विश्वाभिः गीर्भिः) वैखरी आदि समस्त वाणियोंसे, (ईमहे) उच्चारण करनेको उत्सुक हैं।

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे। विप्रासो जातवेदसः ॥

(ऋ० ८-११-५)

---

१. मन्त्रके तृतीय चरणसे अनुवर्तमान 'निनंसै' पदका अर्थ नत है।

२. मन्त्रके पूर्वार्धसे अनुवर्तमान 'वाचम्' पदका अर्थानुरोधसे विभक्तिविपरिणाम मानकर 'वाक्' अर्थ किया गया है।

(मर्ताः) मरणधर्मा, (विप्रासः) हम मेधावी साधक, (जातवेदसः) जातप्रज्ञ, सर्वान्तर्यामी, (अमर्त्यस्य) अविनाशी, (ते नाम) आपके नामका, (भूरि) अतिशय, अथवा (भूरि नाम) सर्वबाधा-निवर्तक असंख्य नामोंका, (मनामहे) अभ्यास यानी पुनः-पुनः उच्चारण करते हैं।

भगवन्नामजपकी महिमा निःसीम है। तभी तो गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है: 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (१०-२५)। नामजपके प्रभावसे ही अग्नि प्रह्लादको नहीं जला सका। पर्वतसे गिराए जानेपर भी उसे चोट नहीं आई। पिताने प्रह्लादसे इसका कारण पूछा तो उसने स्पष्ट कह दिया: 'रामनाम जपतां कुतो भयम्' अर्थात् रामनाम जपनेवालोंको भय कैसा! वशिष्ठके शापवश राक्षस बने हुए राजा सौदासके अनुचरोंने विश्वामित्रके प्रोत्साहित करनेपर जब वशिष्ठ-के पुत्र शक्तिको प्रज्वलित दावाग्निमें फेंक दिया तो वह इन्द्रके नामका जप करने लगा। फलतः अग्नि उसे नहीं जला सका।[1]

रूपं रूपं मघवा बोभवीति। (ऋ० ३-५३-८)

(मघवा) ऐश्वर्यसम्पन्न, विश्वम्भर भक्तकी भावनाके अनुरूप, (रूपं रूपम्) नृसिंहादि अनन्त रूपोंको, (बोभवीति[2]) पुनः-पुनः प्राप्त होते हैं। भाव यह कि भक्त जिस समय जिस रूपमें दर्शन करना चाहे उस समय उसी रूपमें प्रकट होकर प्रभु भक्तका मनोरथ पूर्ण करते हैं।

अब रूपनिष्ठाकी ओर भी संकेत करनेवाले वैदिक मन्त्र देखें:

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।

(ऋ० ६-४७-१८)

(रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव) जब-जब जैसा-जैसा व्यापादनीय रूप धारण करके अनिष्ट सत्त्व रावण, हयग्रीव आदि दैत्य भक्तोंको कष्ट देते हैं तब-तब प्रभु वही रूप धारण कर लेते हैं जिस रूपसे उसका वध सम्भव हो। (तद् रूपम्) भगवान्का वह रूप, (अस्य) भक्तके, (चक्षणाय) दर्शनके लिये होता है। तात्पर्य यह कि निराकार रूपका ध्यान-स्मरण आदि शक्य नहीं है अतः भगवान् भक्तोंके इच्छानुसार सगुणरूप धारण कर उनके सम्मुख प्रकट हो जाते हैं जिससे वे उस रूपका स्मरण-ध्यानादि कर सकें और ध्यानकी परिपक्व दशामें निरन्तर अपने इष्टदेवकी झाँकी प्राप्त करते रहें। वृन्दावनमें तुलसीदासजीकी इच्छा

---

१. इस कथाका संकेत ऋग्वेद ७-३२-२६ में है। बृहद्देवतामें भी इसका वर्णन है। विशेष विवरणके लिये देखें वेदोपदेशचन्द्रिका, पृष्ठ २५४, श्लोक ७३।

२. भू प्राप्तावात्मनेपदी (चु० १८४५), यङ्लुकि रूपम्।

पूरी करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णका रामरूपमें प्रकट हो जाना प्रसिद्ध ही है। जब लौकिक पिता अपने पुत्रकी अभिलाषा पूर्ण करनेमें कोई बात उठा नहीं रखता तो परमपिता परमात्मा पुत्रसे भी अधिक प्रिय भक्तकी इच्छा पूर्ण करनेमें कैसे विलम्ब कर सकते हैं।

ऊपर नामनिष्ठा और रूपनिष्ठाके निरूपक पृथक्-पृथक् वेदमन्त्रोंका निर्देश किया गया है। निम्नलिखित मन्त्रमें सम्मिलितरूपसे भी दोनों निष्ठाओंकी ओर संकेत प्राप्त होता है:

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश[1] ॥

(ऋ० ४-५८-३)

इस मन्त्रमें 'द्वे शीर्षे' वाक्यसे उपर्युक्त दोनों निष्ठाओंकी ओर ही निर्देश है। 'चत्वारि शृङ्गा' से अभिप्राय है शृङ्गवत् उत्कृष्ट दास्य आदि प्रधानतम चार भावोंका। 'त्रयो अस्य पादाः' त्रिविध शरणागतिका सूचक है। त्रिविध शरणागतिका स्वरूप है:

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः ॥

(गी० मधुसूदनी व्याख्या १८-६६)

गीताके 'मामेकं शरणं व्रज' (१८-६६) श्लोककी मधुसूदनी व्याख्यामें इस त्रिविध शरणागतिका सर्वांगसुरम्य विवेचन द्रष्टव्य है। 'सप्त हस्तासः' से भक्ति-साधनामें अपेक्षित सप्त प्राण[2] यानी सप्त इन्द्रियाँ अभिप्रेत हैं। प्राण शब्द यहाँ इन्द्रियार्थक है। शीर्षण्य इन्द्रियाँ यद्यपि श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, वाक्, ये चार ही हैं किन्तु गोलकगत संख्याकी दृष्टिसे यानी श्रोत्रद्वय, चक्षुर्द्वय, घ्राणद्वय तथा मुख, इस प्रकार गणना मानकर सप्त संख्याका निर्देश है। हस्त शब्द यहाँ इन्द्रियों-का ही उपलक्षण है। 'त्रिधा बद्धः' का इङ्गित भक्तिके वास्तविक स्वरूप, स्नेह, श्रद्धा, अनुराग, इनकी त्रिवेणीकी ओर है। जैसे गंगाकी तीन धाराएँ हैं—१. ऊर्ध्वगामिनी स्वर्गस्थिता मन्दाकिनी, २. समगामिनी धरास्थिता भागीरथी तथा ३. अधोगामिनी पातालस्थिता भोगवती। वैसे ही प्रेमकी भी तीन

---

१. इस मन्त्रकी छह दर्शन, भक्ति, धर्मशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, अग्नि, सूर्य, इन एकादश पक्षोंके अनुसार व्याख्या वेदोपदेशचन्द्रिकामें पृष्ठ ५६६ से ५७२ तक द्रष्टव्य है।

२. 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मुण्डको० २-१-८)।

धाराएँ हैं: १. ऊर्ध्वगामिनी माता-पिता-गुरुजनादिके प्रति प्रेमधारा श्रद्धा, २. समगामिनी पति-भ्रातृ-मित्रादिके प्रति प्रेमधारा अनुराग तथा ३. निम्न-गामिनी पुत्र-भृत्यादिके प्रति प्रेमधारा स्नेह। प्रेमसमुद्रमें बहती हुई जीवनतरणी जब चुम्बकपर्वतस्थानीय प्रभुके सन्निकट पहुँचती है तो उस नौकामें लगी श्रद्धा-स्नेह-अनुरागरूपी लौह-कीलें प्रबल-आकर्षणवश चुम्बकमय प्रभुसे जा चिपकती हैं। संसारसे सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है और जीवनतरणी प्रभुप्रेमके अगाध सागरमें विलीन हो जाती है। परमभक्ता गोपिकाओंको इसी दशामें निमग्न होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी त्रिविध प्रेमधारा सांसारिक सम्बन्धोंसे हटकर भगवान् श्रीकृष्णमें ही केन्द्रित हो गई थी। इसीलिये भगवान्के साथ उनकी क्रीडाको महारास[1] संज्ञा दी गई है।

इस दशामें भक्त प्रभुमें तन्मय हो जाता है। सेवक और सेव्यके बीचकी दीवारें ध्वस्त हो जाती हैं। भक्त विश्वात्मा परमात्माको स्वात्मा ही अनुभव करने लगता है। यही स्वात्मप्रेम है। शरणागति या आत्मनिवेदनकी यही पराकाष्ठा है। इसे ही भक्तिशास्त्रमें पराभक्ति संज्ञा दी गई है। इस दशाके भावसंगमका दृश्य निम्नलिखित वेदमन्त्रोंमें देखें:

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।

(ऋ० १०-१८६-२)

(वात!—व्राति सर्वत्र गच्छतीति) हे सर्वत्रगामी, सर्वव्यापक परमात्मन्! आप, (नः पिता उत असि) हमारे पिता भी हैं, (उत भ्राता) भाई भी हैं, (नः सखा उत) हमारे सखा भी हैं। तात्पर्य यह कि आप ही हमारे सर्वस्व हैं। आपके अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है, यहाँतक कि मैं भी नहीं। इसी ऐक्य दशाको प्राप्त किसी भक्तके उद्गार इन शब्दोंमें व्यक्त हुए हैं:

जब मैं था तब तू नहीं, अब तू है मैं नाँहि।
प्रेमगली अति साँकरी तामें दुइ न समाँहि॥
त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

यही भाव इस मन्त्रमें भी व्यक्त हुआ है:

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम्।

(ऋ० १०-७-३)

(अग्निम्) प्रकाशस्वरूप परमात्माको ही, (पितरं मन्ये) अपना पिता

---

[1] श्रद्धादित्रिविधरसानां प्रेम्णां समूहो रासः।

मानता हूँ, (अग्निम् आपिम्) उसी परमात्माको ज्ञाति यानी कुटुम्बी मानता हूँ, (भ्रातरम्) उसे ही भाई मानता हूँ, और, (सदमित् सखायम्) सदा साथ देनेवाला सखा मानता हूँ।

संसारके सभी सम्बन्ध क्षणभंगुर हैं। वे मृत्युके पश्चात् तो क्या, जीवित रहते ही टूट जाते हैं। किन्तु प्रभु नित्य सम्बन्धी हैं। वे कभी भी भक्तको असहाय अवस्थामें नहीं छोड़ते, अशरणशरण हैं, दीनबन्धु हैं। त्रिकालमें उनसे बढ़कर हितैषी कोई नहीं है। इसीलिये भगवती श्रुतिका कथन है : 'ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात' अर्थात् हे साधकगण, आप सब लोग, (अस्मिन् गोपतौ) इस गोपाल कृष्णमें, (ध्रुवाः) निश्चल, अनन्यभावसे[1] युक्त हों। इस अनन्यनिष्ठाके अनन्तर ही वह तादात्म्य दशा प्राप्त होती है जिसकी कामना भक्तने निम्नलिखित वेदमन्त्रोंमें व्यक्त की है :

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ८-४४-२३)

(अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (यत्=यदा) जब, (अहं त्वं स्याम्) मैं आपका स्वरूप हो जाऊँ, और, (त्वं वा घा[2] अहं स्याः) आप मेरा स्वरूप हो जायँ, तब, (ते आशिषः) आपके अनन्यप्रेमविषयक उपदेश अथवा आशीर्वाद, (इह) मेरे विषयमें, (सत्याः स्युः) सत्य, सफल सिद्ध हों।

मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः सधमाद्यः।
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परा वृणक् ॥

(ऋ० ८-९७-७)

(इन्द्र !) हे जीवितेश्वर ! हे प्राणाधिक-प्रेमास्पद ! (नः मा परा वृणक्) हमें अपनेसे पृथक् न करें, क्योंकि आपके वियोगका दुःख असह्य है, (नः सधमाद्यः भव) आहार-विहारमें हमारे साथ आनन्दके अनुभविता बनें, हम-आप साथ मिलकर सहवासजनित दिव्यानन्दका सुख लें। (त्वं नः ऊती) आप ही हमारे रक्षक हैं, तथा, (त्वम् इत् नु आप्यम्) आप ही हमारे विश्वसनीय ज्ञाति, बान्धव

---

१. इसी अनन्यभावका गीतामें बहुधा उल्लेख हुआ है :
अनन्यचेताः सततम् (८-१४), अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् (९-२२), अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते (१२-६), मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते (१४-२६), मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी (१३-१०)। अव्यभिचार शब्दका अर्थ अनन्यता ही है।

२. 'घा' पादपूरणार्थक निपात अथवा दिव्यानुभूतिका सूचक है।

हैं। (इन्द्र ! नः मा परा वृणक्) हे प्राणनाथ ! हमें अपनेसे वियुक्त न करें। यहाँ प्रथम चरणकी पुनरुक्ति आदरार्थक या प्रेमातिशयका सूचक है।

इस प्रकार भक्तिके स्वरूपपर विचार करते समय 'भज सेवायाम्' (९९८) धातुसे क्तिन् प्रत्यय होनेपर बने हुए भक्ति शब्दके मौलिक अर्थ सेवाका विस्मरण सम्भव नहीं है। 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इस शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रके अनुसार सेवाके अतिरिक्त परानुरक्तिका समावेश भक्तिका अनुपेक्ष्य अंग है ही। 'त्वमेव सर्वं मम देवदेव', 'निवासः शरणं सुहृत्' (गीता ९-१८), 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेताश्व० ६-१८) इत्यादि वाक्योंसे प्रतिपाद्य आत्मसमर्पणकी उत्कट आकुलता भक्तिमें अनिवार्य रूपसे प्रतिष्ठित ही है। इस प्रकार निष्कृष्टार्थ यह सिद्ध होता है कि प्रभुमें परम अनुरक्ति, प्रभुके प्रति आत्मसमर्पणकी उत्कट अभिलाषा तथा भगवद्रचित किंवा भगवत्स्वरूप इस सृष्टिके प्रति सर्वात्मना सेवाभाव, इस भावना-त्रयकी हृदयमें एकत्र सहावस्थिति ही भक्तिका समुज्ज्वल, जनहितकारी वास्तविक स्वरूप है।

गीता और भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृतिपर विचार किया जाय तो एक बात स्पष्टरूपसे समझमें आती है कि उसे विश्वकी विभिन्न संस्कृतियोंका सिरमौर सिद्ध करनेवाले तत्त्वोंमें पुनर्जन्म, वर्णाश्रम-व्यवस्था, श्राद्ध-तर्पण, स्वर्ग-नरक, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, एकदेवतावाद आदिकी मान्यता प्रमुख है। इन सभीका विवेचन धर्मके विचारमें अन्तर्भूत हो जाता है। इसलिये भारतीय संस्कृतिका सर्वप्रमुख वैशिष्ट्य उसकी धर्ममूलकता है। गीतोक्त धर्मग्लानिका अर्थ भारतीय संस्कृतिके धर्ममूलक स्वरूपका विकृत या विलुप्त होना ही है और इसीकी स्वरूप-प्रतिष्ठाके हेतु यथाकाल भगवान्को अवतार धारण करना पड़ता है। इस प्रकार कालकी दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिकी अनादिता स्वतःसिद्ध है।

प्रकारान्तरसे विचार करें तो इस संस्कृतिका प्रमुख प्रतिपादक ग्रन्थ महाभारत माना जाता है जिसकी रचना विद्वद्वृन्द सहस्रों वर्ष पूर्व मानते हैं। उसमें उस समय सैकड़ों, सहस्रों वर्ष पूर्वकी ही नहीं, युगों पूर्वकी धार्मिकैतिहासिक घटनाओं तथा आख्यानोंका संकलन या उल्लेख किया गया है। अब आप ही कहें कि शोधमें प्राप्त शिलालेखों, प्रस्तरखण्डों अथवा पाश्चात्त्य विचारकोंके लेखोंके आधारपर भारतीय संस्कृतिके उद्भव या विकासका काल-निर्धारण कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है। हमारी समझसे यह तो अगाध-सागरपतित स्वर्णखण्डको गोता मारकर ढूँढ़ने जैसा हास्यास्पद प्रयास है।

खेदके साथ कहना पड़ता है कि आज बुद्धिमान् और विद्वान् कहे जानेवाले लोग भी पाश्चात्त्य-प्रभाववश वैज्ञानिकताके चाकचिक्यको ही सब कुछ समझने लगे हैं और प्राचीन भारतीय संस्कृतिके गीता-सम्मत आदर्शोंको भूलकर अबोध बच्चोंकी भाँति 'आँखें मूँदकर भय भगाने' वाली कहावतको चरितार्थ कर रहे हैं। अस्तु, ईश्वर ही सबका मंगल-विधायक है!

भारतीय संस्कृतिके आधारभूत उपर्युक्त वरिष्ठ सिद्धान्तोंका विशद विवेचन हम स्व-प्रकाशित अन्यान्य ग्रन्थोंमें कर चुके हैं किन्तु कहा जा चुका है कि महाभारत भारतीय संस्कृतिका सर्वप्रमुख प्रतिपादक ग्रन्थ है और गीता उस महाभारतका ही सिद्धान्त-संकलनरूप एक महत्त्वपूर्ण अंश है अतः गीतामें भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्वोंका, विस्तारभयसे संक्षेपमें ही, स्थलनिर्देश किया जाता है।

पुनर्जन्म

प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाली चेतन-सत्ता जीवात्मा आदिमध्यान्तहीन ईश्वरका ही अंश है अतः वह भी नित्य है। मृत्युके अनन्तर उसका अपर-शरीर-ग्रहण ही पुनर्जन्म है। गीतामें इस तथ्यका सोदाहरण प्रतिपादन किया गया है:

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(२-२२)

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र छोड़कर नये वस्त्र पहन लेता है इसी प्रकार जीवात्मा पुराने, जीर्ण, वृद्ध शरीरोंको त्यागकर नये शरीर धारण कर लेता है।

पुनर्जन्म-सम्बन्धी यह मान्यता गीताके निम्नलिखित वाक्योंसे भी प्रमाणित होती है:

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

इत्यादि ।

उपर्युक्त भगवत्प्रोक्त वचनोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि मृत्युके अनन्तर अविनाशी जीव तत्त्वज्ञान न होनेतक कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करता रहता है।

इस विषयमें विस्तृत जानकारीके लिये कल्याणके विशेषाङ्क 'परलोकाङ्क' में 'मरणोत्तर जीवात्माकी अष्टविध दशा' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिए।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

(गी० ४-१३)

हे अर्जुन ! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंकी रचना मेरी की हुई है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

(गी० १८-४१)

हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके भी कर्म उनके स्वाभाविक गुणोंके अनुसार पृथक्-पृथक् हैं।

इस प्रकार चारों वर्णोंके कर्मविभागके सामान्य उल्लेखके अनन्तर गीताके १८-४२—४४ श्लोकोंमें प्रत्येक वर्णके पृथक्-पृथक् विशेष कर्मोंका प्रतिपादन किया गया है।

श्राद्ध-तर्पण

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

(गी० १-४२)

निम्न-उच्च वर्णके माता-पितासे उत्पन्न अर्थात् वर्णसंकर सन्तानोंके पितृगण श्राद्ध-तर्पणादिके अभावमें पिण्ड और जल आदि न प्राप्त करनेके कारण पितृलोकसे पतित हो जाते हैं।

तात्पर्य यह कि मृत्युके अनन्तर मृत प्राणीके उद्देश्यसे किए गए श्राद्ध-तर्पणादिसे मृत प्राणीका सम्बन्ध अवश्य रहता है। विस्तृत विवरण श्रौतमुनि-चरितामृत, पूर्वार्ध, तृतीय प्रवाह, पृष्ठ २११ तथा गुरुगंगेश्वर ग्रन्थमालाके चतुर्थ पुष्प, पृ० ४०३—४८२ में देखना चाहिए।

स्वर्ग-नरक

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

(गी० ९-२१)

हे अर्जुन ! वे पुण्यात्मा उस विशाल स्वर्गलोकका उपभोग करके पुण्यके क्षीण होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें आकर जन्म लेते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

(गी० १६-१६)

अनेक प्रकारसे भ्रान्तचित्त, अतः नाना मोहजालमें फँसे विषयासक्त मनुष्य अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य वचन भी स्वर्ग और नरककी सत्ताका प्रतिपादन कर रहे हैं :

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

अवतारवाद

मर्त्यलोकमें प्रयोजनानुसार अपने नाना रूपोंमें अवतरित होनेका सहेतुक उल्लेख गीताके ४-६–८ प्रसिद्ध श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अर्जुनसे स्पष्टरूपमें किया है।

इस विषयके विशेष विवेचनके लिए श्रौतमुनिचरितामृत पृष्ठ २५४ अवलोकनीय है जहाँ १३ वैदिक मन्त्रोंकी व्याख्याद्वारा भी अवतारवादपर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त गुरुगंगेश्वर ग्रन्थमालाके चतुर्थ पुष्पमें अवतार-खण्ड (पृ० २७१–४००) भी देखना चाहिए।

मूर्तिपूजा

शारीरिक तपकी परिभाषा बताते हुए भगवान् श्रीकृष्णने वैदिक-मन्त्रोंद्वारा प्राणप्रतिष्ठा की हुई भगवत्प्रतिमाओंके गन्ध-माल्य-धूप-दीप-नैवेद्यादि षोडशोपचारोंसे पूजनकी भी उसमें गणना की है :

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

यहाँ कुछ लोग देव शब्दका विद्वान् अर्थ मानकर मूर्तिपूजाका विरोध करनेका प्रयास करते हैं किन्तु वह तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि विद्वान् अर्थका वाचक प्राज्ञ शब्द आगे पठित ही है। विद्वान् अर्थ माननेपर देव शब्द पुनरुक्त होनेसे निरर्थक हो जायगा अतः यहाँ देव शब्दसे भगवद्विग्रह, भगवन्मूर्ति अर्थ ही अभिप्रेत है। देव शब्दका भगवान् अर्थ माननेमें गीतोक्त 'देवदेव जगत्पते' (१०-१५), 'अपश्यद् देवदेवस्य' (११-१३) आदि अनेक वाक्य प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त :

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
देवान् देवयजो यान्ति ।
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

इत्यादि वाक्योंसे भी भगवान्‌के मूर्तिपूजा-विधानका ही समर्थन सिद्ध होता है।

विशेष विवरण श्रौतमुनिचरितामृत, प्रवाह ३, पृष्ठ २१८ में द्रष्टव्य है। वहाँ इसके प्रतिपादक पाँच वेदमन्त्र भी सानुवाद दिए गए हैं।

एकदेवतावाद

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

(गी० ११-३९)

उपर्युक्त वाक्यमें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको स्पष्ट शब्दोंमें सर्वदेवमय कहा है।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

(ऋ० १-१६४-४६)

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।

(ऋ० १०-११४-५)

यो देवानां नामधा एक एव ।

यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।

(ऋ० १०-८२-३,६)

इत्यादि वैदिक उक्तियोंका भी यही अभिप्राय है कि एक ही सद् ब्रह्मतत्त्वको मेधावी विद्वान् अनेक प्रकारसे वर्णित करते हैं । एकमें अनेकताकी प्रतीति काल्पनिक है, यथार्थ नहीं । अद्वितीय ब्रह्मका विविध जगदाकार विवर्तन ही शोभन गति, मनोरंजक व्यापार है । प्रपंचकी विविधता मायाका विलास है । मायाके सम्पर्कसे विविध-गुण-कर्मानुसार भले ही परमात्माके इन्द्र-वरुणादि अनेक नाम हों किन्तु उसकी एकता तो अक्षुण्ण ही रहती है ।

देवताविषयक विशेष विचारके लिये वेदोपदेशचन्द्रिका, पृष्ठ ३७६ से ३८० तक द्रष्टव्य है ।

पाश्चात्त्य गवेषक विद्वानोंने वेदके यथार्थ ज्ञानमें भ्रान्ति होनेके कारण ही आर्य संस्कृतिपर अनेकदेवतावादका लाञ्छन लगानेका दुःसाहस करते हुए अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि 'पहले आर्योंमें बहुदेवतावादकी मान्यता रही । आगे चलकर उनमें एकदेवतावादका विकास हुआ ।' एकसे अनेकताका विकास सृष्टिका अकाट्य नियम है, यह अनेक प्रकारके तर्कोंसे लोगोंने सिद्ध किया है किन्तु यह आश्चर्यकी ही बात है कि प्राकृतिक नियमोंके अनुगामी पाश्चात्त्य गवेषकोंको बहुदेववादसे एकदेववादके विकासका भ्रम हो गया । अस्तु, उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि अनादिकालीन भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्वोंकी मान्यता वास्तविक है, उसमें सन्देह न करना ही कल्याणकारी है ।

क्या गीता वेद-शास्त्र-विरोधिनी है ?

जो लोग गीताको वेदशास्त्रका परिपोषक ग्रन्थ बताते हैं, उनके समक्ष आपातदर्शी जन दो ऐसे प्रबल प्रमाण उसी ग्रन्थसे निकालकर रख देते हैं, जो सकृत्-दर्शनमें गीताकी वेदशास्त्र-परिपोषकतासे सर्वथा उलटे प्रतीत होते हैं। इनमें एक प्रमाण है अर्जुनद्वारा युद्धके विरोधमें वर्णसंकरता होनेकी आशंकाका गीतामें कहीं समाधान न होना और दूसरा है प्रकारान्तरसे वेदकी निन्दा।

पहले प्रमाणके स्पष्टीकरणमें ये आक्षेपक कहते हैं कि सारी गीतामें स्थान-स्थानपर अर्जुनकी विविध शंकाओंका भगवान्ने बड़े उत्साहके साथ समाधान किया, किन्तु 'कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन' (१-३९) से 'संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च' (१-४२) तक कुलक्षयसे होनेवाले वर्ण-संकरता-दोषको भगवान्ने स्पर्शतक नहीं किया और स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया : 'तस्माद् युद्ध्यस्व भारत ! इसलिए हे भरतसन्तान, युद्धमें जुट जा।' इस प्रकार अर्जुनकी वर्णसंकरता दोषकी आपत्तिको नगण्य माननेका अर्थ है कि गीता वर्णसांकर्यको बहुत बड़ा दोष नहीं मानती, जो वर्णव्यवस्थाके प्रबल समर्थक वेद एवं शास्त्रोंमें सर्वथा निन्द्य माना गया है। ऐसी स्थितिमें लोग गीताको वेद-शास्त्रका सर्वथा परिपोषक कैसे कह सकते हैं ?

इसी प्रकार यह भी व्यावहारिक बात है कि पोषक अपने पोष्यकी सदैव प्रशंसा करता है, उसकी निन्दा या निराकरण नहीं करता। किन्तु गीता प्रकारान्तरसे वेदकी निन्दा करती है। देखिये, दूसरे अध्यायका ४५वाँ श्लोक :

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

प्रसंग चल रहा है कि व्यवसायात्मिका बुद्धि कैसे प्राप्त हो। इसी सन्दर्भमें पूर्वश्लोकोंमें भी 'वेदवादरताः पार्थ...' 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते' से कहा गया कि वेदके कर्मकाण्ड, स्वर्ग-नरकादि वादोंमें पड़नेवालोंको व्यवसायात्मिका बुद्धि कभी प्राप्त नहीं होती। वहीं अन्य श्लोकमें यह भी कहा है :

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

अर्थात् कर्मफल जैसे पुष्पसदृश विषयोंपर ही केन्द्रित हो वास्तविक फलकी ओर ध्यान न देनेवाली वेदवाणी बोलनेवाले 'अविपश्चित्' या अज्ञानी हैं। इसके पश्चात् प्रस्तुत 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' से तो स्पष्टतः गीता साधकको आदेश देती है कि वेद त्रिगुणात्मक हैं—उनके प्रतिपाद्य विषय भी त्रिगुण हैं, जो दृढ़तर रज्जुकी

भाँति मानवको बाँध देते हैं। इसलिए 'हे अर्जुन, तू निस्त्रैगुण्य हो जा।' तब गीताको वेद-शास्त्रका परिपोषक कैसे कहा जा सकता है ?

किन्तु थोड़ा विचार करनेपर उपर्युक्त दोनों आपत्तियाँ थोथी सिद्ध हो जाती हैं। क्रमशः प्रत्येक आक्षेपका समाधान देखें।

अर्जुनकी सर्वसामान्य शंकाओंका समाधान करनेवाली गीता उसके द्वारा युद्धसे वर्णसंकरता फैलनेकी आशंकाका क्योंकर खण्डन नहीं करती और सीधे 'तस्माद् युद्ध्यस्व भारत !' यह आदेश कैसे दे देती है, इसका समाधान देखें।

वास्तवमें गीतामें भगवान्ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इसीसे इस आशंकाका समाधान कर दिया है। अर्थात् अर्जुन बुद्धिमानोंकी-सी बातें करते हुए भी जिनके विषयमें विचार या शोच नहीं करना चाहिए, उन्हींका विचार कर रहा है। वर्णव्यवस्थाके अनुसार अन्यायके विरुद्ध शस्त्र उठाना क्षत्रियका कर्तव्य है। यहाँ अर्जुन इस प्रकार पंडिताईकी बातें बघारता हुआ भी अपने कर्तव्यसे च्युत हो रहा है। युद्ध करनेपर होनेवाली वर्णसंकरता 'परगत' दोष है, जब कि कर्तव्यच्युति 'स्वगत' दोष। स्वगत दोष विशेष होता है और परगत दोष सामान्य। शास्त्रज्ञ जानते हैं कि विशेषसे सामान्यका बाध हो ही जाता है। अतएव अर्जुनकी वर्णसंकरताकी आशंकामें कुछ बल नहीं रह जाता। यही कारण है कि गीताने उसके समाधानकी आवश्यकता नहीं समझी। अतः गीताको शास्त्रनिषिद्ध वर्णसंकरताका पोषक बताना प्रश्नकर्ताकी शास्त्रीय परिपाटीकी अज्ञता ही सूचित करता है।

यदि अर्जुन इस वर्णसंकरतासे डरकर शस्त्र न उठाये तो अन्यायी और भी उन्मत्त हो उठेंगे और सर्वत्र अधर्मका साम्राज्य स्थापित कर देंगे, जिससे समग्र धर्म संकटमें पड़ जायगा। उस सम्पूर्ण राष्ट्रधर्मव्यापी संकटके सामने प्रतिपक्षीगत वैयक्तिक वर्णसांकर्य दोषका कितना मूल्य है ? यह भी इस प्रश्नके समाधानका एक पक्ष है।

फिर, मान लें कि अर्जुन इसी भयसे शस्त्र न उठाये, किन्तु उसके प्रतिपक्षी कहाँ माननेवाले हैं ? वे तो उसके पक्षवाले वीरोंका क्षय करेंगे ही, जिसका संकेत अर्जुनकी इस उक्तिसे ही मिलता है :

> **यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।**
> **धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥**
>
> (गी० १-४६)

तब वही वर्णसांकर्य उसी क्रमसे अर्जुनके पक्षमें क्यों न आयेगा ? इस प्रकार जब उभयथा वर्णसांकर्य अपरिहार्य है, तो क्षत्रियके अनिवार्य कर्तव्य युद्धसे

अर्जुनका मुँह मोड़ना एक और शास्त्रीय मर्यादाका उल्लंघन होगा। इस दृष्टि-से भी अर्जुनकी वर्णसंकरताकी आपत्ति सर्वथा थोथी सिद्ध होती है। अतएव गीताने वचोभंगीसे उसका समाधान करते हुए भी प्रत्यक्ष निराकरण नहीं किया।

इसलिए किसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि गीता शास्त्रोंका परिपोष नहीं करती। वास्तविकता तो यह है कि गीता शास्त्रोंकी कट्टर समर्थक एवं परिपोषक है। इसके लिए उसीके शब्दोंपर ध्यान दें :

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
> तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
> ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
>
> (गी० १६-२३,२४)

अर्थात् जो शास्त्रविधिका उल्लंघन कर स्वेच्छया मनमाना आचरण करता है वह न तो लौकिक कार्यसिद्धि पाता है और न उसे पारलौकिक परमगति ही सुलभ होती है। इसलिए अर्जुन! क्या कार्य है और क्या अकार्य, इसके निर्धा-रणार्थ तेरे लिए एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। अतः शास्त्रविधिमें कथित कर्मको ही भलीभाँति जानकर करना तेरा कर्तव्य है। इससे बढ़कर गीताकी शास्त्र-परिपोषकताका क्या प्रमाण हो सकता है?

अब रही गीताद्वारा तथाकथित वेदकी निन्दाकी बात। उस सम्बन्धमें भी यही कहना होगा कि जिस 'त्रैगुण्यविषया वेदा ....' श्लोकको आक्षेप्ता अपने आक्षेपका ब्रह्मास्त्र समझते हैं, उसका रहस्यमय अर्थ वे जाननेका कष्ट करें तो उसका भी समाधान हो जायगा :

'त्रैगुण्यविषया वेदा' इस श्लोकचरणका अर्थ है : त्रैगुण्यमेव विषम्, तत् यान्ति=यापयन्ति इति त्रैगुण्यविषयाः, गारुडमन्त्रेण सर्वविषनिबर्हणवत् त्रैगुण्या-त्मकसंसारविषनिवारका वेदा इति तात्पर्यम्। अर्थात् त्रैगुण्य यानी सत्त्व-रज-तमरूप त्रिगुणता ही संसारका विष है। वेद उसे उसी तरह उतार देते हैं, जिस तरह विषवैद्य गारुड मन्त्रोंद्वारा भयंकर सर्पका विष उतार देता है। ऐसा अर्थ करनेपर यहाँ वेदकी निन्दाकी गन्धतक नहीं रह जाती, प्रत्युत उसकी प्रशंसा ही सिद्ध होती है।

दूसरी दृष्टिसे भी इसका समाधान देखें। ज्ञातव्य है कि वेदमें कर्मकी भाँति ज्ञानका भी निरूपण है। पहले कहा ही जा चुका है कि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके संहिताभागमें कर्म, उपासना एवं ज्ञान तीनोंके सूत्र उपलब्ध होते हैं। उसीके ब्राह्मणभागमें कर्मका, तदन्तर्गत आरण्यकमें उपासनाका और तदन्तर्गत उप-

निषदोंमें ज्ञानका विशेष रूपमें वर्णन है। इन उपनिषदोंका फल आत्मज्ञान या स्व-स्वरूपावाप्ति है। वेद व्यक्तिविशेष ही नहीं, मानवमात्रके उद्धारका विधान करते हैं। मानव भी प्रकृतिभेदसे एक नहीं, अनेक हैं। अतएव उनके लिए विधान भी कभी एक नहीं हो सकते। अधिकारि-भेदसे तत्तत् वैदिक विधान तत्तत् पुरुषके लिए पालनीय है और क्रमशः वे मानवको एक-एक सोपान ऊपर उठानेवाले हैं। वेद दुधमुँहे बच्चेको चने चबानेका विधान कभी नहीं कर सकते। उनके लिए दुग्ध ही प्रकृत्यनुरूप पेय बतायेंगे।

इस प्रकाशमें देखनेपर स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ आत्मज्ञानका प्रसंग चल रहा है। वेदोक्त सकाम कर्मों और उनके स्वर्गादि फलोंकी आसक्तिसे चिपके रहना ज्ञानमार्गका सर्वथा परिपन्थी है। अतएव मुमुक्षुकी वैदिक स्वर्गादि फलोंसे आसक्ति हटाना आवश्यक है। इसी भावसे गीताने कहा है: 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' तात्पर्य यह कि यहाँ वैदिक कर्मोंकी फलासक्तिका ही निषेध है, कर्मांशका नहीं। यदि ऐसा न होता तो आगे अनेक अध्यायोंमें गीता निष्काम कर्म करने, भगवान्को सर्वकर्म समर्पण करने आदिका विधान कैसे करती? 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (३-२०), 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' (४-१५) कैसे कहती?

कुछ टीकाकार 'त्रैगुण्यविषयाः' का एक अर्थ 'तीन गुणोंके सम्मिश्रण या समुदायवाले प्राणी' करते हैं। तदनुसार भी वेद उन तीन गुणवाले पुरुषोंके लिए हैं, यह अर्थ होता है। अर्थात् प्राधान्येन रजस्तमोमिश्र सात्त्विक प्राणियोंके लिए वेद सकाम कर्मोंका विधान करते हैं। किन्तु केवल शुद्ध सात्त्विक व्यक्तियोंके लिए तो वे निष्काम कर्मका ही विधान करते हैं। त्रिगुण प्रकृतिका धर्म है। आत्मा इसके बन्धनमें नहीं। इसलिए आत्मज्ञानकी ओर झुकनेवाले तुम त्रिगुणमय प्रपञ्चसे ऊपर उठ जाओ। तभी निर्द्वन्द्व यानी सुख-दुःखादि परस्परविरुद्ध द्वन्द्वोंसे अभिभूत न होगे और नित्यसत्त्वस्थ होकर आत्मवान् बन सकोगे। यहाँ 'निस्त्रैगुण्य'से संमिश्र तीन गुणोंसे रहित होते हुए शुद्ध सत्त्वमें निष्ठाका विधान है।

इसी दृष्टिसे 'वेदवादरताः', 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' आदि वाक्योंको भी देखना चाहिए। इन सबमें गीताका तात्पर्य मात्र कर्मफलासक्तिका निषेध या उसकी निन्दामें है। निष्कामकर्म या ईश्वरार्पणबुद्ध्या वैदिक कर्म करनेका कहीं निषेध नहीं है।

सोचनेकी बात है कि यदि गीताका किसी प्रकार वेदोंसे विरोध-भाव होता तो विभूतियोगमें भगवान् 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कैसे कहते? १३वें अध्यायमें

'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिः विविधैः पृथक्' से अपने वचनके प्रामाण्यके लिए भगवान् वेदको कैसे प्रस्तुत करते ? फिर १५वें में तो वे स्पष्ट कहते हैं :

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।

अन्ततः यह भी भुलाया नहीं जा सकता कि वेद स्वयं भी फलासक्तिभरे इन कर्मोंकी निन्दा करते हैं। विज्ञजन जानते हैं कि वेद मन्त्र और ब्राह्मण, दो भागोंमें विभक्त हैं। ब्राह्मणभागका ही एक अवान्तर विभाग उपनिषद्-रूप वेद है। इन दोनों भागोंमें यज्ञादि वैदिक कर्मोंकी निन्दा पायी जाती है, जिसे अधिकारीभेदके अतिरिक्त कभी संगत नहीं बताया जा सकता। मन्त्रभागका एक उदाहरण लें :

ऋचो[1] अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तद्विदुस्त इमे समासते ।।

(ऋ० १-१६४-३९)

अर्थात् ऋचाओं, यानी ऋग्वेदादिका मुख्य प्रतिपाद्य परमव्योम नामक अक्षर पुरुष है। उसीके आधारपर सब देवता स्थित हैं। जो उसे नहीं जानता, वह ऋचाओंसे अर्थात् ऋग्वेदादिसे क्या करेगा, क्या लाभ उठायेगा ? जो उसे जान लेते हैं, वे ही अपुनरावृत्तिपूर्वक स्वरूपावस्थिति प्राप्त करते हैं।

अब ब्राह्मणभागके उपविभाग मुण्डकोपनिषद्का एक मन्त्र देखें :

प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।

(मुण्डको० १-२-७)

अर्थात् ये यज्ञरूप नावें कच्ची डोंगियाँ हैं जिनमें १८ व्यक्तियोंद्वारा सम्पाद्य कर्म बताये हैं। ऐसे यज्ञोंको जो श्रेय मानते हैं वे मूढ़ हैं और सदैव जरा-मृत्युके प्रवाहमें पड़े रहते हैं।

यही नहीं, इसी मुण्डकके मन्त्रके आगेके ८-१० मन्त्र, कठ (१-२-१—५) आदि अनेक उपनिषदोंमें भी ऐसी बातें मिलती हैं।

इस प्रकार जब संहिता, उपनिषदादिरूप वेदोंका यह सुपरिचित क्रम है तो उसी वेदके सिद्धान्तोंके स्पष्टीकरणार्थ अवतरित गीतोपनिषद्ने फलासक्तिमय कर्मोंके निषेधमें उपर्युक्त बातें कह दीं तो उसमें उसे दोष देना या वेदविरोधी बताना दुस्साहस ही होगा और होगा प्रकृत विषयसे स्वयंको अज्ञ बताना।

---

१. ऋग्ग्रहणमत्र सर्ववेदोपलक्षकम् ।

कर्म, विकर्म और अकर्म

गीताके चतुर्थ अध्यायके १५वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'अहंकाररहित होकर कोई कर्म करनेपर वह बन्धक नहीं होता, यह जानकर युगान्तरमें मुमुक्षुओंने सत्त्वशुद्धिके निमित्त, तो तत्त्ववित् जनकादिने लोकसंग्रहार्थ कर्मोंका अनुष्ठान किया है। एतदर्थ अर्जुन, तू भी इसी प्रकार निरहंकार हो अपना कर्तव्य कर्म कर।'

कर्मकी अवश्यकर्तव्यता बतलाते हुए भगवान् आगे (४-१६-१७) कहते हैं कि अर्जुन, मैं तुझे गतानुगतिक रूपसे कर्मके लिए नहीं, अपितु यह कहता हूँ कि जो कुछ भी कर, 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत'—समझ-बूझकर ही कर। कारण, कर्मकी अपनी कुछ विशेषताएँ हुआ करती हैं। उन्हें न पहचाननेपर बुद्धिमान् भी भ्रममें पड़ जाते हैं कि अन्ततः 'कर्म क्या है और अकर्म क्या? अतएव मैं यहाँ तुझे कर्मोंकी वे विशेषताएँ बताने जा रहा हूँ। इन्हें ठीकसे जान लेनेपर तू अशुभमय संसारबन्धनसे मुक्त हो जायगा। कर्मकी गति सर्वथा दुर्ज्ञेय है, इसी-लिए उसका तत्त्व जानना परमावश्यक है। यही नहीं, विकर्म यानी प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) कर्मका रहस्य तथा अकर्म, कर्माभाव किंवा कर्मत्यागका भी वास्तविक रूप तुझे समझ लेना चाहिए।

प्रश्न होगा, इसका इतना आग्रह क्यों? भगवान् कहते हैं :

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

(गी० ४-१८)

इसका सीधा-सादा अर्थ है कि जो कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म, वह बुद्धिमान् है; मनुष्योंके बीच योगयुक्त है और कर्मके रहस्यका ज्ञाता होनेसे सम्पूर्ण कर्मोंका कर्ता भी है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण कर्मोंका फल तत्त्वज्ञान या मुक्ति पा लेनेसे वह अर्थतः सम्पूर्ण कर्मोंका कर्ता बन जाता है।

किन्तु इसपर कोई सहज पूछ सकता है कि ये कैसी उलटी बातें कर रहे हैं? क्या कभी कर्ममें अकर्म या अकर्ममें कर्म रह सकता है? प्रकाश और अन्धकार-की भाँति परस्पर विरुद्ध दो पदार्थ एक-दूसरेमें कैसे रहेंगे और क्या वैसा

---

१. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। (गी० ४-१६)

मानना भ्रम न होगा? भला ऐसे भ्रमसे कभी अशुभ संसारबन्धनसे मुक्ति मिल सकती है?

इसका मार्मिक समाधान महाभारतके व्याख्याकार महामनीषी श्री नील-कण्ठने अपनी व्याख्यामें कर दिया है। वे इस श्लोकके कई अर्थ प्रस्तुत कर अन्तमें सिद्धान्तपक्षके रूपमें लिखते हैं कि कर्म अर्थात् श्रुति-स्मृतिविहित सत्कर्म भी श्रद्धाविरहित पुरुषद्वारा करनेपर अकर्म बन जाता है। वही दम्भ या ढोंगसे करने-पर विकर्म यानी पापजनक, निषिद्ध कर्मके रूपमें परिणत हो जाता है। इसी प्रकार कहीं निरपराधका वध हो रहा हो और हम शक्ति रहते भी अहिंसा-अहिंसा जपते चुप मारकर अकर्मण्य या कर्मरहित हो बैठते हैं, तो वह भी पापजनक कर्मका रूप धारण कर लेता है। अतएव प्रत्येक कर्ममें अनुस्यूत विशेषता जानकर ही कोई कर्म करना उचित है।

गीताके सुपरिचित व्याख्याकार श्रीधर स्वामी लिखते हैं कि ईश्वराराधन-रूप सत्कर्ममें जो अकर्मदृष्टि रखता है अर्थात् कर्मके फलविशेषजनकतारूप स्वाभाविक स्वरूपकी अपेक्षा नहीं रखता, दूसरे शब्दोंमें निष्काम बन कर्म करता है तो वह उसके लिए अकर्म बन जाता है यानी कर्मके स्वाभाविक दोष बन्धकतासे वह बच जाता है। इसी प्रकार फलविशेष-जनकतारूप कर्मता न होनेसे 'अकर्म' कहे जा सकनेवाले नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके त्यागमें जो कर्मता यानी पापजनकता देखता है, दूसरे शब्दोंमें उस कर्मत्यागको भी बन्धक समझता है, वह बुद्धिमान् है, योगयुक्त है और समस्त कर्मोंका कर्ता बन जाता है।

श्रीधर स्वामीके इस विस्तृत व्याख्यानका भाव यह है कि 'जो किया जाता है वही कर्म है' ऐसी बात नहीं। प्रत्युत जिस क्रियाके करनेपर बन्ध हो वही कर्म है। 'करोति बन्धमिति कर्म' इस तरह व्युत्पत्ति कर बन्धन-हेतु क्रियाको ही कर्म मानना चाहिए और इसी आधारपर किसी कर्म, विकर्म या अकर्मको देखना सच्चे अर्थमें बुद्धिमानी है।

भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य, मधुसूदन सरस्वती और श्रीधर स्वामीने भी इस श्लोककी ज्ञानप्रधान व्याख्याएँ कर आपाततः दीखनेवाले विरोधका परिहार किया है।

श्री शङ्कराचार्य कहते हैं कि वास्तवमें जो अकर्म है, वह मूढमति लोगोंको कर्मसदृश भासता है और अकर्म भासता है कर्मसदृश। किन्तु उसमें यथार्थ तत्त्व देखनेके लिए ही भगवान् यहाँ 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' आदि बता रहे हैं। बात यह है कि नाव या गाड़ीके चलते समय उसपर बैठे पुरुषको किनारेके

अचल वृक्षोंमें गतिका भ्रम होता है। इसी प्रकार नेत्रोंसे वास्तवमें गतिमान् भी दूरवर्ती पुरुष, नक्षत्रादि दूरत्वदोषसे अचल दीखते हैं। ठीक ऐसे ही यहाँ भी 'अकर्म' यानी सर्वथा क्रियाशून्य आत्मामें 'मैं करता हूँ' इस प्रकार कर्मका देखना और त्यागरूप कर्ममें 'मैं कुछ नहीं करता' इस प्रकार अकर्म देखना भ्रम है। भगवान् कहते हैं कि 'मैं करता हूँ' यह देखते हुए भी आत्माको अकर्ता ही समझो और नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके त्यागमें (अकर्ममें) प्रत्यवायजनकतारूप कर्म समझो, तभी तुम बुद्धिमान् माने जाओगे।

सारे कर्म त्यागकर चुप मारकर बैठना भी अन्ततः कर्म करना ही है। कारण, प्रकृतिके गुण स्वभावतः क्रियाशील होते हैं। उन्हें रोकनेके लिए भी निवृत्ति[1]नामक यत्न करना ही होगा। फिर तज्जन्य जो क्रिया होगी, वह कर्म नहीं तो क्या है?

श्री मधुसूदन सरस्वतीने एक अर्थ तो श्री शङ्कराचार्यके अनुसार ही लगाया है। दूसरा अर्थ यह है कि यतः यहाँ कर्ममें अकर्म या अकर्ममें कर्म देखने (ज्ञान) का फल अशुभ संसारसे मोक्ष बताया है, अतः वह ज्ञान तत्त्वज्ञान या परमात्म-ज्ञान ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इस श्रुतिसे मात्र तत्त्वज्ञानको ही मुक्तिका साधन माना गया है। अतएव इस पद्यका अर्थ है : कर्ममें=कर्मजनित अथवा ज्ञानविषय दृश्य संसारमें, जो अकर्म=ज्ञानाविषय किंवा अदृश्य, परमात्मरूप द्रष्टाकी दृष्टि रखता है; तथा अकर्म परमात्मामें कर्मभूत दृश्य जगत्को आरोपित रूपमें देखता है, परमात्मासे अतिरिक्त किसीकी भी वास्तविक सत्ता नहीं मानता, वही बुद्धिमान्, योगयुक्त और सर्वकर्मफलस्वरूप ज्ञान प्राप्त कर लेता है। कारण, ज्ञानमें ही सभी कर्मोंके फल गतार्थ हो जाते हैं।

श्रीधर स्वामी ज्ञानपक्षीय व्याख्या करते हुए लिखते हैं : देह, इन्द्रिय आदिमें कर्म होते रहनेपर भी आत्मामें जो उनका अभाव देखता है और क्लेशप्रद विहित कर्मोंके त्यागरूप अकर्ममें बन्धक होनेसे जो कर्मभाव देखता है, वह बुद्धिमान् है।

---

१. नैयायिकोंने यत्न तीन प्रकारके माने हैं : १. प्रवृत्तियत्न, २. निवृत्ति-यत्न और ३. जीवनयोनियत्न। यज्ञ-यागादि कर्मोंमें लगना प्रवृत्तियत्न है, उन्हें छोड़ना निवृत्तियत्न है तो शरीरमें प्राणसञ्चारका कारणीभूत यत्न जीवनयोनियत्न कहलाता है। न्यायदर्शनके अनुसार 'गुण'-विशेषरूप इन यत्नोंका क्रिया या 'कर्म' पदार्थके साथ अविनाभाव रहता है।

श्री शङ्करानन्दजीने अपनी टीकामें इसी अभिमतका विस्तार किया है। विशेष बात यह की है कि 'कृत्स्नकर्मकृत्' का अर्थ वे 'समस्त कर्मों, कर्मबन्धनोंको काटने, छेदनेवाला' बतलाते हैं।[1]

ज्ञातव्य है कि इन सभी प्राचीन दार्शनिकोंके मतमें 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं···' इत्यादि श्लोकमें 'कर्म' पदका अर्थ है श्रुति-स्मृतिविहित सत्कर्म। 'विकर्म' का अर्थ है, उनके विपरीत या विरुद्ध अर्थात् निषिद्ध कर्म। इसी प्रकार 'अकर्म' का अर्थ है कर्माभाव, कर्मत्याग या कर्मशून्यता। संक्षेपमें भगवान् यहाँ यही कहना चाहते हैं कि 'अर्जुन, तुम सत्कर्म करो, विकर्मसे बचो और अकर्म या कर्मशून्यताका त्याग करो, तो उस समय उनका कभी अभिमान न रखो—'मैं इन्हें कर रहा हूँ' या 'नहीं करता' ऐसा मत मानो। इस तरह किसी प्रकारके कर्म या उसके अभावका अभिमान न रखते हुए प्रवाहपतित न्यायसे जो भी क्रिया करोगे, वह कभी तुम्हारे लिए बन्धक नहीं हो सकती। तुम्हारी वही क्रिया सत्त्वशुद्धिपूर्वक तुम्हें अशुभ संसारसे मुक्ति दिलाकर तत्त्वका ज्ञान करा देगी। भगवान्‌ने कर्मयोगके इस प्रकरणमें यह कैसा सहज उपाय बताया है, जो साधारण बुद्धिमान् भी कार्यान्वित कर अपना उद्धार कर सकता है।

श्री रामानुजाचार्य 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्···' इत्यादिमें 'अकर्म' का अर्थ ज्ञान करते हैं। वे कहते हैं कि कर्मके साथ अकर्म=ज्ञान और अकर्म=ज्ञानके साथ कर्म, इस प्रकार ज्ञान-कर्म-समुच्चय बतानेमें ही प्रस्तुत श्लोकका तात्पर्य है।

श्री वल्लभाचार्यके अनुयायी वल्लभ नामक कोई विद्वान् इस श्लोकका यह अर्थ करते हैं: कर्मणि=कर्म या कर्मकी सारी सामग्रीमें, जो अकर्म=ब्रह्मको देखता है, जैसा कि आगे 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः···' श्लोकमें वर्णित है। इसी प्रकार वे 'अकर्म' का अर्थ प्रतिषिद्ध कर्म या अनधिकारिकृत कर्मत्याग करते हैं। इन दोनों अकर्मोंमें बन्धन या पापजनकता होनेसे जो कर्मत्व देखता है, वह बुद्धिमान् है, यह भाव है।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदायके प्रखर विद्वान् श्री गोस्वामी पुरुषोत्तमका मत है कि पुष्टिमार्गमें भगवदाज्ञासे क्रियमाण कर्म ही यहाँ 'कर्म' पदसे विवक्षित है। वह किसी प्रकार बन्धक नहीं होता। उसे जो 'अकर्म' समझता है, वह बुद्धिमान् है। इसी प्रकार लौकिक, अकरणीय माने जानेवाले अकर्मको भी भगवदाज्ञासिद्ध होने-पर जो 'कर्म' समझता है, वह बुद्धिमान् है, इत्यादि। इससे भगवान् अर्जुनको यह

---

१. इनके मतमें 'कृत्स्नकर्मकृत्' इस समस्तशब्दघटक 'कृत्' पद 'डुकृञ् करणे' (तनादि १४७३ पा० धा०) धातुसे निष्पन्न नहीं, प्रत्युत 'कृती छेदने' धातु (तुदादि १४३६ पा० धा०) से बना है।

संकेत करते हैं कि अपनी दृष्टिसे अकरणीय भी युद्धकर्मको मेरी आज्ञाके फल-स्वरूप तुम करणीय या कर्तव्यकर्म मानोगे तो वह तुम्हें बन्धक न होगा और तुम बुद्धिमान् माने जाओगे तथा सब कर्मोंका फल प्राप्त करोगे।

लोकमान्य तिलक कहते हैं कि फलाशा एवं आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेवाले कर्मयोगीके कर्मोंमें जो अकर्मता (कर्मबन्धकताका अभाव) देखता है तथा हठात् कर्मसंन्यास या कर्मत्याग करनेवालेके अकर्ममें कर्मभाव (बन्ध-कता) देखता है (अर्थात् उस तामस त्यागको बन्धक मानता है) वह बुद्धि-मान् है।

आचार्य विनोबा भावे मानते हैं कि कर्म यानी स्वधर्माचरण और 'विकर्म' यानी विशिष्टकर्म, मनोयोगसे कृत कर्म। कर्ममें विकर्म मिलानेपर वह अकर्म यानी बन्धरहित निष्काम कर्म बन जाता है। उन्होंने 'विकर्म' शब्दगत 'वि' का अर्थ विरोध न मानकर 'विशिष्ट' माना है; अर्थात् विकर्म यानी विशिष्ट कर्म। कर्ममें वैशिष्टय यही है कि उसमें पूरा मनोयोग दिया जाय। वे कहते हैं कि कर्मके साथ जब आन्तरिक भावका मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ निराला ही हो जाता है। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है तो प्रकाश फैलता है। इसी प्रकार कर्मके साथ विकर्मका मेल होनेपर निष्कामता आती है। कर्ममें विकर्म डाल देनेपर वह कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। उससे शक्तिस्फोट होता है और उसमेंसे अकर्म (निष्कामता) का निर्माण होता है। फिर उस कर्मका कोई बोझा नहीं मालूम पड़ता। कर्ममें विकर्म डाल देनेपर वह अकर्म बन जाता है, मानो कर्म करके पुनः उसे पोंछ दिया गया हो।

श्री जयदयाल गोयन्दका 'कर्म' का अर्थ 'विधिसंगत उत्तम क्रिया' करते हुए भी यह मानते हैं कि वह कर्ताके भावोंकी विभिन्नतासे कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती है। इसमें भाव ही प्रधान है। उनके मतसे 'विकर्म' का अर्थ मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि अकर्तव्य या निषिद्ध कर्म हैं। किन्तु उनका कहना है कि वे विकर्म कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्म रूपमें बदल जाते हैं। उनके अनुसार 'अकर्म' का अर्थ है : मन, वाणी और शरीरकी क्रियाओंका अभाव। फिर भी क्रिया न करनेवाले पुरुषके भावानुसार वह अकर्म भी कर्म, विकर्म या अकर्म बन सकता है। सर्वत्र भावका ही प्राधान्य है। उदाहरणों-द्वारा ये बातें स्पष्ट कर उपसंहारमें वे कहते हैं कि भावोंके अनुसार कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदिका रहस्य जाननेवाला ही गीताके मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान् है।

श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पतिने अपने वैदिक-विज्ञानके अनुसार इस पद्यका कुछ अलग ही अर्थ लगाया है। संक्षेपमें वे कर्म छह प्रकारके बताते हैं : १. अमृत-भागसे मृत्युको अलग करनेवाला क्रतु, २. क्षण, ३. भाव, ४. संस्कार, ५. अव्यय पुरुषके विरुद्ध पाप, ६. मनुष्यद्वारा विभिन्न प्रकारकी वस्तुओंके उत्पादनार्थ करणीय कर्म। इनमें पाँचवाँ प्रकार अव्यय पुरुष आत्माका विरोधी होनेसे सर्वथा त्याज्य अतएव 'विकर्म' है। दूसरे भी यदि आत्मविरोधी हों तो त्याज्य, अतएव विकर्म होंगे। वे कहते हैं कि अमृतने चारों ओरसे मृत्युको घेर रखा है, इसीको गीताने कर्ममें अकर्मका और अकर्ममें कर्मका अनुप्रवेश कहा है। किन्तु जो उसी सम्मिलित रूपमेंसे अमृतभाग (आनन्द) को सूक्ष्मदृष्टिसे पृथक् कर देखता है, वह बुद्धिमान् है। सब कर्म अमृत—आत्मापर आश्रित हैं। इसलिए पुरुषको 'कृत्स्नकर्मकृत्' कहा है।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों एवं विद्वानोंद्वारा किये गये कर्म-अकर्मसम्बन्धी विवेचनके प्रकाशमें इस निष्कर्षपर पहुँचना अनुचित न होगा कि भगवान् यहाँ यही संकेत करते हैं कि ग्राह्यके अन्तरमें स्थित अग्राह्यपर और अग्राह्यके अन्तरमें स्थित ग्राह्यपर दृष्टि रखकर ही कर्म करो। संसारकी कोई भी वस्तु सर्वथा निर-पवाद नहीं हुआ करती। ग्राह्य आम्रफलका उपभोग उसके भीतरकी अग्राह्य गुठलीपर दृष्टि रखकर ही किया जाना चाहिए। इसी प्रकार बादामके अग्राह्य छिलकेके भीतर स्थित ग्राह्य बीजपर ध्यान रखकर ही बादामका उपयोग करना चाहिए। कोई भी वस्तु एकान्ततः अच्छी या बुरी नहीं हुआ करती। सबमें ग्राह्य और अग्राह्य दोनों अंश रहते हैं। बुद्धिमान्का कर्तव्य है कि उनका विवेक करके ही किसी वस्तुका उपयोग करे। सत्य जैसी परमार्थतः ग्राह्य और असत्य जैसी सर्वथा अग्राह्य वस्तुके विषयमें भी यही बात है। अतएव अनृतके सम्बन्धमें महा-भारत का यह श्लोक प्रसिद्ध है :

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥

(म० भा० आदि० ८२-१६)

अर्थात् हँसीमें, स्त्रियोंके साथ, विवाहके समय, प्राणसंकटके समय और सम्पत्ति-रक्षाके लिए झूठ बोलना पाप नहीं है। कर्म और अकर्मके विषयमें भी उत्सर्ग-अपवादकी यह दृष्टि ध्यानमें रखकर ही भगवान् यहाँ कर्मयोगका उपदेश दे रहे हैं। संक्षेपमें कर्म, विकर्म और अकर्मका यही रहस्य है।

गीतोक्त द्वादश यज्ञ

गीताकी यह अद्भुतता है कि कुरुक्षेत्रके समरांगण जैसी प्रखर कर्मभूमिमें कही जानेपर भी वह एक ओर मानवकी मुक्ति या शाश्वत शान्तिका[1] साधन मात्र ज्ञानको बताती है, तो दूसरी ओर अर्जुनसे कहती है कि 'पार्थ, तुम युद्धरूप कर्म करो। पुराने समयसे तुम्हारे पिता-पितामह यही करते आ रहे हैं।'[2] सकृद्-दर्शनमें ऐसी परस्पर विरोधी बातें मनमें नहीं बैठतीं। फिर भी गीताका मनन करनेवालोंको इसमें कोई विरोध नहीं दीखता। यह समझना भूल है कि गीता हमें संन्यासी बनाना चाहती है। वह तो हमें कर्मयोगी ही रखकर हमारे कर्मोंमें और चमक लाना चाहती है। यह चमक क्या कर्मोंकी मात्रा बढ़ाकर या लौकिक जगत्‌की भाँति उनके साथ छल-छद्म जोड़नेपर आयेगी? इससे तो कर्म और भी बलवान् बन जायेंगे! ज्ञानका बाध करनेकी उनकी शक्ति दूनी हो जायगी। नहीं, कर्मोंके विषके दाँत तोड़कर, मानवको बाँधनेकी उनकी धृष्टता मिटाकर ही उन्हें चमकाना चाहती है। कर्म मानवपर कभी आरूढ़ न हो पायें, भले ही मानव उनपर आरूढ़ हो जाय। इससे मानवको बाँधनेकी उनकी शक्ति टूट जायगी और मानव ज्ञान प्राप्त कर शाश्वत शान्तिका अनुभव करने लगेगा।

कर्मोंको इस स्थितिमें लानेके अनेक प्रकारोंमें गीतामें एक प्रकार यज्ञ भी बताया गया है। वह कहती है: 'अर्जुन, यज्ञके निमित्त जो कुछ कर्म करोगे, उनसे तुम्हें कभी बन्धन न होगा। इसके अतिरिक्त जो कर्म तुम्हारे द्वारा हुआ करेगा वही तुम्हारे लिए बन्धक होगा। इसलिए जो भी कर्म करो, उसकी आसक्ति छोड़कर, फलाकांक्षा त्यागकर मात्र यज्ञके लिए ही करो।'[3] यहाँ श्री शङ्कराचार्य 'यज्ञो वै विष्णुः' इस श्रुतिवाक्यके अनुसार 'यज्ञ' का अर्थ विष्णु करते हैं। उनके अनुसार श्रीविष्णु या ईश्वरको समर्पण कर जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता। कारण, आगे १३वें श्लोकके अनुसार इस प्रकार

---

१. ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। (गी० ४-३९)

२. कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्। (गी० ४-१५)

३. यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (गी० ३-९)

यज्ञ करके बचे हुए अन्न आदि उपभोग्य पदार्थोंका जो भोग करते हैं, उनमें उस वस्तुके भोक्तृत्वका भाव नहीं रहता। ईश्वर ही भोक्ता है, उसका बचा प्रसाद ही हम पा रहे हैं, यही भाव रहता है। फलस्वरूप उस कर्मसे वह बँध नहीं पाता।

किन्तु गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी इसपर लिखते हैं कि इसके बाद यज्ञ-प्रकरण चालू होनेसे उससे इस अर्थकी संगति नहीं बैठती। अतः 'यज्ञ' का व्यापक अर्थ लेना ही ठीक होगा। श्रुतियोंमें भी 'यज्ञ' को व्यापक अर्थमें लिया गया है और बताया गया है कि यज्ञसे ही संसारकी उत्पत्ति एवं स्थिति होती है। अतएव वे कर्मकाण्डोक्त अग्निहोत्रादि यज्ञ 'यज्ञ' शब्दका यहाँ उचित अर्थ नहीं मानते। कारण, उनके कथनानुसार अर्जुन कोई वहाँ यज्ञ-याग करने नहीं बैठा था, जो उसे उसका उपदेश प्रासंगिक होता।

श्री चतुर्वेदीजीके मतानुसार श्रीमधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पतिद्वारा प्रदर्शित विश्वसृष्टि-यज्ञरूप अर्थमें ही यहाँ 'यज्ञ' शब्द ठीक-ठीक बैठता है। अग्निमें सोमकी आहुति ही उनके मतसे यज्ञ है और सारी सृष्टि इसी क्रमसे उत्पन्न होती है, यह उनका वैदिक-विज्ञान है। विशेष जानकारीके लिए श्री ओझाजीके एतत्सम्बन्धी ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। बताया गया है कि यज्ञशेष अन्नका भक्षण करनेवालोंके सारे पाप धुल जाते हैं। किन्तु जो केवल अपने लिए स्वार्थभावसे पकाते हैं, कामकरते हैं और उसे भोगते हैं, वे केवल पाप ही खाते हैं।[१]

प्रश्न होगा कि 'यज्ञ' में ऐसा कौन-सा वैशिष्ट्य है? तो भगवान् (३-१०—१२) में यज्ञचक्रका गौरव प्रकट करते हैं।[२] उसका सार निम्नलिखित है :

---

१. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (गी० ३-१३)
यहाँ आगे द्रव्ययज्ञके अनुसार यज्ञशिष्टरूप अन्न तो सम्भव है, पर अन्य यज्ञोंमें वह नहीं बनता। इसलिए वहाँ 'अन्न' पदसे 'यज्ञावशिष्ट वस्तु-सामान्य'का उपयोग समझना चाहिए।

२. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ (गी० ३-१०—१२)

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञादि-कर्माधिकारसहित प्रजाको उत्पन्न कर आदेश दिया कि इस यज्ञके द्वारा आप लोग उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करें। यह आपके सभी अभीष्ट मनोरथोंको पूरा करे।[1] प्रश्न होगा कि ये यज्ञ किस प्रकार हमें अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करेंगे? तो कहते हैं कि इन यज्ञोंसे आप लोग इन्द्रादि देवोंको हविर्भाग देकर तृप्त करें। फिर इस तरह आप लोगोंद्वारा तृप्त देव वृष्टि आदि द्वारा आप लोगोंको आप्यायित करें। इस प्रकार परस्परको संतृप्त करते हुए परम श्रेय स्वर्ग या ज्ञानद्वारा मुक्तिरूप कल्याणके भागी बनें। यज्ञद्वारा सन्तर्पित ये देवगण न केवल आपका पारलौकिक अभीष्ट ही पूर्ण करेंगे, अपितु ऐहलौकिक भोग—हिरण्य, अन्न, पशु-पुत्रादि भी सुलभ कर देंगे। किन्तु उनके द्वारा दिये गये भोगोंको यदि यज्ञमें उनको आहुतिरूपमें दिये बिना कोई भोगता है, उनका ऋण बिना चुकाये ही केवल अपने शरीरका ही सन्तर्पण किया करता है तो वह निश्चय ही चोर है। कारण, उनमें उनका स्वत्व रहते हुए भी वह उसे हड़प जाता है। ज्ञातव्य है कि यहाँ 'यज्ञ' शब्द गृहस्थोंके लिए नित्यकर्मके रूपमें विहित पञ्चमहायज्ञोंका भी उपलक्षण है।

गीता आगे कहती है कि न केवल प्रजापतिके आदेशसे ही ऐसा करना चाहिए वरन् इस जगच्चक्रकी प्रवृत्ति अर्थात् उसके चलते रहनेका कारण भी यज्ञ है। इसलिए प्रजामात्रको ये यज्ञ करने चाहिए। यज्ञ जगच्चक्रके प्रवर्तक कैसे हैं? तो भगवान् उसे स्पष्ट करते हैं[2] कि खाये हुए अन्नके रूपान्तरित परिणाम रजोवीर्यसे प्राणिशरीरकी उत्पत्ति होती है। वह अन्न वृष्टिसे होता है। वह वृष्टि

१. यहाँ श्री मधुसूदन सरस्वती स्पष्ट बतलाते हैं कि प्रजापतिका यह यज्ञोपदेश काम्य नहीं, नित्य है। कारण, भगवान् पहले ही बता चुके हैं कि 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' अर्थात् तुम फलकी कामनासे कर्म मत करो। फिर यह कैसे कहा कि यह आपका अभीष्ट पूर्ण करे? इसका समाधान यही है कि फलकी अभिसन्धि न रखते हुए भगवान् यह कर्म करनेको कह रहे हैं। ऐसी स्थितिमें वस्तुस्वभावसे फल हुआ तो कोई बाधा नहीं आती। इसे इस प्रकार समझाया जा सकता है कि वास्तवमें फलार्थ आम्रवृक्ष लगानेपर भी जैसे सहज ही बिना माँगे छाया और गन्ध मिल जाते हैं, उससे फलप्राप्तिरूप उद्देश्यकी कोई हानि नहीं होती वैसे ही धर्माचारीके आगे-आगे न चाहते हुए भी अर्थ आया करते हैं। उसमें उसे आसक्ति या अभिरुचि रखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। 'गीताग्रन्थि' के प्रकरणमें इस विषयका विश्लेषण हो चुका है।

२. अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

अग्निहोत्र आदि यज्ञोंसे उत्पन्न अपूर्वरूप धर्मसे होती है और वह अपूर्वरूप धर्म कर्म यानी यज्ञसे होता है। वह यज्ञरूप कर्म ब्रह्म अर्थात् वेदसे उद्‌भूत है, वेद-द्वारा विहित है। अन्ततः वेद भी अक्षर परमात्माके निःश्वासोंसे आविर्भूत है। इसलिए साक्षात परमात्माद्वारा आविर्भूत होनेसे सर्वप्रकाशक नित्य-अविनाशी उस वेदमूर्ति ब्रह्मका तात्पर्य उस अपूर्वरूप धर्ममें ही है जिसे गीताने इस श्लोकमें 'यज्ञ' नामसे कहा है। सारांश, सृष्टिके आरम्भमें परमेश्वरके श्वासोच्छ्‌-वाससे सर्वाविभासक नित्यनिर्दोष वेदराशिका आविर्भाव हुआ। उससे मानवको कर्तव्य-अकर्तव्यका परिज्ञान हुआ। उसके अनुष्ठानसे धर्म उत्पन्न होता है। उससे पर्जन्य या वृष्टि होती है। वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा यानी प्राणिवर्ग। प्राणिवर्ग पुनः उसी क्रमसे कर्ममें प्रवृत्त होता है। अतएव भगवान् कहते हैं कि परमेश्वरद्वारा यह जगच्चक्र इसी प्रकार चल रहा है। इसे सुव्य-वस्थित चलानेमें जो अनुकूल नहीं बनता उसका जीवन पापमय है। पार्थ, वह व्यर्थ ही जीवन धारण करता है। उस विलासीका जीनेसे मरना ही अच्छा! कारण, मरनेके पश्चात् द्वितीय जन्म लेनेपर कदाचित् ही उसके हाथों धर्माचरण हो, वह इस जगच्चक्रके प्रचलनमें सहयोग दे सके।

वस्तुतः 'यज्ञ' भारतीय संस्कृतिका सुदुर्लभ बहुमूल्य दाय है। इसीके कारण भारतीय संस्कृति विश्वसंस्कृति होनेका अभिमान कर सकती है। 'यज्ञ' शब्द जिस धातुसे निष्पन्न है वही इसका यह गौरव प्रकट कर देता है। महर्षि पाणिनिके धातुपाठके अनुसार 'यज्ञ' शब्दगत 'यज्' धातुका अर्थ है: दिव्यता-सम्पन्न इन्द्रादि देव किंवा दिव्यगुणसम्पन्न महापुरुषोंकी पूजा, सम्मान, यत्र-तत्र विश्रृंखलित जनोंका संघटन तथा सत्पात्रमें धनादिका दान करना—'यज् देव-पूजा-सङ्गतिकरणदानेषु' (भ्वा० प० १००२)। ऐसे श्रेष्ठतम धातुसे निष्पन्न 'यज्ञ' शब्दके अर्थके विषयमें जितना ही कहा जाय, अल्प ही है। अतएव भगवान्‌ने इसे विशाल जगच्चक्र-चालनकी चाबी कहा है।

इस प्रकार तृतीयाध्यायके ९ से १६ तक आठ श्लोकोंके साररूपमें यह बतलाया गया कि जगच्चक्रके सञ्चालनार्थ यज्ञ-कर्म अत्यावश्यक हैं और वे यज्ञार्थ-कर्म कभी

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (गी० ३-१४—१६)

बन्धक नहीं हुआ करते। इसी भावको चतुर्थ अध्यायके तेईसवें श्लोकसे भी भगवान् व्यक्त कर रहे हैं :

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।

अर्थात् कर्ताद्वारा यज्ञार्थ किया जानेवाला कर्म समग्रफलसहित विलीन हो जाता है—वह कर्म कर्ताके लिए बन्धक नहीं बनता।

इसपर प्रश्न हो सकता है कि अन्ततः क्रियमाण कर्म फलभोगके बिना नष्ट कैसे होगा, जब कि कर्मका सहज स्वभाव है कि वह फलभोगसे ही नष्ट हुआ करता है? इसपर भगवान् कहते हैं :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गी० ४-२४)

आशय यह है कि कर्मको ब्रह्म समझनेवाला ब्रह्मवेत्ता यदि कर्मानुष्ठान करता है तो उसका उस यज्ञसे प्राप्तव्य ब्रह्म ही हुआ करता है। कारण, वही साकांक्ष और अव्यवहित होता है। पूछें कि कर्मको ब्रह्म कैसे समझा जाय? तो कहते हैं : 'ब्रह्मार्पणम्' इत्यादि। ज्ञातव्य है कि यज्ञरूप क्रिया अनेक कारकोंद्वारा सम्पन्न हुआ करती है। देवताके उद्देश्यसे द्रव्यका त्याग 'याग' कहलाता है, तो छोड़े जानेवाले हविका अग्निमें प्रक्षेप है 'होम'। यहाँ उद्देश्यभूत देवता सम्प्रदानकारक (चतुर्थीबोध्य) हैं। छोड़ा जानेवाला द्रव्य हवि है कर्मकारक (द्वितीयाबोध्य)। फिर हविके प्रक्षेपका साधन स्रुचि या जुहू (जिसमें हवि रखकर छोड़ा जाता है वह आचमनी जैसा पलाशकी लकड़ीका पात्र-विशेष) है करणकारक (तृतीया-बोध्य)। यागमें यजमान और होममें यजमानद्वारा वृत अध्वर्यु कर्ताकारक (प्रथमाबोध्य) है। अग्नि हवि छोड़नेका अधिकरणकारक (सप्तमीबोध्य) है। किन्तु ब्रह्मज्ञान हो जानेसे ब्रह्मवेत्ताके ये सारे क्रिया-कारक व्यवहार, रज्जुका ज्ञान हो जानेपर सर्पज्ञानके समान, सर्वथा बाधित हो जानेके कारण दिखाई पड़नेपर भी दग्धपटकी भाँति बन जाते हैं और वे फलप्रदानमें अक्षम बन जाते हैं। उसके लिए तो वह 'अर्पण' यानी जुहू आदि भी ब्रह्म है। 'हवि' या होमद्रव्य भी ब्रह्म है। 'ब्रह्माग्नौ' यानी ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्ताद्वारा किया गया होम भी ब्रह्म ही है। ब्रह्मके सिवा वहाँ कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार ब्रह्मभावकी ही सर्वयज्ञके रूपमें यहाँ स्तुति की गयी है। यही ब्रह्मयज्ञ या ब्रह्मदर्शन है जिसे आगे ३३वें श्लोकसे गीताकार सब यज्ञोंमें श्रेष्ठतम यज्ञ बताना चाहते हैं।[1]

---

१. श्रीशङ्कराचार्यने इस श्लोकका दूसरा भी अर्थ दिखाकर उसका खण्डन करते

इस प्रकार ब्रह्मज्ञान या सम्यग्-दर्शनकी यज्ञरूपसे स्तुति इस श्लोकमें की गयी। आगे भी यह कहकर इसकी स्तुति की जा रही है कि द्रव्यमय (ज्ञानरहित) यज्ञसे यह ज्ञानयज्ञ अत्यन्त प्रशस्त है। यह ठीक भी है, व्यवहारमें भी किसीको ब्राह्मण बता देना ही उसकी स्तुतिकी इतिकर्तव्यता नहीं हो जाती, उसे सब ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ बतानेपर ही उसका वास्तविक व्यक्तित्व निखरता है। किन्तु जिनसे इस ब्रह्मज्ञानयज्ञकी तुलना कर इसे श्रेष्ठतम बताना है, उनका भी तो पहले कुछ परिचय देना चाहिए। उसके बिना ठीक प्रकारसे दोनोंका तर-तम-भाव ध्यानमें ही नहीं आ सकता। अतएव आगे २५वें श्लोकसे ३०वें श्लोकके पूर्वार्धतक १२ प्रकारके यज्ञ बतलाते हैं :

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

हुए इसी अर्थका समर्थन किया है। वे कहते हैं : कुछ लोगोंका मत है कि ब्रह्म ही अर्पण आदि पाँच प्रकारके कारकोंका रूप धारण कर कर्म (यह यज्ञ) करता है। उस समय उनमें-से अर्पण आदिकी बुद्धि नहीं मिटती। बल्कि उनमें ब्रह्मबुद्धि बिठायी जाती है, जैसे कि प्रतिमामें विष्णुबुद्धि या नाममें ब्रह्मबुद्धि। किन्तु उनका यह कहना तब सही होता, जब कि यह प्रकरण ज्ञानयज्ञकी स्तुतिका न होकर ब्रह्मदृष्टिरूप सम्पन्मात्रफलक होता। यहाँ तो स्पष्ट ही ज्ञानयज्ञकी, जिसे 'सम्यग्-दर्शन' कहा जाता है, 'यज्ञ' कही जानेवाली अनेक क्रियाओंका उल्लेख कर 'श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप' से स्तुति की गयी है। उसीके समर्थनमें 'ब्रह्मार्पणम्' यह श्लोक है जो ब्रह्मज्ञानको यज्ञ बताता है। अन्यथा सभी ब्रह्मरूप होनेपर अर्पण आदिको पृथक्‌रूपमें ब्रह्मस्वरूप बतानेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

इसी प्रकार सम्पन्मात्रके लिए प्रतिमादिमें विष्णुबुद्धिकी भाँति अर्पणादिमें ब्रह्मबुद्धिका पक्ष माननेपर इस ब्रह्मदृष्टिपक्षमें प्रधानरूपसे ज्ञेय अर्पणादि ही होंगे, ब्रह्मविद्या नहीं। किन्तु इसमें प्रकरणादिकी स्पष्ट असंगति है। सिवा इसके इसी श्लोकमें 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' से स्पष्टतः इसका फल ब्रह्मप्राप्ति बताया है, जब कि आप ब्रह्मदृष्टि कहते हैं। दोनोंमें मेल ही नहीं बैठता। अतः उपर्युक्त अर्थ ही उचित है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।

इन श्लोकोंका अर्थ समझनेके पूर्व इनमें बतलाये गये १२ यज्ञोंके नाम समझ लेना विषयबोधकी दृष्टिसे ठीक होगा ।

गीताके सम्मान्य टीकाकार श्री श्रीधरस्वामीके मतानुसार इन श्लोकोंद्वारा कहे गये १२ यज्ञ ये हैं : १. दैवयज्ञ, २. आत्मज्ञान-यज्ञ, ३. ब्रह्मचारियोंद्वारा अनुष्ठेय इन्द्रियसंयम-यज्ञ, ४. गृहस्थोंद्वारा क्रियमाण आसक्तिरहित भोग-यज्ञ, ५. आत्मसंयम-यज्ञ (ध्यान-धारणा-समाधि), ६. द्रव्य-यज्ञ (दानादि), ७. तपोयज्ञ, ८. योग-यज्ञ (आसनसहित यम-नियम), ९. स्वाध्याय-यज्ञ (सस्वर वेदपाठ), १०. ज्ञान-यज्ञ (मीमांसाद्वारा वेदार्थनिश्चय), ११. रेचक-पूरक-कुम्भक त्रिविध प्राणायाम-यज्ञ, १२. आहार-संकोचसम्पन्न इन्द्रिय-वृत्तिलय-यज्ञ । अथवा 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे' इस अर्धालीसे—(आवर्तमान पूरक-रेचकके कारण व्यञ्जित होनेवाले 'हंसः, सोऽहम्' इस प्रतिलोम-अनुलोम अजपा मन्त्रद्वारा सम्पाद्यमान) तत्त्वंपदार्थैक्यभावनारूप ११. अजपाजाप-यज्ञ, १२. प्राणायाम-यज्ञ—'प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम-परायणाः । अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।'

दूसरे सम्मान्य दार्शनिक टीकाकार श्री मधुसूदन सरस्वतीके मतसे ये १२ यज्ञ इस प्रकार हैं : १ से १० तक पूर्ववत् । ११. महाव्रत-यज्ञ ('यतयः संशितव्रताः' से बोध्य), १२. प्राणायाम-यज्ञ ('अपाने जुह्वति···' से 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' तक सार्धश्लोक-बोध्य) ।

ज्ञातव्य है कि सामान्यतः यज्ञमें अग्निमें हविका होम होता है । इसी दृष्टिसे इन बारह यज्ञोंमें एक-एक अग्नि और उसमें एक-एक हविका रूपण किया गया है । इनमें योगशास्त्रके आठों अंग, ज्ञान और दैवयज्ञसम्बन्धी कर्मोंको यज्ञ-रूपसे चित्रित किया गया है । अब श्लोकोंके आधारपर श्रीधरोक्त इन यज्ञोंके स्वरूप देखें :

१. दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते : कर्मयोगी यानी कर्मकाण्डी लोग इन्द्रादि देवोंके उद्देश्यसे किये जानेवाले दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ किया करते हैं। इन्द्रादिदेवतासम्बन्धी होनेसे इन्हें 'दैवयज्ञ' कहा जाता है।

२. ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति : अपरे=ब्रह्मवेत्ता लोग, यज्ञं=सोपाधि जीवात्माको, यज्ञेन=अपने सत्य-ज्ञानादि-उपाधि-परित्यागरूप साधनसे, ब्रह्माग्नौ=सच्चिदानन्द अखण्ड परमात्मामें, जो अग्निकी भाँति सम्पूर्ण कर्मोंका दाहक होनेसे ब्रह्माग्नि है, उपजुह्वति=विलीन कर देते हैं। जैसे घटाकाशकी घटरूप उपाधिका परित्याग कर महाकाशमें विलय, उसके साथ ऐक्य कर दिया जाता है, वैसे ही जीवकी उपाधियोंका त्याग कर सत्यज्ञानादिरूप साजात्य साधनसे उसे परमात्मामें विलय करना अर्थात् जीव-ब्रह्मका ऐक्य साधना ही दूसरा ज्ञानयज्ञ है। मधुसूदन सरस्वती यज्ञेन='ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' आदि पूर्वोक्त प्रकारसे, ऐसा अर्थ करते हैं। इनके मतसे यह यज्ञ 'तत्' पदार्थका 'त्वम्' पदार्थके साथ अभेदरूप यज्ञ है।

३. श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति : अन्ये=योगसाधनामें प्रवृत्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी लोग, श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि=श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंको, संयमाग्निषु=संयमरूप अग्निमें, जुह्वति=संयत करते हैं। अर्थात् प्रत्याहार-परायण नैष्ठिक ब्रह्मचारी योगी द्वारा सम्पादित एक-एक ज्ञानेन्द्रियका संयमनरूप 'प्रत्याहार' नामक पाँचवाँ योगाङ्ग ही यहाँ 'इन्द्रिय-संयमयज्ञ' कहा जाता है।

४. शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति : अन्ये=गृहस्थ लोग, शब्दादीन् विषयान्=शब्दादि पञ्च विषयोंको, इन्द्रियाग्निषु=इन्द्रियरूप अग्निमें, जुह्वति=होम करते हैं। अर्थात् भोगके समय भी अनासक्त होकर अग्निरूपमें इन्द्रियोंकी भावना कर शब्दादि विषयोंको हविरूपमें छोड़ते हैं। यह 'अनासक्त भोग-यज्ञ' है।

५. सर्वाणीन्द्रियकर्माणि···ज्ञानदीपिते : अपरे=ध्याननिष्ठ योगी, सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि=श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके श्रवणादि पाँच और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियोंके वचनादि पाँच, प्राणकर्माणि=तथा दशविध प्राणोंके बहिर्गमनादि दस कर्म—इन सभी कर्मोंको, ज्ञानदीपिते=ध्येय विषयसे दीप्त, वेदान्त-वाक्यजन्य ब्रह्मसाक्षात्कारसे अत्यन्त उज्ज्वल, आत्मसंयमयोगाग्नौ=आत्मामें जो संयम यानी ध्यान, धारणा तथा समाधिका एकत्र संयोजन, तद्रूप योगात्मक अग्निमें जुह्वति=होम देते हैं। अर्थात् सब कर्मोंको वहाँ उपरत कर देते हैं। यह 'आत्मसंयमयोग-यज्ञ' है।

६. **द्रव्ययज्ञाः**—वैसे दैवयज्ञमें भी घृत, हवि आदि द्रव्योंका होम किया जाता है। इसलिए यहाँ 'द्रव्य' पदसे पूर्त यानी वापी-कूप-तड़ाग-वाटिका-धर्मशालादि-निर्माण एवं गो-वस्त्र-भूमि आदिके दानकर्म लेने चाहिए। इसे 'द्रव्ययज्ञ' कहा जाता है। न्यायोपार्जित धनादिसे परोपकारार्थ जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी इस यज्ञमें आ जाते हैं।

७. **तपोयज्ञाः**—कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप ही यहाँ तपोयज्ञसे लिये जाते हैं।

८. **योगयज्ञास्तथापरे** : तथा=और, अपरे=दूसरे, योगयज्ञाः=आसन-सहित यम-नियम आदि साधना 'योग-यज्ञ' कहलाता है। योगके शेष पाँच अंग क्रमशः तीसरेमें प्रत्याहार, पाँचवेंमें धारणा, ध्यान, समाधि, ११-१२ में प्राणायाम पठित हैं। अतः परिशेषात् यहाँ 'योग' से आसन-सहित यम-नियम ही लेने चाहिए।

९-१०. **स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च** : स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञानयज्ञ ये दो और यज्ञ कहे गये हैं। 'स्वाध्याय' का अर्थ है वेदका सस्वर पाठ। और 'ज्ञानयज्ञ' का यहाँ अर्थ है, उस सस्वर अधीत वेदके अर्थका मीमांसा-शास्त्रकी सहायतासे निश्चय। ये यज्ञ 'यतयः संशितव्रताः'=प्रयत्नशील और तीव्रव्रतशील लोग करते हैं।

११. **अपाने जुह्वति प्राणं··प्राणायाम-परायणाः**—अपरे=दूसरे योगी लोग, अपाने=अपान वायुमें, प्राणम्=प्राणवायुको, जुह्वति=होमते हैं, पूरक करते हैं। तथा=उसी प्रकार, प्राणे=प्राणवायुमें, अपानम्=अपान वायुका होम करते हैं, रेचक करते हैं, प्राणायामगती रुद्ध्वा=तथा कुम्भक करके, प्राणायाम-परायणाः =प्राणायाम-यज्ञ करते हैं।

१२. **अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति** : अपरे=दूसरे लोग, यियताहाराः=आहार-संकोचका अभ्यास करते हुए, प्राणेषु=स्वयं जीर्ण होनेवाली इन्द्रियोंमें, प्राणान्=इन्द्रियवृत्तियोंको, जुह्वति=होमते हैं। अर्थात् आहारसंकोच-का अभ्यास करते-करते इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं, फलतः उनकी वृत्तियाँ ही नहीं बनतीं। यह आहार-संकोचसम्पन्न 'इन्द्रियवृत्तिलय-यज्ञ' है।

श्रीधर स्वामीके मतसे ११, १२ यज्ञोंके दो अन्य प्रकार निम्नलिखित हैं :

११. **अजपाजाप-यज्ञ** : यह यज्ञ उन्होंने 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा-परे' इस श्लोकके पूर्वार्धसे बनाया है। पूरक-रेचकके आवर्तनसे 'हंसः, सोऽहम्' यह अजपामन्त्र अभिव्यक्त होता है। फिर उस मन्त्रसे तत् और त्वं पदार्थके एकत्वकी भावना 'अजपाजाप-यज्ञ' कहलाता है।[1]

---

१. जैसा कि योगशास्त्रमें कहा है :

१२. **प्राणायाम-यज्ञ :** प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा:। अपरे नियताहारा: प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥ इस श्लोकसे यह 'प्राणायाम-यज्ञ' सूचित होता है।[1]

जैसा कि ऊपर कहा गया है, श्री मधुसूदन सरस्वतीके मतसे भी ११, १२ यज्ञ भिन्न हैं। वे 'यतय: संशितव्रता:' से ११वाँ महाव्रत-यज्ञ और १२वाँ प्राणायाम-यज्ञ 'अपरे नियताहारा:' से 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' तक बताते हैं। अहिंसादि यम और शौचादि नियम जब जाति, देश, काल, समय (शपथ) की सीमासे परे होकर सार्वभौम, सदैव अनुष्ठेय हुआ करते हैं तो उन्हें योगशास्त्रमें 'महाव्रत' कहा जाता है। उसीमें यज्ञभावना इस 'महाव्रत-यज्ञ' का विषय है।

इस तरह १२ प्रकारके यज्ञोंको बताकर गीता ३०वें श्लोकके उत्तरार्धसे ३३वें श्लोकतक यह यज्ञ प्रकरण ले जाती और ज्ञानयज्ञको सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ बताती है।

भगवान् कहते हैं : इन बारह प्रकारके यज्ञोंको जाननेवाले और करनेवाले पूर्वोक्त यज्ञोंसे अपने पापोंको जलाकर यज्ञसे बचा हुआ अन्न, जो कि 'अमृत' नामसे कहा जाता है, खाकर सत्त्वशुद्धिद्वारा सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, अर्थात् संसारसे मुक्त हो जाते हैं। किन्तु इन यज्ञोंमें-से एक भी यज्ञ जो नहीं करता, उसके लिए अल्पसुख यह मनुष्यलोक भी सुलभ नहीं हो सकता, तो अर्जुन, स्वर्गादि अन्य लोकोंकी बात ही क्या? कोई यज्ञ न करनेवाला इस मृत्युलोकमें सबकी

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुन:।
प्राणस्तत्र स एवाहं हंस इत्यनुचिन्तयेत् ॥

१. जैसा कि योगशास्त्रमें कहा है :

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्।
मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥

अर्थात् पेटके दो भाग अन्नसे भरें, एक भाग जलसे तथा चौथा भाग रिक्त रखें। इस वचनके अनुसार जिनका आहार है वे नियताहार कहलाते हैं। ऐसे नियताहारी लोग कुम्भकसे प्राणापानगति रोककर प्राणायाम-यज्ञ करते हैं। कुम्भकमें सभी प्राण एक होते हैं। अत: वहीं लीन होनेवाली इन्द्रियोंमें होम-भावना करते हैं। योगशास्त्रमें कहा है :

यथा यथा सदभ्यासान्मनस: स्थिरता भवेत्।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥

निन्दाका पात्र होगा, तब ऐसा निन्दित जीवन लेकर जीनेका ही क्या मूल्य है ! उसके लिए यहाँ भी मुँह दिखाना सम्भव नहीं, यह भाव है।

अर्जुन ! इस प्रकार अनेक प्रकारके यज्ञ, जो वेदोंके द्वारा जाने जाते हैं, उन सबको कर्मज यानी कायिक, वाचिक या मानसिक कर्मोंसे ही जन्य समझो, उन्हें कभी आत्मजन्य मत मानो; क्योंकि आत्मा मूलत: निर्व्यापार ही है। इस प्रकार जब तुम जानोगे कि 'ये सारे यज्ञ कर्मजन्य हैं, मुझ आत्मासे जन्य नहीं, मैं तो सर्वथा उदासीन हूँ' तो तुम इस संसारबन्धनसे मुक्त हो जाओगे।

अन्तमें इस ज्ञानमय यज्ञका उपसंहार करते हैं। साथ ही सभी यज्ञोंका समानरूपसे वर्णन पीछे कर आये हैं, अत: सभी द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ समान-से प्रतीत होते हैं। अतएव उनमें विशेषता बतानेके लिए भगवान् ३३वें श्लोकसे कहते हैं :

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

अर्थात् हे अर्जुन, द्रव्यमय अर्थात् ज्ञानसे विहीन जितने यज्ञ हैं उनसे ज्ञानयज्ञ प्रशस्यतर है। कारण, उससे साक्षात् मोक्ष मिलता है, जब कि इनसे परम्परया चित्तशुद्धिद्वारा मिलता है। सारे श्रौत-स्मार्त यज्ञ-उपासनादि कर्मोंकी कृतकृत्यता ही यह है कि वे प्रतिबन्धकोंको नष्ट कर ब्रह्मसाक्षात्कार करानेमें काम आयें। अर्थात् सभी प्रकारके कर्मोंके फलोंका मुख्य फल ज्ञान ही है। अतएव ज्ञानयज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है।

गीताके तीसरे और चौथे अध्यायोंके यज्ञसम्बन्धी इस विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि गीता कर्म और ज्ञान दोनोंका सन्तुलन बनाये रखती है और साथ ही ज्ञानकी प्रशस्यतरता का भी उद्घोष करती है। तथापि वह ज्ञानतक तत्काल न पहुँचनेवालोंके लिए 'यज्ञ' जैसी ऐसी सीढ़ी बताती है कि उससे वह अन्तमें वहीं पहुँच जाय। कर्मसे अत्यन्त लिपटे लोगोंके लिए भी कोई न कोई उपाय बताना ही चाहिए जिससे वह राजमार्गपर पहुँच जाय। उन्हें यज्ञ-भावसे करते रहना इनके लिए सभी उपायोंमें श्रेष्ठतम उपाय है। इससे उनके उन कर्मोंमें अत्यधिक निखार आ जाता है।

प्रकारान्तरसे यज्ञोंका वर्गीकरण

अबतक गीताके सम्मान्य टीकाकार श्री श्रीधरस्वामी एवं श्री मधुसूदन सरस्वतीके मतानुसार गीतोक्त द्वादश यज्ञोंका विस्तृत विवेचन किया जा चुका।

अब गीताकी एक मराठी भाषाकी टीकाकी भूमिकामें श्रीयुत आनन्दघन-रामजीने गीतोक्त इन्हीं यज्ञोंको ७ वर्गोंमें बाँटकर १२ के स्थानपर १४ यज्ञोंको उन वर्गोंमें विभाजित करनेका प्रयास जिस सारणी द्वारा किया है, वह अत्यन्त स्पष्ट होनेसे यहाँ सादर उद्धृत की जा रही है। वैसे तो उपर्युक्त दोनों प्राचीन टीकाकारोंके यज्ञोंके प्रकाशमें १३ यज्ञ हो ही जाते हैं, शेष १ जप-यज्ञ विभूतियोगसे निकालकर माननीय सारणीकारने १४ यज्ञ बताये, ऐसा प्रतीत होता है।

यज्ञोंके वर्ग	प्रकार	यज्ञोंके नाम एवं अनुक्रमाङ्क	अध्याय और श्लोक	स्पष्टीकरण
१. जडवस्तु-सम्बन्धी यज्ञ	२	१. द्रव्ययज्ञ	४-२८	धन-धान्य, वस्त्रादि सम्पत्तिको ईश्वरप्रीत्यर्थ दान, धर्म और परोपकारी कार्योंमें खर्च करना।
	...	२. देवयज्ञ	४-२५	देवताओंके लिए जडद्रव्योंका हवन।
२. शरीर-सम्बन्धी यज्ञ	२	३. ज्ञानेन्द्रिययज्ञ	४-२६	ज्ञानेन्द्रियोंके संयमका अभ्यास यानी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना।
	...	४. विषय-यज्ञ	४-२६	इन्द्रियोंद्वारा उन्हीं विषयोंका सेवन करना जो यज्ञावशिष्ट हों।
३. वाणी-सम्बन्धी यज्ञ	१	५. स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञ	४-२८	अर्थज्ञानसहित धर्मग्रन्थोंके पढ़नेका अभ्यास (वेदाध्ययन, स्तोत्र-पारायण आदि, नामजप)।
४. प्राण-सम्बन्धी यज्ञ	४	६. प्राणयज्ञ	४-२९	अपान, व्यान, उदान और समान इन चारोंको प्राणवायुमें हवन करना यानी पूरक प्राणायाम।
	...	७. अपानयज्ञ	४-२९	प्राण, व्यान, उदान और समान इन चारोंको अपान वायुमें हवन करना यानी रेचक प्राणायाम।
	...	८. प्राणापान-यज्ञ	४-२९	शरीरमें दोषरहित शुद्ध प्राणवायुको स्थिर, स्वस्थ और शान्त करना, सम परिमाणमें रोककर आभ्यन्तर या बाह्य कुम्भक।

यज्ञोंके वर्ग	प्रकार	यज्ञों के नाम एवं अनुक्रमाङ्क	अध्याय और श्लोक	स्पष्टीकरण
	...	९. अन्तरप्राण-यज्ञ	४-३०	इन्द्रियोंको चेतन करनेवाली प्राण-शक्तिको आहारके नियमसे वश करना।
५. बुद्धि-सम्बन्धी यज्ञ	१	१०. योग-यज्ञ	४-२८	बुद्धियोग यानी कुशलतासे निष्काम कर्म करना। अथवा अष्टांग योग-का साधन करना।
६. मिश्रित-प्रकार यज्ञ	३	११. तपोयज्ञ	४-२८	व्रतोपवास या अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंद्वारा शरीर एवं मनको शुद्ध और पवित्र बनाना या स्वधर्म-पालनरूप तप करना।
	...	१२. जपयज्ञ	१०-२५	वाचिक, उपांशु, मानसिक, ध्यान या अनन्य जप करना।
	...	१३. इन्द्रिय-प्राण-कर्मयज्ञ	४-२७	इन्द्रियोंकी चेष्टाओं और प्राणोंके व्यापारको रोककर मनको आत्मामें एकाग्र करना या इन्द्रियोंकी चेष्टा और मनके व्यापारको ज्ञानसे प्रकाशित परमात्मामें स्थितिरूप योगमें लगाना।
७. परमात्म-सम्बन्धी यज्ञ	१	१४. ज्ञानयज्ञ या ब्रह्मयज्ञ	४-२५ ४-२४	सब कुछ ब्रह्मरूप समझकर सर्वदा सर्वत्र समस्त क्रियाओंमें सर्वथा ब्रह्मका अनुभव करना।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा

गीताके दशम अध्यायके षष्ठ श्लोकमें भगवान् कहते हैं :

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः ॥

इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि सात महर्षि और पूर्वे चत्वारः=पहलेके चार मनु मेरे ही मनःसंकल्पसे मानस सृष्टिके रूपमें आविर्भूत हुए जिनके प्रभावसे लोकमें दृश्यमान यह सारी प्रजा उत्पन्न हुई ।

किन्तु गहनतामें जानेपर यह श्लोक बड़ा ही उलझा हुआ प्रतीत होगा । बात यह है कि १. क्या श्लोकमें पठित 'पूर्वे' (पहलेके) पदका 'महर्षयः सप्त' (सात महर्षियों) के साथ अन्वय करेंगे अथवा २. 'पूर्वे' और 'चत्वारः' (चार) दोनोंको विशेषण मान उन दोनोंका 'मनवः' (मनु लोग) के साथ अन्वय करेंगे, किंवा ३. 'पूर्वे' विशेषणका 'चत्वारः' को विशेष्य मान उसके साथ अन्वय करेंगे ?

प्रथम पक्ष ठीक नहीं; 'पूर्वे' का 'महर्षयः सप्त' से अन्वय करनेपर अर्थ होगा—पहलेके सात महर्षि । इसे समझनेके लिए यह ज्ञातव्य होगा कि प्रत्येक कल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं और वे दो भागोंमें विभक्त किये जाते हैं : १. स्वायम्भुवादि-सप्तक और २. सावर्ण्यादिसप्तक । बताया गया है कि प्रत्येक मन्वन्तरमें सप्तर्षि भिन्न-भिन्न होते हैं । गीता जब गायी गयी तो वह 'वैवस्वत' मन्वन्तर था और आज भी वही चल रहा है । ऐसी स्थितिमें 'पहलेके सात महर्षि' का अर्थ होगा, इससे पूर्वके चाक्षुष मन्वन्तरके महर्षि । इनके नाम हैं : १. भृगु, २. नभ, ३. विवस्वान्, ४. सुधामा, ५. विरजा, ६. अतिनामा और ७. सहिष्णु । किन्तु वैवस्वत मन्वन्तरकी गीताको चाक्षुष मन्वन्तरके इन सप्तर्षियोंसे क्या प्रयोजन है जब कि वह इसी श्लोकमें कह रही है कि 'इमाः प्रजाः' अर्थात् आजकी यह प्रजा इन्हीं सप्तर्षियोंकी सन्तान है । यह तो 'वदतो व्याघात' हो जायगा । आजकी प्रजा आजके वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षियोंकी ही सन्तान हो सकती है । अतः 'पूर्वे' का 'महर्षयः सप्त' के साथ अन्वय बाधित है । यदि प्रत्येक मन्वन्तरका महर्षि-सप्तक विवक्षित होता तो श्लोकमें 'महर्षयः सप्त सप्त' ऐसा दो बार सप्त शब्द कहना चाहिए था । कारण, उपर्युक्त विधानके अनुसार

पूरे १४ मन्वन्तरोंमें ७ नहीं, १४ महर्षिसप्तक हुआ करते हैं। अतः प्रथम पक्ष सर्वथा अग्राह्य है।

अब यदि द्वितीय पक्ष मानें, अर्थात् 'पूर्वे' और 'चत्वारः' दोनोंको विशेषण मान 'मनवः' के साथ अन्वय करें तो वह भी संगत नहीं। कारण, मनु तो सात-सातके दो भागोंमें विभक्त हो १४ संख्यक हैं। प्रथम स्वायम्भुव विभागके मनु हैं: १. स्वायम्भुव, २. स्वारोचिष, ३. उत्तम, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष और ७. वैवस्वत।[1] दूसरे सावर्णि विभागके मनु हैं: १. सावर्णि, २. दक्षसावर्णि, ३. ब्रह्मसावर्णि, ४. धर्मसावर्णि, ५. रुद्रसावर्णि, ६. देवसावर्णि और ७. इन्द्रसावर्णि।[2] जब ये १४ मनु हैं तो किसी वर्गके 'पहलेके चार' ही मनु गीताको क्यों विवक्षित हुए? कहा जा सकता है कि ब्रह्माण्डपुराण (४-१) के अनुसार 'सावर्णि' मनुओंमें प्रथम मनुके पश्चात् क्रमशः चार मनु एक साथ, एक ही समयमें उत्पन्न हुए अतः एककालीन-उत्पत्तिरूप विशेषधर्मके कारण 'चार मनु' गीताको विवक्षित हो सकते हैं। किन्तु यह भी ठीक नहीं; ये सभी सावर्णि मनु भविष्यके हैं। अतः भूतकालिक 'जाताः' के साथ उनका अन्वय बाधित है।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय विकल्पकी बाधग्रस्तता एवं निस्सारता सिद्ध हो जानेपर तृतीय विकल्प 'पूर्वे' विशेषणका 'चत्वारः' के साथ, उसे विशेष्य मानकर, अन्वयका उपस्थित होता है। इस पक्षके लोग कहते हैं कि 'पहलेके चार' से १. सनक, २. सनन्दन, ३. सनातन और ४. सनत्कुमार लिये जायँ। आपाततः बात कुछ ठीक जँचती है पर विचार करनेपर वह भी हास्यास्पद हो जाती है। गीता श्लोकमें कहती है: 'इनसे ये आजकी प्रजा हुई।' पुराणोंके विद्वानोंको बतानेकी आवश्यकता नहीं कि ब्रह्मदेवके चार मानसपुत्र जन्मसे ही संन्यासी बन गये और उन्होंने पिताका प्रजावृद्धिका कार्य नहीं किया जिससे ब्रह्मदेव क्रुद्ध भी हो गये।[3] इसके अतिरिक्त गीता महाभारतका अंश है अतः महाभारतकी मान्यता-का उसके लिए समादर अनिवार्य है। महाभारत (शा० ३४०-७२,७३) में कहा है कि उपर्युक्त सनकादि चार ऋषियोंके साथ सन, कपिल और सन-त्सुजात मिलकर सात ऋषियोंने निवृत्तिमार्ग चलाया और वे ब्रह्माके मानसपुत्र थे।

---

१. द्रष्टव्य : मनुस्मृति १-६१-६३।
२. ,, : विष्णुपुराण ३-२; भागवत ८-१३; हरिवंश १-७।
३. ,, : भागवत ३-१२, विष्णुपुराण १-७।

इस प्रकार इनकी संख्या ७ है तो गीताको उनमें-से केवल ४ ही क्योंकर विवक्षित हो सकते हैं ? इनके निवृत्तिमार्गी होनेसे 'प्रजा जाताः' का बाध तो पूर्ववत् ही है। इस प्रकार यह तृतीय विकल्प भी अपने पूर्ववर्ती दो विकल्पोंकी गति पा गया अर्थात् सर्वथा खण्डित हो गया।

श्रीलोकमान्य तिलक इसपर कहते हैं कि गीता नारायणीय धर्मका ही ग्रन्थ है अतः महाभारतके नारायणीयोपाख्यानमें इसका समाधान ढूँढ़ें तो मिल जायगा। भागवतधर्मानुसार 'पहलेके चार' का उपयोग वहाँ कथित वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप चतुर्व्यूहके साथ किया जा सकता है, जो सप्तर्षियोंके पूर्व उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार 'महर्षयः सप्त' से भी महाभारत (शा० ३४०-६९) के अनुसार मरीच्यादि सप्तर्षि लेने चाहिए तथा 'मनवः' से उस कालसे पूर्वके तथा तत्कालीन स्वायम्भुव आदि सात मनु लिये जायँ। इस प्रकार श्री लोकमान्यके मतसे तृतीय विकल्प इस अर्थमें ग्राह्य ठहरता है।

रावबहादुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यने 'महाभारत-मीमांसा' (पृ० ५७४) में इससे पृथक् विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि 'महर्षयः सप्त पूर्वे…' यह श्लोक कहनेवाले 'वासुदेव' श्रीकृष्ण कैसे कहेंगे कि 'ये चार व्यूह मुझसे उत्पन्न हुए।' किन्तु श्री वैद्यका यह तर्क टिक नहीं पाता। कारण, महाभारत शान्तिपर्वके ३३४वें से ३५१वें तक १८ अध्यायोंके 'नारायणीयोपाख्यान' में अनेक बार पराप्रकृति या आद्याप्रकृति आदिनारायणसे नरकी तरह नारायणकी भी उत्पत्तिका उल्लेख है। नारदजीने श्वेतद्वीप जाते हुए बदरी-नारायण-निवासी तपोमूर्ति नारायणसे स्पष्ट कहा है :

यदर्थमात्मप्रभवेण जन्म कृतं त्वया धर्मगृहे चतुर्धा।
तत्साध्यतां लोकहितार्थमद्य गच्छामि द्रष्टुं प्रकृतिं तवाद्याम् ॥

(म० भा० शा० ३३५-२)

अर्थात् विश्वात्मा नारायण ही आत्मा हैं। उनसे उद्भूत होकर आपने जिस कार्यके लिए पिता धर्मके घर चार प्रकारसे जन्म ग्रहण किया, लोककल्याणार्थ वही कार्य सम्पन्न करते रहें। अब मैं चतुर्मूर्तिधर आपकी आद्या प्रकृति परम मूलकारण, क्षेत्रज्ञ, परमात्मा, परब्रह्म शब्दोंसे अभिहित श्वेतद्वीपनिवासी आदिनारायणके दर्शनार्थ जा रहा हूँ। आदेश और आशीर्वाद दें कि वहाँ निर्विघ्न पहुँचकर आदि-नारायणका दर्शन पा सकूँ।

पाठक ध्यान दें कि यहाँ आदिनारायणसे ही नरकी तरह नारायणकी भी उत्पत्ति वर्णित है। फिर आदिवासुदेवसे वासुदेवकी उत्पत्तिमें क्या आपत्ति है ?

गीताने 'भागवत-धर्म' का भक्तिप्रधान कर्मयोग तो ग्रहण कर लिया पर उसका वासुदेव, संकर्षण आदि चतुर्व्यूह-सिद्धान्त उसे मान्य नहीं। अतएव उसे 'पूर्वे चत्वारः' का अर्थ भगवान्‌के चार विग्रह—नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण ही अभिप्रेत हैं। इन चार विग्रहोंके लिए महाभारतका साक्ष्य भी उपलब्ध है जो निम्नलिखित है :

नारायणो हि विश्वात्मा चतुर्मूर्तिः सनातनः।
धर्मात्मजः संबभूव पितैवं मेऽभ्यभाषत॥
कृते युगे महाराज पुरा स्वायंभुवेऽन्तरे।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयंभुवः॥

(म० भा० शा० ३३४-८, ९)

यहाँ स्वयम्भू, परमात्मा आदिसे वाच्य विश्वात्मा नारायणसे नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण—चतुर्मूर्तियुक्त भगवद्-विग्रहका आविर्भाव स्वायंभुव मन्वन्तरके कृतयुगमें मुक्तकण्ठसे अभिहित है। यहाँ 'सनातनः' पदसे चतुर्मूर्तिके आविर्भावका हेतु सनातन स्वयंभू विश्वात्मा नारायणको माना गया है।

अन्यत्र भी 'नर' की तरह 'नारायण' की भी 'सनातन-नारायण' या 'आदिनारायण' से उत्पत्ति वर्णित है। यथा :

दृश्यते ज्ञानयोगेन आवां च प्रसृतौ ततः।
एवं ज्ञात्वा तमात्मानं पूजयावः सनातनम्॥

(म० भा० शा० ३३४-४२)

अर्थात् 'आवाम्' यानी हम दोनों—नर और नारायण—सनातन आत्मा, क्षेत्रज्ञ, श्वेतद्वीपनिवासी उस आदिनारायणसे उद्भूत हैं। इस प्रकार अपने मूलकारण आत्मा, सनातन आदिनारायणको जानकर उनके पूजनमें हम लगे रहते हैं।

अधिक क्या, मूर्त भगवद्-विग्रहका अमूर्त परमात्मासे—दूसरे शब्दोंमें अविभक्त परमात्मतत्त्वसे—नर, नारायण आदि मूर्तिचतुष्टयका आविर्भाव 'नारायणीय उपाख्यान' में घण्टाघोषके साथ उद्घोषित है। फिर पता नहीं, महाभारतके प्रखर अभ्यासी, 'महाभारत-मीमांसा' के लेखक वैद्य महोदय 'वासुदेवसे वासुदेवकी उत्पत्ति कैसे होगी?' इस दुर्बल एवं निर्मूल तर्क-पिशाचके पाशमें कैसे फँस गये?

अतः हमारे मतसे तो सर्गारम्भमें आविर्भूत धर्म-तनय नर, नारायण, हरि और कृष्ण, ये प्रभुके चार रूप ही गीताके 'पूर्वे चत्वारः' पदोंका वास्तविक अर्थ कहा जा सकता है।

रायबहादुर श्री वैद्यने आगे गीताके श्लोककी व्याख्या वैदिकपद्धतिसे करने-पर विशेष बल दिया जो नितान्त स्तुत्य प्रयास है। अतएव उनके मतसे गीताके 'सप्तर्षि' पद (१०-६) का अर्थ वैदिक सप्तर्षि—गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप, वसिष्ठ तथा अत्रि ही अभिप्रेत है।

'पूर्वे' उन्हींका विशेषण है क्योंकि उन्हींकी वैवस्वत मन्वन्तरमें सर्वप्रथम उत्पत्ति हुई है। वे ऋग्वेदके नवम मण्डलके १०७वें सूक्त तथा दशम मण्डलके १३७वें सूक्तके द्रष्टा हैं। इनमें विश्वामित्र तीसरे मण्डलके, अत्रि पाँचवें, भरद्वाज छठे और वसिष्ठ सातवें मण्डलके द्रष्टा हैं। कश्यप निम्नलिखित सूक्तों एवं मन्त्रोंके द्रष्टा हैं: १-९९, ८-२९, ९-६४, ९-६७-४—६, ९-९१, ९-९२, ९-११३, ९-११४, १०-१३७-२। गोतम निम्नलिखित सूक्त-मन्त्रोंके द्रष्टा हैं: १-७४-९३, ९-३१, ९-६७-७—९ और १०-१३७-३। परशुराम और उनके पिता जमदग्निका दशम मण्डलका ११०वाँ सूक्त है। 'तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे' इस ऋग्वेद-मन्त्रकी व्याख्या बृहदारण्यक (२-२-३) में 'प्राणा वा ऋषयः' इत्यादिसे की गयी है। इस प्रकार ये सप्तर्षि सर्वथा वैदिक हैं।

वेद-संवादिनी गीतामें वैदिक सप्तर्षि ही ग्राह्य हैं। इसके अतिरिक्त वे भाग-वत आदि पुराणोंमें वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षि भी माने गये हैं। 'इमाः प्रजाः' (गी० १०-६) शब्द स्पष्ट ही उनके वर्तमानकालिक होनेका स्पष्ट संकेत कर रहे हैं।

इसी तरह 'चत्वारः' का 'मनवः' के साथ अन्वय मान लेनेपर 'चार मनु' अर्थ होगा और वह भी वेदसंवादिनी गीताके सर्वथा अनुरूप है। यद्यपि पुराणोंमें चतुर्दश मन्वन्तरोंका उल्लेख है फिर भी वेदमें केवल ४ मनुओंका ही उल्लेख पाया जाता है, जो 'चत्वारः' के 'मनवः' के साथ अन्वयका अप्रत्यक्ष पोषण करता है। वेदोक्त चार मनुओंका विवरण इस प्रकार है:

१. सांवरणी मनु: ये ऋग्वेद, पंचम मण्डलके ३३-३४ सूक्तोंके द्रष्टा, प्राजा-पत्य संवरणके पुत्र हैं। इन्हींका नामान्तर 'सांवरण मनु' है जो ऋग्वेद ९-१०१-१०—११ के द्रष्टा हैं। ऋग्वेदमें कहा है: 'यथा मनौ सांवरणौ' (८-५१-१)।

२. वैवस्वत मनु: विवस्वान्‌के पुत्र श्राद्धदेव मनु। इनका ऋग्वेदमें उल्लेख इस प्रकार है: 'यथा मनौ विवस्वति' (८-५२-१)। सायणने विवस्वतिका पर्याय 'विवस्वान्पुत्र' दिया है। ऊपरका सांवरणी और यह विवस्वति—दोनों सप्तम्यन्त पद हैं।

३. सावर्णि मनु : इनका नामान्तर 'सावर्ण्य' भी है। इनका उल्लेख ऋग्वेद-में इस प्रकार है : 'सावर्ण्यस्य दक्षिणा' (१०-६२-९) तथा 'सावर्णेर्देवाः' (१०-६२-११)।

श्रीमद्भागवत पुराण (८-१३-८-१८) में सावर्णि मनुको सूर्यकी द्वितीय पत्नी छायाका पुत्र लिखा है। सूर्यकी प्रथम पत्नी संज्ञाके पुत्र श्राद्धदेव मनु हैं। उनके सोदर भ्राता यमराज और सोदरा भगिनी यमी हैं। सावर्णि मनुके सोदर भ्राता शनैश्चर तथा सोदरा भगिनी तपती हैं।

४. आप्सव मनु : अप्सुका पुत्र मनु जो ऋग्वेदकी तीन ऋचाओं (९-१०६-७–९) के द्रष्टा हैं।

यहाँ 'अप्सु' शब्द विचारणीय है। 'षू प्रेरणे' (तुदादि परस्मैपदी, १४०९ पा० धा०) धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर 'अप्सु' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है जलाध्यक्ष वरुण (अपो=जलानि सुवति=प्रेरयतीति)। इन्हीं अप्सुके पुत्र=वरुणपुत्र 'सावर्णि' दशम मनु 'आप्सव' शब्दके वाच्य सिद्ध होते हैं।

अथवा—'षूङ प्रसवे' (दिवादि आत्मनेपदी ११३२ पा० धा०) धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर 'अप्सु' का अर्थ होता है स्वयम्भू ब्रह्मा। 'अप्सु=जलेषु सूयते=समुत्पद्यते, जले शयानस्य नारायणस्य नाभिकमलोद्भवत्वात् अप्सु=ब्रह्मदेवः स्वयम्भूः)।' अर्थात् अप्सुका मुख्यार्थ जलमें उत्पन्न होनेवाला होनेपर भी लक्षणावृत्तिद्वारा 'अप्' शब्दसे जलसम्बन्धी जलशायी नारायणको लेकर 'अप्सु' का लाक्षणिक अर्थ उनके नाभिकमलसे उत्पन्न ब्रह्मदेव निकाला जा सकता है। उन ब्रह्मदेव (अप्सु) के पुत्र 'आप्सव' स्वायम्भुव मनु यहाँ वैदिक चतुर्थ मनुसे ग्राह्य हैं। यास्काचार्य भी निरुक्त (३-१-४) में स्पष्ट मनुको ब्रह्मपुत्र बताते हैं : 'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।' इस प्रकार वेदप्रख्यात मनु-चतुष्टय ही गीताके 'चत्वारो मनवः' का आकूत है।

अन्ततः वेदसुता गीताके श्लोकोंका अर्थ वेदके प्रकाश एवं उसके साक्ष्यमें होना ही उचित है। इस दृष्टिसे 'पूर्वे महर्षयः सप्त' यानी प्रसिद्ध वैदिक मन्त्र-द्रष्टा सप्तर्षि तथा 'चत्वारः मनवः' से वैदिक साहित्यके चार प्रसिद्ध मनु ही लेने चाहिए।

गीताका एक कूट श्लोक

कहा जा चुका है कि गीता महाभारतका एक प्रकरण है और उसे बनाया है भगवान् वेदव्यासने। फिर भी यह कम लोग जानते हैं कि वेदव्यासके इस महाग्रन्थको लिपिमें लिखनेका काम श्री गणेशजीने किया। श्रद्धालुओंकी दृष्टि-से वेदव्यासको भगवान् विष्णुका अवतार मानें तो उनके ग्रन्थका लेखक भी उतनी ही शक्तिवाला कोई देव चाहिए। व्यासजीने विद्याके देवता श्री गणेशजीको ही इसके लिए चुना। किन्तु गणेशजीने इसके लिए एक शर्त लगा दी। उन्होंने कहा: 'व्यासजी, एक ही शर्तपर मैं आपद्वारा उक्त महाभारत लिपि-बद्ध कर सकता हूँ कि लिखते हुए आपके सोचने या कविता बनानेमें मेरी लेखनी न रुके।' व्यासजी भी उनसे कम थोड़े ही थे। कह दिया: 'ठीक है, पर मेरी भी यह शर्त आपको पूरी करनी होगी कि बिना समझे एक अक्षर आप न लिखेंगे।' बस, चल पड़ा महाभारतका लेखन-कार्य गणेशजीका और बोलने लगे भगवान् वेदव्यास। अब यह सम्भव कैसे कि इतना बड़ा ग्रन्थ और वह भी पद्यबद्ध लिखवानेमें कहीं प्रसंगका अवधान या कविताके शब्द जोड़नेमें मिनट-दो मिनट कभी लगें ही नहीं। यदि लग जाते हैं तो गणेशजी लिखना छोड़ देते हैं। व्यासजीने युक्ति निकाली—'बिना समझे एक भी अक्षर न लिखनेकी गणेशजीसे प्रतिज्ञा करवा ही ली है तो क्यों न ऐसे मौकेपर कुछ पहेली-जैसे श्लोक बोल दूँ। गणेशजी उसे समझनेमें लगेंगे, इस बीच मैं आगेकी सोच लूँगा।' और हुआ भी ऐसा ही!

व्यासजीने महाभारतमें ऐसे जो कूट श्लोक बनाये उनकी संख्या भी और उन्हें जाननेवाले भी उन्होंने एक श्लोकमें बता दिये हैं। वे कहते हैं कि इस महा-भारतमें आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिन्हें मैं जानता हूँ, मेरे पुत्र शुकाचार्य (शुकदेवजी) जानते हैं और तीसरा संजय जानता है या नहीं, कह नहीं सकता:

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा॥

(विलक्षण बात तो यह कि व्यासजीने इस श्लोकमें भी पहेली लगा दी है। देखिये: संजय: वेत्ति=संजय जानता है, वा=अथवा, न वा=नहीं—यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ है: संजय जानता है और वानवा=चतुर पुरुष जानता है।)

आपको यह कहानी सुनानेका तात्पर्य यह है कि गीता भी महाभारतका एक प्रकरण होनेसे इसमें भी व्यासजीने कुछ कूट श्लोक या पहेलियाँ रख दी हैं,

जिनमें-से पाठकोंके मनोविनोदार्थ एक पहेली (कूट श्लोक) यहाँ प्रस्तुत है। गीताकी यह पहेली १२वें अध्यायका १२वाँ श्लोक है :

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

यह पहेली इसी अर्थमें है कि अनेक आचार्योंने इस एक श्लोकको अनेक अर्थोंमें लगाया है।

पहले इस श्लोककी भूमिका समझ लें तो विषय स्पष्ट हो जायगा। गीताका १२वाँ अध्याय 'भक्तियोगाध्याय' कहलाता है। १५वें 'पुरुषोत्तम-योगाध्याय' को छोड़ इतने कम श्लोकों अर्थात् केवल २० श्लोकोंका कोई भी अध्याय गीतामें नहीं। १८ अध्यायोंकी गीताको उसके साधकोंने ३ भागोंमें बाँटनेका यत्न किया है जिसे 'षट्क' (छह-छह अध्यायोंकी इकाई) कहते हैं। आदिका षट्क है—१ से ६ अध्याय। मध्यका षट्क है—७ से १२ अध्याय। अन्तका षट्क है—१३ से १८ अध्याय। इस दृष्टिसे देखें तो भी यह १२वाँ अध्याय मध्य षट्कका अन्त है। किसीका मध्यमें रहना यों भी महत्त्वका माना जाता है। इस तरह बहिरङ्ग परीक्षणमें यह १२वाँ अध्याय गीताका हृदयस्थानीय बन जाता है। फिर उस १२वें अध्यायके १२वें श्लोकका क्या पूछना ? उसमें यदि व्यासजी ऐसी चतुराई भर दें कि हर कोई कामधेनुके समान उससे अपना अभीष्ट दुह ले तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

इस १२वें अध्यायका अब अन्तरंग परीक्षण करें तो भी इसकी बहुमूल्यता प्रकट हो जाती है। इसके पूर्व ११वें अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको अपने विश्व-रूपका दर्शन कराया है और उससे पहले अपना विभूतियोग बताया। अर्थात् अपना विश्वचर रूप—संसारकी प्रत्येक इकाईकी जो सबसे तेजस्वी वस्तु है, भगवान्‌ने उसे अपना ही रूप बताया है। इससे पहलेके अध्यायोंमें अपना अव्यक्त या विश्वातीत रूप वर्णित किया। उन्होंने अपने अव्यक्त, विश्वचर और विश्व-रूपात्मक व्यक्त रूप बताकर उनकी उपासनाका जहाँ-तहाँ निर्देश किया।

यह देख अर्जुन इस अध्यायके आरम्भमें पूछता है कि प्रभो, आपके इन व्यक्त या अव्यक्त रूपोंकी जो उपासना करते हैं उनमें आप किन्हें श्रेष्ठ योग-वेत्ता मानते हैं ?

भगवान् पहले ही कहते हैं कि 'जो मुझ सगुण ब्रह्म भगवान् वासुदेवके रंगमें ही अपना मन रँगकर, सकलकल्याणगुणगणनिलय मेरे साकार रूपकी नित्य उपासनामें बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ लगे रहते हैं उन्हींको मैं युक्ततम मानता हूँ।'

आगे भगवान् ३-४ श्लोकोंमें अव्यक्त उपासकोंका उल्लेख कर देहधारियोंके लिए उस उपासनाको अत्यन्त कष्टप्रद बताते हुए अनन्ययोगसे अपनी सगुणोपासना करनेवालोंको आश्वासन देते हैं कि 'मुझे अपना चित्त सौंप देनेवालोंको मैं स्वयं मृत्युयुक्त संसारसागरसे उबारता हूँ।' इसलिए ८वें श्लोकमें वे आदेश देते हैं कि 'मेरे पास अपना मन बन्धक रख दो (जिससे मुझे छोड़ दूसरा कुछ तुम मनमें ही न ला सको)। अपनी बुद्धि भी मुझमें ही लगा दो अर्थात् विषयान्तर छोड़कर मेरा ही चिन्तन किया करो। ऐसा करनेपर निश्चय ही देह त्यागनेके पश्चात् तुम मुझ परब्रह्ममें रहने लगोगे, मेरे रूपसे मुझमें वास किया करोगे, इसमें तनिक भी शंका नहीं।'

भगवान्‌ने इस तरह अज्ञानी साधकको बता दिया कि मुझ सगुण परमात्मामें अपना मन और बुद्धि लगाकर अनन्ययोगसे मेरी उपासना करो तो तुम्हारा बेड़ा पार हो जाय। तुम्हारे लिए एकमात्र कर्तव्य है कि मुझ सगुण-साकार परमात्मामें अपना चित्त स्थिरताके साथ लगा दो, स्थापित कर दो।

यों तो माँको अपने छोटे-बड़े सभी बालक प्रिय होते हैं किंतु दुधमुँहे बच्चेपर उसका प्रेम विशेष होता है। भगवान् भी सबपर दयाकी छाया करते हैं, किन्तु जो अज्ञानी हो, असहाय हो, उसे तो उनकी दया अपनी गोदमें ही ले लेती है। यहाँ भी भगवान् क्रमशः तीन श्लोकों (९–११) से एकके-बाद-एक उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि 'वत्स! (अर्जुन, धनञ्जय!) मुझ सगुण-साकारमें तेरा चित्त भलीभाँति स्थिर नहीं हो पाता तो अभ्यासयोगसे मुझे पानेकी सोच, यत्न कर।'

यहाँ 'अभ्यास' का अर्थ है, किसी एक प्रतिमा आदि आधारमें सभी ओरसे खींचकर चित्तको बार-बार लगाना। अभ्यासपूर्वक 'योग' यानी समाधि। अर्थात् चित्तको संसारकी सभी वस्तुओंसे खींचकर बार-बार भगवान्‌की मूर्तिमें लगाना और तन्मय हो जाना 'अभ्यासयोग' है।

भगवान् कहते हैं कि यदि तुम प्रतिमाध्यानादिरूप अभ्यासयोगमें भी समर्थ नहीं तो मेरे कर्म यानी श्रवण, कीर्तन आदि जो भागवतधर्म हैं उन्हींमें एकनिष्ठ हो जाओ।

भगवान् इससे भी एक और सरल उपाय बताते हैं कि यदि तुम्हारा चित्त बाहरी विषयोंमें अत्यधिक उलझा है इसीलिए कदाचित् तुम भागवतधर्मानुष्ठानरूप मेरे कर्ममें भी एकनिष्ठ न हो सको तो एकमात्र मेरी शरण आकर मुझे अपने सारे कर्म समर्पित करो और सभी इन्द्रियोंको वशमें कर विवेकशील होते हुए सारे कर्मोंकी फलासक्ति या फलाभिसन्धि त्याग दो।

इस प्रकार भगवान् अपने अज्ञ भक्तके लिए अपनी दयाका जो सदावर्त बाँटते हैं उसीके उपसंहारमें वह श्लोक आता है, जिसके लिए हमने इतनी भूमिका बाँधी और उसे आठ सहस्र आठ सौ कूटश्लोकोंमें-से एक श्लोक बताया।

अब उसी बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग परीक्षणके प्रकाशमें उपर्युक्त 'श्रेयो हि ज्ञान-मभ्यासात्' श्लोकके अर्थपर ध्यान दें :

श्री शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी श्रीधरस्वामी, मधुसूदन सरस्वती आदि अद्वैतवादियोंके मतानुसार इस श्लोककी व्याख्या यह है कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। यहाँ 'अभ्यास' का तात्पर्य है, आत्मज्ञानके लिए किया जानेवाला वेदान्तशास्त्रके 'श्रवण' का अभ्यास और ज्ञानका अर्थ है, शब्द एवं युक्ति-योंसे आत्मनिश्चय, 'मनन'जन्य निश्चय। उस ज्ञानसे भी 'ध्यान' श्रेष्ठ है। 'ध्यान' का अर्थ है 'निदिध्यासन'। अर्थात् श्रवण और मननसे होनेवाले आत्म-निश्चयकी अपेक्षा 'निदिध्यासन' (आत्मनिश्चयकी एकतानता) श्रेष्ठ है, क्योंकि यह निदिध्यासन आत्मसाक्षात्कारका अव्यवहित कारण है। श्रुति आत्म-दर्शन या आत्मसाक्षात्कारके तीन (उच्चतम) कारण बतलाती है: श्रवण, मनन और निदिध्यासन। तीसरा कारण अनुष्ठित होते ही आत्मदर्शन या आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। अतएव यह ज्ञानसे भी श्रेष्ठ है।

इस प्रकार अभ्यास, ज्ञान और ध्यानकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतानेके पश्चात् पीछे जो अज्ञानी साधकके लिए विवशतामूलक अन्तिम उपाय सर्वकर्मफलत्याग बताया है, भगवान् उसे इस निदिध्यासनरूप ध्यानसे भी श्रेष्ठ बता रहे हैं: 'ध्यानात् कर्मफलत्यागः'। भगवान् आगे कहते हैं कि ऐसे नियतचित्त पुरुषद्वारा किये गये सर्वकर्मफलत्यागसे 'शान्ति' यानी सहेतुक संसारका नाश, अनन्तरम्= अव्यवधानसे बन आता है। भाव यह कि नियतचित्त ज्ञानी पुरुष जब सर्वकर्म-फलोंका त्याग कर देता है तो उसके तत्काल अनन्तर उसका संसार अपने हेतु अविद्यासहित मिट जाता है। इस सम्बन्धमें श्रुति भी कहती है :

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठोप० २-६-१४)

गीता भी कहती है :

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(२-५५)

यहाँ एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि आप जो यह सर्वकर्मफलत्यागका फल बता रहे हैं, वह तो विज्ञकर्तृक है। उसका वह फल तो ठीक है। किन्तु यहाँ पीछे आपने अज्ञ साधकोंमें भी अभ्यासयोग, भागवतधर्मैकनिष्ठामें असमर्थ अत्यन्त प्राकृतजनके लिए सर्वकर्मफलत्याग उपाय बताया। उसकी यह कैसी स्तुति हुई ? 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' क्या यह श्रुति भूल गये ? इसका समाधान यह है कि सर्वकर्मफलत्याग अज्ञका हो या विज्ञका, त्यागत्वेन दोनों एकजातीय ही हुए। अब उन एकजातीयोंमें कोई एक (विज्ञकृत) त्याग इतना ऊँचा फल देनेवाला हो गया तो उसी एकजातीयतासे यहाँ अज्ञकृत त्यागकी भी स्तुति कर दी गयी है। व्यवहारमें यह कोई अपूर्व बात नहीं। जैसे एक ब्राह्मण अगस्त्यने समुद्रपान कर लिया, तो कहते ही हैं कि ब्राह्मणकी शक्ति अद्भुत है, समुद्रतक पी जाते हैं। परशुरामने इक्कीस बार निःक्षत्रिय पृथ्वी कर दी तो कह दिया : 'ब्राह्मण बड़े वीर होते हैं, इक्कीस बार पृथ्वी निःक्षत्रिय कर देते हैं।' इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। अर्थात् यथार्थमें अज्ञद्वारा किये गये सर्वकर्मफलत्यागसे उसकी सत्त्वशुद्धि होगी, ज्ञान होगा और फिर मुक्ति होगी। किन्तु अत्यन्त अशक्त होनेसे कहीं वह हतवीर्य हो सदाके लिए श्रेयोमार्ग छोड़कर न चला जाय, इसी दयाभावसे प्रेरित हो उसके द्वारा किये जानेवाले सर्वकर्मफलत्यागका भगवान्‌ने यह स्तुत्यर्थवाद कहा है, यह भाव है।

श्री शङ्कराचार्यके ही मतानुयायी श्री शङ्करानन्दजीने अपनी व्याख्यामें इससे थोड़ा-सा अन्तर किया है। वे यहाँ 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह श्रुति-विरोध बतलाकर इस श्लोकका अर्थ करते हैं कि श्रवण, मनन आदिके अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, कारण, वह मोक्षका साक्षात् कारण है। किन्तु यदि अभ्यास और ज्ञानमें कोई बाधा उपस्थित हो जाय तो ध्यान करें। 'ध्यान' का अर्थ यहाँ उपासना है अर्थात् चित्तवृत्तिविशेष। उपासनासे पूर्वजन्मके प्रतिबन्धक कुसंस्कार, बाधाएँ मिट जाती हैं और ज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। उस ध्यानसे 'कर्मफलत्याग' श्रेष्ठ है। कर्मफल-त्यागका यहाँ अर्थ है, संसारोत्पादक वासनाका त्याग। यह वासना ही सर्वकर्मफल मान लें। उसका त्याग अर्थात् निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन। उससे शीघ्रसे शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है।

महाभारतके व्याख्याकार श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि श्रवणादिके अभ्याससे ज्ञान अर्थात् तत्त्वनिश्चय श्रेष्ठ है। उस ज्ञानका ध्यान, सर्वदा अनुचिन्तन उक्त ज्ञानसे भी श्रेष्ठ है। किन्तु उस ध्यानसे सर्वकर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। वे कहते हैं कि कर्मफलका त्याग योगीसे ही सम्भव है। अतः यहाँ कर्मफलत्यागीको योगी मानकर उसकी स्तुति की गयी है।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि हठयोगरूप अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। उस ज्ञानसे अर्थात् केवल अक्षरोंसे जन्य अपरिपक्व ज्ञानसे आत्माका ध्यान अधिक श्रेयस्कर है। किन्तु वह ध्यान भी न सध पाये तो कर्मफलत्याग ही प्रशस्यतर है। कारण, फलाशारहित कर्म करनेसे बड़ी शान्ति मिलती है। वे कहते हैं कि यह शान्ति एकाएक नहीं, क्रमशः प्राप्त होती है। उसका क्रम इस प्रकार है: फलाभिसन्धिरहित कर्मसे चित्तशुद्धि, फिर ध्यानमें प्रवृत्ति, ध्यानसे ज्ञान और फिर ज्ञानसे भगवत्साक्षात्कार तथा उससे परा भक्ति। अर्थात् भक्तियोगके अभ्यासमें असमर्थके लिए आत्मनिष्ठा कल्याणकारिणी है। आत्मनिष्ठामें भी मनको शान्ति न मिले तो फलाशा त्यागकर कर्म करना प्रशस्त है।

श्री मध्वाचार्य कहते हैं कि अज्ञानपूर्वक अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। केवल ज्ञानसे ज्ञानसहित ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। वे कहते हैं, यह कर्मयोगकी स्तुति है।

श्री वल्लभाचार्य एवं उन्हींके अनुयायी गोस्वामी पुरुषोत्तमजीकी व्याख्यामें श्री शङ्कराचार्यकी व्याख्यासे कोई विशेष अन्तर नहीं, प्रायः मिलती-जुलती ही उनकी व्याख्याएँ हैं। केवल भक्तिमार्गानुसार 'ध्यान' का अर्थ उन्होंने भगवत्सेवा या भगवान्के रूपका चिन्तन किया है। उनका भी कहना है कि यहाँ फलत्याग-की ही स्तुति की गयी है।

श्री लोकमान्य तिलक कहते हैं कि अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान उत्तम है और ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानकी योग्यता विशेष है। ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है, जिससे तत्काल ही शान्ति प्राप्त होती है। वे मानते हैं कि साम्यबुद्धि पानेके तीन उपाय हैं: अभ्यास, ज्ञान और ध्यान। इनमें अशक्त भी क्रमशः कर्मफल छोड़ सकता है और उसे छोड़ना चाहिए। धीरे-धीरे अन्तमें पूर्ण कर्म-फलत्याग सध जायगा तो फिर शान्ति भी प्राप्त होगी।

श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पतिने गीताभाष्यके शीर्षककाण्डमें यह शीर्षक दिया है कि ईश्वरी उपासनाके अनुकल्प अभ्यास, ज्ञान, ध्यान और कर्मफलत्याग इन चार प्रकारके उपायोंमें उत्तरोत्तर उपाय श्रेष्ठ है। ईश्वरके ज्ञानोपयोगी कर्म करनेमें निरत रहना 'ज्ञान' है और ईश्वरमें परम अनुराग प्राप्त करनेके हेतुभूत कर्मोंमें निरत रहना है 'ध्यान'।

श्री गिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी कहते हैं: ज्ञान ही निश्चयपूर्वक परम कल्याण-का साधन है। वह अभ्याससे प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रथम चरण ('श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्') को पृथक् वाक्यरूप ही मानें। आगे जो ध्यान अर्थात् १०वें

पद्यमें कथित ईश्वरसेवाकी विशेषता और उससे भी कर्मफलकी विशेषता बतायी गयी है उसमें अल्पायाससाध्यता ही विशेषता या सुकरता है। इस प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ इन तीन चरणोंका तात्पर्य होगा: ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान अर्थात् श्रवणादि नवविधा भक्ति श्रेष्ठ है, सुकर है। उसकी अपेक्षा सांसारिक स्वाभाविक कर्मोंके फलोंकी आशाका त्याग श्रेष्ठ, सुकर है। इस प्रकार फलाशात्यागसे क्रमशः ईश्वरोपासना और आगे अद्वैतज्ञान भी हो जानेपर परम शान्ति प्राप्त होगी।

इस तरह हम देखते हैं कि सचमुच इस मात्र ३२ अक्षरोंके श्लोकमें व्यासजी-ने अनेक कूट अर्थ भर दिये हैं।

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य लिखते हैं कि जैसे द्वितीयाध्यायके ११वें श्लोकसे ही गीताके वक्तव्य सर्वाद्वयत्वज्ञानरूप विषयका प्रारम्भ या उपक्रम होता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण १५वें अध्यायके अन्तके साथ उसकी समाप्ति या उपसंहार भी कर देते हैं :

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

वे कहते हैं कि प्रस्तुत अध्यायान्त श्लोकका प्रारम्भिक 'इति' पद ही यह सूचित करता है। आगेके दो अध्यायोंमें दैवी एवं आसुरी सम्पत्ति और अर्जुनकी पात्रताका और अन्तिम अध्यायमें अवशिष्ट शंकाओंका समाधानमात्र है, नवीन कोई वक्तव्य नहीं। साथ ही 'बुद्धिमान् स्यात्' इस परोक्ष निर्देशसे भगवान् सूचित करते हैं कि अर्जुनके माध्यमसे यह समस्त अधिकारी पुरुषोंके लिए मेरा उपदेश है।

बात भी ठीक लगती है। किसी ग्रन्थका प्राण चरम वक्तव्य उपसंहारमें ही बताया जाता है। यतः गीता वेदसारमयी है अतः उसका वक्तव्य भी सर्वथा वैदिक ही होगा। इस अध्यायके आरम्भसे ही भगवान् अध्यायके वैदिकत्वका सूचन 'यस्तं वेद स वेदवित्' से कर रहे हैं। आगे (१५ वें अध्यायके) १५वें श्लोकमें भी 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' कहते हैं। पश्चात् १८वें श्लोकमें भी वेदका नाम लिया है : 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।' यही वैदिक गुह्यतम शास्त्र भगवान् निष्पाप अर्जुनको बताकर कहते हैं कि इतना ही जानकर कोई भी बुद्धिमान् या आत्मज्ञानी हो जायगा और फलतः कृतकृत्य हो जायगा। मनु आदि धर्मशास्त्रियोंकी मान्यतानुसार उसके मानव-जीवनका इतिकर्तव्य परिपूर्ण हो जायगा। कारण, उन्होंने स्पष्ट कहा है :

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥

(म० स्मृ० १२-९३)

प्रश्न होगा कि इस अध्यायमें ऐसा कौन वैदिक अर्थात् वेद-वेदान्तोक्त रहस्य बतलाया है ? तो कह सकते हैं कि १६, १७ और १८वें श्लोकपर दृष्टि डालिये :

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

इसका सामान्य अर्थ है कि इस जगत्में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। सारे भूत क्षर कहे जाते हैं और कूटस्थ अक्षर कहलाता है। किन्तु इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो कोई निराला ही है जिसे 'परमात्मा' कहा जाता है। यह परमात्मा तीनों लोकोंमें अनुस्यूत होकर उन्हें धारण किये रहता है। वह अविनाशी और उनका शासक है। चूँकि मैं क्षरसे परे हूँ और हूँ अक्षरसे भी उत्तम, अतः लोक और वेदमें मैं 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रख्यात हूँ।

अब यही उपदेश प्रत्यक्ष वेदवचनोंमें देखिये। शुक्लयजुर्वेदके ८वें अध्यायके ३६वें मन्त्रमें कहा है:

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

अर्थात् जिस पुरुषको छोड़ दूसरा कोई उत्तम पुरुष नहीं हुआ और जो सम्पूर्ण विश्वमें अन्तर्यामीरूपसे अवस्थित है वह स्वोत्पन्न प्रजा (विश्व) रूपसे रमण करनेवाला या प्रजाका धारक षोडशकलात्मक पुरुष अपने तेजसे ज्योतिस्वरूप तीन पुरुषोंको प्रकाशित करता है। यही मन्त्र कुछ पदोंके परिवर्तनके साथ शुक्लयजुर्वेदमें ३२वें अध्यायके ५वें मन्त्रके रूपमें आता है।

वैदिक विज्ञानका आश्रय लेनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है। उसमें ४ तत्त्व या पुरुष माने हैं: १. परात्पर, २. अव्यय, ३. अक्षर और ४. क्षर। परात्परकी अपनी एक विशुद्ध कला है। उसीकी तीन ज्योतियाँ हैं: अव्यय या पुरुषोत्तम, अक्षर या जगत्का निमित्तकारण पुरुष और क्षर या प्रपञ्चोपादान पुरुष। तीनोंकी क्रमशः पाँच-पाँच कलाएँ बतायी गयी हैं—'अव्यय' की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। 'अक्षर' की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम तथा 'क्षर' की प्राण, आपः, वाक्, अन्न और अन्नाद। इन पन्द्रह कलाओंसहित अपनी कलासे यह उत्तम पुरुष षोडशकल हो जाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्में इसी विज्ञानको ३ पुरुषोंमें संक्षिप्त कर स्पष्ट बताया गया है:

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
(श्वेता० १-१०)

(एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।)
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥
(श्वेता० १-१२)

अर्थात् 'प्रधान' या प्रकृति 'क्षर' है। 'हर' या जीवात्मा अमृत (अविनाशी) 'अक्षर' है। एक ही देव (पुरुषोत्तम) इस क्षर और आत्माका शासन करता है। आत्मसंस्थ यह ब्रह्म ही नित्य ज्ञेय है। भोक्ता जीवात्मा, भोग्य जडवर्ग और उनके प्रेरयिता ईश्वरको जानकर यह सारा जगत् त्रिविध ब्रह्मरूप कहा गया है।

वैदिक संहिता और उपनिषद् (वेदान्त) के इन वचनोंके प्रकाशमें गीताके उपर्युक्त १६, १७, १८ श्लोकोंको देखें तो सुस्पष्ट हो जायगा कि भगवान् यहाँ वैदिक विज्ञानका ही सार बता रहे हैं। इस तरह वेदरहस्यात्मक यह अर्थ गीताके चरम वक्तव्यके रूपमें बताना भगवान्का उचित ही है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि भगवान् इसी अध्यायके १९वें श्लोकसे बताते हैं कि इसी पुरुषोत्तम-योगके रहस्यको जान लेनेपर ज्ञाता 'सर्ववित्' अर्थात् सर्वज्ञ बन जाता है और सभी भावोंमें भगवान्का ही भजन करता है। इसी एकके ज्ञानसे सर्वज्ञताकी उपपत्ति श्वेतकेतुको उसके पिताद्वारा प्रदत्त उस उपदेशमें निहित है, जिसमें कहा गया है कि समस्त पदार्थोंके मूलभूत एक कारणको जान लेनेपर सब कुछ ज्ञात हो जाता है, जैसे कि एकमात्र मृत्तिकाको जान लेनेपर उससे बने सभी मृण्मय पात्रादिका ज्ञान हो जाता है। पुरुषोत्तम जगत्कारणोंका कारणाधिप है। उसी अभिन्ननिमित्तोपादान कारणसे सारा विश्व बना है। अतः उसको जान लेनेपर सर्वज्ञता सुस्पष्ट है।

अब गीताके इन विवेचनीय श्लोकोंके क्षर, अक्षर और उत्तम पुरुष अव्यय परमात्मा इन तीन पदोंके व्याख्यान विभिन्न आचार्योंकी दृष्टियोंसे देख लेनेपर विषय और भी स्पष्ट हो जायगा।

जहाँतक अद्वैतवादी **श्री शङ्कराचार्य**का प्रश्न है, उनके मतमें 'क्षर' का अर्थ कार्योपाधि समस्त भूतवर्ग, संसाररूप अश्वत्थ-वृक्ष है और 'अक्षर' का अर्थ है कारणोपाधि क्षराख्य पुरुषकी उत्पत्तिका बीज मायाशक्ति। दोनों पुरुषकी उपाधियाँ होनेसे यहाँ इन्हें गौणीवृत्तिसे 'पुरुष' कहा गया है। जगत्के सारे पदार्थोंको क्षर और अक्षर इन दो कूटों या राशियोंमें विभक्त करें तो यह 'अक्षर

पुरुष' मायाशक्ति उस क्षर-कूट या क्षर-राशिके ऊपर प्रतिष्ठित होनेसे 'कूटस्थ' कहा जाता है। अथवा 'कूट' यानी माया, वंचना, कुटिलता आदि विविध मिथ्यारूपोंमें मायाशक्तिरूप अक्षर पुरुष रहता है, इसलिए इसे 'कूटस्थ' कहा गया है। यह अव्यय या नित्य इसलिए है कि भगवान्‌की शक्ति है। किंवा संसार-के ये बीज अनन्त होनेसे कभी नष्ट नहीं होते, इसलिए इसे 'अव्यय' कहा गया है।

अद्वैतवादी व्याख्याकार **श्रीधर स्वामी** ब्रह्मादिस्थावरान्त शरीरोंके समुदायको ही 'क्षर' कहते हैं। और 'अक्षर' है उन देहकूटोंके नष्ट होते हुए भी पर्वतकी भाँति अचल भावसे निर्विकार हो उन्हें देखनेवाला चेतन भोक्ता 'जीव'।

दूसरे अद्वैतवादी **श्री मधुसूदन सरस्वती** 'अक्षर' की इस श्रीधरीय व्याख्याका यह कहकर खण्डन करते हैं कि आगे पुरुषोत्तमरूपसे जिसे कहा है, गीताको वह पूर्ववर्णित 'क्षेत्रज्ञ' ही विवक्षित है। अन्यथा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' से 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' का विरोध हो जायगा। अतः श्री शङ्कराचार्यके अनुसार क्षर और अक्षर दोनों जड़ ही लेने चाहिए। अर्थात् 'अक्षर' यानी मायाशक्ति, चेतन भोक्ता नहीं।

श्री रामानुजाचार्य अचेतन जड़ पदार्थोंसे संश्लिष्ट जीवात्माको 'क्षर' कहते हैं। वह सभी भूतोंसे संसृष्ट है। अतएव जीवात्मासंसृष्ट भूतोंको 'क्षर' कहा गया है। 'अक्षर' पुरुष है, अचेतन-संसर्गसे सर्वथा शून्य मुक्तात्मा, कूटस्थ। अर्थात् बद्ध पुरुष 'क्षर', मुक्त पुरुष 'अक्षर' और इन दोनोंसे विलक्षण तृतीय 'पुरुषोत्तम' परमात्मा है।

श्री मध्वाचार्य भूतोंको 'क्षर' और प्रकृति (महालक्ष्मी) को 'अक्षर' कहते हैं।

श्री वल्लभाचार्य कहते हैं: अचेतन प्रकृतिसे संसृष्ट भगवान्‌के अंश जीव 'क्षर' हैं। वे 'भूत' इसलिए कि भवन या उत्पत्ति-क्रियासे विशिष्ट बनते हैं। भगवान्‌का धाम 'अक्षर' पुरुष है। धामको इसलिए 'पुरुष' कहा गया कि वह भी सच्चिदानन्दरूप है। सच्चिदानन्द परमात्मा 'पुर' का धारण करनेसे पुरुष है ही। ऐसा माननेपर भी अक्षर पुरुष और परब्रह्म (पुरुषोत्तम) के भेदमें कोई बाधा नहीं। कारण, आगे 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' के साथ 'परमात्मा' शब्द कहा ही है। अर्थात् अक्षर तो भगवान्‌का धाम है और परमात्मा हैं उसके अधिदेवता। बाह्यरूप धामसे आन्तररूप उसकी अधिदेवताकी श्रेष्ठता, गङ्गानदीकी अपेक्षा उसकी अधिष्ठात्री गंगादेवीकी भाँति सुस्पष्ट है।

श्री पुरुषोत्तमजी की 'अमृततरङ्गिणी' के अनुसार 'क्षर' पुरुष भगवान्‌की लीलाका उपायभूत है और 'अक्षर' पुरुष है उनमें अनुप्रविष्ट भगवान्‌का चरण-

रूप। उत्तम पुरुषका तात्पर्य है सबसे अज्ञात और सबसे अतिरिक्त। उसे श्रुति आदिमें सबसे उत्कृष्ट 'परमात्मा' कहा गया है। वही 'कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्' समर्थ है।

श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं कि देहात्मवादियोंकी दृष्टिसे पञ्च-भूतारब्ध शरीर ही 'क्षर' पुरुष (आत्मा एवं चेतन) है। देहातिरिक्त-आत्म-वादी द्वैतीकी दृष्टिमें देहाद्यतिरिक्त जीवात्मा 'अक्षर' पुरुष है। सर्वव्यापक अद्वय विशुद्ध परमात्मतत्त्व ही अव्यय, पुरुषोत्तम है। क्षर देह और अक्षर जीवमें पुरुषत्वोक्ति भ्रान्त दार्शनिकोंके अभिप्रायसे है। अद्वैतवादियोंकी दृष्टिसे द्वैतवर्जित शुद्धात्मतत्त्व ही अव्यय, पुरुषोत्तम है। इस प्रकार सब कुछ मुझे ही समझते हुए मूर्ति, क्रिया और ज्ञानात्मक रूपसे ब्रह्मतत्त्वकी उपासना करनेवाला पुरुष मेरा ही भजन करता है, यह भगवान्के कथनका तात्पर्य है।

लोकमान्य तिलक 'क्षर' और 'अक्षर' शब्दोंको सांख्यशास्त्रोक्त व्यक्त पञ्च-महाभूतात्मक सृष्टि और अव्यक्त प्रकृतिके ही समानार्थक बताते हैं। 'अक्षर' पदसे यहाँ प्रकृति ही लेनी चाहिए, 'अक्षरब्रह्म' नहीं, इसके लिए वे यहाँ 'कूटस्थ' पदकी सार्थकता बताते हैं। सारांश, व्यक्तसृष्टि और अव्यक्त प्रकृतिके परेका अक्षर ब्रह्म और 'क्षर' (व्यक्त सृष्टि) एवं 'अक्षर' (प्रकृति) से परेका पुरुषोत्तम वास्तवमें दोनों एक ही हैं। तेरहवें अध्यायके ३१वें श्लोकमें कहा गया है कि इसे ही 'परमात्मा' कहते हैं और यही परमात्मा शरीरमें क्षेत्रज्ञरूपमें रहता है। इससे सिद्ध है कि क्षर-अक्षर-विचारमें जो मूलतत्त्व अक्षर ब्रह्म अन्त-में निष्पन्न होता है, वही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारका भी पर्यवसान है; अथवा पिण्डमें और ब्रह्माण्डमें एक ही पुरुषोत्तम है। इसी प्रकार यह भी बतलाया गया है कि अधिभूत और अधियज्ञ प्रभृति या प्राचीन अश्वत्थ-वृक्षका तत्त्व भी यही है।

आचार्य विनोबा भावे ने क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तम विचारको सेव्य-सेवक-सेवा-साधनके रूपमें देखा। सेव्य परमात्मा पुरुषोत्तम है। सेवक जीव 'अक्षर पुरुष' है। और सेवाकी साधनरूपा सृष्टि 'क्षर' है। वे लिखते हैं: 'सृष्टिकी क्षरता, नश्वरताका अर्थ है, नव-नवप्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसकर सेवाके लिए खड़ा सनातन सेवक और वह सेव्य परमात्मा। अब चलने दो खेल! वह परमपुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेममूलक सेवा ले रहा है।···यदि हमें जीवनमें ऐसी दृष्टि आ जाय तो कितना आनन्द मिले!'

श्री जयदयाल गोयन्दका लिखते हैं कि ७वें अध्यायके ४–६ श्लोकोंमें वर्णित 'अपरा-परा-अहं' तत्त्व ही १३वें अध्यायके १-२ श्लोकोंमें वर्णित 'क्षेत्र-

क्षेत्रज्ञ-माम्' तथा १५वें अध्यायके १६-१७ श्लोकोंमें वर्णित 'क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तम' तत्त्व हैं। तीनोंमें 'अपरा', 'क्षेत्र' और 'क्षर' प्रकृतिसहित जड़ जगत्के वाचक हैं। 'परा', 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर' जीवके वाचक हैं तथा 'अहम्', 'माम्' और 'पुरुषोत्तम' परमेश्वरके वाचक हैं।

क्षर : १३वें अध्यायके ५वें श्लोकमें वर्णित २४ क्षरतत्त्वोंका ही संक्षेप ७वें अध्यायके चौथे श्लोकमें अष्टधा प्रकृतिके रूपमें किया गया है। भूतोंसहित इसी प्रकृतिका और भी संक्षेप 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' से किया गया है। विपरीत क्रमसे अन्तिमको सूत्र मान क्रमशः दो उसीके विस्तृत व्याख्यान भी कहे जा सकते हैं।

अक्षर : ७वें अध्यायके ५वें श्लोककी 'परा प्रकृति', १३-२ का 'क्षेत्रज्ञ' और १५-१६ का कूटस्थ अक्षर जीव है। आपका कहना है कि 'अक्षर' का प्रकृति या मायाशक्ति अर्थ कभी ठीक नहीं। कारण, उसका विशेषण 'कूटस्थ' है और गीतामें कहीं प्रकृतिके लिए कूटस्थ शब्द प्रयुक्त नहीं है।

पुरुषोत्तम : यह तत्त्व परम दुर्ज्ञेय है। कहीं सृष्टि-स्थिति-लयकर्ता, कहीं शासक, कहीं पोषक, कहीं पुरुषोत्तम तो कहीं परमात्मा आदि नामोंसे इसका वर्णन पाया जाता है।

इस तरह गीताके क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम शब्दोंके विषयमें उपर्युक्त विभिन्न मत प्रचलित हैं।

गीताकी दृष्टिमें—

संन्यासी और त्यागी

व्यवहारमें सामान्यतः कहा जाता है कि ये बड़े संन्यासी हैं, ये बड़े त्यागी हैं। भारतीय संस्कृतिकी बहुत बड़ी धरोहर गीताका उपसंहाराध्याय भी 'मोक्ष-संन्यासयोगाध्याय' नामसे ही प्रसिद्ध है। इसलिए उसीके प्रकाशमें 'संन्यास और त्याग' या 'संन्यासी या त्यागी' का संक्षिप्त विचार करते हुए इसपर गीताके इसी १८वें अध्यायके १ से १२ श्लोकोंके आधारपर प्रकाश डाला जाता है।

संन्यासस्य महाबाहो···(१८-१) :

गीताके पिछले १७ अध्यायोंमें कई स्थानोंपर 'संन्यास' और 'त्याग' शब्दोंका प्रयोग भगवान् श्रीकृष्णने किया है। अब इस अन्तिम अध्यायके आरम्भमें इन्हीं दो शब्दोंका अर्थ समझनेके लिए अर्जुन भगवान्से प्रश्न करता है कि 'प्रभो, मैं संन्यास और त्यागका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह जानना चाहता हूँ।'

बात यह है कि पिछले अध्यायमें भगवान्ने श्रद्धा आदि कितने ही पदार्थोंके सात्त्विक, राजस, तामस भेद गिनाये हैं। तो क्या संन्यास और त्यागके भी इसी प्रकार भेद होते हैं? अर्जुन सोचता है कि हमने तो संन्यासके तीन भेद सुने है: १. विद्वत्संन्यास, २. विविदिषा-संन्यास और ३. तत्त्वज्ञानके पूर्व कर्माधिकारी अविद्वान्द्वारा किया जानेवाला संन्यास।

इनमें पहले 'विद्वत्संन्यास' का अर्थ है: तत्त्वज्ञान हो जानेके फलस्वरूप तत्त्ववेत्ता विद्वान्द्वारा सहज रूपमें उन नित्य, नैमित्तिक, काम्य आदि सभी प्रकारके कर्मोंका त्याग जिनकी अब उसके लिए कोई उपयोगिता नहीं रह गयी है। चतुर्दश अध्यायमें 'गुणातीत' के रूपमें इसीका भगवान्ने वर्णन किया है। इस प्रकार जब यह त्रिगुणातीत है तो इसके सात्त्विकादि गुणभेद संभव ही नहीं।

दूसरा 'विविदिषा-संन्यास' वह है, जिसमें तत्त्व-बुभुत्सा (तत्त्व-जिज्ञासा) के कारण तत्त्वज्ञानके निमित्तभूत, अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक वेदान्त-वाक्योंका विचार करनेके लिए, सर्वकर्मोंका त्याग कर दिया जाता है। इसे भी भगवान्ने 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' से निर्गुण ही बतलाया है। अतएव इसमें भी सात्त्विकादि भेदोंके लिए कोई अवकाश नहीं।

हाँ, तत्त्वज्ञानसे पूर्व कर्माधिकारी अविद्वान् पुरुषद्वारा किया जानेवाला जो संन्यास है, जिसे भगवान्ने 'स संन्यासी च योगी च' से कहा है, उसके सात्त्विकादि

भेद सम्भव हैं। अतएव यहाँ अर्जुन इसी तीसरे प्रकारके संन्यासको भलीभाँति, भेदसहित बतलानेका प्रस्ताव कर रहा है।

अर्जुन इस प्रसंगमें त्यागका भी स्वरूप जाननेकी भगवान्से जो इच्छा व्यक्त कर रहा है, उसमें भी रहस्य है। बात यह है कि संन्यास भी अन्ततः कर्मका त्याग ही तो है और त्याग तो त्याग ही है। तब उसे शंका होती है कि संन्यास और त्याग शब्द घट-पटकी भाँति वास्तवमें भिन्न-भिन्न जातिके हैं या ब्राह्मण और परिव्राजककी भाँति एक जातिके? यदि भिन्न हों तो संन्याससे पृथक् त्यागका स्वरूप क्या है और वह कितने प्रकारका है? यदि दोनों एक हैं तो उसे उसका अवान्तर भेद मानकर एकके व्याख्यानसे ही दोनोंका व्याख्यान गतार्थ हो जायगा।

अर्जुनको सन्देह होनेका कारण भी यहाँ उपस्थित है। यह तृतीय प्रकारका गौण संन्यास करनेवाला वही कर्माधिकारी अविद्वान् है, जो यज्ञादि कर्म करता है। फलतः जैसे यज्ञादिके सात्त्विक, राजस, तामस भेद हैं वैसे ही संन्यासके भी भेद हो सकते हैं। इसके विपरीत 'संन्यास' शब्दसे गुणातीत 'विद्वत्संन्यास' और 'विविदिषा-संन्यास' भी लिये जाते हैं तो उनके समान कदाचित् इसके भी सात्त्विकादि भेद सम्भव न हों? इस प्रकार एक ही संन्यासरूप धर्मीमें दो परस्पर-विरुद्ध धर्मों (सात्त्विकादिभेदवत्ता और भेदाभाववत्ता) का समावेश होनेसे सन्देह होना स्वाभाविक ही है।

अर्जुनका उपर्युक्त सन्देह संन्यासके भेदोंके संबन्धमें है। इसके अतिरिक्त उसे एक और सन्देह है। वह यह कि क्या संन्यास और त्याग एक हैं या भिन्न? एक होनेका कारण तो स्पष्ट है, दोनों जगह त्याग जो है। और एक न होनेका कारण भी सुलभ है, त्यागको आगे सर्वकर्मफलोंका त्याग कहा गया है।

इन्हीं दो सन्देहोंको मनमें रखकर अर्जुनने 'संन्यास' और 'त्याग' का वास्तविक स्वरूप जाननेकी इच्छा प्रस्तुत की।

काम्यानां कर्मणां न्यासं···(१८-२):

विषय संक्षिप्त होनेके कारण सूची-कटाह-न्यायसे अर्जुनके द्वितीय सन्देहके निराकरणार्थ भगवान् पहले 'संन्यास' और 'त्याग' के स्वरूप बतलाते हैं:

भगवान् कहते हैं: अर्जुन, कतिपय सूक्ष्मदर्शी विद्वान् जानते हैं कि काम्य कर्मोंका त्याग 'संन्यास' है। और विचारकुशल विद्वान् सभी कर्मोंका फलत्याग 'त्याग' बतलाते हैं।

ज्ञातव्य है कि विहित कर्म तीन प्रकारके होते हैं: १. नित्य, २. नैमित्तिक

और ३. काम्य। सामान्यतः नित्य और नैमित्तिक कर्म सभीके लिए कर्तव्य होते हैं जिनमें पहला नित्यका कर्तव्य है तो दूसरा निमित्त उपस्थित होनेपर प्रसंगविशेषमें करणीय होता है। सन्ध्यादि नित्यकर्म हैं, तो सूर्यग्रहणादिपर स्नानादि नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं। इनके न करनेपर पाप लगता है और करने-पर यों कोई फल नहीं होता। तीसरा काम्य कर्म कामना-विशेषसे किया जानेवाला कर्म है। यदि आपको पुत्रकी इच्छा हो, तो 'पुत्रेष्टि' यज्ञ करें, वृष्टिकी इच्छा हो तो 'कारीरी' याग करें। प्रकृतमें ऐसे ही कामना-विशेषसे किये जानेवाले कर्मोंको त्याग देना, उन्हें न करना 'संन्यास' कहा गया है। कारण, उन कर्मोंका विधान ही कामना-विशेष रखकर किया गया है। ब्रह्मजिज्ञासुको तो उन कामनाओंसे कुछ लेना-देना है नहीं। हाँ, ब्रह्मविचार स्थिर होनेके लिए वह अन्तःकरण शुद्ध करनेकी कामना अवश्य रखता है। किन्तु ये विविध काम्य-कर्म अपनी-अपनी कामना पूरी करके ही जब कृतकृत्य हो जायँगे तो अन्तःकरण शुद्ध करने क्यों आयेंगे? उन कामनाओंको पूरा करनेके लिए तो वे पहलेसे ही बाध्य हैं। कर्मोंका स्वभाव ही है कि वे फल देकर समाप्त हो जाते हैं। इसीसे भगवान्‌ने फलसहित काम्य-कर्मोंका स्वरूपतः त्याग 'संन्यास' कहा है।

प्रश्न होगा कि फिर उस ब्रह्मजिज्ञासुको नित्य-नैमित्तिक भी कर्म क्यों करने चाहिए जब कि उसका कोई फल नहीं होता, यह आप कह आये हैं? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि यह सत्य है कि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका कोई साक्षात् फल नहीं बताया गया, फिर भी बुद्धिमान् स्वाभाविक रूपसे प्रायः निष्फल कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए 'विश्वजित्' न्यायसे वहाँ स्वर्गादि कोई आक्षिप्त फल मान लेनेपर प्रवृत्तिमें बाधा नहीं होगी। ब्रह्मजिज्ञासा या ब्रह्मविविदिषाका विधायक 'तमेतं वेदानुवचनेन···' आदि श्रुतिवचन ब्रह्मचर्यादि नित्य-कर्मोंका भी पापक्षयद्वारा आत्मज्ञानरूप फल बतलाता है।[1] फलतः अब उन कर्मोंमें भी बुद्धिमानोंकी प्रवृत्तिमें कोई बाधा नहीं रह जाती। अर्थात् सत्त्वशुद्धि और विविदिषोत्पत्तिपूर्वक जो वेदन यानी ज्ञान चाहता हो उसे नित्यकर्म भी भगव-दर्पणबुद्धिसे करने चाहिए।

---

१. वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य भी यही कहते हैं:

वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने ।
तमेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् ।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥

अब इस श्लोकके त्यागके स्वरूपपर भी थोड़ा विचार करें। कहा गया है कि विचारकुशल विद्वान् सभी प्रकारके कर्मोंके फलोंका त्याग ही 'त्याग' पदार्थ बतलाते हैं। अर्थात् सभी प्रकारके काम्य और नित्य-कर्मोंका तत्तत्-फलत्यागपूर्वक सत्त्वशुद्धिद्वारा विविदिषाके साथ संयोग करते हुए अनुष्ठान 'त्याग' पदार्थ है।

इस प्रकार नित्यकर्मोंका विविदिषाके साथ सम्बन्ध जोड़कर काम्य-कर्मोंका स्वरूपतः और फलके साथ भी त्याग 'संन्यास' पदार्थ हुआ, तो काम्य एवं नित्य-कर्मोंको 'संयोग-पृथक्त्व' न्यायसे[1] विविदिषाके साथ संयुक्त कर तदर्थ स्वरूपतः कर्मानुष्ठान करते हुए भी तत्तत् फलाभिसन्धिमात्रको त्याग देना 'त्याग' है। एवञ्च यह स्पष्ट हो गया कि संन्यास और त्यागका भेद ब्राह्मण-परिव्राजकके-से एकजातीयोंका औपाधिक भेद ही है। दोनों घट-पटादिकी भाँति भिन्न-जातीय नहीं, कारण, 'फलाभिसन्धित्यागत्व' समानधर्म दोनोंमें रहता ही है। संन्यासमें 'स्वरूपतः काम्य-कर्मत्यागत्व' विशेषधर्म रहता है, यही अन्तर है।

त्याज्यं दोषवदित्येके···(१८-३)

अब अर्जुनके द्वितीय प्रश्नके समाधानार्थ संन्यास और त्याग शब्दार्थका त्रैविध्य बतलानेके लिए इस श्लोकसे विप्रतिपत्ति[2] बतलाते हैं :

---

१. इस न्यायका पूरा स्वरूप यह है : 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्'। यह मीमांसा-शास्त्रका विषय है। वेदमें दो वाक्य मिलते हैं : 'खादिरो यूपो भवति, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं करोति' अर्थात् यूप या यज्ञाङ्ग जो स्तम्भ-विशेष है, वह खैरकी लकड़ीका बनाना चाहिए, यह एक विधि है। दूसरी विधि है, जिसे वीर्यकी कामना हो वह खादिर यूप बनाये। इस प्रकार यहाँ एक ही 'खादिर' यज्ञका अङ्ग बना और पुरुषार्थ भी (पुरुषका अभीष्ट= वीर्यप्रद)। कारण, वह दो भिन्न प्रमाणोंसे विहित है। इसी प्रकार 'शतपथ-ब्राह्मण' में पठित अग्निहोत्र-सोमयागादिका भी उनके विधायक प्रत्येक वाक्यसे तत्तत् फलके साथ सम्बन्ध होता है तो 'तमेतं वेदानुवचनेन···' इस वचनसे विविदिषाके साथ भी होता है। 'संक्षेपशारीरक'कार भी इसकी पुष्टि करते हैं : 'यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा स्वोत्पत्त्याम्नायसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति।' इसलिए काम्यकर्म भी फलाभिसन्धि न रखते हुए अन्तःकरण-शुद्धिके लिए करने चाहिए। कोई कर्म स्वयं काम्य या नित्य नहीं हुआ करता, अपितु पुरुषाभिप्रायभेदके कारण ही यह भेद है। फलाभिसन्धि त्याग देनेपर दोनोंमें कोई विशेषता नहीं रह जाती।

२. 'विप्रतिपत्ति' शब्दका शास्त्रीय परिभाषामें अर्थ है, विरुद्ध-कोटिद्वय-उपस्थापक

मनोनिग्रहसमर्थ सांख्यशास्त्रकी दृष्टि रखनेवाले कुछ विद्वान् कहते हैं कि सारे कर्म दोषयुक्त यानी दुष्ट हैं। अतः कर्माधिकारी अज्ञजनोंको भी कर्म त्याग ही देने चाहिए। सांख्यवादियोंका अभिप्राय है कि वैदिक अग्निष्टोम आदि यज्ञकर्मोंमें हिंसा होनेसे और हिंसासे पाप अनिवार्य होनेके कारण वे कर्म भी दोष-युक्त ही हुए। क्योंकि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस प्रकार श्रुतिने हिंसाका निषेध किया है। अतः वह पुरुषके अनर्थकी हेतु है। मधुसूदन सरस्वती 'दोषवत्' का दूसरा ही अर्थ करते हैं। अर्थात् जैसे रागादि दोष त्याज्य होते हैं, वैसे ही जिन्हें अभी तत्त्वबोध और विविदिषा उत्पन्न नहीं हुई है उन कर्माधिकारियोंके लिए विक्षेपक होनेसे ये कर्म भी त्याज्य हैं।

दूसरे विद्वान् मीमांसकोंकी दृष्टि रखते हुए कहते हैं कि यज्ञ, दान, तपोरूप कर्म कभी भी त्याज्य नहीं हैं। अर्थात् ये कहते हैं कि कर्माधिकारी जनोंका कर्तव्य है कि अन्तःकरणशुद्धिद्वारा विविदिषा उत्पन्न करनेके लिए यज्ञ-दान-तप आदि कर्म कभी न त्यागें। इनका तात्पर्य यह है कि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह निषेध 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विधिविहित हिंसातिरिक्त हिंसाके निषेधमें चरितार्थ हो जाता है। अतः विधिबोधित कर्म प्रत्यवाय या पापका जनक कथमपि नहीं। विहितका त्याग करना ही प्रत्यवायजनक होता है। इसलिए कोई भी कर्म कर्माधिकारीके लिए त्याज्य नहीं।

निश्चयं शृणु मे तत्र···(१८-४)

भगवान् कहते हैं कि इस विषयमें इस प्रकार विप्रतिपत्ति रहते हे क्षत्रिय-वीरोंमें श्रेष्ठतम अर्जुन! कर्माधिकारीद्वारा किये जानेवाले फलाभिसन्धि-पूर्वक कर्मत्यागके विषयमें मेरा निश्चित सिद्धान्त सुनो।' इससे स्पष्ट हो गया कि भगवान्ने मतभेदसे संन्यास और त्याग शब्दार्थ पृथक्-पृथक् बताकर यहाँ स्वाभिमत उनका ऐक्य प्रकट कर दिया।

प्रश्न होगा कि इसमें ऐसी कौन-सी दुर्ज्ञेयता है? तो भगवान् कहते हैं: 'पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, सुनो। कर्माधिकारीद्वारा किया जानेवाला फलाभिसन्धि-पूर्वक कर्मत्याग तीन प्रकारका बताया गया है।' ये तीन प्रकार भगवान्द्वारा यहाँ शब्दतः न कहनेपर भी प्रसंगतः सात्त्विक, राजस, तामसरूप समझ लेने

वाक्य। अर्थात् एक वाक्यद्वारा जहाँ ऐसे दो पक्ष बतलाये जायँ, जो परस्पर एक-दूसरेके विपरीत हों। शास्त्रोंमें ऐसे ही विप्रतिपत्तिवाक्यसे 'संशय' की उत्पत्ति बतायी है, जो संशय आगे पूर्वपक्षका उपस्थापक बनकर उत्तर-पक्षको अवकाश देते हुए विचारका एक प्रमुख अङ्ग माना गया है।

चाहिए। आगे भगवान् ये तीन भेद भी कहेंगे। तात्पर्य, कर्माधिकारीद्वारा फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मत्याग तीन प्रकारका है : सात्त्विक, राजस और तामस।[१]

---

१. श्री मधुसूदन सरस्वतीने यहाँ प्रकारान्तरसे प्रस्तुत त्यागके तीन भेद दार्शनिक शैलीमें, विशेषतः न्यायशास्त्रकी भाषामें, बताये हैं; जो दर्शनके विद्वानोंकी दृष्टिसे बड़े ही सारगर्भ एवं रोचक हैं :

ज्ञातव्य है कि 'फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मत्याग' इस पदमें 'कर्मत्याग' का अर्थ है कर्मोंका त्याग यानी उन्हें छोड़ देना, न करना—'कर्मोंका अभाव'। फिर वह कर्म भी कैसा? तो कहते हैं : फलाभिसन्धिपूर्वक। अर्थात् फलाभिसन्धियुक्त, फलाभिसन्धिविशिष्ट। तात्पर्य यह कि 'फलाभिसन्धि' कर्मका 'विशेषण' हुआ और 'कर्म' हुआ 'विशेष्य'; इन दोनोंका—विशेषण-विशिष्ट विशेष्यका (फलाभिसन्धिविशिष्ट कर्मका) अभाव भगवान् 'फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मत्याग' या कर्माभाव पदसे बता रहे हैं।

अब एक बात और समझ लें। जहाँ किसी विशिष्टका अभाव बताया जाता है वहाँ जैसे विशिष्टके घटक दोनों पदार्थोंके न रहनेपर वह विशिष्टाभाव बन जाता है वैसे ही उन दोनोंमें-से किसी एकके न रहनेपर भी वह बन सकता है। कारण, उस स्थितिमें विशिष्ट पदार्थ रहा ही नहीं तो विशिष्टाभावका होना स्वाभाविक ही है। इसे ही न्यायशास्त्रकी भाषामें १. विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव, २. विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव और ३. उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव कहा जाता है।

प्रकृत सन्दर्भमें कहना हो तो फलाभिसन्धि न रखते हुए कर्म करनेपर वह 'विशेषण' (फलाभिसन्धि) के अभावके कारण विशिष्टाभाव (फलाभिसन्धिविशिष्ट कर्माभाव) हो गया। फलाभिसन्धि रखते हुए कर्म न करें तो वह 'विशेष्य' (कर्म) के अभावके कारण विशिष्टाभाव हुआ। ऐसे ही फलाभिसन्धि और कर्म दोनों ही न हों तो वह 'विशेषण और विशेष्य उभय' के अभावके कारण विशिष्टाभाव हुआ।

भगवान् कहते हैं कि इनमें पहला अभाव सात्त्विक होनेसे ग्राह्य है। दूसरा अभाव राजस और तामस होनेसे हेय है। कारण, फलाभिसन्धि रखते हुए भी जो कर्म नहीं करता, उसका कारण आलस्य या भ्रम (मोह) ही हो सकता है। कर्माधिकारीद्वारा किये जानेवाले ये दो प्रकारके कर्मत्याग (अवान्तरभेदसहित लें तो तीन) अर्जुनके प्रश्नके विषय हैं।

यज्ञ-दान-तपः कर्म···(१८-५):

इस प्रकार भगवान् अपना निश्चय बतानेकी पूर्वपीठिकाके रूपमें त्यागके भेदोंको बताकर अब कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपोरूप धर्म-कर्म[1] फलाभिसन्धि न रखनेवाले निष्काम, दम्भविहीन मनीषियोंकी अन्तःकरणशुद्धिके हेतु हैं

तीसरा कर्मके अनधिकारी विद्वान्‌द्वारा क्रियमाण नैर्गुण्यरूप कर्मत्याग अर्जुनके प्रश्नका विषय ही नहीं है।

यदि इसके भी भेदोंको जानना चाहें, तो कह सकते हैं कि यह नैर्गुण्यरूप कर्मत्याग भी दो प्रकारका होता है: १. साधनरूप और २. साध्य या फलरूप। इनमें पहलेका स्वरूप है—फलाभिसन्धित्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानरूप सात्त्विक त्यागसे जिसकी अन्तःकरणशुद्धि हो गयी है और उसके फलस्वरूप विविदिषासे प्रेरित हो जो आत्मज्ञानका साधन श्रवणाख्य वेदान्तविचार करता हुआ फलाभिसन्धि-रहित शुद्धान्तःकरण पुरुष है, उसके द्वारा किया जानेवाला कर्मत्याग। धानका अवहनन या कूटना तभीतक होता है जबतक कि उसके तुष (छिलके) उतर नहीं आते। उनके उतर आनेपर अवहनन व्यर्थ होनेसे त्याग दिया जाता है। ठीक ऐसे ही यहाँ कर्मका उद्देश्य पूरा हो जानेपर, व्यर्थ भारभूत होनेके कारण, वह त्याग दिया जाता है। इसे 'विविदिषा-संन्यास' कहते हैं, जिसे भगवान् आगे 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां···' (१८-४९) से कहेंगे।

दूसरे साध्य या फलरूप संन्यासका स्वरूप है: इस जन्म या जन्मान्तरके साधनाभ्यासके परिपाकवश आत्मबोध होनेसे जो कृतकृत्य हो गया, उसके द्वारा स्वतएव फलाभिसन्धि और कर्मका छूट जाना; फिर वह साधनाभ्यास इस जन्मका हो या जन्मान्तरका। इसे 'विद्वत्संन्यास' कहते हैं, जो 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' (३-१७) से पीछे कहा जा चुका है। साथ ही स्थितप्रज्ञ-लक्षणों (२-५५–७२) द्वारा अनेक प्रकारसे वर्णित है।

१. गीतामें कथित ये धर्मरूप कर्म अपने अवान्तर भेदोंके साथ कुल ७२ प्रकारके होते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है:

१. यज्ञ: १८ प्रकारका—कर्म, उपासना, ज्ञान।

कर्मयज्ञ: ६ प्रकारका—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक।

उपासना-यज्ञ: ९ प्रकारका—(क) साधनारूप: मन्त्रयोग, लययोग,

(पावनानि) अर्थात् उनके ज्ञानके प्रतिबन्धकीभूत पाप-मलादिकोंको धो डालते तथा उनमें ज्ञानोत्पत्तिकी योग्यतास्वरूप पुण्यगुणोंका आधान करते हैं। इसलिए कर्माधिकारियोंको फलाभिसन्धिरहित यज्ञ, दान, तप कभी नहीं छोड़ने चाहिए।

एतान्यपि तु कर्माणि··(१८-६) :

प्रश्न हो कि यदि यज्ञ, दान और तपमें यह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वे अन्तः-करणका शोधन कर देते हैं तो फलाभिसन्धि रखनेवालोंद्वारा सम्पादित होकर भी वे उनके शोधक हो सकते हैं। तब फलाभिसन्धि त्यागनेकी आवश्यकता ही क्या रही ?

इसपर भगवान् कहते हैं : पार्थ, ये यज्ञ, दान और तपोरूप कर्म सङ्ग (वय, वर्णादि अध्यास-निमित्तक अभिमान : 'मैं इनका कर्ता हूँ' आदि) और फलाभि-सन्धि (स्वर्गादि फलोंकी आसक्ति) त्यागकर, ब्रह्मनिष्ठके समान असङ्ग बनकर, करने ही चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित मत है। अर्थात् मुझ परमेश्वर वासुदेवका यह सर्वोत्तम मत है जो तुम्हें पार्थको मानना ही चाहिए।

तात्पर्य यह कि धर्म होनेके नाते काम्यकर्म भी शुद्धि तो अवश्य करते हैं किन्तु वह शुद्धि फलोपभोगमें ही काम आती है, ज्ञानके उपयोगी नहीं होती। वार्तिककार भी कहते हैं कि काम्य कर्मसे भी भोगसिद्ध्युपयोगी शुद्धि अनिवार्य है। कारण, कभी विष्ठाभोजी शूकरकी देहसे ऐन्द्रपदका फल भोगा जाना सम्भव नहीं।[1]

इस प्रकार फलाभिसन्धिपूर्वक किये गये कर्म उस फलभोगके लिए अपेक्षित शुद्धि करते हुए फलाभिसन्धिके कारण बन्धनके हेतु बनते हैं। अतएव कर्तृत्वा-भिमान (सङ्ग) और फलाभिसन्धि त्यागकर केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए

हठयोग, राजयोग; (ख) भावनारूप : निर्विशेष ब्रह्म, सविशेष ब्रह्म, अवतार, देवता, क्षुद्र-प्रेतादि।

ज्ञान-यज्ञ : ३ प्रकारका—श्रवण, मनन, निदिध्यासन।

२. तप : ३ प्रकारका—शारीरिक, वाचिक, मानसिक।

३. दान : ३ प्रकारका—अभय, अर्थ, विद्या।

इस प्रकार भेदसहित यज्ञ-दान-तप २४ हुए। इन्हें सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेदोंसे गुणित करनेपर २४×३=७२ ये त्रिविध धर्मकर्म ७२ प्रकारके होते हैं।

१. काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव वा।
विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम्॥

कर्म करने चाहिए, यह भगवान्‌का सुनिर्धारित मत है। इस तरह भगवान्‌ने 'निश्चयं शृणु मे तत्र' यह जो प्रतिज्ञा की थी, उस निश्चयका यहाँ उपसंहार हो जाता है।

नियतस्य तु संन्यासः···(१८-७):

इस प्रकार भगवान्‌ने अपना पक्ष स्थिर, प्रतिष्ठित कर दिया कि 'यज्ञदान-तपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।' अब 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' इस परपक्षके निराकरणार्थ प्रथम त्यागका त्रैविध्य बतलाते हैं।

भगवान् कहते हैं कि यतः काम्यकर्म अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं करता, बन्धका हेतु है और दोषवान् है, अतः जो बन्धनिवृत्तिके हेतु तत्त्वबोधका अर्थी है वह काम्यकर्मोंका त्याग करे, यह ठीक ही है। किन्तु नित्यकर्म शुद्धिका हेतु होनेसे निर्दुष्ट होनेके कारण उनका संन्यास या त्याग मुमुक्षुके लिए उचित नहीं। शास्त्र और युक्तियोंसे यह सिद्ध है कि वे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए अवश्य अनुष्ठेय हैं। सांख्यवादी विहितको जो निषिद्ध मान बैठते हैं, अर्थहेतुको जो अनर्थहेतु मान लेते हैं, धर्मको अधर्म या अनुष्ठेयको अननुष्ठेय मान बैठते हैं, यह विपर्यासरूप मोह है। इसलिए मोहवश नित्यकर्मोंका किया जानेवाला त्याग 'तामस त्याग' कह-लाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म···(१८-८):

भगवान् कहते हैं कि जिनमें मोह न हो और अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे जो कर्माधिकारी हैं, वे यदि कर्मोंको 'यह दुःख ही है' ऐसा मान शरीर-क्लेशके भयसे त्याग देते हैं तो वह राजस त्याग हो जाता है। दुःख रजोगुणका कार्य है। अतः दुःखबुद्धिसे किया गया त्याग राजस है। ऐसा त्याग करनेवाला भी सात्त्विक त्यागके फल जो ज्ञाननिष्ठा और चित्तशुद्धि हैं, उन्हें कभी नहीं पाता। 'एव' पदका स्वारस्य यह है कि इस त्यागसे उसकी आशा भी नहीं करनी चाहिए।

कार्यमित्येव यत्कर्म···(१८-९):

इस प्रकार तामस और राजस दोनों प्रकारके त्याग हेय हैं। तब कौन-सा त्याग उपादेय है, तो कहते हैं कि सात्त्विक त्याग। भगवान् कहते हैं कि नित्य-कर्मोंकी विधिमें उनका कोई फल उक्त न होते हुए भी यह मानकर कि 'मुझे करना ही है', सर्वथा कर्मसङ्ग और कर्तृत्वाभिनिवेश तथा फलाभिसन्धि त्यागकर अन्तःकरण-शुद्धिपर्यन्त जो नित्य-कर्मानुष्ठान किया जाता है वह त्याग सात्त्विक त्याग है और वही शिष्टोंको मान्य है।

प्रश्न होगा कि नित्यकर्मोंका फल ही नहीं होता तो उसे त्यागनेकी बात कैसे कह रहे हैं? उत्तर है, भगवान्‌का यह वचन ही बताता है कि नित्यकर्मोंका

भी फल हुआ करता है। कारण, जो निष्फल होता है; कोई बुद्धिमान् उसका आचरण ही नहीं कर सकता। पूर्वप्रसंगोंमें उल्लिखित आपस्तम्बधर्मसूत्रके अनुसार जैसे फलके निमित्त लगाया आम्रवृक्ष साथ-साथ छाया और गन्ध भी देता है, वैसे ही धर्मका आचरण करनेवालेके पीछे-पीछे, न चाहते हुए भी, अर्थ आनुषङ्गिक रूपसे प्राप्त होते ही हैं। इस प्रकार नित्यकर्मोंका भी आनुषङ्गिक फल हुआ ही करता है।

साथ ही नित्यकर्मोंके न करनेपर पाप होनेकी बात जब श्रुति बताती है तो उनके करनेपर पाप-परिहाररूप फल भी हो ही सकता है। स्वयं श्रुति भी कहती है: 'धर्मेण पापमपनुदति।' इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक श्रुतियाँ नित्यकर्मोंका फल ज्ञानप्रतिबन्धक 'पापका क्षय' तथा 'ज्ञानयोग्यतारूप पुण्योत्पत्तिलक्षण' आत्मसंस्कार बतलाती ही हैं। अतः उन फलोंकी अभिसन्धि भी न रखते हुए कर्मत्याग ही सात्त्विक त्याग है, यह भगवान्का आशय है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म···(१८-१०):

अब भगवान् इस सात्त्विक त्यागका फल बतलाते हैं: अर्जुन, इस प्रकार जो त्यागी सात्त्विक त्यागसे युक्त हो पूर्वोक्त प्रकारसे कर्तृत्वाभिनिवेश और फलाभिसन्धि त्यागकर अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं विहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है तो वह सत्त्वसमाविष्ट हो जाता है अर्थात् आत्मानात्म-विवेकज्ञानके कारण पापक्षय और पुण्यगुणाधानरूप संस्कारसे संस्कृतान्तःकरण बन जाता है। ऐसा होनेके पश्चात् वह मेधावी अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्मात्म्यैक्यज्ञानरूप मेधासे नित्ययुक्त, स्थितप्रज्ञ बन जाता है। फिर उसके सारे संशय छिन्न-विच्छिन्न हो जाते हैं। अर्थात् उस मेधासे अविद्याका उच्छेद होनेपर उसके कार्य संशय-विपर्ययादि मिट जाते हैं। फलतः उसके कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। अतएव फिर वह न तो अशोभन काम्य या निषिद्ध कर्मोंसे द्वेष करता है और न शोभन नित्यकर्मोंमें अनुरक्त ही होता है। कर्तृत्वाभिमान छूट जानेसे वह कृतकृत्य हो जाता है। उसीके लिए श्रुति भगवती कहती है:

> **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
> **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥**
>
> (मुण्डकोप० २-२-८)

अर्थात् 'उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी अविद्या-ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय कट जाते हैं और उसके सारे कर्म (प्रारब्धातिरिक्त) क्षीण या नष्ट हो जाते हैं।' सात्त्विक त्यागका इतना महान् फल होनेसे प्रत्येक सम्भव प्रयत्नसे वह उपादेय है।

न हि देहभृता शक्यं··(१८-११) :

ऊपर यह बतलाकर कि सात्त्विक त्यागके कारण शुद्धचित्त, आत्मज्ञानवान् पुरुषका ही सर्वकर्मत्यागरूप मुख्य संन्यासमें अधिकार है, अब भगवान् देहधारियोंके लिए गौणसंन्यास यानी कर्मफल-त्यागरूप संन्यासका विधान हेतु-प्रदर्शन-पूर्वक बतलाते हैं। भगवान् कहते हैं कि देहधारी पुरुषद्वारा समग्र कर्मोंका त्याग सम्भव ही नहीं। अतएव कर्म करते हुए जो कर्मफलोंका त्याग करता है वह त्यागी 'गौणसंन्यासी' कहा जाता है।

बात यह है कि जो आत्मज्ञानी होता है, वही सब कर्मोंका त्याग कर सकता है, क्योंकि उसमें कर्मोंमें प्रवृत्तिके कारणभूत राग और द्वेषका सर्वथा अभाव होता है। किन्तु जिस देहधारीको अभी आत्मज्ञान नहीं हुआ, जो अज्ञ है, वह कभी सर्वकर्मत्याग कर ही नहीं सकता। पहले तो वह मनुष्य-ब्राह्मण-गृहस्थादिरूप अबाधित अभिमानवश कर्माधिकारिताका हेतु, कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिका आश्रय तथा स्थूल-सूक्ष्मशरीरेन्द्रियसंघातरूप देह धारण करता है। यानी अनादि-अविद्यावासनावश व्यवहारयोग्यत्वेन कल्पित असत्य उस देहको सत्य, अपने स्वात्मरूपसे भिन्न होनेपर भी अपनेसे अभिन्न मानता हुआ उसे धारण करता और पालता-पोसता है। इस प्रकार उसमें देहाभिमान पूरी तरह भरा रहता है। उसे विवेक-ज्ञान नहीं रहता और कर्ममें प्रवृत्तिके कारणीभूत राग-द्वेष भी भरे रहते हैं। फलतः वह निरन्तर कर्ममें प्रवृत्त ही रहता है। भला ऐसा व्यक्ति कभी पूर्णतः कर्मोंका त्याग कर सकता है? कर्मकी सारी सामग्री रहते उसका त्याग कभी सम्भव ही नहीं। इसलिए ऐसा अज्ञ अधिकारी सत्त्वशुद्धिके लिए कर्म करता हुआ भी भगवान्की कृपा हो जाय और कभी कर्मफलोंका त्यागी बन जाय तो उसे गौणरूपसे त्यागी कहा जा सकता है। अशेष कर्मोंका त्याग तो परमार्थदर्शी आत्मज्ञानी ही कर सकता है। अतः मुख्यरूपसे त्यागी वही है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च···(१८-१२) :

भगवान् कहते हैं कि ऐसे अत्यागी या गौणत्यागीको मरनेके अनन्तर अनिष्ट, इष्ट और दोनोंसे मिश्र कर्मफल मिलता है; किन्तु मुख्य संन्यासीको कभी किसी प्रकारका कर्मफल नहीं मिलता।

सारांश, यहाँ भगवान् गौण एवं मुख्य संन्यासियोंकी गतियोंका निरूपण करते हैं। कहते हैं कि कर्मफलका त्याग करते हुए कर्म करनेवाले गौणसंन्यासी यदि विविदिषापर्यन्त सत्त्वशुद्धि होनेके पूर्व मर जाते हैं तो उन्हें पूर्वकृत कर्मके फलस्वरूप शरीर धारण करना पड़ता है। वह कर्म पापरूप हो तो नारकीय, पशु-पक्षी आदिका शरीर मिलता है। यदि पुण्यरूप हो तो देवशरीर प्राप्त होता है

और पाप-पुण्य दोनोंसे मिश्र कर्म हों तो मनुष्यशरीर मिलता है। इस प्रकार गौण संन्यासियोंको देहपातके पश्चात् शरीरान्तरग्रहण आवश्यक हो जाता है। किन्तु मुख्य संन्यासियोंको तो मरनेके पश्चात् इन त्रिविध कर्मोंमें उपर्युक्त तीनों फल नहीं मिलते। उन्हें देहधारण नहीं करना पड़ता, वे तो चरमदेह हैं। कारण, ज्ञान होनेसे अज्ञानका उच्छेद हो जाता है। फलतः अज्ञानके कार्य कर्म उच्छिन्न हो जाते हैं। तब वे फल क्या देंगे ?

इस श्लोकपर मधुसूदन सरस्वती अपनी टीकामें मीमांसाशास्त्रकी दृष्टिसे लम्बा-चौड़ा विचार कर अन्तमें इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि ब्रह्मज्ञानसे आत्मविषयक अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेके कारण अज्ञानके कार्य कर्तृत्वादि अभिमानसे रहित जो परमार्थतः संन्यासी होता है, वह सब कर्मोंका उच्छेद होनेसे शुद्ध एवं केवल बनकर पुनः अविद्याकर्मादिनिमित्तक शरीरधारण नहीं करता। किन्तु जो अविद्यावान्, कर्तृत्वादि-अभिमानवान् देहधारी है वह तीन प्रकारका होता है। वह रागादि दोषोंके प्राबल्यवश काम्य, निषिद्ध आदि यथेष्ट कर्मानुष्ठान करता है। ऐसा पुरुष मोक्षशास्त्रका अनधिकारी होता है। यह एक हुआ। इसके अतिरिक्त पूर्वजन्मीय सुकृतवशात् जिसके रागादि दोष कुछ क्षीण हो गये हैं, वह सब कर्मोंको त्यागनेमें असमर्थ होता हुआ निषिद्ध और काम्य कर्मोंको छोड़ नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको फलाभिसन्धिरहित हो इसलिए करता है कि सत्त्वशुद्धि हो जाय। वह गौणसंन्यासी, जो मोक्षशास्त्रका अधिकारी है, दूसरा हुआ। फिर, नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होनेसे जिसे विविदिषा उत्पन्न हो गयी हो और जो मोक्षके साधन ज्ञानको श्रवणादिद्वारा प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है और सभी कर्मोंका विधिवत् त्याग कर गुरुके पास जाता है, वह विविदिषा-संन्यासी तीसरा हुआ।

इनमें पहला संसारी है, यह सुस्पष्ट है। दूसरेका 'अनिष्टमिष्टम्' आदिसे व्याख्यान किया ही गया। तीसरेके विषयमें तो 'अयतिः श्रद्धयोपेतः' (६-३७) इत्यादि प्रश्न करके छठे अध्यायमें निर्णय किया जा चुका है। अज्ञकी संसारिता तो सुनिश्चित है, क्योंकि संसारकी सारी कारणसामग्री विद्यमान है। उनमें भी विशेष यह है कि कुछका संसारित्व ज्ञानके अननुगुण होता है तो कुछका ज्ञानके अनुगुण। किन्तु विज्ञमें तो संसारके कारण ही नहीं रहते, अतः उसे स्वतएव कैवल्य है, ये दो बातें इस श्लोकमें बतायी गयी हैं।

सर्वधर्मान् परित्यज्य....

सारी गीता सुनाकर अन्तमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८-६६)

अर्थात् 'अर्जुन, सब धर्मोंको त्यागकर एकमात्र मेरी शरण आओ। शोक मत करो, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा।

भगवान्का यह वचन अर्जुनके कितने काम आया, यह बात तो भिन्न है। किन्तु एक ओर आपातदर्शी आजके कतिपय 'नयी रोशनी' वालोंने इसे यह कहकर अपना कवच बना लिया कि भगवान्ने सारे धर्म-कर्म छोड़ अपनी शरण आनेको कहा है तो हमने भी सब धर्मोंको तिलांजलि दे दी और भगवान्की शरण चले गये। मानो उन्हें इस वचनसे भगवान्ने स्वच्छन्द आचरणकी छूट ही दे दी! दूसरी ओर जो केवल भजनके, नामजपके प्रेमी हैं, वे भी भगवान्का यह वचन बताकर अपने वर्णाश्रमानुसारी नित्य-नैमित्तिक कर्म छोड़ 'रामधुन' लगाने बैठ जाते हैं। किन्तु सिद्धान्ततः वह भी संगत नहीं। कारण, यह सत्य है कि नाममें पापनिवारण-की इतनी शक्ति है कि पापी उतने पाप कर ही नहीं सकता; फिर भी वह नाम-स्मरण नामापराध-रहित होना चाहिए, यह भी शास्त्रवचन है। उन दशविध नामापराधोंमें वर्णाश्रमविहित कर्मत्याग भी एक अपराध ही माना गया है। अतएव आवश्यक हो जाता है कि इस भगवद्वचनका वास्तविक हृदय प्रकट कर दिया जाय। आगेकी पंक्तियोंमें संक्षेपमें पाँच प्रकारसे इसके भाव स्पष्ट किये जा रहे हैं।

१. धारणार्थक 'धृञ्' धातुसे 'मन्' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न 'धर्म' शब्दका अर्थ है वस्तु में रहनेवाला उसका धारक विशेष गुण। आँखोंका देखना और कानोंका सुनना विशेष धर्म हैं। सभी स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंमें उनके धारक विशेष गुण हुआ करते हैं। मानव-शरीरमें भी मानव-धर्म रहता है जिसका बोध एवं अर्जन करानेके लिए ही वेद-वेदाङ्ग, उपनिषदें एवं स्मृतियाँ बनी हैं। ये धर्म शुभ-कर्म ही होंगे, अशुभ नहीं। अन्यथा 'सर्वधर्मान्' न कहकर इसके स्थानपर 'सर्वकर्माणि' कहा होता।

मानवके वे सभी शुभकर्म, जो उसके धारक होते हैं, यहाँ 'सर्वधर्मान्' पदसे विवक्षित हैं। उन्हें परित्यज्य=त्यागकर। यहाँ 'सर्वधर्मान्' और 'परित्यज्य' के बीच 'मयि' पद गुप्त है। उसे भी अन्वित कर यह अर्थ करना चाहिए कि सारे शुभ कर्म मुझ परमात्माको अर्पण करके। भगवान्ने सर्वकर्म स्वयंको अर्पण करनेकी बात 'यत्करोषि यदश्नासि···तत्कुरुष्व मदर्पणम्' से ९वें अध्यायके २७वें श्लोकमें कही ही है।

ज्ञातव्य है कि भगवान्‌को 'तत्कुरुष्व मदर्पणम्' से सर्वकर्मोंका अर्पण स्वरूपतः नहीं, फलतः विवक्षित है।[1] बन्धक होनेसे स्वरूपतः अपना कर्म भगवान्‌को अर्पण कर दें तो भले ही हम छूट जायँ, पर भगवान्‌को तो बँध जाना पड़ेगा। कोई यजमान नित्य गंगास्नानरूप अपना कर्म अपने पुरोहितको अर्पण कर दे तो वह छूट जायगा किन्तु पुरोहित उससे बँध जायगा। इस तरह एक बन्धक वस्तु अपने पाससे हटाकर दूसरेपर और वह भी भगवान्‌पर मढ़ देना उचित नहीं। अतएव यहाँ कर्मोंका फलतः त्याग या समर्पण ही अभिप्रेत है। अर्थात् आप जो भी सत्कर्म करें, उसका सारा फल भगवान्‌को समर्पित कर दें। यदि इस प्रकार कोई अपने सभी शुभकर्म कर उनके फल भगवान्‌को अर्पण करता हुआ भगवान्‌की शरण जाता है तो निश्चय ही भगवान् उसे सभी ज्ञात-अज्ञात पापोंसे मुक्त कर देंगे, यह भाव है।

२. 'धर्म' का दूसरा अर्थ है १० इन्द्रियों, ४ अन्तःकरणों तथा ५ प्राणोंके देखना, सुनना आदि १९ धर्म (जिनका वर्णन गीतामें ५-९-१० आया है), जो बाह्य मायिक वस्तुओंके ग्रहण करनेमें लगे रहते हैं। उन्हें परित्यज्य=बाहरी वस्तुओंसे हटाकर, मोड़कर, अन्तर्मुख कर भगवत्स्वरूपके ग्रहणमें लगा देना ही यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का आशय है। इन सभी धर्मोंका परित्याग कर भगवान्‌की शरण आनेका ही विधान यह भगवद्वचन कर रहा है।

३. प्रस्तुत 'धर्म' पद धर्मके अतिरिक्त अर्थ, काम और मोक्षका भी उपलक्षण है। इस प्रकार जब प्राणी अपने चतुर्विध पुरुषार्थोंको ही भगवान्‌को अर्पण कर उनकी शरण जायगा तो निश्चय ही वह भगवान्‌को वश कर लेगा। यही भाव इस भगवद्वचनका है।

४. मानवधर्मके अन्तर्गत ४ वर्णधर्म और ४ आश्रमधर्म होते हैं। वर्ण-धर्म हैं—ब्राह्मणधर्म, क्षत्रियधर्म, वैश्यधर्म और शूद्रधर्म। आश्रमधर्म हैं: ब्रह्म-

---

१. इसी अध्यायके उपक्रममें भगवान्ने कहा है:

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते। (१८-११)

चर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास। ब्राह्मणधर्म यज्ञ-तपादि, क्षत्रियधर्म प्रजा-पालनादि, वैश्यधर्म गोरक्षणादि और शूद्रधर्म सेवादि हैं। इसी प्रकार आश्रमधर्म भी समझ लें। इन सबको भगवान्‌को अर्पण कर उनकी शरण जायँ, यह प्रस्तुत भगवद्वचनका भाव है।

५. 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का यह भी अर्थ है कि पूर्व-पूर्व आश्रमधर्मको क्रमशः परवर्ती आश्रमधर्मोंमें लय करते हुए अन्तिम आश्रम-धर्म संन्यासको उसकी उत्तरोत्तर उच्चश्रेणीमें लय कर अन्तिम श्रेणी भगवान्‌में लय करते हुए उनकी शरण जायँ। इस प्रकार विद्वत्-संन्यासके साथ भगवान्‌की शरणागतिका योग हो जाय तो निश्चय ही वह अविद्या एवं मायाके बन्धनोंसे मुक्त हो अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपमें स्थित हो जायगा यह भाव इस वचनमें अन्तर्हित है।

गीता : विश्वतोमुखी भगवद्वाणी

महाराज मनुका कथन है कि 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' (१२-९७)—अर्थात् सब कुछ वेदसे ही प्रकट होता है। तब मानवका अन्तिम लक्ष्य और उसके साधनका प्रकार भी वेदमें ढूँढ़ना उचित है। प्राणी अन्तिम रूपमें यही चाहता है कि मुझे शाश्वत सुख मिले। वह अन्तिम लक्ष्य किंरूप है और कैसे मिले, यह वेदसे ही विदित करना होगा। किसी वस्तुसे किसी बातको ज्ञात करना होता है तो उसके अन्तिम छोरको पकड़ना पड़ता है। कारण, वहीं उसके सारे वक्तव्यका उपसंहार या निगमन हुआ करता है। इस दृष्टिसे देखनेपर वेदके अन्तिम भागसे ही हमें अपना अन्तिम लक्ष्य ढूँढ़ना चाहिए। वेदका अन्तिम भाग 'वेदान्त' कहलाता है जिसका दूसरा नाम 'उपनिषद्' है। यह अन्तिम भाग भी इतना बड़ा और इतनी विविधतासे भरा है कि उससे कुछ ढूँढ़ना सरल नहीं। मानवकी यही भारी उलझन देख परमपिता परमात्माने उन्हीं उपनिषदोंको गाय बना दिया और धनुर्धर पार्थ अर्जुनको उसका वत्स बनाकर खड़ा कर दिया। वत्सको देख उस गोमाताके स्तनोंमें दूध—उसके जीवनका सारसर्वस्व भर आया, तो वे परमपिता, जो गोपबालक बन आये थे, उसे दुहने बैठ गये। बस, संसारको अमृतमय गीतादुग्ध बँटने लगा।

इस दूधको लेनेके लिए अन्य सांसारिक जनोंके समान वे लोग भी अपना-अपना अन्तःकरणरूप पात्र लेकर पहुँचे जिनका जीवन मात्र लोकसेवा और परोपकारके लिए समर्पित था। दूसरे शब्दोंमें मानवको अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचानेके लिए जो भगवान्के प्रेषित थे। उनके अपने पात्र जैसे, जिस आकार या साँचेके थे, दूध उसी साँचेमें ढल गया। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' या 'रुचीनां वैचित्र्यात्' के अनुसार उन-उनने उस दूधको जिस रूपमें देखा उसी प्रकाशमें लोगोंको बाँटना प्रारम्भ कर दिया।

एक ही वस्तु प्रत्येककी रुचि और अभिप्रायसे भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है, यह बात हमें उपनिषद्की प्रसिद्ध 'द-द-द' कथा ही स्पष्ट कर देती है। प्रजापति ब्रह्मदेवने एक समय ये शब्द (द-द-द) बोल दिये तो देवोंने समझ लिया कि वे हमें इन्द्रियोंके 'दमन' का उपदेश दे रहे हैं। कारण, हम देव सदैव भोगोंमें डूबे रहते हैं। मानवोंने समझा कि प्रजापति हमें 'दान' देनेका आदेश दे

रहे हैं, क्योंकि हम भारी कृपण बने रहते हैं। ऐसे ही दानवोंने समझ लिया कि जगत्‌पिता हमें प्राणिमात्रपर 'दया' करनेका निदेश दे रहे हैं, क्योंकि हम भीषण क्रूरतासे प्राणिमात्रको आतंकित किये रहते हैं।

यह कथा स्पष्टतः हमें बताती है कि जैसा हमारा चित्तदर्पण होगा, वस्तुका प्रतिबिम्ब वैसा ही प्रतिफलित हुआ करेगा। अतएव भगवान्‌के प्रेषित 'आचार्य' इन जीवोंने भी अपने-अपने जैसे चित्त-पात्रमें यह गीताज्ञानामृत दूध भर लिया, उसका वही रूप बन गया। भगवदीय उपदेशकी यह विशेषता होती है कि वह सदैव सर्वकाल और सर्वदेशसे संगत हो जाता है। शास्त्रीय परिभाषामें वह 'विश्वतोमुख' हुआ करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भगवत्प्रेषित इन महापुरुषोंके अपने कोई अन्तःकरण नहीं होते। समस्त अनुयायियोंके अन्तःकरण ही उनके समष्टि अन्तःकरण हुआ करते हैं और उनमें प्रतिफलित वस्तु तत्तत् अधिकारीके शाश्वत सुखकी प्रयोजक होती है। इन आचार्योंद्वारा उपदिष्ट विभिन्न गीतातात्पर्य तत्तत् अधिकारीकी दृष्टिसे सर्वथा यथार्थ ही हैं। उनमें उनका किसी प्रकारका साम्प्रदायिक अभिनिवेश नहीं रहता। आजकी तथाकथित साम्प्रदायिकताके प्रकाशमें इन्हें देखना भारी भूल होगी। एक तो ये सम्प्रदाय तत्तत् अधिकारीको लक्ष्य कर प्रवृत्त हैं और किसी अधिकारीपर उसकी शक्तिसे अधिक भार डालना कभी उचित या हितावह नहीं होता; दूसरे ये सम्प्रदाय उनके अपने चलाये नहीं, प्रत्युत सुदीर्घ गुरुपरम्परागत हैं। हमारे ये सम्प्रदाय तथाकथित साम्प्रदायिकताके समान कतिपय व्यक्तियोंका अहित करके कुछका स्वार्थ साधनेवाले कथमपि नहीं।

भगवान् सनत्कुमारादि अखण्ड गुरुपरम्परासे आगत, अविनाशी मुनिके शिष्य आचार्य श्री श्रीचन्द्र महाराजका श्रौताद्वैत (या भक्ति-वित्ति-समुच्चय) सम्प्रदाय तो इन साम्प्रदायिक आचार्योंकी अधिकारिहितप्रवणताका स्पष्ट निदर्शन है। आगे इनके दार्शनिक विवेचनसे सुस्पष्ट हो जायगा कि हमारे ये सम्प्रदायाचार्य अधिकारिविशेषके हितार्थ तत्तत् प्रस्थान प्रस्तुत करते हुए भी मूल लक्ष्यके विषयमें परस्पर कितना सामञ्जस्य रखते हैं।

यहाँ हम गीतावचनोंके विभिन्न तात्पर्य-उद्भावक कतिपय सम्प्रदायोंके आविष्कर्ता आचार्य, उनके प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त, उनके अपने मुख्य लक्ष्य मोक्ष एवं मुक्तिसाधनोंका स्वरूप-परिचय प्रस्तुत करेंगे, ताकि साधारण जिज्ञासु इनके द्वारा प्रकटित गीतातात्पर्य समझनेमें सुविधा पा सकें।

मुख्यतः हम यहाँ १. अद्वैत वेदान्त, २. विशिष्टाद्वैत, ३. शुद्धाद्वैत, ४.

द्वैत, ५. द्वैताद्वैत, ६. अचिन्त्य-भेदाभेद, ७. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन तथा ८. श्रौताद्वैत या भक्ति-वित्ति-समुच्चय दर्शनके दार्शनिक तत्त्वोंपर ही प्रकाश डालेंगे। कारण, गीतापर प्रायः इन्हीं सम्प्रदायोंके आचार्यों एवं मनीषियोंकी व्याख्याएँ पायी जाती हैं। चैतन्य महाप्रभुका अचिन्त्य-भेदाभेद दर्शन प्रायः निम्बार्कमतसे मिलता है। तत्त्वोंकी दृष्टिसे वह माध्व सम्प्रदायसे भी बहुत कुछ समान है। भारतके पूर्वी प्रदेश बंगालमें भक्तिशाखाके विस्तारमें इस सम्प्रदायकी असाधारण सफलता रही है। श्रौताद्वैत दर्शनका परिचय सर्वसमन्वयकी दृष्टिसे प्रस्तुत है। वैसे गीतापर महाराष्ट्रके सन्तशिरोमणि ज्ञानेश्वर महाराजकी विस्तृत व्याख्या है, जो मराठीके 'ओवी' छन्दोंमें निबद्ध है। उसमें उन्होंने भगवद्भक्तिका अद्भुत माहात्म्य गाया है। किन्तु १८वें अध्यायमें वर्णित उनकी पराभक्ति अन्ततः ज्ञानका ही नामान्तर बन जाती है। अतः उन्हें भी बहुत कुछ अंशोंमें शाङ्करमतानुयायी ही कहना होगा। स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजने भी अन्तमें कहा है कि मैंने यह टीका श्री शङ्कराचार्यके भाष्यानुसार की है। किन्तु लोकमान्य तिलक लिखते हैं कि 'ज्ञानेश्वरीको इस कारण सर्वथा स्वतन्त्र ग्रन्थ मानना चाहिए कि इसमें गीताका मूल अर्थ बहुत बढ़ाकर अनेक सरस दृष्टान्तोंद्वारा समझाया गया है। विशेषकर भक्तिमार्गका और कुछ अंशोंमें निष्कामकर्मका उन्होंने शङ्कराचार्यसे भी उत्तम विवेचन किया है।' इसके अतिरिक्त अधिकतर गीताके प्राचीन टीकाकार मधुसूदन सरस्वती, शंकरानन्द, आनन्दगिरि, नीलकण्ठ, पैशाचभाष्यकार हनुमान् आदि शङ्कराचार्यके अद्वैतमतानुयायी ही हैं। अवश्य ही लोकमान्य तिलकने बड़े पाण्डित्यके साथ गीताका कर्मयोगपरक व्याख्यान प्रस्तुत किया है और श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पतिने भी अपनी वैज्ञानिक सूझ-बूझसे 'ददामि बुद्धियोगं तम्' को ही भगवान्की प्रधान प्रतिज्ञा मानकर सांख्यशास्त्रोक्त बुद्धिके धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्यरूप चारभेदोंमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग सबका समावेश कर सामञ्जस्य प्रस्थापित करनेका शोभन प्रयास किया है। किन्तु यहाँ हम लेख-गौरवके भयसे केवल ८ दार्शनिक प्रस्थानोंपर ही प्रकाश डाल रहे हैं।

इन ८ दार्शनिक प्रस्थानोंके तत्त्वविचारके पूर्व इनके द्वारा उत्प्रेक्षित गीतातात्पर्य एवं विषय-विभागका भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना लाभप्रद होगा। जहाँतक शङ्कराचार्यके अद्वैत सम्प्रदायका प्रश्न है, गीताका मुख्य तात्पर्य सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञानयोग ही है और विषयविभाग है प्रत्येक छह-छह अध्यायोंके त्रिकमें क्रमशः कर्म, उपासना (भक्ति) एवं ज्ञान, जो मानव-कल्याणके

शास्त्रोक्त तीन उपाय बतलाये गये हैं। उन्हींके अनुयायी मधुसूदन सरस्वतीने अपनी सूझ-बूझसे गीताका एक और तात्पर्य महावाक्य 'तत्त्वमसि' का विवरण भी बतलाया है। इस महावाक्यमें तीन पद हैं : १. तत्, २. त्वम्, ३. असि। इनमें प्रथम छह अध्यायोंमें 'त्वम्' अर्थात् जीवके स्वरूपका विवेचन है। उसका स्वरूप जाने बिना 'तत्' पदार्थ परब्रह्मका ज्ञान हो नहीं सकता, इसलिए उन्होंने बुद्ध्या महावाक्यके क्रमविपर्याससे प्रथम षट्कद्वारा 'त्वम्' पदार्थका विवेचन बताया है। फिर द्वितीय षट्कसे 'तत्' पदार्थका तथा तृतीय षट्कसे 'असि' अर्थात् दोनोंके ऐक्यका विवेचन माना है। कर्म, भक्ति (उपासना) और ज्ञान इस क्रममें इन्होंने एक और उद्भावना की है कि कर्म और ज्ञानमें अत्यन्त विरोध है और विरोधका अर्थ है एक अधिकरणमें न रहना। किन्तु बीचमें भक्ति डालनेसे उनके ऐकाधिकरण्य-विवेचनमें कोई बाधा नहीं। भक्ति ऐसा अविरोधी तत्त्व है जो दोनों विरोधियोंको मिला देता है। भक्तिरसायनमें भक्तिके सरस विवेचक इस मनीषीकी यह उद्भावना उनके व्यक्तित्वके अनुरूप ही कही जायगी। 'अद्वैतसिद्धि' का रचयिता और आचार्य शङ्करका कट्टर अनुयायी यह महामनीषी भक्तिकी भावुकतासे इतना अभिभूत हो जाता है कि बरबस उसके मुँहसे निकल पड़ता है :

> **ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियं**
> **रूपं किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।**
> **अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं**
> **कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ॥**

अर्थात् भले ही योगीजन ध्यानाभ्याससे मनको वशमें करके निर्गुण-निष्क्रिय रूपका दर्शन किया करें, पर हमारे नेत्रोंको वही कालिन्दीके पुलिनपर धेनु चरानेवाला नीलिमाभरा तेज चिरकालतक ठंढक पहुँचाता रहे।

श्री रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तके अनुसार (आचार्यके परमगुरु श्रीयामुनाचार्यके 'गीतार्थसंग्रह' के अनुसार) गीताका मुख्य प्रतिपाद्य भगवद्भक्ति और उस भक्तिका अन्तिम लक्ष्य 'शरणागति' है, जो 'मन्मना भव मद्भक्तः' तथा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' द्वारा श्रीमुखसे वर्णित है। यदि गीताको ९-९ अध्यायोंके दो भागोंमें बाँटें, तो पूर्वार्धके अन्तमें 'मन्मना भव मद्-भक्तः' यह भक्तिप्रतिपादक श्लोक आता है और उत्तरार्धके अन्तमें भी चतुर्थ पादके परिवर्तनके साथ वही श्लोक भगवान् दुहराते हैं। इतना ही नहीं, उस परिवर्तित पादमें 'प्रतिजाने प्रियोऽसि मे' इस प्रकार सत्यप्रतिज्ञा भी करते हैं।

अतः गीताका मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति ही है। अब गीताके विषय-विभागकी दृष्टिसे विचार करें, तो विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय शङ्कराचार्यसे सर्वथाविरुद्ध ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादका पक्षपाती है अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर भगवत्स्व-रूपका ज्ञान कराते हुए भगवत्प्रपत्ति प्राप्त कराते हैं जो मनुष्यकी साक्षात् कल्याण-कारिणी है। अतएव गीताका पूर्व षट्क ज्ञान-कर्म-समुच्चयका प्रतिपादक है। मध्यम षट्कमें दोनोंसे प्राप्त होनेवाली भक्तिका विस्तृत निरूपण है। तृतीय षट्क प्रकीर्णकरूप है जिसमें दोनों षट्कोंके संक्षिप्त एवं अस्पष्ट विषयोंका निरू-पण तथा पूर्ति है।

श्री वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतसिद्धान्तानुसार गीताका तात्पर्य है पुष्टिमार्गीय बनकर भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त करना। उनके मतानुसार जीव तीन प्रकार-के हैं: १. प्रवाही, २. मर्यादामार्गीय और ३. पुष्टिमार्गीय। यथेच्छ आचरण करनेवाले प्रवाही हैं। शास्त्रानुसार आचरणकर्ता मर्यादामार्गीय हैं। धर्माधर्मसे कोई प्रयोजन न रखते हुए भगवन्निष्ठ हो केवल भगवत्सेवा करनेवाले 'पुष्टि-मार्गीय' हैं। श्री वल्लभमतानुसार भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त करना ही गीताका महातात्पर्य है। इनके मतमें यह पराभक्ति स्वयं फलरूपा है। उसके बाद मानवके लिए कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। जहाँतक इस मतके अनुसार गीताके विषय-विभागका प्रश्न है, प्रथम षट्क मर्यादामार्गका ही उपदेश है, जो पुष्टिमार्गसे मिश्र है। उपदेश्य अर्जुनमें दोनों मार्गोंका मिश्रण होनेसे उसे सांख्य और योगका मिश्र उपदेश उचित ही है। द्वितीय-तृतीय षट्क शुद्ध भगवत्स्वरूप और शुद्ध भगवद्भक्तिका निरूपण करता है।

श्री आनन्दतीर्थ मध्वाचार्यके द्वैतसिद्धान्तानुसार गीताका तात्पर्य ज्ञान-कर्म-समुच्चय ही है और ये भी श्री रामानुजाचार्यके समान ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी ही प्रधानता मानते हैं। इन्होंने गीताका स्पष्टतः विषय-विभाग तो किया नहीं है फिर भी इनकी व्याख्यासे विदित होता है कि ये भी विशिष्टाद्वैती (यामुना-चार्यकृत) विषय-विभाग ही मानते हैं।

श्री निम्बार्काचार्यके द्वैताद्वैतसम्प्रदायानुसार भी गीताका तात्पर्य ज्ञान-कर्म-समुच्चय और भक्तिनिष्ठामें ही है। कर्मद्वारा चित्त शुद्ध होनेपर भक्ति-निष्ठा और ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होती है, यह बात इन्होंने स्थान-स्थानपर मानी है फिर भी इनके मतमें भक्तिको ही प्राधान्य दिया गया है। स्वयं निम्बार्काचार्य-की तो गीतापर व्याख्या नहीं है किन्तु उनके अनुयायी श्री केशव काश्मीरी भट्टा-चार्यकी 'तत्त्वप्रकाशिका' व्याख्या निम्बार्कमतका पूर्ण प्रातिनिध्य करती है।

इन्हींके अनुसार विषय-विभागमें प्रथम षट्क 'त्वम्' पदार्थका तथा द्वितीय षट्क 'तत्' पदार्थ परमात्माका निरूपण करनेवाला कहा जा सकता है। मात्र तृतीय षट्कको ये भी श्री यामुनाचार्यके समान परिशिष्टरूप मानते हैं। अर्थात् वह प्रथम-द्वितीय षट्कके अवशिष्ट विषयोंकी पूर्ति करनेवाला है।

श्री चैतन्य महाप्रभुके अचिन्त्य-भेदाभेद-सम्प्रदायानुसार गीतापर श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती एवं बलदेव विद्याभूषणकी व्याख्याएँ हैं। इस सम्प्रदायमें विशेष रूपसे 'श्रीमद्भागवत' ही आधारभूत ग्रन्थ माना गया है। फिर भी भेदाभेद मानते हुए इस सम्प्रदायने शङ्कराचार्यके समान ब्रह्मको बड़ी ही युक्तिसे सजातीय, विजातीय एवं स्वगत त्रिविध भेदोंसे रहित माना है। सर्वसाधारण वैष्णव सम्प्रदायोंकी भाँति इनके मतसे भी गीताका तात्पर्य भक्ति ही मानना उचित होगा। इस मतसे गीताका विषय-विभाग भी बताना सम्भव नहीं। तथापि माध्वदर्शनकी एक विशेष शाखा होनेसे उन्हीं जैसा विशिष्टाद्वैती विषय-विभाग इस मतमें भी माना जा सकता है।

श्री अभिनवगुप्तपादाचार्यके प्रत्यभिज्ञासम्प्रदायानुसार गीताका तात्पर्य ज्ञान और भक्तिका सामञ्जस्य है। श्री शङ्कराचार्यके अद्वैतवादकी चरमावस्थामें भक्तिका कोई स्थान नहीं, कारण, वह द्वैतवादपर प्रतिष्ठित है। किन्तु यह दर्शन उस भक्तिको साधनरूपा भक्ति मानता है। अद्वैतज्ञान होनेपर जिस साध्यरूपा भक्तिका उदय होता है वह वस्तुतः नित्य है। इन्होंने गीताका स्वतन्त्र कोई विषय-विभाग नहीं किया है। फिर भी इनके मतके प्रकाशमें यह कहनेमें कोई बाधा नहीं कि प्रथम षट्क कर्मनिष्ठाका निरूपण करता है। उस कर्मनिष्ठासे शुद्ध अन्तःकरणमें द्वितीय षट्कद्वारा भक्तिनिष्ठा प्रतिष्ठित कर तृतीय षट्कद्वारा ज्ञाननिष्ठा या प्रत्यभिज्ञाका उसके साथ सामञ्जस्य कर दिया गया है।

आचार्य श्री श्रीचन्द्र महाराजके भक्ति-वित्ति-समुच्चयसिद्धान्तानुसार भी गीतापर कोई व्याख्या प्रकाशित नहीं। फिर भी उनके साम्प्रदायिक आचार्योंकी मान्यताके अनुसार गीताका तात्पर्य वेदसम्मत सर्वसमन्वयमें तथा भक्ति-ज्ञान-समुच्चयमें ही है। अतएव विषय-विभागकी दृष्टिसे भी श्री शङ्कराचार्यके अनुसार पूर्वषट्क कर्मपरक, उससे चित्त शुद्ध होनेपर द्वितीय षट्क भक्तिनिष्ठा और तृतीय षट्क ज्ञाननिष्ठाका प्रतिपादक है।

इस प्रकार विवेचनीय सम्प्रदायोंके अनुसार गीताके तत्तद् अभीष्ट तात्पर्य और विषय-विभागके निरूपणके पश्चात् अब इस निबन्धका निरूपणीय विषय उन सम्प्रदायोंके दार्शनिक सिद्धान्तोंका संक्षिप्त परिचयमात्र रह जाता है जो आगेकी पंक्तियोंमें दिया जा रहा है।

अद्वैत वेदान्त

वैसे अद्वैतवादको मायावादके साथ व्यावहारिक बनानेका सर्वप्रथम श्रेय श्री गौडपादाचार्यको है। फिर उनके प्रशिष्य और श्री गोविन्द भगवत्पादके शिष्य अद्वैतवेदान्तके प्रमुख आचार्य श्री शङ्कराचार्य माने जाते हैं। इनका जन्म सन् ७८८ और निर्वाण ८२०ई० में हुआ। केवल ३२ वर्षके जीवनकालमें इन्होंने अद्वैतवेदान्तको जो रूप दे दिया वह संसारके इतिहासमें अङ्कित रहेगा।

सिद्धान्त : आचार्य शङ्करका सिद्धान्त है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्, चित्, आनन्दस्वरूप, निर्गुण, निराकार और सर्वव्यापक है। वह सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे शून्य है। देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित है। किन्तु ऐसे ब्रह्मसे दृश्यमान सृष्टिकी संगति बैठानेके लिए उन्होंने मायाशक्तिकी कल्पना की और उसे सत्-असत्से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी भावरूप वस्तु बताया। उसीके कारण ब्रह्म जगत्का उपादानकारण और अपने स्वरूपसे निमित्तकारण होता है। मायाकी दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। एकसे वह वस्तुके वास्तविक रूपको ढँक देती है और दूसरीसे जगत्की सृष्टि करती है। ये परिणामवादी नहीं, विवर्तवादी हैं। ब्रह्मका विवर्त ही जगत् मानते हैं। विवर्तका अर्थ है, जो जैसा नहीं वैसा भासे। अर्थात् इनके मतसे एकमात्र ब्रह्म सत्य, त्रिकालाबाध्य है और जगत् मिथ्या है। दृश्यमान विविध जीव मूलतः ब्रह्म ही हैं। मायिक उपाधिके कारण ही भिन्न-भिन्न प्रतिभासित हुआ करते हैं।

मुक्ति : अद्वैतवेदान्तकी मान्यता है कि जीव मायाके कारण ही अपने वास्तविक सच्चिदानन्दस्वरूपको भूल बैठा है और इसी कारण विविध प्रकारके दुःख भोग रहा है। इससे एकमात्र उद्धार या मुक्तिका उपाय है कि वह अपने वास्तविक सच्चिदानन्दस्वरूपको समझ ले। इसीका नाम आत्मसाक्षात्कार या आत्मदर्शन है। यह होते ही उसकी मुक्ति बनी-बनायी है। मुक्ति कोई कहींसे लानेकी वस्तु नहीं, वह तो पूर्वसिद्ध ही है। वह ग्रीवागत हारको भ्रमवश भूलकर इधर-उधर ढूंढ़नेवालेको यह बताना मात्र है कि थोड़ा अपनी ग्रीवा तो टटोल कर देखो।

साधन : इस मुक्तिका साक्षात् साधन है आत्मसाक्षात्कार या आत्मदर्शन— जो श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे साध्य है। किन्तु ये साधन मुमुक्षा या मोक्षकी इच्छा जाग्रत् होनेपर ही काम आ सकते हैं। यह मुमुक्षा नित्य (ब्रह्म) और अनित्य (जगत्) वस्तुका विवेक, ऐहिक-पारलौकिक फलोंके भोगसे वैराग्य और

शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धारूप षट्सम्पत्तिके अर्जनपर ही जाग्रत् होती है। ऐसा मुमुक्षु ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाता है और गुरु उसे अध्यारोप (कल्पना) और अपवाद (बाध) प्रक्रियासे 'तत्' (परब्रह्म) और 'त्वम्' (जीव) का शोधन कर दोनोंके ऐक्यका उपदेश करता है। मुमुक्षु उसका मनन, निदिध्यासन कर 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अपरोक्ष साक्षात्कार कर लेता हैं। फिर तो वह 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक ३-२-९) ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही—सच्चिदानन्दरूप ही—बन जाता है।

विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायको 'श्री वैष्णव-सम्प्रदाय' भी कहते हैं। इसके आचार्य श्री रामानुजाचार्य प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य श्री यामुनाचार्यके पौत्र थे। इनका काल १०३७–११३७ ई० रहा। रामानुजाचार्यके पूर्व दक्षिणके तमिल प्रान्तमें प्रमुख १२ आळवारोंने वैष्णवधर्मका पर्याप्त प्रचार कर दिया था। तमिल 'आळवार' शब्दका अर्थ है, अध्यात्मज्ञानरूप समुद्रके अतल तलतक डुबकी लगानेवाला। इसी सुदृढ़ पृष्ठभूमिको पाकर श्री रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायका प्रवर्तन किया।

सिद्धान्त : शंकराचार्य जहाँ ब्रह्माद्वैतवाद मानते हैं, वहीं रामानुजाचार्य भी ब्रह्माद्वैतवादके ही समर्थक हैं। किन्तु शंकराचार्य ब्रह्मको सजातीय, विजातीय और स्वगत त्रिविधभेदशून्य कहते हैं, यह श्री रामानुजको मान्य नहीं। अर्थात् तृतीय स्वगतभेदकी शून्यता वे ब्रह्ममें नहीं मानते। वे कहते हैं कि ब्रह्म एक, अद्वितीय अवश्य है किन्तु उसमें तीन पदार्थ हैं : १. चित्, २. अचित् और ३. ईश्वर। चित्का अर्थ है भोक्ता जीव, अचित् है भोग्य जगत् और ईश्वर है सर्वान्तर्यामी। ब्रह्मकी बृहत्ता इसीमें है कि इन तीनोंको अपने भीतर समाये हुए है। इनके मतमें जगत् और जीव दोनों सत् हैं। सृष्टिकालमें जगत् स्थूलरूप धारण करता है और प्रलयकालमें सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें अवस्थित रहता है। अतएव बिना 'मायावाद' के ईश्वर सकल जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादानकारण बन पाता है। ईश्वर भी यह सृष्टि अविद्या या मायाके द्वारा किंवा किसी अन्यसे प्रेरित होकर नहीं, वरन् लीलावश ही करता है। लीला उसका स्वभाव है। प्रलयमें भी उसकी 'प्रलय-लीला' चलती ही रहती है। श्री रामानुज चित् या जीवको अणु परिमाणवाला और ईश्वरको विभु मानते हैं। इनके मतमें जीव ब्रह्मसे कथमपि अभिन्न नहीं। वह आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखोंसे पीडित रहता है। अखण्ड ब्रह्मके जीवरूप खण्ड होनेकी संगति वे 'अग्निस्फुलिङ्ग'

दृष्टान्तसे लगाते हैं। इनके मतसे चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' है और सृष्टिकालमें स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कार्यावस्थ ब्रह्म' है। यह मत परिणामवाद मानता हुआ भी ब्रह्मको अविकारी बताता है। भक्तोंपर अनुग्रहार्थ ईश्वर निम्नलिखित पाँच रूप धारण करता है: १. पर, २. व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध), ३. विभव (राम-कृष्णादि भगवदवतार), ४. अन्तर्यामी (जगन्नियन्ता) और ५. अर्चावतार (प्रतिमामय भगवद्विग्रह)। 'विशिष्टाद्वैत' शब्दका अर्थ है: 'विशिष्टञ्च विशिष्टञ्च विशिष्टे, तयोरद्वैतम्।' अर्थात् स्थूलचिदचिद्विशिष्ट और सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वरकी एकता। ये ईश्वरको शरीरी और जीव-प्रकृतिको उसका शरीर मानते हैं। इनके मतमें नियम्यत्व ही शरीरत्व है और नियन्तृत्व शरीरित्व।

मुक्ति: विशिष्टाद्वैत-मतानुसार परमधाम श्री वैकुण्ठमें श्रीसहित भगवान् नारायणकी दासताकी प्राप्ति ही मुक्ति या परम पुरुषार्थ है। अद्वैतमतके समान ये जीवको कभी ईश्वरसे एक नहीं मानते। यद्यपि साधनासे जीव भगवान्के सर्वज्ञत्व, सत्यसंकल्पता आदि गुण पा लेता है फिर भी सर्वकर्तृत्व गुण मात्र ईश्वरके अधीन रहता है। जीव कभी जगत्की सृष्टि, स्थिति या लय नहीं कर सकता। यह सम्प्रदाय जीवन्मुक्ति नहीं मानता, विदेहमुक्ति ही इसे मान्य है। मुक्तावस्थामें सेवार्थ ये शरीरकी कल्पना करते हैं किन्तु वह शरीर शुद्धसत्त्वमय, अतएव अप्राकृत होता है।

साधन: विशिष्टाद्वैत मतमें मुक्तिका साक्षात् साधन भक्ति है। उसका सर्वोत्तम निष्कृष्टरूप 'प्रपत्ति' या आत्मसमर्पण है। इस सम्प्रदायके अन्तर्गत कुछ लोग 'कपि-किशोर' न्यायसे भक्तिके उदयमें कर्म एवं ज्ञानको सहकारी कारण मानते हैं, जो 'बडकलै' कहलाते हैं। अन्य लोग 'मार्जार-किशोर' न्यायसे भक्तिके लिए कर्मानुष्ठान आवश्यक नहीं मानते, जो 'टैंकलै' कहलाते हैं। इस मतके सुख्यात मनीषी श्री शठकोपाचार्य कहते हैं कि भगवान् 'अकाण्डमेव कृपां करोति।'

शुद्धाद्वैतवाद

रुद्र-सम्प्रदायके प्रवर्तक श्री विष्णुस्वामीका ही मार्ग अनुसरण कर श्री वल्लभाचार्यने शुद्धाद्वैतमूलक पुष्टिमार्ग प्रचलित किया। आचार्यका जन्म १४७९ ई० में हुआ। विजयनगराधीश श्री कृष्णराम (१५००–१५२५) की सभामें द्वैतमतके आचार्य श्री व्यासतीर्थकी अध्यक्षतामें इन्होंने अद्वैतवादियोंको परास्त कर अपनी विद्वत्ताकी धाक जमायी।

सिद्धान्त : शुद्धाद्वैत मतमें ब्रह्म मायासे सर्वथा असंस्पृष्ट, अतएव शुद्ध, एक और अद्वितीय तत्त्व है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्दस्वरूप, प्राकृतिक गुणगणोंसे अतीत, अनन्त और अचिन्त्य है। उसमें एक साथ विरुद्ध धर्मद्वयका समावेश सम्भव है। अखिल-रसामृत-मूर्ति लीलाधाम श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे अनेकरूप होते हुए भी एक हैं और स्वतन्त्र होते हुए भी भक्त-परतन्त्र हैं। आचार्य श्री वल्लभके मतमें ब्रह्म तीन प्रकारका है: १. आधिदैविक या परब्रह्म, २. आध्यात्मिक या अक्षरब्रह्म और ३. आधिभौतिक या जगत्। ऐसी स्थितिमें जगत्की उत्पत्ति या विनाश सम्भव नहीं, आविर्भाव-तिरोभावरूप लीलाकार्य ही चलता है। यह सृष्टि भगवान्की रमणेच्छा-प्रसूत लीला ही है। रमणेच्छा होनेपर वह अपने आनन्दादि गुणोंका तिरोधान कर स्वयं जीवरूप धारण करता है और दीन-हीन, विपद्ग्रस्त, अज्ञानी और दुखी बनता है। ब्रह्मसे आविर्भूत जीव नित्य हैं। अग्निस्फुलिङ्गवत् ही ईश्वरके साथ इनका अंशांशिभाव होता है। जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप और अणुरूप है। शुद्ध, मुक्त और संसारी—ये उसके तीन भेद हैं। यह संप्रदाय जगत्को ब्रह्मका अविकृत[1] परिणाम मानता है।

मुक्ति : शुद्धाद्वैत मतमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही मुक्ति है। शुद्धजीव समस्त जगत्को कृष्णमय देखकर श्रीकृष्ण-प्रेममें उन्हें अपना स्वामी मान उनकी सेवाद्वारा उसी प्रकार परमानन्द रसमें निमग्न रहता है जिस प्रकार पत्नी पतिकी सेवा कर आनन्द प्राप्त करती है।

साधन : इस सम्प्रदायमें भगवान्की प्राप्तिका सरल उपाय पुष्टिमार्ग है। मर्यादामार्ग या शास्त्रीय मार्गका अनुसरण कर मोक्ष पानेमें असमर्थ जीवों-के लिए आचार्यने इस मार्गकी सृष्टि की है। यह पुष्टि या पोषण है भगवान्का अनुग्रह, जैसा कि भागवत (२-१०) में कहा है: 'पोषणं तदनुग्रहः'। अक्षर-ब्रह्मकी वाणीसे निर्गत वैदिक मर्यादामार्गसे तो सायुज्यमुक्ति मिलती है, किन्तु पुरुषोत्तमके शरीरसे निर्गत पुष्टिमार्गमें सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा विप्रयोग-रसात्मिका प्रीतिकी सहायतासे साक्षात् आनन्दधाम भगवान्के अधरामृतका

---

१. जगत्के विषयमें प्रायः सभी वैष्णव अविकृत परिणामवाद मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदिके समान सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अविकृत भावसे जगद्रूपेण परिणत होता है। जैसे कटक, कुण्डल आदि स्वरूपोंमें परिणत होनेपर भी स्वर्णमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही जगत्के रूपमें परिणत होनेपर भी ब्रह्ममें किसी प्रकारका विकार नहीं आता।

पान ही मुख्य फल है। यह मर्यादाभक्तिसे भिन्न मार्ग है। मर्यादाभक्ति है भगवान्के चरणारविन्दकी भक्ति तो पुष्टिभक्ति है भगवान्के मुखारविन्दकी भक्ति। क्लेशविपुल संसारसे उद्धार पानेका यही एकमात्र उपाय है, जो वर्ण, जाति, देश आदिसे सर्वथा निरपेक्ष हो सबके लिए मुक्तद्वार है।

द्वैतवाद

मध्व-सम्प्रदायका ही अपर नाम 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' है। यह सम्प्रदाय वायुसे हनुमान्को और हनुमान्से अन्तमें श्रीआनन्दतीर्थको प्राप्त हुआ। ये ही आनन्द-तीर्थ मध्व, पूर्णबोध या पूर्णप्रज्ञ कहे जाते हैं। इनका काल ११९९—१३०३ ईसवी है।

सिद्धान्त : मध्वाचार्य शुद्ध भेदवादी हैं। ये मूलतः दस पदार्थ मानते हैं : न्यायसम्मत समवायातिरिक्त छह (१–६) पदार्थ, ७. अंशी, ८. विशिष्ट, ९. शक्ति और १०. सादृश्य। इनमें-से प्रथम द्रव्यपदार्थके वे २० भेद करते हैं।[1] इन २० पदार्थोंमें सबसे श्रेष्ठ परमात्मा या श्रीविष्णु हैं और उनके पश्चात् 'श्री', जो उनकी शक्ति होती हुई सर्वथा उन्हींके अधीन रहती है। तीसरा द्रव्य, जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषोंसे युक्त एवं संसरणशील होता है। ये ईश्वर और जगत्को सर्वथा भिन्न मानते हैं। ईश्वर जगत्का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं। अर्थात् वह प्रकृतिसे प्रपञ्च बनाता है, स्वयं प्रपञ्चरूप नहीं बनता। इनके मतमें सर्वोच्च तत्त्व श्रीविष्णु सगुण, सविशेष, सर्वज्ञ, अपरिच्छिन्न, स्वतन्त्र, अनन्तगुणगणाश्रय एवं सच्चिदानन्दरूप हैं। जीव अणु, भगवान्का दास और अस्वतन्त्र है। इनके मतमें जगत् सत्य है और भेद वास्तविक है जो पाँच प्रकारका बताया गया है—१. जीव और ईश्वरका भेद। २. जीव और जड़का भेद। ३. ईश्वर और जड़का भेद। ४. जीवोंका परस्पर भेद और ५. जड़ोंका परस्पर भेद।

मुक्ति : माध्वमतमें जीवन्मुक्ति नहीं है। स्थूल-सूक्ष्म वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेपर अर्थात् ईश्वरसे जीव सर्वथा भिन्न है, इसे यथार्थतः जान लेनेपर ईश्वरके गुणोंकी उपलब्धि होती है। इस प्रकार उनकी अनन्त-असीम सामर्थ्य, शक्ति और

१—१. परमात्मा, २. लक्ष्मी, ३. जीव, ४. अव्याकृत आकाश, ५. प्रकृति, ६. गुणत्रय, ७. महत्तत्त्व, ८. अहंकार, ९. बुद्धि, १०. मन, ११. इन्द्रिय, १२. मात्रा, १३. भूत, १४. ब्रह्माण्ड, १५. अविद्या, १६. वर्ण, १७. अन्धकार, १८. वासना, १९. काल और २०. प्रतिबिम्ब।

गुणोंका बोध होनेपर ही उनके दिव्यलोक और स्वरूपकी प्राप्ति होती है। इनके मतसे यही मुक्ति है। मुक्त जीव भी ईश्वरका नित्यसेवक होता है।

साधन: इनके मतमें श्रवण, मनन, निदिध्यासनके साथ ही तारतम्य-ज्ञान और पञ्चभेद-ज्ञान मुक्तिके लिए आवश्यक है। तारतम्य-ज्ञानका अर्थ है, जगत्‌के समस्त पदार्थ एक-दूसरेसे बढ़कर हैं और ज्ञान-सुखादिका पर्यवसान भगवान्‌में ही होता है। पञ्चभेद ऊपर सिद्धान्तमें बताये हैं, उनका ज्ञान भी अनिवार्य है। फिर उपासना करनी पड़ती है। अन्ततः जीवका मोक्ष भगवान्‌के नैसर्गिक अनुग्रहपर ही निर्भर है। अपरोक्ष ज्ञानके पश्चात् परमभक्ति और फिर मुक्ति होती है।

द्वैताद्वैतवाद

ब्रह्म और जीवके विषयमें भेदाभेद या द्वैताद्वैतके प्रतिपादक श्री निम्बार्क, नियमानन्द या निम्बादित्य तैलंग ब्राह्मण थे और लोकमान्य तिलककी धारणाके अनुसार ये रामानुजाचार्यके पश्चात् और मध्वाचार्यके पूर्व सम्भवतः संवत् १२१६ (११५९ ई०) में हुए। श्री बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि श्री रामानुजके गुरु यादवप्रकाशसे भेदाभेदवादी 'यादव' को अभिन्न मानें तो इनका समय ११वीं शताब्दीका अन्तिम भाग होगा। निम्बार्कका जन्म यादवसे प्रायः सौ वर्ष पीछे हुआ होगा।

सिद्धान्त: श्री निम्बार्काचार्य मानते हैं कि सृष्टिके पूर्व ब्रह्म एक ही रहता है, दूसरा कोई नहीं। मात्र सृष्टिके अनन्तर द्वैत हो जाता है—परस्पर भिन्न उत्पत्ति-विनाशशील अनेक पदार्थ उत्पन्न होकर ब्रह्मसे भिन्नरूपमें रहते हैं। मूलभूत ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, निर्गुण, निराकार ही रहता है। वह सृष्टि, स्थिति, संहार तीनों करता है। ये ब्रह्मको ब्रह्माण्डका निमित्त और उपादानकारण मानते हैं। इनके मतमें ब्रह्मकी चार अवस्थाएँ हैं: १. मूल अवस्था अव्यक्त, निर्विकार, देशकालपरिच्छेदशून्य और अचिन्त्यानन्त-स्वगत-सौख्यसिन्धुमय है। २. दूसरी अवस्था जगदीश्वरकी हैं। इसमें ईश्वरके साथ सम्पूर्ण विश्वका भान रहता है। ३. तीसरी अवस्था रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दकी यथाक्रम व्यष्टिगत अनुभूति है। यही इनके मतमें जीव है। यह जीव दो प्रकारका होता है: एक व्यष्टिगत रूपादिको ब्रह्मसे अपृथक् जाननेवाला अविद्यासे मुक्त तो दूसरा, इनकी अनुभूति करता हुआ भी इनके आश्रयरूपमें ब्रह्मको न जाननेवाला बद्ध जीव। ४. ब्रह्मकी चतुर्थ अवस्था विश्वरूपमें अभिव्यक्ति है। इस प्रकार निम्बार्कमतमें ब्रह्म दृश्य-अदृश्य, अणु-विभु, सगुण-निर्गुण सभी कुछ है। फिर

भी उसकी पूर्ण आनन्दसुधा-सिन्धुमयी, सनातनस्वरूपसत्ता सदा-सर्वदा, सर्वत्र एकरस रहा करती है।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर निम्बार्कसम्मत चित् या जीव, अचित् या जगत् और ईश्वर सर्वान्तर्यामी ब्रह्म प्रायः रामानुजके समान ही हैं। ये जीवको कर्ता मानते हैं और ज्ञानाश्रय तथा ज्ञानस्वरूप भी। फिर भी उसे ज्ञान या भोगकी प्राप्तिकी स्वतन्त्रता नहीं। सब कुछ रहते हुए भी यह नियम्य ही रहता है और ईश्वर नियन्ता। ईश्वर शक्तिमान् है तो जीव है उसकी शक्ति।

मुक्ति : भगवान् वासुदेव ही वह ब्रह्म हैं और उनकी प्रसन्नता तथा उनके दर्शन प्राप्त कर परमानन्द प्राप्त करना ही इनके मतमें मुक्ति है।

साधन : प्रपत्तिद्वारा जीवोंपर भगवान्का यह अनुग्रह होता है। अनुग्रहसे भगवान्के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपा भक्ति उदित होती है। वह भगवत्साक्षात्कार कराती है, जिससे जीव भगवद्भावापन्न होकर समस्त क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। शरीरसम्बन्ध रहनेपर भगवद्भावापत्ति संभव नहीं। अतएव ये जीवन्मुक्ति नहीं मानते।

अचिन्त्य-भेदाभेदवाद

वंगदेशको अपने सरस कीर्तनोंसे भावविभोर कर देनेवाले निखिलरसामृत-मूर्ति श्री चैतन्य महाप्रभुने दार्शनिक जगत्में अपना अचिन्त्य-भेदाभेदका प्रस्थान स्थापित कर सभी अनुपपत्तियाँ मिटाकर अद्भुत एवं सरस सामञ्जस्यकी प्रतिष्ठाकी बहुत बड़ी भूमिका निभायी है। आप श्री वल्लभाचार्यके समसामयिक थे। आपका काल १४८५-१५३३ ई० माना जाता है।

सिद्धान्त : श्री चैतन्य महाप्रभुका मत है कि भगवान् विज्ञानानन्दविग्रह हैं। वे अनन्त गुणगणोंके निवास, सत्यकाम, सत्यसंकल्प, सर्ववित् हैं। भगवान्के ये गुण भगवत्स्वरूपसे पृथक् नहीं और न उनके विग्रह ही उनसे पृथक् हैं। वे नित्य एवं अप्राकृत हैं। श्री चैतन्य सम्प्रदायमें वे ही ब्रह्म हैं। इस मतमें भी शङ्कराचार्यके समान ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत त्रिविध भेदोंसे शून्य, अखण्ड-सच्चिदानन्दरूप है। मात्र उनमें वे एक अचिन्त्य-अपरिमेय शक्ति मानते हैं जिसे उनके सम्प्रदायमें 'विशेष' कहा जाता है, जिसके फलस्वरूप उसमें भेदाभाव होनेपर भी भेदरूप जगत्की प्रतीति सम्भव बन आती है। इसी अचिन्त्य शक्तिसे भगवान् मूर्त होकर भी विभु हैं।

अचिन्त्याकार अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान्की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं: १. स्वरूपशक्ति, २. तटस्थशक्ति और ३. मायाशक्ति। स्वरूपशक्ति ही

चित्-शक्ति या 'अन्तरङ्गा' शक्ति कहलाती है, कारण, वह भगवत्स्वरूपा है। एकरूपा भी यह शक्ति भगवान्‌के सत्, चित् और आनन्दात्मक त्रिविध स्वरूपोंके कारण तीन प्रकारकी हो जाती है: १. सन्धिनी, २. संवित् और ३. ह्लादिनी। भगवान् अपनी सन्धिनी शक्तिसे ही स्वयं सत्ता धारण करते और दूसरोंको भी सत्ता प्रदान कर समस्त देश एवं काल तथा द्रव्योंमें व्याप्त रहते हैं। संवित् शक्ति-से ही चिदात्मा भगवान् स्वयं जानते और दूसरोंको भी ज्ञान प्रदान करते हैं। 'ह्लादिनी' शक्तिसे भगवान् स्वयं आनन्दित होते और दूसरोंको भी आनन्दित करते हैं। इस प्रकार यह स्वरूपशक्ति भगवान्‌की महत्त्वपूर्ण शक्ति है। उनकी दूसरी शक्ति 'तटस्था' है जो 'जीवशक्ति' भी कहलाती है। इस शक्तिसे वे परिच्छिन्न-स्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवोंका सर्जन करते हैं। भगवान्‌की तीसरी 'मायाशक्ति' प्रकृति एवं जगत्‌का आविर्भाव करती है। तीनों शक्तियोंका समुच्चय 'पराशक्ति' कहलाता है। अतएव इनके मतमें ब्रह्म शङ्करके समान जगत्‌का निमित्तोपादानकारण है। धर्मग्लानि और अधर्माभ्युत्थानकी निवृत्ति-के लिए यह ब्रह्म भक्तोंकी रुचिके अनुसार अनेक अवतार धारण करता है। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, अवतार नहीं: 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'।

श्री चैतन्य जगत्‌को सत्य मानते हैं। कारण, वह सत्यसंकल्प, सर्वज्ञ परमात्मा श्री हरिकी बहिरङ्गा शक्तिका ही विलास है। प्रलयकालमें भी सूक्ष्मरूपसे भगवान्-में जगत् छिपा रहता है, जैसे रातमें पक्षी वनमें लीन रहते हैं। अचिन्त्यशक्तिके कारण भगवान्‌के साथ यह प्रपञ्च न तो एकान्ततः भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। अतएव चैतन्यमतकी आध्यात्मिक दृष्टि 'अचिन्त्य-भेदा-भेद' नामसे प्रसिद्ध है।

मुक्ति : इस मतमें भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। भगवद्-धामको प्राप्त जीवोंका पुनरावर्तन नहीं होता। न तो भगवान् मुक्त जीवको अपने लोकसे गिराना चाहते हैं और न मुक्त पुरुष ही उन्हें कभी छोड़ना चाहते हैं। वे नित्य उनकी सेवाके परमानन्दका रसास्वाद किया करते हैं।

साधन : भगवान्‌को वश करनेका सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति है। कर्मका उपयोग चित्तशुद्धिपूर्वक साधकको ज्ञान-भक्तिके उपयुक्त बनाना है। यह भक्ति 'केवल ज्ञान' से नितान्त विलक्षण है। जहाँ केवल ज्ञानसे सायुज्यादि मुक्ति मिलती है वहीं भक्तिरूप विज्ञानसे भगवत्प्रसाद, भगवद्‌वशीकार प्राप्त होता है। 'संवित्' एवं 'ह्लादिनी' शक्तियोंका सम्मिश्रण ही भक्तिका सार है। इन शक्तियोंके भगवत्स्वरूपा होनेसे भक्ति भी भगवान्‌का अपृथक् विशेषण है, जब कि भक्तोंका

पृथक् विशेषण। विधिभक्तिसे रुचिभक्ति या रागात्मिका भक्ति श्रेष्ठ मानी गयी है। इसमें भगवान् स्वयं अपने वाहनद्वारा आर्तभक्तको अहैतुकी-कृपापरवश हो अपने धाम पहुँचा देते हैं।

प्रत्यभिज्ञावाद (ईश्वराद्वैतवाद)

काश्मीर देशमें प्रचलित शैव-शाक्ततन्त्रान्तर्गत शैव आगम ही प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक नामसे कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा या स्पन्द नाम इस दर्शनके आध्यात्मिक तत्त्वके कारण है और इसे त्रिक-दर्शन इसलिए कहते हैं कि इसमें पशु, पति और पाश तीन तत्त्वोंका प्रधानतया वर्णन है। इस त्रिक-दर्शनके मूल प्रवर्तक श्री वसुगुप्त हुए जिनका काल ८०० ईसवी माना जाता है। इन्होंने 'स्पन्दकारिका' लिखी है। इनके शिष्य कल्लट और सोमानन्द हुए जिनमें सोमानन्दके शिष्य उत्पलाचार्य (९०० ई०) ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका' बनायी। अभिनवगुप्त इन्हीं उत्पलाचार्यके प्रशिष्य और लक्ष्मणगुप्तके शिष्य हैं, जिनका नाम दर्शन एवं साहित्य-जगत्‌में सुविख्यात है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनको सुव्यवस्थित रूप इन्होंने दिया। अतएव ये इस दर्शनके प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। श्री अभिनवगुप्तका काल ९५०–१००० ईसवी माना जाता है। इन्होंने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रालोक आदि ग्रन्थोंकी रचना कर इस दर्शनमें अपना असाधारण स्थान प्राप्त कर लिया है।

सिद्धान्त : इस त्रिक-दर्शनकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि अद्वैतवाद ही है। अद्वय परमेश्वर ही परमतत्त्व है जो शिव एवं शक्तिका सामरस्यरूप है। यह आत्मा चैतन्यरूप होकर निर्विकाररूपेण जगत्‌के सर्वपदार्थोंमें अनुस्यूत है। नानाविचित्रतायुक्त जगत् इसी परमशिवसे नितान्त अभिन्न तथा उसका स्फुरणमात्र है। ये स्वयं जगत्‌की सृष्टि करते हैं। वास्तवमें जगत् पहलेसे ही था, सृष्टिकालमें केवल उसका प्रकटीकरण शिव-शक्तिसे होता है।

अनेक शक्तिसम्पन्न होनेपर भी परमशिवकी पाँच शक्तियाँ प्रमुख हैं : १. चित्, २. आनन्द, ३. इच्छा, ४. ज्ञान और ५. क्रिया। इन्हीं पञ्चशक्तियोंसे परमशिव स्वयंको स्वभित्तिपर जगत्‌रूपसे चित्रित या परिणत करते हैं, फिर भी स्वयं अविकारी हैं। यही ईश्वराद्वयवाद इस दर्शनका प्राण है। ब्रह्मवादसे भिन्न इस वादमें परमेश्वरमें स्वातन्त्र्यशक्तिसम्पन्नता, अतएव कर्तृता मानी गयी है। आत्मा सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं विलय इन पञ्चकृत्योंका सम्पादक है।

परमेश्वर और जगत्‌का ये दर्पण-बिम्बवत् सम्बन्ध मानते हैं। परमेश्वरमें

प्रतिबिम्बित विश्व अभिन्न होकर भी घट-पटादिरूपेण भिन्न भासता है। लोकमें प्रतिबिम्बसत्ता बिम्बाश्रित होती है, पर इस मतमें परमेश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्तिके कारण बिना बिम्बके ही जगद्रूप प्रतिबिम्ब स्वतः प्रतिफलित होता है। चिन्मयी शक्तिका ही स्फुरण होनेसे विश्व कथमपि असत् नहीं। ये विवर्तवाद या परिणामवाद कुछ भी नहीं मानते प्रत्युत स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद ही इन्हें मान्य है।

यह दर्शन शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्वस्वरूप तीन मूलविभागोंके अन्तर्गत कुल ३६ तत्त्व मानता है।[१] विश्वसृष्टिकी इच्छामात्रसे परमेश्वर शिव और शक्तिरूपसे द्विधा विभक्त हो जाता है। शिव 'प्रकाश' है तो शक्ति 'विमर्श'। इसीको 'चित्' 'स्पन्द', 'परा वाक्' आदि कहा जाता है। प्रमाके दो रूपोंमें अहमंश शिव तो इदमंश ग्राह्य-शक्ति है। बिना दर्पणके मुख-प्रत्यक्षकी भाँति बिना विमर्शके प्रकाशका स्वरूप सम्पन्न ही नहीं हो पाता। चिद्रूप भी शिव अचेतन है। उसे सदैव अपने प्रकाशनार्थ शक्ति चाहिए। 'ई' शक्तिके बिना शिव 'शव' ही है। शिव-शक्तिका आन्तर निमेष 'सदाशिव' तथा बाह्य निमेष 'ईश्वर' है। विकासोन्मुख ज्ञानकी तृतीयावस्था ही ईश्वरतत्त्व है। ये दोनों विद्यातत्त्वके अन्तर्गत आते हैं। आत्मतत्त्वके अन्तर्गत मायाशक्ति ही 'अहम्' और 'इदम्' को पृथक् करती है। तब अहमंश मायाकञ्चुकावृत पुरुष और इदमंश प्रकृति बन जाता है। यही प्रकृति महत्से पृथिवीपर्यन्त तत्त्वोंको सांख्यरीतिसे उत्पन्न करती है। बस, इसी प्रकार नित्यमुक्त परमेश्वर संसारी बनकर बद्ध-सा हो जाता है।

मुक्ति : इनके मतमें 'चिदानन्दलाभ' ही मोक्ष-पदार्थ है। यह चिदानन्द-

---

१. इस दर्शनके तत्त्व प्रथम तीन भेदोंमें विभक्त हैं: १. शिवतत्त्व, २. विद्यातत्त्व और ३. आत्मतत्त्व। शिवतत्त्वके दो भेद हैं: (१) शिवतत्त्व और (२) शक्तितत्त्व। विद्यातत्त्वके अन्तर्गत तीन तत्त्व हैं: (३) सदाशिव, (४) ईश्वर और (५) शुद्ध विद्या। आत्मतत्त्वमें ३१ तत्त्व अन्तर्भूत हैं: (६) माया, (७) कला, (८) विद्या, (९) राग, (१०) काल, (११) नियति, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार, (१६) मन, (१७–२१) श्रोत्र, त्वक्, चक्षु:, जिह्वा, घ्राण (पञ्चज्ञानेन्द्रिय), (२२–२६) वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (कर्मेन्द्रियपञ्चक), (२७–३१) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (पञ्चविषय), (३२–३६) आकाश, वायु, वह्नि, सलिल और भूमि (पञ्चभूत)।

लाभ नित्यसिद्ध ज्ञान-भक्तिका आवरणभङ्गजनित समुन्मेषमात्र है। 'अहं महेश्वरः' इस ज्ञानसे शिवत्वलाभ ही इस मतमें मुक्ति है।

साधन : त्रिक-दर्शन मुक्तिका कारण न तो शुष्कज्ञान मानता है और न शुष्क-भक्ति। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनोंका सामञ्जस्य रहता है। अद्वैतवादमें शंकर चरमावस्थामें भक्तिको इसलिए स्थान नहीं देते कि वह उपास्य-उपासक-रूप द्वैतपर प्रतिष्ठित है। किन्तु इनके मतसे वह तो साधनरूपा अज्ञानमूलक भक्ति है। अद्वैतज्ञान होनेपर जिस साध्यरूपा भक्तिका उदय होता है वह नित्य है।

यह दर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन इसलिए कहलाता है कि प्रत्यभिज्ञा ही पूर्णता और मुक्तिरूप शाश्वत आनन्द प्रदान करती है। 'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ है, ज्ञात वस्तुको पुनः जानना या पहचानना। शास्त्रीय परिभाषामें यह ज्ञानका ही एक प्रकार है जिसमें एक अंश (तदंश) स्मरणात्मक और दूसरा अंश (इद-मंश) प्रत्यक्षानुभवात्मक हुआ करता है। श्री उत्पलाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार कोई सुन्दरी मदनलेख, दूतीप्रेषण आदि अनेक उपायोंद्वारा समीप आकर खड़े हुए मनोवाञ्छित प्रियतमको पाकर भी आनन्दित नहीं होती किन्तु दूती-के इस वचनसे कि 'सोऽयं समागतः' (यही वह आ गया) या उसके लक्षणोंसे उसे पहचान पूर्णता पाती और अनिर्वचनीय आनन्दसे उल्लसित हो उठती है, ठीक इसी प्रकार आणव, शाक्त, शाम्भवादि उपायोंसे आत्मचैतन्यका स्फुरण होनेपर भी साधक 'अहं महेश्वरः' यह अनुभव तभी पाता है जब कि गुरुके उपदेश-से शिवगुणोंके ज्ञानद्वारा वह उसे पहचान लेता है। इस प्रकार इस दर्शनमें शिवत्व-लाभरूप मुक्तिका प्रधान साधन 'प्रत्यभिज्ञा' ही है।

भक्ति-वित्ति-समुच्चयवाद

पीछे बताया जा चुका है कि भक्ति-वित्ति-समुच्चयवाद या उदासीन दर्शनका स्रोत श्री सनत्कुमारसे प्रवाहित हो १६४वीं पीढ़ीके गुरुदेव अविनाशीद्वारा श्री श्रीचन्द्राचार्य महाराजको प्राप्त हुआ और उन्होंने ही इस दर्शनको प्रतिष्ठित किया। श्रीचन्द्राचार्यका काल संवत् १५५१–१७०० तदनुसार ईसवी सन् १४९४–१६४३ माना जाता है।

सिद्धान्त : इस सम्प्रदायकी मूलभित्ति श्रौत-अद्वैतवाद ही है और उसके तत्त्व भी अद्वैतवादके अनुसार ही हैं। फिर भी यह सम्प्रदाय आचार्य शङ्करकी भाँति माया और अविद्याको एक नहीं मानता। इसके मतमें दोनों भिन्न-भिन्न

शक्तियाँ हैं और जीव दोनोंके बन्धनोंसे बँधकर संसारी बनता है। अविद्या जहाँ जीवकी अपनी बन्धकशक्ति है वहीं माया ईश्वरीय बन्धकशक्ति।

मुक्ति : इस मतमें भी मुक्तिपदार्थ अविद्या-माया द्विविध बन्धन-निवृत्तिपूर्वक अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही है।

साधन : अद्वैतमतानुसार साधनचतुष्टय-सम्पन्नताके पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अपरोक्ष साक्षात्कार या ज्ञान जैसे मुक्तिका अनिवार्य कारण है, वैसे ही भगवान्‌की भक्ति और प्रपत्ति भी उसका दूसरा अनुपेक्ष्य साधन है। सम्प्रदायकी मान्यता है कि जीव दो बन्धनोंसे बद्ध रहता है— एक है व्यष्टि-बन्धन अविद्या और दूसरा है समष्टि-बन्धन माया। अविद्या-बन्धन तो तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो जाता है पर माया-बन्धनका विमोक भगवद्भक्तिके बिना सम्भव नहीं। स्वयं भगवान् गीता (७-१४) में कहते हैं कि 'मेरी यह दैवी माया बड़ी कठिनाईसे छूटनेवाली है; जो मेरी शरण आते हैं, मेरी भक्ति करते हैं, वे ही इस मायाबन्धनसे मुक्त हो सकते हैं'। इसीलिए यह सम्प्रदाय भक्ति-वित्ति-समुच्चय या भक्ति-ज्ञान-समुच्चय ही मुक्तिका साधन मानता है। अद्वैतवादसे भक्तिका किसी प्रकार विरोध नहीं। महाराष्ट्रके सन्तशिरोमणि प्रसिद्ध अद्वैती सन्त ज्ञानदेवने भी ज्ञानके साथ भक्तिको समान सम्मानका स्थान दिया है। वे पूछते हैं कि "अद्वैतवादमें भक्तिका स्थान क्यों नहीं? आप कहेंगे, क्या वहाँ उपास्य-उपासकका द्वैत रहता है? तो मैं कहता हूँ, एक ही पहाड़को खोदकर क्या देवमन्दिर, देव और उसके परिवार, सेवक नहीं बनाये जाते? क्या वह पहाड़ दो है? क्या इससे उसका अद्वैत छुई-मुई-सा मुरझा जाता है? यदि नहीं तो अद्वैतके साथ भक्ति सम्भव ही है।" भक्ति-वित्ति-समुच्चयवादका यही हृद्‌गत है।

इस प्रकार इस निबन्धका यह विभिन्न साम्प्रदायिक तत्त्वविवेचन भी यहाँ पूरा हो जाता है।

गीता : कर्मयोगीकी दृष्टिमें

आधुनिक युगके ऋषि कर्मयोगी लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलकने अंग्रेजोंकी कूटनीतिक चिरदासताके बन्धन तोड़ फेंकनेके लिए ही अपनी दिव्यदृष्टिसे दृष्ट 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह मन्त्र भारतीय जनताके कानोंमें फूँका, फलतः आज हम स्वतन्त्र हैं। फिर भी कहना होगा कि उनका 'स्वराज्य' भौगोलिक-सीमा-विशेषतक सीमित न रहकर अध्यात्मके विराट् आकाश तकका प्रदेश माप लेता है। वे चाहते थे कि पुण्यभू भारतमें न केवल राजनैतिक स्वरूपका स्वदेशी शासन या 'स्वराज्य' हो, अपितु उसे स्थिर-स्थावर बनानेवाला 'स्व' अर्थात् सत्-चित्-आनन्दघन आत्माका भी अखण्ड राज्य स्थापित हो जाय। दूसरे शब्दोंमें प्रत्येक व्यक्ति आत्मज्ञान, मोक्षसुखका लाभ उठाये। यदि ऐसा न होता तो लौकिक स्वराज्य-आन्दोलनमें मांडालेकी जेलकी यातनाएँ सहते हुए भी लोकोत्तर अध्यवसाय और अदम्य शारीरिक श्रम उठाकर मात्र १७ महीनोंमें 'गीता-रहस्य या कर्मयोगशास्त्र' जैसा ग्रन्थ लिख डालनेकी उन्हें अद्भुत प्रेरणा प्राप्त कैसे होती? स्वाभाविक है कि इस गीता-रहस्यपर उनके प्रखर कर्मयोगकी छाप पड़े। इसीलिए उन्होंने अबतकके आचार्योंके मतसे सर्वथा भिन्न ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोगको ही गीताका महातात्पर्य बताया।

लोकमान्यने गीता-रहस्यको 'कर्मयोगशास्त्र' नाम देकर अन्य शास्त्रकारोंकी ही भाँति जिज्ञासापूर्वक उसका प्रारम्भ किया है 'अथातः कर्मजिज्ञासा।' उसके 'विषय-प्रवेश' नामक प्रथम प्रकरणमें 'अथ' और 'अतः' इन दो पदोंकी व्याख्या कर द्वितीय प्रकरणमें 'कर्मजिज्ञासा'का विश्लेषण करते हुए तृतीयमें कर्मयोगकी शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। उसीके पोषणार्थ बाधक तत्त्वोंके निराकरण एवं साधक तत्त्वोंके उपन्यसनमें मध्यके १० प्रकरण लिखकर १४वें प्रकरणमें उन्होंने गीताध्यायोंकी संगति बिठायी और १५वेंमें इस शास्त्रका उपसंहार किया है, जिसका अन्तिम अंश (अनुच्छेद, पैरा) निम्नलिखित है, जिससे ग्रन्थकारका हार्द सुस्पष्ट हो जाता है :

"गीताधर्म कैसा है? वह सर्वोपरि निर्भय, व्यापक और सम है। अर्थात् वर्ण, जाति, देश, या किन्हीं अन्य भेदोंके झगड़े-झंझटोंमें नहीं पड़ता; किन्तु सब लोगोंको एक ही माप-तौलसे सद्गति देता है। वह अन्य सब धर्मोंके विषयमें

यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है; ज्ञान, भक्ति और कर्मसे युक्त है। अधिक क्या, सनातन वैदिक धर्मवृक्षका अत्यन्त मधुर तथा अमृत फल है वह। वैदिक धर्ममें पहले द्रव्यमय यज्ञों अर्थात् केवल कर्मकाण्डका ही अधिक माहात्म्य माना जाता था। किन्तु फिर उपनिषदोंके ज्ञानसे वह केवल कर्मकाण्डप्रधान श्रौत-धर्म गौण माना जाने लगा। उसी समय सांख्यशास्त्रका भी प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु यह ज्ञान सामान्य जनोंको अगम्य था और इसका झुकाव भी कर्मसंन्यासकी ओर ही विशेष रहा करता था। इसलिए केवल औपनिषदिक धर्म अथवा दोनों-की स्मार्त एकवाक्यतासे भी सर्वसाधारणका पूर्ण समाधान सम्भव नहीं था। अतएव उपनिषदोंके केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञानके साथ प्रेमगम्य व्यक्त-उपासनाके राजगुह्यका संयोग करके कर्मकाण्डकी प्राचीन परम्पराके अनुसार ही अर्जुनको निमित्त बनाते हुए गीताधर्म सर्वसाधारणको मुक्तकण्ठसे यही कहता है कि 'तुम लोकसंग्रहके निमित्त निष्कामबुद्धिसे, आत्मौपम्यदृष्टि तथा उत्साहके साथ यावज्जीवन अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार अपने-अपने सांसारिक कर्तव्यों-का पालन करते रहो; और उसके द्वारा ऐसे नित्य परमात्म-देवताका सदा यजन करो, जो पिण्ड-ब्रह्माण्डमें तथा समस्त प्राणियोंमें एकत्वसे व्याप्त है—इसीमें तुम्हारा सांसारिक तथा पारलौकिक कल्याण है।' इससे कर्म, बुद्धि (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) के बीचका विरोध नष्ट हो जाता है; और सम्पूर्ण आयु या जीवनको ही यज्ञमय करनेके लिए उपदेश देनेवाले अकेले गीताधर्ममें सकल वैदिक धर्मका सारांश आ जाता है। इस नित्य धर्मको पहचानकर, केवल कर्तव्य समझ-कर, सर्वभूतहितके लिए प्रयत्न करनेवाले सैकड़ों महात्मा और कर्ता या वीर पुरुष जब इस पवित्र भरतभूमिको अलंकृत किया करते थे; तब यह देश परमेश्वर-की कृपाका पात्र बनकर न केवल ज्ञानके, वरन् ऐश्वर्यके भी शिखरपर पहुँच गया था। किन्तु जबसे दोनों लोकोंका साधक यह श्रेयस्कर धर्म छूट गया तभीसे इस देशकी निकृष्टावस्थाका प्रारम्भ हुआ है। इसलिए ईश्वरसे आशापूर्वक अन्तिम प्रार्थना यही है कि भक्तिका, ब्रह्मज्ञानका और कर्तृत्वशक्तिका यथोचित मेल कर देनेवाले इस तेजस्वी तथा सम गीताधर्मके अनुसार परमेश्वरका यजन-पूजन करनेवाले सत्पुरुष इस देशमें फिर भी उत्पन्न हों।[१]"

लोकमान्यने अपने इस विवेचनमें जहाँ समग्र भारतीय वाङमयका मन्थन कर डाला वहीं उन्होंने पश्चिमके अनेक ख्यातनामा एवं मान्य धर्मगुरुओं तथा दार्शनिकोंका भी तुलनात्मक अध्ययन किया। यही नहीं, जहाँ इन पाश्चात्य

१. गीता-रहस्य : अनुवाद : माधवराव सप्रे. पृ० ६२२, सं० १०, १९५५ ई०।

विद्वानोंकी मति मुग्ध हो गयी या जहाँ वे भारतीय कल्पनाके निकटतक नहीं पहुँच पाये, उसका भी निर्भीकताके साथ उल्लेख किया है। गीता (५-२) के—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

इस वचनके अनुसार लोकमान्य कर्मसंन्यास और कर्मयोगको मोक्षके दो पृथक्-पृथक् और स्वतन्त्र साधन मानते हुए भी लोकसंग्रहका साधक होनेसे कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। दार्शनिकोंकी भाषामें वे कर्मको मोक्षसाधन ज्ञानका अङ्ग या उपकारक-मात्र न मानकर ज्ञानवत् स्वतन्त्र मोक्षसाधन मानते हैं। इसके अतिरिक्त लोकमान्यका यह कर्म शुष्क कर्मकाण्डियों-का कर्म नहीं अपितु बुद्धिपूर्वक, ज्ञानपूर्वक कृत कर्म है। वह श्रौतकर्मतक ही सीमित नहीं रहता है, कर्मके सर्वसाधारण अर्थ—सभी प्रकारकी हलचल-तक उसकी व्याप्ति है। इसके अतिरिक्त वह भक्ति या प्रेमसे संवलित भी रहता है। इस प्रकार इस कर्मयोगको इतना विशिष्ट बनानेके बाद उसपर लोक-मान्य निष्कामताका पुट भी चढ़ाते हैं जिससे कर्मके प्रकृतिसिद्ध बन्धकतारूप विषके दाँत भी टूट जायँ। इस तरह उनके मतसे ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोग कर्मसंन्याससे कहीं अधिक उपादेय है। कारण, वही लोकसंग्रहके काम आता है। भगवान् भी यही आदेश देते हैं कि 'लोकसंग्रहका लक्ष्य देखते हुए भी अर्जुन! तुम्हें कर्म करना चाहिए':

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥

(गी० ३-२०)

अन्यत्र वे कहते हैं कि 'पार्थ, तीनों लोकोंमें मेरे लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं और न किसीसे मुझे कुछ लेना-देना ही है। फिर भी मैं कर्म किये ही चलता हूँ। यदि मैं सतर्कतापूर्वक ऐसा बरताव न करूँ तो लोग मेरा ही अनुवर्तन करेंगे। यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक उखड़ जायँगे। इन्हें उखाड़ने, समाप्त करनेका पाप मेरे सिर चढ़ बैठेगा':

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गी० ३-२२–२४)

लोकमान्यका अभिमत है कि यहाँ 'भगवान्' तो उपलक्षण हैं। सामान्य जनता सामान्यतः सम्मान्य श्रेष्ठ जनोंका अनुवर्तन करती है। यदि वे ही हाथपर हाथ धरकर अपनेको कृतकृत्य मान बैठें, तो स्पष्ट है कि जनता भी उन्हींका अनुवर्तन करेगी। फलतः हिमालयकी चोटीपर बैठे हुए उन श्रेष्ठ जनोंको अपनी ही तन्द्रावश मैदानके नरकमें बिलबिलाती अपनी अनुयायिनी अकर्मण्य जनताको देखनेका दुर्भाग्य प्राप्त होगा। अतएव कमसे कम उनके उद्धारार्थ ज्ञानोत्तर कर्मकी अवश्यकर्तव्यता माननी ही पड़ेगी, इसमें किसी भी विज्ञके दो मत नहीं हो सकते। जीवनभर जनताकी सेवामें लगे किसी प्रखर कर्मवीरके लिए इस तरह सोचना उसके व्यक्तित्वके अनुरूप ही कहा जायगा। प्राचीन आचार्योंकी शास्त्र-युक्तिपूर्ण निष्ठाएँ कभी उसके आड़े नहीं आ सकतीं।

लोकमान्य कहते हैं कि 'मेरे द्वारा उद्भावित यह गीताधर्म निष्काम-कर्म-प्रधान प्रवृत्तिलक्षण भागवतधर्म ही है, जो महाभारतके नारायणीयोपाख्यान (म० भा० शा० ३३४–३५१) के १८ अध्यायोंमें वर्णित है। अतएव ज्ञानपूर्वक भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोगका यह सिद्धान्त सर्वथा औपनिषद है।' उनकी युक्ति है कि 'जहाँ बृहदारण्यक, छान्दोग्यादि उपनिषदें ज्ञानको ही मोक्षका साधन मानती हैं वहीं मैत्र्युपनिषद्, ईश, कठादि उपनिषदें ज्ञानके समान कर्मको भी मोक्षका साधन बताती हैं।[1] भक्ति तो ज्ञानमार्गसे ही निकली एक धारा है। ज्ञानमार्गके अनुसार अव्यक्तमें निष्ठा स्थिर करनेके लिए व्यक्तका आश्रय अनिवार्य होनेसे सगुणोपासनात्मिका भक्तिकी धारा चल पड़ी और वह उन्हीं सगुण राम-कृष्णादिको ब्रह्म बतलाकर अग्राह्य ब्रह्मको भी युक्तिसे गृहीत कर लेती है।'

दृष्टान्तद्वारा अपने इस मार्गकी प्राचीनता सिद्ध करते हुए वे कहते हैं कि 'जहाँ कर्म-संन्याससे मोक्षका शिखर छूनेवाले शुकादि मुनि पाये जाते हैं वहीं कर्म-योगकी राजविद्या राजगुह्यका राजमार्ग अपनाकर जीवन्मुक्त जनकादि राजर्षि भी सौभाग्यसे हमारे लिए नमस्य रूपमें सुलभ होते हैं।'

यही नहीं, वे इस धर्मका इतिहास बताते हैं कि गीता महाभारतीय 'नारायणी-योपाख्यान' में वर्णित भागवतधर्म ही बताती है। सर्वप्रथम यह निष्काम-कर्म-प्रधान प्रवृत्तिमार्गात्मक भागवतधर्म परब्रह्मावतार नर और नारायण नामक दो

---

१. इसका स्पष्टीकरण एवं लोकमान्यका एतद्विषयक अभिमत जाननेके लिए द्रष्टव्य है : गीता-रहस्य, 'संन्यास और कर्मयोग' प्रकरण, पृ० ३७६–३८०, संस्करण १०।

ऋषियोंने प्रवर्तित किया। उनके कहनेसे जब नारद श्वेतद्वीप गए तो भगवान्ने नारदको वह उपदेश दिया। गीताके शब्दोंमें भगवान् कहते हैं कि 'अर्जुन, यह कर्मयोग मैंने विवस्वान् सूर्यनारायणको बताया। विवस्वान्ने महाराज मनुको, मनुने इक्ष्वाकु राजाको बताया। परम्परासे वह अनेक राजर्षियोंतक संक्रान्त हुआ और उन्होंने अपना उद्धार कर लिया। किन्तु स्मृतिकी नाशक कालकी दीर्घताने उसपर आवरण डाल दिया था। आज तुम मेरे प्रिय जिज्ञासु मित्र मिल गये तो तुम्हारे समक्ष अत्यन्त उत्तम उस पुराने योग-रहस्यको मैं प्रकट कर रहा हूँ':

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

(गी० ४-१-३)

अब महाभारतके, शान्तिपर्वके अन्तमें जो नारायणीय या भागवतधर्म निरूपित है, उसे देखें। वहाँ ब्रह्मदेवके अनेक जन्मों या कल्पान्तरोंमें भागवत-धर्मकी परम्पराका वर्णन कर अन्तमें कहा गया है:

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ॥

(म० भा० शा० ३४८-५१, ५२)

दो भिन्न धर्मोंकी परम्पराका एक होना कभी सम्भव नहीं। इसलिए परम्पराकी एकताके कारण सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गीता-धर्म और भागवतधर्म एक ही हैं। दोनों धर्मोंकी यह एकता केवल अनुमानपर ही निर्भर नहीं। नारायणीय या भागवतधर्मके निरूपणमें वैशम्पायन स्वयं कहते हैं:

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

(म० भा० शा० ३४६-११)

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥

(म० भा० शा० ३४८-८)

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।
(म० भा० शा० ३४७-८२, ८३)

इस प्रकार स्पष्ट है कि गीतामें अर्जुनको दिया गया उपदेश महाभारतोक्त भागवतधर्म ही है। अतएव यह कहनेमें कोई बाधा नहीं कि लोकमान्य तिलकके मतसे गीतोक्त यह कर्मयोग अनादिवेदमूलक है और यही है गीताका परमधर्म !

अब हम यहाँ लोकमान्यके इस ग्रन्थके केवल दो प्रकरणों—'कर्मजिज्ञासा' और 'कर्मयोगशास्त्र' (तृतीय और चतुर्थ) के कुछ विषयोंपर संक्षेपमें विचार करेंगे जिसके आधारपर उन्होंने गीताको (निष्काम) 'कर्मयोगशास्त्र' कहा है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
(गी० ४-१६)

धर्म क्या है और अधर्म क्या ? किंवा कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या ? इसपर विचार करने बैठें तो मस्तिष्क चकरा जाता है और बड़ी पेंचीदा स्थिति उपस्थित हो जाती है। कारण, कोई भी धर्म या कर्तव्य अपनेमें निरपेक्ष या निरपवाद नहीं हुआ करता । कब कौन-सा कर्म धर्म होगा और कब कौन-सा अधर्म, यह निश्चित कहा नहीं जा सकता । धर्म और अधर्म सदैव देश-काल-परिस्थितिसापेक्ष हुआ करते हैं। पहले कुछ विदेशी उदाहरण लें :

डेन्मार्कके राजपुत्र हेमलेटके चाचाने उसके पिताको मारकर राजगद्दी छीन ली और उसकी पत्नीको अपनी स्त्री बना लिया। इससे हेमलेट बड़े पशोपेशमें पड़ गया कि पापी चाचाको मारकर पुत्रधर्मका पालन कर पिताके ऋणसे उन्मुक्त होऊँ या माताके नव पति और वर्तमान राजा चाचाको दयाका दान दूँ ? अन्ततः उचित निर्णय न कर पानेसे बेचारा पागल बनकर मर गया ! ('हेमलेट' : शेक्सपीयर)

रोमके कोरियोलेनस नामक एक वीर सरदारकी भी ऐसी ही कथा है। नगरवासियोंद्वारा निकाल बाहर किये जानेपर वह रोमन-शत्रुओंसे जा मिला और कुछ ही दिनों बाद यह प्रतिज्ञा कर उसने अपने नेतृत्वमें उनपर चढ़ाई करवा दी कि 'इस लड़ाईमें कभी तुम लोगोंका साथ न छोड़ूँगा ।' तदनुसार शत्रुसेना लेकर ज्यों ही वह रोम नगर के गोपुर (पुरद्वार) पर पहुँचा, त्यों ही रोमकी स्त्रियोंने उसकी माता और पत्नीको आगे कर उसे मातृभूमिके गौरवका उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। फलतः अपनी करनीसे वह लज्जित हो गया और उसे शत्रुओंको दिये वचनको भंग करना पड़ा।

दूर विदेशतक क्यों जायँ, एक स्वदेशी उदाहरण ही ले लें। एकबार राणा प्रताप और उसके भाई शक्तिसिंह दोनों वीरोंके बाण एक ही समय एक शिकारको लक्ष्य कर गये। फिर उस शिकारको लेकर दोनोंमें झगड़ा छिड़ गया कि मेरे बाणसे शिकार हुआ। वीरका बाण व्यर्थ जाना उसका बहुत बड़ा अपमान माना जाता है। विवादने उग्र रूप पकड़ा और दोनोंकी तलवारें म्यानोंसे बाहर निकल पड़ीं। यह देख समीपस्थ पुरोहित भीषण भावीसे काँप उठा। अपनी प्रत्युत्पन्नमतिसे एकाएक दोनोंके बीच खड़े होकर उसने कमरसे कटार निकाली और अपने पेटमें घुसेड़ ली। ब्राह्मण पुरोहितकी यह आत्महत्या देख गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक दोनों वीरोंकी तलवारें पुनः अपनी-अपनी म्यानोंमें पहुँच गयीं और दोनोंने अपने अनाड़ीपनपर तरस खायी। पुरोहितकी भीषण घटनाने देशके कर्णधार दोनों वीरोंके प्राणोंको व्यर्थ हानिसे बचा लिया !

अधिक क्या, महाराज मनुके अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्म भी, जो सर्व-साधारण मानवके लिए विहित सामान्यधर्म हैं, इस सापवादताकी कक्षासे बाहर नहीं। हिंसा कभी न करनी चाहिए: 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।' अहिंसा बहुत बड़ा धर्म है यह ठीक है। किन्तु कोई खड्ग-हस्त या 'बम'-बाज आततायी बहू-बेटियोंका सतीत्व लूटने या घर-नगर फूंकनेपर उतारू हो जाय तो क्या शक्ति रहते हुए भी अहिंसाका जाप करते बैठना धर्म होगा ?

यही हाल सत्यका है और यही स्थिति अस्तेय (चोरी न करना) धर्मकी भी है। दूर जाना आवश्यक नहीं, महाभारतमें सत्यावतार धर्मराजने 'नरो वा कुञ्जरो वा' का झूठ बोलकर द्रोणाचार्य जैसी अदम्य शक्तिको नष्ट कर दुर्योधन-के युद्धका पलड़ा हलका कर दिया, भले ही इस असत्य भाषणके फलस्वरूप स्वर्गारोहणके समय कुछ क्षणके लिए उनका रथ धरतीमें धँस गया।

इस तरह एक नहीं, धर्म-अधर्मकी सापवादताके कितने ही उदाहरण बताये जा सकते हैं। प्रसंगका ध्यान रखकर तत्तत् स्थलमें युक्तिसे उन-उन अपवादोंको चुनकर धर्मकी रक्षा करनी पड़ती है। महाभारतने अनेक धर्मनिष्ठोंके आचारोंका चरित्र-चित्रण कर इस दिशामें बहुत बड़ा मार्गदर्शन किया है। स्वयं भीष्म पितामह कहते हैं कि 'ऐसा कोई आचार नहीं, जो सदैव सबके लिए समान हितकर हो। एक आचारसे बढ़कर दूसरा आचार मिलता है तो वह तीसरे आचारका बाध करता है':

नहि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः॥

(म० भा० शा०)
२५९।१७।१८

लोकमान्य कहते हैं कि 'जब आचारोंमें ऐसी भिन्नता पायी जाती है तो भीष्म पितामहके कथनानुसार तारतम्य या सार-असार दृष्टिसे विचार करना ही चाहिए।'

प्रकृतमें अर्जुनको भी इसी प्रकार अपने कर्तव्य कर्मके विषयमें सन्देह हो गया है कि 'युद्ध करूँ या नहीं ? न करूँ तो कर्तव्यच्युत होता हूँ और करता हूँ तो वही गुरुजनवध, ज्ञातिबान्धव-वध आदिका पाप सिर चढ़ बैठता है।' इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण उससे कहते हैं कि 'कर्म-अकर्मके निर्णयमें बड़े-बड़े विद्वान्, क्रान्तदर्शी कवि तक मोहमें पड़ जाते हैं। इसलिए वह कर्म बताता हूँ जिससे तुम अधर्मसे बच निकलोगे' (गीता ४-१६)।

आगे भगवान् वही युक्ति बताते हैं :

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

(गी० ४-१८)

अर्थात् 'जो कर्ममें छिपी अकर्मता और अकर्ममें छिपी कर्मताको देखता-समझता और तदनुसार आचरण करता है वही युक्त या कर्मयोगी और सर्व कर्मोंका कर्ता माना जाता है।' अर्थात् जो कर्म करनेपर भी बन्धक नहीं होता तो उसमें अकर्मता आ जाती है और जो अकर्म होते हुए भी बन्धक होता है उसमें कर्मता आ जाती है। बन्धकता ही कर्म या अकर्मके विषके दाँत हैं और उनसे बचनेपर ही कोई भी कर्म या अकर्म 'धर्म' बन जाता है। अतः बुद्धिमान्‌का कर्तव्य है कि इसे ठीकसे पहचानकर ही कर्म करे।

इस प्रकार लोकमान्यके मतानुसार जब अर्जुन कर्तव्य-कर्म-विषयमें जिज्ञासुके रूपमें प्रस्तुत हो गया तो भगवान् उसे कर्मयोग-शास्त्रका रहस्य बतलाते हैं। वे कहते हैं कि 'अर्जुन, आसक्ति त्यागकर, कर्मकी सिद्धि और असिद्धि दोनोंको समान मान योगस्थ होकर कर्म कर' :

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(गी० २-४८)

समबुद्धिसे युक्त कर्मकी सार्ध श्लोकसे प्रशंसा कर भगवान् कहते हैं :

तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

(गी० २-५०)

भगवान्‌का मत है कि कर्म-अकर्मकी इन असमाधेय चिन्ताओंमें पड़-

कर कर्मको छोड़ देना तो कथमपि उचित नहीं। विचारवान् पुरुषको इसमें-से ऐसी युक्ति ढूँढ़ निकालनी चाहिए जिससे न तो सांसारिक कर्मोंका लोप हो और न कर्माचरण करनेवाला उसके बन्धनसे ही बँध पाये।

अब अन्ततः संक्षेपमें 'कर्मयोगशास्त्र' शब्दके अर्थपर भी लोकमान्यके अभिमतानुसार ध्यान दें। इसमें तीन पद हैं : कर्म+योग+शास्त्र। जहाँतक 'शास्त्र' का प्रश्न है, निर्विवाद है कि 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् अनुशासन करनेके कारण वह शास्त्र है।

'कर्म' शब्द मूलतः 'कृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है : करना, व्यापार या हलचल। गीताकारको यही व्यापक अर्थ अभिप्रेत है। वे 'कर्म' को केवल 'श्रौत-स्मार्त' कर्मके बाड़ेमें ही बाँध रखनेको तैयार नहीं। अर्थात् कायिक आदि या सात्त्विक आदि सभी कर्म यहाँ 'कर्म' पदसे विवक्षित हैं।

इसी तरह 'योग' शब्दका पातञ्जलदर्शनोक्त सीमित 'चित्तवृत्तिनिरोध' अर्थ गीताकारको ग्राह्य नहीं। यह 'योग' शब्द 'युज्' धातुसे बना है जिसका सामान्य अर्थ है : जोड़, मेल-मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति। ऐसी स्थिति-की प्राप्तिका युक्ति, चतुराई या भव्यशैलीभरा उपाय यहाँ 'योग' पदसे विवक्षित है। भगवान् कहते हैं : 'योगः कर्मसु कौशलम्।' कर्ममें कुशलता योग है। अर्थात् विशेष प्रकारकी कुशलता, चतुराई, युक्ति, जिससे कर्म-सर्पके विषके दाँत टूट जायँ—निष्काम हो समत्व-बुद्धिसे कर्मानुष्ठान। इसीलिए भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि 'समबुद्धिर्विशिष्यते'—उसकी बड़ाई कुछ निराली ही है।

'योगः कर्मसु कौशलम्' की व्याख्यामें भाष्यकार भगवत्पाद शङ्कराचार्य भी कहते हैं कि 'योग यानी कर्ममें स्वभावसिद्ध रहनेवाले बन्धनको तोड़नेकी युक्ति।' इसी तरह भागवतधर्मके विवेचनमें 'नारायणीयोपाख्यान' में भी कहा गया है कि "इस धर्मके लिए कर्मोंका त्याग किये बिना ही कर्मयोगी 'सुप्रयुक्तेन कर्मणा'—अर्थात् युक्तिपूर्वक कर्म कर परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेते हैं।" महाभारत भी कर्मयोग और कर्मसंन्यासको एक ही तुलापर बैठाता है :

प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।

(म० भा० अश्व० ४३-२६)

इस तरह गीतामें योगका प्रधान अर्थ 'कर्मयोग' और 'योगी' का प्रधान अर्थ 'कर्मयोगी' होता है तो यह अलग बतानेकी आवश्यकता नहीं कि गीताका अन्तिम तात्पर्य या रहस्य क्या है?

साम्राज्यवाद-विजयिनी संहिता

गीतातः किं न सिद्ध्यति !

सुना जाता है कि स्वतन्त्रताके दीवाने, भारतमाताके लाड़ले कितने ही क्रान्ति-वीर नवयुवक फाँसीके तख्तेपर झूलते समय वेदसुता गीतामाताको छातीसे चिपकाये रहे। जिनके पास वह न थी उन्होंने अन्तिम इच्छापूर्तिके लिए भी उसे माँगकर हृदयसे लगाया और सदाके लिए मृत्युञ्जयी बन गये !

गीतामें ऐसी कौन-सी विशेषता है, जो इन मृत्युञ्जयी वीरोंको बरबस आकृष्ट किये रही ? साधारण दृष्टिसे देखनेपर तो वह 'महाभारत' का एक छोटा-सा प्रकरण है। महाभारत-युद्धके आरम्भमें योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थके संवाद-रूपमें बादरायण वेदव्यासने उसे प्रस्तुत किया और धृतराष्ट्र एवं संजयके प्रश्नोत्तरके रूपमें हमें वह सुलभ हुई !

फिर, इस ग्रन्थका इतिवृत्तात्मक प्रथम अध्याय छोड़ दें तो शेष १७ अध्यायों-में प्रायः अध्यात्मचर्चा ही पायी जाती है। स्वराज्यके लिए बलिदानी वीरोंको मात्र इस अध्यात्म-चर्चासे कितना समाधान हो सकता है यह सोचनेकी बात है। उनकी प्रबलतम बलिदाननिष्ठा अन्य निष्ठाओंको अपने साथ कहाँतक प्रश्रय दे सकती है ? उनमें जन्मभूमिको दासताके बन्धनोंसे मुक्त करनेका भीषण भाव-पावक धधकता रहता है और वे उसमें स्वयंकी पूर्णाहुति दे स्वातन्त्र्य-यज्ञ सम्पन्न करनेके लिए उतावले रहते हैं। अतः विवशतः हमें आध्यात्मिक-ऐतिहासिक भावके अतिरिक्त कोई ऐसा भाव गीतामें ढूँढ़ना होगा जो सकृद्दर्शनमें इन मृत्युञ्जयी वीरोंका अन्तर छू लेता हो।

इस दृष्टिसे खोज करनेपर कहा जा सकता है कि गीता स्वराज्यवादकी बहुत बड़ी और कदाचित् सर्वप्रथम, प्रायोगिक 'संहिता' है जिसमें साम्राज्यवाद-पर विजय पानेके लिए स्वराज्यवादियोंका बहुमूल्य मार्गदर्शन भरा हुआ है और जिसकी फलश्रुति है साम्राज्यवादको नामशेष कर स्वराज्यवाद या राष्ट्रवाद-की प्रस्थापना !

इस विषयको ठीकसे समझनेके लिए गीताके मूलग्रन्थ 'महाभारत' महाकाव्यमें रूपक-शैलीसे आये प्रमुख पात्रोंके नामों तथा गीतारम्भके पूर्व महाभारतके उद्योगपर्वान्तर्गत 'संजययान-पर्व' की कथावस्तुपर भी ध्यान देना होगा।

जहाँतक महाभारत-वर्णित पात्रोंका सम्बन्ध है, कहना होगा कि धर्मराज युधिष्ठिर, अमितबली भीम, पार्थ अर्जुन, वीरा द्रौपदी आदि पाण्डववर्गीय नाम और दुर्योधन, दुःशासन, दुःशला आदि कौरववर्गीय नाम उस महाकाव्यके महाकविने रूपक-शैलीमें ही चुने हैं। किन्तु इनमें भी 'धृतराष्ट्र' नाम उस साङ्ग-समग्रवस्तुविषय रूपकका मुख्य विशेष्य-सा है। वही कविकी उस रूपक-शैलीका सुमेरुमणि है।

इस 'धृतराष्ट्र' नाममें दो पद हैं: धृत+राष्ट्र। 'धृत' अर्थात् धारण कर लिया—हड़प लिया है परकीय राष्ट्र यानी राज्य जिसने। तात्पर्य यह कि अन्यायसे परकीय राज्यको हड़पनेवाला, साम्राज्यवादी मनोवृत्तिका व्यक्ति 'धृतराष्ट्र' है। वह कर्तव्य-अकर्तव्य और अधिकार-अनधिकारका विवेक-विचार न कर सदैव जिस किसी तरह अपने साम्राज्यकी प्रतिष्ठामें ही लगा रहता है। महाभारतके धृतराष्ट्र-चरित्रपर बारीकीसे ध्यान देनेपर यह बात स्पष्ट हो जायगी। इस दृष्टिसे उसके सभी अनुयायी, अनुगामी, पक्षपाती 'धृतराष्ट्र' घोर साम्राज्यवादी ही कहे जायँगे!

इसीका प्रतिशब्द है 'हृत-राष्ट्र', जो कदाचित् महाभारतमें किसी पात्रके नामसे प्रयुक्त न हुआ हो। फिर भी युधिष्ठिर आदि पाण्डवपक्षीयोंके लिए लागू हो सकता है। कारण, 'हृत' यानी छिन गया है 'राष्ट्र' या राज्य जिनका, वे स्वराज्यप्रेमी राष्ट्रवादी युधिष्ठिर और उनके भाई एवं अनुयायी स्पष्ट ही 'हृतराष्ट्र' कहे जा सकते हैं। ये सर्वथा धर्मपक्षीय थे। धर्मराज युधिष्ठिर तो 'अजातशत्रु' ही कहे जाते हैं। उनके भाई पाण्डव और तत्पक्षीय अन्य वीर योद्धा सदैव धर्मराजका ही साथ दिया करते। छद्ममय द्यूतसे राज्य छीन लेनेपर भी धर्मराजने धर्मका ही आदर किया और १२ वर्षतक वनवास एवं १ वर्ष अज्ञातवासके घोरतम कष्ट सहे, फिर भी धर्मको कदापि नहीं छोड़ा। अन्तमें पूरे राज्यके बदले ५ गाँवोंपर ही सन्धिका प्रस्ताव भगवान् कृष्णके माध्यमसे रखा। किन्तु: 'सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन यावद् भिद्यति मेदिनी। तावन्नाहं प्रदास्यामि विना युद्धेन केशव!' इस घोषके साथ दुर्योधनने भगवान् तककी बात ठुकरा दी, तब विवशतः उस क्षत्रिय वीरने 'कण्टकेनैव कण्टकम्' का राजनैतिक सूत्र पकड़-कर धर्मयुद्ध छेड़ा। इस तरह सारे महाभारत-युद्धको 'धृतराष्ट्र-विरुद्ध हृतराष्ट्रों-का युद्ध' कहना होगा। इस युद्धमें अन्ततः साम्राज्यवादी धृतराष्ट्र बुरी तरह हारा और स्वराज्यवादी हृतराष्ट्रोंकी विजय रही।

ज्ञातव्य है कि स्वराज्यवाद स्वयंमें धर्मपक्ष है, जबकि साम्राज्यवाद मूलतः

अधार्मिक पक्ष। जब एक पक्षी भी पिंजड़ेमें बन्द रहकर सुखकी साँस नहीं ले पाता और उससे मुक्त हो खुले गगनमें उन्मुक्त उड़ानकी सोचता रहता है तो अतिप्रबुद्ध मानव क्योंकर स्वशासित स्वराज्यकी कामना न करेगा ? वह तो उसकी प्रकृतिसिद्ध इच्छा है। अतएव उसे धर्मपक्षीय ही कहना होगा। इसके विपरीत साम्राज्यवाद शत-शत स्वराज्यवादियोंके स्वातन्त्र्यका हरण कर अपने ही उचित-अनुचित, मनःकल्पित तन्त्रपर जीनेके लिए उन्हें विवश करता है। दूसरे शब्दोंमें उन्हें अपना दास बनाता है जो प्रकृति-विरुद्ध है। अतएव वह अधर्म-पक्ष है।

यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि भगवान् सदैव धर्मके पक्षमें होते हैं। उनकी सत्ता या अवतरण उसीके रक्षार्थ हुआ करता है। धर्मपक्षीय स्वराज्यवादियोंका उदय सत्य, धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, समता, पवित्रता, देशभक्ति, त्यागवृत्ति आदि शुभगुणोंसे होता है। उन्हें मध्यमें तरह-तरहके कष्ट झेलने पड़ते हैं किन्तु अन्त उनका शानदार रहता है। उनका धवल यश विश्वमें सर्वोपरि फैलता है जो सदैव सबके मार्गदर्शनका सामर्थ्य रखता है।

इसके विपरीत साम्राज्यवादियोंका व्यवहार कपटसे प्रारम्भ होता है। उनकी मध्यस्थिति चिन्तासे परिपूर्ण होती है और अन्तमें उनका सर्वनाश हो जाता है। गीताका प्रारम्भ साम्राज्यवादियोंका मध्यकाल है। अतएव उसके प्रथम श्लोकमें धृतराष्ट्रकी चिन्ता सुस्पष्ट है, जो उचित ही है।

साम्राज्यवादी सदैव विवेकहीन, मोहसे अन्धे और तामस हुआ करते हैं। फिर धृतराष्ट्र अन्तर्बाह्य अन्धा ही रहा। अन्धेकी स्त्री गान्धारी अन्धी न होनेपर भी पतिके अनुसरण-हेतु कृत्रिम अन्धी बनी। नहीं तो पुत्र कौरवोंद्वारा पाण्डवोंका लाक्षागृह-दाह और भरी सभामें पाञ्चालीके वस्त्र-हरण जैसे जघन्यतम कृत्योंको क्योंकर उसने नहीं रोका ? 'प्रसूतिर्वरदानजा' इस वचनके अनुसार ब्रह्मस्वरूप व्यासदेवकी कृपासे उत्पत्ति होनेपर भी क्षेत्र तामस होनेके कारण धृतराष्ट्रका तामस, विवेकहीन और मोहग्रस्त होना कोई अनहोनी बात न थी। किसी साम्राज्यवादीके लिए ये सारे गुण स्वाभाविक हैं।

ऐसा अन्तर्बाह्य अन्ध, तमोगुणी, साम्राज्यवादकी जीती-जागती मूर्ति धृतराष्ट्र सोचता है कि तरह-तरहके अत्याचार करके सँजोया साम्राज्य अब हाथसे जानेकी स्थितितक पहुँच गया है। अवश्य ही राष्ट्रवादी, स्वराज्यवादी धर्मपक्ष संख्या और साधनोंमें अल्पबल है। फिर भी अपनी दृढ़ स्वराज्यनिष्ठा और धर्मके बलपर महाभारत-युद्ध छेड़ अन्तिम निर्णय करा लेना चाहता है। समरांगणपर दोनों पक्षोंकी युयुत्सु सेना भी जुट चली है। अन्ततः निश्चय ही

यह युद्ध मुझ साम्राज्यवादीको महँगा पड़ेगा, जबकि स्वराज्यवादियोंको सस्ता पड़नेवाला है। कारण, युद्धमें विजयी होनेपर भी हम साम्राज्यवादी पहलेसे ही हड़पे हुए राज्यसे अधिक तो कुछ पानेवाले हैं नहीं। यदि हारे तो घोर श्रम और भारी छल-छद्मसे हड़पा राज्य हाथसे छिन जायगा। इसके विपरीत वे स्वराज्यवादी विजयी होते हैं तो उन्हें छिना हुआ अपना राज्य वापस मिल जाता है। हारे तो भी कोई हानि नहीं, यों कष्ट तो झेल ही रहे हैं।

यही सोचकर महाभारत-युद्धारम्भसे कुछ पूर्व इस साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने कूटनीतिका आखिरी गहरा दाँव चला, जो महाभारतके उद्योगपर्वमें २० से ३२ अध्यायोंमें पाया जाता है और जिसे 'संजययानपर्व' कहते हैं। वास्तवमें इसी कूटनीतिक दाँवसे कपिध्वज गाण्डीवी पार्थको समरांगणमें विषादने घेर लिया और उसके समाधान या प्रशमनार्थ भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णने अर्जुनके माध्यमसे संसारको गीता जैसा अमूल्य रत्न प्रदान किया।

उद्योगपर्वके इन १३ अध्यायोंमें साम्राज्यवादी सम्राट् धृतराष्ट्रद्वारा प्रेषित कूटनीतिक प्रतिनिधि संजय पाण्डवोंसे कहता है: 'पाण्डवो! महाराज धृतराष्ट्र आप लोगोंपर अत्यन्त प्रेम करते हैं, आप सभी पाण्डवोंका हित चाहते हैं, आप लोगोंकी शिष्टता, साधुता, सहनशीलता आदिका वर्णन किया करते हैं। बेचारे लाचार हैं, साम्राज्यमदसे मत्त उनके पुत्र कौरव उनकी एक नहीं सुनते, किन्तु इसके लिए आप जैसे धर्मावतार और धर्मनिष्ठोंका युद्ध जैसे जघन्य कृत्यमें पड़ना कभी प्रशस्त नहीं। जन्मभर आप लोग कभी, किसी प्रसंगमें धर्मसे तनिक भी विचलित नहीं हुए। अब युद्ध लड़ेंगे तो दोनों कुलोंका क्षय हो जायगा, कुलधर्म नष्ट हो जायँगे, स्त्रियाँ भ्रष्ट होंगी, वर्णसंकरता बढ़ेगी, जिसका अन्तिम दुष्परिणाम उभय कुलोंका अनन्त कालतक घोर नरकवास ही होगा।'

संजय आगे अपनी माया विस्तृत करने लगा: 'धर्मराज! इस तरह निश्चय ही युद्ध नीच पुरुषोंका कार्य है। भले और धर्मात्मा पुरुष उसे कभी नहीं अपनाते। आखिर कौरव आपके भाई ही तो हैं। पीछे गन्धर्वोंसे युद्धके समय आप ही लोगोंने कौरवोंकी रक्षा की थी। क्या आज उन्हीं अपने द्वारा रक्षितोंका ही वध करेंगे? मान लें, युद्धसे स्वराज्य पा ही जायँ, तो भी वह नश्वर है। क्या छोटे-से लाभके लिए बहुमूल्य शाश्वत धर्म खो देंगे? इसकी अपेक्षा तो भिक्षा माँगकर जीवन-यापन कहीं उत्तम है। युद्धमें आपको भीष्म, द्रोण जैसे अपने पूज्यतम गुरुजनोंका भी वध करना पड़ेगा। आखिर कभी क्रोधका लेश न आने देनेवाले आपको आज हो क्या गया है? यह कैसी विपरीत मति हो गयी है। इसलिए मेरी

हितकी सलाह है कि युद्धका विचार सर्वथा त्याग दें और शान्तिका मार्ग, सन्धिका मार्ग अपनायें।'

कूटनीति बड़ी ही विषदन्त हुआ करती है। धृतराष्ट्रकी इस कूटनीतिका प्रभाव साक्षात् धर्मराजपर पड़ा या नहीं, कहा नहीं जा सकता। किन्तु उनके अनुयायी अर्जुनपर वह कारगर हो गयी। अतीतमें कभी युद्धको पीठ न दिखानेवाला भारतवीर और नरोंका एकमात्र प्रतिनिधि अर्जुन कुरुक्षेत्रके समरांगणपर प्रतिपक्षमें अपने ही बन्धु-बान्धवोंको देख मोहसे घिर जाता है और युद्धद्वारा स्वराज्य प्राप्त करनेका स्पष्ट निषेध करने लगता है। युद्धके विरोधमें बन्धु-बान्धव-वध, कुलक्षय, वर्णसंकरता आदिकी व्याख्या करता है। स्वराज्यके बदले भीख माँगकर जीनेपर उतर आता है। किं बहुना, स्वयं शस्त्रसंन्यास लेकर कौरवोंके शस्त्रोंका लक्ष्य बननेमें ही अपनी 'क्षेमतरता' की भाषा बोलने लगता है और इस तरह विषादके वशीभूत होकर बहुमूल्य प्राणतक गँवा देनेपर उतारू हो जाता है।

संजयकी इस कूटनीतिका शिकार अर्जुन किस तरह हुआ, इसके लिए संजय और अर्जुनकी उक्तियोंके कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं। संजय कहता है :

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं ते वै पुत्राः सुहृदो बान्धवाश्च।
उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयुर्यतः कुरूणां नियतो वैभवः स्यात्॥
ते चेत्कुरूननुशिष्याथ पार्था निर्णीय सर्वान् द्विषतो निगृह्य।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्यज्जीवध्वं ज्ञातिवधेन साधु॥

(म० भा० उद्यो० २५-८, ९)

अर्थात् वे लोग धन्य हैं जो अपनी जातिका कल्याण करते हैं। वे ही सच्चे पुत्र, मित्र और बान्धव हैं। वे सदाके निन्दित जीवन त्याग दें जिससे कौरवोंका वैभव बढ़ जाय। ऐसा न करते हुए यदि तुम पाण्डव कौरवोंको शत्रु मानकर मारोगे तो तुम्हारा जीवन मरणके समान हो जायगा, क्योंकि ज्ञातिवधसे तुम्हारा जीवन कलंकित होगा।

इसीका प्रतिबिम्ब अर्जुनकी उक्तिमें देखें :

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥

(गी० १-३६)

अर्थात् धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमारा क्या प्रिय होगा? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा।

संजय कहता है :

सोऽहं जये चैव पराजये च निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किञ्चित् ॥

(म० भा० उद्यो० २५-१२)

अर्थात् मैं हार और जीतमें कुछ भी कल्याण नहीं देखता।

संजयकी यह उक्ति अर्जुनपर काम कर गयी, वह कहता है :

न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।

(गी० २-६)

अर्थात् हम कौरवोंको जीतें या वे हमें जीतें, इनमें-से क्या होगा और कौन-सा हमारे लिए श्रेष्ठ है, यह मेरी समझमें नहीं आता।

संजय कहता है :

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात् प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥

(म० भा० उद्यो० २७-२)

अर्थात् युधिष्ठिर ! यदि कौरव युद्धके बिना आपका राज्य वापस न दें तो आप सब पाण्डव भिक्षा माँगकर अन्धक और वृष्णियोंके राज्योंमें जाकर रहिये। युद्धसे राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख माँगकर जीना कहीं अच्छा है।

इसी भीख माँगनेकी प्रतिध्वनि अर्जुनके शब्दोंमें :

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

(गी० २-५)

अर्थात् गुरुजनोंका वध करके राज्य पानेकी अपेक्षा भीख माँगकर इस लोकमें जीविका चलाना कहीं भला है।

सचमुच साम्राज्यवादियोंकी विषकन्या कूटनीति और हृदयमें भरे हलाहलको छिपानेवाला उनकी जिह्वाका मधु बड़ा ही भयानक हुआ करता है ! उसने भारतके एकमात्र नरके अदम्य शौर्यको भी अपनेमें मिला लिया और उसे अपने अधीन कर लिया।

इस महामोहके बन्धनोंको काटनेकी शक्ति एकमात्र मायापति भगवान्में ही हुआ करती है। अन्ततः गीतामें उन्होंने वह जादू कर दिखाया। ऐसी-ऐसी उक्तियों, युक्तियों और अनुभव-भरे तर्कोंसे उन्होंने साम्राज्यवादियोंके निर्णायक अन्तिम जालका एक-एक बन्धन काट डाला, काँटेसे काँटा निकालनेकी राजनैतिक सूझ-बूझ दिखायी कि अर्जुनके सारे मोह-बन्धन टूट गये। बता दिया कि आततायियोंका वध क्षत्रियोंका कर्तव्य है। उससे भागना दया नहीं, कर्तव्यच्युति

है। फिर तुम न मारो तो भी 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः'—मैं महाकाल तुम्हें छोड़ सबको निगल जानेके लिए मुँह बाये हुए हूँ। मुझसे कोई बच नहीं सकता। इसलिए 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!' निमित्तमात्र बनो और अपना क्षात्रधर्म-पालनका आदर्श प्रस्तुत कर दो।

अन्ततः वह भारतीय वीर प्रकृतिस्थ हो ही गया और हाथ जोड़कर भगवान्से कहने लगा :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(गी० १८-७३)

भगवन्! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया। मेरा अज्ञान मिट गया। स्वकर्मके अनुष्ठानका भाव मनमें भलीभाँति बैठ गया। उस विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं रह गया। अब जैसा आपका आदेश है, युद्धरूप स्वधर्मोचित कर्तव्य कर आपके वचनका पालन करूँगा।

इस तरह भगवान्के मार्गदर्शनके फलस्वरूप स्वराज्यनिष्ठासे साम्राज्यवादी कूटनीतिका ग्रहण छूट गया और पार्थके शौर्यसे प्रभासित विजयश्रीने स्वराज्यवादी धर्मराजके गलेमें वरमाला डाल दी। जब गीताके पीछे स्वराज्यवादी निष्ठाका इतना प्रखर, ज्वलन्त इतिहास है तो देशके लिए सर्वस्व समर्पण करनेवाले और साम्राज्यवादियोंको लोहेके चने चबानेके लिए कटिबद्ध भारतके सपूत क्रान्तिवीर इसे अपने बलिदानका सम्बल न बनायें तो किसे बनायेंगे?

जबतक भारतभूमिपर गीता रहेगी, भारतकी स्वराज्यनिष्ठापर कभी कोई आँच नहीं ला सकता। गीता सदैव हमें अपने कर्तव्यका सन्देश देती है और उस कर्तव्यको ग्रहण लगानेवाले मोहपुत्र अकर्मण्यतारूप राहुको मोक्ष दे देती है। इस प्रकार निश्चय ही गीता साम्राज्यवाद-विजयिनी स्वराज्यवादी संहिता है।

गीता : एक अध्यात्मशास्त्र

जब समस्त उपनिषदें वेदोंके सार-सर्वस्व अध्यात्मशास्त्रका विशाल आकर मानी जाती हैं तो उन उपनिषदोंकी सार-सर्वस्व गीतामें अध्यात्मके विषयमें पूछना ही क्या ? यही कारण है कि अध्यात्मनिष्ठाके अनेकानेक विशेषज्ञ सुप्रसिद्ध आचार्योंने विभिन्न भंगिमाओंद्वारा गीतामें मुख्य तात्पर्यके रूपमें स्थान-स्थानपर आध्यात्मिक भाव स्पष्ट कर दिखाये हैं। फिर भी उसके प्रथम अध्यायमें अध्यात्मकी शोध करता हुआ कोई दिखाई नहीं पड़ता। सम्भव है, आपातदृष्टिसे शुद्ध इतिहास-कथा ही मानकर लोगोंने उधर ध्यान न दिया हो। अधिक क्या, भगवत्पाद शङ्कराचार्य भी गीतापर भाष्य लिखते समय पूरा प्रथम अध्याय और दूसरे अध्यायके प्रथम १० श्लोक छोड़ गये। तब क्या वास्तवमें ऐसी बात है ? क्या गीताका उतना अंश मात्र कथाभाग है ? कहना होगा, नहीं। गीताके उद्गमस्थल महाभारतपर दृष्टि डालनेसे इस अध्यायके आध्यात्मिक भावोंपर भी व्यापक प्रकाश पड़ता है। वहाँ आदिपर्वमें ही गीताके प्रथम अध्यायमें वर्णित अनेक प्रमुख पात्र अध्यात्मके प्रतीकरूपमें प्रस्तुत करते हुए भगवान् वेदव्यास कहते हैं :

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुश्शासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं 'राजा' धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥

(म० भा० आदि० १-६५, ६६, सं० पू० सं०)

अर्थात् दुर्योधन अत्यन्त विशाल क्रोधमय वृक्ष है, कर्ण उसका तना और मामा शकुनि शाखा। भाई दुःशासन सुसमृद्ध पुष्प-फल है तो जड़ है अमनीषी, जड़मति अन्ध पिता कौरवराज धृतराष्ट्र। ठीक इसके प्रतिपक्षमें धर्मराज युधिष्ठिर धर्ममय महान् वृक्ष हैं, उसका तना है अर्जुन और भाई भीमसेन है शाखा। माद्री-पुत्र नकुल-सहदेव सुसमृद्ध फल हैं तो सुदृढ़ जड़ हैं ब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण एवं ब्राह्मणवर्ग।

इससे स्पष्ट है कि श्री वेदव्यास महाभारतमें कौरवराज दुर्योधनको आसुरी सम्पदाके प्रमुख तत्त्व क्रोधका प्रतीक, तो धर्मराज युधिष्ठिरको दैवी सम्पदाके प्रधान तत्त्व धर्मका प्रतीक मानते हैं। तब अध्यात्मशास्त्रके साकार विग्रह

गीतामें उसका उसी रूपमें आना कितना युक्तियुक्त है। निःसन्देह गीताके प्रथम अध्यायमें वर्णित युयुत्सु कौरव-पाण्डवोंकी सेनाओं और उनके प्रमुख नायकोंके प्रतीकरूपमें व्यासदेव धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्रके रणांगणपर दैवी-सम्पदा और आसुरी-सम्पदाको अपने पूरे दलबलके साथ उपस्थित करना चाहते हैं। इतना ही नहीं,

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

इस उपसंहार-वचनसे यह भी सूचित करते हैं कि अन्तमें विजय दैवी सम्पत्तिकी ही सुनिश्चित है; अतः प्रत्येक मानव सदैव दैवी सम्पदाका पक्षपाती बने। महाभारतकारकी मान्यता है कि वेदार्थसंग्रह-स्वरूप उनके ग्रन्थके एकमात्र प्रतिपाद्य हैं षोडशकल भगवान् श्रीकृष्णरूप ब्रह्म और उन्हें पानेका साधन है धर्म। जहाँ धर्मकी सत्ता होगी, निश्चय ही वहाँ श्रीकृष्ण रहेंगे और जहाँ श्रीकृष्ण रहेंगे, विजय उसीका वरण करेगी :

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ।

अधिक क्या, गीताके प्रारंभिक श्लोकमें भी श्रीव्यासदेव आध्यात्मिक रूपकका संकेत करते हैं। यथा :

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥

श्लोककी शब्दशक्तिसे भले ही यहाँ कुरुक्षेत्र नामक धर्मक्षेत्रके समरांगणपर कौरव-पाण्डवोंकी सेनाएँ एकत्र होनेका वृत्त बोधित हो रहा हो, महाभारतकार व्यंजनाद्वारा प्राणिमात्रके अन्तरमें अहरहः (नित्य) चलनेवाले दैवी एवं आसुरी सम्पदाओंके द्वन्द्व (देवासुर-संग्राम, सात्त्विक विचारोंका राजस-तामस विचारोंके साथ संघर्ष)[1] की ओर इंगित कर रहे हैं।

---

१. 'देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्याः···' (छा० उ० १-२-१) तथा 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त·····' (बृ० उ० १-३-१)। देवाः=सात्त्विकाः, असुराः=राजसास्तामसाश्चेति भावः। जिस सामवेदके मन्त्र-ब्राह्मणान्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद् है उस सामवेदके प्रधानतम 'ताण्ड्यब्राह्मण' में शतशः देवासुर-संग्राम चर्चित है। इसी प्रकार ऋग्वेदके 'इन्द्रो दधीचोऽस्थभिः' (१-८४-१३) इस मन्त्रमें निर्दिष्ट इन्द्र-वृत्र-संग्रामका भी इसी ओर संकेत है।

यह शरीर ही धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है। शरीरको 'क्षेत्र' कहना गीताकारके लिए नया नहीं। स्वयं वे कहते हैं: 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।' फिर, यह शरीर धर्मका साधक, उत्पादक, वर्धक होनेसे 'धर्मक्षेत्र' कहा ही जा सकता है। आयुर्वेदके महर्षि तो स्पष्ट ही घोषित करते हैं: 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' शरीरके अस्वस्थ, असमर्थ होनेपर कौन, कैसे धर्म कर पायेगा! इसलिए शरीरको धर्मक्षेत्र कहनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं।

इसके अतिरिक्त यह शरीर कुरुक्षेत्र भी है। 'कुर्वन्ति इति कुरवः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'कुरु' का अर्थ होता है क्रियाशील, इन्द्रियगण। उनका क्षेत्र यह शरीर है ही। शरीराधिष्ठित होकर ही सारी इन्द्रियाँ कार्यक्षम बन पाती हैं। इस तरह 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' का अर्थ हुआ—'धर्मके साधन क्रियाशील (समर्थ) समग्र इन्द्रियोंसे सम्पन्न इस शरीरमें।'

ऐसे शरीररूपी समरांगणपर युयुत्सु बनकर एकत्र हुए 'मामकाः' कौरव, और 'पाण्डवाः'=पाण्डुपुत्रोंने, किम् 'अकुर्वत' = क्या किया, अर्थात् दोनोंके बीच विजय किसकी हुई, यह तो व्यावहारिक अर्थ हुआ। आध्यात्मिक दृष्टिसे यह प्रश्नकर्ता धृतराष्ट्र है। अर्थात् इसने राष्ट्र (देहादि) को आसक्तिसे कसकर पकड़ रखा है, इसीलिए यह अन्ध अर्थात् बुद्धिनेत्रहीन देहाभिमानी धर्मविमुख जड़मति जीवात्मा शिष्यके प्रतीकरूपमें प्रस्तुत है, जो संजय जैसे ज्ञानी गुरुदेवसे शरणगत हो पूछ रहा है। 'सम्यक् जयति मनोविकारान् इति सञ्जयः' इस व्युत्पत्तिसे सञ्जय आत्मदर्शी गुरुके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। यों भी संजयका ज्ञानी होना सुप्रसिद्ध है। उसे ऐसी दिव्यदृष्टि प्राप्त थी कि घर बैठे-बैठे समरांगणमें घटित होनेवाला वृत्तान्त सुनाता था। अतएव उसे गुरुका प्रतीक मानना कोई असंगत नहीं।

कौरव एवं पाण्डवोंका दैवी और आसुरी सम्पदाओं के प्रतीकरूप होना तो ऊपर स्पष्ट ही किया गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ उनके वाचक 'मामकाः' 'पाण्डवाः' शब्दोंपर ध्यान दें। 'ममेति कार्यमित्यभिमन्यमानाः मामकाः' अर्थात् जो 'मेरा-मेरा' यह अभिमान ही करते रहते हैं वे मामक=कौरव स्पष्ट ही आसुरी सम्पदाके प्रतीकरूपमें यहाँ प्रस्तुत कर दिये गये। इसी प्रकार 'पाण्डवाः' शब्द भी साभिप्राय है। शुद्ध सत्त्व पाण्डु कहलाता है। तत्सम्बद्ध ये पाण्डव स्पष्ट ही दैवी सम्पदाके प्रतीक सिद्ध हुए।

इन सभी प्रतीकोंको एकत्र करनेपर निष्कृष्टरूपमें व्यञ्जित अर्थ निकलता है कि बुद्धि-नेत्र-विहीन राष्ट्राभिनिविष्ट धृतराष्ट्ररूप जीवात्मा शिष्य संजयरूप

ज्ञानी गुरुदेवसे पूछता है कि इस धर्मसाधन, सक्रिय इन्द्रियोंके अधिष्ठान शरीरमें, शरीरस्थित चित्तमें जो परस्पर विरुद्ध स्वभाव अभयादि दैवी एवं दम्भादि आसुरी सम्पदारूप पक्ष-प्रतिपक्षात्मक सेनाएँ युद्धार्थ उपस्थित हैं, जिनका नित्य युद्ध चल रहा है, उसकी क्या फलश्रुति है? धृतराष्ट्र—राष्ट्रको हड़पकर अपने अधीन कर रखनेवाले राष्ट्राभिनिवेशी पुरुषकी यह चिन्ता स्वाभाविक ही है कि कहीं इस युद्धमें मेरी 'मम'कार, अहंकार करनेवाली आसुरी सम्पत्ति पराजित न हो जाय। अतएव वह ज्ञानी संजयसे वास्तविकताका परिज्ञान चाह रहा है। गीताके प्रथम अध्यायका यह प्रथम श्लोक ही इतना गहन आध्यात्मिक भाव अपने अन्तरमें रखता है, तो किस प्रकार इस अध्यायको ऐतिहासिक कथामात्र कहा जा सकता है? वास्तवमें इसी प्रकाशमें अध्यायके अन्य श्लोकोंका भी आध्यात्मिक रहस्य ढूँढ़नेका यत्न करनेपर निश्चय ही पूरा अध्याय आध्यात्मिक भावोंसे परिपूर्ण दीख पड़ेगा।

इस प्रकार प्रारम्भिक श्लोकसे आध्यात्मिक भाव समझनेके पश्चात् अब गीतोपदेशके प्रधान पात्र 'अर्जुन' पर ध्यान दें। 'अर्जति भाविकल्याणार्थं पुण्यकर्माणि इति अर्जुनः' ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर अर्जुन पुण्यकर्मोंके अर्जक शुद्ध-चित्त पुरुषका प्रतीक ठहरता है। उसने भगवान्से २८ प्रश्न किये हैं, जिनमें एक प्रश्न चञ्चल मनको वशमें करनेके उपायके विषयमें भी है जो विशुद्ध अध्यात्म-सम्बन्धी है। ऐसे अर्जुनसे सम्बद्ध वृत्तान्तका जिसमें विवेचन हो उसकी आध्यात्मिकताके सम्बन्धमें कहना ही क्या है?

कुछ लोग 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत' से भी अध्यात्मभाव व्यञ्जित करनेका प्रयास करते हैं। अर्जुनने भगवान्को अपना रथ और उसमें जुते घोड़े सौंप दिये, इसका भाव है: शरीररूपी रथ और मनसहित इन्द्रियरूप घोड़े भी भगवान्को सौंप दिये। शरीरका रथ, इन्द्रियोंका घोड़े और मनका प्रग्रह यानी लगामके रूपमें रूपण काठकश्रुति[1]में सुप्रसिद्ध ही है। इस दृष्टिसे भी देखनेपर आध्यात्मिक भाव झलक उठते हैं।

वस्तुतः गीताके प्रथमाध्यायको आत्मवादकी ओर खींचनेवाला है अर्जुनका विषादयोग। इस अध्यायका नाम भी यही है। हमारे यहाँ शीर्षक आरम्भमें न देकर अन्तमें देनेकी प्रथा है। अतएव लोगोंका प्रस्तुत अध्यायके इस नामपर

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुः········ इत्यादि। (कठोप० १-३-३, ४)

सहजतः ध्यान नहीं जाता। ऊपर वर्णित 'अर्जुन' शब्दकी व्युत्पत्तिसे प्रकट है कि अर्जुन संग्रह करनेवाला जीवात्मा है, जिसने पिछले अनेक जन्मोंमें अनन्त कर्म संगृहीत कर रखे हैं और वर्तमान तथा भविष्यमें भी वह ऐसे कर्मोंका अर्जक है। स्पष्ट है कि जो अर्जुन क्रियामें प्रवृत्त रहता है उसे फलसे अभिसन्धि होनेके कारण अभीष्ट सिद्ध न होने या उसमें बाधा पड़नेपर विषाद होना स्वाभाविक ही है, जो सर्वथा आत्मसम्बद्ध वस्तु है। किन्तु भगवान् कृष्ण तो गीता-गायक हैं। इस प्रकार दोनों पक्षोंकी युद्धसन्नद्ध सेनाओंके बीच भगवान् गीता गाते हैं। 'गीता' का अर्थ ही है, गायी हुई उक्ति। कहना न होगा कि गायन सर्वथा शान्तिकालकी वस्तु है। किन्तु भगवान् ऐसे समय भी उसे गाते हैं। इससे उनमें ज्ञान-वैराग्य-की पूर्णता स्पष्ट हो जाती है। ज्ञान-वैराग्यसे परिपूर्ण पुरुष ही ऐसे समय गा सकता है। भगवान् गीता गाकर अर्जक जीव अर्जुनको यह सूचित करना चाहते हैं कि तुम कर्मफलोंके अर्जक, संग्रही बनना छोड़ मेरे जैसे विरक्त बनो। संग्रहमें लगे रहनेपर मधुमक्खीकी भाँति सदैव विषादका अनुभव करना पड़ेगा। कर्म-फलोंके अर्जनसे विरक्त हो जाओगे तो तुम्हारा यह विषाद प्रसादमें अवश्य परिणत हो जायगा।

इसके अतिरिक्त समग्र गीतामें मुख्यतः इस विषयके स्पष्टीकरणार्थ प्रति-पादित आठ आध्यात्मिक तत्त्वोंपर भी ध्यान देना चाहिए। इन आठ तत्त्वोंके सूत्र दूसरे अध्यायके विभिन्न श्लोकोंमें बताकर आगेके अध्यायोंमें उन्हींका भाष्य भगवान्ने अत्यन्त कौशलके साथ निबद्ध किया है। नीचे तालिकाद्वारा उनका विवरण दिया जा रहा है :

गीता-प्रतिपादित आठ तत्त्व

तत्त्व	सूत्रस्थल	भाष्यस्थल
१. निष्काम कर्म-निष्ठा	'योगस्थः कुरु कर्माणि' (२-४८)	३—४ अध्याय
२. शमदमादिसाधनपूर्वक संन्यास	'विहाय कामान् यः सर्वान्' (२-७१)	५-६ ,,
३. श्रवणादि वेदान्तविचार-सहित भगवद्भक्ति-निष्ठा	'युक्त आसीत मत्परः' (२-६१)	७-१२ ,,
४. तत्त्वज्ञान-निष्ठा	'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (२-२१)	१३ ,,
५. जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति	'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (२-४५ पूर्वार्ध)	१४ ,,

६. पर-वैराग्य	'तदा गन्तासि निर्वेदम्' (२-५२)	१५ ,,
७. दैवी-सम्पत्	'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' (२-५६)	१६ ,,
८. सात्त्विकी श्रद्धा	'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' (२-४५, उत्त०)	१७ ,,

१८वें अध्यायमें सभी विषयोंका उपसंहार किया गया है।

इस प्रकार अनेक दृष्टियोंसे गीतामें आपाततः इतिहास-कथारूपमें दीखने-वाले अंशोंमें भी अध्यात्मभावका दर्शन करनेके पश्चात् जब हम समग्र गीताके प्रतिपाद्य विषयोंपर ध्यान देते हैं तो बरबस मुँहसे निकल पड़ता है कि सचमुच 'गीता : एक अध्यात्मशास्त्र' ही है।

गीताका काल-निर्णय

श्रीमद्भगवद्गीताका कालनिर्णय महाभारत युद्धकालके निर्णयपर निर्भर है। कारण, वह उसी ग्रन्थके भीष्मपर्वके २५ से ४२ तक १८ अध्यायोंका प्रकरण-ग्रन्थ है और निर्भर है भगवान् श्रीकृष्णके काल तथा कलियुगके आरम्भकालके निर्णयपर जिसके लिए स्वयं महाभारतमें तीन स्थल हैं : १. 'यह जान लो कि कलियुगका आरम्भ हो गया' ('प्राप्तं कलियुगं विद्धि' शल्यपर्व : भीमद्वारा बड़े भाई दुर्योधनको लात मारे जानेपर श्रीकृष्णकी उक्ति), २. 'शीघ्र ही जिसका आरम्भ होगा, वह कलियुग है' (वनपर्व : भीम-मारुति-संवादमें कथित) और ३. 'भारतीय युद्ध कलियुग और द्वापरकी सन्धिमें हुआ' ('अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्। स्यमन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥')

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आधुनिक ऐतिहासिकोंके मतानुसार महाभारतके तीन संस्करणोंमें गीता किस संस्करणका प्रकरण है ?

इस सम्बन्धमें 'महाभारतका आकार-प्रकार' प्रकरणमें कहा जा चुका है कि आधुनिक ऐतिहासिक मानते हैं कि 'भगवान् वेदव्यासने प्रथम संस्करणरूपमें जो ऐतिहासिक ग्रन्थ बनाया, उसका नाम था 'जय' और श्लोकसंख्या थी मात्र आठ-नौ सहस्र। पश्चात् द्वितीय संस्करणमें वैशम्पायनने २४ सहस्र श्लोकोंका यह ग्रन्थ तैयार किया और उसका नाम रखा 'भारत'। अन्तिम तृतीय संस्करणमें एक लाख श्लोकोंका यह वर्तमान महाभारत सूतपुत्र उग्रश्रवाकी देन है।

भारतीय शिष्टजन इससे सहमत नहीं। वे कहते हैं कि मूल महाभारत वेदव्यासकी रचना है और वह है पूरे १ लाख श्लोकोंकी। महाभारतके आदिपर्व (६२-५२) तथा स्वर्गारोहणपर्व (५-४९) के अन्तःसाक्ष्यसे सुस्पष्ट है कि कृष्ण द्वैपायन व्यासदेवने तीन वर्षोंमें इस महाभारतकी रचना की। आदिपर्व (१-७५–८५) से स्पष्ट है कि ब्रह्माजीके सूचनानुसार व्यासजीकी प्रार्थना-पर गणेशजीने उसका लेखन-कार्य सम्पन्न किया। आधुनिकोंके कथनानुसार आठ-नौ सहस्र श्लोकोंके ग्रन्थके निर्माणार्थ व्यासजी जैसे अवतारी पुरुषको ३ वर्षोंका इतना अधिक समय कभी न लगता और न उसे लिखवानेके लिए अपने अनेक शिष्योंको छोड़ विद्यादेवता गणेशजी तक दौड़ लगानी पड़ती। अतएव कहना होगा कि आजका महाभारत वेदव्यासकी ही रचना है, गीता है उसीका

प्रकरण-ग्रन्थ। इसीलिए महाभारतके कालनिर्णयके साथ ही गीताका भी काल निर्धारित हो जायगा।

फिर, जो लोग आजके महाभारतको तृतीय संस्करण बताते हैं उन्हें भी लोकमान्य तिलकने अपने 'गीता-रहस्य' के बहिरंग-परीक्षा-प्रकरणमें अनेक प्रमाणोंसे—गीता और महाभारतके शाब्दिक-आर्थिक साम्य, लौकिक व्याकरण-छन्दादि नियमोंकी निरपेक्षता या आर्षता आदिसे—सिद्ध कर दिखाया है कि भगवद्‌गीता तो महाभारतके प्रथम संस्करणमें ही सम्मिलित थी और दोनोंके एक रचयिता होनेका भूरिशः साम्य दोनोंमें पाया जाता है। अतएव महाभारतके कालनिर्णयपर गीताका कालनिर्णय निर्भर माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं।

इसपर भी कुछ लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भीष्मपर्व के ये गीताके १८ अध्याय उसमें-से निकाल दिये जायँ, तो भी पूर्वापर ग्रन्थमें किसी प्रकारकी असंगति नहीं आती, जबकि किसी ग्रन्थके बीचका कुछ अंश निकाल देनेपर स्पष्ट ही प्रवाहमें रुकावट आ जाती है। जिस अंशके हटा देनेपर ऐसी कोई रुकावट नहीं आती, क्योंकर उसे उसी ग्रन्थका अनुपेक्ष्य मौलिक अंग माना जाय? यह कुशलताकी ही बात है कि किसीने बादमें उसे ऐसे उचित स्थानपर लाकर जोड़ दिया कि जोड़का पता ही न चले। इस प्रकार गीता महाभारतका 'प्रक्षिप्तांश' कहा जा सकता है। तब उसके आधारपर गीताके काल-निर्णयका कोई औचित्य नहीं।

किन्तु महाभारतका आलोडन करते ही यह सन्देह मिट जाता है। महाभारतके अभ्यासी जानते हैं कि वहाँ गीताका सात बार उल्लेख ओरसे छोरतक है। पहले आदिपर्वमें ही तीन बार उल्लेख है : १. पहला उल्लेख आदिपर्वके द्वितीय अध्यायमें दी गयी अनुक्रमणिकामें है। पर्ववर्णनके पूर्व कहा गया है :

पूर्वोक्तं भगवद्‌गीतापर्व भीष्मवधस्ततः।

(म० भा० आदि० २-६८)

२. फिर अठारह पर्वोंके अध्यायों एवं श्लोकोंकी संख्या बतलाते हुए भीष्मपर्वके वर्णनमें पुनः भगवद्‌गीताका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार है :

कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः॥

मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः।

(म० भा० आदि० २-२४६, २४७)

अर्थात् जिसमें मोक्षगर्भ कारण बतलाकर वासुदेवने अर्जुनके मनका मोहज कश्मल

दूर कर दिया। ३. इसी प्रकार आदिपर्व (१-१७९) में प्रत्येक श्लोकके आरम्भमें 'यदाश्रौषम्' कहकर जब धृतराष्ट्रने बतलाया कि दुर्योधन प्रभृतिकी जयप्राप्तिमें कब-कब कैसे-कैसे मेरी निराशा होती गयी, तब यह वर्णन है कि 'ज्यों ही सुना कि अर्जुनके मनमें मोह उत्पन्न होनेपर श्रीकृष्णने उसे विश्वरूप दिखलाया त्यों ही जयके विषयमें मेरी पूर्ण निराशा हो गयी।'

आदिपर्वके उपर्युक्त तीन उल्लेखोंके अनन्तर ४. शान्तिपर्वके अन्तमें नारायणीय धर्मका वर्णन करते हुए गीताका फिर भी उल्लेख करना पड़ा:

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

(म० भा० शा० ३४६-११)

५. इसी प्रकार आगे चलकर वहीं ३४८-८ में बतलाया गया है:

समुपोढेष्वनीकेषु कुरु-पाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥

अर्थात् कौरव-पाण्डवोंके युद्धके समय विमनस्क अर्जुनको भगवान्‌ने ऐकान्तिक अथवा नारायणधर्मकी इन विधियोंका उपदेश किया था और सब युगोंमें स्थित नारायणधर्मकी परम्परा बतलाते हुए पुनः कहा कि इस धर्मका और यतियोंके संन्यासधर्मका वर्णन 'हरिगीता' में किया गया है। ६. इस नारायणीय धर्मकी परम्पराका वर्णन करते समय वैशम्पायन जनमेजयसे कहते हैं कि यह धर्म साक्षात् नारायणसे प्राप्त हुआ है और यही धर्म हरिगीता अथवा भगवद्‌गीतामें बतलाया गया है:

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

(म० भा० शा० ३४८-५३)

आदिपर्व एवं शान्तिपर्वके इन छह उल्लेखोंके अतिरिक्त ७. अश्वमेधपर्वके अनुगीतापर्व (१६-९—१३) में भी और एकबार भगवद्‌गीताका उल्लेख किया गया है। द्वारका जानेके पहले श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह कहकर अनुगीता बतलायी कि 'दुर्भाग्यवश तू उस उपदेशको भूल गया जिसे मैंने तुझे युद्धारम्भमें बतलाया था। उस उपदेशको फिरसे वैसा बतलाना अब मेरे लिए भी असम्भव है। उसके बदले कुछ अन्य बातें तुझे बतलाता हूँ।' ध्यान देनेकी बात है कि अनुगीतामें वर्णित कुछ प्रकरण गीताके प्रकरणोंके समान ही हैं। अनुगीताके निर्देशको मिलाकर महाभारतमें 'भगवद्‌गीता' का ७ बार स्पष्ट उल्लेख हो गया है। अर्थात्

अन्तरङ्ग प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भगवद्गीता महाभारतका ही एक भाग है, कथमपि प्रक्षिप्त नहीं।

कुछ लोग यह भी शंका करते हैं कि गीता जैसे अध्यात्मग्रन्थका युद्धकालमें उपदेश बुद्धिमें नहीं बैठता। शस्त्रसज्ज और युद्धार्थ सन्नद्ध दोनों सेनाओंके बीच पार्थको उसे सुननेका अवसर ही कहाँ? अतएव इस भगवद्गीताको संजयने कुछ रूप दिया और वेदव्यासने पश्चात् व्यवस्थितरूपसे संकलित कर दिया, यही मानना ठीक होगा। इस तरह पुनः गीताके प्रक्षिप्त होनेकी शंका बनी ही रहती है।

किन्तु यह भी कोई बलवती शंका नहीं। ध्यान देनेकी बात है कि महाभारतयुद्ध 'धर्मयुद्ध' था, जिसमें परस्परकी अनुमतिके बिना शस्त्र उठाना निषिद्ध है। तथ्य तो यह है कि सैन्य-निरीक्षण और भगवान्के गीतोपदेशके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर अपने रथसे उतरकर भीष्मपितामह आदि गुरुजनोंसे युद्धार्थ अनुमति लेने गये और फिर युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व भगवान्के साथ गीतारूप परामर्श अर्जुन करता है तो कोई अनुपपत्ति नहीं। दोनों ही पक्ष व्यर्थका रक्तपात बचाना चाहते ही थे। कौरव भी किसी प्रकार युद्ध टालना चाहते थे। अतएव उनकी सेनाके आक्रमणका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तवमें किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुनके लिए इसी समय गीतोपदेश प्रकाश-स्तम्भ रहा।

अबतकके विवेचनसे यह निश्चित हो गया कि गीता मूल महाभारतका ही अंश है और महाभारत-युद्धका कालनिर्णय श्रीकृष्णके काल और कलियुगारम्भ कालके निर्णयपर निर्भर है और इन सब काल-निर्णयोंपर निर्भर है गीताका कालनिर्णय।

यों महाभारत-युद्ध, महाभारत ग्रन्थके कालनिर्णयमें अनेक मत हैं। एक मत है ईसापूर्व ५००० वर्ष, दूसरा ई० पू० २४४८, तीसरा ई० पू० १४०० और चौथा ई० पू० ११९४ वर्ष। किन्तु 'महाभारत-मीमांसा'कार रायबहादुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यने इन सब मतोंकी सदोषता बताकर अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्यसे अपना निश्चित मत व्यक्त किया है कि महाभारतका काल ईसापूर्व ३१०१ वर्ष है। उनके सभी प्रमाणों एवं अन्य मतोंके खण्डन-मण्डनका अवसर नहीं। संक्षेपमें ठोस प्रमाणके रूपमें कहा जा सकता है कि महाभारत आदिपर्व, वनपर्व और शल्यपर्वोंमें उसी समय कलियुगके आरम्भका उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि महाभारत-युद्धके कुछ ही महीनों पश्चात् (चैत्रशुक्ल प्रतिपद्से) कलियुगका प्रारम्भ हुआ। आजतकके समस्त सम्मान्य ज्योतिषियोंने गणित-

द्वारा कलियुगारम्भ ई० पू० ३१०१ वर्ष ही निर्धारित किया है जो आज भी पंचांगोंमें अंकित रहता है।

दूसरी बात यह है कि भगवान् श्रीकृष्णका भी यही समय है जो कि ३१२ वर्ष पूर्व सम्राट् चन्द्रगुप्तकी सभामें आये हुए यूनानी यात्री मेगस्तनीजके वर्णनसे प्रमाणित है। उन दिनों शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं लिखे जाते थे। केवल राजाओं-के नाम और उनके शासनकाल-मात्रका उल्लेख किया जाता था। वे ही वंशा-वलियाँ सुरक्षित रहती थीं। इसी क्रमके अनुसार मेगस्तनीजने अपने ग्रन्थमें चन्द्र-गुप्ततक १५३ राजाओंकी वंशावली प्रस्तुत की है। वह लिखता है कि इस वंशका मूल पुरुष 'डायोनिसिस' हुआ और उसकी १५वीं पीढ़ीमें हुआ 'हेरे-क्लीज'। मथुराके निवासी शौरसेनीय लोग उसकी पूजा किया करते थे।[१]

विचार करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि ये 'डायोनिसिस' दक्षप्रजापति ही थे और 'हेरेक्लीज' थे हरिकृष्ण, भगवान् श्रीकृष्ण। महाभारतमें भी अनुशासनपर्व (१४७-२५-३३) में कहा गया है कि श्रीकृष्ण दक्षप्रजापतिसे १५वें पुरुष थे। इन १५ पीढ़ियोंको मेगस्तनीज-कथित १५३ पीढ़ियोंसे घटानेपर (१५३-१५=) १३८ पीढ़ियाँ शेष रहती हैं। प्रत्येक पीढ़ीका आनुपातिक काल २० वर्ष मान लिया जाय तो १३८×२०=२७६० वर्ष हुए। इधर चन्द्रगुप्तका काल ऐतिहासिकोंने ईसापूर्व ३१२ निश्चित किया है। इन सबके साथ श्रीकृष्णकी शेष आयुके कुछ वर्ष जोड़ दिये जायँ तो (२७६०+३१२+२९=३१०१) प्रायः ईसापूर्व ३१०१ वर्ष ही श्रीकृष्णका अस्तित्वकाल प्रमाणित हो जानेसे वही महाभारत-युद्धका काल सिद्ध होता है। ईसापूर्व ३१०१ में ईसवी सन्‌के १९७३ वर्ष जोड़ दिये जायँ तो ३१०१+१९७३=५०७४ श्रीकृष्णका और वही महा-भारत-युद्धका काल माना जा सकता है। इस प्रकार भगवद्गीताका निर्माणकाल आज से ५०७४ वर्ष पूर्व सिद्ध हो जाता है।

गीतानिर्माणका वर्ष प्राप्त होनेके पश्चात् वह किस मास और पक्षकी किस तिथिको रची गयी, इसपर विचार किया जा रहा है। ज्ञातव्य है कि भारतीय विज्ञ जनोंकी मान्यताके अनुसार गीताकी रचनाकी तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला एका-दशी मानी जाती है। उसी दिन अखिल भारतमें 'गीता-जयन्ती' मनायी जाती है। हमें देखना है कि क्या यह तिथि प्रमाणित कही जा सकती है?

१. जहाँतक मार्गशीर्ष मासका प्रश्न है, भगवान्‌ने गीतामें अपनी विभूतियोंके वर्णनमें कहा है कि 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' अर्थात् १२ महीनोंके बीच मार्ग-

---

१. M. Grindle Ancient India—Magastenes, and Arrian. pp. 200-205.

शीर्ष मास मेरी विभूति है। यों मार्गशीर्ष मासकी अन्य अनेक विशेषताएँ हैं। इस मासमें नये धान, शाक आदिकी फसल होती है। पानी स्वादिष्ठ बन जाता है। इसी मासकी कृष्णाष्टमीको तन्त्रशास्त्रके अनिवार्य दैवत भैरवनाथका जन्म हुआ है और मासके अन्तिम दिन पूर्णिमाको योगशास्त्रके आचार्य अवधूतशिरोमणि भगवान् दत्तात्रेयका अवतार हुआ है। गीता जैसे सर्वोत्तम ग्रन्थरत्नके निर्माणसे भी इस मासकी कड़ी जोड़ी जा सकती है। महाभारतके अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है कि महायुद्ध मार्गशीर्ष मासमें ही हुआ। भगवान् कृष्ण कार्तिकमें दीपावलीके आसपास सन्धिका प्रस्ताव लेकर कौरव-सभामें गये थे और उनके लौटनेपर ही युद्ध आरम्भ हुआ। इससे मार्गशीर्ष मास ही युद्धारम्भ-मास कहा जा सकता है।

२. दूसरी बात यह कि भीष्मका पतन दक्षिणायनमें हुआ और शिष्टाचारकी रक्षाकी दृष्टिसे उत्तरायणकी प्रतीक्षामें वे शरशय्यापर ही पड़े रहे। पश्चात् श्रीकृष्णके साथ परामर्शसे युधिष्ठिर उनसे धर्मोपदेश सुनने गये। उपदेश सुनकर कुछ दिन वे अपने राज्यमें जाकर रहे। फिर भीष्मकी मृत्युका समय निकट जानकर युधिष्ठिर अन्तिम संस्कारकी सभी वस्तुएँ लेकर भीष्मके पास आए तो भीष्म उनसे बोले :

अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा॥
माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति॥

(म० भा० अनु० १६७-२७,२८)

अर्थात् हे धर्मराज, यों तो मुझे इस शरशय्यापर पड़े-पड़े ५८ दिन बीते हैं, फिर भी शरोंके अग्रभागकी तीक्ष्णता सौ वर्ष पड़े रहनेकी-सी पीड़ा दे रही है। माघ महीना लग गया है और यह उसका शुक्ल पक्ष है। प्रतीत होता है कि अब उसका तृतीय भाग अवशिष्ट है। पक्षके १५ दिनोंको ३ भागोंमें बाँटनेपर तीसरा भाग शेष छोड़नेपर दशमी तिथि पड़ती है। उस दिन अर्थात् माघ शुक्ला दशमीको भीष्मपितामह स्वर्गवासी हुए। इससे भी मार्गशीर्ष मास ही युद्धारम्भ और गीतारचनाका महीना सिद्ध होता है। माघशुक्लसे ५८ दिन पूर्वका काल मार्गशीर्ष मासमें ही पड़ता है।

अब इसी आधारपर महाभारत-युद्धकी तिथिका भी निर्णय करें। महाभारतसे प्रमाणित है कि युद्धारम्भके पश्चात् १० दिनोंतक भीष्मपितामहने सेना-

पतिके रूपमें युद्ध किया। उनके पश्चात् द्रोणाचार्य सेनापति बने। द्रोणाचार्यके सेनापतित्वके तीसरे दिन अभिमन्यु-वध हुआ और उसीके दूसरे दिन यानी द्रोणाचार्यके सेनापतित्वके चतुर्थ दिन अर्जुनने जयद्रथका वध किया। उसी दिन अर्थात् युद्धारम्भके १४वें दिन द्रोणाचार्यने रात्रियुद्ध किया। रात्रियुद्धके वर्णनमें आया है कि अन्धकारके कारण अपने और परायेका अन्तर नहीं प्रतीत हो रहा था। अतएव मशालें जलायी गयीं। बहुत रात हो जानेसे निद्रावश झूम-झूमकर योद्धा गिरने लगे और आपसमें ही कुचलकर मरने लगे। यह देखकर अर्जुन अत्यन्त चिन्तित हो उठा और उसने घोषणा की कि 'व्यर्थ ही दोनों ओरकी सेनाओंका नाश क्यों कर रहे हैं? थोड़ा शान्त हो सभी सो लें और मध्यरात्रि बीतनेपर (प्रहर, डेढ़ प्रहर रात्रिशेषमें) चन्द्रोदय हो तब पुनः युद्ध आरम्भ किया जाय।'

दोनों पक्षोंने अर्जुनकी यह सलाह मान ली और चन्द्रोदय होनेपर ही पुनः रात्रियुद्ध आरम्भ किया। यह घटना मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी ही युद्धारम्भ-तिथि माननेपर संगत हो पाती है। कारण, शुक्ला एकादशीको युद्ध आरम्भ होनेपर आगे कृष्णपक्षकी नवमीको १४वाँ दिन पड़ता है। महाभारतसे यह भी ज्ञात होता है कि युद्धके बीच एक पक्ष १३ दिनोंका भी पड़ा। तब १ या २ तिथियोंका क्षय भी मानें तो भी कृष्णपक्षकी दशमी या एकादशी ही १४वाँ दिन आता है। उस दिन चन्द्रोदय डेढ़ प्रहर रात्रिशेषमें होता ही है। महाभारत द्रोणपर्व (१८४-४६) में इस चन्द्रोदयका वर्णन भी पाया जाता है:

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता॥

इन सब घटनाओंके प्रकाशमें मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको ही युद्धारम्भ और गीतोपदेशकी तिथि मानना युक्तिसंगत होता है।

यहाँ श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यने शुक्लपक्षकी त्रयोदशीको युद्धारम्भ-दिन होनेका अनुमान लगाया है। किन्तु ऐसा माननेपर युद्धका १४वाँ दिन कृष्णपक्षकी द्वादशी या त्रयोदशी पड़ेगी। उस दिन चन्द्रमाके प्रकाशका कोई महत्त्व नहीं रहता। उस तिथिको चन्द्रप्रकाश अत्यल्प होता है, जबकि उपर्युक्त श्लोकमें चन्द्रके उत्तम प्रकाश फैलनेका वर्णन है। अतः घटनाओंकी असंगतिसे वैद्यजीका यह मत श्रद्धेय नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार युद्धारम्भ और गीतोपदेशकी तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी मान लेनेपर भी भीष्मके उस वंचनसे संगति नहीं बैठ पाती जिसमें माघ शुक्लपक्षका तृतीयांश शेष रहनेपर उन्होंने अपनेको शरशय्यापर पड़े ५८ दिन बताये

हैं। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको युद्धारम्भ मानें तो उससे दसवाँ दिन अर्थात् कृष्णपक्षकी पञ्चमी या षष्ठी भीष्मके पतनका दिन मानना पड़ेगा। तबसे माघ शुक्लके त्रिभागशेषकी गणना करें तो मात्र ४७ या ४८ दिन ही होते हैं, ५८ नहीं। तब भीष्मके इस वचनकी संगति कैसे बैठायी जाय? भीष्म तो स्पष्ट कहते हैं कि आज मुझे तीक्ष्णाग्र शरशय्यापर पड़े ५८ दिन (अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः) बीत गये।

किन्तु इसका भी समाधान किया जा सकता है। भीष्मने अपने युद्धकालके १० दिन भी इसमें जोड़कर ऐसा कहा है। प्रश्न होगा कि वे उन दिनों शरशय्या-पर तो पड़े नहीं थे तो 'शयानस्य' कैसे बैठेगा? इसका समाधान भी दो प्रकार-से हो सकता है। एक तो युद्धकालमें अपने ही बन्धु-बान्धवके वधार्थ प्रस्तुत रहना किसी पितामहके लिए शरशय्यासे कम पीड़ाजनक नहीं होता। इसी भावसे भीष्मने उन १० दिनोंको भी 'शरशय्यापर सोने' के रूपमें प्रस्तुत किया। अथवा 'शयानस्य' का अर्थ 'निद्रा लिये हुए' करें। अर्थात् भीष्म कहते हैं कि युद्धके १० दिनोंमें तो नींद आना सम्भव ही नहीं। शेष शरशय्याके ४८ दिन भी निशिताग्र शरोंकी शय्यापर सुखकी नींद कैसे आ सकती है? इस प्रकार ५८ दिनोंसे मुझे नींद नहीं आई, यह उस श्लोकका अर्थ करें तो मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको युद्धारम्भ और गीतोपदेशकी तिथि माननेमें कोई बाधा नहीं।

व्याख्याकार इस श्लोकको प्रकारान्तरसे भी लगाते[1] हैं। 'अष्टपञ्चा-शतम्' पदका 'अष्ट पञ्च' और 'अशतम्' ऐसा विग्रह कर अर्थ करें तो सौमें-से ५८ घटानेपर जो ४२ संख्या शेष रहती है। उतनी ही रात्रियाँ शरशय्यापर पड़े बीत गयीं, यह भीष्मके कथनका आशय है। किन्तु इससे संगति नहीं बैठती। कारण, उन व्याख्याकारोंके मतसे भीष्मकी स्वर्गारोहण-तिथि माघशुक्ला अष्टमी है। उससे ४२ दिन पूर्व अमान्तमास-मानसे मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी, एकादशी या द्वादशी आती है। उस दिन भीष्मका पतन मानें तो द्रोणाचार्यके सैनापत्या-भिषेकका चतुर्थ दिन अमावास्या या पौष शुक्ल प्रतिपद् होगा। उस रात्रिको मध्यरात्रि बीतनेपर डेढ़ प्रहर रात्रिशेषमें चन्द्रोदय होगा ही नहीं। हुआ भी तो उसका वह प्रकाश न रहेगा जो ऊपर द्रोणपर्वके श्लोकमें वर्णित है। अतएव व्याख्याकारोंकी यह व्याख्या ग्राह्य नहीं है।

---

१. उनके इस मतमें दिन भी पूरे नहीं बैठते। एकादशीको युद्धारम्भ माननेपर भीष्मका पतन कृष्णपंचमी या सप्तमी मानना होगा। उस स्थितिमें आगेके लिए दिन ४८ बैठते हैं।

इस प्रकार अनेक युक्तियों एवं प्रमाणोंसे सिद्ध हो जाता है कि मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी ही युद्धारम्भ-तिथि है और उसी दिन भगवान्‌ने अर्जुनको गीताका उपदेश किया। इतना होते हुए भी एक प्रश्न और रह जाता है जो उपर्युक्त सारी प्रस्थापनाको विश्रृंखलित कर देता है। अतएव इस प्रसंगमें उसका भी समाधान अनिवार्य है।

बात यह है कि अनुशासनपर्वमें यह भी एक वचन है कि युधिष्ठिर भीष्मपितामहसे उपदेश सुनकर उनकी आज्ञासे नगरमें चले गये और वहाँ ५० दिन निवास कर सूर्यके उत्तरायणका समय जानकर अन्तिम संस्कारकी सामग्रीके साथ पुनः उनके दर्शनार्थ पहुँचे। इसी समय भीष्मपितामहने 'अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः' यह श्लोक कहा। अर्थात् '५८ रात्रियाँ मुझे शरशय्यापर पड़े बीत गयीं'। अब विचारणीय है कि यदि पूर्वोक्त रीतिसे युद्धारम्भकी ५८ रात्रियोंकी गणना करें तो १८ दिन तो युद्धमें चले गये। फिर युधिष्ठिरका राज्याभिषेक और श्रीकृष्णकी प्रेरणासे उनकी भीष्मकी सेवामें उपदेश-श्रवणार्थ उपस्थिति हुई। इतने सब कार्योंमें ४-५ दिन तो निश्चय ही लगे होंगे। तदनन्तर ५० दिन उनके नगरनिवासके भी मान लें तो उनका योग ७३, ७४ दिन हो जाता है। तब 'अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः' की संगति कैसे बैठे? अनुशासनपर्व (१६७-५) का वह श्लोक इस प्रकार है जिसमें युधिष्ठिरका अपने राज्य में ५० दिन निवास स्पष्ट बताया गया है:

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे।
समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः॥

ऐसे ही युधिष्ठिर जब भीष्मके पास उपदेश सुनने आये तो उस समय श्रीकृष्णने भीष्मसे यह कहा:

पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तव जीवितस्य।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम्॥

(म० भा० शा० ५१-१४)

अर्थात् 'भीष्म, तुम्हारे जीवनके अब ५६ दिन शेष हैं' यह स्पष्ट श्रीकृष्णवचन है। आगे ६ दिन भीष्मके उपदेशके बताये गये। युधिष्ठिर ५६ दिन नगरनिवास कर लौट आये तो ५६ दिनोंकी संगति बैठ जाती है। किन्तु भीष्मके पतनके पश्चात् ८ दिन तो युद्ध चला ही और अभिषेकादिमें १-२ दिन लगे होंगे। उसके पश्चात् पूर्वोक्त रीतिसे ५६ दिन जोड़नेपर ६६ दिन हो जाते हैं। फिर भीष्मका 'अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः' यह बताना कैसे संगत हो सकता है? 'अशतम्' पदच्छेद कर व्याख्या करनेवालोंके मतकी सदोषता तो हम पीछे ही

देख आये हैं। तब इसकी संगति कैसे ? और कैसे मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी ही युद्धारम्भ-तिथि मानी जा सकती है ?

इसका उत्तर महाभारत-मीमांसाकार श्री वैद्य यह देते हैं कि ये संख्याएँ किसी गुप्त परिभाषाकी दी गयी हैं। ये संख्या-निर्देशक श्लोक महाभारतके कूट श्लोकोंमें-से हैं जिनके लिए स्वयं व्यासजीने कहा है कि इन आठ सहस्र आठ सौ श्लोकोंका रहस्य मैं जानता हूँ, शुकदेवजी जानते हैं और संजय जानता है या नहीं, कह नहीं सकता। अर्थात् इन तीनोंके अतिरिक्त प्रत्येकके लिए ये श्लोक अबतक अनबूझी पहेली ही बने हुए हैं।

हम तो यह समझते हैं कि लेखकोंके प्रमादसे भी संख्याओंकी यह असंगति सम्भव है। अनेक पाठभेद भी इस ग्रन्थमें पाये जाते हैं। इस प्रकाशमें देखनेपर यदि हम 'उषित्वा शर्वरीः श्रीमान्' श्लोकमें द्वितीय चरणके 'पञ्चाशन्नगरोत्तमे' के स्थानपर 'राजा त्रिंशत् पुरोत्तमे' पाठ मान लें तो सारी समस्या समाहित हो जाती है। भीष्म-वचनानुसार ५८ दिनोंकी संगति बैठ जाती है। इसी प्रकार 'पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर···' श्लोकमें 'षट् पञ्च च अशतम्' ऐसा विश्लेष करें तो ६५ कम सौ दिन यानी ३५ दिन मिलते हैं। ४-५ दिन अभिषेक-सान्त्वनादिके मान लें तो ४० दिन होते हैं। युद्धके १८ दिन मिलानेपर 'अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः' यह भीष्मवचन भी संगत हो जाता है। इस प्रकार यदि पूर्वापर-संगतिको ध्यान रखते हुए विचार किया जाय तो सारी असंगतियाँ दूर होकर स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत-युद्धारम्भ और गीतोपदेश आजसे ५०७४ वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको ही हुआ।

गीताकी श्लोक-संख्या

श्रीमद्‌भगवद्‌गीताके प्रचलित संस्करणमें लोकमान्य तिलकके मतसे धृत-राष्ट्रोक्त १, संजयोक्त ४० (मतान्तरसे ४१), अर्जुनोक्त ८४ और भगवदुक्त ५७५ (मतान्तरसे ५७४), इस प्रकार कुल ७०० श्लोक पाए जाते हैं। किन्तु महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ४०, मतान्तरसे अध्याय ४२ के अन्तमें, जहाँ गीता समाप्त होती है, निम्नलिखित श्लोक पठित है :

षट्‌शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिस्तु सञ्जयः ॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।

अर्थात् गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ६२०, अर्जुनने ५७, संजयने ६७ और धृतराष्ट्रने १ श्लोक कहा है। यही ७४५ श्लोक गीताका परिमाण कहा गया है।

श्री लोकमान्य तिलकजीने इस महाभारतीय कथनकी संगति लगानेका प्रयास किया है। उनका मत है कि 'गीताके एकादश अध्यायके पन्द्रहवेंसे इकती-सवें-तक १७ श्लोक विवादग्रस्त हैं। कोई इन्हें अर्जुनकी, तो कोई संजयकी उक्ति मानते हैं। यदि इन्हें संजयकी उक्ति मान लिया जाय और अर्जुनोक्त किन्हीं अन्य १० श्लोकोंको कथंचित् संजयकथित मान लिया जाय तो इनकी संख्या २७ हो जाती है। अब प्रचलित संजयोक्ति माने हुए ४० श्लोकोंमें इन २७ के योग-से संजयकथित ६७ श्लोक पूरे हो जाते हैं। उधर प्रचलित अर्जुनोक्त ८४ में-से २७ श्लोक कम हो जानेपर अर्जुनोक्त ५७ श्लोकोंकी भी संगति लग जाती है। किन्तु भगवदुक्त ६२० श्लोकोंमें जो वर्तमान मान्यता (५७५ श्लोक) से ४५ श्लोक अधिक होते हैं, ये श्लोक कौन हैं और किसे कब मिले, ज्ञात नहीं होता।' उन्होंने भीष्मपर्वके चालीसवें अध्यायके अन्तमें उपलब्ध ५॥ श्लोकोंको नील-कण्ठी टीकामें पठित 'एते श्लोकाः गौडैर्न पठ्यन्ते' वाक्यके आधारपर उपेक्षित अथवा प्रक्षिप्त ही माना है। उपर्युक्त 'षट्‌शतानि सविंशानि' इत्यादि १॥ श्लोक उन्हीं ५॥ श्लोकोंके अन्तर्गत हैं अतः उनकी दृष्टिमें इस गीतामानबोधक सार्ध श्लोकका कोई महत्त्व नहीं है।

महाभारतोक्त गीतामानबोधक षट्‌चरण श्लोकमें प्रतिपादित ७४५ संख्या-के समर्थनके पक्षमें हमारा अभिमत कुछ वैदिक शैलीसे प्रभावित है। पहले उन

श्लोकोंको देखिए जो महाभारत (संशोधित पूना संस्करण) के छठे पर्व (भीष्मपर्व) में तेईसवेंसे चालीसवें अध्याय-तककी टिप्पणीमें ८५ से ११४ तक अधिनिवेशन-स्थलांकोंके अन्तर्गत गीताके प्रचलित पाठके अतिरिक्त अधि-सन्निविष्ट रूपमें द्योतित किए गए हैं। उनमें ३० चतुश्चरण तथा ११ द्विचरण श्लोकोंका उल्लेख है जो निम्नलिखित हैं—

अधिनिवेशन-स्थलाङ्क

८५. म०भा० ६-२३-१, गी० १-१ से पूर्व :

कृष्णं कमलपत्राक्षं पुण्यश्रवणकीर्तनम्।
वासुदेवं जगद्योनिं नौमि नारायणं हरिम्॥

८६. म०भा० ६-२३-७, गी० १-७ के अनन्तर :

सैन्ये महति ये सर्वे नेतारः शूरसम्मताः।

८७. म०भा० ६-२४-११, गी० २-११ से पूर्व :

त्वं मानुष्येणोपहतान्तरात्मा
विषादमोहाभिभवाद् विसंज्ञः।
कृपागृहीतः समवेक्ष्य बन्धू-
नभिप्रपन्नान् मुखमन्तकस्य॥

८८. म०भा० ६-२४-४८, गी० २-४८ के अनन्तर :

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनास्त्विह।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान्॥

८९. म०भा० ६-२५-३६, गी० ३-३६ के अनन्तर :

अर्जुन उवाच—

भवत्येष कथं कृष्ण कथं चैव विवर्धते।
किमात्मकः किमाचारस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः॥

श्रीभगवानुवाच—

एष सूक्ष्मः परः शत्रुर्देहिनामिन्द्रियैः सह।
सुखतन्त्र इवासीनो मोहयन् पार्थ तिष्ठति॥
कामक्रोधमयो घोरः स्तम्भहर्षसमुद्भवः।
अहङ्कारोऽभिमानात्मा दुस्तरः पापकर्मभिः॥
हर्षमस्य निवर्त्यैष शोकमस्य ददाति च।
भयं चास्य करोत्येष मोहयँस्तु मुहुर्मुहुः॥
स एष कलुषः क्षुद्रश्छिद्रप्रेक्षी धनञ्जय।
रजःप्रवृत्तो मोहात्मा मनुष्याणामुपद्रवः॥

९० म०भा० ६-२७-१७, गी० ५-१७ के अनन्तर :

स्मरन्तोऽपि मुहुस्त्वेतत् स्पृशन्तोऽपि स्वकर्मणि ।
सक्ता अपि न सज्जन्ति पङ्के रविकरा इव ॥

९१ म०भा० ६-२८-३७, गी० ६-३७ के अनन्तर :

लिप्समानः सतां मार्गं प्रमूढो ब्रह्मणः पथि ।
अनेकचित्तो विभ्रान्तो मोहस्यैव वशं गतः ॥

९२ म०भा० ६-२८-४७, गी० ६-४७ के अनन्तर :

भगवन्नामसम्प्राप्तिमात्रात् सर्वमवाप्यते ।
फलिताः शालयः सम्यग् वृष्टिमात्रेऽवलोकिते ॥

९३ म०भा० ६-२९-२३, गी० ७-२३ के तृतीय चरणके अनन्तर :

सिद्धान् यान्ति सिद्धव्रताः ।
भूतान् भूतयजो यान्ति

अथवा

९४ पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या

९५ म०भा० ६-२९-३०, गी० ७-३० के अनन्तर :

स्फुटं भगवतो भक्तिर्विहिता कल्पमञ्जरी ।
साधनेच्छासमुचितां येनाशां परिपूरयेत् ॥

९६ म०भा० ६-३०-११, गी० ८-११ के अनन्तर :

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥

९७ म०भा० ६-३०-२२, गी० ८-२२ के अनन्तर :

यं प्राप्य न पुनर्जन्म लभन्ते योगिनोऽर्जुन ।

९८ म०भा० ६-३०-२८, गी० ८-२८ के अनन्तर :

सर्वतत्त्वगतत्वेन विज्ञाते परमेश्वरे ।
अन्तर्बहिर्न सावस्था न यस्यां भासते विभुः ॥

९९ म०भा० ६-३१-५, गी० ९-५ के अनन्तर :

सर्वगः सर्वविच्चाद्यः सर्वकृत् सर्वदर्शनः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥

१०० म०भा० ६-३१-६, गी० ९-६ के अनन्तर :

एवं हि सर्वभूतेषु चराम्यनभिलक्षितः ।
भूतप्रकृतिमास्थाय सहैव च विनैव च ॥

१०१ म०भा० ६-३२-३५ या ३८, गी० १०-३५ या ३८ के अनन्तर :

ओषधीनां यवश्चास्मि धातूनामस्मि काञ्चनम् ।
सौरभेयो गवामस्मि स्नेहानां सर्पिरप्यहम् ॥
सर्वासां तृणजातीनां दर्भोऽहं पाण्डुनन्दन ।

१०२ म०भा० ६-३३-२७ पूर्वार्ध, गी० ११-२७ पूर्वार्धके अनन्तर :

सहस्रसूर्यातपसन्निभानि तथा जगद्ग्रासकृतक्षणानि ।

१०३ म०भा० ६-३३-२७, गी० ११-२७ के अनन्तर :

नानारूपैः पुरुषैर्वध्यमाना विशन्ति ते वक्त्रमचिन्त्यरूपम् ।
यौधिष्ठिरा धार्तराष्ट्राश्च योधाः शस्त्रैः कृत्ता विविधैः सर्व एव ॥
त्वत्तेजसा निहता नूनमेते तथा ह्यमी त्वच्छरीरं प्रविष्टाः ।

१०४ म०भा० ६-३३-३९ पूर्वार्ध, गी० ११-३९ पूर्वार्धके अनन्तर :

अनादिमानप्रतिमप्रभावः सर्वेश्वरः सर्वमहाविभूते ।

१०५ म०भा० ६-३३-४० पूर्वार्ध, गी० ११-४० पूर्वार्धके अनन्तर :

न हि त्वदन्यः कश्चिदपीह देव लोकत्रये दृश्यतेऽचिन्त्यकर्मा ।

१०६ म०भा० ६-३३-४४, गी० ११-४४ के अनन्तर :

दिव्यानि कर्माणि तवाद्भुतानि पूर्वाणि पूर्वेऽप्यृषयः स्मरन्ति ।
नान्योऽस्ति कर्ता जगतस्त्वमेको धाता विधाता च विभुर्भवश्च ॥
तवाद्भुतं किं नु भवेदसह्यं किं वाशक्यं परतः कीर्तयिष्ये ।
कर्तासि सर्वस्य यतः स्वयं वै विभो ततः सर्वमिदं त्वमेव ॥
अत्यद्भुतं कर्म न दुष्करं ते कर्मोपमानं न हि विद्यते ते ।
न ते गुणानां परिमाणमस्ति न तेजसो नापि बलस्य नर्द्धेः ॥

अथवा

१०७ इमानि कर्माणि तवाद्भुतानि कृतानि पूर्वं मुनयो वदन्ति ।
न ते गुणानां परिमाणमस्ति न तेजसश्चापि बलस्य विष्णो ॥

१०८ म०भा० ६-३५, गी० १३वें अध्यायके आरम्भमें :

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद् वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

१०९ म०भा० ६-३५, गी० १३ 'भगवानुवाच' के अनन्तर :

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतत्ते कथयिष्यामि ज्ञानं ज्ञेयं च भारत ॥

११० म०भा० ६-४०-४७ पूर्वार्ध, गी० १८-४७ के पूर्वार्धके अनन्तर :

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोदयादपि ।

१११ म०भा० ६-४०-७८, गी० १८-७८ के अनन्तर :

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः ।
सुखं बन्धविमुक्तिः स्यादिति गीतार्थसंग्रहः ॥

पक्षान्तर :

११३ अध्याय ४० के अनन्तर :

वैशम्पायन उवाच—
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या चेयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
गङ्गा गीता च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥

इसके अनन्तर :

११२

षट् शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिस्तु सञ्जयः ॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।

इसके अनन्तर :

११४

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥

इनमें-से अधिनिवेशनस्थलांक १०६ पर गीताके ग्यारहवें अध्यायके चवालीसवें श्लोकके अनन्तर जो तीन श्लोक अधिक सन्निविष्ट बताए गए हैं उनके विकल्पमें उल्लिखित अधिनिवेशनस्थलांक १०७ वाला एक श्लोक छोड़ना ही पड़ेगा । अतः चतुश्चरण अधिक श्लोक २९ ही रह जाते हैं । अब ११ द्विचरण या अर्ध अधिक श्लोकोंमें-से अधिनिवेशनस्थलांक ८६ का, गीताके १-७ श्लोक के अनन्तर प्रदर्शित 'महति सैन्ये' इस अर्धको १-७ में ही सम्मिलित कर दिया

जाय[1] और अधिनिवेशनस्थलांक ११० में उल्लिखित गीता १८-४७ के अनन्तर पठित अर्धश्लोक 'स्वधर्मे निधनं श्रेय:' को छोड़ दिया जाय, क्योंकि गीता ३-३५ के उत्तरार्धसे साम्य होनेके कारण उसका विशेष महत्त्व नहीं है। अधिनिवेशन-स्थलांक ९३-९४ में गीता ७-२३ के तृतीय चरणके अनन्तर उल्लिखित वैकल्पिक दो अर्धश्लोकोंमें-से एकका ही ग्रहण होगा। इस प्रकार ३ अर्धोंके निकल जाने-पर शेष ८ अर्धोंके ४ चतुश्चरण श्लोकोंका २९ में योग करनेपर ३३ श्लोक पूरे हो जाते हैं। अब ४५ की गणना पूरी होनेमें १२ की ही कमी रह गई।

इसकी युक्ति यह है कि पूरी गीतामें 'श्रीभगवानुवाच' २८ तथा 'धृतराष्ट्र उवाच' १ है। इन दोनोंमें ७-७ अक्षर हैं। इन सबके सम्मिलित रूपसे (२९× ७=) २०३ अक्षर होते हैं। ६ अक्षरवाले 'अर्जुन उवाच' २१ और 'सञ्जय उवाच' ९, दोनों मिलकर ३० होते हैं। इनके कुल अक्षर (३०×६=) १८० हुए। उपर्युक्त २०३ में १८० का योग किया तो कुल अक्षर (२०३+ १८०=) ३८३ हुए। अब ३२ अक्षरोंका एक अनुष्टुप् श्लोक मानकर ३८३ में ३२ का भाग दें तो एकाक्षरोन १२ श्लोक हुए। इन्हें पूर्वोक्त ३३ में मिलाने-पर ४५ श्लोक पूरे हो जाते हैं। इन्हें ७०० में मिला देनेपर गीताकी महाभार-तोक्त ७४५ श्लोकसंख्या पूर्ण हो जाती है।

दूसरी दिशा विचार करनेके लिये यह भी है कि गीता, रामायण, महाभारत, पुराण आदि समस्त आर्ष साहित्य वेदका व्याख्यान, वेदार्थका उपबृंहक ही है। अत: इनकी रचना-शैलीमें वैदिक शैलीका ही अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणके लिये 'मदनुग्रहाय परमम्' इस गीता ११-१ श्लोकके प्रथम चरणमें ८ न होकर ९ अक्षर हैं; पंचम वर्ण लघु नहीं, दीर्घ है; षष्ठ और सप्तम दीर्घ नहीं अपितु लघु हैं। लौकिक-छन्द:शास्त्र-सम्मत अनुष्टुप् छन्दके लक्षणका स्पष्ट रूपसे उल्लंघन है। किन्तु वैदिक छन्द:शास्त्र के अनुसार १-२ अक्षरोंका न्यूनाधिक्य छन्द:स्वरूपका विघातक नहीं माना जाता।[2] वैदिक छन्द अक्षरोंकी

---

१. षट्चरण श्लोककी रचना या प्रयोग वैदिक-शैली-सम्मत है। ऋग्वेदमें ९४ ऋचाएँ ३-३ अर्धर्चोंकी हैं। हवनकालमें ३-३ अर्धर्चोंकी एक ऋचा मानी जाती है तथा अध्ययनकालमें दो अर्धर्चोंकी एक एवं अवशिष्ट अर्धर्च-की एक ऋचा मान ली जाती है। देखें महीदासटीकोपेत चरणव्यूह, पृष्ठ १९-२०।

२. 'न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वीयन्ति न द्वाभ्याम्' (ऐ० ब्रा० १-६-२) अर्थात् एक या दो अक्षरोंकी न्यूनाधिकतासे छन्दोंका स्वरूप विकृत नहीं होता।

गणनापर आधारित होते हैं। वहाँ अक्षरोंके ह्रस्व-दीर्घ, लघु-गुरुभाव अथवा यगण, मगण, तगण आदि छन्दके स्वरूप-नियामक नहीं होते। गीता २-२९ के द्वितीय चरण 'आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः' में १२ अक्षर हैं, ११ अक्षर ही होना चाहिए।

छन्दःशास्त्रकी भाँति व्याकरणशास्त्रके सम्बन्धमें भी ऐसा ही दृष्टिगोचर होता है। 'कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्' (गीता ११-३७) में 'नमेरन्' नहीं, 'नमेयुः' होना चाहिए। 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' धातु भ्वादिगणीय (९८१) परस्मैपदी है। 'हे कृष्ण हे यादव हे सखेति' (गीता ११-४१) में 'सखेति' न होकर 'सख इति' होना उचित था। इस प्रकारके सैकड़ों उदाहरण हैं जिनका रूप लौकिक छन्दः-शास्त्र तथा व्याकरण-शास्त्रके सर्वथा विपरीत है। निष्कर्ष यह कि वेदकी भाँति गीता भी लौकिक छन्दःशास्त्र तथा व्याकरणके नियमों-से आबद्ध नहीं, अपितु स्वतन्त्र है। ऐसा इसलिये भी है कि गीतामें स्पष्टरूपसे भगवान्ने वेदोंके सारभाग उपनिषदोंका ही गान किया है (श्रीमद्भगवद्गीता-सूपनिषत्सु)। अतः गीताके परिशीलनमें वैदिक शैलीको भी दृष्टिगत रखना नितान्त आवश्यक है।

जैसे ऋग्वेद-संहितामें १४० नैमित्तिक तथा १७ नित्य द्विपदा[1] ऋचाएँ हैं इसी प्रकार गीतामें कुछ श्लोक द्विचरण ही इष्ट हैं। उन्हें समझ लेनेपर ७४५ संख्यासे सम्बन्धित ऊहापोहकी समाप्ति हो सकती है। ऊपर जो ३० चतुश्चरण और १० द्विचरण श्लोक महाभारत (संशोधित पूना संस्करण) के अन्तर्गत गीताकी टिप्पणीमें अतिरिक्त पठित बताए गए हैं उनका योग ४० होता है। इसके अतिरिक्त गीताके प्रचलित पाठमें पाँच स्थल ऐसे हैं जहाँ श्लोकका द्विचरण स्वरूप ही इष्ट प्रतीत होता है। उन पाँचोंका विवरण इस प्रकार है :

१. हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ (१-२१)

यहाँ पूर्वार्ध संजयकी तथा उत्तरार्ध अर्जुनकी उक्ति है। अतः वक्तृभेदसे तोड़-मरोड़ कर अन्वय करनेसे स्वतन्त्र दो द्विचरण श्लोक मान लेना उत्तम है।

२. कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।
अर्जुन उवाच—
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ (१-२८)

---

१. देखें वेदोपदेशचन्द्रिका पृ० ३६७।

यहाँ एक ही श्लोकमें दो वक्ताओंका कथन समाविष्ट करनेकी अपेक्षा दो द्विचरण श्लोक मान लेना ही उत्तम पक्ष है ।

३. निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ (१-३१)

यहाँ पूर्वार्धमें वर्णित तथ्य पहले दो श्लोकोंमें उक्त व्याकुलतासे सम्बन्धित हैं । उत्तरार्धमें युद्धके प्रति अरुचिका प्रतिपादन आरम्भ हो रहा है अतः इन दोनों अर्धोंको स्वतन्त्र द्विचरण श्लोक मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है । मधुसूदनी टीका, आनन्दाश्रम-संस्करणमें १-३१ के उत्तरार्धको अलग माना भी गया है।

४. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (१८-६५)
५. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८-६६)

इन दोनों श्लोकोंके पूर्वार्ध अनुष्ठानमें प्रयुक्त होते हैं, उत्तरार्ध दोनोंके फल-श्रुति मात्र हैं। जैसे ऋग्वेदकी पूर्वकथित नैमित्तिक द्विपदाएँ अध्ययन-कालमें दो-दो द्विपदा मिलकर चतुष्पदा बन जाती हैं, अनुष्ठान-कालमें द्विपदा ही रहती हैं इसी प्रकार अनुष्ठानमें प्रयुक्त होनेवाले १८-६५–६६ के पूर्वार्धोंको पृथक् द्विचरण श्लोक मान लेना उचित है । उपर्युक्त ५ श्लोकोंके १० द्विचरण श्लोक बन जानेपर इनमें-से ५ का पूर्वोक्त (पूना-संस्करणमें) अतिरिक्त पठित ४० में योग करके इन्हें गीताके प्रचलित ७०० श्लोकोंमें मिलानेपर गीताकी महाभारतोक्त ७४५ संख्या उपपन्न हो जाती है ।

इस प्रयासका तात्पर्य यही है कि यथाकथञ्चित् महाभारतोक्त गीतामान-बोधक सार्ध श्लोकका उपपादन ही करनेका प्रयास होना चाहिए, प्रक्षिप्त कोटिमें डालकर उसकी उपेक्षा करना भारतीय गौरवके मूल आधार आर्ष वाङ्मयके प्रति अन्याय ही माना जायगा ।

इस विषयपर इस दृष्टिसे भी विचार किया जाना चाहिए कि जैसे आजकल भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके पृथक्-पृथक् विश्वविद्यालय हैं और उनमें भिन्न-भिन्न पाठन-प्रणालियाँ हैं, तदनुसार पाठ्यक्रममें निर्धारित पुस्तकोंके अंश भी न्यूनाधिक रहते हैं इसी प्रकार प्राचीन कालमें विभिन्न ऋषियोंके पृथक्-पृथक् गुरुकुल होते थे । उदाहरणके लिये दुर्वासाके गुरुकुल में १०००० छात्र विद्याध्ययन करते थे । वैशम्पायनके गुरुकुलमें याज्ञवल्क्यजी पढ़ने गए तो वहाँ किसी कारणवश गुरुसे अनबन हो जानेपर उन्होंने अपने नये गुरुकुलकी स्थापना कर ली और उसमें सूर्य-

की आराधनासे प्राप्त शुक्लयजु:संहिताका अध्यापन आरम्भ कर दिया। आगे चलकर उनके दोनों शिष्योंने भी अलग-अलग गुरुकुलोंकी स्थापना की। मध्यन्दिन ऋषिके गुरुकुलकी पाठन-प्रणालीमें जो शुक्लयजु:संहिता निर्धारित थी उसकी संज्ञा माध्यन्दिन-संहिता और कण्वके गुरुकुलकी पाठच-प्रणालीमें निश्चित संहिताकी संज्ञा काण्व-संहिता हुई। शुक्लयजुर्वेदकी इन दोनों संहिताओंमें अध्याय तो ४० ही हैं किन्तु मन्त्रोंमें न्यूनाधिकता है। माध्यन्दिन संहिताके १९७५ मन्त्र हैं तथा काण्व-संहिताके २०८६ मन्त्र। यानी काण्व-संहितामें १११ मन्त्र अधिक हैं। सामवेदकी कौथुम-संहितामें १८७५ मन्त्र हैं जबकि जैमिनीय-संहिताकी मन्त्रसंख्या १६८७ है। कौथुम-संहितामें १८८ मन्त्र अधिक हैं। तो क्या माध्यन्दिन-संहितामें अनुपलब्ध काण्व-संहिताके १११ मन्त्रोंको अथवा जैमिनीय-संहितामें अनुपलब्ध १८८ मन्त्रोंको कोई प्रक्षिप्त कहनेका दुस्साहस करेगा ?

अथर्ववेदकी शौनकसंहितामें तो आकाश-पातालका अन्तर है। शौनक-संहिताके आरम्भिक ५ काण्ड पिप्पलाद शाखाके ९ काण्ड और छठा-सातवाँ काण्ड पिप्पलाद शाखाके उन्नीसवें-बीसवें काण्ड बन गए। शौनकके आठवेंसे ग्यारहवें तक चार काण्ड पिप्पलाद-संहिताके सोलहवें काण्डमें ही समाविष्ट हो गए। शौनकका बारहवाँ काण्ड पिप्पलादका सत्रहवाँ काण्ड हो गया। शौनकके तेरह-चौदह-सोलह-सत्रहवें काण्ड मिलकर पिप्पलादका अठारहवाँ काण्ड बन गया। शौनकका अठारहवाँ और बीसवाँ काण्ड पिप्पलाद-संहितामें सर्वथा नहीं लिए गए। शौनकका ७२ सूक्तोंका उन्नीसवाँ काण्ड १२ सूक्तोंको छोड़कर पिप्पलाद-संहितामें इतस्ततः बिखर गया। पिप्पलाद-संहिताके दसवेंसे पन्द्रहवें तक ६ काण्डोंका शौनकसंहिताके किसी अंशसे कोई साम्य नहीं है। किन्तु आजतक किसीने यह कहनेका साहस नहीं किया कि पिप्पलाद-संहितामें अनुपलब्ध शौनक-के या शौनकसंहितामें अनुपलब्ध पिप्पलाद-संहिताके अंश प्रक्षिप्त हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलिके उल्लेखके अनुसार भारतमें ईसापूर्व पुष्यमित्रके शासनकालमें वेदकी ११३१ शाखाएँ प्रचलित थीं। यह प्रत्येक भारतीयके लिये प्रसन्नताकी बात है कि उस समय भारतमें ११३१ विश्वविद्यालय या गुरुकुल प्रचलित थे। अनेक प्रान्तों तथा उनके पृथक् गुरुकुलोंकी पाठन-प्रणालीमें भेदके अनुसार ग्रन्थोंमें अध्यायों अथवा श्लोकोंकी न्यूनाधिकता स्वाभाविक है। शाखा-भेदका मूल भी यह पाठन-प्रणालियोंका भेद ही है। वैदिक शाखाओंकी भाँति वेदानुगामी, वेदोपबृंहक महाभारत आदिकी भी यही स्थिति है।

उत्तरभारत-प्रचलित महाभारतके पाठकी तुलनामें दक्षिणभारत-प्रचलित महाभारतके पाठोंमें अध्याय और श्लोकोंकी संख्या प्रायः अधिक दृष्टिगोचर

होती है। इसी प्रकार उत्तरभारतमें प्रचलित गीताकी अपेक्षा दक्षिणभारतकी स्वल्प-प्रचलित किसी एक गीतामें अध्याय और श्लोकोंकी संख्या अधिक पाई जाती है। कुछ वर्ष पूर्व मद्राससे एक गीता शुद्ध-धर्ममण्डल-द्वारा प्रकाशित हुई थी जिसमें २६ अध्याय और ७४५ श्लोक हैं। धर्ममण्डलकी धारणा है कि वही गीतापाठ शुद्ध एवं प्रामाणिक है। देखिए सं० १९८६ का कल्याण (विशेषाङ्क) गीताङ्क, पृष्ठ ४२९, लेखसंख्या १४८। अतः गीताके दक्षिण-भारतीय किसी एक पाठके अनुसार महाभारतोक्त गीता-परिमाण-(७४५) बोधक श्लोक सूपपन्न ही है।

भारतके उत्तर-दक्षिण-भेदसे पाठभेदकी बात तो जाने दीजिए, दक्षिण प्रदेशके अन्तर्गत आन्ध्र, कर्णाटक, द्रविड़ आदि प्रान्तोंमें पाठभेदका बोलबाला है। एक ही कर्णाटक प्रान्तमें नारायणोपनिषद्के दो प्रकारके पाठ प्राप्त होते हैं। तैत्तिरीय आरण्यकके दशम प्रपाठक (नारायणोपनिषद्) की भाष्यभूमिका-में सायण लिखते हैं: 'द्रविडानां चतुःषष्टचनुवाकपाठः। आन्ध्राणामशीत्यनु-वाकपाठः। कर्णाटकेषु केषाञ्चित् चतुःसप्तत्यनुवाकपाठः। अपरेषां नवाशीत्य-नुवाकपाठः।' अर्थात् दशम प्रपाठकके तामिल (द्रविड़) ६४, आन्ध्र ८० एवं कर्णाटकमें कतिपय विद्वान् ७४ और दूसरे कुछ विद्वान् ८९ अनुवाक मानते हैं।

जब दक्षिणभारतके अन्तर्गत प्रान्तोंमें ही नहीं अपितु एक ही प्रान्त के अन्तर्गत विद्वान् पृथक्-पृथक् पाठभेद स्वीकार करते हैं तो उत्तरभारतकी अपेक्षा दक्षिण-भारतमें या व्यत्ययसे भी गीताका पाठभेद आश्चर्यकी बात नहीं है। महाभारत-के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठने भीष्मपर्वके तैंतालीसवें अध्यायके आरम्भके पूर्वोल्लिखित ५॥ श्लोकोंपर विवरण लिखा है: 'एते श्लोकाः गौडैर्न पठ्यन्ते'। इससे भी प्रान्तभेदसे पाठभेद ही सिद्ध होता है, प्रक्षिप्त होना नहीं।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने निस्सीम श्रम करके वैदिक साहित्यके अमूल्य रत्नोंका अन्वेषण किया, उन्हें प्रकाशित किया, उनका अनुवाद किया, कोशोंका निर्माण किया, सब ठीक किया। उनके इस स्तुत्य प्रयासकी भूरि-भूरि प्रशंसा होनी चाहिए। किन्तु संस्कृतके किसी ग्रन्थकी विभिन्न प्राचीन पाण्डुलिपियाँ इकट्ठी करके उनमें-से किसीमें उपलब्ध अथवा किसीमें अनुपलब्ध कुछ श्लोकोंको प्रक्षिप्त संज्ञा देकर उन्होंने अक्षम्य अपराध किया, क्योंकि इससे प्राचीन भारतीय साहित्य-के प्रति जनतामें अश्रद्धा एवं अविश्वासकी भावना उदित हो गई जो विदेशियोंका मूल उद्देश्य था। कतिपय भारतीय विद्वानोंने भी उनके इस श्रीगणेशका अनुकरण करते हुए यह धारणा बना ली कि जो श्लोक कुछ प्राचीन प्रतियोंमें उपलब्ध न हों

उन्हें प्रक्षिप्त ही माना जाय। इस प्रकार महाभारत, वाल्मीकि-रामायण, श्रीमद्-भागवत आदि अष्टादश पुराण तथा अन्य ग्रन्थोंके जो श्लोक कुछ प्रतियोंमें अनुपलब्ध हों वे प्रक्षिप्त या अमान्य हैं, यह विचारहीन धारणा पाश्चात्त्य विद्वानों-का अन्धानुकरण-मात्र है। अतः भारतीय विद्वानोंको चाहिए कि वे विदेशी राजनीतिक-कुचक्रियों द्वारा प्रादुर्भावित इस प्रक्षिप्तता-राक्षसीके आक्रमणसे प्राचीन भारतीय वाङ्मयको बचाए रखनेके लिये सचेष्ट रहें।

सम्बोधनका सम्-बोधन

किसीका चित्त अपनी ओर आवर्जित करने तथा उससे अपना अभीष्ट साधनेके लिए सम्बोधन-विशेषका प्रयोग वाङ्मय-विशारदोंकी तन्त्र-गुटिका हुआ करता है। कोई कितना भी आवेशमें आकर कुछ कह जाय, उसके लिए बड़ा होनेपर 'बाबूजी' आदि, समान स्तरका होनेपर 'भैया' आदि और छोटा होनेपर 'वत्स' आदि संबोधनोंका प्रयोग करें तो उसका सारा आवेश विलीन हो जाता है, यदि वह सहृदय हो। गीतामें भी इसी भावनासे व्यक्ति-विशेषके लिए, प्रसंगविशेषमें विभिन्न संबोधन प्रयुक्त हैं। पूरे ग्रन्थमें कुल ७३ संबोधन पद हैं जिनमें ४० भगवान् श्रीकृष्णके लिए, २२ अर्जुनके लिए, ८ धृतराष्ट्रके लिए, २ द्रोणाचार्यके लिए तो १ सञ्जयके लिए हैं। यहाँ सबके स्पष्टीकरणार्थ अवकाश नहीं। अतः केवल भगवान्के लिए प्रयुक्त ८ संबोधन तथा अर्जुनके १ सम्बोधनपर प्रकाश डाला जा रहा है, जो अस्पष्ट होनेके साथ अपने गर्भमें अनेक गूढ़भाव सँजोये हुए हैं। ये संबोधन निम्नलिखित हैं: भगवान्के लिए १. कृष्ण, २. केशव, ३. गोविन्द, ४. मधुसूदन, ५. जनार्दन, ६. माधव, ७. कमलपत्राक्ष, ८. हृषीकेश तथा ९. अर्जुनके लिए गुडाकेश।

१. कृष्ण : भगवान् कृष्णके लिए यह सम्बोधन १-२८, ३२, ४१; ५-१; ६-३४, ३७, ३९; ११-४१ और १७-१ में कुल ९ बार आया है। वैसे यह शब्द प्रथमा विभक्तिमें (कृष्णः) ८-२५ तथा १८-७८ में; द्वितीया विभक्तिमें ११-२५ में और पञ्चमी विभक्तिमें १८-७५ में आता है। अब इसके अर्थपर ध्यान दें।

(क) 'कृष्ण' शब्दके अर्थके सम्बन्धमें महाभारतकार लिखते हैं:

कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः।
कृष्णस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः॥[1]

(म० भा० उद्यो० ६८-५ सं० पू० सं०)

किन्हींके मतमें श्लोकका उत्तरार्ध इस प्रकार है:

तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।

तात्पर्य यह कि 'कृष्ण' शब्दगत कृषि सत्तार्थक है और 'ण' (न) का अर्थ है निर्वृति, आनन्द। अर्थात् कृष्ण शब्दका अर्थ हुआ सच्चिदानन्द ब्रह्म, किंवा कृषि—भूमि, उसपर वास करनेवालेको आनन्द देनेवाला।

---

१. कृषिर्भूवाचकः शब्दः। कृषिरिति कृञ्ज भूमिः। नश्च निर्वृतिवाचकः। निर्वृतिः आनन्दः, सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्म इति यावत्।

(ख) 'कर्षति अरीन् महाप्रभावशक्त्या इति कृष्णः' ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर 'कृष्ण' का अर्थ होगा—जो अपने महाप्रभावशाली शत्रुको अपने वशमें कर लेता है। युद्ध-रत अर्जुनको अपने शत्रुओंपर विजय पानेके लिए इस गुणवाले कृष्णकी आवश्यकता सुस्पष्ट है।

(ग) 'कर्षति आत्मसात् करोति, आनन्दत्वेन परिणमयति मनो भक्तानामिति कृष्णः।' अर्थात् अपने आश्रित भक्तोंके मन जो आत्मसात् कर लेता है, अपने रंगमें, आनन्दरूपमें रँग देता है, वह कृष्ण है।

(घ) 'कर्षति सर्वान् स्वकुक्षौ प्रलयकाले इति कृष्णः।' जो प्रलयके समय सभी प्राणियोंको अपने उदरमें समा लेता है।

(ङ) 'कर्षति भक्तानां सर्वपापानि इति कृष्णः।' जो भक्तोंके सभी पापोंको खींच लेता है, नष्ट कर देता है, वह कृष्ण है।

२. **केशव :** कृष्णके लिए यह सम्बोधन १-३१; २-५४; ३-१; १०-१४ में, कुल ४ बार आया है। षष्ठी विभक्तिके (केशवस्य) रूपमें भी यह शब्द ११-३५ में पठित है।

(क) महाभारत 'केशव' का अर्थ बताता है :

सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत ।
अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः ।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ॥
(म० भा० शा० २८-४३, सं० पू० सं०)

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि लोगोंको तपानेवाले सूर्य और जलानेवाले अग्निकी उष्ण किरणें तथा चन्द्रकी शीतल किरणें, जो सर्वत्र विद्योतित होती हैं, मेरे केश हैं। इसलिए सर्वशास्त्रोंके रहस्यज्ञ मुझे केशव कहते हैं। उनके केश सूर्य, अग्नि, चन्द्रकी किरणोंके समान चमकीले होते हैं, ऐसा वर्णन आता है।[1]

---

१. निघण्टु (५-६-१४, १५) में केशव-समानार्थक 'केशी' और 'केशिनः' ये दो नाम मिलते हैं। निरुक्त (१२-२५) इसका निर्वचन इस प्रकार करता है : 'केशी—केशी केशा रश्मयः। तैस्तद्वान् भवति। काशनाद्वा (प्रकाशनाद्वा)। तस्यैषा भवति।' इसका उदाहरण-मन्त्र इस प्रकार है :

केश्यग्नि केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥
(ऋ० १०-१३६-१, नि० १२-२६)

'त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते।'
(ऋ० १-१६४-४४, निरुक्त १२-२७)

(ख) सूर्य, अग्नि और चन्द्रकी किरणें ही केश हैं जो स्वयं प्रकाशमान एवं दूसरोंकी प्रकाशक हैं। भगवान् इनसे युक्त हैं।

(ग) 'केशव' का एक और सुन्दर अर्थ देखें: 'कश्च अश्च ईशश्चेति केशाः, ते एव वपूंषि यस्य सः केशवः, पृषोदरादित्वात् साधुः।' अर्थात् 'क' ब्रह्मदेवका नाम है, 'अ' हैं विष्णु और 'ईश' हैं शंकर। ये तीनों जिनका शरीर अर्थात् स्वरूप है। तात्पर्य, 'केशव' का अर्थ हुआ—ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मक भगवान् कृष्ण।

(घ) 'केशव' का एक और अर्थ: 'कश्च ईशश्च तौ वाति=नियन्तृत्वेन प्राप्नोतीति केशवः=ब्रह्मणः शङ्करस्य च नियन्ता।' अर्थात् क=ब्रह्मदेव और ईश=शंकरके नियन्ता भगवान् विष्णु ही केशव हैं।

३. गोविन्द : भगवान् कृष्णके लिए अर्जुनने यह सम्बोधन गीतामें केवल एक बार १-३२ में साभिप्राय प्रयुक्त किया है: 'किं नो राज्येन गोविन्द···।'

(क) इस 'गोविन्द' शब्दका अर्थ इस प्रकार बताया है:

युगे युगे प्रणष्टां गां विष्णो विन्दसि तत्त्वतः।
गोविन्देति ततो नाम्ना प्रोच्यसे ऋषिभिस्तथा॥

अर्थात् प्रत्येक युगमें जब गौ, पृथिवीको असुरोंद्वारा नष्ट-भ्रष्ट करनेका उपक्रम होता है और वह दैत्योंके भारसे अभिभूत हो जाती है तो आप अवतार लेकर उसकी रक्षा किया करते हैं। अतएव ऋषिगण आपको 'गोविन्द' कहते हैं। असुरोंके आतंकसे भूमिके आतंकित, भाराक्रान्त होनेपर भगवदवतारद्वारा उसकी रक्षाके पुराणोंमें सहस्रशः निदर्शन पाये जाते हैं।

(ख) 'गोभिः वाणीभिः वेद-वेदान्तवाक्यैः वेद्यतेऽसौ पुरुषः, गोर्भिविन्दन्ति यं पुरुषं तत्त्वज्ञा इति वा गोविन्दः।' अर्थात् वेद-वेदान्तमयी वाणियोंसे जो जाना जाता है किंवा तत्त्वज्ञ विद्वान् वेदान्त-वाक्योंसे जिसे जानते हैं वही ब्रह्मस्वरूप गोविन्द है।

(ग) 'गोपालपूर्वतापिनी' उपनिषद्‌में कहा है: 'गोभूमिवेदविदितो वेदिता गोपीजनाविद्याकलाप्रेरकः' अर्थात् जो गाय, भूमि और वेदवाणीद्वारा जाना जाय तथा जो गोपीजनोंके प्रति अपनी मायाकलाकी प्रेरणा करे वह गोविन्द है।

(घ) 'गां वेदशास्त्रमयीं वाणीं भुवं धेनुं स्वर्गं वा विन्दति पालयतीति गोविन्दः।' अर्थात् वेद-शास्त्रमयी वाणी, पृथिवी, धेनु और स्वर्गके पालक गोविन्द हैं।

(ङ) 'गवाम्=गोसमूहानां विन्दः=पालकः।' गो-वृन्दोंका पालन करनेवाला गोविन्द है।[१] गोकुलमें भगवान् गोचारण, गोपालन करते ही थे।

(च) 'गावः मनःप्रधानानि इन्द्रियाणि। तेषां विन्दः प्रेरकः।' अर्थात् 'गो' का अर्थ है मनसहित सभी इन्द्रियाँ, उनके प्रेरक अन्तर्यामी 'गोविन्द' कहे जाते हैं।

'गोविन्द' के उपर्युक्त अर्थोंके प्रकाशमें अर्जुनद्वारा इस प्रसंगमें इस संबोधनके प्रयोगका एक भाव यह हो सकता है कि आप शास्त्रवाणीके पालक, पति हैं। ऐसी स्थितिमें इन अपने गुरुजनोंको मारूँगा तो 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' आदि आपके वचनोंका ही उल्लंघन होगा। दूसरा भाव, आप मत्स्यादि अनेक अवतार धारण कर पृथिवीकी रक्षा करते हैं तो हमारे कुटुम्बियोंकी भी रक्षा कीजिए, उन्हें युद्धसे बचाइए। तीसरा भाव, आप गोविन्द=गोपति=पृथिवीपति या जगत्पालक हैं तो हम पाण्डवोंके भी पालक बनें। चौथा भाव, असुरोंसे निरपराध गायों और गोपालबालोंको बचानेवाले आप निरपराध गोकल्पा द्रौपदीको और हम लोगोंको इन असुरकल्प कौरवोंसे बचाइए।

४. **मधुसूदन :** श्रीकृष्णके लिए यह मधुसूदन शब्द गीतामें निम्नलिखित स्थानोंमें ४ बार आया है : १-३५, २-४, ६-३३ और ८-२। प्रथमा विभक्तिमें मधुसूदनः शब्द द्वितीयाध्यायके प्रथम श्लोकमें भी पठित है।

(क) 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड (१११-३०, ३१) में बताया गया है :

मधु क्लीबे च माध्वीके कृतकर्मशुभाशुभे।
भक्तानां कर्मणां चैव सूदनान्मधुसूदनः॥
परिणामाशुभं कर्म भ्रान्तानां मधुरं मधु।
करोति सूदनं यो हि स एव मधुसूदनः॥

अर्थात् 'मधु' शब्द नपुंसकलिङ्ग होकर मद्य अर्थमें प्रयुक्त होता है। अतएव मायाके मदसे मत्त हो किये जानेवाले शुभाशुभ कर्मोंको भी लक्षणया 'मधु' कहा जा सकता है। भक्तोंके मायामदकृत इन शुभाशुभ कर्मोंका जो सूदन या नाश कर देता है अर्थात् उन कर्मोंको नष्ट कर उन्हें अपनी भक्ति देता है वह मधुसूदन है।

दूसरे श्लोकका भाव है कि परिणाममें अशुभ-फलप्रद तामस कर्म मायाभ्रान्त जीवोंको मधुर ही लगते हैं। किन्तु भगवान् दया कर उनके उन कर्मोंको, कर्म-

---

१. गोविन्दो वेदनाद् गवाम्। (म० भा० उद्यो० ६८-१३ सं० पू० सं०)

फलोंको नष्ट कर देते हैं, इसलिए उन्हें मधुसूदन कहा है। महाभारतमें कहा है: 'सर्वतत्त्वलयाच्चैव मधुहा मधुसूदनः।' (उद्यो० ६८-४ सं० पू० सं०)

(ख) मधु=आपातमधुर सांसारिक पदार्थोंका, सूदन=लय करनेवाला अर्थात् अपने भक्तोंका मन ऐसे पदार्थोंसे हटाकर अपनेमें लगानेवाला मधुसूदन है।

(ग) 'मधु' नामक दैत्यका वध कर वेदोंकी रक्षा, उद्धार करनेवाला मधुसूदन है। यह बात पुराणप्रसिद्ध है।

५. **जनार्दन:** भगवान् कृष्णके लिए प्रयुक्त किया जानेवाला यह सम्बोधन गीतामें ६ स्थानोंपर उल्लिखित है: १-३६, ३९, ४४; ३-१; १०-१८ और ११-५१। इसके अर्थ निम्नलिखित हैं:

(क) 'जनान् समुद्रनिवासिनो जननामकान् असुरान् अर्दयतीति ('अर्द हिंसायाम्' १८२९ चु० उ०) जनार्दनः।' अर्थात् समुद्रके भीतर निवास करनेवाले जननामक असुरोंके हन्ता जनार्दन हैं।

(ख) 'जनैः अर्द्यते=याच्यते ('अर्द गतौ याचने च' भ्वा० प० ५५) पुरुषार्थमसौ जनार्दनः।' अर्थात् सृष्टिके प्राणिमात्र जिससे चतुर्विध पुरुषार्थोंकी याचना करते हैं वह जनार्दन है।

(ग) 'जनम्=जन्म अर्दयति=हन्ति, भक्तेभ्यो मुक्तिं ददातीति जनार्दनः।' जन यानी जन्मको नष्ट करनेवाला, अर्थात् भक्तोंके जन्म-मरण-का चक्र मिटाकर उन्हें मुक्ति देनेवाला जनार्दन है।

(घ) 'जनयति=उत्पादयति लोकान् ब्रह्मरूपेण, सृष्टिकर्तृत्वात्, अर्दयति=हन्ति लोकान् हररूपेण, संहारकारित्वादिति जनार्दनः। जनश्चासौ अर्दनश्चेति जनार्दनः।' अर्थात् ब्रह्माके रूपमें सृष्टि उत्पन्न करनेवाले और शङ्कररूपमें उस सृष्टिका संहार करनेवाले जनार्दन ब्रह्म-शिवरूप श्री महाविष्णु हैं।

(ङ) 'जनान् लोकान् अर्दति=प्राप्नोति रक्षणार्थमिति जनार्दनः'; 'पालकत्वाज्जनार्दनः इति अमरटीकायां भरतः।' अर्थात् जो लोगोंके निकट रक्षणार्थ पहुँचता है, स्वयं आकर लोगोंका पालन करता है वह जनार्दन है। अमरकोषकी व्याख्यामें भरतका वचन है कि जनोंका पालक होनेसे भगवान् 'जनार्दन' कहलाते हैं।

(च) 'जनान्=दुर्जनान् अर्दति=हिनस्तीति जनार्दनः।' जो दुर्जनोंका, दुष्टोंका नाश करते हैं वे 'जनार्दन' कहे जाते हैं। महाभारत, उद्योगपर्व (६८-६ सं० पू० सं०) में लिखा है—'दस्युत्रासाज्जनार्दनः'।

६. **माधव** : श्रीकृष्णके लिए माधव सम्बोधन गीतामें मात्र एकबार, प्रथम अध्यायके ३७वें श्लोकमें आया है। प्रथमा विभक्तिके रूपमें (माधवः) यह शब्द १-१४ में भी पठित है।

(क) मनन, ध्यान या योगप्रभावसे[1] मा=जीवकी उपाधि अविद्याको धव=धो डालनेवाले भगवान् 'माधव' हैं।

(ख) मायाः=मायाशक्तिके धवः=नियन्त्रक प्रभु माधव मायापति हैं। उनकी शरण जानेपर मायाका बन्धन सहजतः छूट सकता है।

(ग) मायाः=महालक्ष्मी, सर्वाद्या शक्तिके धवः=पति; स्वामी परम शक्तिमान् परमात्मा माधव हैं।

७. **कमलपत्त्राक्ष** : भगवान् कृष्णके लिए कमलपत्त्राक्ष सम्बोधन अर्जुनने केवल एकबार ११वें अध्यायके दूसरे श्लोकमें विश्वरूपदर्शनकी लालसा रखकर प्रयुक्त किया है। इसका अर्थ भी अपनेमें गहन भाव भरे हुए है।

(क) संक्षेपमें जैसे दिवसके आगमनपर कमलपत्र प्रस्फुटित होते और रात्रिके आगमनपर सम्पुटित हो जाते हैं वैसे ही भगवान्‌के नेत्र हैं। उनके प्रस्फुटित होते ही सृष्टिरूप दिवसका आगमन और सम्पुटित होनेपर प्रलयरात्रिका प्रसार हो जाता है। भगवान्‌के नेत्र इतने प्रभावकारी हैं। भगवान्‌के सभी अंग परमसुन्दर हैं, पर अर्जुन यहाँ नेत्रकी ही सुन्दरताको उनके संबोधनका विषय बनाता है। शरीरके सभी अंगोंमें मात्र नेत्रोंसे ही प्राणीकी हृदयगतिका बोध होता है। नेत्र पथरा जानेपर सारा काम ही समाप्त माना जाता है। अतएव नेत्रोंका सभी अंगोंमें महत्त्व सुस्पष्ट है। नेत्रोंसे विश्वरूपदर्शनकी कामनावाले अर्जुनका प्रभुको नेत्रसौन्दर्य-समन्वित 'कमलपत्त्राक्ष' सम्बोधनसे सम्बुद्ध करना उचित ही है।

(ख) 'कम्=आत्मानम्, अव्ययपदमिदम्, अलति = भूषयति इति कमलम् आत्मभूषणभूतम् आत्मज्ञानं तत्त्वज्ञानं वा। तस्य पत्त्रम्, पात्यते= स्थानात् स्थानान्तरं प्राप्यतेऽनेनेति पत्त्रम्। कमलपत्त्रे एव अक्षिणी यस्य सः कमलपत्त्राक्षः, तत्सम्बुद्धौ कमलपत्त्राक्ष।' अर्थात् कम्=सुखस्वरूप, आत्मवाचक अव्यय है। उस आत्माको भूषित करनेवाला आत्मज्ञान है। उस आत्मज्ञानका पत्त्र=सन्देशवाहक पत्त्र कमलपत्त्र हुआ। यह कमलपत्त्र=आत्मज्ञान-सन्देशवाहक पत्त्र ही जिनके दो नेत्र हैं वे 'कमलपत्त्राक्ष' कहलाते हैं। इस

---

१. मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्।
(म०भा० उद्यो० ६८-४ सं० पू० सं०)

व्युत्पत्तिसे स्पष्ट है कि प्रभुके दोनों नेत्र आत्माको भूषित करनेवाले आत्मज्ञानके सन्देशवाहक हैं।

८. **हृषीकेश :** भगवान्‌के लिए गीतामें 'हृषीकेश' सम्बोधन ११वें अध्याय-के ३६वें श्लोकमें विश्वरूप-दर्शनके प्रसंगमें तथा अन्तिम उपसंहारके १८वें अ० के प्रथम श्लोकमें दो बार आया है। वैसे यह शब्द प्रथमा विभक्तिमें (हृषी-केशः) १-१५, २४ में तथा द्वितीया विभक्तिमें (हृषीकेशम्) १-२१ में आया है। इसके अर्थ इस प्रकार हैं :

(क) भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं कि हृषीक=इन्द्रियोंके स्वामी, प्रेरक अन्तर्यामी हृषीकेश हैं : 'हृषीकाणामिन्द्रियाणाम् ईश इति हृषीकेशः।'

(ख) 'वाचस्पत्य' अभिधानका अभिमत है कि भगवान् सभी इन्द्रियोंके प्रवर्तक होनेसे उनके (हृषीकोंके) ईश हैं : 'सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वाद् ईशत्वम्।'

(ग) श्री मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं कि सर्वेन्द्रियोंके प्रवर्तक होनेसे जो अन्तर्यामी हैं, वे 'हृषीकेश' कहलाते हैं : 'सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वेन अन्तर्यामिनम्।'

(घ) 'हृष्टाः जगत्प्रीतिकराः केशाः अस्येति हृषीकेशः, पृषोदरादित्वात् साधुः।' अर्थात् जगत्‌को आनन्द देनेवाले, आकृष्ट करनेवाले जिनके हिरण्मय, सुनहले-सुहावने बाल हैं वे हृषीकेश हैं, ऐसा पौराणिकोंका अभिमत है।

(ङ) 'हर्षयन्तीति हृषयः, हृष् तुष्टौ (१२३०) दि० प० अन्तर्भावि-तण्यर्थः। ततः बाहुलकाद् इनि कित्त्वम्। ते च केशाः सूर्याग्नि-चन्द्रमसां रश्मयः। ते एव केशाः यस्य स हृषीकेशः।' अर्थात् जो हर्षित करते हैं, वे केश—सूर्य, अग्नि एवं चन्द्रकी रश्मियाँ जिसके केश हैं वह हृषीकेश है।

(च) महाभारतकार कहते हैं :

हर्षात् सौख्यात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते ।

(उद्योगपर्व)

अर्थात् भगवान्‌की केशस्वरूप ये अग्नि-सूर्य-चन्द्रात्मक रश्मियाँ मानवको हर्षित करती, सौख्य देती तथा सुख-ऐश्वर्य प्रदान करती हैं अतएव भगवान् हृषीकेश कहे जाते हैं।

इस प्रकार भगवान् कृष्णके ८ सम्बोधनोंके रहस्यमय अर्थोंके विवेचनके पश्चात् अब गीतागानके प्रमुख श्रोता धनुर्धर अर्जुनके एक सम्बोधन 'गुडाकेश' का भी अर्थ समझ लें, जो अपनेमें अनेक भाव रखता है।

९. **गुडाकेश :** धनुर्धर अर्जुनके लिए प्रयुक्त 'गुडाकेश' संबोधन गीतामें दो बार आया है : एक १०वें अध्यायके २०वें श्लोकमें और दूसरा ११वें अध्याय-के ७वें श्लोकमें। वैसे यह शब्द प्रथमा विभक्तिमें (गुडाकेशः) २-९ में तथा

तृतीया विभक्तिमें (गुडाकेशेन) १-२४ में पठित है। इसके अर्थ एवं भाव निम्नलिखित हैं :

(क) गुडाका=निद्राका ईश=नियन्ता, अर्थात् निद्राको अपने वशमें कर दिन-रात कर्मरत रहनेवाला गुडाकेश अर्जुन है।

(ख) 'गुडो गोलेक्षुपाकयो:'—'गुड' शब्दके दो अर्थ हैं: १. गोलाकार और २. इक्षुदण्ड (ईख) के रससे निर्मित गुड़। तदनुसार 'गुडम् अकति= व्याप्नोतीति गुडाक:' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह अर्थ होता है कि गोलाकार ब्रह्माण्डको अन्तर्बाह्य व्याप लेनेवाले 'गुडाक' भगवान् वासुदेव हैं ईश, स्वामी, पालक जिसके, वह 'गुडाकेश' अर्जुन है।

(ग) 'गुडवत् मधुररसान् भक्तान् अकति=व्याप्नोतीति गुडाक:। गुडाक: ईशो यस्य स: गुडाकेश:, तत्सम्बुद्धौ।' गुड़ जैसे मधुररससे, मधुर-भावसे सने भक्तोंको जो व्याप लेते हैं, वे 'गुडाक' भगवान् वासुदेव जिनके ईश यानी स्वामी हैं वह गुडाकेश है।

(घ) 'गुडावत् केशा यस्य स: गुडाकेश:। अङ्गुष्ठतर्जनीयोगे गुडा-नाम्नी तु मुद्रिका—इति वचनात् वर्तुलाकाराग्रकेश: परमसुन्दर इति भाव:।' अर्थात् गुडा जैसे जिसके केश हैं वह 'गुडाकेश' कहलाता है। 'गुडा' एक मुद्रा है जो अँगूठा और तर्जनीको मिलानेपर बनती है। अर्थात् गोल-घुँघराले बालों-वाला 'गुडाकेश' कहलाता है।

इस प्रकार अर्जुनके एक सम्बोधनके विवेचनके साथ यह 'सम्बोधनका सम्-बोधन' यहीं पूरा किया जा रहा है।

[लेखकसे वेदसंवादी व्याख्यान प्राप्त न होनेके कारण ग्रन्थकी पूर्णताकी दृष्टिसे प्रथम अध्याय सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है ।]

॥ श्रीः ॥

सर्वोपनिषदो गावः दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

भगवद्गीता

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

श्री वैशम्पायनने महाभारत (भीष्मपर्व, अ० २५) के कथा-प्रसंगमें जनमेजयसे कहा कि हे जनमेजय ! इसके अनन्तर धृतराष्ट्रने विस्तारपूर्वक युद्धवृत्त जाननेके लिये संजयसे पूछा : (सञ्जय !) हे संजय ! (युयुत्सवः) युद्धकी इच्छासे, (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे) धर्मकी उत्पत्ति तथा वृद्धिके हेतुभूत भूभाग कुरुक्षेत्रमें, (समवेताः) इकट्ठे हुए, (मामकाः) मेरे पुत्र दुर्योधन आदि, (पाण्डवाः एव च) तथा पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर आदिने निश्चित रूपसे, (किम् अकुर्वत) क्या किया अर्थात् दोनों पक्षोंमें कैसा युद्ध हुआ, इसका विशद वर्णन करें ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र : इस शब्दका अर्थ है दूसरोंके राज्यका अपहरण करनेवाला । ऐसे अन्यायी व्यक्तिकी बाह्य अन्धता तो क्या, आभ्यन्तरिक अन्धता यानी मोह-मदान्धता भी स्वाभाविक ही है। धृतराष्ट्र अपने नाम तथा चरित्रसे पूर्णतः साम्राज्यवादियोंका प्रतिनिधित्व करता है तथा पाण्डव तो हृतराष्ट्र हैं ही। इस प्रकार महाभारतयुद्धद्वारा साम्राज्यवादी तथा स्वराज्यवादियों-का पारस्परिक संघर्ष व्यञ्जित होता है।

धर्म : शब्द भ्वादिगणीय 'धृञ् धारणे' धातुसे 'मन्' प्रत्यय होनेपर निर्मित हुआ है। इसका अर्थ है 'धरति लोकान् ध्रियते वा जनैरिति' अर्थात् जो सम्पूर्ण लोकोंको धारण करे अथवा मनुष्योंद्वारा धारण किया जाय वह धर्म है।

धर्म है क्या ? अमरकोषकारने संक्षेपमें बतलाया : 'धर्मस्तु तद्विधिः'। टीकाकारने स्पष्ट किया : 'तेन वेदेन विधीयते। एतेन वेदविहितत्वं धर्मत्वम्। वेदश्च धर्मे प्रमाणम्।' अर्थात् वेदविहित कर्म ही धर्म शब्दका अर्थ है। मेदिनीकोषकारने धर्म शब्दका प्रयोग पवित्र आचरण, स्वभाव, उपमा, यज्ञ आदि अर्थोंमें माना है : 'धर्मोऽस्त्री पुण्य आचारे स्वभावोपमयोः

क्रतौ ।' इस आधारपर विचार किया जाय तो कह सकते हैं कि सृष्टि अथवा प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि जिन नियमोंपर आधृत है अथवा प्राणी अपने सुख या अपनी उन्नतिके लिये जिन नियमोंको धारण करता है वे नियम धर्म कहे जाते हैं।

व्यवहारमें धर्मशब्दका प्रयोग 'पारलौकिक सुखप्राप्तिके मार्ग' अर्थमें होता है। कोई किसीसे पूछता है: 'आपका धर्म क्या है?' तो दूसरा व्यक्ति उत्तरमें वैदिक धर्म या जैन धर्म आदिका उल्लेख करता है। 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' आदि पूर्वमीमांसासूत्रोंमें धर्मजिज्ञासासे उस मार्गकी जिज्ञासा विवक्षित है जिसपर चलनेसे स्वर्गकी प्राप्ति हो। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रकी ब्रह्मजिज्ञासा, ब्रह्मसाक्षात्कारका मार्ग, जिसपर कैवल्यमुक्ति निर्भर है, धर्म ही है।

लौकिक प्रयोजनोंमें देश, जाति, कुल आदिके नियम बतलानेके लिये भी इन शब्दोंके साथ धर्म शब्दका प्रयोग होता है, जैसे देशधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, मित्रधर्म आदि।

दोनों प्रकारके प्रयोगोंमें भेदके लिये अब पारलौकिकताके प्रकरणमें मोक्षधर्म या केवल मोक्ष शब्दका तथा लौकिकताके प्रकरणमें केवल 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया जाता है। स्मृतिग्रन्थोंमें ब्राह्मणादि वर्णोंके कर्मोंका वर्णन केवल धर्म कहकर किया गया है। जैसे ब्राह्मणधर्म, क्षात्रधर्म आदि। गीताके 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (२-३१), 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३-३५) आदि वाक्योंमें भी ऐसा ही प्रयोग है।

पाषाणयुग तथा उससे पश्चात्के अनियन्त्रित आचारोंमें नियन्त्रणकी भावनासे उत्तरोत्तर परिष्कार और परिवर्तनपूर्वक जो नियम बनते गए उन्हें भी धर्म कहा गया। परन्तु देश, काल और व्यक्तिके अन्तरके कारण इनमें स्वभावतः ही एकरूपता न आ सकी। फलतः धर्म क्या है, यह प्रश्न विवादग्रस्त ही रह गया।

स्वभाव या गुण बतानेके लिये भी धर्म शब्दका व्यवहार होता है। जैसे अग्निका धर्म है जलाना, आत्माका धर्म है अकर्तृत्व, मनका धर्म है संकल्प-विकल्प, बुद्धिका धर्म है सदसद्विवेचन आदि। यहाँ भी एकका धर्म दूसरेसे स्पष्टतः भिन्न ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मकी चाहे जितनी परिभाषाएँ बनाई जायँ, चाहे जितने लक्षण किए जायँ, धर्मके विषयमें सन्देहका निराकरण

सरल नहीं है। कुछ लाघव अवश्य हो जाता है जब हम यह मान लेते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार जिन नियमोंको अपनानेसे, जिस मार्गपर चलनेसे हो वह धर्म माना जाय। किन्तु ऐसे नियम अथवा ऐसा मार्ग कौन-सा है यह जाननेके लिये हमें कोषकारद्वारा प्रतिपादित धर्म-लक्षणका ही आश्रय लेना पड़ता है : 'वेदविहितत्वं धर्मत्वम्'—वेदका विधान ही धर्म है। ऐसा मान लेने मात्रसे अनायास ही राष्ट्रकी एकता, विश्वबन्धुता आदि महान् उद्देश्योंकी सिद्धि सुलभ हो जाती है, क्योंकि इसमें मतभेदकी सम्भावना कम है। वेद-प्रतिपादित सत्य, अहिंसा, शौच, स्वाध्याय, भूतदया आदि कार्योंका भला विश्वमें कौन विरोध चाहेगा !

अतः वेदोंका अध्ययन-अध्यापन एवं तद्विहित कर्तव्योंका पालन ही वस्तुतः धर्म है जो कुरुक्षेत्रमें सदा सम्पादित होता था, इसीलिये उसके साथ 'धर्मक्षेत्रे' विशेषण दिया गया।

किम् : किन्हीं विद्वानोंका मत है कि 'किमकुर्वत' में 'किम्' शब्दका अर्थ निन्दा अथवा प्रश्न है। मेदिनीकोषकारने इन अर्थोंमें भी किम् शब्दका प्रयोग माना है : 'किं कुत्सायां वितर्के च निषेधप्रश्नयोरपि'। किम् शब्दका निन्दा अर्थ मानकर वे धृतराष्ट्रके कथनका यह भाव मानते हैं कि मेरे पुत्र तो अधार्मिक हैं ही अतः उन्होंने अधर्म-प्रवृत्तिके अनुसार युद्धरूप अधर्म-कार्य निन्दित ही किया, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णके शरणागत अथच उनके साक्ष्य-में ही परमधार्मिक पाण्डवोंने भीष्मवधरूप अधर्मकार्य कर डाला, यह बड़ी निन्दाकी बात है।

किम् शब्दका प्रश्न अर्थ मानकर वे धृतराष्ट्रका यह प्रश्न व्यक्त करते हैं कि श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें पाण्डवोंने अधर्मयुद्ध कैसे किया ? यदि धर्मयुद्ध किया तो भीष्मका वध कैसे सम्भव हुआ ? तब कौरवों अथवा पाण्डवोंने अधर्म-युद्ध किया या धर्मयुद्ध ? अथवा इतने वीर पुरुषोंके रहते उन सबकी उपेक्षावश भीष्म मारे गए या उनके सुरक्षात्मक प्रयत्न करनेपर भी मार डाले गए ?

आचार्यश्रीरामानुज-विरचित गीताभाष्यके टीकाकार वेदान्तदेशिका-चार्यने कुत्साके अतिरिक्त आश्चर्य अर्थ भी प्रतिपादित किया है। किम् शब्दसे कुत्साका भाव वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

धर्मक्षेत्रके धर्म हैं साक्षात् धर्मावतार युधिष्ठिर और उनसे उपलक्षित पाण्डव भी। 'मम प्राणा हि पाण्डवाः' इस भगवद्वाक्यसे धर्मभूत पाण्डव

जब श्रीकृष्णके प्राण हुए तो उन प्राणभूत धर्म या पाण्डवोंका शरीर या क्षेत्र श्रीकृष्ण ही हुए। कुरुक्षेत्र भी वे ही हैं, क्योंकि देवयजनत्व कुरुक्षेत्रकी विशेषता है और यज्ञ विष्णु ही हैं। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र श्रीकृष्णके प्राण पाण्डव अपने शरीर यानी श्रीकृष्णको छोड़कर युद्ध कर नहीं सकते अतः मेरे पुत्रोंकी पाण्डवोंके साथ युयुत्साका अर्थ है श्रीकृष्णके साथ युयुत्सा। युयुत्सु होकर श्रीकृष्णमें समवेत होनेका अर्थ है उन्हींमें लीन हो जाना। आगे यह बात स्पष्ट भी है: 'अमी हि त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः', 'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः'। इस प्रकार अपने सर्वनाशके लिये श्रीकृष्णस्वरूप धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्रमें समवेत होकर मेरे पुत्रोंने मूर्खतापूर्ण ही कार्य किया!

किम् शब्दका आश्चर्य अर्थ मानकर उन्होंने यह भाव व्यक्त किया है कि श्रीकृष्णकी शरणमें अर्जुन गया तो इस मोहसे ग्रस्त होकर कि हिरण्य-गर्भ-पर्यन्त सभी सुख जब तुच्छ हैं तो मात्र सार्वभौम बननेके लिये स्वजन-वध-रूप पाप क्यों किया जाय! किन्तु भगवत्प्रोक्त गीतोपदेश सुनकर न केवल युद्धमोहसे अपितु सांसारिक मोहसे भी मुक्त होकर तत्त्वज्ञानको प्राप्त हो गया। यह काचके प्रयत्नमें मणिके लाभके समान अत्यन्त आश्चर्यकी बात हुई।

संजय : संजय शब्दका अर्थ है: राग-द्वेष आदिपर भलीभाँति विजय पानेवाला। संजय धृतराष्ट्रके सारथि तथा बड़े ही सदाशय व्यक्ति थे। धृतराष्ट्रको महाभारत-युद्धकी सभी घटनाओंसे अवगत करानेके उद्देश्यसे व्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी थी जिससे ये हस्तिनापुरमें रहते हुए भी कुरुक्षेत्रमें होनेवाले युद्धको प्रत्यक्षवत् देखते थे और धृतराष्ट्र-को युद्ध-वृत्तान्तसे अवगत कराते रहते थे। श्री व्यासजीकी कृपासे इन्हें यह भी शक्ति प्राप्त थी कि ये कभी-कभी उत्सुकतावश युद्धभूमि कुरुक्षेत्र-में जाकर अदृश्य रूपसे सारी घटनाओंको देख सकते थे तथा अस्त्र-शस्त्रोंसे अप्रभावित रहते थे।

किमकुर्वत में कुछ टीकाकारोंने धृतराष्ट्रके जो अनेकविध प्रश्नाशय व्यक्त किए हैं, यथा: क्या धर्मक्षेत्रके प्रभावसे मेरे पुत्रोंने पाण्डवोंको उनका दाय-भाग दे दिया और युद्धरूप अकार्यसे विरत हो गए? या धर्मराज युधि-ष्ठिरने ही धर्मक्षेत्रके प्रभाववश युद्धकी अपेक्षा स्वत्वका त्याग कर देना उचित समझ लिया? आदि, यह सब संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि महाभारत-युद्ध प्रारम्भ होनेके अनन्तर दसवें दिन जब महारथी भीष्म पितामहका समरभूमिमें पतन हो गया, वे शरशय्यारूढ़ हो गए तो संजय से—

सञ्जयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ ।
हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥

(भीष्मपर्व १४-३, सं० पू० सं०)

यह समाचार पानेके पश्चात् उक्त प्रकारके भावोंके लिये स्थान ही नहीं रह जाता । अतः धृतराष्ट्रकी जिज्ञासाका भाव युद्धका विशद वर्णन सुनना मात्र है, अन्य कुछ नहीं ।

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय बोले : (तदा तु) तब पाण्डवोंके उत्कर्षसे व्याकुल हो, (राजा दुर्योधनः) राजा दुर्योधन[1], (पाण्डवानीकम्) पाण्डवोंकी सेनाको, (व्यूढम्) व्यूह-रचना की हुई, (दृष्ट्वा) देखकर, (आचार्यम् उपसङ्गम्य) अपनी सेनाके उत्तमतर व्यूहनके उद्देश्यसे धनुर्वेदके परम आचार्य गुरु द्रोणाचार्यके पास पहुँचकर, (वचनम् अब्रवीत्) आगे कहे जानेवाले वचन बोला ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

(आचार्य !) हे आचार्य ! (तव धीमता शिष्येण) आपके बुद्धिमान् शिष्य, (द्रुपदपुत्रेण व्यूढाम्) आपके पूर्ववैरी द्रुपदके पुत्र[2] धृष्टद्युम्नके द्वारा वज्रव्यूहमें स्थित की हुई, (पाण्डुपुत्राणाम्) पाण्डवोंकी,(एतां महतीं चमूम्) इस विशाल सेनाको, (पश्य) देखिए। भाव यह है कि आपके वैरीके पुत्रने आपसे ही विद्या ग्रहण कर ली और आपके ही विनाशके लिये आपसे उत्तम सेना-व्यूहन करके आपसे अधिक बुद्धिमत्ता दिखा रहा है। इस बातपर विचार करके आपको कोई उपाय सोचना चाहिए ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

---

१. दुर्योधन : अन्यायपूर्ण युद्ध करनेवाला ।

२. द्रुपदपुत्र : द्रोणाचार्यसे शत्रुता होनेके कारण उन्हें मारनेके लिये पुत्रकी कामनावश राजा द्रुपदने यज्ञ किया और धृष्टद्युम्नको पुत्ररूपमें प्राप्त किया ।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

(अत्र) पाण्डवोंकी इस सेनामें, (महेष्वासाः) बड़े-बड़े धनुर्धारी, (युधि) युद्धमें, (भीमार्जुनसमाः शूराः) भीम और अर्जुनके समान शूर-वीर, (युयुधानः) सात्यकि, (विराटः च) और विराट, (महारथः द्रुपदः च) और महारथी द्रुपद, (धृष्टकेतुः) धृष्टकेतु, (चेकितानः) चेकितान, (वीर्यवान् काशिराजः च) और पराक्रमी काशिराज, (कुन्तिभोजः पुरुजित् च) तथा कुन्तिदेशका पालन करनेवाले पुरुजित्, (नरपुङ्गवः शैब्यः च) और नरश्रेष्ठ शैब्य, (विक्रान्तः युधामन्युः च) और पराक्रमशाली युधामन्यु, (वीर्यवान् उत्तमौजाः च) और बलवान् उत्तमौजा, (सौभद्रः) सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु, (द्रौपदेयाः च) और द्रौपदीके पाँचों पुत्र —ये, (सर्वे एव महारथाः) सबके सब महारथी हैं ॥ ४–६ ॥

युयुधान : ये अर्जुनके शिष्य थे। इनका दूसरा नाम सात्यकि था (म० भा० उद्यो० ८१-५–८)। इनके पिता यदुवंशी राजा शिनि थे (म० भा० द्रो० १४४-१७–१९)। यादवोंके आपसी कलहमें सात्यकिकी मृत्यु हुई थी।

विराट : मरुद्गणोंके अंशसे उत्पन्न ये मत्स्य देशके प्रसिद्ध राजा थे (म० भा० वि० ३०-६, आदि० ६१-७६)। विराटनगरी इनकी राजधानी थी। गुप्तरूपसे वर्षभर पाण्डवोंने इन्हींके यहाँ निवास किया था। अभिमन्युकी पत्नी उत्तराके ये पिता थे। ये अपने तीनों पुत्रों-सहित महाभारत-युद्धमें मृत्युको प्राप्त हुए (म० भा० क० ४-६१ सं० पू० सं०)।

द्रुपद : ये भरद्वाज-मित्र पाञ्चाल-नरेश पृषत्के पुत्र थे तथा बचपनमें भरद्वाजके पुत्र द्रोणाचार्यके मित्र थे। द्रुपद जब वयस्क हो गए तो एक बार द्रोणाचार्यने इन्हें मित्र कह दिया जो इन्हें इतना बुरा लगा कि इन्होंने द्रोणाचार्यका अपमान भी कर दिया। द्रोणाचार्यने कौरव-पाण्डवोंको धनुर्विद्या सिखाकर गुरुदक्षिणामें अर्जुनसे इन्हें पराजित कराया और इन्होंने द्रोणाचार्यसे सन्धि कर ली किन्तु अन्तर्विरोधवश द्रोणाचार्यके विनाशके लिये इन्होंने यज्ञ किया। यज्ञवेदीसे धृष्टद्युम्न तथा कृष्णा या याज्ञसेनी अथवा द्रौपदीका प्राकटच हुआ। युद्धमें ये द्रोणाचार्यके ही हाथों निधनको प्राप्त हुए (म० भा० द्रो० १८६)।

धृष्टकेतु : ये चेदिनरेश शिशुपालके पुत्र थे। इनका अन्त द्रोणाचार्यके द्वारा हुआ (म० भा० द्रो० १२५)।

चेकितान : ये वृष्णिवंशमें उत्पन्न यादव थे (म० भा० भीष्म० ८४-२०)। ये बड़े वीर और महारथी योद्धा थे। ये पाण्डवोंकी एक अक्षौहिणी सेनाके सेनापति थे (म० भा० उद्यो० १५१)। इनका अन्त युद्धमें दुर्योधनके द्वारा हुआ था (म० भा० श० १२)।

काशिराज : ये काशीके राजा तथा महारथी वीर थे। इनका नाम सेनाबिन्दु, क्रोधहन्ता (म० भा० उद्यो० १७१), और अभिभू (म० भा० क० ६)था।

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च : इसका अर्थ कुछ विद्वानोंने पुरुजित् और कुन्तिभोज दो व्यक्ति माना है, कुछने कुन्तिभोज शब्दको पुरुजित्के विशेषण-रूपमें मान्यता दी है, अतः इस विषयपर कुछ विचार अपेक्षित है।

महाभारत हिन्दी अनुवाद (इण्डियन प्रेस) में लिखा है कि 'महाबली और पराक्रमी भीमसेनके मामा कुन्तिभोज, जिन्हें पुरुजित् भी कहते हैं, अतिरथी हैं।' यह म० भा० उद्यो० १७२-२ (सं० पू० सं०) के इस श्लोकका अनुवाद है :

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः॥

यह भीष्म पितामहकी उक्ति है जिसमें उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है।

तत्त्वविवेचनीकारने म० भा० क० ६-२२–२३ के आधारपर अपना यह मत व्यक्त किया है कि 'युधिष्ठिरादिके मामा कुन्तीके भाई पुरुजित् और कुन्तिभोज दो व्यक्ति हैं। ये द्रोणके हाथों मारे गए थे।' म० भा० क० ६-२२–२३ का वह श्लोक संशोधित पूना-संस्करणमें म० भा० क० ४-७३ में है जो इस प्रकार है :

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च मातुलः सव्यसाचिनः।
संग्रामनिर्जितान् लोकान् गमितो द्रोणसायकैः॥

यह वह प्रसंग है जब संजयसे पाण्डववीरोंद्वारा निहत कौरववीरोंकी नामावली सुननेके पश्चात् धृतराष्ट्र कौरववीरोंसे निहत पाण्डववीरोंकी नामावली सुनना चाहते हैं और संजय उन्हें सुना रहे हैं।

प्राचीन चरित्रकोष पृष्ठ ४३२ में पुरुजित् शब्दके विवरणमें लिखा है : 'पुरुजित्— एक राजा जो कुन्तिभोज राजाका पुत्र एवं कुन्तीका भाई था। इसके दूसरे भाईका नाम भी कुन्तिभोज ही था। भारतीय युद्धमें यह पाण्डव-पक्षमें शामिल था (म० भा० उद्यो० १६९-२, सं० पू० सं०)।'

प्राचीन चरित्रकोषके ही पृष्ठ १४६ पर 'कुन्तिभोज' शब्दके विवरण-में लिखा है : 'कुंतिभोज—एक राजा। कुंतिभोज या भोज नामसे इसका उल्लेख आता है। वसुदेवपिता शूरकी कन्या पृथा उर्फ कुन्ती इसे दत्तक दी गई थी। यह उसकी बुआका लड़का था तथा अनपत्य था (म० भा० आदि० १०४-१-३ सं० पू० सं०, प्रचलित संस्करण—आदि० ११२-१-३)। इसका पुरुजित् नामक एक अतिरथी पुत्र था। द्रोणने उसका वध किया (म० भा० उद्यो० १६९-२)।'

पुराण-सन्दर्भ पृष्ठ ६० पर कुंतिभोज शब्दपर यह विवरण है : 'कुंतिभोज—एक कुंतिदेशके राजा। निस्सन्तान होनेके कारण इन्होंने कुंतीको गोद लिया था।' इसके पश्चात् कुंती शब्दपर यह विवरण है : 'कुंती—शूरसेन नामक यादव और मारिषाकी पुत्री, वसुदेवकी बहन। इसका नाम पृथा था। कुंतिभोजने गोद लिया था इसलिये कुंती नाम पड़ा।'

गुजराती पुराणकोष पृष्ठ ३१६ पर पुरुजित् शब्दपर आए विस्तृत विवरणका सार यह है कि पुरुजित् राजा कुन्तिभोजका पुत्र एवं युधिष्ठिरादि-का मामा था।

मधुसूदन सरस्वती 'पुरुजित्कुन्तिभोजशैब्यानां विशेषणं नरपुङ्गव इति' ऐसा कहकर पाण्डव-पक्षके योद्धाओंकी गणनामें पुरुजित् कुन्तिभोज-को दो पृथक् व्यक्ति मानते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणोंपर विचार करके हम इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि निस्सन्तान शूरसेनकी बुआके पुत्र कुन्तिभोजको कुन्ती दत्तक दी गई अतः कुन्तिदेशके राजा कुन्तिभोज निस्सन्देह दत्तक विधिसे कुन्तीके पिता थे। पुरुजित् कुन्तीका भाई अवश्य था। उसका दूसरा भाई कुन्तिभोज नामका कुन्तिभोज राजाका पुत्र मनमानी कल्पना है, क्योंकि गवेषणा करने-पर भी इसका प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हुआ। भारतीय संस्कृतिमें पिता-पुत्रका एक नाम होनेकी प्रथा ही नहीं है। हाँ, पुत्रके नामके साथ पिताका नाम जोड़नेकी प्रथा महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तोंमें अवश्य है। जैसे गुजरातमें फूलशंकर सुन्दरलाल देसाई, महाराष्ट्रमें लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक, जिसका तात्पर्य है फूलशंकर सुन्दरलालका पुत्र एवं लोक-मान्य बालतिलक गंगाधरका पुत्र है। ठीक इसी प्रकार म० भा० उद्यो० १७२-२ और म० भा० क० ६-२२, २३ के उद्धृत श्लोकोंमें 'पुरुजित् कुन्तिभोजश्च' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है कुन्तिभोजका पुत्र पुरुजित्।

प्रतीत होता है कि श्रीकृष्णके पिता वसुदेव वृद्ध होनेके कारण अपने भगिनीपुत्र पाण्डवोंकी सहायताके लिये युद्धमें सम्मिलित नहीं हुए। जब वही सम्मिलित नहीं हुए तब उनके पिता शूरसेनके मित्र एवं फुफेरे भाई कुन्तिभोज अतिवृद्ध होनेके कारण अपने दौहित्र पाण्डवोंकी सहायताके लिये युद्धमें कैसे सम्मिलित होंगे ! उन्होंने अपने पुत्र पुरुजित्को ही पाण्डवोंके पक्षमें युद्ध करनेके लिये आदेश दिया होगा।

दूसरी बात यह भी विचारणीय है : उन श्लोकोंमें 'पुरुजित् कुन्तिभोजश्च' ऐसा उल्लेख है। यदि पृथक् दो योद्धाओंका ग्रहण अभिप्रेत होता तो 'पुरुजित्कुन्तिभोजौ च' ऐसा ही पाठ महामति व्यासने दिया होता। किसी प्रकारके छन्दोभंगकी भी आशङ्का नहीं थी जिससे पाठान्तर अनुपादेय होता। सत्य तो यह है कि सभी विचारोंकी भ्रान्तिका कारण चकार ही हुआ है। चकार समुच्चयवाची है। यदि पुरुजित्को कुन्तिभोजसे पृथक् मान लिया जाय तो वह सार्थक होता है अन्यथा नहीं। परन्तु उसकी सार्थकता पूर्ववर्णित अन्य राजाओंके साथ कुन्तिभोजपुत्र पुरुजित्का समुच्चय मान लेनेसे भी उपपन्न हो सकती है।

अपने पुत्र पुरुजित्के साथ कुन्तीपिता कुन्तिभोज पाण्डवपक्षमें सम्मिलित हुए, यह भी किसी विद्वान्की भ्रान्तिपूर्ण कल्पना है, क्योंकि वहाँ 'मातुलो भीमसेनस्य' (म० भा० उद्यो० १७२-२) तथा 'मातुलः सव्यसाचिनः' (म० भा० क० ६-२२) ये विशेषण कुन्तीके पिता कुन्तिभोजमें कैसे संगत होंगे ? अतएव कुन्तीके भाई पुरुजित्के द्वितीय भ्राता अपने पिता कुन्तिभोजके समान नामवाले कुन्तिभोज थे, यह कल्पना कुछ अनुवादक या कोषकारोंने की परन्तु भारतीय संस्कृतिसे विपरीत होनेके कारण यह पूर्वदर्शित रीतिसे सर्वथा अश्रद्धेय है।

सभापर्वमें राजसूय-यज्ञारम्भके प्रकरणसे पूर्व जहाँ श्रीकृष्ण अपनी सम्मति देते हुए कुछ राजाओंका नाम गिनाते हैं उस प्रसंगके निम्नलिखित श्लोकमें तो स्पष्टतः कुन्तिवर्धनका पुरुजित्के विशेषण रूपमें उल्लेख है :

मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुन्तिवर्धनः।
स ते संनतिमानेकः स्नेहतः शत्रुतापनः॥
(म० भा० स० १३-१६ सं० पू० सं०)

अतः पूर्वोक्त श्लोकोंमें पुरुजित् शब्दका विशेषण कुन्तिभोज शब्द कुन्तिवर्धन शब्दका समानार्थक है जिसका अन्वर्थ है कुन्तिदेशका रक्षक या

पालक, क्योंकि भोज शब्द 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातुसे निष्पन्न है जिसका अर्थ यहाँ प्रकरणवश पालन या रक्षण ही ग्राह्य होगा ।

शैब्य : परम-गोरक्षक महाराज शैब्य धर्मराज युधिष्ठिरकी पत्नी देविकाके पिता तथा युधिष्ठिर-पुत्र यौधेयके मातामह थे (म० भा० आदि० ९०-८३ सं० पू० सं०)। जनमेजयके पूछनेपर वैशम्पायन उनके वंशवर्णनमें पाण्डवोंकी पत्नी तथा पुत्रोंका विवरण देते हुए कहते हैं: 'युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवरे लेभे । तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम' (म० भा० आदि० ९०-८३ सं० पू० सं०) अर्थात् गोरक्षक महाराज शैब्यकी देविका नामकी कन्याको युधिष्ठिरने स्वयंवरमें प्राप्त किया। उससे उन्हें यौधेयनामक पुत्र हुआ ।

प्रचलित महाभारत हिन्दी अनुवाद (इंडियन प्रेस) में यह प्रसंग आदिपर्व, अध्याय ९६, पृष्ठ २१२ पर तथा ब्रह्मपुराण २१२-४ में है ।

युधामन्यु, उत्तमौजा : ये दोनों भाई थे तथा पाञ्चाल देशके राजकुमार थे (म० भा० द्रो० १३०)। दोनों ही बड़े वीर थे तथा सुप्तावस्थामें अश्वत्थामाद्वारा निहत हुए थे ।

अभिमन्यु : ये अर्जुनके पुत्र थे। इनकी माताका नाम सुभद्रा था जो श्रीकृष्ण-की बहन थीं । इनकी पत्नी उत्तरा तथा पुत्र परीक्षित थे । ये असाधारण वीर थे । द्रोणाचार्य-विरचित प्रसिद्ध चक्रव्यूहमें प्रवेशके अवसरपर अर्जुन-की अनुपस्थितिमें सभी पाण्डव-वीरोंके परास्त हो जानेपर ये अकेले ही उसमें प्रविष्ट हो गए और अनेक वीरोंका संहार कर डाला। कौरवपक्षके कर्ण आदि अनेक प्रसिद्ध महारथियोंसे ये अकेले ही लड़े और अन्तमें दुःशासनके पुत्रद्वारा सिरपर गदाके प्रहारसे इनका अन्त हो गया (म० भा० द्रो० ४९)।

द्रौपदेय : पाँचों पाण्डवोंसे द्रौपदीने क्रमशः प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन—इन पाँच पुत्रोंको जन्म दिया था (म० भा० आदि० २२१-८०-८४)। इनका निधन अश्वत्थामा-द्वारा रात्रिके समय हुआ (म० भा० सौ० ८)।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

(द्विजोत्तम !) हे द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यजी ! (अस्माकं तु) और हमारे पक्षमें, (ये विशिष्टाः) जो मुख्य योद्धा हैं, (तान् निबोध) उन्हें आप समझ

लीजिए। (मम सैन्यस्य ये नायकाः) अपनी सेनाके जो नेता हैं, (तान्) उन्हें कुछके नाम लेकर, (संज्ञार्थम्) जानकारीके लिये, (ते ब्रवीमि) आपको बताता हूँ ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

हे द्रोणाचार्य ! (भवान्) आप, (भीष्मः च) और पितामह भीष्म, (कर्णः च) तथा कर्ण, (समितिञ्जयः कृपः च) और संग्रामजेता कृपाचार्य, (अश्वत्थामा) आपके पुत्र अश्वत्थामा, (विकर्णः च) और विकर्ण, (च तथा एव) और वैसे ही, (सौमदत्तिः) सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा। कहीं 'तथैव च' के स्थानपर 'जयद्रथः' पाठ है ॥ ८ ॥

द्रोणाचार्य : इनके पिताका नाम महर्षि भरद्वाज था। शरद्वान् महर्षिकी कन्या कृपी इनकी पत्नी थी। अश्वत्थामा इनका पुत्र था। ये शस्त्रविद्या तथा शास्त्रोंके भी परम आचार्य थे तथा ब्रह्मास्त्र आदि भयानक अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल अतिरथी वीर थे। इनकी शस्त्रविद्याके गुरु महर्षि अग्निवेश्य और परशुराम थे। उन्हींसे इन्होंने सब दिव्य अस्त्र प्राप्त किए थे। शस्त्रास्त्र-विद्यामें सभी कौरव-पाण्डव इनके शिष्य थे। अपने पुत्रकी मृत्युका मिथ्या समाचार पाकर इन्होंने युद्धसे उपरत होकर समाधि लगा ली, तभी धृष्टद्युम्नने इनका शिरश्छेद कर डाला।

भीष्म : इनके पिता शान्तनु तथा माता गङ्गा थीं (म० भा० शा० ५०-२६)। इनके पिता सत्यवती नामक कन्यासे अपना विवाह करना चाहते थे पर उसके पिताकी शर्त यह थी कि सत्यवतीका पुत्र ही राज्यका स्वामी हो और अन्य राजसन्तति इसमें अड़ंगा न डाले। उन्हें आश्वस्त करनेके हेतु इन्होंने आजन्म अविवाहित तथा राज्यके उत्तराधिकारसे वञ्चित रहनेकी कठोर प्रतिज्ञा कर डाली। तभीसे इनका नाम भीष्म पड़ गया। पहले ये देवव्रत कहलाते थे। इनके पिताने प्रसन्न होकर इन्हें इच्छामृत्युका वर दिया था। ये असाधारण वीर, विद्वान् तथा भक्त थे और कौरवोंके सेनापति थे। दस दिनोंतक युद्ध करनेके अनन्तर ये शरशय्यापर पड़ गए और सबको ज्ञानोपदेश करते हुए सूर्य उत्तरायण होनेपर स्वेच्छासे देहत्याग किया।

कर्ण : कुन्तीने कुमारावस्थामें ही सूर्यके प्रभावसे इन्हें जन्म देकर पेटीमें रखकर नदीमें बहा दिया। वह पेटी हस्तिनापुरमें अधिरथ सूतके हाथ लगी। खोलकर देखा तो कवच-कुण्डलधारी एक बालक दिखाई पड़ा।

वह इन्हें घर ले आया और इनका वसुषेण नाम रख दिया। उसकी पत्नी राधाने इनका लालन-पालन किया इससे ये राधेय कहलाए। आगे चलकर परशुराम और द्रोणाचार्यसे धनुर्विद्या प्राप्त कर ये दुर्योधनके सान्निध्यमें रहने लगे। दुर्योधनसे इनकी प्रगाढ़ मैत्री हो गई और उसकी कृपासे अंग देशका राज्य इन्हें प्राप्त हो गया। ये अत्यन्त वीर योद्धा, अनुपम दानशील तथा सूर्यदेवके उपासक थे। युद्धमें इनकी मृत्यु अर्जुनद्वारा हुई।

कृपाचार्य : इनके पिता महर्षि शरद्वान् थे। इनकी बहिन कृपीका विवाह द्रोणाचार्यसे हुआ था। भीष्मके पिता शान्तनुने कृपापूर्वक इनका लालन-पालन किया था अतः ये भाई-बहिन कृप और कृपी कहलाते थे। ये धनुर्वेद-के ज्ञाता, शास्त्रोंके विद्वान् तथा सात्त्विक पुरुष थे। द्रोणाचार्यसे पहले कौरव-पाण्डवोंको यही धनुर्विद्या सिखाते थे। कौरवोंका नाश हो जानेपर परीक्षितको भी इन्होंने धनुर्विद्या दी।

अश्वत्थामा : इनके पिता तथा धनुर्विद्यादिके गुरु द्रोणाचार्य थे। ये भी बड़े वीर थे।

विकर्ण : धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंमें-से एक ये भी थे। ये बड़े वीर, साहसी, सत्य-निष्ठ एवं धार्मिक पुरुष थे। द्रौपदीके चीर-हरणके अवसरपर केवल इन्होंने धर्मसम्मत सुस्पष्ट प्रतिवाद किया था (म० भा० स० ६७-१८–२५)।

सौमदत्ति : ये सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा थे। इनके पिता सोमदत्त शान्तनुके भाई बाह्लीकके पुत्र थे। इनकी मृत्यु सात्यकिके द्वारा हुई।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

(मदर्थे त्यक्तजीविताः) मेरे लिये जान हथेलीपर लिए हुए, (अन्ये च बहवः शूराः) और भी बहुत-से शूर-वीर हैं, (सर्वे) जो सबके सब, (नाना-शस्त्रप्रहरणाः) अनेक प्रकारके शस्त्रोंसे प्रहार करनेवाले, तथा, (युद्धविशारदाः) युद्धकी कलामें परम प्रवीण हैं॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

(भीष्माभिरक्षितम्) सेनापति भीष्मके द्वारा सब ओरसे रक्षित, (तद् अस्माकं बलम्) पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त भी हमारी सेना, (अपर्याप्तम्) शत्रु-विजयमें समर्थ नहीं जान पड़ती। (भीमाभिरक्षितम्) जब कि भीमसे रक्षा की जाती हुई, (एतेषाम् इदं बलं तु) इन शत्रुओंकी यह थोड़ी-सी सेना भी, (पर्याप्तम्) पूर्ण समर्थ प्रतीत हो रही है।

गीताके कतिपय अन्य व्याख्याकारोंने दुर्योधनकी प्रकृति तथा उसकी पूर्वोत्तर गर्वोक्तियोंको देखते हुए प्रकरण-विरोधकी आशंकासे इस श्लोकमें दुर्योधनके कथनका यह आशय व्यक्त किया है कि भीष्माभिरक्षित हमारी सेना समर्थ तथा भीमाभिरक्षित पाण्डवोंकी सेना असमर्थ है। यह आशय निकालनेके लिये उन्होंने 'अपर्याप्तम्' को उत्तरार्धसे तथा 'पर्याप्तम्' को पूर्वार्धसे अन्वित मान लिया है। विकल्पमें प्रयत्न करके अपर्याप्त शब्दके 'अनन्त, अभिभव या क्षुभित करनेके लिये अशक्य, अपरिमित, इधर-उधरसे न बढ़ाई हुई, अनल्प' इत्यादि अर्थ बताए हैं, किन्तु विचार करनेपर प्रतीत होता है कि श्लोकके उत्तरार्धपठित 'तु' और 'इदम्' पद सम्भावनाके सामयिक-वैपरीत्य-द्योतक ही हैं। भीष्मकी सब प्रकारसे रक्षाके लिये अग्रिम श्लोकमें दिए गए आदेशका हेतु भी इस श्लोकमें द्योतित भीमाभिरक्षित पाण्डवपक्षीय सेनाकी पर्याप्तता, समर्थताका ज्ञान ही है।

पाण्डवोंकी सेनाको विशिष्ट प्रकारसे सन्नद्ध देखकर दुर्योधनको स्वपक्षीय-सेना-सन्निवेश शत्रुपक्षकी अपेक्षा दुर्बल जान पड़ना ही उसके आचार्यके समीप पहुँचने-का हेतु है। उसके द्वारा सेना-संव्यूहनकी प्रशस्ति और विपक्षीय १६ विशिष्ट योद्धाओं तथा स्वपक्षीय मात्र ७ योद्धाओंका परिगणन भी उसकी मनोगत भीतिके ही द्योतक हैं। भीष्म-द्रोण आदि अर्थमूलक वैवश्यवश प्रतिश्रुत होनेके कारण धर्मलोपके भयसे ही कौरवोंके पक्षसे युद्ध कर रहे हैं, उनका अन्तःकरण पाण्डवोंके ही पक्षमें है। उधर परमधार्मिक पाण्डवगण न्यायके पक्षमें लड़ रहे हैं, विश्वके गण्य-मान्य व्यक्तियोंका समर्थन भी उन्हें प्राप्त है अतः थोड़ी सेना रखते हुए भी वे धर्म एवं उत्साहसे सम्पन्न होनेके कारण अजेय हैं, यह बात दुर्योधन भलीभाँति जानता था। अतः उपर्युक्त तथ्योंपर विचार करनेके अनन्तर गीताके रचना-कौशल एवं पद-विन्यास-प्रकृतिको देखते हुए इस श्लोकपर आचार्य श्रीधर स्वामी-द्वारा की हुई व्याख्या ही स्वाभाविक होनेसे समीचीन प्रतीत होती है ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

(हि) इसलिये, (भवन्तः सर्वे एव) आप सभी लोग, (सर्वेषु अयनेषु च) सभी रक्षायोग्य व्यूह-प्रवेशद्वारोंपर, (यथाभागम् अवस्थिताः) अपने-अपने उत्तरदायित्वके अनुसार भलीभाँति स्थित होकर, (भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु) भीष्म पितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें। ऐसा न हो कि शिखण्डी कहीं न कहीं-से आ ही घुसे और उनपर आक्रमण हो जाय। उसपर तो वे प्रहार करेंगे नहीं अतः मारे जायँगे ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(कुरुवृद्धः प्रतापवान् पितामहः) कौरवोंमें वृद्ध महाप्रतापी भीष्म पितामहने, (तस्य) शत्रुका उत्कर्ष देखकर पराजयकी आशंकासे चिन्तित दुर्योधनको, (हर्षं जनयन्) हर्षित करते हुए, (उच्चैः सिंहनादं विनद्य) ऊँचे स्वरसे सिंहनाद करके, (शङ्खं दध्मौ) अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

(ततः) तब भीष्म पितामहके शंखकी ध्वनि सुनकर कौरव-सेनामें, (शङ्खाः च) बहुतसे शंख, (भेर्यः च) और अनेक नगाड़े, (पणवानकगोमुखाः च) तथा मृदंग, ढोल, तुरही आदि बाजे, (सहसा एव) एक साथ ही, (अभ्यहन्यन्त) ताडित किए गए अर्थात् बजाए गए । (सः शब्दः तुमुलः अभवत्) वाद्योंका वह घोष इतना प्रचण्ड हुआ कि आकाश तक व्याप्त हो गया ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

(ततः) तब, कौरव-सेनाका वाद्यघोष सुनते ही, (श्वेतैः हयैः युक्ते) श्वेत रंगके चार घोड़ोंसे युक्त, (महति स्यन्दने स्थितौ) अग्निप्रदत्त विशाल रथपर अवस्थित, (माधवः पाण्डवः च एव) श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी, (दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः) अपने-अपने दिव्य शंख बजाए ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

(हृषीकेशः पाञ्चजन्यम्) हृषीकेश[१] भगवान् श्रीकृष्णने अपना पाञ्चजन्य[२] नामक, (धनञ्जयः[३] देवदत्तम्) अर्जुनने देवदत्त[४] नामक, तथा, (भीम-

---

१. हृषीकेश : इन्द्रियोंका स्वामी ।

२. पाञ्चजन्य : पञ्चजन नामक शंखाकृति असुरको मारकर भगवान्ने उसके निष्प्राण कलेवरको अपना शंख बना लिया था ।

३. धनंजय : राजसूय यज्ञके अवसरपर दिग्विजयद्वारा प्रचुर धन जीत लानेके कारण अर्जुनकी धनंजय संज्ञा पड़ गई ।

४. इन्द्रने यह शंख अर्जुनको उस समय दिया था जब वे निवातकवच दैत्योंसे युद्ध कर रहे थे । इसका शब्द बड़ा भयानक होता था ।

कर्मा वृकोदरः[१]) उग्र कर्म करनेवाले भीमने, (पौण्ड्रं महाशङ्खं दध्मौ) पौण्ड्र नामक अपना विशाल शंख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

(पृथिवीपते !) हे राजन् ! (कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयम्) कुन्तीके[२] पुत्र महाराज युधिष्ठिरने अनन्तविजय, (नकुलः सहदेवः च) नकुल और सहदेवने, (सुघोषमणिपुष्पकौ) सुघोष और मणिपुष्पक, (परमेष्वासः काश्यः च) तथा श्रेष्ठ धनुर्धारी काशिराज, (महारथः शिखण्डी च) और महारथी शिखण्डी, (धृष्टद्युम्नः) धृष्टद्युम्न, (विराटः च) और विराट, (अपराजितः सात्यकिः च) एवं पराजित न होनेवाले सात्यकि, (द्रुपदः) राजा द्रुपद, (द्रौपदेयाः च) और द्रौपदीके पाँचों पुत्र, (महाबाहुः सौभद्रः च) तथा सुभद्राके पुत्र विशाल भुजावाले अभिमन्यु, (सर्वशः) इन सबने सब ओरसे, (पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः) अलग-अलग अपने-अपने शंख बजाए ॥ १६-१८ ॥

शिखण्डी : महाराज द्रुपदने सन्तानके लिये भगवान् शिवकी आराधना की तो शिवजीने प्रसन्न होकर कहा कि तुम्हें एक कन्या होगी । द्रुपदने कहा कि भगवन् ! मैंने तो पुत्रकी कामनासे आपकी आराधना की है। इसपर शिवजी बोले कि निश्चिन्त रहो, यह कन्या ही पुत्ररूपमें बदल जायगी । राजाने कन्याका जन्म होनेपर उसे पुत्ररूपमें प्रसिद्ध किया और उसका नाम शिखण्डी रख दिया। दशार्णराज हिरण्यवर्माकी कन्यासे उसका विवाह भी हो गया । जब शिखण्डीके स्त्री होनेकी बात खुली तो उसके ससुरने क्रोधित होकर राजा द्रुपदपर चढ़ाई कर दी । वे बेचारे युद्धसे बचनेके लिये शिवकी आराधना करने लगे । तबतक शिखण्डी प्राण देनेको उद्यत होकर घरसे निकल पड़े । वनमें स्थूणाकर्ण नामक यक्षने शिखण्डीको देखा तो

---

१. वृकोदर : भेड़िएकी प्रबलजठराग्निके समान जठराग्निवाला ।
२. युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन कुन्तीसे तथा नकुल और सहदेव माद्रीसे उत्पन्न हुए थे ।

उसे दया आ गई और उसने कुछ दिनोंके लिये उसे अपना पुरुषत्व देकर उसका स्त्रीत्व स्वयं ले लिया। शिखण्डी पुरुष होकर घर लौट आया और सारा वातावरण शान्त हो गया। उधर कुबेरके शापसे स्थूणाकर्ण आजीवन स्त्री ही रह गया और इस प्रकार शिखण्डीका पुरुषत्व अपरिवर्तित ही रह गया। भीष्म पितामह जानते थे कि वह मूलरूपमें स्त्री है इसलिये उस-पर प्रहार नहीं करते थे। इसीलिये अर्जुनने अपने सम्मुख शिखण्डीको रखकर भीष्म पितामहपर प्रहार किया और उन्हें पराजित कर दिया।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

(सः तुमुलः घोषः) व्याकुलताकारक उस महान् शंखनादने, (नभः च पृथिवीं च एव) आकाश और पृथिवी दोनोंको ही, (व्यनुनादयन्) भलीभाँति देरतक प्रतिध्वनिसे पूर्ण करते हुए, (धार्तराष्ट्राणां हृदयानि) सम्पूर्ण कौरवोंके हृदयोंको, (व्यदारयत्) भयसे विदीर्ण-सा कर डाला ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

(महीपते !) हे राजन् धृतराष्ट्र ! (अथ) शंखनाद सुनकर व्यथित होनेके अनन्तर भी, (धार्तराष्ट्रान्) कौरवोंको, (व्यवस्थितान् दृष्ट्वा) युद्धके लिये डटकर खड़े हुए देखकर, (शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते) शस्त्रोंके प्रयोगका अवसर उपस्थित होनेपर, (तदा) तब, (कपिध्वजः पाण्डवः) हनुमान्से अधिष्ठित ध्वजावाले अर्जुन, (धनुः उद्यम्य) अपना गाण्डीव धनुष हाथमें लेकर, (हृषीकेशम् इदं वाक्यम् आह) सम्पूर्ण इन्द्रियोंके नियन्ता, स्वामी, भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले। अर्जुनने कहा—(अच्युत !) पराभव या पतनसे रहित हे श्रीकृष्ण ! (मे रथम्) मेरे रथको, (उभयोः सेनयोः मध्ये) दोनों सेनाओंके बीचमें, (स्थापय) अवस्थित कीजिए ॥ २०-२१ ॥

कपिध्वज : कुछ लोगोंका कथन है कि वीरोंके रथकी पताकाओंपर कोई-न-कोई चिह्न प्रायः रहता था, तदनुसार अर्जुनकी पताकापर हनुमान्जीका चिह्न था। कुछ लोगोंने ऐसी भी कल्पना करनेका प्रयास किया है कि

वेदमें कपि शब्दका एक अर्थ सूर्य भी है अतः अथर्ववेदके 'एताः देवसेनाः सूर्यकेतवः' अर्थात् ये देवसेनाएँ सूर्यचिह्नवाली पताकाओंसे समन्वित हैं, इस वर्णनके अनुसार अर्जुनकी पताका भी सूर्यचिह्नांकित रही होगी क्योंकि वे देवराज इन्द्रके पुत्र थे। किन्तु महाभारतमें सुस्पष्ट वर्णन है कि भीमसेनको दिए हुए वचनके अनुसार (म० भा० व० १५१-१७–१८) हनुमान्जी अर्जुनकी पताकापर सदा विराजमान रहते थे। इतना ही नहीं, युद्धस्थलमें विशेष अवसरोंपर गरजा भी करते थे (म० भा० भीष्म० ५२-१८)।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

(अहम्) मैं, (योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान्) युद्धकी कामनासे जमकर सामने खड़े हुए इन लोगोंको, (यावत् निरीक्षे) तनिक देखूँ तो, कि, (अस्मिन् रणसमुद्यमे) भाई-भाइयोंके इस रणोद्योगमें, (कैः सह मया योद्धव्यम्) किनके साथ मुझे युद्ध करना है ! ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

(दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य) दुष्ट बुद्धिवाले दुर्योधनका, (प्रियचिकीर्षवः) प्रिय [हित नहीं] करनेकी इच्छावाले, (ये एते अत्र समागताः) ये जो लोग सामने आ जुटे हैं, (योत्स्यमानान् [एतान्] अहम् अवेक्षे) इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँ तो ! ॥ २३ ॥

प्रिय यानी सुखकर और हितकर : दोनोंमें यह अन्तर है कि प्रिय या सुखकर द्रव्य-कर्मादि आरम्भमें तो सुख देनेवाले होते हैं किन्तु परिणाममें अनर्थ करनेवाले होते हैं, जैसे सुरा, द्यूत आदि। इसके विपरीत हितकर द्रव्य-कर्मादि आरम्भमें कष्टप्रद किन्तु परिणाममें सुखप्रद होते हैं, जैसे निम्ब, गुरु-सेवा आदि। यह भेद सर्वत्र ही समझना चाहिए। यहाँ 'प्रियचिकीर्षवः' शब्दसे योद्धाओंमें दुर्योधनके प्रति चाटुकारिताका ही भाव प्रतीत होता है, हितबुद्धिका नहीं।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

संजय बोले—(भारत !) हे भरतवंशधर राजन् धृतराष्ट्र ! (गुडाकेशेन) निद्रापर विजय प्राप्त किए हुए अर्जुनके द्वारा, (एवम् उक्तः हृषीकेशः) ऐसा कहे गए भगवान् श्रीकृष्णने, (उभयोः सेनयोः मध्ये) दोनों सेनाओंके बीचमें, (रथोत्तमम्) उत्तम रथको, (स्थापयित्वा) स्थापित करके, (भीष्मद्रोणप्रमुखतः) पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, (सर्वेषां महीक्षितां च) तथा और सभी राजाओंके सामने, (इति उवाच) अर्जुनसे कहा कि, (पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (एतान् समवेतान् कुरून् पश्य) इन इकट्ठे खड़े हुए कौरवोंको देख ले ।। २४-२५ ।।

गुडाकेश : 'गुड इव आस्वाद्यते मधुरमनुभूयते इति गुडा, सा एव गुडाका, गुडं गुडत्वं तत्सादृश्यं मधुरत्वम् अकति गच्छतीति वा गुडाका' अर्थात् गुड़के समान मधुर । गुडाका शब्दका अर्थ है निद्रा । उसपर स्वामित्व करनेवाला गुडाकेश कहलाता है—गुडाका+ईशः । अर्जुनको निद्रापर विजय प्राप्त थी अर्थात् वे अप्रमत्त यानी जागरणशील थे । इसीलिये उन्हें गुडाकेश कहा गया । लौकिक शक्तियोंकी तो बात ही क्या, दैवी शक्तियाँ भी ऐसे व्यक्तिकी सहायक बन जाती हैं । ऋग्वेदमें आया है :

> यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
> यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।।
> (५-४४-१४)

अर्थात् जो जागता रहता है यानी अनलस या सावधान रहता है उसको सब ऋचाएँ चाहती हैं अर्थात् ऋग्वेद और ऋग्वेद-प्रतिपादित सब देव उसे प्यार करते हैं । उसी व्यक्तिके प्रति विविध सामगानोंका झुकाव होता है । उसीको सोमदेव कहते हैं कि मैं निरन्तर तेरी दासतामें रहता हूँ । सोम शब्दको सोमयागप्रधान-प्रकरणवश यजुर्वेदका बोधक मान लेनेपर यह तात्पर्य व्यक्त होता है कि यजुर्वेद एवं यजुर्वेद-प्रतिपाद्य देवगण प्रमादरहित व्यक्तिके सदा सहायक बने रहते हैं ।

जब कोई व्यक्ति समस्त वेदोंका प्रेमपात्र हो तो वह भला कभी किसीके द्वारा पराजित होगा ही क्यों ! विजयलक्ष्मी निश्चित रूपसे सतत उसका ही वरण करेगी । गुडाकेश शब्दका प्रयोग करके संजय धृतराष्ट्रको वेद एवं वेद-प्रतिपाद्य देवताओंके प्रेमपात्र अर्जुनके विजयकी पूर्वसूचना दे रहे हैं।

रथोत्तम : जब अग्निदेव अपने अजीर्ण-शमनके लिये इन्द्रका खाण्डव वन जलाने गए तो उस समय अर्जुनने अग्निकी रक्षा की थी । तभी प्रसन्न होकर

अग्निदेवने गाण्डीव धनुषके साथ एक रथ भी अर्जुनको दिया था (म० भा० आदि० २२५)। यह रथ बहुत विशाल, स्वर्णमण्डित, प्रकाशमय, सुदृढ़ तथा सुन्दर था। चन्द्र-तारोंके चिह्नों, इन्द्र धनुषके-से रंगों तथा घुंघरुओंसे सजी इसकी पताका बिजली-सी चमकती थी जिसपर हनुमान्‌जी सदा अवस्थित रहते थे। चित्ररथ गन्धर्वके दिए हुए तीव्रगामी, सुन्दर, भली-भाँति सजे हुए, बलवान् श्वेत रंगके घोड़े उसमें जुते हुए थे जो पृथ्वी-आकाश-पाताल सर्वत्र अव्याहतगति थे (म० भा० उद्यो० ५६)।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

(पार्थः) अर्जुनने, (तत्र उभयोः अपि सेनयोः) उस युद्धस्थलमें दोनों ही सेनाओंमें, (पितॄन्) पितृतुल्य पितासे बड़े-छोटे [1]भाइयोंको, (अथ पितामहान्) और [2]पितामहोंको, (आचार्यान्) [3]गुरुओंको, (मातुलान्) [4]मामाओंको, (भ्रातॄन्) [5]भाइयोंको, (पुत्रान्) [6]पुत्रों-भतीजोंको, (पौत्रान्) [7]पौत्रोंको, (तथा सखीन्) और [8]सखाओंको, (श्वशुरान्) [9]ससुरोंको, (सुहृदः एव च) तथा [10]हितैषियोंको ही, (स्थितान्) युद्धार्थ समवस्थित, (अपश्यत्) देखा ॥ २६ ॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

(अवस्थितान् तान् सर्वान् बन्धून् समीक्ष्य) युद्धभूमिमें खड़े उन सब आत्मीय जनोंको देखकर, (परया कृपया आविष्टः) अतिशय करुण भावसे

---

१. भूरिश्रवा आदि।
२. भीष्म, सोमदत्त आदि।
३. कृपाचार्य, द्रोणाचार्य आदि।
४. शल्य, शकुनि, पुरुजित् आदि।
५. दुर्योधन आदि।
६. लक्ष्मण आदि तथा अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य, घटोत्कच आदि।
७. लक्ष्मण आदिके पुत्र।
८. अश्वत्थामा, जयद्रथ आदि।
९. द्रुपद, शैब्य आदि।
१०. कृतवर्मा आदि।

आक्रान्त हुए. (कौन्तेयः) कुन्तिपुत्र अर्जुनने, (विषीदन्) खिन्न होते हुए, (इदम् अब्रवीत्) इस प्रकार कहा ।। २७ ।।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।

अर्जुनने कहा—(कृष्ण !) हे भगवान् श्रीकृष्ण ! (युयुत्सुम् इमं समुपस्थितं स्वजनं दृष्ट्वा) युद्धकी इच्छासे युद्धभूमिमें उपस्थित होकर जमे हुए आत्मीय जनोंके इस समुदायको देखकर, (मम गात्राणि सीदन्ति) मेरे शरीरके सभी अंग खिन्न हो रहे हैं, (मुखं च परिशुष्यति) और मुँह सर्वथा सूखा जा रहा है, (मे शरीरे वेपथुः च) मेरे शरीरमें कँपकँपी भी उत्पन्न हो रही है, (रोमहर्षः च जायते) और रोमाञ्च हो रहा है ।। २८-२९ ।।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।

(गाण्डीवं हस्तात् स्रंसते) मेरा गाण्डीव[1] धनुष हाथसे छूटा जा रहा है, (त्वक् च एव परिदह्यते) और त्वचा भी जली-सी जा रही है, (अवस्थातुं च न शक्नोमि) तथा मैं खड़े रहनेमें भी समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि, (मे मनः च भ्रमति इव) मेरा मन भी भ्रमित-सा हो रहा है, चक्कर खा रहा है ।। ३० ।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

(केशव !) हे श्रीकृष्ण ! (निमित्तानि च विपरीतानि पश्यामि) मैं शकुन, लक्षणोंको भी अशुभ फल देनेवाले देख रहा हूँ, (आहवे स्वजनं हत्वा च)

---

१. 'गाण्डिर्ग्रन्थिरस्यास्तीति गाण्डीवम्' अर्थात् जिसमें गाँठ हो उसे गाण्डीव कहते हैं। खाण्डव-वन-दाहके समय अर्जुनको यह धनुष अग्निने वरुणसे दिलाया था (म० भा० आदि० २२५)। स्वर्णमण्डित यह सर्वोत्तम शस्त्र एक लाख शस्त्रोंकी शक्तिवाला था। यह अनेक रंगोंका, अद्भुत, कोमल तथा विशाल धनुष था। देव-दानव-गन्धर्वोंने इसकी दीर्घकाल तक आराधना की थी। इसे ब्रह्माने १००० वर्ष, प्रजापतिने ५०३ वर्ष, इन्द्रने ८५ वर्ष, चन्द्रमाने ५०० वर्ष और वरुणने १०० वर्ष अपने पास रखा था (म० भा० वि० ४३)।

और युद्धमें आत्मीयजनोंको मारनेके अनन्तर, (श्रेयः न अनुपश्यामि) कोई भलाई भी समझमें नहीं आती ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

(कृष्ण !) हे श्रीकृष्ण ! (न विजयं काङ्क्षे न च राज्यं सुखानि च) न तो मैं विजयकी कामना करता, न राज्य तथा सुख ही चाहता। (गोविन्द !) हे वेदोद्धारक[1] ! (नः राज्येन किम्) हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन ! (भोगैर्जीवितेन वा किम्) सुखोपभोगों अथवा ऐसे जीवनसे भी क्या लाभ है ! ॥३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

(येषाम् अर्थे) जिन बन्धु-बान्धवोंके लिये, (नः राज्यं काङ्क्षितम्) हमें राज्यकी आकांक्षा है, (भोगाः सुखानि च) नाना प्रकारके भोग और सुखोंकी आकांक्षा है, (ते इमे) वही ये बन्धु-बान्धव-गण, (प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा) अपने प्राणों और धनोंको छोड़कर, (युद्धे अवस्थिताः) युद्धभूमिमें मरनेके लिये आ खड़े हुए हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

युद्धमें मरनेके लिये सामने खड़े हुए इन लोगोंमें कुछ तो, (आचार्याः) गुरुजन हैं, (पितरः) पिताके समान ताया-चाचा हैं, (पुत्राः) लड़के-भतीजे हैं, (तथा एव पितामहाः च) और वैसे ही पितामह, (मातुलाः) मामा, (श्वशुराः) ससुर, (पौत्राः) नाती-पोते, (श्यालाः) धृष्टद्युम्न आदि साले, (तथा सम्बन्धिनः) तथा दूसरे सम्बन्धी जन हैं ॥३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

---

१. हयग्रीवमत्स्यादिरूपेण वेदाहरणात् गां वेदम् अविदत् विन्दति इति गोविन्दः। 'विद्‌लृ लाभे' (१४३३ तु० उ०) इति धातोः 'गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्' (३-१-१३८) इति सूत्रेण शः। सम्बोधने रूपम्। अर्थात् गो नाम वेदका भी है, हयग्रीव-मत्स्य आदि रूपसे वेदोंको प्राप्त करनेवाला गोविन्द कहलाता है। 'विद्' धातुसे 'श' प्रत्यय होनेपर गोविन्द शब्द बना है।

(मधुसूदन !) हे मधु दैत्यके विनाशक श्रीकृष्ण ! (घ्नतः अपि एतान्) यदि ये मुझे ही मारने लगें तो भी इन लोगोंको, (त्रैलोक्यराज्यस्य अपि हेतोः) त्रिलोकीका राज्य प्राप्त होनेके लिये भी, (हन्तुं न इच्छामि) मैं नहीं मारना चाहता, (महीकृते किं नु) इस एक तुच्छ धरतीके लिये भला क्या मारूँगा !

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

(जनार्दन !) हे भगवान् श्रीकृष्ण ! (धार्तराष्ट्रान्निहत्य) धृतराष्ट्रके पुत्र-पौत्रादिको मारनेके पश्चात्, (नः का प्रीतिः स्यात्) हमें भला क्या प्रसन्नता होगी ! (एतान् आततायिनः हत्वा) इन आततायियोंको मारनेसे तो, (अस्मान् पापम् एव आश्रयेत्) हमें पाप ही लगेगा । [आततायीको मारनेसे दोष न लगनेकी बात अर्थशास्त्रोक्त है तथा प्राणिमात्रकी हिंसा न करनेका आदेश धर्मशास्त्रीय है । अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्रीय व्यवस्था बलवत्तर होनेके कारण आततायीको मारनेमें भी पापका भय उचित ही है] ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

(तस्मात्) इसलिये, (माधव !) हे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण ! (वयम्) हम, (स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान्) अपने बन्धु-बान्धव धृतराष्ट्र-पुत्रादिकोंको, (हन्तुं न अर्हाः) मारनेके लिये योग्य नहीं हैं अर्थात् हमें इन्हें मारना उचित नहीं है । भला बताइए तो, (स्वजनं हि हत्वा) अपने आत्मीय-जनोंको ही मारकर, (कथं सुखिनः स्याम) हम कैसे सुखी होंगे ! ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९॥

(जनार्दन !) हे जनार्दन ! (यद्यपि लोभोपहतचेतसः एते) यद्यपि लोभके कारण नष्ट चेतनाशक्तिवाले ये लोग, (कुलक्षयकृतं दोषम्) कुलके विनाशसे उत्पन्न दोष, (मित्रद्रोहे पातकं च) तथा मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको, (न पश्यन्ति) नहीं देख रहे हैं, किन्तु, (कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः) कुलके विनाशसे उत्पन्न दोषको देखने-समझनेवाले हम लोगोंद्वारा, (अस्मात् पापात् निर्वर्तितुम्) इस पापसे बचनेके लिये, (कथं न ज्ञेयम्) क्यों न विचार किया जाय ! ॥ ३८-३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

(कुलक्षये) कुलका नाश होनेपर, (सनातनाः कुलधर्माः) परम्परासे चले आते हुए कुलके धर्म, (प्रणश्यन्ति) सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, तथा, (धर्मे नष्टे) धर्मका नाश होनेपर, (अधर्मः) अधर्म, (कृत्स्नम्, उत=अपि, कुलम्) सम्पूर्ण कुलको ही, (अभिभवति) अभिभूत कर लेता है, दबोच लेता है ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥४१॥

(कृष्ण !) हे भगवान् श्रीकृष्ण ! (अधर्माभिभवात्) अधर्म या पापाचार जब कुलको अभिभूत कर लेता है तो इससे, (कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति) कुलकी स्त्रियाँ सर्वथा दूषित हो जाती हैं, दूषित आचरण करने लग जाती हैं, (वार्ष्णेय !) हे वृष्णिवंशोद्भूत ! (दुष्टासु स्त्रीषु वर्णसङ्करः जायते) दुष्ट स्त्रियोंमें वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है, अथवा (स्त्रीषु दुष्टासु सतीषु) स्त्रियोंके दुष्ट हो जानेपर, (वर्णसङ्करः जायते) सन्तानोंमें वर्णसंकरता उत्पन्न हो जाती है ॥ ४१ ॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

(सङ्करः) वर्णसंकर, (कुलघ्नानां कुलस्य च) कुलके नाशक तथा कुलको भी, (नरकाय एव) नरक ही ले जानेवाला होता है, (हि) क्योंकि, (एषां पितरः) इन कुल-विनाशकोंके पितर, (लुप्तपिण्डोदकक्रियाः) सन्तानद्वारा अपने निमित्त की जानेवाली पिण्डोदक-दानादिरूप तर्पणादि क्रियाओंसे वञ्चित होकर, (पतन्ति) अधःपतनको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

(कुलघ्नानाम्) कुलका विनाश करनेवाले लोगोंके, (वर्णसङ्करकारकैः एतैः दोषैः) वर्णसंकरता उत्पन्न करनेवाले इन दोषोंसे, (शाश्वताः) सदासे चले आ रहे, (जातिधर्माः कुलधर्माः च) जातिधर्म और कुलधर्म, (उत्साद्यन्ते) उच्छिन्न या नष्ट कर दिए जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

(जनार्दन !) हे श्रीकृष्ण ! (उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणाम्) जाति-कुल-वर्ण-आश्रम-धर्म जिनके लुप्त हो चुके हों ऐसे मनुष्योंका, (नरके) नरकमें, (अनियतं वासः भवति) अनिश्चित काल तक निवास होता है, (इति अनुशुश्रुम) ऐसा वेदोपदेशोंमें हम सुनते आए हैं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

(अहो बत !) बड़े कष्टकी बात है कि, (वयम्) हमलोग, (महत् पापं कर्तुं व्यवसिताः) यह घोर पाप करनेको प्रवृत्त हो गए हैं, (यत्) जो कि, (राज्यसुखलोभेन) राज्य एवं सुखके लालचसे, (स्वजनं हन्तुम् उद्यताः) अपने बन्धु-बान्धवोंको मारनेके लिये तैयार हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

अतः मुझे तो ऐसा लगता है कि, (यदि रणे) यदि रणस्थलमें, (शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः) शस्त्र ग्रहण किए हुए कौरव-गण, (अशस्त्रम् अप्रतीकारम्) शस्त्रविहीन तथा प्रहारका बचाव भी न करनेवाले, (मां हन्युः) मुझे मार डालें, (तत्) तो उनका यह कार्य, (मे क्षेमतरं भवेत्) मेरे लिये अपेक्षाकृत अधिक कल्याणकारी होगा ॥ ४६ ॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

संजय बोले—हे राजन् धृतराष्ट्र ! (सङ्ख्ये) युद्धस्थलमें, (शोकसंविग्नमानसः अर्जुनः) शोकसे पीडित मनवाला अर्जुन, (एवम् उक्त्वा) ऐसा कहकर, (सशरं चापं विसृज्य) धनुष-बाण छोड़कर, (रथोपस्थे उपाविशत्) रथके पृष्ठभागपर जाकर बैठ गया ॥ ४७ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

भगवद्गीता और वेदगीता

भगवद्गीता और वेदगीता

द्वितीय अध्याय

सञ्जय उवाच—

१. तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

सञ्जयने कहा—हे राजन् धृतराष्ट्र ! (मधुसूदनः) मधु दैत्यके विनाशक भगवान् कृष्ण, (कृपयाविष्टम्) आचार्य, गुरुजन तथा बन्धु-बान्धवोंके प्रति दयाभावके कारण क्षात्रधर्मानुमोदित युद्ध-कार्यमें कृपणतासे युक्त, (अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्) आँसुओंसे भरे व्याकुल नेत्रोंवाले, (तथा विषीदन्तं तम्) तथा पूर्वोक्त प्रकारसे विषाद करते हुए उस अर्जुनसे, (इदं वाक्यम् उवाच) इस प्रकार वचन कहने लगे ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

२. कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—हे अर्जुन ! (विषमे) संग्रामकी इस कठिन वेलामें, (अनार्यजुष्टम्) निर्बल तथा तुच्छ कापुरुषोंसे सेवित, (अस्वर्ग्यम्) स्वर्गकी प्राप्तिमें बाधक, और, (अकीर्तिकरम्) अपयश फैलानेवाला, (इदं कश्मलम्) यह पापमय दुःख, (त्वा) तुझे, (कुतः समुपस्थितम्) क्यों, कहाँसे आकर प्राप्त हो गया ? ॥ २ ॥

३. क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (क्लैब्यं मा स्म गमः) नपुंसकताको प्राप्त न हो, (एतत् त्वयि न उपपद्यते) यह तुझमें उचित नहीं प्रतीत होता । (परन्तप !) हे शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाले अर्जुन ! (क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा) हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताको छोड़कर, (उत्तिष्ठ) युद्ध करनेके लिये उठ खड़ा हो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—

४. कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥

अर्जुन बोला—(मधुसूदन !) हे मधु दैत्यका नाश करनेवाले ! (अहम्) भीष्मका पौत्र तथा द्रोणाचार्यका शिष्य मैं, (सङ्ख्ये) युद्धमें, (पूजार्हौ) मुझसे पूजा प्राप्त करने योग्य, (भीष्मम्) कुलवृद्ध तथा गुणवृद्ध भीष्मजी, (च) और, (द्रोणम्) विद्यागुरु द्रोणाचार्यसे, (अरिसूदन !) भक्तोंके काम-क्रोध आदि शत्रुओंको नष्ट करनेवाले हे श्रीकृष्ण ! (इषुभिः) बाणोंके द्वारा, (कथं प्रतियोत्स्यामि) सामने कैसे युद्ध करूँगा ! ॥ ४ ॥

५. गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥

(हि) निश्चित रूपसे, (महानुभावान् गुरून्) धर्म तथा परमात्माके सम्बन्धमें अधिक ज्ञान रखनेवाले विद्या-वयो-वृद्ध भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदिको, (अहत्वा) न मारकर, (इहलोके) इस संसारमें, (भैक्ष्यं भोक्तुम् अपि) भिक्षा माँगकर खा लेना भी, (श्रेयः) कल्याणकारी है। [नीतिशास्त्रका भी वचन है कि—'अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम् । अक्लेशयित्वा चात्मानं यदल्पमपि तद्बहु ॥'—दूसरेको बिना पीड़ा पहुँचाये, दुष्टोंके पास बिना गये तथा स्वयंको बिना कष्ट दिये जो थोड़ा भी प्राप्त हो उसे बहुत समझना चाहिए ।] (अर्थकामान् गुरून् हत्वा) गुरुदक्षिणा आदि अनेक रूपोंमें धन प्राप्त करनेकी कामनावाले गुरुजनोंको मारकर, (इह एव) मैं इस लोकमें ही, (रुधिरप्रदिग्धान्) रक्तसे सने हुए, (भोगान् भुञ्जीय) नारकीय विषय-भोगोंको भोगूँ, यह भला कैसे सम्भव है ! ॥ ५ ॥

६. न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

(न च एतत् विद्मः) और हम यह भी नहीं जानते, कि, (नः कतरत् गरीयः) हमारे लिये क्या श्रेष्ठ है—युद्ध करना या भिक्षावृत्तिसे जीवन चलाना, अथवा कौरवोंका पक्ष बड़ा है या हमारा ! (यद् वा जयेम) क्या हम जीत जायेंगे, (यदि वा नः जयेयुः) अथवा वे ही हमें जीत लेंगे ! (यान् हत्वा) जिन परम प्रिय भाई-भतीजे आदिको मारकर, (न जिजीविषामः) हम जीवित नहीं रहना चाहते,

(ते एव) वे ही, (धार्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्रके पुत्र-पौत्रादि सब लोग, (प्रमुखे) युद्धस्थलमें सम्मुख, (अवस्थिताः) खड़े हुए हैं ! ॥ ६ ॥

७. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः) अजितेन्द्रिय तथा तत्त्वज्ञानरहित होनेके कारण दयालुतारूप दोषसे नष्ट हुए स्वभाववाला, तथा, (धर्मसम्मूढचेताः) युद्ध करना धर्म है या युद्धका परित्याग धर्म है ? इसका ज्ञान न रखनेवाला मैं, (त्वां पृच्छामि) आपसे पूछ रहा हूँ । (यत् निश्चितं श्रेयः स्यात्) जो कार्य निश्चित रूपसे कल्याणकारी हो, (तत् मे ब्रूहि) वह मुझे बताइये । (अहं ते शिष्यः) मैं आपका शिष्य हूँ—शासन करने योग्य हूँ, (त्वां प्रपन्नम्) अपनी शरणमें आए हुए, (मां शाधि) मुझे शिक्षा दें कि इस समय मैं क्या करूँ ॥ ७ ॥

इन्द्रस्य गृहोसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेस्ति तेन ॥ **(अथर्ववेदः ५-६-११)**

मनुष्य परमात्मासे प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! (इन्द्रस्य गृहोसि) आप जीवात्माके निवासस्थान हैं, अतः,(सर्वगुः) सब इन्द्रियोंके साथ अर्थात् सब इन्द्रियोंको वशमें करके मैं, (तम्) सबके निवासस्थान-रूप उस, (त्वा=त्वाम्, प्रपद्ये) आपकी शरणको प्राप्त होता हूँ । (यत्) मन आदि या द्रव्य आदि जो भी पदार्थ, (मे अस्ति) मेरा है, (तेन सह) उस सबके साथ, (तं त्वा प्रविशामि) सबके निवासस्थान उस आपमें प्रवेश करता हूँ अर्थात् आपके चरणोंमें निवास करता हूँ । (सर्वपूरुषः) सब पुरुष आपके हैं अर्थात् आपके ही अधीन हैं । (सर्वात्मा) सबके अन्तर्यामी होनेसे आप सबकी आत्मा हैं । (सर्वतनूः) सारा संसार आपका शरीर है अर्थात् आप विराट्रूप हैं । तात्पर्य यह कि मनुष्य जबतक परमात्माकी शरणमें नहीं जाता, तबतक वह सुखी नहीं हो सकता ।

व्यासजीने भी कहा है—

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥
(भा. १०-३-२७)

मृत्युरूपी सर्पसे भयभीत होकर भागता हुआ प्राणी सारे लोकोंमें घूमा किन्तु कहीं भी निर्भय नहीं हो पाया । आज अचानक आपके चरणकमलोंको पाकर वह निश्चिन्त होकर सुखसे सो रहा है और मृत्यु उससे दूर भाग रही है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य जब बहुत दु:ख अथवा द्विविधामें फँस जाता है,उसे कल्याणका कोई मार्ग नहीं मिलता तब अन्तमें वह परमात्माकी शरण ढूँढ़ता है तथा बार-बार उनसे प्रार्थना करता है कि मैं आपकी शरण हूँ, आप मुझे शिक्षा दें कि मैं क्या करूँ। वेदमें भी एक प्रसंगमें मनुष्य परमात्मासे प्रार्थना करता है कि भले ही मैं सब इन्द्रियोंको वश कर लूँ, किन्तु यदि आपकी शरणमें न आऊँगा तो मेरा कल्याण न होगा। अत: मैं संसारसे विरक्त होकर अपना सर्वस्व आपको समर्पित करके आपकी शरणको प्राप्त होता हूँ। संसारमें आपके सिवाय और कोई मेरा रक्षक नहीं है।

८. न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥

(भूमौ) पृथ्वीपर, (असपत्नम् ऋद्धं राज्यम्) शत्रुरहित समृद्धिशाली राज्य, (च) अथवा, (सुराणामाधिपत्यम्) देवताओंका साम्राज्य, (अवाप्य) पाकर भी, (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिको, (उच्छोषणम्) अत्यन्त सन्ताप देनेवाले, (मम शोकम्) मेरे शोकको, (यत् अपनुद्यात्) जो दूर कर दे, ऐसी कोई वस्तु, (न हि प्रपश्यामि) मुझे नहीं दिखाई देती॥ ८॥

सञ्जय उवाच—

९. एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥

सञ्जयने कहा—राजन्! (परन्तप: गुडाकेश:) शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाला अर्जुन, (हृषीकेशम् एवम् उक्त्वा) भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर, (गोविन्दम्) फिर भगवान् श्रीकृष्णसे, (न योत्स्ये इति उक्त्वा) 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' यह कहकर, (ह तूष्णीं बभूव) खेदके साथ चुप हो गया॥ ९॥

१०. तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥

(भारत!) हे राजन् धृतराष्ट्र! (उभयो: सेनयो: मध्ये) कौरव तथा पाण्डव दोनोंकी सेनाओंके बीच, (विषीदन्तं तम्) खिन्न होते हुए उस अर्जुनसे, (हृषीकेश:) भगवान् श्रीकृष्ण, (प्रहसन् इव) हँसते हुए-से, (इदं वच: उवाच) इस प्रकारकी वाणी बोले॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच—

११. अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—(त्वम्) हे अर्जुन! तू, (अशोच्यान्) भीष्म-द्रोण आदि महानुभाव हैं अतः शोकके योग्य नहीं हैं, अथवा नाम-रूप देहके होते हैं, देह नाशवान् है, इस प्रकार शोक न करने योग्य इन विनश्वर देहोंके लिये, (अनु अशोचः) बार-बार शोक करता है, (च) और, (प्रज्ञावादान् भाषसे) सदसद्विवेकी बुद्धिमानोंके समान बातें करता है। (पण्डिताः) निश्चयात्मिका वुद्धि रखनेवाले ज्ञानी जन, (गतासून् च अगतासून्) मरे हुए अथवा जीवित पुत्र-पौत्रादिकोंके लिये, (न अनुशोचन्ति) शोक नहीं करते। प्रायः मूर्ख मनुष्य मरे हुए पुत्रादिके लिये शोक करते हैं तथा ज्ञानी जन उनके लिये शोक नहीं करते॥ ११॥

प्र यदित्था परावतः शोचिर्न मानमस्यथ।
कस्य क्रत्वा मरुतः कस्य वर्पसा कं याथ कं ह धूतयः॥
(ऋग्वेदः १-३९-१)

(धूतयः!) निर्बल मन होनेसे शत्रुओंको देखकर काँपनेवालो! तथा (मरुतः!) मरण स्वभाववाले हे मनुष्यो! अथवा भयके कारण मृतप्राय जीवात्माओ! [प्राणवायुके निकल जानेपर प्राणीकी मृत्यु हो जाती है अतः 'मरुतः' का अर्थ है मरनेवाला], (यत्=यदा) जब, (मानम्) मान अर्थात् तुम्हारा बल, (शोचिः न) तेज और शक्तिकी भाँति, (इत्था) युद्धस्थलसे, (परावतः) दूर, (प्र अस्यथ) प्रकर्षतासे हट जाय, अर्थात् तुममें पराक्रम या शक्ति न रह जाय और तुम युद्धस्थलसे दूर हट जाओ, सदसद्विवेकी होते हुए, पाण्डित्यकी बातें करते हुए भी उससे दूर रहो। हे भीरु मनुष्यो! युद्धस्थलको देखकर जैसे तुम्हारा बल दूर हो गया, वैसे तेज भी दूर हो गया। तो अब, (कस्य वर्पसा) किस मनुष्यके स्तुतिरूप संकल्पसे, (कम्) किस पुरुषको उद्देश्य करके, (किम्) किस पाण्डित्य लक्षणको उद्देश्य करके, (याथ) चलोगे?

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मूर्ख लोग व्यर्थ ही शोक न करने योग्य विनश्वर देह आदि पदार्थोंके लिये शोक करते हैं। ज्ञानी जन मृत प्राणियों और अज्ञानी या मूर्ख रूपमें जीवित प्राणियोंके लिये भी शोक नहीं करते। वेदमें कहा

गया है कि जब भीरु मनुष्य मृत्युके भयसे युद्धस्थलसे दूर भाग जाता है, शक्तिसम्पन्न होते हुए भी शक्तिहीन हो जाता है तथा उसका तेज नष्ट हो जाता है उस समय वह यह नहीं सोच सकता कि मुझे ज्ञानियोंका अनुसरण करना चाहिए या अज्ञानियोंका ।

१२. न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।

(अहं जातु न आसम्) 'तत् त्वमसि' इस वाक्यसे प्रसिद्ध तत्पदार्थक परमात्मा, तेरे सम्मुख स्थित मैं श्रीकृष्ण पहले कभी नहीं था, (न) यह बात नहीं है, (त्वम् न) तू पहले नहीं था, (न एव) यह बात भी नहीं है, तू पूर्वजन्ममें था, (इमे जनाधिपाः न) सामने दृष्टिगोचर होते हुए ये राजा लोग नहीं थे, (न) ऐसा भी नहीं है, इनका भी पूर्वजन्म था, (च) और, (अतः परम्) इस जन्मके अनन्तर, (वयं सर्वे) हम सब लोग, (न भविष्यामः) नहीं रहेंगे, अर्थात् हमारा जन्म न होगा, (न एव) यह बात भी नहीं है, अर्थात् इस जन्मके अनन्तर हमारा फिर जन्म होगा, क्योंकि आत्मा नित्य है ।। १२ ।।

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ।।
(अथर्ववेदः ११-८-३३)

जीवात्मा सूक्ष्म शरीर द्वारा कर्मोपभोगके स्थान स्थूल शरीरमें प्रवेश करके इन्द्रियों द्वारा पुण्य-पापमय कर्मोंके कारण उनके फलोपभोगके लिये मृत्युके अनन्तर भिन्न-भिन्न देहोंको प्राप्त करता है, यही इस मन्त्रमें बताया गया है ।

(प्रथमेन) प्रथम मुख्यतम स्थूल शरीरसे, (प्रमारेण, हेतौ तृतीया) जिन कर्मोंके द्वारा इस भोगायतन स्थूल शरीरका जन्म हुआ है उन कर्मोंका क्षय होनेसे मृत्युप्राप्तिके कारण यह जीवात्मा, (त्रेधा) सत्त्व, रज, तम तीन गुणोंकी प्रधानतासे स्वर्ग, मर्त्य तथा नरक लोकोंमें, (विष्वङ्) सब ओर अर्थात् नाना प्रकारकी योनियोंको, (वि गच्छति) विविध प्रकारके कृतकर्मफलोंके अनुसार जाता है। (एकेन) एक गुणसे अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान पुण्यकर्मसे, (अदः) विप्रकृष्ट उस स्वर्गसुखके धारक जन्मको, (गच्छति) जाता है । (एकेन) एक कर्म अर्थात् रजोगुणप्रधान सुख-दुःखके धारक कर्मसे, (अदः) उस मध्यलोकको, (गच्छति) जाता है अर्थात् मध्यलोकमें जन्म लेता है । (एकेन) एक कर्मसे

अर्थात् तमोगुणप्रधान पापकर्म करनेपर, (इह) इसी मर्त्यलोकमें नारकीय तिर्यगादि नीच योनियोंको, (निषेवते) प्राप्त करता है।

उपनिषद्में कहा गया है—

पुण्येन पुण्यलोकं नयति पापेन पापम्। उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।
(प्रश्न उ. ३-७)

पुण्यसे पुण्यलोक (देवलोक) को ले जाता है, पापसे पापलोकको, और पाप-पुण्य दोनोंसे मनुष्यलोकको।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
(श्वे. उ. ६-१३)

जो नित्योंका नित्य, चेतनोंका चेतन तथा अकेला ही बहुतोंकी कामनाओंको रचनेवाला है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मा नित्य है। इसका पूर्वजन्म था। पूर्वजन्ममें किए हुए कर्मोंका फल वह वर्तमान जन्ममें भोगता है, वर्तमान जन्ममें किए हुए कर्मोंका फल अगले जन्ममें। अतः देह अनित्य है, आत्मा नित्य है। वेदमें भी यही कहा गया है कि विनश्वर देह पूर्वजन्मकृत कर्मफलके क्षीण होनेपर सत्त्वगुणप्रधान कर्मोंके आधारपर स्वर्गादि सुख भोगता है, रजोगुण-प्रधान कर्मोंके आधारपर सुख-दुःखात्मक प्राप्तिवाले मध्यम लोकमें जन्म लेता है तथा तमोगुणप्रधान पापकर्मोंके करनेसे पशु-पक्षी-वृक्ष-चाण्डाल आदि नीच लोकोंमें जन्म लेता है। अतः यही सिद्ध होता है कि देह अनित्य तथा आत्मा नित्य है।

१३. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

हे अर्जुन ! (अस्मिन् देहे) इस देहमें, (यथा) जिस प्रकार, (देहिनः) देहमें वास करनेवाले आत्माकी, (कौमारम्) कुमारावस्था, (यौवनम्) युवावस्था, और, (जरा) वृद्धावस्था, होती है [ये अवस्थाएँ देहकी हैं न कि आत्माकी, क्योंकि देहके विकृत होनेपर भी आत्मा एकरस रहता है], (तथा) उसी प्रकार, (देहान्तरप्राप्तिः) स्थूलदेह त्याग करनेके अनन्तर आत्माको दूसरे देहकी प्राप्ति होती है। (तत्र) इस परिवर्तनमें, (धीरः) बुद्धिमान् प्राणी, (न मुह्यति) मोहको नहीं प्राप्त होता॥ १३॥

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
(ऋग्वेदः १-२४-१)

हे परमात्मन्! (नूनम्) निश्चय ही, (अमृतानाम्) अमर अर्थात् चिर कालतक स्थित पदार्थों यानी देहेन्द्रिय-संघातोंमेंसे, (कतमस्य) किस प्रकारके, (कस्य देवस्य) किस दिव्य स्वरूपका, (चारु नाम) मनोहर नाम, (मनामहे) उच्चारण करें—देहको, इन्द्रियोंको, देहेन्द्रिय-संघातको अथवा उनके स्वामी आत्माको अमर मानें? (कः) इनमें कौन देव, (नः) मरनेवाले हम मनुष्योंको, (मह्यै अदितये) महान् अखण्डनीय परमात्माको, (दात्) प्रदान करे अर्थात् पहुँचावे। मैं उस परमात्माकी कृपासे, (पितरं च मातरं च) पिता और माता-को, (दृशेयम्) देखूँ, अर्थात् मैं नित्यात्मरूप पुनर्जन्म पाकर माता-पिताका दर्शन करूँ। यह मन्त्र प्रश्नरूप है। उत्तररूप ऋचा आगे दी हुई है।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
(ऋग्वेदः १-२४-२)

(प्रथमस्य अग्नेः देवस्य) सबके आदि, प्रकाशमान, दिव्य गुणवाले आत्मा अथवा परमात्माका सुन्दर नाम उच्चारण करें। वह आत्मा अथवा परमात्मा पुनर्जन्म लेकर और देकर फिर माता-पिताका दर्शन कराता है।

तुलना—गीताके अनुसार बालपन, यौवन और वृद्धावस्था, इन अवस्थाओं-के आने-जानेके समय शरीरमें ही ह्रास-वृद्धि दिखाई पड़ती है, देहके स्वामी आत्मामें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार जीवात्मा पूर्वशरीरका त्याग कर देहान्तर धारण कर लेता है, अर्थात् आत्मा नित्य है। वेदमें भी यही बताया गया है कि देह, इन्द्रिय, या देहेन्द्रिय-संघात यद्यपि सुदीर्घ कालतक रहते हैं किन्तु उनमें चेतन सत्तावाला आत्मा ही नित्य है जो अपने किए कर्मोंके आधारपर परमात्मा द्वारा देहान्तरको प्राप्त कर माता-पिताका दर्शन करता है। आत्मा अमर है, नित्य है, पुनर्जन्म जीवात्माका ही होता है, देह अनित्य है।

१४. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(कौन्तेय!) हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन! (मात्रास्पर्शाः तु) रूप, रस आदि विषयोंका ज्ञान करानेवाली चक्षु आदि इन्द्रियोंसे स्पर्श किए जानेवाले अर्थात्

इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होनेवाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि भोग्य पदार्थ तो, (शीतोष्णसुखदुःखदाः) शीत और उष्णके समान सुख-दुःख देनेवाले हैं, अर्थात् जैसे गर्मीमें शीत सुखदायी किन्तु शीतकालमें शीत दुःखदायी होता है इसी प्रकार अनुकूल या प्रतिकूल होनेपर रूप-रस आदि विषय भी सुख-दुःख देते हैं। (आगमापायिनः) ये रूप-रसादि उत्पत्ति-विनाशवाले, पदार्थ, (अनित्याः) अनित्य अर्थात् क्षणभंगुर हैं। (भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (तान्) इन्द्रिय-जन्य उन रूप-रसादि विषयोंको, अर्थात् पदार्थोंके संयोग-वियोगको, (तितिक्षस्व) सहन कर, तब तेरा कल्याण होगा ॥ १४ ॥

अति [1]निहो अति [2]सृधोत्यचित्तीरति द्विषः।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं [3]सहवीरं रयिं दाः ॥
(अथर्ववेदः २-६-५)

(अग्ने !) हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! तू, (निहः) सुख-दुःख देनेवाले रूप-रस आदि भोग्यपदार्थजन्य प्राणियोंके घातकोंको, या निकृष्ट योनियोंमें ले जाने-वाले निकृष्ट कर्मोंको, (अति तर) भलीभाँति पार कर अर्थात् रूप-रस आदि विषयोंमें न फँस। (सृधः) देहके सुखानेवाले विषैले पदार्थोंको, (अचित्तीः) शुद्ध ज्ञानसे रहित अर्थात् पापात्मक बुद्धियोंको, तथा, (द्विषः) काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओंको, (अति तर) सर्वथा पार कर अर्थात् इनके पास भी न जा। (विश्वा दुरिता) अनित्य सुख-दुःख देनेवाली सब बुराइयोंको, (हि त्वम् अति तर) हे जीवात्मन् ! निश्चय ही तू पार कर। (अथ) तदनन्तर, (अस्मभ्यम्) हम मुमुक्षु मनुष्योंको, (सहवीरम्) सत्फलानुकूल सदाचारके साथ, (रयिम्) शुद्ध भगवज्ज्ञान और परमात्माकी ओर जानेके लिये वेग, (दाः) दान कर।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सुख और दुःख देनेवाले अनित्य रूप, रस आदिकी मार सहन करनेके अनन्तर ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है, अतः मनुष्य-को विषयोंका दास न वनना चाहिए। वेदका भी यही कथन है कि नाशक

---

१. निहः—हन्तेः क्विपि टिलोपश्छान्दसः। यद्वा—'ओहाङ गतौ' इति धातोः क्विबन्तात् शसि 'आतो धातोः' इत्याकारलोपः।

२. सृधः—स्रेधतिः शोषणकर्मा छान्दसः। ततः क्विप्।

३. सहवीरम्—'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति तुल्यक्रियायोगे 'बहुव्रीहौ वोपसर्ज-नस्य' 'सहस्य सः' इति विकल्पः।

विषय, असद्विचार तथा देह-शोषक विषैले पदार्थ, इनके त्यागसे ही भगवत्प्राप्ति सम्भव है।

१५.　यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरः सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(पुरुषर्षभ !) हे नरश्रेष्ठ अर्जुन ! (एते) सुख-दुःख देनेवाले ये रूप-रसादि भोग्य पदार्थ, (समदुःखसुखम्) सदा सब पदार्थोंमें सुख-दुःखको समान जाननेवाले, (धीरम्) बुद्धिमान् और धीर, (यं पुरुषम्) जिस पुरुषको, (हि) निश्चित रूपसे, (न व्यथयन्ति) दुखी नहीं करते, (सः) वह पुरुष, (अमृतत्वाय) अमरपद अर्थात् मुक्तिपदके लिये, (कल्पते) कल्पना किया जाता है अर्थात् वही मुक्तिका अधिकारी होता है॥ १५॥

न यं जरन्ति शरदो न मासा न द्याव इन्द्रमवकर्शयन्ति।
वृद्धस्य चिद्वर्धतामस्य तनूः स्तोमेभिरुक्थैश्च शस्यमाना॥

(ऋग्वेदः ६-२४-७)

हे मुमुक्षु पुरुष ! (यम् इन्द्रम्) सुख-दुःख आदि सब अवस्थाओंमें समान जिस जीवात्माको, (शरदः न जरन्ति) छहों ऋतुएँ या पूरी आयुके सभी वर्ष शीतोष्णजन्य सुख-दुःखसे जीर्ण नहीं करते, (मासाः न जरन्ति) महीने चाहे अच्छे यानी शुक्लरूप बीतें, चाहे बुरे यानी कृष्णरूप, ये सुख-दुःखमें समान होनेसे जिसे जीर्ण नहीं करते, (यं द्यावः न अवकर्शयन्ति) जिस मुमुक्षु भगवद्भक्तको रात-दिन सुख-दुःख व्याप्त न होनेसे क्षीण नहीं करते अर्थात् वर्ष-मास-दिनोंमें आयु बढ़नेपर भी भक्तिके प्रभावसे भक्तका शरीर क्षीण या जीर्ण नहीं होता, प्रत्युत वह नित्य युवा रहता है, (अस्य वृद्धस्य) सुख-दुःखमें समान तथा ज्ञान, ध्यान और धीरतासे बढ़े हुए इस योगीका, (तनूः) शरीर, (स्तोमेभिः शस्यमाना) परमात्माकी गुणगानमयी स्तुतियोंसे सब लोगों द्वारा प्रसन्नताके कारण प्रशंसित, (च) और, (उक्थैः शस्यमाना चित्) शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न होता हुआ भी, (वर्धताम्) अत्यन्त बढ़ा हुआ अर्थात् मोटा-ताजा प्रतीत होता है, अर्थात् इन लक्षणोंवाला पुरुष मुक्तिका अधिकारी होता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठ उ. २-५-११)

जैसे सूर्य सारे संसारका नेत्र होकर भी नेत्रके बाहरी दोषोंसे लिप्त नहीं होता इसी प्रकार एक ही आत्मा सब भूतोंका अन्तरात्मा होकर भी लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता क्योंकि वह भीतर रहते हुए भी बाह्य अर्थात् भिन्न है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंका परित्याग और सुख-दुःखमें समान स्थिति मुक्तिलाभके हेतु हैं। वेद तथा उपनिषद्में भी यही कहा गया है कि सारी आयुके वर्ष, मास, दिन भले बीतें या बुरे, आन्तरिक या बाह्य सुख-दुःख जिसे प्रभावित न करें, सभी अवस्थाओंमें जो भगवद्भक्तिमें लीन रहे उसका देह सदा वृद्धियुक्त अर्थात् युवाके समान रहता है तथा वही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है।

१६. **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

हे अर्जुन ! (असतः) देहादि अनित्य पदार्थोंका अर्थात् अभावका, (भावः न विद्यते) होना, अर्थात् सत्ता या नित्यता विद्यमान नहीं हो सकती, और, (सतः) सत्य या नित्य अर्थात् आत्माका, (अभावः न विद्यते) अभाव या हानि विद्यमान नहीं हो सकती। (तत्त्वदर्शिभिः) तत्त्वद्रष्टा या तत्त्व-ज्ञानियोंने, (अनयोः उभयोः) सत् और असत्, भाव और अभाव, इनका, (अपि) भी, (अन्तः) सिद्धान्त अर्थात् निश्चय, (दृष्टः) देख लिया है॥ १६॥

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥
(ऋग्वेदः ७-१०४-१२)

(चिकितुषे जनाय) सदसद्विवेकी तत्त्वज्ञानी मनुष्यके लिये, (सुविज्ञानम्) यह जानना सरल है कि सत्-असत्, नित्य-अनित्य क्या है, (सत् च असत् च वचसी) सत् और असत्, नित्य और अनित्य, ये दो वचन, (पस्पृधाते) आपसमें स्पर्धा करते हैं कि जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता, जो असत् है वह सत् नहीं हो सकता, आदि, (तयोः) उन दोनों सत् और असत्में, (यत् सत्यम्) जो सत्य अर्थात् भाव है, (यतरत् च) और जो, (ऋजीयः) बहुत सीधा-सादा, सदा एक स्वरूपमें रहता है, (तत् इत्) वह सत् ही, (सोमः) सौम्य गुण अर्थात् आत्मसत्तात्मक अथवा अमृतस्वरूप नित्य एकरसात्मक आत्मा, (अवति) संसार-सागरसे रक्षा करता है। (असत्) देहादि असत् पदार्थ, (आ हन्ति)

इस प्राणीको प्रत्येक प्रकारसे नष्ट कर देते हैं अर्थात् देहादि असत् पदार्थोंको सत्य माननेवाला मनुष्य संसार-सागरमें जन्म-मरणकी डुबकियाँ लेता रहता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि न सत्य वस्तुका अभाव होता है, न असत्य वस्तुका भाव। देहादि असत् पदार्थ नाशवान् हैं और आत्मा सत्य है। नित्य आत्माका अभाव अर्थात् नाश नहीं होता। वेदमें भी यही कहा गया है कि सत्य और असत्य परस्पर विरुद्ध हैं। सत्य पदार्थका अभाव और असत्य पदार्थका भाव कदापि सम्भव नहीं है। सोम अर्थात् आत्मा सत्य है। वह संसारसे मुक्त हो जाता है तथा देहादि असत् पदार्थ बार-बार जन्म लेते रहते हैं।

१७. अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥

हे अर्जुन! (येन) जिस विभु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मासे, (इदं सर्वम्) दृष्टिगोचर होने या न होनेवाला यह सारा जगत्, (ततम्) व्याप्त है, अर्थात् जो सबमें व्यापक होकर वास करता है, (तत्) उस सर्वव्यापक तत्त्व अर्थात् आत्माको, (तु) तो, (अविनाशि विद्धि) कभी भी नाश न होनेवाला जान। (कश्चित्) कोई प्राणी, (अस्य अव्ययस्य) इस अविकारी आत्मतत्त्वका, (विनाशं कर्तुम्) विनाश करनेके लिये, (न अर्हति) योग्य या समर्थ नहीं है अर्थात् इस आत्माका कोई हनन नहीं कर सकता॥ १७॥

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥
(अथर्ववेदः १७-१-१९)

(असति) ब्रह्मलोकसे लेकर स्तम्ब तृण पर्यन्त सब असत् या नाशवान् पदार्थोंमें, (सत् प्रतिष्ठितम्) नित्य एकरस आत्मा व्यापक रूपसे स्थित है। ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ असत् कहे जाते हैं तथा सत् परमात्मा कहा गया है। क्योंकि देह आत्माका निवासस्थान है अतः 'असति सत् प्रतिष्ठितम्' कहा गया है। (सति) नित्य आत्मामें, (भूतम्) पृथिव्यादि भूतपञ्चक अथवा सकल सृष्टिका उपादान कारण अव्यक्त, (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है अर्थात् इस अव्यक्तका आश्रय लेकर सारा प्रपञ्च प्रकट होता है [तस्मादेतस्माद्वा आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः—तै. आ. ८-१]। (ह) निश्चय ही, (भूतं भव्ये आहितम्)

इस देहादि कार्यका उपादान भूत देहादि कार्य-समूहमें धारण किया हुआ है। (भव्यम्) वह देहादि कार्यजात, (भूते प्रतिष्ठितम्) अपने-अपने कारणरूप भूतपञ्चकमें नियत रहता है। जैसे पार्थिव देहोंमें पृथिवी, जलीय देहोंमें जल, आग्नेय देहोंमें अग्नि, वायवीय देहोंमें वायु प्रधान होता है। ऐसे-ऐसे रूपमें, (प्रतिष्ठितम्) नियत रहता है। कारणके बिना कार्य नहीं होता और कार्य-कारणका अविनाभाव सिद्ध है अतः आत्मा नित्य तथा कार्यमात्र ब्रह्माण्ड असत् कहा गया है। इसीलिये आत्माका नाश कोई नहीं कर सकता। (विष्णो!) हे ब्रह्माण्डमें व्यापक परमात्मन्! या देहमें व्यापक रूपसे रहनेवाले जीवात्मन्! (तव इत् वीर्याणि) आपके ही चित् अर्थात् चेतना-शक्तिजन्य पराक्रम, (बहुधा) बहुत प्रकारके हैं, देहादि पदार्थोंके नहीं। (त्वम्) शुद्ध-बुद्ध-नित्य आप आत्मा, (नः) हम संसारी जीवोंको, (विश्वरूपैः पशुभिः) विश्वरूपात्मक जीवोंद्वारा, (पृणीहि) ज्ञानसे, पूर्णतया तृप्त कीजिए, और, (माम्) मुझ मुमुक्षु जीवको देह-त्यागके अनन्तर, (परमे व्योमन्) सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म सर्वरक्षक परमात्मस्वरूप, (सुधायाम्) आनन्दामृत अर्थात् मुक्ति-धाममें, (धेहि) स्थापित कीजिए।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जिस आत्माने इस संसारको प्रकट किया और उसमें व्यापक होकर वास करता है वह अविनाशी है, उसका कोई विनाश नहीं कर सकता। वेदमें भी कहा गया है कि असत् पदार्थोंमें सत् अविनश्वर आत्मा वास करता है। सम्पूर्ण कार्य-जगत्का सञ्चालक वही आत्मा है। जैसे सारे भूतात्मक प्रपञ्चमें चेतन-सत्तासे काम करता हुआ परमात्मा व्यापक रहता है वैसे देहमें आत्मा उसका सञ्चालक एवं स्वामी होकर वास करता है। जैसे कार्यरूपमें ब्रह्माण्ड असत् और परमात्मा सत्य तथा नित्य है वैसे ही देह विनश्वर तथा आत्मा अविनाशी है। वह ब्रह्मामृत-रसास्वाद लेनेपर अमृतधाममें प्रवेश करता है।

१८. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥

(अप्रमेयस्य) माप-तौलसे रहित, (अनाशिनः) नष्ट न होनेवाले, (नित्यस्य शरीरिणः) ब्रह्मलोकसे लेकर स्तम्ब तृण पर्यन्त सब शरीरोंमें उपलब्ध होनेवाले नित्य आत्माके, (इमे देहाः) ये भोगायतन देह, (अन्तवन्तः) नाशवान् हैं। (भारत!) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन! (तस्मात्) इसलिये, (युध्यस्व) युद्ध कर। तुझे युद्ध करनेमें कोई दोष न लगेगा॥ १८॥

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥

(ऋग्वेदः ६-९-४)

(अयम्) यह आत्मा, (प्रथमः) अनादि अर्थात् सब कार्यजगत्से पहले रहनेवाला, नित्य, (होता) सबको अपनेमें हवन करनेवाला अर्थात् सबको अपने पास बुलानेवाला, या इन्द्रियोंका भक्षण करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंका नियामक है। (इमं पश्यत) इस आत्माको देहमें देखो अर्थात् देह विनश्वर है तथा आत्मा नित्य है, इस बातको देखो। (मर्त्येषु) मरणधर्मवाले देहोंमें, (इदं ज्योतिः) यह प्रकाशरूप आत्मा, (अमृतम्) मरणसे रहित अर्थात् नित्य है। (अयं ध्रुवः जज्ञे) सदा एकरसमें स्थिर स्वरूपवाला यह आत्मा देहमें प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट हुआ। (तन्वा वर्धमानः) देहके साथ बढ़ता हुआ, अर्थात् बचपन, यौवन आदि अवस्थाओंमें देहके अनुरूप रहता हुआ, 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस उक्तिका अनुसरण करता हुआ, मशक और हस्ती आदिके देहानुकूल प्रकट होता हुआ यह आत्मा, (अमर्त्यः) स्वयं मरणधर्मसे रहित अर्थात् नित्य होकर, (आ निषत्तः) सब ओर स्थित होता है।

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।

(ऋग्वेदः १०-७९-१)

(मर्त्यासु विक्षु) मरण धर्मवाली प्रजा अर्थात् संसारके सभी देहोंमें, (महतः) सबसे महान्, (अस्य अमर्त्यस्य) इस न मरनेवाले नित्य आत्माकी, (महित्वम्) महिमाको, (पश्यत) देखो, अर्थात् देह विनश्वर है, उसमें रहनेवाली आत्मा नित्य है, इस महिमाको देखो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मा अप्रमेय, अविनाशी तथा नित्य है और उसका भोगायतन स्थान देह अनित्य है अतः देहका नाश होनेपर शोक करना व्यर्थ है। वेदमें भी यही कहा गया है कि यह आत्मा अनादि है तथा सब देहोंमें मशक, हस्ती आदिके देहानुरूप होकर वास करता है। अनित्य देहमें वास करनेवाला यह आत्मा मरणधर्मसे रहित तथा नित्यस्वरूप है, उसमें कोई विकार नहीं होता।

१९. य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

(यः) जो मनुष्य, (एनम्) इस आत्माको, (हन्तारम्) मारनेवाला, (वेत्ति) जानता है, (च यः) और जो मनुष्य, (एनम्) इस आत्माको, (हतं मन्यते) मरा हुआ मानता है, (तौ उभौ) वे दोनों, (न विजानीतः) वास्तविक तत्त्वको नहीं जानते । (अयं न हन्ति) यह आत्मा न किसीको मारता, (न हन्यते) न किसीसे मारा जाता है ॥ १९ ॥

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥
(अथर्ववेदः ८-२-२४)

(अरिष्ट !) हे अरिष्ट अर्थात् हिंसासे रहित जीवात्मन् ! (सः) मरने और मारनेकी क्रियासे रहित वह तू जीवात्मा, (न मरिष्यसि न मरिष्यसि) युद्धादिस्थलोंमें न किसीसे मरेगा, न किसीको मारेगा, यह निश्चय रख, अतः, (मा बिभेः) तू मृत्युसे भय न कर । (तत्र वै न म्रियन्ते) आत्मा नित्य एवं देह अनित्य है अतः आत्म-साक्षात्कारके अनन्तर पापादि कर्मोंसे मुक्त जीवात्मा निश्चय ही न किसीसे मारे जाते हैं, न किसीको मारते हैं, (न अधमं तमः यन्ति) युद्धादिस्थलोंमें वर्णधर्मानुकूल कर्म करनेपर भी पापको नहीं प्राप्त होते अर्थात् उन्हें पाप नहीं स्पर्श करता अतः वे पापजन्य कर्मफलसे नीच योनियोंको नहीं प्राप्त करते ।

तुलना—गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बताया है कि जो मनुष्य इस आत्माको मारनेवाला या जो किसीसे मारा जानेवाला मानता है वे दोनों आत्मतत्त्वको नहीं जानते। आत्मा नित्य है, न किसीको मारता, न किसीसे मारा जाता है । वेदमें भी यही कहा गया है कि हे जीवात्मन् ! तू अरिष्ट अर्थात् मृत्यु दोषसे रहित है अतः तू भय न कर । न तू किसीको मारेगा, न किसीसे मरेगा । तू नित्य, अमर है ।

२०. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

हे अर्जुन ! (अयम्) यह आत्मा, (कदाचित् न जायते) कभी उत्पन्न नहीं होता क्योंकि अज है, (कदाचित् न म्रियते) और कभी मरता नहीं क्योंकि अमर है । (अयं भूत्वा) यह आत्मा प्रकट होकर, (भूयः न भविता) फिर प्रकट न होगा, (न) यह बात नहीं है, फिर भी यह आत्मा रहेगा । यह आत्मा, (अजः) अजन्मा, (नित्यः) नित्य, (शाश्वतः) नित्य रहनेवाला, तथा,

(पुराणः) सर्वप्राचीन, सर्वप्रथम होते हुए भी चिरनवीन है, अतः, (शरीरे हन्यमाने) शरीर के मारे जानेपर, (न हन्यते) यह नहीं मारा जाता ।

न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति ।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥

(ऋग्वेदः ५-५४-७)

(मरुतः !) हे मनुष्य-शरीर धारण करनेवाले तत्त्वज्ञानी मुमुक्षु मनुष्यो ! (यम् ऋषिम्) मनुष्य-देहमें प्राप्त हुए साक्षात्कृतधर्मवाले, और, (राजानम्) अपने ज्ञानमय प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले आत्माको, (सुषूदथ) सत्कर्मोंमें प्रेरित करो अर्थात् नित्य आत्माको शुभकर्मोंमें स्थिति कराओ, क्योंकि, (सः) वह आत्मा, (न जीयते) न किसीसे जीता जाता, न किसीको जीतता है, (न हन्यते) न किसीसे मारा जाता, न किसीको मारता, (न स्रेधति—स्रेधतिः शोषण-कर्मा) न वह क्षीण होता, (न व्यथते) न किसीसे पीड़ित होता, (न रिष्यते) तथा वह किसीसे हिंसित नहीं होता अर्थात् सदा अहिंस्य है । (अस्य) इस आत्माका, (रायः) ज्ञानधन, (न उपदस्यन्ति) क्षीण नहीं होता, (अस्य ऊतयः न उपदस्यन्ति) तथा इस आत्माकी संसार-सागरमें डूबनेसे बचानेके लिये सर्व प्रकारकी रक्षाएँ अर्थात् रक्षाके उपाय क्षीण नहीं होते अर्थात् आत्मा संसार-सागरसे मुक्त होकर भगवच्चरणोंमें समा जाता है ।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥

(अथर्ववेदः १०-८-३२)

हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! (अन्ति सन्तम्) जीवात्मा निकट विद्यमान देहको, (न जहाति) नहीं छोड़ता, अर्थात् देहको अपना समझ लेता है, या अज्ञानी नास्तिक मनुष्य देहको ही आत्मा समझता है अतः इसे नहीं छोड़ता तथा छोड़ते समय शोक करता है, (अन्ति सन्तं न पश्यति) देहमें निकट, हृदयभागमें वास करते हुए आत्माको नहीं देखता-पहचानता अर्थात् देहके नष्ट होनेपर व्यर्थ ही 'मैं मर गया' ऐसा शोक करता है । (देवस्य) अपने दिव्य प्रकाशसे प्रकाशवान् आत्माके, (काव्यम्) ज्ञानस्वरूपको, (पश्य) देख । (न जीर्यति) वह आत्मा न जीर्ण होता, (न ममार) न मरता है, वह नित्य, एकरूप और अव्यय है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मा न कभी उत्पन्न होता, न मरता है । एक बार प्रकट होकर फिर प्रकट न हो, ऐसा भी नहीं है । वह अजन्मा तथा

सदा नूतन है और देहके नष्ट होनेपर नष्ट नहीं होता। वेदमें भी यही कहा गया है कि यह आत्मा अजेय है, कभी जीर्ण नहीं होता, अस्त्र-शस्त्रोंसे मारा नहीं जा सकता, किसीसे पीड़ित नहीं किया जा सकता, न किसीको मारता, न किसीसे मारा जा सकता है। यह नित्य-ज्ञानस्वरूप है। अज्ञानी मनुष्य आत्माके निवासस्थान इस देहको ही आत्मा समझकर उसे नहीं छोड़ना चाहता और देहके भीतर वास करते हुए आत्माको न देखता, न पहचानता है। आत्मा क्रान्तदर्शी है। न वह जीर्ण होता, न मरता है। वह सदा नित्य, अजर-अमर है।

२१. **वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।**
कथं स पुरुषः पार्थ! कं घातयति हन्ति कम्॥

(पार्थ!) हे अर्जुन! (यः) जो, (पुरुषः) पुरुष, (एनम्) इस आत्माको, (अविनाशिनम्) नाशरहित अर्थात् द्रव्यगुणादि परिच्छेदसे रहित, (नित्यम्) सदैव एकरस रहनेवाला, (अजम्) जन्मसे रहित, (अव्ययम्) अवयवों तथा गुणोंके उपचय और अपचयसे रहित, (वेद) जानता है, (सः पुरुषः) सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ वह विद्वान्, (कथम्) क्यों अथवा कैसे, (कम्) किसको, (घातयति) हनन करवाये, या, (कम्) किसको, (हन्ति) हनन करे, अर्थात् वह न किसीसे हनन करवाता है, न आप हनन करता है॥ २१॥

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै॥
(ऋग्वेदः ४-२-१)

(यः) जो, (अग्निः) जीवात्मा, (देवः) ज्ञानसे प्रकाशमान, (मर्त्येषु) मरणधर्मवाले देहादि पदार्थोंमें, (अमृतः) मरणधर्मसे रहित, अमर, (ऋतावा) सत्यधर्मसे युक्त अर्थात् नित्य, (देवेषु अरतिः) इन्द्रियों और उनके विषयोंमें स्नेह न रखनेवाला या विद्वानोंमें संगति रखनेवाला [अरतिः—'रमु क्रीडायाम्' नञ्समासः, अथ च 'ऋ गतौ', वहिवस्यर्तिभ्यश्चेति अतिप्रत्ययः], (निधायि) स्थित है, वह, (होता) दाता अथवा कर्मफलभोक्ता होकर, (यजिष्ठः) देवपूजनादिके लिए भगवद्भक्तोंकी संगति करनेवाला अथवा परमात्म-भजन-पूजन करनेवालोंमें श्रेष्ठ, (मह्ना) अपने महत्त्वसे, (शुचध्यै) प्रकाश करनेके लिए स्थित है, वही, (हव्यैः) अन्नादि पदार्थोंसे, (मनुषः) मनुष्यमात्रकी, (ईरयध्यै) प्रेरणा, उन्नति करनेके लिए स्थित है।

आत्माके नित्यत्वका प्रतिपादन उपनिषदोंमें यत्र-तत्र किया गया है—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्।

(ऐ. उ. १)

सबसे पहले यह एक आत्मा ही था, अन्य तनिक भी कुछ न था—इससे आत्माका भूतकाल सिद्ध है।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्।

(मु. उ. ३-१-९)

सब प्रजाओंकी इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणमें ओतप्रोत है, सारी सृष्टिमें व्यापक है—इससे आत्माका वर्तमानकाल सिद्ध है।

यस्मिन् प्रयन्त्यभि संविशन्ति।

जिसमें सब प्रवेश कर जाते हैं—इससे आत्माका भविष्यत्काल सिद्ध है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।

(कठ उ. २-२-१३)

वह नित्योंका भी नित्य है और चैतन्योंका भी चेतन है—इससे आत्माका नित्यत्व सिद्ध है।

स वा एष महानज आत्मा अन्नादः।

(बृ. उ. ४-४-२४)

सो जो यह महान् अज है और अन्नाद है अर्थात् जन्मता नहीं, जगत्‌रूप अन्नको प्रलयकालमें भक्षण कर जाता है अर्थात् सारा जगत् जिसमें प्रवेश कर जाता है सो यही आत्मा है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जीवात्मा अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय है तथा न वह स्वयं मरता है न किसीको मारता है। वेदमें भी जीवात्माको मर्त्यप्राणियोंमें अमर, अपने महत्त्वसे प्रकाशमान, नित्यस्वरूप तथा सत्संगतिसे मुक्ति पानेवाला बतलाया गया है।

२२. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(यथा) जिस प्रकार, (नरः) मनुष्य, (जीर्णानि) पुराने, (वासांसि) वस्त्रोंको, (विहाय) त्यागकर, (अपराणि) दूसरे, (नवानि) नवीन, (वासांसि) वस्त्रोंको, (गृह्णाति) धारण करता है, (तथा) उसी प्रकार, (देही) जीवात्मा, (जीर्णानि) काल और कर्मके प्रभावसे त्यागने योग्य,

पुराने, (शरीराणि) शरीरोंको, (विहाय) छोड़कर, (अन्यानि) नाम, रूप, जाति और गुणविशेषोंसे विलक्षण दूसरे, (नवानि) नये-नये शरीरोंको, (संयाति) प्राप्त होता है, न कि स्वयं विकृत होता है ॥ २२ ॥

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥

(ऋग्वेदः १-१६४-३०)

(पस्त्यानाम्) जीवात्माके शरीरोंके, (मध्ये) बीचमें, (अनत्) प्राणको धारण करता हुआ, (तुरगातु) कर्मफल भोगनेके लिए चलता हुआ, (जीवम्) अपने जीवनको, (एजत्) चलाता हुआ, (ध्रुवः) स्थिर अर्थात् नित्यात्मा, (आ शये) वास करता है । (अमर्त्यः) मरण-धर्मसे रहित यह जीवात्मा, (मर्त्येन) नाश होनेवाले शरीरके साथ, (सयोनिः) समान स्थानमें वास करता है । (मृतस्य) काल और कर्मके वशसे नाश हुए शरीरका, (जीवः) जीवात्मा, (स्वधाभिः) पूर्व शरीर छोड़नेके अनन्तर अपनी धारक शक्तियोंके साथ, (चरति) दूसरे देहमें भ्रमण करता है ।

सायण-भाष्य भी इस प्रकार है—

(अनेन देहस्य असारता) इस मंत्रसे देहकी अनित्यता, (जीवस्य नित्यत्वं च प्रतिपाद्यते) और जीवकी नित्यता बतलाई जाती है । (इदं शरीरम्) यह शरीर, (जीवावस्थायाम्) जीवन अवस्थामें, (अनत्=प्राणनं कुर्वत्) प्राणापानादि कर्म करता हुआ, (जीवम्=जीवनवत्) जीवनकी तरह, (तुरगातु=स्वव्यापाराय तूर्णगमनं सत्) अपने कामकाज के लिए तेज चाल-वाला होता हुआ,(एजत्=कम्पमानं सत्) काँपता हुआ, (शये=शेते, वर्तते) सोता है अर्थात् वास करता है । (पश्चात् प्राणापगमनानन्तरम्) फिर प्राणोंके निकल जानेके अनन्तर, (उक्तविलक्षणं सत्) पूर्वोक्त बातोंसे विलक्षण हुआ, (ध्रुवम्=अविचलितं सत्) नित्य स्थिररूप रहता हुआ, (पस्त्यानाम् मध्ये= गृहाणां मध्ये) घरोंमें, (आशेते च स्थाणुवत्तिष्ठति) इनमें सोता है अर्थात् स्थाणुवत् रहता है। (अथ जीवस्य वैलक्षण्यमाह) अब जीवकी विलक्षणताको कहते हैं–(मृतस्य=शरीरस्य सम्बन्धी), मृत शरीरका सम्बन्धी, (जीवः) जीव, (मर्त्येन) मरण धर्मवाले शरीरके साथ, (सयोनिः=पूर्वं समानोत्पत्तिस्थानः) एक ही उत्पत्ति-स्थानवाला है। (यद्यपि जीवस्य) यद्यपि जीवका, (न जन्म अस्ति) जन्म नहीं होता, (तथापि वपुषस्तत्सद्भावात्) तो भी शरीरके उसके

साथ होनेसे, (तत्सम्बन्धेन उपचर्यते) उसके सम्बन्धसे व्यवहार किया जाता है। (अमर्त्यः=अमरणस्वभावः) न मरनेके स्वभाववाला [जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते–छा. उ. ६-११-३ इति श्रुतेः] जीवसे दूर हुआ यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता, इस श्रुतिके कथनसे। (उक्त-स्वभावो जीवः) उक्त स्वभाववाला जीवात्मा, (स्वधाभिश्चरति=स्वधाकार-पूर्वकदत्तैः अन्नैः चरति वर्तते) पुत्रोंद्वारा स्वधाकारके साथ दिये हुए अन्नसे रहता है।

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः।
अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन् यक्षीह देवान्॥

(ऋग्वेदः १०-१-६)

(राजन्!) हे स्वशुभकर्मोंसे प्रकाशमान जीवात्मन्! (सः) वह, (अग्निः) जीवात्मा, (पृथिव्याः नाभा) पृथिवीके मध्य जीवात्माके आवरण-रूप पुराने शरीररूपी कपड़ोंको दूर करके, (अध) फिर, (इडायाः पदे) उत्तर वेदी अर्थात् उत्तर-उत्तर जन्ममें—

एतद्वा इडायास्पदं यदुत्तरवेदी नाभिः। (ऐ. ब्रा. ५-२)

यानी पृथिवीपर अपर जन्ममें, (पेशनानि) नूतन, मनोहर रूपवाले, (वस्त्राणि) जीवात्माके आवरणरूप शरीरोंको, (वसानः) धारण करता हुआ, (जातः) पुनर्जन्मको पाकर, (अरुषः) अपने शुभकर्मोंसे प्रकाशमान होता हुआ, (पुरोहितः) स्वकर्मफलोंके उपभोगके लिये आगे-आगे स्थित हुआ, अथवा पूर्ण हितकारी, (इह) इस जन्ममें, (देवान्) इन्द्रियोंको, (यक्षि) सेवन करता है।

श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः॥ (१०-१-४०)

तुलना—गीतामें पुराने वस्त्रोंके परित्याग तथा नए वस्त्रोंके ग्रहण करनेके दृष्टान्तसे जीवात्माकी नित्यता और पुनर्जन्म सिद्ध किया गया है। वेदमें भी जीवा-त्माकी नित्यता, पुराने देहोंका जीवात्माद्वारा परित्याग तथा नए देहोंका कर्म-फलोंके उपभोगके लिए ग्रहण करना और स्थूल इन्द्रियों तथा उनके विषयोंका उपभोग बताया गया है।

२३. **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

(शस्त्राणि) अस्त्र-शस्त्रादि, (एनम्) इस आत्माको, (न छिन्दन्ति) नहीं काट सकते, (पावकः) अग्नि, (एनम्) इस आत्माको, (न दहति) देहकी तरह भस्म नहीं कर सकता, (आपः) जल, (एनम्) इस आत्माको, (न क्लेदयन्ति) गीला नहीं कर सकता, (च) और, (मारुतः) पवन, (एनम्) इस आत्माको, (न शोषयति) नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥

युष्माकं बुध्ने अपां न यामनि विथुर्यति न मही श्रथर्यति ।
विश्वप्सुर्यज्ञो अर्वागयं सु वः प्रयस्वन्तो न सत्राच आ गत ॥

(ऋग्वेदः १०-७७-४)

हे जीवात्माओ ! (युष्माकम्) तुम्हारे, (बुध्ने) संघातात्मक देहमें, (अयम्) यह जीवात्मा, (न विथुर्यति) व्यथित अर्थात् नष्ट नहीं होता। (अयम्) यह आत्मा, (अपाम्) जलोंके, (यामनि) मार्गमें, (न विथुर्यति) गीला नहीं हो सकता। (अयम्) यह जीवात्मा, (मही) पृथिव्यादि वस्तुकी तरह, (न श्रथर्यति) अस्त्र-शस्त्रादिसे वध नहीं किया जाता। (अयम्) यह, (यज्ञः) विष्णुका अंश अथवा सत्सङ्गति करनेवाला अथवा भगवद्भक्त यह जीवात्मा, (विश्वप्सुः) स्वतन्त्रतासे समग्र कर्म करनेवाला या स्वकर्मफलानुरूप समग्र कर्मरूप हुआ, (वः) आत्म-अनात्मविवेकवाले तुम्हारे, (अर्वाक्) सामने, (सु) भली-भाँति देहको छोड़कर जानेवाला है। इसलिये तुम सब विवेकी अथवा अविवेकी पुरुष भी, (प्रयस्वन्तः) देह विनाशवान् है, आत्मा नित्य है, इस बातको जाननेका प्रयत्न करते हुए, (सत्राचः) चिन्तासे युक्त, (आगत) संसारमें आओ।

उपनिषद्का भी कथन है कि अग्नि इस आत्माका कुछ नहीं बिगाड़ सकता—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥

(मु. उ. २-१०)

उस आत्माके महामण्डलमें जब न सूर्य प्रकाश कर सकता है, न चन्द्रमा, न तारागण, न ये बिजलियाँ ही, तब यह अग्नि भला कैसे प्रकाश कर सकता है!

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्माको अग्नि, जल, वायु, शस्त्रादि नष्ट नहीं कर सकते, वे देहका नाश कर देते हैं। वेदमें भी ठीक ऐसे ही जीवात्माका न मरना और देहका कटना, जलना आदि बताया गया है।

२४. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

(अयम्) यह आत्मा, (अच्छेद्यः) शस्त्रोंसे काटे जाने योग्य नहीं है, (अयम्) यह आत्मा, (अदाह्यः) अग्निसे जलाने योग्य नहीं है, यह आत्मा, (अक्लेद्यः) जलसे गलाने योग्य नहीं है, (च) और, (अशोष्यः एव) निश्चय ही वायुसे सुखाने योग्य नहीं है। इसलिए, (अयम्) यह आत्मा, (नित्यः) नित्य अर्थात् तीनों कालोंमें एकरस है, (सर्वगतः) सबमें व्यापक है, (स्थाणुः) स्थिर स्वभाववाला है, (अचलः) हिलनेवाला नहीं है, और, (सनातनः) सदासे चला आ रहा है॥ २४॥

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥

(ऋग्वेदः १-१६४-१३)

(पञ्चारे) पञ्चज्ञानेन्द्रियों, या पञ्चकर्मेन्द्रियों, या पञ्चमहाभूतोंके आरोंवाले, (चक्रे) चक्कर लगानेवाले या भ्रमणशील, (परिवर्तमाने) पुनः-पुनः परिवर्तित होनेवाले, (तस्मिन्) उस देह-चक्रमें, (विश्वा) सारे, (भुवनानि) प्राणिमात्र, (आतस्थुः) रहते हैं। (तस्य) उस चक्रके मध्यमें रहनेवाला यह जीवात्मा, (अ-क्षः) न क्षय होनेवाला, तथा, (भूरिभारः) सकल भारी देहके उठानेसे बहुत भारवाला होनेके कारण, (न तप्यते) दाह-क्लेशादिसे पीड़ित नहीं होता, और यह आत्मा, (सनात् एव) सदासे ही एकरस चला आ रहा है अतः इसे सनातन कहते हैं। इसलिए ही, (सनाभिः) सर्वदा एकरूप नाभिवाला यह आत्मा, (न शीर्यते) नहीं टूटता। जैसे रथके आरे भारसे टूट जाते हैं और अक्षके नाश होनेसे रथकी नाभि या मध्यभाग भी मुड़ जाता या टूट जाता है वैसे यह आत्मा देहरूपी चक्रके चीरे जानेपर, जलसे गीले होनेपर या अग्निसे जल जानेपर भी न चीरा जाता है, न गीला होता है और न जलता है, इसलिए आत्मा नित्य और देह अनित्य है।

तुलना—गीतामें देहको छेद्य, क्लेद्य, शोष्य और दाह्य एवं आत्माको अच्छेद्य, अभेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत और सनातन कहा गया है। वेदमें भी कहा गया है कि देह-चक्र आरे आदिके टूटनेसे नष्ट हो जाता है परन्तु आत्मा नित्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य है।

२५. **अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।**
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

(अयम्) यह आत्मा, (अव्यक्तः) अव्यक्त या अप्रत्यक्ष, अर्थात् किसी भी इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न होनेवाला है। (अयम्) यह आत्मा, (अचिन्त्यः) अनुमानादि द्वारा चिन्ता करने योग्य नहीं है। (अयम्) यह आत्मा, (अविकार्यः) न विकृत होने योग्य, (उच्यते) कहा जाता है। (तस्मात्) इसलिए, (एनम्) इस आत्माको, (एवम्) इस प्रकार, (विदित्वा) जानकर, (अनुशोचितुम्) इसके मरने-मारनेका शोच करनेके लिए, (न अर्हसि) योग्य नहीं है, अर्थात् तू अपने बन्धुओंके मरने या मारनेका शोच मत कर ॥ २५ ॥

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत् ॥

(ऋग्वेदः १-१६४-४)

(प्रथमम्) सबसे प्रथम अर्थात् अनादि कालमें, (जायमानम्) शरीरमें प्रकट होते हुए आत्माको, (कः) किसने, (ददर्श) देखा ? अव्यक्त होनेसे उसे कोई पुरुष चक्षुआदि इन्द्रियोंसे नहीं देख सकता, (यत्) क्योंकि, यह आत्मा, (अनस्थाः=न+अ+स्थाः) सर्वदा एकरस रहनेवाला और विकारसे रहित है, अथवा हड्डियोंसे रहित होकर, (अस्थन्वन्तम्) विनाशी पृथिव्यादि-संघातात्मक, अथवा हड्डियोंवाले देहको, (बिभर्ति) धारण करता है। (भूम्याः) पार्थिव स्थूल शरीरका, (असुः) प्राणरूप होकर धारण करनेवाला, (असृक्) किसीसे न बनाया गया या सृज् यानी राग अर्थात् देहादिके रागसे रहित वह, (आत्मा) जीवात्मा, (क्वस्वित्) कहाँ रहता है, इस चिन्ताका विषय न होनेसे वह आत्मा अचिन्त्य कहा गया है। (कः) कौन मनुष्य, (विद्वांसम्) विद्वान् पुरुषके पास, (एतत्) इस आश्चर्यमय वस्तुको, (प्रष्टुम्) पूछनेके लिए, (उपगात्) जाता है !

उपनिषद्में आया है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ।

(केन उ. १-३)

उस आत्मातक न नेत्र जाते, न वाणी जाती, न मन जाता। हम उसके विषयमें नहीं जानते कि उसे क्या बताया जाय। पूर्वाचार्योंके बतानेसे सुना है कि वह विदित और अविदित दोनोंसे भिन्न है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य है। जो ऐसा जानता है वह कभी किसी स्थान या किसी वस्तुके लिए शोक नहीं करता। वेदमें भी कहा गया है कि आत्मा हड्डी आदिसे रहित, देहधारक तथा अचिन्त्य है, जिसका ज्ञान विद्वान् पुरुषके पास जानेसे हो सकता है।

२६. **अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।**
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥

(महाबाहो !) हे विशाल बाहुवाले अर्जुन ! (अथ च) यदि तू, (एनम्) इस आत्माको, (नित्यजातम्) जब-जब देह उत्पन्न होता है तब-तब देहके साथ ही तत्काल जन्म लेनेवाला, (वा) अथवा, (नित्यं मृतम्) देहके मरनेपर देहके साथ ही मरनेवाला, (मन्यसे) मानता है, (तथापि) तो भी, इस पक्षके स्वीकार करनेपर भी, (त्वम्) तू, (एवम्) 'हमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारना उचित नहीं है' इस रीतिसे, (शोचितुम्) शोच करनेके लिये, (नार्हसि) योग्य नहीं है॥ २६॥

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः॥

(**ऋग्वेदः** ४-१८-१)

(अयं पन्थाः) प्रत्यक्ष प्रतीत होता हुआ यह जन्म-मरणका मार्ग, (पुराणः) अनादि कालसे, (अनुवित्तः) यथाक्रम उत्पन्न होनेवाले सब जीवोंसे पाया जाता है, (यतः) जिस जन्म-मार्गसे, (विश्वे) सब, (देवाः) ज्ञानी और अज्ञानी जीवात्मा, (उदजायन्त) उत्पन्न होते हैं। (अतः+चित्) इस योनिमार्गसे ही, (प्रवृद्धः) गर्भमें अथवा संसारमें अतीव वृद्धिको प्राप्त हुआ, (आ जनिषीष्ट) यह जीवात्मा उत्पन्न होता है। (अमुया) नित्य जन्म-मरणकी इस रीतिसे, (मातरम्) शोकके मापक ज्ञानको, (पत्तवे) विनाशके लिये, (मा कः) मत कर, अर्थात् जन्मके साथ मृत्यु आवश्यक है इसलिये शोक व्यर्थ ही है।

तुलना—गीतामें अर्जुनके सन्तोषके लिये कहा गया है कि जन्मके साथ मृत्यु और मृत्युके साथ जन्म यदि आवश्यक है तो भी मृत्युके लिये शोक व्यर्थ है

क्योंकि मृत्यु होनेपर पुनः जन्म होगा। वेदमें भी जन्म-मरणका मार्ग पुराना बताते हुए कहा गया है कि सब जीवात्मा देहके साथ जन्म लेते, बढ़ते और मरते हैं इसलिए किसीकी मृत्युपर शोक करना व्यर्थ हैं।

२७. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

(हि) क्योंकि, (जातस्य) जन्म लेनेवालेकी, (मृत्युः) मृत्यु, (ध्रुवः) अवश्य ही होती है, (च) और, (मृतस्य) मरे हुएका, (जन्म) जन्म भी, (ध्रुवम्) अवश्य होता है, (तस्मात्) इसलिए, (त्वम्) तू, (अपरिहार्ये अर्थे) अवश्य होनेवाले इस विषयमें भी, (शोचितुम्) शोच करनेके लिये, (न अर्हसि) योग्य नहीं है॥ २७॥

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्।
तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः॥
(अथर्ववेदः ८-२-२३)

(द्विपदाम्) मनुष्य, पक्षी आदिपर, (मृत्युः) मृत्यु, (ईशे) प्रभुत्व करती है, और, (चतुष्पदाम्) चार पाँववाले जीवोंपर, (मृत्युः) मृत्यु, (ईशे) अधिकार रखती है, अर्थात् मृत्यु प्रत्येक प्राणीके लिये आवश्यक है। (तस्मात्) इस कारण, (त्वाम्) तुझ जीवात्माको, (गोपतेः) द्विपद और चतुष्पद दोनों प्रकारके पशुओंके स्वामी, (मृत्योः) मृत्युसे, (उद्भरामि) ऊपर उठाता हूँ। (सः) मृत्युके भयको पाया हुआ वह तू, (मा बिभेः) मृत्युसे भय मत कर।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि प्रत्येक प्राणीके लिये जन्मके अनन्तर मृत्यु और मृत्युके अनन्तर जन्म अनिवार्य है, इसलिए न टलनेवाली बातमें शोक न करना चाहिए। वेदमें भी कहा गया है कि प्रत्येक प्राणीकी मृत्यु अवश्य होती है। भगवान्‌की शरण आनेसे मृत्युका डर दूर हो सकता है। मृत्युको अनिवार्य समझकर उससे किसीको भय न करना चाहिये।

२८. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(भारत!) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन! (भूतानि) शरीर अथवा आकाशादि पञ्चमहाभूत, (अव्यक्तादीनि) उत्पत्तिसे पहले शरीर-रहित होनेसे अव्यक्तावस्था होनेके कारण देखे नहीं जाते, (व्यक्तमध्यानि) मध्यमें थोड़े कालके लिये

व्यक्त शरीरवाले होते हैं, और, (अव्यक्तनिधनानि) अन्तकालमें भी अव्यक्त ही हो जाते हैं। (तत्र) इनके विषयमें, (का) क्या, (परिवेदना) दुःख किया जा सकता है ! अर्थात् इन भीष्मादिके लिये शोकसे जर्जरीभूत होकर प्रलाप करना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥

(ऋग्वेदः १०-८२-६)

(आपः) उत्पत्तिसे पूर्व संसारावस्थामें प्राप्त हुए पदार्थमात्र, (तम् इत्) उस परमात्माकी ही, (गर्भम्) सर्वलोकोंके उत्पत्तिस्थान प्रकृतिम, (प्रथमम्) पहले, (दध्रे) स्थित रहते हैं, क्योंकि सब पदार्थ उत्पत्तिसे पूर्व अव्यक्तावस्थामें रहते हैं, (यत्र) जिस परमात्मामें, (देवाः) ज्योतिर्मय सूर्यादिलोक भी, (समगच्छन्त) मध्यावस्थामें दृश्यमान होते हुए लीन हो जाते हैं, (विश्वे) सब भूतजात अर्थात् स्थावर-जंगम मात्र, (अजस्य) परमात्माके, (नाभौ) मध्यमें, (एकम्) मुख्यतया, (अर्पितम्) स्थित हैं, (यस्मिन्) जिस परब्रह्ममें, (विश्वानि) सारे, (भुवनानि) लोक-लोकान्तर,(अधितस्थुः) वास करते हैं, अर्थात् सब पदार्थ सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्ममें थे अतः अव्यक्तरूप थे, विनाशानन्तर ब्रह्ममें लीन होनेसे भी अव्यक्त रहते हैं, केवल मध्यस्थितिमें व्यक्त होते हैं। ऐसे पदार्थोंके लिये दुखी होनेकी क्या आवश्यकता है !

उपनिषद्का भी कथन है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

(मु. उ. २-१-१)

जैसे अत्यन्त प्रदीप्त अग्निसे उसीके समान रूपवाली सहस्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, हे सोम्य ! उसी प्रकार उस अक्षरसे अनेक भाव प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं ।

तुलना—विद्युत्के प्रकाशकी भाँति मध्यकालमें प्राणियोंका प्रकाश बताकर गीतामें भूतमात्रके दुखित न होनेकी आवश्यकता बतलाई गई है। वेदमें भी पदार्थ-मात्रकी ब्रह्मसे उत्पत्ति, ब्रह्ममें लीनता, और केवल मध्यकालमें पदार्थमात्रका प्रकाश बताया गया है ।

२९. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(कश्चित्) कोई पुरुष, (एनम्) इस आत्माको, (आश्चर्यवत्) अलौकिक या अद्‌भुत तत्त्वके समान, (पश्यति) देखता है, (च) और, (तथैव) वैसे ही, (अन्यः) कोई दूसरा पुरुष, इस आत्माको, (आश्चर्यवत्) विस्मयसे भरे हुए तत्त्वके समान, (वदति) बोलता है, (च) और, (अन्यः) इससे भी अन्य पुरुष, (एनम्) इसको, (आश्चर्यवत्) आश्चर्यमयके समान, (शृणोति) सुनता है, (च) और, (कश्चित्) कोई पुरुष, (एनम्) इस आत्माको, (श्रुत्वा अपि) सुनकर भी, (न एव) निश्चित रूपसे नहीं, (वेद) जानता॥ २९॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
(ऋग्वेदः १०-७१-४)

(त्वः) कोई पुरुष, (वाचम्) वाणीके बोलनेवालेकी, (पश्यन् उत) मनसे पर्यालोचना करता हुआ भी, (न ददर्श) जीवात्माके तत्त्वको नहीं देखता। (त्वः) कोई पुरुष, (एनाम्) इस जीवात्माकी देहके उठाने, बोलने, सुनने, छूनेकी शक्तिको, (शृण्वन्) सुनता हुआ भी, (न शृणोति) नहीं सुनता कि यह आत्मतत्त्व क्या है। (त्वस्मै उत) किसी तत्त्वजिज्ञासु पुरुषके आगे हस्तामलकवत् यह आत्मतत्त्व, (तन्वम्) अपने विस्तृत शरीर अर्थात् अपने आशयको, (वि सस्रे) खोल देता है। (इव) जैसे, (सुवासाः) अच्छे वस्त्रोंवाली, (उशती) पतिको चाहती हुई, (जाया) भार्या, निजस्वामीके निकट निज देहको समर्पित कर देती है।

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम्॥
(अथर्ववेदः ७-४४-१)

हे जीवात्मन्! (ते) तेरी, (एकाः) 'इस देहमें चलने-फिरनेवाला कौन है' ऐसी आश्चर्यमयी कई बातें, (शिवाः) कल्याण करनेवाली, या 'शिव-शिव!' ऐसे वाक्योंसे आश्चर्यमयी हैं। (ते) तेरी, (एकाः) कई एक बातें, (अशिवाः) 'आत्मा कोई पृथक् नहीं, यह देह ही सब कुछ करता है', इस प्रकार दुःख देनेवाली, नरकमें डालनेवाली, अशुभ हैं। परन्तु, (सुमनस्यमानः) उत्तम मनवाला

तू, (सर्वाः) उन सब 'आत्मा क्या है ? देह है, क्षणिक विज्ञान है, परमाणु है' इन सब बातोंको, (बिभर्षि) धारण करता है। (तिस्रः वाचः) आत्माके तत्त्वको आश्चर्यमय देखना, आश्चर्यमय कहना, आश्चर्यमय सुनना ये तीन प्रकारकी बातें, (अस्मिन्) इस पुरुषमें, (अन्तः) भीतर, (निहिताः) स्थित हैं। (तासाम्) उन तीनों बातोंमें-से, (एका) ज्ञानरूप वार्ता, (घोषम्) सहस्रों बार कानमें सुने हुए शब्दको, (अनु विपपात) लक्ष्य करके भी विरुद्ध प्राप्त होती है अर्थात् सहस्रों बार सुनकर भी लोग इस आत्माको नहीं जानते।

उपनिषदोंमें भी कहा गया है—

सन्तमप्यसन्तमिव । स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपि जडमिव । आनन्दघनमपि दुःखितमिव । निर्विकारमपि सविकारमिव । नित्यमप्यनित्यमिव । ब्रह्माभिन्नमपि तद्भिन्नमिव । मुक्तमपि बद्धमिव । अद्वितीयमपि सद्वितीयमिव ।

यह आत्मा स्थिर रहनेपर भी न रहनेके समान, स्वप्रकाश चैतन्यरूप होनेपर भी जडके समान, आनन्दघन होनेपर भी दुखितके समान, सर्व पञ्च-भूतोंके विकारोंसे निर्मल और निर्द्वन्द्व होनेपर भी विकारवान्के समान, नित्य होनेपर भी अनित्यके समान, ब्रह्मसे भिन्न न होनेपर भी ब्रह्मसे भिन्न, सदा मुक्त होनेपर भी बद्धके समान, अद्वितीय होनेपर भी द्वितीयके साथ-सा दिखाई पड़ता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । (शा. उ. २-३)

वाणी मनके साथ दौड़ते-दौड़ते इसके अन्तको न प्राप्त होकर निवृत्त हो जाती है. अर्थात् इसकी आश्चर्यमय लीलाको देखकर चुप हो जाती है।

तुलना—गीतामें आत्माके सम्बन्धमें लोगोंके विचार आश्चर्यमय बताए गए हैं। वेदमें भी आत्माको आश्चर्यमय स्वरूपवाला बताया गया है।

३०. **देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।**
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

(भारत !) हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! (सर्वस्य) सब प्राणियोंके, (देहे) देहमें, (अयम्) यह, (देही) जीवात्मा, (नित्यम्) सदा, (अवध्यः) वध न होने योग्य है, (तस्मात्) इसलिये, (त्वम्) तू, (सर्वाणि) इन सब, (भूतानि) भीष्मादि जीवोंके लिये, (शोचितुम्) शोक करनेके लिये, (न अर्हसि) योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि ।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यतेऽति विश्वं ववक्षिथ ।।

(ऋग्वेदः १-८१-५)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! तू, (पार्थिवम्) पृथिवीके विकारवाले, (रजः) लोक अर्थात् देहको, (आ पप्रौ) भरपूर करता है अर्थात् देहका स्वामी होकर रहता है, और, (दिवि) हृदयाकाशमें, (रोचना) प्रकाशमान विवेकको (बद्बधे) बाँधता है अर्थात् हृदयमें विवेचनात्मक ज्ञानको धारण करता है। हे आत्मन् ! (त्वावान्) तुझ जैसा, (कश्चन) और कोई भी, (न) नहीं है। (न जातः) न तेरे जैसा कोई उत्पन्न है, (न जनिष्यते) न ही कोई पदार्थ उत्पन्न होगा। जब आत्माकी उत्पत्ति नहीं है तब उसकी मृत्यु क्यों होगी ! इसलिये तू नित्य होता हुआ, (विश्वम्) सारे देहको, (अतिववक्षिथ) अत्यधिक उठाये हुए है। इसलिये आत्माको अज और नित्य मानना चाहिये।

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु ।

(ऋग्वेदः १०-७९-१)

(मर्त्यासु) मृत्युको प्राप्त होनेवाली, (विक्षु) प्रजाओंमें या देहोंमें, (अस्य) इस, (महतः) महान्, (अमर्त्यस्य) न मरनेवाले आत्माका, (महित्वम्) महत्त्व, (अपश्यम्) देखा है, अर्थात् मरणधर्मी शरीरोंमें यह अमर और अविनाशी आत्मशक्ति रहती है।

तुलना—गीतामें देहको अनित्य एवं आत्माको नित्य बताकर यह सिद्ध किया गया है कि देहका नाश होनेपर शोक नहीं करना चाहिये। वेदमें भी देहको मृत्युधर्मक और आत्माको अजर-अमर बताया गया है।

३१. स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।

(च) और, (स्वधर्मम्) युद्ध करना क्षत्रियका अपना सहज धर्म है इसलिये तू अपने क्षत्रियधर्मको, (अवेक्ष्य) देखकर, (विकम्पितुं न अर्हसि) कम्पायमान होने योग्य नहीं है, (हि) क्योंकि, (धर्म्यात्) क्षत्रियों द्वारा सम्पादन किये जाने योग्य न्याययुक्त धर्मवाले, (युद्धात्) युद्धसे, (अन्यत्) और, (श्रेयः) कल्याण करनेवाला कोई धर्म, (क्षत्रियस्य) क्षत्रियके लिये, (न विद्यते) नहीं है ।। ३१ ।।

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥

(ऋग्वेदः ७-२०-३)

(युध्मः) क्षत्रिय, (अनर्वा) युद्धमें पीठ न दिखानेवाला, (खजकृत्) युद्ध करनेवाला ['खले खजे' युद्धनाम, निघंटु], (समद्वा) दुष्टोंको मारकर सज्जनोंको प्रसन्न करनेवाला या युद्धको अपना धर्म समझनेवाला, (शूरः) शूरतायुक्त, (जनुषा) जन्मसे ही, (सत्राषाट्) बहुतोंपर प्रभाव डालनेवाला, (अषाळ्हः) स्वयं किसीके प्रभावमें न आनेवाला, (स्वोजाः) अच्छे बलवाला, (ईम्) यह, (इन्द्रः) क्षत्रियात्मा, (पृतनाः) शत्रुओंकी सेनाओंको, (व्यासे) परास्त कर देता है, (अधा) और, (शत्रूयन्तम्) शत्रुता करते हुए, (विश्वम्) सारे शत्रु-मण्डलको, (जघान) नाश कर देता है।

महाभारतका भी इस विषयमें स्पष्ट कथन है—

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥
न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
शौटीराणामशौटीरमधर्म्यं कृपणं च तत् ॥

(म. भा. शा. ९८-२३—२५)

बीमार होकर खाटपर पड़कर मरना क्षत्रियके लिये महान् अधर्म है जिसमें श्लेष्म-मलमूत्रादि-त्यागसे अतिकृपणतासे देह त्यागा जाता है। जो क्षत्रिय घावसे रहित देहका त्याग कर देता है अर्थात् बिना शस्त्रप्रहारके देह त्याग करता है, तत्त्वज्ञानी क्षत्रिय लोग उसके इस कर्मको अच्छी दृष्टिसे नहीं देखते अर्थात् उसे क्षत्रिय नहीं गिनते। क्षत्रियोंका घरमें मरना प्रशंसित नहीं गिना जाता, अपितु ऐसा मरना अत्यन्त निन्दित, अधर्म और अति कायरताका काम समझा जाता है।

मनुस्मृतिमें कहा गया है—

न निवर्तेत सङ्ग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्। (७-८७)
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्। (७-८८)

क्षत्रिय क्षात्रधर्मको स्मरण करता हुआ संग्रामसे न भागे। प्रजाका पालना और संग्रामसे मुख न मोड़ना क्षत्रियका कर्त्तव्य है।

वह्निपुराणमें कहा गया है—

धर्मलाभोऽर्थलाभश्च यशोलाभस्तथैव च।
यः शूरो वध्यते युद्धे विमर्दन् परवाहिनीम्॥

यां यज्ञसङ्घैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणो यत्र न वै प्रयान्ति।
क्षणेन तामेव गतिं प्रयान्ति महाहवे स्वां तनुं संत्यजन्तः॥

जो वीर शत्रुकी बहुत बड़ी विशाल सेनाको मसलता हुआ युद्धमें मारा जाता है वह धर्म, अर्थ तथा यश पाता है। स्वर्गकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मण असंख्य यज्ञ करनेसे तथा कठिन तपस्यादिसे जिस गतिको नहीं पाते, संग्राममें अपने शरीरको छोड़नेवाले क्षत्रिय लोग क्षणमात्रमें ही उस गतिको पा लेते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अपने-अपने वर्णानुसार अपने-अपने धर्मको करनेवाले पुरुष उत्तम गतिको पाते हैं। अर्जुन क्षत्रिय था अतः उसे क्षात्र धर्मसे न हटनेका उपदेश दिया गया है। महाभारत आदि तथा वेदमें भी यही बताया गया है कि युद्धमें पीठ न दिखाना, शूर बनना, दूसरेपर क्षात्रप्रभाव डालना, अपने आप किसीसे न दबना, शत्रुता करनेवाले शत्रुका नाश करना क्षत्रियका कर्तव्य है।

३२. यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

(पार्थ!) अर्जुन! (यदृच्छया उपपन्नम्) अपने आप प्राप्त हुए, (अपावृतम्) खुले हुए किवाड़ोंसे युक्त, (स्वर्गद्वारम्) स्वर्ग-द्वारवाले, (ईदृशं युद्धम्) ऐसे युद्धको, (सुखिनः) सुखी, भाग्यशाली, (क्षत्रियाः) क्षत्रियकुलोत्पन्न पुरुष, (लभन्ते) प्राप्त करते हैं॥ ३२॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥
(ऋग्वेदः १०-१५४-३)

(प्रधनेषु) शूर-वीरोंकी मृत्यु होनेपर कटक-कुण्डलादि स्वर्ण-धन जहाँ बिखरे पड़े हों ऐसे युद्धस्थलोंमें, (शूरासः) युद्धवीर शूरजन, (ये) जो क्षत्रिय,

(युध्यन्ते) युद्ध करते हैं अर्थात् शत्रुओंपर आक्रमण करते हैं, (ये तनूत्यजः) जो युद्धवीर क्षत्रिय युद्धमें शरीर छोड़ते हैं, (ये वा) अथवा जो शूर-वीर, (सहस्रदक्षिणाः) दक्षिणकी ओर आनेवाले अर्थात् सम्मुख आए हुए क्रूरसे क्रूर शत्रुओंको युद्ध-विजयके लिये सहस्रों प्रकारकी दक्षिणा देनेवाले हैं, (तान्) उन शत्रुओंकी, (चित् एव अपि) ओर भी अर्थात् उनके सम्मुख भी, (गच्छतात्—मध्यमपुरुषैकवचने) तू जा, अर्थात् युद्ध कर। युद्धके अनन्तर तू भी मरकर स्वर्गलोकको प्राप्त हो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि क्षत्रिय वीर युद्धमें शत्रुओंसे युद्ध करता हुआ यदि मृत्युको प्राप्त होता है तो वह खुले द्वारवाले स्वर्गको प्राप्त करता है। वेद और मनुस्मृतिमें भी यही कहा गया है कि जो शूर-वीर महायुद्धोंमें सम्मुख प्राप्त हुए शत्रुओंके साथ युद्ध करता हुआ मृत्युको प्राप्त होता है वह उन लोकोंको जाता है जिन लोकोंमें विविध याज्ञिक और दानी गमन करते हैं।

३३. अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

(अथ) फिर, (चेत्) यदि, (त्वम्) तू, (इमम्) इस, (धर्म्यम्) धर्मसंयुक्त, (सङ्ग्रामम्) युद्धको, (न करिष्यसि) नहीं करेगा, अर्थात् भीरु हो जायगा, (ततः) तो, युद्ध-पराङ्मुख होनेके अनन्तर, (स्वधर्मम्) अपने क्षात्रधर्मको, (च कीर्तिम्) और कीर्तिको, (हित्वा) छोड़कर, (पापम् अवाप्स्यसि) पापको प्राप्त करेगा अर्थात् नरकको जाएगा॥ ३३॥

वि [1]दुर्गा वि द्विषः [2]पुरो [3]घ्नन्ति राजान एषाम्।
नयन्ति दुरिता तिरः॥

(ऋग्वेद: १-४१-३)

(राजानः) राजा अर्थात् क्षत्रिय जन, (एषाम्) युद्धस्थलके इन सेनानियोंके, (पुरः) सम्मुख, (दुर्गा=दुर्गाणि) दृढ़ दुर्गस्थलों और कठोर

१. दुर्गा—दुःखेन गच्छन्त्यत्रेति दुर्गाणि। 'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डप्रत्ययः। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः।

२. पुरः—कालवाचिनः पूर्वशब्दात् सप्तम्यर्थे 'पूर्वाधरावराणामसिपुरधवश्चैषाम्' इत्यसिप्रत्ययः, तत्सन्नियोगेन पूर्वशब्दस्य पुरादेशश्च।

३. घ्नन्ति—हन्तेरदादित्वाच्छपो लुक्।

शस्त्रास्त्रोंको, (वि घ्नन्ति) विशेषतासे नष्ट कर देते हैं, (द्विषः वि घ्नन्ति) शत्रुओंको भी विशेष करके नष्ट कर देते हैं, और, (दुरिता=दुरितानि) क्षात्रधर्मके त्यागसे उत्पन्न होनेवाले अपकीर्तिमय पापोंको, (तिरः नयन्ति) दूर कर देते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो क्षत्रिय क्षात्रधर्मका परित्याग करता है वह अपकीर्ति और पापको प्राप्त करता है अर्थात् क्षात्रधर्म छोड़ देनेसे नरकगामी होता है। वेदमें भी कहा गया है कि जो क्षत्रिय युद्धमें सम्मुख आए शत्रुओंके साथ युद्ध करके उन्हें परास्त कर देते हैं वे अपनी अपकीर्ति मिटाकर संसारमें यशस्वी हो जाते हैं।

३४. **अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।**
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥

हे अर्जुन! (भूतानि) सब प्राणी, (ते) रणसे भागे तुझ वीर पुरुषकी, (अव्ययाम्) सदा रहनेवाली, (अकीर्तिम्) अपकीर्तिको, (कथयिष्यन्ति) कहेंगे, (च) और, (सम्भावितस्य) मान्य पुरुषका, (अकीर्तिः) अपयश, (मरणात् अतिरिच्यते) मृत्युसे भी बुरा होता है॥ ३४॥

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥

(ऋग्वेदः १०-५४-२)

(इन्द्र!) हे क्षत्रियराज! (तन्वा) शूरतासे परिपूर्ण अपने शरीरसे, (वावृधानः) युद्धोंमें जय प्राप्त करके अपने नाम और यशको बढ़ाता हुआ, (जनेषु) सब प्राणियोंमें, (बलानि) अपने सब प्रकारके बलोंको, (प्रब्रुवाणः) प्रकर्षतासे बताता हुआ, (यत्) जिस संग्रामको, (अचरः) तूने किया, (ते) तेरी, (सा) वह कीर्ति, (माया इत्) व्यर्थ ही है, (पुरा) पहले, (यानि युद्धानि) शत्रुओंके साथ जो युद्ध किये हैं, [(पुराविदः) तेरे पूर्व युद्धोंके कर्तव्योंको जाननेवाले] (आहुः) कहते हैं, (माया इत्) वे युद्ध भी वृथा हैं, क्योंकि अब तू भीरु होकर धर्मयुद्धसे भागता है, (अद्य) आज तू, (शत्रुम्) रणमें सम्मुख आए हुए मारने योग्य शत्रुको, (न विवित्से) विशेषकर नहीं जानता और न ही जाननेकी इच्छा करता है। (ननु) क्या तू पूर्व-युद्धोंमें भी ऐसा ही भीरु था? क्योंकि अब तू युद्धभूमिसे भागता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो क्षत्रिय युद्धभूमिसे भागता है, सब लोगोंमें उसका अपयश होता है और अपयश मृत्युसे भी अधिक बुरा माना

जाता है। मृत्यु अच्छी है, अपयश अच्छा नहीं! वेदमें भी कहा गया है कि जो क्षत्रिय युद्धसे भागता है उसकी इस अपकीर्तिसे पूर्व कालमें जीते हुए युद्धोंका यश भी नष्ट हो जाता है। पहले जीते हुए युद्ध भी उसके व्यर्थ माने जाते हैं।

३५. भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥

हे अर्जुन! (महारथाः) कर्ण-द्रुपद-भगदत्तादि महारथी, (त्वाम्) तुझे, (भयात्) भयके कारण, (रणात्) युद्धभूमिसे, (उपरतम्) भागा हुआ, (मंस्यन्ते) मानेंगे, (च) और, (येषाम्) जिन महारथियोंके सामने, (बहुमतो भूत्वा) बहुत मानवाला होकर तू, (लाघवं यास्यसि) लघुताको प्राप्त हो जायगा। वे कहेंगे—कैसा शूर-वीर था, अब तो शृगालसे भी अधिक क्षुद्र अवस्थामें पहुँच गया है॥ ३५॥

दूरे तन्नाम गुह्यं पराचैर्यत्त्वा भीते अह्वयेतां वयोधै।
उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः पुत्रान्मघवन्तित्विषाणः॥

(ऋग्वेदः १०-५५-१)

(मघवन्!) हे धनके धारण करनेवाले या राजाधिराज! (यत्) जब, (भीते=भीतानि) शत्रुसे डरे हुए प्राणी अर्थात् तेरे सैनिकगण, (वयोधै) अपने आपको बचानेके लिये अर्थात् प्रबल शत्रुओंसे अपनी रक्षाके लिये, (त्वा) तुझ शूर-वीर क्षत्रियको, (अह्वयेताम्) बुलाते थे, तब तू अपने अस्त्र-शस्त्रायुधोंसे सुसज्जित होकर सैनिक वेशसे, (अभीके—अन्तिकनामैतत्) शत्रुओंसे डरे हुए उन प्राणियोंके समीप ही, (पृथिवीं द्याम्) पृथिवीवासी और अन्तरिक्षस्थ अर्थात् वायुयानपर स्थित प्राणियोंको, तथा, (भ्रातुः पुत्रान्) भाईके पुत्रोंको, (तित्विषाणः) अपने शूर-वीरताके वचनोंसे उत्तेजित करता हुआ, (उत् अस्तभ्नाः) भीरुतासे हटाकर युद्ध करनेके लिये खड़ा कर देता था अर्थात् युद्धस्थलसे भागते हुए सैनिकोंको भी युद्धमें खड़ा कर देता था। (पराचैः) अब तू भयभीत होकर युद्धसे उपरामको प्राप्त हुआ है अतः तुझसे विमुख हुए योद्धागणोंसे, (तत् नाम) अब वह शूर-वीरतावाला तेरा नाम, (गुह्यम्) गुप्त है अर्थात् कोई भी मनुष्य तेरे नामको यशके साथ न पुकारेगा। वीरजन तेरी अपकीर्ति फैलायेंगे। (दूरे) तेरा नाम जगत्से दूर हो जायगा, नष्ट हो जायगा।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो वीर भयके कारण युद्ध नहीं करता वह पहले बड़ा भारी शूर-वीर होता हुआ भी अपकीर्तिका पात्र बन जाता है। अपकीर्ति मृत्युसे भी अधिक निम्न होती है। वेदमें भी कहा गया है कि आक्रमणकारी प्रबल शत्रुसे डरे हुए जीव अपनी रक्षाके लिये जिस युद्धवीरकी शरणमें जाते हैं वह शरण्य, शरणागतोंकी रक्षा करता हुआ, यशस्वी होता है। यदि वही यशस्वी शूर-वीर क्षत्रिय स्वयं ही युद्धस्थलसे भागता है तो उसकी पूर्व युद्धविजयवाली कीर्ति भी नष्ट हो जाती है। संसारसे उसका नाम उठ जाता है। अतः उसका अपयश मृत्युसे भी अधिक बुरा माना जाता है।

३६. अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥

हे अर्जुन! (अहिताः) दुर्योधन, कर्ण आदि शत्रु, (तव सामर्थ्यं निन्दन्तः) 'अर्जुन कैसा युद्धवीर था, उसने कैसे-कैसे कठोर युद्धोंको जीता, किन्तु अब वह भीरु हो गया' इस प्रकार तेरी शक्तिकी निन्दा करते हुए, (अवाच्यवादान्) 'ऐसे क्षात्र जन्मको धिक्कार है!' ऐसे-ऐसे न कहने योग्य अनेक वचनोंको, (वदिष्यन्ति) कहेंगे। (ततः) इससे अधिक, (दुःख-तरम् नु किम्) दुःख और क्या है! यह महादुःखकी बात है॥ ३६॥

या शशाप [1]शपनेन याघं [2]मूरमादधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा॥

(अथर्ववेदः १-२८-३)

(या) जो क्षत्रिय-वर्ग, (शपनेन) भयके कारण युद्धस्थलसे भागे हुए क्षत्रिय वीरकी अकथनीय या निन्दित वचनों द्वारा, (शशाप) निन्दा करता है, (या) जो क्षत्रिय-वर्ग, (मूरम्—मूढम्) सांसारिक मोहसे मूढ होकर युद्धस्थल-से उपराम-रूप, (अघम्) पापको, (आदधे) प्राप्त करता है, (या) जो क्षत्रिय-वर्ग, (जातम्) क्षात्र धर्ममें उत्पन्न हुए पुत्रादि सन्तानके, (रसस्य हरणाय) देहगत बलके नाशके लिए, (आरेभे) आरम्भ हो जाता है, प्रयत्नशील हो जाता है, (सा) भयके कारण युद्धसे उपराम हुआ वह क्षत्रिय-

---

१. शपनेन—'शप आक्रोशे', करणे ल्युट्।
२. मूरम्—'मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः', 'क्विप् च' इति क्विप्, 'राल्लोपः' इति छकारस्य लोपः।

वर्ग, (तोकम्) अपनी आगे आनेवाली सन्ततिको भी, (अत्तु—अत्ति) खा जाती है अर्थात् क्षात्र धर्मसे गिरा देती है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो क्षत्रिय युद्धभूमिसे भयके कारण भागता है उसके शत्रु उसकी शक्ति अर्थात् सामर्थ्यकी निन्दा करते हैं और उसके लिए अवाच्य शब्दोंका व्यवहार करते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो क्षात्रधर्मी युद्धवीर मोह या भयके कारण युद्धभूमिसे भागता है उसे अन्य क्षत्रिय वीर अवाच्य शब्दोंसे पुकारते हैं और उसकी निन्दा करते हैं। युद्धसे भागे हुए योद्धाओंकी सन्तति भी डरपोक हो जाती है।

३७. हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

(कौन्तेय !) हे अर्जुन ! (हतो वा) युद्धमें कर्ण आदिसे मारा हुआ तू या तो, (स्वर्गम्) स्वर्गको, (प्राप्स्यसि) पाएगा, (वा जित्वा) या दुर्योधन आदिको जीतकर, (महीम्) पृथिवीपर, (भोक्ष्यसे) राज्यको भोगेगा, अर्थात् प्रजापालक होता हुआ राज्यका सुख भोगेगा, अतः दोनों प्रकार-से युद्ध करना ही तेरे लिए अच्छा है। (तस्मात्) इस कारण, (युद्धाय कृत-निश्चयः) युद्ध करनेके लिए निश्चय करके, (उत्तिष्ठ) खड़ा हो जा॥ ३७॥

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने ।
अव स्थिरा तनुहि [1]यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून् ॥

(ऋग्वेदः ४-४-५)

(अग्ने ! ऊर्ध्वो भव) हे राजन् ! शत्रुओंके साथ युद्ध करनेके लिए खड़ा हो जा, (प्रतिविध्य) युद्धमें स्थित होकर शत्रुओंको शस्त्रास्त्रोंसे मार दे, (अधि अस्मत्) हमसे भी अधिक, (दिव्यानि) अच्छेसे अच्छे युद्धकर्मो-को और अपने तेजको, (आविष्कृणुष्व) प्रकट कर, (यातुजूनाम्) सब प्राणियोंके क्लेशदाता राक्षसी स्वभाववाले नीच शत्रुओंको, (स्थिराणि) स्थिर शस्त्रोंको अर्थात् युद्धमें स्थिर शरीरोंवाले शत्रुओंको, (अवतनुहि) मार-मार-कर थोड़े बलवाला कर दे, (जामिम् अजामिम्) उनके बन्धुओं और उनके सहायकोंको, (प्रमृणीहि) प्रकर्षतासे मसल दे, अथवा मारनेवाले या न मारनेवाले शत्रुओंको भी मार दे।

---

१. यातुजूनाम्—'जु गतौ', 'क्विब् वचि……' (वा०) इत्यादिना क्विब्दीर्घौ।

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो न इरस्यति ॥

(ऋग्वेदः १-१७४-२)

पुरोहित राजाको उपदेश देता है—हे राजन् ! (नः) हमारे देशके, (याः अरातयः) जो शत्रु हैं उनको, तथा, (सपत्नान्) राष्ट्रके नाशक घोर शत्रुओं-को, (अभिवृत्य) घेरकर, (अभितिष्ठ) खड़ा हो जा, (यः) जो शत्रु, (नः) हमारे लिये युद्धके लिए, (इरस्यति) दुष्टता करता है, (पृतन्यन्तम्) सेनाके साथ आक्रमणकारी शत्रुके सामने, (अभितिष्ठ) खड़ा हो जा, उससे मत डर।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि योद्धाके लिए युद्ध करनेमें दोनों बातें अच्छी हैं—मृत्यु होनेपर स्वर्गकी प्राप्ति और जीतनेपर राज्यका उपभोग, अतः क्षत्रियके लिए युद्ध श्रेयस्कर है। वेदमें भी कहा गया है कि क्षत्रिय युद्धसे न भागे। कितना ही प्रबल शत्रु असंख्य सेनाके साथ अपने राष्ट्रपर आक्रमण करे, उसके अधिक बलको देखकर युद्धसे भागना न चाहिए, उसे अवश्यमेव परास्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

३८. **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।**
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

हे अर्जुन ! (सुखदुःखे लाभालाभौ जयाजयौ) युद्धमें जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख, इन छहोंको, (समे कृत्वा) एक जैसा मानकर, (ततः युद्धाय युज्यस्व) फिर युद्ध करनेके लिए लग जा। (एवम्) इस प्रकार मनमें धारणा रखनेसे, (पापं न अवाप्स्यसि) गुरु, ब्राह्मण, गोत्र आदिकी हत्यासे उत्पन्न पापको न प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

शेरभक[1] शेरभ[2] पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥

(अथर्ववेदः २-२४-१)

(शेरभक !) अपने साथियोंको सुख पहुँचानेवाले क्षत्रियराज ! (शेरभ !) दुःखपूर्वक सबके नाशक ! (वः) तुम्हारे, (यातवः) राक्षसी विचार, (पुनः यन्तु) फिर-फिर तुम्हारे मनसे चले जावें, अर्थात् तुम्हारे विचार किसीको दुःख

---

१. शेरभक—शेते रमते भजते, इत्येषां धातूनामादीन् वर्णानादाय शेरभकः जातः।
२. शेरभ—'शॄ हिंसायाम्' 'भा दीप्तौ' इति धातुभ्यां सिद्धः।

देनेवाले न हों, तुम्हें अपने मनोजन्य दुःख भी न हों। (हेतिः) पर-हनन-साधन तुम्हारे शस्त्रास्त्र, (पुनः यन्तु) क्षात्र धर्मके परिपालनके लिए अर्थात् पीडितों-की रक्षाके लिए अपने क्षात्र धर्मकी ओर लौटें, तुम्हारे विचार धर्मयुद्धकी ओर जावें। 'शस्त्रास्त्रोंके चलानेसे जीवहत्या होगी, उससे मुझे पाप लगेगा', तुम्हारे ऐसे विचार भी दूर हों। (किमीदिनः) 'यह क्या है ! यह क्या है !' अथवा 'अब क्या करना चाहिये'—ऐसा विचार रखनेवाले तुम्हारे पीछे चलनेवाले अनु-चर, सुख-दुःखादिरूप सदसद्विचार भी, (पुनः यन्तु) तुम्हारे पास फिर प्राप्त हो जावें। (यस्य स्थ) सुख-दुःखरूप जिस किसी कर्त्तव्यके समीप स्थित हो जाओ। (तम् अत्त) सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय आदिकी भावनाओं-को दूर कर दो। (यः) जो दुःखात्मक विचार, (वः) तुम्हारे शत्रुओंने तुम्हारे पास, (प्राहैत्) भेजा है, (तम्) उस भयात्मक विचारको, (अत्त) भक्षण कर लो अर्थात् दूर कर दो। (स्वा मांसानि) अपने सुख-दुःखरूप मांसोंको, (अत्त) भक्षण करो अर्थात् दूर कर दो। सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको समान जानकर क्षात्र-धर्मका कर्तव्य धर्मयुद्ध करनेके लिए खड़े हो जाओ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, इन द्वन्द्वोंको समान जानकर धर्मयुद्ध करनेवाले क्षत्रियको पाप नहीं लगता, क्योंकि वह अपने कर्तव्य कर्मका पालन करता है। वेद भी यही कह रहा है कि सुख-दुःख, लाभ-हानिको समान मानकर पर-रक्षाके लिए अस्त्र-शस्त्र सदा सुसज्जित रहें परन्तु पर-पीड़ाके लिए न हों। ऐसे मनुष्यको हत्याका पाप नहीं लगता।

३९. एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (साङ्ख्ये) सदसद्विवेचनात्मक निर्विशेष ज्ञानके संबन्धमें, (एषा बुद्धिः) यह ज्ञान ['न जायते म्रियते वा' इत्यादि], (ते अभि-हिता) तुझे पहले बताया है, (योगे) कर्त्तव्य कर्मयोगके संबन्धमें, (तु) तो, (इमां शृणु) इस वक्ष्यमाण ज्ञानको सुन, (यया बुद्ध्या युक्तः) जिस कर्म-योगके ज्ञानसे युक्त होकर, (कर्मबन्धम्) पाप-पुण्यजन्य कर्मफलके बन्धनको, जन्म-मृत्यु-जन्य दुःखको, (प्रहास्यसि) छोड़ देगा, मुक्त हो जायगा॥ ३९ ॥

महो[१] अर्णः[२] सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति ॥

(ऋग्वेदः १-३-१२)

---

१. महः—महत् इत्यस्य तकारस्य व्यत्ययेन सकारः तस्य रुत्वमुत्वञ्च।

२. अर्णः—'ऋ गतौ', असुन्प्रत्ययो नुडागमश्च।

(सरस्वती) सदसद्विवेचनात्मक यह वाणी [वाग्घि सरस्वती यत् सारस्वतं शंसति वाचमेवास्य तत्संस्करोति इति, ऐ. ब्रा. ३-१-२], (केतुना) कर्मयोग अर्थात् कर्मप्रज्ञात्मक विज्ञानसे, (महो) महान्, (अर्णः) ज्ञानको, (प्र चेतयति) प्रकाशित करती है, और वह ज्ञान, (विश्वा धियः) सब प्रकार-की बुद्धियोंको, (विराजति) विशेषतासे प्रकाशित करता है।

उपो षु [1]शृणुही गिरो मघवन्मातथा इव।
यदा नः सूनृतावतः कर आदर्थयास इद्योजा न्विन्द्र ते हरी ॥

(ऋग्वेदः १-८२-१)

(मघवन् !) हे शस्त्रास्त्र-धनसे परिपूर्ण राजन् ! (गिरः) क्षात्रधर्म-प्रतिपादक मेरे वचनोंको, (उपो) अपने हृदयके समीप अर्थात् मनमें धारण करनेके लिये, (सु शृणुहि) भली प्रकार सुन। (तथा इव) पहलेसे विपरीत कातरके समान, (मा भूः) मत हो अर्थात् युद्धसे भय मत कर। (नः) मन्त्री-के पदपर स्थित भी हम युद्धवीरोंको, (कदा) कब, (सूनृतावतः) अति मनोहर ओजःपूर्ण वाणीयुक्त, (करः) कर देगा अर्थात् मैं युद्धके लिये सन्नद्ध होकर अपने शत्रुओंको मारकर घर वापस आऊँगा, ऐसी अच्छी वाणी कब कहेगा ? (अर्थयासे इत्) क्या तू मेरी कही हुई वाणीको स्वीकार करता है ? (इन्द्र !) हे राजन् ! (ते हरी) अपने दोनों घोड़ोंको, (नु योज) निश्चयपूर्वक युद्धके लिये अपने रथमें जोड़ दे।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें ज्ञानयोग-व्यवस्था बताकर कर्मयोगको सुननेके लिये कहा गया है क्योंकि भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगका विधि-विधान सुन लेनेपर और उसपर आचरण करनेसे जन्म-मरणके बन्धनसे छूट-कर प्राणी मुक्ति पदको प्राप्त कर लेता है।

४०. **नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।**
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(इह) इस निष्काम कर्मयोगमें, (अभिक्रमनाशः) कर्मयोगारम्भके फलका नाश अथवा कर्मके क्रमका नाश, (न अस्ति) नहीं है, जैसे कृषि आदिके कर्म करनेपर खेती कहीं फलती है और कहीं नहीं फलती, ऐसी बात निष्काम कर्मयोगमें नहीं है। निष्काम कर्मको जहाँ छोड़ दिया जाता है, कुछ समयानन्तर

---

१. शृणुहि—'श्रु श्रवणे', 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' इति छन्दसि वा हेर्लुक्।

फिर-फिर आरम्भ करनेसे फल एक-जैसा रहता है, तथा, (प्रत्यवायः न विद्यते) सन्ध्या-हवनादि नित्यकर्मके न करनेसे जैसे पाप होता है, वैसे इस निष्काम कर्मयोगके छोड़नेसे पाप अथवा विघ्न कुछ नहीं होता, क्योंकि, (अस्य धर्मस्य) निष्काम कर्मयोगवाले इस धर्मका, (स्वल्पम् अपि) बहुत थोड़ा-सा भाग भी, (महतः भयात्) बड़े भारी सांसारिक भयसे अर्थात् जन्म-मरणात्मक दुःखके भयसे, (त्रायते) रक्षा करता है ॥ ४० ॥

इयमेषाममृतानां गीः सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम् ।
धियं च यज्ञं च साधन्तस्ते नो धान्तु वसव्यमसामि ॥

(ऋग्वेदः १०-७४-३)

निष्काम कर्मयोगकी यह पद्धति, (एषाम् अमृतानाम्) अमरपदको प्राप्त होनेवाले इन कर्मयोगियोंकी, (गीः) वाणी अर्थात् कथन है। (ये) निष्काम-कर्मयोगारूढ़ जो भगवद्भक्त इस वचनको, (सर्वताता) सबके रक्षक कर्मयोगमें, (रत्नम्) कर्मयोगात्मक रत्न अर्थात् अपने प्रभावसे सब भक्तोंके मनमें रमण करनेवाला मानते हैं, (कृपणन्त) इस कर्मयोगरूपी रत्नको दूसरोंको देनेकी भी कृपा करते हैं, वे मनुष्य, (धियम्) ज्ञानस्वरूप बुद्धि, (च) और, (यज्ञम्) निष्काम कर्मयज्ञकी, (साधन्तः) साधना करते हुए, (वसव्यम्) वासके योग्य, (असामि) अधिकसे अधिक भगवद्धर्म जैसे हो सके वैसे ही, (नः) हमें, (धान्तु) धारण करावें।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि निष्काम कर्मयोगकी साधना यदि मध्यमें कुछ कालके लिये रुक जावे तो पुनः आरम्भ करनेपर वहाँसे ही आरम्भ कर दी जाती है, न कि आरम्भसे। इस कर्मयोगसे उत्पन्न बहुत स्वल्प भी धर्म सांसारिक जन्म-मृत्युके भयसे बचा देता है। वेदमें भी कहा गया है कि ज्ञानी और यतियोंके कथनानुसार यह निष्काम कर्मयोग एक रत्न है। यही कर्मयोग ज्ञानयोगका साधन है जिसके द्वारा मनुष्य मुक्त हो जाता है।

४१.　**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।**
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

(कुरुनन्दन !) हे अर्जुन ! (इह) इस मुख्य प्रयोजन कर्मयोगमें, (व्यवसायात्मिका) परमात्माके चरणोंमें वासरूप हमारी परमगति है, ऐसा निश्चयात्मक, (बुद्धिः) ज्ञान, (एका) बाहर और भीतर एकरूप ही है। (अव्यवसायिनाम्) परमात्मापर विश्वास न रखनेवाले मनुष्योंकी अर्थात्

अनिश्चयात्मक वुद्धिवाले मनुष्योंकी, (बुद्धयः) बुद्धियाँ, (बहुशाखाः) भिन्न-भिन्न शाखाओं अर्थात् भिन्न-भिन्न विचारोंवाली, (च) और, (हि) निश्चय ही, (अनन्ताः) असंख्यात हैं ॥ ४१ ॥

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम् । इन्द्रं वत्सं न मातरः ॥

(ऋग्वेदः ३-४१-५)

(सोमपाम्) ब्राह्मीरसको पान करनेवाले ब्रह्मज्ञानियों और कर्मयोगियोंकी, (मतयः) विचारात्मक बुद्धियाँ, (उरुम्) सबसे महान्, (शवसः पतिम्) बलवानोंके पति ['बलमसि' इत्युक्तेः], (इन्द्रम्) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्माके चरणोंको, (रिहन्ति) इस तरह चाटती हैं, (मातरः न वत्सम्) जैसे गौएँ या सांसारिक माताएँ अपने पुत्रोंको चाटती हैं अर्थात् प्रेम करती हैं।

बह्वीदं राजन् वरुणानृतमाह पूरुषः ।
तस्मात्सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥

(अथर्ववेदः १९-४४-८)

(वरुण राजन् !) हे सर्वश्रेष्ठ क्षत्रियराज ! (पूरुषः) संसारी मनुष्य, (इदम्) अनिश्चयात्मक बुद्धिरूप तुच्छसे तुच्छ, (बहु अनृतम्) बहुत झूठी बातें बनाकर असत्य, (आह) बोलता है। (सहस्रवीर्य !) हे सहस्रों अर्थात् अनन्त वीर्यों और बलोंसे युक्त सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! (नः) निश्चयात्मक एक बुद्धि रखनेवाले हम भक्तोंको, (तस्मात् अंहसः) उस असत्यभाषणरूप पापसे, (परिमुञ्च) हर प्रकारसे छुड़ा दे।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा संसारका नियन्ता और विश्वम्भर है, ऐसी व्यवसायात्मिका बुद्धि एक है और चंचल मनवालोंकी अनेक बुद्धियाँ अनेक शाखाओंवाली हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि ज्ञानियों, कर्मयोगियों और यतियोंके विचार परमात्माकी ओर निश्चयात्मक रूपसे लगे रहते हैं और अनिश्चयात्मक वुद्धिवाले सांसारिक पुरुष अपने कार्यकी सिद्धिके लिये सत्यको असत्य बनाकर बोलते हैं।

४२. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (वेदवादरताः) अर्थवाद अर्थात् यज्ञादि कर्म करनेसे स्वर्ग प्राप्त होता है, कारीरी यज्ञ करनेसे वृष्टि होती है और वर्षा होनेसे अन्न उत्पन्न होता है, इत्यादि अर्थवादके वाक्योंवाले वेदवचनोंमें

प्रेम रखनेवाले, (अन्यत् नास्ति इति वादिनः) कर्म और कर्मफल तथा साध्य-साधनोंके बिना और कुछ नहीं है, ऐसा कहनेवाले, (अविपश्चितः) वेदार्थके तत्त्वको और वेदवचनोंके उपक्रम और उपसंहारको न जाननेवाले बहिर्मुख, केवल मीमांसाशास्त्रके जाननेवाले मनुष्य, (पुष्पिताम्) 'अपाम सोमममृता अभूम', 'दक्षिणावन्तोऽमृतत्वं भजन्ते' ऐसे चम्पक-केतकीके फूलोंके समान फूली हुई, (याम् इमाम्) जिस इस वाणीको, (प्रवदन्ति) कहते हैं ॥ ४२ ॥

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य[1] विद्वान्त्समये[2] न धीरः ।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥

(अथर्ववेदः २-३५-३)

(यज्ञस्य विद्वान्) सोमयज्ञ, कारीरी यज्ञादिके क्रियात्मक कर्मको जानता हुआ, (धीरः) स्वर्गलाभात्मक पुष्पोंसे फूली हुई अर्थवादात्मक बुद्धिको देनेवाला कर्मठ वेदवेत्ता, (सोमपान्) यज्ञानुष्ठान द्वारा अमरपद-प्राप्तिके लिये सोमरस पीनेवाले मनुष्योंको, (अदान्यान् मन्यमानः) सकाम कर्मजालके बन्धनमें पड़ जानेसे और अज्ञताके आरोपण होनेसे दान देनेके अयोग्य मानता हुआ अर्थात् ब्रह्मज्ञानके दानका अनधिकारी मानता हुआ, (समये न धीरः) युद्धमें धीरके समान उपदेश न देनेमें धैर्य रखता है, (यत्) क्योंकि, (एनः= आ+इनः) सर्वजगत्का स्वामी सर्वथा कर्मफलका प्रदाता परमात्मा नहीं है, कर्म ही सद्गतिके दाता हैं, (एषः बद्धः) ऐसा माननेवाला सकाम कर्मके मोहात्मक जालमें बँधा हुआ वेदवादार्थवादी कर्मठ मनुष्य, (एनः) केवल कर्म ही मुक्तिका दाता है, परमात्मा नहीं है, इस प्रकारके पापको, (चकृवान्) करता है, (विश्वकर्मन्) हे जगत्के कर्ता-धर्ता परमात्मन् ! (तम्) सकाम-कर्म-प्रतिपादक वेदार्थवादी उस प्राणीको, (स्वस्तये) कल्याण-प्राप्तिके लिये, (प्रमुञ्च) उस पापसे छुड़ा दे ।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें कहा गया है कि सकाम-कर्म-संलग्न वेदार्थवादी जन फूले हुए पुष्पोंके समान 'सकाम कर्म करनेसे मुक्ति होती है, स्वर्गादि सुखमय लोकोंका लाभ मिलता है', ऐसा मानते हुए भोगैश्वर्यकी रुचि रखते हैं। वेदमें ऐसे पापसे छूटनेके लिये प्रार्थना की गई है ।

---

१. यज्ञस्य—क्रियापदग्रहणं कर्त्तव्यमिति कर्मणः सम्प्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ।

२. समये—समयन्ति संगच्छन्ते योद्धारोऽत्रेति समयः संग्रामः ।

४३. कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

हे अर्जुन ! (स्वर्गपराः) स्वर्ग ही परम पुरुषार्थ और श्रेष्ठ है, ऐसी बुद्धि रखनेवाले, (भोगैश्वर्यगतिं प्रति) खान-पानादि उपभोग और स्वामित्वकी ओर, (कामात्मानः) कामना रखनेवाले अर्थात् विषयोपभोगमें लम्पट जन ही, (क्रियाविशेषबहुलाम्) अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि विशेष क्रिया-कलापवाली, (जन्मकर्मफलप्रदाम्) जन्म-जन्ममें कर्मोंके फल देनेवाली वेदवाणीको कहते हैं ॥ ४३ ॥

यज्ञपतिमृषय [1]एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्राध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥
(अथर्ववेदः २-३५-२)

(ऋषयः) वेदका वास्तविक अर्थ जाननेवाले, अतीन्द्रियार्थदर्शी ज्ञानी जन, (यज्ञपतिम्) ज्योतिष्टोम, अतिरात्र आदि यज्ञोंके सम्पादनकर्ता याज्ञिक और यजमानको, (एनसा आहुः) पापसे युक्त कहते हैं क्योंकि वे सब सकाम कर्मोंके करनेसे विषयोपभोगमें लम्पट रहते हैं । (प्रजाः) इस यज्ञ-यागकी विकलतासे दुखी होती हुई परमात्म-भक्त प्रजा, जनता भी, (निर्भक्तम्) दुर्भाग्ययुक्त अर्थात् परमात्म-भक्तिसे रहित, (अनुतप्यमानम्) संसारमें पुनः पुनः जन्म-मरण होनेसे दुखित अर्थात् जन्म-मरणके दुःखसे परिपूर्ण याज्ञिकको, (एनसा आहुः) पापसे युक्त कहती है, (मथव्यान्) परमात्म-विज्ञानके लवमात्र, (स्तोकान्) अल्पसे अल्प, (यान्) जिन ज्ञानलवोंको, (अपरराध) सिद्ध किया जाता है, (विश्वकर्मा) परमात्मा, (तेभिः) थोड़ेसे थोड़े उस ज्ञान-योगसे, (नः) हमारे उन याज्ञिक पुरुषोंको भी, (संसृजतु) ज्ञानयोगी बना देवे, अर्थात् वे याज्ञिक पुरुष भी परमात्माके चरणोंमें प्राप्त होनेके लिये ज्ञानयोग-की साधना करें ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि याज्ञिक पुरुष स्वर्गादि रोचक पदार्थोंको सुनकर दूसरोंको यज्ञ करनेका उपदेश देते हैं कि यज्ञादि कर्मों द्वारा मनुष्य स्वर्गमें सुख भोगता हुआ मुक्त हो जाता है, शुष्क ज्ञानसाधनकी आवश्यकता नहीं है । वेदमें भी कहा गया है कि स्वर्गसाधक यज्ञादिके करनेमें बहुत प्रकार-की विशेष-विशेष क्रियाएँ की जाती हैं, जिनमें कई प्रकारके हननादि दोष हो

---

१. एनसा संयुक्तमित्यर्थः ।

जाते हैं। दोषोंके हो जानेसे पाप लगता है। परमात्मा उन याज्ञिक पुरुषोंको ज्ञानयोगके साधनकी शक्ति देवे क्योंकि स्वल्पमात्र ज्ञानयोग भी मुक्तिका साधन बन जाता है।

४४. भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

हे अर्जुन! (तया) कर्मकाण्डप्रतिपादक उस वेदार्थवादी वाणीसे, (अपहृतचेतसाम्) खिंचे हुए चित्तवाले, (भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्) भोग और ऐश्वर्यजन्य सुखोपभोगमें लगनेवाले मनुष्योंकी, (व्यवसायात्मिका बुद्धिः) ज्ञान-सम्पादनमें निश्चयात्मिका बुद्धि, (समाधौ) भगवत्-ध्यानमें होनेवाली मनकी क्रियामें, (न विधीयते) नहीं लगती॥ ४४॥

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा॥

(अथर्ववेदः २-३५-१)

(ये) लौकिक-भोगैश्वर्यलम्पट स्वर्गादि लोकोंकी कामनावाले जो मनुष्य, (वसूनि भक्षयन्तः) देहकी पुष्टिके लिये धन द्वारा पदार्थोंका उपभोग करते हुए, सकाम कर्म-निमित्त व्यर्थ धनका व्यय करते हुए भी, (न आनृधुः) अच्छे मार्गकी वृद्धि नहीं करते, (धिष्ण्याः अग्नयः) प्रातः, मध्याह्न, सायं-काल, तीनों समयोंमें स्थित होनेवाली आहवनीय, गार्हपत्यादि अग्नियाँ, (यान्) सकाम कर्म द्वारा लौकिकपदार्थोपभोगी विषय-वासनामें लम्पट जिन मनुष्योंको, (अनु अतप्यन्त) पदार्थोंके उपभोगके अनन्तर भी ताप देती हैं, (तेषाम्) उन भोगी पुरुषोंकी, (अवयाः) अवनतिकारक इन्द्रियोंमें विषयोपभोगकी कुसंगति, और, (दुरिष्टिः) दोषयुक्त, शास्त्रविधिविरुद्ध यागकी पद्धति है। (विश्वकर्मा) परमात्मा, (नः) हम परमात्मोपासकोंकी, (ताम्) उस दुरिष्टि या हीन प्रवृत्ति को, (स्विष्टिम्) शोभन इष्टि अर्थात् परमात्मतत्त्व-विवेकात्मक यज्ञ, (कृणवत्) कर दे। हम सदा निष्काम कर्म करते रहें।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें कहा गया है कि जो प्राणी सांसारिक भोगैश्वर्यमें लगे रहते हैं उनकी ब्रह्मविवेचनात्मिका बुद्धि भगवत्-ध्यानमें नहीं लगती।

---

१. आनृधुः—'ऋधु वृद्धौ', लिटि द्विर्वचने 'अत आदेः' इत्यभ्यासदीर्घत्वे 'तस्मान्नुड् द्विहलः'। अत्र ऋकारैकदेशस्य हल्ग्रहणेन ग्रहणात् द्विहल्त्वेन नुडागमः।

४५. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

हे अर्जुन ! (वेदाः) चारों वेद, (त्रैगुण्यविषयाः) सत्त्व-रज-तम— तीनों गुणोंके कार्य और सांसारिक विषयोंका प्रतिपादन करते हैं, (निस्त्रैगुण्यः भव) तू तीनों गुणोंसे रहित अर्थात् अर्थवाद-रोचक श्रुतियोंसे रहित हो जा, (निर्द्वन्द्वः) सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित, और, (नित्यसत्त्वस्थः) [सतः ब्रह्मणो भावः सत्त्वम्, सत्त्व नाम ब्रह्म का है, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः पुरा'—अतः तू] नित्य ही ब्राह्मी स्थिति-वाला हो, तथा, (निर्योगक्षेमः) अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्त वस्तुकी रक्षासे भी रहित हो, (आत्मवान्) सदा आत्मज्ञान अर्थात् मनको वशमें रखकर ब्रह्मज्ञानी हो जा ॥ ४५ ॥

तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः ।
तासां न चिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥
(ऋग्वेदः १०-११४-२)

(निर्ऋतीः) सब वस्तुओंमें पूर्ण रूपसे रहना निर्ऋति है, या संसारसे विरक्त ज्ञानियोंको जिससे सदा घृणा रहती है, जो सृष्टि, स्थिति और संहार रूपसे त्रिविध—रजोगुणसे सृष्टि, सत्त्वगुणसे स्थिति और तमोगुणसे संहाररूप है, (तिस्रः निर्ऋतीः) ऐसी तीन गुणोंवाली निर्ऋतिकी, (देष्ट्राय) स्वकृत कर्मोंके फलको भोगनेके लिये, जो जीव, (उपासते) उपासना करते हैं अर्थात् इनके अनुयायी होते हैं, वे, (दीर्घश्रुतः) संसारमें दीर्घकालतक जन्म-मृत्युजन्य अभ्यस्त बातोंको सुनते हुए, (हि) निश्चयसे श्रुत और दृष्ट पदार्थोंको, (विजानन्ति) विशेष भावसे जानते हैं, अतएव, (वह्नयः) सांसारिक जन्म-मृत्युके भारको उठानेवाले होते हैं। (कवयः) तत्त्वज्ञानी यति, (तासाम्) सृष्टि-संचालक सत्त्वरजस्तमोगुणोंकी गतियोंके, (निदानम्) वास्तविक कारण और उनके मूल सिद्धान्तको, (निचिक्युः) पूर्णतया जानते हैं, (परेषु गुह्येषु) परमोत्कृष्ट गुह्यसे गुह्य कर्मोंमें, (व्रतेषु) यम-नियमादि व्रतोंमें, (याः) जो प्रवृत्तियाँ हैं, (तासां निदानं चिक्युः) उनके तत्त्वको जानते हैं।

तुलना—गीतामें वेदोंके त्रिगुणात्मक सकाम कर्मोंके अनुसार चलनेवालेको संसारमें फँसनेवाला, और निर्द्वन्द्व तथा ब्रह्ममें लीन रहनेवालेको मुक्त कहा गया है। वेदमें भी कहा गया है कि तीनों गुण पुरुषके लिये संसारमें बन्धनके

कारण हैं। जो उन गुणोंके वास्तविक स्वरूपको जानकर उनसे पृथक् रहता है और ब्रह्मका चिन्तन करता है वह मुक्त हो जाता है।

४६. यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

(सर्वतः) चारों ओरसे, (सम्प्लुतोदके) नानाप्रकारके झरनों तथा वर्षाकी धाराओंसे भरे हुए, (उदपाने) कूप, तडाग, बावली आदि छोटे-छोटे जलाशयोंमें, (यावान्) जितने जलके ग्रहणकी, (अर्थः) स्नान-पानादिके प्रयोजन निमित्त आवश्यकता होती है, (तावान्) उतने ही जलका ग्रहण किया जाता है, सम्पूर्ण जलका ग्रहण नहीं किया जाता। इसी प्रकार, (विजानतः) परम तत्त्वके जाननेकी इच्छा करनेवाले, (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणके लिये भी अपने ब्रह्मज्ञानकी परिपूर्णताके लिये, (सर्वेषु वेदेषु) चारों वेदोंमेंसे केवल ब्रह्मज्ञानको सम्पादन करनेवाले भागका ही प्रयोजन होता है, सम्पूर्ण वेदका नहीं।

इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—

जैसे वर्षाकालमें जलकी बाढ़ आनेसे छोटी-छोटी बावली आदि अपने विस्तारके अनुसार जलको ग्रहण करके भर जाती हैं, चाहे प्रलयकारी वृष्टि क्यों न हो, ये कूपादि उतने जलसे भर जायँगे जितना उनका पेट होगा। शेष जलसे कूपादिको कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार जिस बुद्धिमान् चतुर ब्राह्मणको अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ प्राणीको चारों वेदोंसे जितने उपदेशोंकी आवश्यकता है, उतना ही ग्रहण करे। अधिक ग्रहणसे उसे कुछ भी लाभ न होगा।

एक टीकाकारने इस श्लोकका अर्थ निम्नलिखित प्रकारसे भी किया है—

स्नान-पानादिके प्रयोजन जितने छोटे-छोटे उपादानसे निकलते हैं, वे सबके सब एक ही स्थानपर बहुत बड़े समुद्रके समान महान् जल-राशिके अन्तर्गत हैं। तात्पर्य यह है कि स्वर्गादिके अथवा नाना प्रकारके इतर लौकिक विषयोंके सुख जो भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेसे प्राप्त होते हैं वे सबके सब ब्रह्मानन्दके सुखके अन्तर्गत हैं। इसलिये भिन्न-भिन्न कर्मोंको त्यागकर एक ही ठौर केवल ब्रह्मानन्द-सुखकी प्राप्तिका यत्न करना चाहिये॥ ४६॥

उपर्युक्त अर्थका समर्थन उपनिषद्से भी होता है—

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

(बृ. उ. ४-३-३२)

इस ब्रह्मानन्दके एक छोटे अंशमें इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके जीवोंका आनन्द खप जाता है क्योंकि अन्य जितने आनन्द हैं वे सब उसी ब्रह्मानन्दके बिम्ब हैं।

वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस
इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥

(यजुर्वेदः १९-७८)

(प्रजापतिः) जीवात्मा, (ऋतेन) सत्यस्वरूप, (वेदेन) ऋगादि चारों वेदोंसे, (सुतासुतौ) श्रुति भगवतीसे प्रेरित ब्रह्मज्ञानात्मक धर्म तथा निषिद्ध अधर्म इन दोनोंको, (व्यपिबत्) विशेष करके पान करता है अर्थात् सकाम धर्मसे क्या-क्या फल मिलता है यह जानता है, और वेदज्ञानसे ही, (इन्द्रस्य) आत्माके, (सत्यम्) सत्य धर्मके आचरणको, (अन्धसः) तथा ज्ञानात्मक अन्नका, (विपानम्) विशेष करके ग्रहण करनेवाले, (शुक्रम्) ब्रह्मात्मक बलको, तथा, (इन्द्रियम्) अन्तरिन्द्रियसम्बन्धी समग्र इन्द्रियशक्तिको, (इदम्) इस, (मधु) मधुरता गुणसे युक्त, (पयः) पान करनेयोग्य, (अमृतम्) अमृतपद अर्थात् मुक्तिको, (व्यपिबत्) ग्रहण कर लेता है।

तुलना—गीतामें कार्य चलाने योग्य मात्र जलका दृष्टान्त देकर वेदोंसे ब्रह्मज्ञान मात्रका ग्रहण करना कहा गया है। वेदमें भी कहा गया है कि धर्मा-धर्मका विचार वेदसे ही जाना जा सकता है और ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक श्रुतियों-के विचारसे ही मुक्ति सम्भव है।

४७. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

हे अर्जुन! (ते) तेरा, (अधिकारः) अधिकार अर्थात् योग्यता, (कर्मणि) कर्म ही करनेमें है, (फलेषु) उसके फलग्रहण करनेमें, (कदाचन) कभी भी, (मा) नहीं है, इसलिये तू, (कर्मफलहेतुः) कर्मफलका कारण, (मा भूः) मत हो, क्योंकि फलकी इच्छा होनेसे ही प्राणी कर्मफल भोगनेका कारण होता है, अर्थात् अपने हाथोंसे अपने गलेमें छुरी लगाता है और कर्म-बन्धनमें पड़ जाता है जिससे कल्पान्तपर्यन्त आवागमनके दुःखसे दुखी होता रहता है। फिर, (अकर्मणि) नित्य-नैमित्तिक कर्मके न करनेमें भी, (ते) तेरी, (सङ्गः) आसक्ति, (मा अस्तु) न हो, अर्थात् कर्म तो तू सब कर, पर उसके फलकी इच्छा मत कर और निषिद्ध कर्म भी मत कर॥ ४७॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुर्वेदः ४०-२)

मनुष्य, (इह) इस जगत्‌में, (कर्माणि) नित्य-नैमित्तिक निष्काम कर्मोंको, (कुर्वन् एव) करता हुआ ही, (शतं समाः) सौ वर्ष अर्थात् अपनी आयुकी समाप्तितक, (जिजीविषेत्) जीनेकी इच्छा करे। (एवम्) इस प्रकार मुक्तिके लिये निष्काम कर्मोंके करनेसे, (त्वयि) निष्काम कर्मवाले तुझ मनुष्यमें, (कर्म) नित्य-नैमित्तिक स्वाभाविक कर्म-धर्म, (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता अर्थात् तुझमें कर्मजन्य बन्धन कभी न होगा। (इतः) इस प्रकारसे, (अन्यथा) भिन्न प्रकार, (नास्ति) नहीं है।

उपनिषद्‌में आया है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

(मु. उ. ३-२-२)

विषयोंकी कामना करनेवाला जिन-जिन कामनाओंको चाहता है अथवा करता है, उन्हीं-उन्हीं कामनाओंके अनुसार वहाँ-वहाँ जाकर जन्म लेता है। परन्तु जो सर्व प्रकारसे आप्तकाम है अर्थात् जिसकी सारी कामनाएँ भगवत्स्वरूपमें पूरी हो चुकी हैं तथा जो सर्व प्रकारसे कृतकृत्य है, उसकी सारी कामनाएँ यहाँ ही नष्ट हो जाती हैं।

महाभारतमें भी कहा गया है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ १ ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसः विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

इस सृष्टिमें जड़ पदार्थोंमें-से चैतन्य अर्थात् प्राणवाले श्रेष्ठ हैं। उन प्राणियोंमें बुद्धिपूर्वक जीवन निबाहनेवाले श्रेष्ठ हैं। बुद्धिवालोंमें भी मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे गये हैं। ब्राह्मणोंमें भी विद्वान् श्रेष्ठ माने जाते हैं। विद्वानोंमें भी कृतबुद्धि (निश्चयात्मिका बुद्धिवाले) श्रेष्ठ हैं। निश्चयात्मिका बुद्धिवालोंमें भी नित्य-नैमित्तिक कर्म करनेवाले श्रेष्ठ हैं। नित्य-नैमित्तिक कर्म करनेवालोंमें भी कर्मके फलोंको भगवदर्पण करके केवल भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति करनेवाले श्रेष्ठ हैं।

सकाम कर्म करनेवालोंकी मनुजीने हानि बताई है —

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

(म. स्मृ. २-९४)

कर्मोंके फल स्वर्ग तथा सुन्दर रमणी आदि नाना प्रकारके भोग हैं। उन कामनाओंके भोगनेसे कभी तृप्ति नहीं होती। जैसे अग्निमें घृत डालनेसे अग्निकी ज्वाला उत्तरोत्तर फिर बढ़ती ही है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि प्रत्येक पुरुषको निष्काम भाव यानी भगवदर्पित बुद्धिसे नित्य-नैमित्तिक कर्म जीवनके अन्ततक अवश्यमेव करने चाहिए, कर्मका परित्याग उचित नहीं है। वेद, उपनिषद् आदिमें भी कहा गया है कि आयुः-पर्यन्त कर्मफलकी इच्छा न रखते हुए कर्म करता जाय। फलकी इच्छा न रखे। कर्मफलका परित्याग करके भगवदर्पण कर्म करना सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला है। कर्मका त्याग शुभ फल देनेवाला नहीं है।

४८. **योगस्थः कुरुः कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।**
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(धनञ्जय !) हे अर्जुन ! (योगस्थः) सुख-दुःखमें समान, केवल ब्रह्ममें स्थिति रखनेवाला, पाप-कर्मसे पृथक् होता हुआ तू, (सङ्गम्) कर्मके संग अर्थात् फलकी तृष्णा तथा कर्माभिमानको, (त्यक्त्वा) छोड़कर, (सिद्ध्यसिद्ध्योः) कामनाके फलकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें, (समः) एक समान अर्थात् हर्ष और विषादसे शून्य, (भूत्वा) होकर, (कर्माणि) स्ववर्णानुसार बतलाए हुए दुःखात्मक अथवा सुखात्मक, कठिन अथवा कोमल नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको, (कुरु) कर, क्योंकि, (समत्वम्) सुख-दुःख, लाभ और हानिमें एक-जैसा रहना ही, (योगः) योग, (उच्यते) कहा गया है ॥ ४८ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

(ऋग्वेदः १०-७१-२)

(यत्र) जिस समय, (धीराः) बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष, (तितउना सक्तुमिव) चलनीसे सत्तूकी भांति, (पुनन्तः) पवित्र करते हुए या साफ करते हुए पुरुषोंकी भांति निष्कामकर्मद्वारा कर्मोंके फलकी इच्छाको दूर करते हुए, (मनसा) शुद्ध संकल्पसे या शुद्ध बुद्धिसे, (वाचम्) ज्ञानात्मक कर्मों और वचनों-

को, (अक्रत) करते हैं, (अत्र) इस समयमें, (सखायः) शास्त्र-प्रतिपादित समताज्ञानको लक्ष्यमें रखते हुए, (सख्यानि) शास्त्र-प्रतिपादित समतामें होनेवाले ज्ञानको या कर्मोंको, (जानते) जानते हैं, अथवा, (सखायः) वाणीसे आपसमें मित्र बने हुए, सबके साथ समताको प्राप्त करते हुए, (सख्यानि) समतावाक्यसे मिली हुई उन्नतियोंको पाते हैं, इसलिए समतामें रहनेवाले, (एषाम्) इन पुरुषोंकी, (वाचि) वाणीमें, (भद्रा) कल्याणस्वरूप, (लक्ष्मीः) सम्पत्, (अधि निहिता) स्थिर रहती है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि संगका परित्याग, सबमें समता, कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-विषादका परित्याग, ब्रह्मप्राप्तिके लक्षण हैं। वेदमें कहा गया है कि बुरे कर्मोंका त्याग, निष्काम शुभ कर्मोंका करना, शुद्ध मनसे ज्ञान प्राप्त करना, सबके साथ मित्रता तथा समताका धारण करना ही मोक्षसम्प्राप्तिके साधन अथवा लक्षण हैं।

४९. दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

(धनञ्जय !) हे अर्जुन ! (हि) इस कारण, (बुद्धियोगात्) ज्ञानयोगद्वारा किये गये निष्काम कर्मसे, (कर्म) सकाम कर्म, (दूरेण) बहुत दूर होनेके कारण, (अवरम्) अत्यन्त निकृष्ट है, इसलिये तू, (बुद्धौ) बुद्धियोगकी, (शरणम्) शरणको, (अन्विच्छ) जा, अर्थात् निष्काम कर्मोंका सम्पादन कर, क्योंकि, (फलहेतवः) कर्मसे उत्पन्न होनेवाले सन्तानसुख, धनसुख आदि फलोंके चाहनेवाले, (कृपणाः) अत्यन्त कृपण अर्थात् दीन, दुखी और नीच होते हैं॥ ४९ ॥

यस्तित्याज[1] सचिविदं[2] सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

(ऋग्वेदः १०-७१-६)

(यः) जो पुरुष, (सचिविदम्) समग्र संसारी जीवोंके सखास्वरूप वेदके अध्येताको जाननेवाले, (सखायम्) निष्काम कर्म करनेवाले, सुख-दुःखादि

---

१. तित्याज—त्यजतेर्लेटि 'अपस्पृधेथामानृचुः' इत्यादिना निपातितः।

२. सचिविदम्—सचिशब्दः सखिवाची, सखिविदमित्यर्थः—वेद-सम्प्रदायके विनाशके निवारक तथा वेदके प्रत्युपकारी वेदाध्येताको जो जानता है वह सचिविद् है।

द्वन्द्वोंमें एकरस रहनेवाले ज्ञानी पुरुषको अथवा निष्काम कर्म बतानेवाले सखा-स्वरूप वेदको, (तित्याज) छोड़ देता है अर्थात् निष्काम कर्मको छोड़ स्वर्गादि-प्राप्तिके निमित्त सकाम कर्म करता है, (तस्य) उस पुरुषकी, (वाचि) लौकिक और शास्त्रीय वाणीमें, (अपि भागः) सफलताका प्राप्तिकारक कोई भी अर्थ अथवा प्रयोजन नहीं होता। (ईम्=अयम्) लौकिक उपभोगोंका लालची पुरुष, (यत्) वेदके व्यतिरिक्त लौकिक कर्मको, (शृणोति) सुखका साधन-भूत ही श्रवण करता है, (तत्) उस कर्मका सुनना अथवा करना, (अलीकम्) व्यर्थ ही होता है। (हि) जिस कारण, (सुकृतस्य) शुभ कर्मज्ञानके, (पन्थाम्) रास्तेको, (न प्रवेद) सर्व कर्मोंके फलको मुख्य मानकर, कृपण और दरिद्र होनेसे, ज्ञान-मार्गमें श्रद्धाशून्य होनेसे, निष्काम कर्मके अनुष्ठान-मार्गको नहीं जानता इसलिये उसका वेदादि सत् शास्त्रका सुनना भी व्यर्थ ही है। प्रश्नोत्तरी-में भी स्वामी शंकराचार्यका वचन है—'को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः' अर्थात् विशाल कामनावाले ही यथार्थमें कृपण यानी घोर दरिद्र हैं।

उपनिषद्में कहा गया है—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ
य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।

(बृ. उ. ८-१०)

हे गार्गि! जो इस ब्रह्मको न जानकर सकाम कर्म करता हुआ इस लोकसे अलग होता है वही कृपण है अर्थात् घोर दरिद्र है, और जो इस अविनाशी ब्रह्मस्वरूपको ही जानता हुआ मृत्युको प्राप्त होता है, वही ब्रह्मवेत्ता है, ब्राह्मण है।

तुलना—गीतामें सकाम कर्मको निकृष्ट और निष्काम कर्मको उत्तम बताते हुए कहा गया है कि लौकिक फलकी कामना करनेवाले दरिद्र और नीच होते हैं। वेदमें भी वैदिक ज्ञानसे लब्ध निष्काम कर्मका परित्याग करके सकाम कर्मकी प्राप्ति करना घोर पाप तथा निष्काम कर्म करना और ब्रह्मज्ञानमें बुद्धि रखना परम लाभप्रद कहा गया है।

५०. **बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।**
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

हे अर्जुन! (बुद्धियुक्तः) जो बुद्धियुक्त होकर कर्म करता है अर्थात् सिद्धि और असिद्धिमें समभाव करके परमार्थदृष्टिसे कर्म करता है, वह बुद्धियुक्त

प्राणी, (सुकृतदुष्कृते) सुकृत और दुष्कृत अर्थात् पुण्य और पाप, (उभे) दोनों-को, (इह) इसी संसारमें अर्थात् इसी जन्ममें, (जहाति) त्याग देता है। (तस्मात्) इसलिये, (योगाय) समत्वबुद्धियोगके लिये, सुख-दुःखादिमें समत्व-बुद्धियुक्त कर्मके लिये, (युज्यस्व) जुड़ जा, यत्न कर। (कर्मसु) इस प्रकार बुद्धियुक्त कर्ममें, (कौशलम्) चतुराई ही, अर्थात् बुद्धियुक्त होकर कर्म करनेमें कर्ताकी जो चतुराई है, (योगः) वही योग है। अथवा, (योगः) योग ही, (कर्मसु) सब प्रकारके कर्मोंमें, (कौशलम्) मंगलस्वरूप है, अर्थात् समबुद्धि करके भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्तिके लिये निष्काम कर्मोंका सम्पादन करना ही कर्ताकी चतुराई अथवा मंगलस्वरूप है ॥ ५० ॥

यः इमे उभे अहनी पुर एत्यप्रयुच्छन् । स्वाधीर्देवः सविता ॥

(ऋग्वेदः ५-८२-८)

(यः) जो, (सविता) कर्मयोग अथवा ज्ञानयोगका उत्पादक प्राणी, (स्वाधीः=स्व+आ+धीः, या सु+आ+धीः) अपनी चारों ओर समतामें प्राप्त होनेवाली कर्मयोगबुद्धि अथवा चारों ओर भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्तिके लिये निष्काम कर्म की बुद्धिसे युक्त, (देवः) ज्ञानयोगसे प्रकाशमान होता हुआ, (इमे) इन, (उभे) दोनों, (अहनी) शुक्ल-कृष्णस्वरूप पुण्य और पापोंको, (पुरः) आगे आनेवाले समयमें, (अप्रयुच्छन्) न ग्रहण करता हुआ अर्थात् उन दोनोंको ग्रहण करने या छोड़नेमें प्रमाद न करता हुआ, (एति) संसार-यात्रामें जाता है, वही कुशलतायुक्त पुरुष है। इतर पुरुष भी उसीका अनुकरण करते हैं।

उपनिषद्में कहा गया है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

(मु. उ. ३-१-३)

जब बुद्धियुक्त कर्म करनेवाला, कर्मोंके फलको त्यागता हुआ विद्वान् रुक्म-वर्ण ज्योतिःस्वरूप जगत्कर्ता ब्रह्मयोनि ईश्वररूप पुरुषको देखता है अर्थात् भगवत्स्वरूपको हृदयके नेत्रोंसे अवलोकन करने लग जाता है, तब वह पुरुष सब कर्मोंसे निर्लेप होकर, पाप-पुण्यको नाश कर परम समताको प्राप्त होता है। तभी उसके दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, जय-पराजय इत्यादि सम हो जाते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञानयोगके प्रभावसे जब मनुष्य समता-बुद्धि रखता हुआ पुण्य-पापका परित्याग कर देता है तभी कुशलताको प्राप्त होता है। वेदमें भी कहा गया है कि पुण्य-पापके परित्यागसे ही पुरुषको शान्ति मिलती है।

५१. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

(बुद्धियुक्ताः) सुख-दुःखादिमें समताबुद्धियुक्त कर्म करनेवाले, (मनीषिणः) मनको वशमें रखनेवाले ज्ञानी पुरुष, (हि) निश्चय ही, (कर्मजम्) शुभ और अशुभ कर्मोंसे उत्पन्न हुए, (फलम्) फलको, (त्यक्त्वा) छोड़कर, (जन्म-बन्धविनिर्मुक्ताः) बार-बार जन्म लेनेके बन्धनसे छूटकर अर्थात् नीच और उच्च योनियोंमें जन्म लेने और मरनेके दुःखसे बचकर, (अनामयम्) सब रोगोंसे रहित, (पदम्) आनन्दस्वरूप विष्णुके परम पद, मोक्षपदको, (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं॥ ५१ ॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥

(अथर्ववेदः ९-५-१)

हे परमात्मन् ! अथवा हे गुरो ! (एतम्) निष्काम कर्म करनेवाले, सुख-दुःखमें समताबुद्धि रखनेवाले इस बुद्धिमान् जीवात्माको, (आ नय) अपने समीप प्राप्त कर। (आ रभस्व) हे जीवात्मन् ! तू शुभ कर्म अर्थात् निष्काम कर्मोंका आरम्भ कर, जिन कर्मोंके आधारसे, (अजः) जीवात्मा, (प्रजानन्) निष्काम कर्मोंके मार्गको जानता हुआ, (सुकृताम्) सत्कर्म करनेवालों अर्थात् मुक्तात्माओंके, (लोकम्) स्थान, मुक्तिधामको, (अपि गच्छतु) प्राप्त होवे, और संसारावस्थामें, (महान्ति) बड़े-बड़े, (बहुधा) बहुत प्रकारके विनश्वर स्वर्गादि लोकोंके प्राप्त करानेवाले, (तमांसि) अज्ञानात्मक सकाम कर्मोंको, (तीर्त्वा) पार करके, (तृतीयम्) ब्रह्मके तृतीय आनन्दमय, (नाकम्) अनामय सुखस्वरूप धामको, (आ क्रमताम्) प्राप्त होवे। (१) धर्ममार्गसे चलना, (२) निष्काम कर्मोंका आरम्भ करना, (३) ज्ञानी होकर अपनी वृद्धि करना तथा (४) सुखधामकी प्राप्ति, ये इस मन्त्रके मुख्य चार उपदेश हैं।

तद्विष्णोः[१] परमं पदं सदा[२] पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्[३]।
(ऋग्वेदः १-२२-२०)

(सूरयः) ज्ञानी जन, (दिवि) आकाशमें, (आततम्) फैले हुए, (चक्षुः इव) प्रतिरोधक वस्तुके न होनेपर नेत्रकी भाँति, (विष्णोः) परमात्माके, (तत्) उस, (परमं पदम्) मुक्तिधामको, (सदा) ज्ञानदृष्टिसे सर्वदा, (पश्यन्ति) देखते हैं।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।
(तै. उ. १-११-२)

जो अनवद्य अर्थात् अनिन्दित कर्म हैं वे ही सेवन करने योग्य हैं नकि निन्दित। निष्काम कर्मोंको अनिन्दित तथा सकाम कर्मोंको निन्दित कर्म कहते हैं।

तुलना—गीतामें सकाम कर्मोंको बन्धनका कारण और निष्काम कर्मोंको मुक्तिका साधन बताया गया है। वेदमें भी इस जीवात्माको अन्धकारमय सकाम कर्मोंके परित्याग और मुक्तिधामको प्राप्त करानेवाले निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा दी गई है।

५२. यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

हे अर्जुन! (यदा) जिस समय, (ते) तेरी, (बुद्धिः) बुद्धि, (मोहकलिलम्) मोहात्मक अज्ञानरूप कलुषताको अर्थात् अज्ञानताके कठिन दुर्गको, (व्यतितरिष्यति) पार कर जायगी, (तदा) तब, तू (श्रोतव्यस्य) सुननेके योग्य वचनोंसे, (च) और, (श्रुतस्य) सुने हुए त्रिगुणात्मक सकाम कर्मोंके बतानेवाले वेद-शास्त्रोंके वचनोंसे, (निर्वेदम्) वैराग्यको, (गन्तासि) प्राप्त हो जावेगा॥५२॥

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि॥
(अथर्ववेदः १०-१-३०)

---

१. विष्णोः—'विषेः किच्च' (उ. ३-३९) इति नुप्रत्ययः। कित्त्वाद्गुणाभावः।

२. सदा—सर्वैकान्येति (पा. ५-३-१५) दाप्रत्ययः, 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्याम्' (पा. ५-३-६) इति सर्वशब्दस्य सभावः।

३. आततम्—तनोतेः कर्मणि क्तः, 'यस्य विभाषा' इतीट्प्रतिषेधः, 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिना नलोपः।

हे जीवात्माओ ! (यदि) यदि तुम, (तमसा) मोहात्मक अज्ञानरूप कलुषतासे, (आवृताः) मिले हुए, (जालेन) मोह-कलिलसे, (अभिहिता इव) बँधे हुए-से, (स्थ) हो, अर्थात् यदि तुम अज्ञानरूप मोहके जालसे ढँके हुए हो, तब, (सर्वाः) सारे, (कृत्याः) जन्म-मरणफलके देनेवाले सकाम कर्मोंको, (संलुप्य) भली भाँति नाश करके, (इतः) इस मनुष्यलोकसे, (पुनः) फिर, (कर्त्रे) जगत्‌के कर्ता परमात्माके पास, (प्रहिण्मसि) मैं तुम्हें वापस भेजता हूँ ।

तुलना—गीतामें बुद्धिद्वारा मोहसे पार होना और सांसारिक सुख देनेवाले सकाम कर्मोंसे वैराग्यका होना बताया गया है । वेदमें भी कहा गया है कि यदि तुम सकाम कर्मोंके मोहजालसे बद्ध हुए निश्चेष्ट पड़े हो तो सब सकाम कर्मोंके परित्यागसे परमात्माके चरणकमलोंकी प्राप्ति हो सकती है ।

५३. श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला[1] बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

हे अर्जुन ! (श्रुतिविप्रतिपन्ना) अनेक प्रकारके साध्य-साधनको प्रकाशित करनेवाली श्रुतियोंसे विक्षिप्त अर्थात् व्याकुल हुई और अनेक प्रकारके शास्त्र सुननेसे संशयमें पड़ी हुई, (ते) तेरी, (बुद्धिः) बुद्धि, (यदा) जिस समय, (समाधौ) समाधि अर्थात् ईश्वरके स्वरूपमें, (निश्चला) विक्षेपोंसे रहित होकर, (अचला) अक्रिय अर्थात् अटल रूपसे, (स्थास्यति) स्थिर हो जायगी, (तदा) तब तू, (योगम्) बुद्धिकी स्थिरताके लक्षणको, या तत्त्वज्ञानको, जीवात्मा और परमात्माके तत्त्व-ज्ञानको, (अवाप्स्यसि) प्राप्त करेगा ॥ ५३ ॥

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व ।
संवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥

(ऋग्वेदः १०-५६-१)

हे जीवात्मन् ! (ते) तेरा, (इदम्) सकामकर्मयोगात्मक यह, (एकम्) एक काम जगत्‌में विद्यमान है, (ऊ) और, (परः) सकाम कर्मयोगके आगे, (ते) तेरा, (एकम्) एक निष्काम कर्म अर्थात् ब्रह्मज्ञान विद्यमान है। उस ब्रह्मज्ञानसे, (तृतीयेन) तीसरी, (ज्योतिषा) अखण्डाकार अचल ज्ञानमयी ज्योतिसे, (संविशस्व) भली भाँति परमात्म-ज्ञानमें, तीसरी ज्योति परब्रह्ममें लीन हो जा ।(तन्वः) अपने शरीरके सब कर्मोंके, (संवेशने) परब्रह्ममें अर्पण करनेपर, [(योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्—बृहत् उ.) 'जो मैं हूँ, सो वह है, जो वह है,

---

१. समाधौ—समाधीयते चित्तम् अस्मिन् इति समाधिः, परं ब्रह्म ।

सो मैं हूँ', (योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्, ओं खं ब्रह्म । यजु. ४०।१७) 'जो वह पुरुष सूर्यमें दिखाई पड़ता है, वह मैं हूँ । ओं खं ब्रह्म है' इस प्रकार] (चारुः) सुन्दर, कल्याणवाला, (देवानाम्) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंका, (प्रियः) प्रिय होकर, (परमे) अत्युत्कृष्ट, (जनित्रे) जगत्के उत्पन्न करनेवाले परमात्मामें, (एधि) बढ़ जा अर्थात् मुक्त हो जा । या, (देवानाम्) प्रकाशमान सब पदार्थोंके, (जनित्रे) उत्पन्न करनेवाले परमात्मामें, (प्रियः) प्रेम रखता हुआ, (एधि) वृद्धिको प्राप्त हो अर्थात् मुक्त हो जा ।

सामवेदमें 'संवेशनस्तन्वे' (पू. १-२-७-३) ऐसा पाठ है। इसका अर्थ इस प्रकार है—तीसरी आदित्य ज्योतिसे अपने आत्माको, (सं विशस्व) संयुक्त कर दे, क्योंकि सूर्यगत चैतन्य और आत्मचैतन्यमें कोई भेद नहीं है। इसलिए, (तन्वे) इस शरीर-परब्रह्मके तत्त्वज्ञानको अभ्यास करनेके अनन्तर 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' इस उक्तिसे फिर उत्तम शरीर ग्रहण करनेके निमित्त, (चारुः) सुन्दर कल्याणरूप होकर, (प्रियः) उस परमात्माका प्रिय या उसके साथ प्रीति करता हुआ, (देवानाम्) देवताओंमें भी, (परमे) अत्युत्कृष्ट, (जनित्रे) उत्पादक परब्रह्ममें, (संवेशनः) भली प्रकार प्रवेश करनेवाला, (एधि) हो ।

अथर्ववेदमें 'संवेशने तन्वा चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे' ऐसा पाठ है । वहाँ इस प्रकार अर्थ करना चाहिए—

उस तीसरी परब्रह्म ज्योतिमें, (संवेशने) भली भांति प्रविष्ट होनेपर, (परमे) अत्युत्तम, (सधस्थे) मुक्तपुरुषोंके निवासस्थान अर्थात् मुक्तिधाममें, (देवानां प्रियः) बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुषोंका प्रिय होकर, (तन्वा) निष्काम कर्म द्वारा इस वर्तमान शरीरसे ही, (एधि) उन्नतिको प्राप्त हो जा ।

उपनिषद्में आया है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(मु. उ. ३-२-८)

जैसे भिन्न-भिन्न नदियाँ अपने मार्गपर बहती हुई समुद्रमें जाकर नाम और रूपको छोड़कर अस्त हो जाती हैं—समुद्रमें मिल जानेके पश्चात् फिर उनके नामोंका पता नहीं रहता, उसी प्रकार विद्वान् अज्ञानकृत नामरूपोंसे रहित होकर उस परेसे परे दिव्य पुरुष अर्थात् परब्रह्ममें जाकर लय हो जाता है । मैं ब्राह्मण

हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, इत्यादि बातें योगस्थ होने मात्रसे भगवत्स्वरूपमें लय होकर मिट जाती हैं।

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत्॥
(कै. उ. १-१६)

जो परब्रह्म सर्वात्मा हृदयमें निवास करनेवाला है, सर्वान्तर्यामी, समग्र विश्वका आधार, बड़ेसे बड़ा, सूक्ष्मसे सूक्ष्म और नित्य है, वही तू है और तू ही वह है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि सकाम कर्मोंसे बुद्धिको हटाकर निष्काम कर्मयोगमें स्थित होनेसे ही मुक्तिकी प्राप्ति या भगवच्चरणारविन्दकी उपलब्धि होती है। वेदमें भी दो प्रकारके कर्म बताये गए—सकाम कर्म और निष्काम कर्म। निष्काम कर्मको ही तृतीय ज्योति अर्थात् ब्रह्मज्योतिके परम धामकी प्राप्तिका कारण बताया गया है।

अर्जुन उवाच—

५४. **स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।**
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

श्रीभगवान् उवाच—

५५. **प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।**
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

अर्जुनने कहा—(केशव!) हे सुन्दर केशोंवाले वासुदेव! (समाधिस्थस्य) योगसाधन करते-करते समाधिमें स्थिर हो जानेवाले, (स्थितप्रज्ञस्य) आत्मामें ही स्थिर बुद्धिवाले पुरुषका, (का भाषा) क्या लक्षण है अर्थात् वह किस प्रकार पुकारा जाता है? तथा, (स्थितधीः) स्थिर बुद्धिवाला स्वयं, (किं प्रभाषेत) क्या बोलता है? (किम् आसीत) कैसे बैठता है, और, (किं व्रजेत) कैसे चलता है? ॥ ५४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—(पार्थ!) हे अर्जुन! (यदा) जब, (आत्मना) अपने आत्मासे, (आत्मनि एव) अपने आत्मामें ही, (तुष्टः) सन्तुष्ट रहनेवाला पुरुष, (मनोगतान्) अपने मनमें प्रवेश की हुई, (सर्वान्) सब, (कामान्) विषय-कामनाओंको, (प्रजहाति) मूलके साथ परित्याग कर देता है, (तदा) तब वह, (स्थितप्रज्ञः) स्थितप्रज्ञ, स्थिर बुद्धिवाला, (उच्यते) कहा जाता है॥ ५५ ॥

अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती ।
इन्द्रस्य रूपं शतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः ॥

(यजुर्वेदः १९-९३)

हे जीवात्माओ ! (तत् अश्विना) योगाभ्यासके रसमें व्याप्त हुए वे दोनों सिद्ध और साधक, (भिषजा) सद्वैद्यकी भाँति स्वस्थचित्त होकर,(अङ्गानि) योगके अङ्गोंको, (आत्मन्) अपने स्वरूपमें ही, (आत्मानम्) स्वस्वरूपको,(अङ्गैः) योगसमाधिके अङ्गोंसे, (समधात्) समाधान करते हैं। (सरस्वती=सरस्वान्) आत्मरसका ज्ञाता वह प्राणी, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वरके, (शतमानम्) संख्यातीत मान या प्रमाणवाले, (ज्योतिः) ज्योतिर्मय, (अमृतम्) अमृत अर्थात् अविनाशी, (रूपम्) स्वरूपको, (आयुः) आयुःपर्यन्त, (चन्द्रेण) अतीव आनन्दसे, (दधानाः) धारण करते हुए, स्थितप्रज्ञ हो जाते हैं ।

उपनिषद्में कहा गया है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(बृ. उ. ४-४-७)

प्राणीके हृदयमें जितने प्रकारकी कामनाएँ भरी हैं, जब सब नष्ट हो जाती हैं, तब मनुष्य इस शरीरमें ही मुक्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्ममें मिल जाता है। ऐसे पुरुषको ही स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

तुलना—गीतामें कामनाओंके परित्याग और आत्मसन्तुष्टिसे स्थिरबुद्धि होनेका उपदेश दिया गया है। वेदमें भी कहा गया है कि कामना-परित्यागसे पुरुष स्थितप्रज्ञ हो सकता है ।

५६. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

(दुःखेषु) प्रारब्ध कर्मके फलसे उत्पन्न हुए आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीन प्रकारके दुःखोंमें, (अनुद्विग्नमनाः) उद्वेग या व्याकुलतासे रहित मनवाला, (सुखेषु) सुखोंकी प्राप्तिमें, (विगतस्पृहः) सुख बढ़ानेकी आकांक्षासे रहित, (वीतरागभयक्रोधः) राग, भय, क्रोधसे रहित, (मुनिः) मननशील विद्वान्, (स्थितधीः) स्थितप्रज्ञ अर्थात् सब अवस्थाओंमें स्थिर बुद्धिवाला, (उच्यते) कहा जाता है ॥ ५६ ॥

येना समत्सु सासहोऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम् ।
वनेमा ते अभिष्टिभिः ॥

(यजुर्वेदः १५-४०)

हे जीवात्मन् ! (येन) जिस जीवात्माने, (समत्सु) संग्रामादि दुःखोंमें और हर्षादिमें, (सासहः) अत्यन्त सहनशीलता प्राप्त कर ली है, ऐसा सुख-दुःखादिको समझनेवाला तू, (भूरि) बहुत ही, (शर्धताम्) प्राकृतिक बलको दिखानेवाले प्राणियोंमें, (स्थिरा = स्थिराणि) स्थिर हुए सुख-दुःख, राग-द्वेषादिकोंको, (अव तनुहि) मत विस्तृत कर अर्थात् उपदेशद्वारा इनको मोहसे रहित कर। (ते) तेरी, (अभिष्टिभिः) राग-भय-क्रोधादिके परित्यागकी इच्छाओंसे, (वनेम) वे भी सेवित हों अर्थात् स्थिरबुद्धि बनें ।

तुलना—दुःखोंमें अव्याकुलता, सुखोंमें अनिच्छा तथा क्रोध-भय-रागके परित्यागसे मनुष्य स्थितधी हो सकता है, यह गीतामें कहा गया है। वेदमें भी सांसारिक संग्रामके दुःखोंमें अव्याकुलता तथा सुख-दुःखोंकी सहनशीलता ही स्थिरधी होनेके कारण बताये गए हैं ।

५७. यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(यः) जो पुरुष, (सर्वत्र) धन, स्त्री, पुत्रादि स्वपरिवारमें तथा अपने देहमें, (अनभिस्नेहः) स्नेहसे रहित है, और, (तत्-तत्) उस-उस, (शुभाशुभम्) शुभ और अशुभको, (प्राप्य) प्राप्त करके, (न अभिनन्दति) हर्षको प्राप्त नहीं होता, और, (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता, (तस्य) उस पुरुषकी, (प्रज्ञा) बुद्धि, (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित कही जाती है, वही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५७ ॥

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥

(ऋग्वेदः १०-७१-१)

(बृहस्पते !) हे विद्वन् ! (प्रथमम्) उत्पत्तिके अनन्तर अन्य वाणीके बोलनेसे पहले ही, (नामधेयम्) 'ओम्' इस नामको, (दधानाः) धारण करते हुए अर्थात् उच्चारण करते हुए, (यत्) जो पुरुष, (अग्रम्) मुख्य, (वाचः) ब्रह्मात्मक वाणीको, (प्रैरत) उच्चारण करते हैं, अन्य वाणीका

उच्चारण नहीं करते, (एषाम्) राग-भय-क्रोधादिसे रहित शुभाशुभकी प्राप्ति-में हर्ष और शोकसे रहित इन पुरुषोंका, (श्रेष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ, (अरिप्रम्) पाप-रहित, (यत्) जो जीवन है, (एषाम्) इन प्रतिष्ठित बुद्धिवालोंका, (तत्) हर्ष-शोकादिसे रहित ज्ञान अथवा जीवन, (गुहा) हृदयाकाशमें, (निहितम्) स्थित हुआ, (प्रेणा=प्रेम्णा) प्रेमसे, (आविः) प्रकट होता है ।

उपनिषद्में बताया गया है—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं
किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना
सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् ।

(बृ. उ. ४-३-२१)

जैसे परम प्रिय स्त्रीसे सम्परिष्वक्त अर्थात् भोगनिमित्त मिलनेपर अत्यन्त कामसुखकी प्राप्तिके कारण प्राणीको बाहर-भीतरकी कुछ भी सुध नहीं रह जाती, वैसे ही जब इस पुरुषकी प्रज्ञा आत्माके साथ जा मिलती है अर्थात् भगवत्स्वरूपमें संलग्न हो जाती है तब इसे बाहर-भीतरके सुख-दुःखका बोध नहीं रहता ।

तुलना—गीतामें सब वस्तुओंमें स्नेह तथा सुख-दुःखदायी वस्तुओंमें प्रसन्नता और द्वेषका परित्याग ही प्रज्ञा-प्रतिष्ठितिका कारण बताया गया है । वेदमें भी शुभ वचनोंका उच्चारण एवं अशुभ वचनोंका परित्याग ही प्रज्ञा-प्रतिष्ठाके कारण बताये गए हैं ।

५८. यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(कूर्मः) कछुआ, (अङ्गानि) कर-चरणादिकों-को, (इव) जैसे, (संहरते) अपने भीतर सिकोड़ लेता है, ऐसे ही, (यदा) जब, योगावस्थामें, (अयम्) यह यत्न करनेवाला यति, (इन्द्रियाणि) चक्षुआदि बाह्य इन्द्रियोंको, (इन्द्रियार्थेभ्यः) अपनी-अपनी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंसे, (सर्वशः) सब ओरसे अपने भीतर ही भीतर, (संहरते) समेट लेता है, तब, (तस्य) उस यतिकी, (प्रज्ञा) बुद्धि, (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठाके योग्य होती है अर्थात् तभी वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५८ ॥

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ॥

(ऋग्वेदः ६-७५-६)

(सु+सारथिः) सुशिक्षित, स्थिर-बुद्धि, रथात्मक देहका सञ्चालक जीवात्मा, (रथे) देहात्मक रथमें, (तिष्ठन्) रहता हुआ, (पुरः) सामने खड़े हुए, (वाजिनः) वेगवाले इन्द्रियात्मक घोड़ोंको, (यत्रयत्र) जहाँ-जहाँ, जिस-जिस कार्यमें, (कामयते) ले जानेकी इच्छा करता है, वहाँ-वहाँ, (नयति) ले जाता है अर्थात् इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता हुआ संसार-यात्रा करता है, नकि इन्द्रियोंके पीछे स्वयं चलता है । (अभीशूनाम्) इन इन्द्रियोंकी वृत्ति-रूपी रश्मियोंकी, (महिमानम्) बड़ाईको, (पनायत[1]) गाओ, क्योंकि, (रश्मयः) वे इन्द्रियवृत्तिरूपी बागें, (पश्चात्) सारथिके पीछे-पीछे, (मनः) सारथिके मनके अनुसार, (अनुयच्छन्ति) इन्द्रियरूपी घोड़ोंको नियममें रखती हैं ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

(कठ उ. १-३-३—४)

हे जीवात्मन् ! आत्माको रथी अर्थात् रथपर बैठनेवाला राजा, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि, मनको बागें (लगाम) तथा इन्द्रियों और उनमें रहनेवाले विषयोंको घोड़े जान ।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन
स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकी-
भूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् ।

(मा. उ. ५)

---

१. 'पनायत'—मध्यमपुरुषका बहुवचन है । इसका अर्थ होना चाहिये 'स्तुति करो=गाओ' परन्तु निरुक्तमें इसके अर्थके स्थानपर 'पूजयामि' पाठ दिया है । इसपर दुर्गाचार्यने लिखा है कि यहाँ सम्बोध्य कोई नहीं है, इसलिये 'पनायत' का अर्थ पूजयामि, पुरुष और वचनके व्यत्ययसे किया है । किन्तु श्रीसायणाचार्यने जो पाठ उद्धृत किया है, उसमें 'पूजयत' है ।

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष कोई कामना नहीं करता और न कोई स्वप्न देखता है, उसे सुषुप्तावस्था कहते हैं। उस सुषुप्ति अवस्थामें सब इन्द्रियाँ एकीभूत होकर सिमट जाती हैं, प्रज्ञा (बुद्धि) सिमटकर घनीभूत हो जाती है तथा प्राणी सब कामनाओंसे रहित होकर आनन्दमय और आनन्द भोगनेवाला हो जाता है। जब पुरुष इस प्रकार आत्मानन्द अनुभव करने लग जाता है तो उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि प्राणी इन्द्रियोंके विषयोंको तथा मनको आत्माके अधीन कर लेनेसे स्थितप्रज्ञ हो सकता है। वेदमें भी कहा गया है कि देहमें रहते हुए भी इन्द्रियोंको वशमें कर लेनेसे मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

५९. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(निराहारस्य) इन्द्रियोंसे विषयोंको न भोगनेवाले या रोगोंके कारण या कठिन तपस्याके कारण निराहार रहनेवाले, (देहिनः) देहाभिमानी मनुष्यके, (विषयाः) रूप-रस-गन्धादि विषय तो, (विनिवर्तन्ते) निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु, (रसवर्जम्) उन विषयोंका रस नहीं छूटता अर्थात् उन विषयोंका अनुराग, स्वाद या मधुरता चित्तसे नहीं जाती। किन्तु, (अस्य) इस स्थितप्रज्ञ यतिका, (रसः) रञ्जनात्मक विषयानुराग, स्वाद या मधुरता, (अपि) भी, (परम्) उस परब्रह्मस्वरूप परमानन्दमय भगवत्स्वरूपको, (दृष्ट्वा) देखकर, (निवर्तते) नष्ट हो जाता है॥ ५९॥

दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।
सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन् देवहूतिषु॥
(ऋग्वेदः ७-८३-७)

(इन्द्रावरुणा!) हे श्रेष्ठ जीवात्मन्! (राजानः) अपने-अपने विषयमें प्रकाशमान होते हुए, (अयज्यवः) परमात्मसङ्गति अथवा ब्रह्मोपासनासे विमुख करनेवाले, (दश) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ दोनों, (समिताः) इकट्ठे मिले हुए भी, (सुदासम्) परमात्मसेवक अर्थात् ज्ञानी पुरुष को, (न युयुधुः) युद्धमें प्राप्त नहीं करते अर्थात् भगवद्भक्तको इन्द्रियगण नहीं सताते, बल्कि विषयोंके ग्राहकोंको इन्द्रियगण दुःख देते हैं, इसलिये, (अद्मसदाम्) [अद्म अन्नका नाम है, और अन्न ब्रह्मका नाम है—'अन्नं वै ब्रह्म'] ब्रह्ममें वास करनेवाले या ब्रह्मात्मक यज्ञ करनेवाले,

(नृणाम्) मनुष्योंकी, (उपस्तुतिः) परमात्मभक्ति अथवा परमात्माकी स्तुति, (सत्या) सफल होती है। (एषाम्) इन इन्द्रिय-निग्रहवाले परमात्मोपासकोंकी, (देवाः) इन्द्रियाँ भी, (देवहूतिषु) ब्रह्मयज्ञोंमें, (अभवन्) रहती हैं अर्थात् इन ब्रह्मज्ञानियोंकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होती हैं, बहिर्मुखी नहीं।

उपनिषद्में भी यही बात पाई जाती है—

आत्मानञ्चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ॥
(बृ. उ. ४-४-१२)

जब प्राणी विषयत्याग करते-करते रसरहित हो केवल आत्मरसमें मग्न हो जाता है, तब ऐसा जानता है कि यह पुरुष मैं हूँ, अर्थात् सब रसोंमें भगवत्-रसको व्यापक देखते हुए अपनेको भगवन्मय देखता है। तब वह क्या इच्छा करे ? किसके लिये शरीरको दुःख दे ? अर्थात् ऐसा स्थितधी अन्य किसी कामनाके लिये शरीरको तप-व्रतादि क्लेश नहीं देता।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि उपवास करनेसे इन्द्रियोंकी प्रबलता क्षीण हो जाती है तथा परमात्माके दर्शनसे शेष इन्द्रियरसाभास भी नष्ट हो जाता है। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्माके दर्शनसे विमुख करनेवाली इन्द्रियाँ ही हैं अतः व्रतोपवासादिके द्वारा उनकी प्रबलताका परिहार करना ही श्रेष्ठ है।

६०. **यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।**
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (प्रमाथीनि) मन्थन करनेवाली अर्थात् व्याकुल करनेवाली, (इन्द्रियाणि) चक्षुः-श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, (यततः) समाधिकी सिद्धिके लिये अथवा अपनी प्रज्ञाकी स्थिरताके लिये अर्थात् मोक्षप्राप्तिके लिये यत्न करनेवाले, (विपश्चितः) बुद्धिमान्, विवेकी, (पुरुषस्य) पुरुषके, (अपि) भी, (मनः) मनको, (हि) निश्चय करके, (प्रसभम्) बलपूर्वक, (हरन्ति) अपने-अपने विषयकी ओर खींच लेती हैं अर्थात् विषयी बनाकर उसके सब यत्नोंको धूलमें मिला देती हैं ॥ ६० ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥
(अथर्ववेदः ११-८-४)

(प्राणापानौ) हृदय और नासिकाके अग्रभागमें रहनेवाली प्राणवायु तथा नीचेकी ओर जानेवाली अपान वायु, (चक्षुः) चक्षुरिन्द्रिय, (श्रोत्रम्) कर्ण इन्द्रिय, (अक्षितिश्च) सांसारिक प्रवाह चलानेवाली अभौतिक ज्ञानशक्ति, और, (या क्षितिः) यह नाश होनेवाली कर्मशक्ति अर्थात् समस्त कर्मेन्द्रियाँ, (व्यानोदानौ) व्यान और उदान वायु, (वाक्) वाणी, (मनः) मन, (ते) ये प्राणापानादि इन्द्रियाँ, (वै) निश्चित रूपसे, (आकूतिम्) पुरुषके सांसारिक संकल्पको, (आवहन्) धारण करती हैं, न कि पारलौकिक संकल्पको।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मतवाली इन्द्रिया विद्वान् पुरुषके भी मनको अपनी ओर खींच लेती हैं, विद्वान् भी पतित हो जाता है। वेदमें भी यही बताया गया है कि इन्द्रियाँ मनुष्यको सांसारिक अभिलाषाओंकी ओर ले जाती हैं।

६१. तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(मत्परः) जो मुझे सबका अन्तरात्मा, सर्वश्रेष्ठ जानकर मुझमें परायण होकर या मेरी भक्तिमें तत्पर होकर मेरे वचन माननेमें लगा हुआ, (तानि) उन दुष्ट, मथनेवाली, (सर्वाणि) सब इन्द्रियोंको, (संयम्य) अपने वशमें करके, (युक्तः) समाहितचित्त होकर, (आसीत) निर्व्यापार बैठ जाता है, वही यथार्थ यति है, (हि) क्योंकि, (यस्य) जिसकी, (इन्द्रियाणि) वागादि इन्द्रियाँ, (वशे) वशमें हैं, (तस्य) उसकी, (प्रज्ञा) बुद्धि, (प्रतिष्ठिता) स्थित कही जाती है। उसीके मनको ये इन्द्रियाँ बलपूर्वक चञ्चल नहीं कर सकतीं॥ ६१॥

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत्॥
(अथर्ववेदः ११-८-३)

(पुरा) सर्वप्रथम अर्थात् शरीरोत्पत्ति-कालमें, (दश देवाः) दश इन्द्रियाँ अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (देवेभ्यः) अपनी-अपनी सूक्ष्म तन्मात्राओंके, (साकम्) साथ, (अजायन्त) उत्पन्न हुई है। (यः वै) जो पुरुष निश्चय ही, (तान्) उन वागादि दश इन्द्रियोंको, (प्रत्यक्षम्) साक्षात् सांसारिक पदार्थोंको प्रत्यक्ष करानेवाली, (विद्यात्) जान लेता है, अर्थात् ये इन्द्रियाँ संसारमें प्रवृत्ति करानेवाली हैं, न कि मुक्ति-

मार्ग दिखानेवाली हैं, ऐसा जान लेता है, (स वा) वही, (अद्य) इस जन्ममें ही, (महत्) देशकालकृत परिच्छेदसे रहित सर्वगत ब्रह्मको, (वदेत्) बतला सकता है अर्थात् वही स्थितप्रज्ञ होकर ब्रह्मज्ञानका उपदेश कर सकता है।

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम्।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः ॥

(ऋग्वेदः ७-८३-८)

(इन्द्रावरुणौ !) हे ब्रह्मज्ञानी जीवात्माओ ! (दाशराज्ञे[1]) अपने-अपने विषयोंसे प्रकाशमान दश इन्द्रियोंसे, (विश्वतः) चारों ओर, (परियत्ताय) लपेटे हुए, (सुदासे=सुदासाय, विभक्तिव्यत्ययः) अच्छे भगवद्भक्तके लिये, (अशिक्षतम्) इन्द्रियोंको वश करनेके लिये शिक्षा दीजिये, (यत्र) जिस उपदेशके प्रभावमें रहकर, (श्वित्यञ्चः) ब्रह्मोपदेशसे निर्मल होते हुए, (कपर्दिनः) जटाधारी तपस्वी, (धीवन्तः) विवेकबुद्धिवाले अथवा निष्काम कर्मयोगवाले, (तृत्सवः) संसारसे तरनेकी इच्छावाले मुमुक्षु पुरुष, (नमसा) नमस्कारसे अथवा अन्नादिसे, (धिया) भगवत्स्तुतिसे, (असपन्त) भगवत्सेवा करते हैं।

उपनिषद्में भी यही तथ्य प्रकाशित है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥

(कठ उ. ३-६, ८)

जो प्राणी विज्ञानवान् है, जो निवृत्ति या प्रवृत्तिमार्गमें अपनी बुद्धिसे उचित व्यवहार करता है, वही मनको वशमें रखकर आत्मा और मनको एक सीधमें करके चतुर सारथिके समान अपने इन्द्रियरूप सुशिक्षित अश्वोंको आत्मज्ञानकी वाणीरूप डोरीसे युक्त किये हुए शुभचित्त होकर आत्मानन्दको भोगता है। अर्थात् चतुर सारथिरूपी ज्ञानीकी इन्द्रियाँ श्रेष्ठ और उत्तम स्वभाववाले अश्वोंके समान अपने मार्गपर ठीक-ठीक ले जाती हैं तथा भगवत्स्वरूपमें मिला देती हैं। जो विज्ञानवान् मनको संयत करनेवाला और भीतर-बाहरसे सदा शुद्ध है, वह तो सब प्रकारके पापोंसे रहित होकर, (तत्पदम् आप्नोति)

---

१. दाशराज्ञे—दीर्घः छान्दसः विभक्तिव्यत्ययश्च, दशराजभिः।

उस ब्रह्मके परमपदको प्राप्त हो जाता है, जिससे जन्म-मरणसे रहित होकर संसारके बन्धनमें नहीं आता।

तुलना—गीतामें इन्द्रियोंको वश करनेसे मुक्तिमार्गकी प्राप्ति बतायी गई है। वेदमें भी इन्द्रियोंके मोहके परित्यागकी शिक्षासे ही मुक्त होनेका मार्ग बताया गया है।

६२. ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥

६३. क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

(विषयान्) रूप-रस-गन्धादि विषयोंको, (ध्यायतः) मनसे बार-बार चिन्ता करते हुए, (पुंसः) पुरुषकी, (तेषु) उन विषयोंमें, (सङ्गः) आसक्ति अर्थात् प्रीति, (उपजायते) उत्पन्न हो जाती है। (सङ्गात्) उस आसक्तिसे धीरे-धीरे, (कामः) उन विषयोंमें अभिलाषा, (सञ्जायते) उत्पन्न हो जाती है। (कामात्) विविध विषयोंके भोगोंकी अभिलाषासे, (क्रोधः) क्रोध, (अभिजायते) उत्पन्न हो जाता है। (क्रोधात्) क्रोधसे, (सम्मोहः) मोह अर्थात् कार्याकार्य-विवेकशून्यता आ जाती है। (सम्मोहात्) कार्याकार्य-विवेकशून्यतासे, (स्मृतिविभ्रमः) आत्मविस्मृति हो जाती है अथवा शास्त्र-वचनोंमें भ्रम उत्पन्न हो जाता है। (स्मृतिभ्रंशात्) स्मृतियोंमें भ्रम होनेसे, (बुद्धिनाशः) बुद्धिका नाश हो जाता है, (बुद्धिनाशात्) बुद्धिके नाशसे, (प्रणश्यति) प्राणीका नाश हो जाता है, वह सब प्रकारसे पुरुषार्थहीन होकर संसारके दुःखोंमें डूब जाता है ॥ ६२—६३ ॥

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः॥

(अथर्ववेदः ४-३१-१)

(मरुत्वन् !) हे क्रोधावेशसे मरनेवाले जीवात्मन् ! (मन्यो !) हे क्रोध-विशिष्ट जीवात्मन् ! (त्वया) क्रोधावेशवाले तुझ पुरुषके, (सरथम्) देहो-पाधियुक्त जीवात्माको, (आरुजन्तः) दुखी करते हुए, (हर्षमाणाः) दूसरेको दुःख देनेसे मनमें प्रसन्न होते हुए, (हृषितासः=ऋषितासः) कार्यके न होनेसे कुपित होते हुए, (तिग्मेषवः) तीक्ष्ण वचनरूप बाणोंवाले, (आयुधा=आयु-धानि) क्रोधसे दूसरोंको मारनेके लिये शस्त्रोंको, (संशिशानाः) तीक्ष्ण करते

हुए, (नरः) मनुष्य, (अग्निरूपा.) अग्निका रूप धारण किये हुए, (उप-प्रयन्तु) सम्मुख प्राप्त होते हैं ।

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥

(अथर्ववेदः ४-३२-५)

(प्रचेतः !) हे विद्वन् ! (तव) तेरे, (तविषस्य) ज्ञान-बलका, (अभागः सन्) भाग न प्राप्त करनेके कारण, (क्रत्वा) कर्म करनेकी शक्तिसे, (अप परेतः) दूर, (अस्मि) हुआ हूँ । (मन्यो !) हे क्रोध ! (अक्रतुः) विवेक-जन्य शुभ कर्मसे रहित, या तेरे प्रभावसे कार्याकार्यविवेकशून्य होकर मैंने, (तम्) उस, (त्वा=त्वाम्) तुझे, (जिहीड) क्रोधित किया । (स्वा तनूः) मेरा शरीर-रूप होकर तू, (बलदावा) बल देनेवाला होकर, (मा) मेरे पास, (आ+इहि) भली भाँति प्राप्त हो ।

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥

(अथर्ववेदः ६-१३२-१)

(देवाः)विद्वान् लोग भी, (शोशुचानम्) शोक करानेवाले, (यम्) जिस, (स्मरम्) कामको, (आध्या सह) क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश तथा तज्जनित व्यथाओंके साथ, (अप्सु अन्तः असिञ्चन्) जलके प्रतिनिधिभूत अपने वीर्य तथा रक्तमें सींचते हैं, (वरुणस्य) वरने योग्य शान्तिमय जलके, (धर्मणा) धारण करनेवाले धर्मसे, (ते) तेरे, (तम्) उस दुःखात्मक कामको, (तपामि) तपाता हूँ, अर्थात् काम शान्त होनेसे हमें भी न सतावे ।

उपनिषद्में कहा गया है—

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान् कामयते ।

(बृ. उ. ३-२-७)

मन ग्रह है और कामना अतिग्रह है । इसलिये सदा कामनाओंके पीछे-पीछे दौड़ना मनका स्वाभाविक गुण है । कामनासे पकड़ा हुआ मनसे ही कामनाको चाहता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि बुद्धिके नाशका मूल कारण काम है, उस कामसे ही क्रोध, क्रोधसे मोह और मोहसे बुद्धिभ्रंश उत्पन्न होता है । अतः

कामनाका परित्याग ही सर्वोत्तम है। वेदमें भी यही कहा गया है कि कामके साथ अनेक विपत्तियाँ लगी हुई हैं और विपत्तियोंसे मनुष्य शोकाकुल हो जाता है। यह काम सबको शोकसागरमें डालनेवाला है। इसलिये मनके संयमसे उसे तपाना या सुखाना चाहिये, जिससे वह दूर हो और कष्ट न दे सके।

६४. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(विधेयात्मा) मनको वशमें रखनेवाला, (तु) तो, (रागद्वेषवियुक्तैः) राग-द्वेषसे रहित, (आत्मवश्यैः) अपने वशमें की हुई, (इन्द्रियैः) वागादि इन्द्रियोंसे, (विषयान्) रूप, रस आदि विषयोंको, (चरन्) भोगता हुआ भी, (प्रसादम्) परम प्रसन्नताको अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेयोग्य चित्तकी स्वच्छताको, (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है॥ ६४॥

इन्द्रे भुजं शशमानास आशत सूरो दृशीके वृषणश्च पौंस्ये।
प्र ये न्वस्यार्हणा ततक्षिरे युजं वज्रं नृषदनेषु कारवः॥

(ऋग्वेदः १०-९२-७)

जो प्रसन्नात्मा ज्ञानी पुरुष, (शशमानासः) इन्द्रियोंको अपने वशमें करके भगवत्स्तुति करते हुए, (इन्द्रे) आत्मामें अथवा मनमें, (भुजम्) पालन अथवा विषयोंसे अपनी रक्षाको, (आशत) प्राप्त करते हैं, अर्थात् अपने आत्मा और मनकी इन्द्रियोंके विषयोंसे रक्षा करते हैं, (सूरः) सब इन्द्रियोंको स्वेच्छासे प्रेरित करनेवाला विद्वान्, (दृशीके) केवल जीवन-निर्वाहके लिये सब वस्तुओंको देखने या ग्रहण करनेमें, (आशत) प्राप्त होता है; (वृषणः) ज्ञानामृतकी वर्षा करनेवाला, मनको वशमें रखनेवाला विद्वान्, (पौंस्ये) आत्मबलमें, (आशत) प्राप्त हो जाता है; (कारवः) विवेकी जन, (अस्य) इस आत्माके, (अर्हणा) ज्ञान-ध्यानादि पूजनको, (ततक्षिरे) प्रकर्षतासे करते हैं; वे आत्मविवेकी पुरुष, (नृषदनेषु) मनुष्यसमाजके बैठने योग्य स्थानोंमें अर्थात् ब्रह्मयज्ञोंमें, (युजम्) जुड़नेवाले मनको, (वज्रम्) वज्रवत् कठोर, (नु) शीघ्र ही, (प्राशत) प्रकर्षतासे करते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि राग-द्वेषका परित्याग तथा मनको स्वाधीन करके शरीर-यात्रा मात्रके लिये भोजनादि विषयोंका व्यवहार करनेवाला मनुष्य मनकी स्वच्छताको प्राप्त कर सकता है। वेदमें भी बताया गया है कि आत्मामें या मनमें विषयोंका अप्रवेश, शरीर-निर्वाह मात्रके लिये रूप-रसादिका ग्रहण,

भगवत्स्तुति, और मनको वज्रकी तरह कठोर करके ब्रह्मयज्ञोंमें प्रवृत्ति इनके द्वारा ही प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है।

६५. प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(प्रसादे) प्रसन्नतायुक्त मनकी स्वच्छता प्राप्त होनेमें, (अस्य) इस विवेकी पुरुषके, (सर्वदुःखानाम्) सब प्रकारके दुःखोंकी, (हानिः) हानि, (उपजायते) हो जाती है, (हि) जिस कारण, (प्रसन्नचेतसः) प्रसन्न चित्त-वालेकी, (बुद्धिः) बुद्धि, (आशु) बहुत शीघ्र ही, (पर्यवतिष्ठते) दृढ़ हो जाती है अर्थात् आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाती है॥ ६५॥

आयुषायुष्कृतां जीवायुष्मान्जीव मा मृथाः।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम्॥
(अथर्ववेदः १९-२७-८)

(जीव!) हे जीवात्मन्! तू, (आयुष्कृताम्) तप और मनकी स्थिरता आदि-से दीर्घ बनानेवाले तपस्वियोंकी, (आयुषा) आयु जैसी आयुसे, (जीव) सब दुःखों-को दूर करके प्रसन्नचित्त होकर जीवित रह। (मा मृथाः) इन्द्रियोंका दास होकर मत मर, (आयुष्मान् जीव) आयुसे सम्पन्न, प्रसन्नचित्त एवं दीर्घायु होकर जीवित रह। (आत्मन्वताम्) आत्मज्ञानियोंके, (प्राणेन) प्राणबलसे, तू, (जीव) प्राण धारण कर। जैसे स्थिरात्मा इन्द्रियोंके विषयोंमें लालच न करते हुए जीवन धारण करते हैं वैसे तू भी जीवित रह। (मृत्योः) राग-द्वेषमें बँधे, इन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुप पुरुषोंको मारनेवाली मृत्युके, (वशम्) अधीन, (मा उदगाः) मत प्राप्त हो अर्थात् इन्द्रियोंके वशमें होकर वृथा मत मर।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि मनकी प्रसन्नता ही दुःखोंकी हानिका कारण है। प्रसन्नचित्तकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। वेदमें भी कहा गया है कि तपस्वी जीवनसे दीर्घायु प्राप्त होती है। मनको वशमें करनेवाला पुरुष मृत्युके वशमें नहीं पड़ता, प्रत्युत मुक्त हो जाता है।

६६. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(अयुक्तस्य) प्रसन्नताके न होनेसे असावधान चित्तवाले पुरुषकी, (बुद्धिः) आत्मतत्त्वको ग्रहण करनेवाली बुद्धि, (न अस्ति) नहीं होती, (च) और, ऐसे,

(अयुक्तस्य) चंचल चित्तवाले प्राणीको, (भावना) आत्मतत्त्वकी भावना अर्थात् आत्मतत्त्वका अभिनिवेश, (न) नहीं होता, (च) और, (अभावयतः) आत्मतत्त्वकी भावनासे रहित पुरुषको, (शान्तिः) शान्ति (न) नहीं होती। (अशान्तस्य) शान्तिसे रहित पुरुषको, (सुखम्) मोक्षका सुख, (कुतः) कहाँसे प्राप्त हो सकता है ! अर्थात् उसे मोक्षका सुख प्राप्त नहीं होता ॥ ६६ ॥

यन्मे छिद्रञ्चक्षुषः हृदयस्य[1] मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजुर्वेदः ३६-२)

(मे) योगमें असमाहित चित्तवाले मेरी, (चक्षुषः) चक्षुरिन्द्रियका अर्थात् चक्षुरिन्द्रियजन्य ब्रह्माकार-वृत्तिके न देखनेका, (छिद्रम्) जो दोष है, और मुझ असमाहितचित्तके, (हृदयस्य) बुद्धिका, (छिद्रम्) जो दोष है, अर्थात् ब्रह्मविवेचनात्मक शक्तिका जो अभाव है, तथा, (मनसः) अन्तःकरण अर्थात् चित्तका जो दोष है, (वा) या, (अतितृण्णम्) दूसरेके प्रति शारीरिक, मानसिक, वाचिक, अतिदुःखात्मक हिंसावाले दोषको, (बृहस्पतिः) वेदज्ञानका पति अथवा सबसे बड़े आकाशादिका पति, ईश्वर, या ज्ञानी पुरुष, (तत्) उन इन्द्रियदोषोंको, (दधातु) पूर्ण करे अर्थात् मुझमें कोई त्रुटि या कोई दोष न रहने दे। (यः) जो परमेश्वर, (भुवनस्य) समग्र संसारका, (पतिः) रक्षक है, वही, (नः) हम मुमुक्षु जीवोंको, (शम्) कल्याणकारी, (भवतु) हो।

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ॥

(अथर्ववेदः १९-४०-१)

(मे) योगसमाधिमें असावधान चित्तवाले मेरे, (मनसः) मनका, (यत्) जो, (छिद्रम्) दोष या त्रुटि है, और, (यत्) जो, (वाचः) वाणीका, (छिद्रम्) दोष है, जब, (मे) मेरी, (सरस्वती) वाणी, (मन्युमन्तम्) क्रोधवाले पुरुषको, (जगाम) प्राप्त हो, (तद्) तब उस छिद्र या त्रुटिको, (विश्वैः देवैः सह) समस्त विद्वानों या योगी पुरुषोंके साथ, (संविदानः) विचार करता हुआ, (बृहस्पतिः) वेदवाणीका पालक विद्वान् पुरुष, (सं दधातु)

---

१. हृदय शब्दसे यहाँ 'बुद्धि' अर्थ ग्राह्य है, क्योंकि मन्त्रमें मनके लिये 'मनसः' शब्दका पाठ अलगसे दिया हुआ है।

पूर्ण करे अर्थात् मानसिक त्रुटिको, वाणीकी त्रुटिको और यदि कोई व्यक्ति क्रोधमें कुछ कहता हो तो उसके दोषको मिलकर विचारे और उस त्रुटिको दूर करे। नहीं तो दूषित पुरुषको शान्ति कभी नहीं होगी और न ही कभी सुख प्राप्त होगा।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन।

(बृ. उ. २-४-२)

उस मैत्रेयीने पूछा—'यह जो मेरा सारा ऐश्वर्य पृथिवी इत्यादि वित्तसे पूर्ण है, इससे किस प्रकार मैं अमृतत्व अर्थात् मोक्षको प्राप्त होऊँगी?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, तू इस वित्तसे मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकती। जैसे धनसे सुख-सामग्रियोंको एकत्र करनेवालोंका जीवन होता है, ऐसा तेरा जीवन भी होगा। इस धनसे मोक्षानन्दरूप अमृत अर्थात् आत्मसुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।'

योगवासिष्ठमें भी कहा गया है—

यान्येतानि दुरन्तानि दुर्जराण्युन्नतानि च।
तृष्णावल्ल्याः फलानीह तानि दुःखानि राघव॥
इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम्।
तथा न नरके नापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते॥
यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथा यथा।
तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति॥

हे राघव! हे श्रीरामचन्द्रजी! ये जो बड़े, अन्तसे रहित, दुर्जर अर्थात् भोगनेमें कठोर और बड़े विशाल, तृष्णारूपी बेल (वल्ली) के फल हैं वे ही दुःख कहे जाते हैं। इस इच्छाके उदय होनेका जैसा दुःख है और इसी इच्छा-शान्तिका जैसा सुख है, वैसा दुःख नरकमें और वैसा सुख ब्रह्मलोकमें भी नहीं भोगा जाता। अर्थात् तृष्णाकी वृद्धि नरकसे भी अधिक दुःखदायिनी है और तृष्णाका नाश ब्रह्मलोकके सुखसे भी अधिक सुखदायी है। जैसे-जैसे, जितना-जितना जीवोंके हृदयमें इच्छाका उदय होता जाता है, उतना-उतना दुःखके

बीजकी मुष्टि बढ़ती जाती है ।-जहाँ शान्तिका उदय नहीं है वहाँ आत्माका सुख भी नहीं है !

तुलना—गीतामें सिद्ध किया गया है कि असावधान चित्तवालेकी विवेचनात्मक बुद्धिका ठिकाना नहीं रहता, न ही उसमें आत्मतत्त्वविवेचन रहता है । तत्त्वविवेचनसे रहित व्यक्तिको शान्ति नहीं प्राप्त होती और अशान्तिसे सुख मिलता ही नहीं । वेदमें भी बताया गया है कि विवेचनात्मक बुद्धि, मन और वाणी आदिके दूषित होनेसे अशान्ति प्राप्त होती है और अशान्तिसे दुःख उत्पन्न होता है ।

६७. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।

(हि) क्योंकि, (चरताम्) रूप-रस आदि अपने-अपने विषयकी ओर प्रवृत्त होनेवाली, (इन्द्रियाणाम्) श्रोत्रादि इन्द्रियोंके मध्यमें-से, (यत्) जिस एक इन्द्रियके साथ, (मनः) यह मन, (अनुविधीयते) चल पड़ता है, अर्थात् जिस इन्द्रियकी आज्ञामें यह मन उसके विषयकी ओर झुकता है, (तत्) वही एक इन्द्रिय (अस्य) इस असमाहित चित्तवाले पुरुषकी, (प्रज्ञाम्) आत्मतत्त्व ग्रहण करनेवाली बुद्धिको, (हरति) ऐसे हर लेता है, (इव) जैसे, (अम्भसि) जलमें, (नावम्) नौकाको, (वायुः) पवन घसीट ले जाता है ।।६७।।

मनसा सङ्कल्पयति तद्देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ।।
(अथर्ववेदः १२-४-३१)

इन्द्रियाधीन पुरुष, (मनसा) मनसे, (सङ्कल्पयति) संकल्प करता है, अर्थात् जो करनेकी इच्छा करता है, (तद्) वही संकल्प, (देवान्) अपने-अपने रूप-रसादि विषयोंसे प्रकाशमान चक्षु आदि इन्द्रियोंको, (अपि) ही, (गच्छति) प्राप्त होता है, (ततः) उस मनसे ऐसा व्यवहार करनेके बाद, (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष, उस मनको, (वशाम्) वश करनेको, (याचितुम्) परमात्मासे याचना करनेके लिये, (उपप्रयन्ति) प्राप्त होते हैं ।

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ।।
(अथर्ववेदः ६-४१-१)

(मनसे) उत्तम ज्ञानके साधन मनके लिये, (चेतसे) चेतनसत्ताकी प्राप्तिके लिये, (धिये) विवेचनात्मक बुद्धिके लिये, (आकूतये) सदसद्विवेकात्मक संकल्पके लिये, (चित्तये) अतीतादि विषयोंकी स्मृतिके लिये, (मत्यै) आगामी विषयज्ञानको उत्पन्न करनेवाली मतिके लिये, (श्रुताय) श्रवणजनित ज्ञानके लिये, (उत) और, (चक्षसे) चाक्षुष ज्ञानके लिये, (वयम्) हम, (हविषा) दान, यज्ञादिसे, (विधेम) अपने सांसारिक व्यवहार करें।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि मनका सम्बन्ध जिस इन्द्रियके साथ होता है उसी इन्द्रियकी तरफ वह खिंच जाता है अर्थात् सांसारिक पदार्थोंके ग्रहण करनेकी उलझनमें लगा रहता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि मन अपने संकल्पसे ही दूसरी इन्द्रियोंकी ओर खिंचता है। परन्तु ज्ञानी जन सांसारिक मनको अपने वशमें करनेका प्रयत्न करते हैं।

६८. तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(महाबाहो!) हे विशाल बाहुवाले अर्जुन! एक इन्द्रियकी प्रबलतासे भी प्रज्ञा नष्ट हो जाती है, (तस्मात्) इसलिये, (यस्य) जिस साधककी, (सर्वशः) सब प्रकारसे, (इन्द्रियाणि) सब इन्द्रियाँ, (इन्द्रियार्थेभ्यः) अपने-अपने विषयोंसे, (निगृहीतानि) वशीभूत हो गयी हैं, (तस्य) उसी सिद्ध या साधककी, (प्रज्ञा) बुद्धि, (प्रतिष्ठिता) स्थितिवाली अर्थात् गौरववाली हो जाती है॥ ६८॥

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
(ऋग्वेदः ५-४४-१४)

(यः) जो स्थिरबुद्धि पुरुष, (जागार) इन्द्रियोंके विषयोंसे बचनेके लिये जागरणशील है अर्थात् इन्द्रियोंके रूप-रसादि विषयोंमें फँसनेसे बचनेके लिये प्रमाद नहीं करता, (तम्) उस पुरुषको, (ऋचः) सदसद्विवेचनात्मक वाणियाँ अथवा बुद्धियाँ, (कामयन्ते) चाहती हैं अर्थात् विवेचनात्मक बुद्धियाँ उसे स्वयं प्राप्त होती हैं। (यः) जो स्थिरबुद्धि पुरुष, (जागार) इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेके लिए जागता है, (तम् उ) उस पुरुषको ही, (सामानि) इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिको हटानेवाली शान्तियाँ, (यन्ति) प्राप्त होती हैं। (यः) जो ज्ञानी पुरुष, (जागार) सब प्रकारसे विषयोंका ग्रहण न करनेके

लिये जागता रहता है, (अयं सोमः[१]) यह मन, (तम्) उस स्थिरबुद्धि पुरुषको, (आह) कहता है, 'हे स्थिरबुद्धि जीवात्मन् ! (तव) सांसारिक विषयोंसे सब प्रकारसे दूर रहनेवाले तेरी, (सख्ये) मित्रता अर्थात् समान स्थितिमें, (नि+ओकाः) नियतस्थ अर्थात् तेरे साथ नियत वास करनेवाला, (अहम् अस्मि) मैं हूँ।' अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें होती हैं, मन भी उसके वशमें अवश्य रहता है।

तुलना—गीतामें इन्द्रियोंको वशमें रखना तथा उनके विषयोंमें न फँसना स्थिरबुद्धि होनेका मूल कारण बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि स्थिरबुद्धि होनेसे ही जीव मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं। वेदमें भी कहा गया है कि इन्द्रियोंके विषयोंमें न फँसनेसे शान्ति प्राप्त होती है। शान्त पुरुष-का मन स्वयमेव आत्माके वशमें हो जाता है जिससे जीव स्थिरबुद्धि होकर मुक्तिका अधिकारी हो जाता है।

६९. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(सर्वभूतानाम्) सब प्राणियोंके लिये, (या) जो, (निशा) रात्रि अर्थात् लौकिक व्यवहारसे निवृत्तिका समय, शयनकालका समय है, (तस्याम्) उसी समय, (संयमी) मनसहित इन्द्रियोंको वश करनेवाला यति, (जागर्ति) जागता रहता है अर्थात् वह समय यतिके लिये दिन होता है। इसके प्रतिकूल, (यस्याम्) जिस अविद्यारूप रात्रिमें अर्थात् लौकिक व्यवहार-प्रवृत्तिके समय, दिनमें, (भूतानि) सर्वसाधारण प्राणी, (जाग्रति) जागते हैं, (सः) वह समय, (पश्यतः) द्रष्टा-दर्शन-दृश्यादि सबको ब्रह्माकार-वृत्तिसे देखते हुए, (मुनेः) ब्रह्मनिष्ठ मुनिकी, (निशा) रात्रि है। अतः मायाग्रस्त प्राणियोंका जो दिन है वह यतिके लिये रात्रि है और मायाग्रस्त प्राणियोंकी जो रात्रि है वह यतियोंके लिए दिन होता है॥ ६९॥

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥

(अथर्ववेदः ११-४-२५)

---

१. सोम नाम चन्द्रमाका है, चन्द्रमा मनका नाम है, यथा 'चन्द्रमा मनसो जातः'।

(ऊर्ध्वः) अविद्याको छोड़कर ब्रह्मप्राप्तिके लिये उठा हुआ संयमी, (सुप्तेषु) लौकिक व्यवहारसे निवृत्त होकर, सर्वसाधारण जीवोंके रात्रिके समय सो जानेपर, (जागार) जागता रहता है, वह समय यतिके लिये दिन होता है, अर्थात् ब्रह्मध्यानमें मन लगानेके लिये जागता रहता है, (ननु) क्योंकि, साधारण प्राणी लौकिक व्यवहारसे छूटकर सो जानेसे, (तिर्यङ) घोर निद्रावस्थाको प्राप्त होनेसे मूढ़ावस्थाको प्राप्त होकर, (निपद्यते) नीचें गिर जाता है, (सुप्तेषु) साधारण प्राणियोंके दिनमें भी सो जानेपर अर्थात् माया-मोहमें पड़ जानेपर भी, (अस्य) इस संयमी ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके, (सुप्तम्) सो जानेको अर्थात् लौकिक व्यवहारसे विरक्त होनेको, (कश्चन) कोई साधारण प्राणी, (न) नहीं, (अनुशुश्राव) सुनता, अर्थात् नहीं जानता।

तुलना—गीतामें जीवोंकी मोहावस्था संयमियोंकी जाग्रत्‌अवस्था कही गई है और जीवोंकी जाग्रत्‌अवस्था संयमियोंकी शयनावस्था, अर्थात् संयमी रात्रिमें ब्रह्मध्यानमें मग्न होनेसे जागते रहते हैं और दिनमें सांसारिक पदार्थोंमें शयनावस्था या मोहाभाव रखनेसे रात्रिवत् व्यवहार करते हैं। वेदमें भी ज्ञानी पुरुषकी जाग्रत् अवस्था और संसारीकी शयनावस्था अर्थात् मूढावस्था बतायी गई है।

७०. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

(यद्वत्) जिस प्रकार, (आपः) भिन्न-भिन्न देशोंसे एकत्रित होकर गङ्गा, सिन्धु आदि नामको धारण करनेवाले नदियोंके जल, (आपूर्यमाणम्) चारों ओरसे पूर्ण, (अचलप्रतिष्ठम्) स्थिर मर्यादावाले, (समुद्रम्) सागरमें, (प्रविशन्ति) प्रवेश कर जाते हैं, (तद्वत्) इसी प्रकार, (यम्) जिस महापुरुषमें, (सर्वे) सब, (कामाः) कामनायें, बिना बुलाये अपने आप ही, (प्रविशन्ति) प्रवेश कर जाती हैं, (सः) वही, (शान्तिम्) परम शान्तिको, (आप्नोति) प्राप्त करता है, (तु) परन्तु, (कामकामी) कामना करनेवाला, (न) शान्ति अर्थात् मोक्षपदको प्राप्त नहीं करता। अर्थात् जो प्राणी नाना प्रकारके विषयभोगोंकी इच्छा करता रहता है उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती ॥ ७० ॥

आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः।
न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥

(ऋग्वेदः ८-९२-२२)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (इन्दवः—इन्दुः आदित्यः, इन्दुः आत्मा । निरुक्त १३-३०) आत्मसम्बन्धी कामनायें, (त्वा=त्वाम्) तुझ मुमुक्षु जीवात्मामें, (आ विशन्तु) सब ओरसे आकर अपने नाम-रूपको छोड़कर लीन हो जायँ, (सिन्धवः) भिन्न-भिन्न देशोंसे एकत्रित होकर गङ्गा, सिन्धु आदि नामोंको धारण करनेवाले नदियोंके जल, (समुद्रम् इव) जैसे समुद्रमें नाम-रूपको छोड़कर प्रवेश कर जाते हैं। हे जीवात्मन् ! तब, (त्वाम्) तुझसे कोई भी जीवात्मा, (न अतिरिच्यते) अधिक श्रेष्ठ अथवा अधिक शान्त नहीं होगा ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

(मु. उ. ३-२-२)

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(मु. उ. ३-२-८)

(यः) जो जीवात्मा, (कामान्) जिन-जिन सांसारिक कामनाओंको (कामयते) करता है, (सः) वही जीवात्मा, (मन्यमानः) अपने-आपको उस कामनाका स्वरूप मानता हुआ उस-उस कामनावाले स्थानमें अथवा उस-उस जन्ममें, (कामभिः) कामनाओंके साथ, (जायते) जन्म लेता है, (पर्याप्तकामस्य) परिपूर्ण कामनावाले अर्थात् जिसकी सब कामनायें पूरी हो चुकी हैं, ऐसे, (कृतात्मनः) मनको वशमें रखनेवाले पुरुषकी, (सर्वे कामाः) सब कामनायें, (इह+एव) इस जन्ममें ही, (प्रविलीयन्ति) लीन हो जाती हैं अर्थात् फिर कामनायें उत्पन्न नहीं होतीं । (यथा) जैसे, (स्यन्दमानाः नद्यः) बहती हुई नदियाँ, (नामरूपे) गंगा-सिन्धु आदि नाम तथा श्वेत-श्यामादि रूपोंको, (विहाय) छोड़कर, (समुद्रे) समुद्रमें, (अस्तं गच्छन्ति) लीन हो जाती हैं, (तथा) वैसे, (विद्वान्) निष्काम हुआ ज्ञानी पुरुष, (नामरूपात् विमुक्तः) गङ्गादत्त, हरिदत्त आदि नामोंसे तथा गौर, श्यामादि रूपोंसे रहित हुआ, (परात् परम्) परसे भी परे, (दिव्यम्) ज्योतिःस्वरूप, (पुरुषम्) परब्रह्मको, (उपैति) प्राप्त होता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि कामनासे रहित पुरुष मुक्त हो जाता । जैसे सब जल समुद्रमें समा जाते हैं ऐसे निष्काम पुरुषकी कामनाएँ परमात्म-

तत्त्वमें लीन हो जाती हैं। उपनिषद् और वेदमें भी नदियोंके समुद्रमें समा जानेका दृष्टान्त देकर कामनाओंसे रहित पुरुषकी मुक्ति बताई गई है अर्थात् कामना-परित्यागके बिना कोई मुक्ति नहीं पा सकता।

७१. **विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(यः) जो, (पुमान्) पुरुष, (सर्वान्) प्राप्त और अप्राप्त सब प्रकारकी, (कामान्) कामनाओंको, (विहाय) छोड़कर, (निःस्पृहः) अपने शरीरके जीवित रहनेकी भी अभिलाषासे तथा सुखकी वृद्धिकी इच्छासे रहित होकर, (चरति) आनन्दपूर्वक संसारयात्रा करता है, (निर्ममः) भोगोंको भोगते हुए भी उनकी ममतासे रहित, तथा, (निरहङ्कारः) सर्व प्रकारके अहंकारसे शून्य होकर, (सः) वह पुरुष, (शान्तिम्) शान्तिको अर्थात् निर्वाण पदवीको, (अधिगच्छति) प्राप्त होता है॥ ७१॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्ववेदः १०-८-४४)

जो पुरुष, (अकामः) प्राप्त अथवा अप्राप्त सब प्रकारकी कामनाओंसे रहित अर्थात् लोकैषणा, पुत्रैषणा तथा वित्तैषणासे अतीत हो चुका है, (धीरः) ऐसा ज्ञानवान्, ध्यानवान् और धारणावान्, (अमृतः) अमृत-स्वरूप, अविनाशी, (स्वयंभूः) अजन्मा, अपने आत्मामें आप रमण करनेवाला, (रसेन[1]) ब्रह्मानन्दके रससे, (तृप्तः) तृप्त हुआ, (कुतश्चन) किसी प्रकार भी और कहींसे भी, (न ऊनः) न्यून नहीं, अर्थात् सर्वथा सब ओरसे परिपूर्ण वह पुरुष, (तम्) उस, (धीरम्) धीर, (अजरम्) अजर और अमर, (युवानम्) नित्य तरुण, (आत्मानम्) आत्माको, (एव) ही, (विद्वान्) जानता हुआ, (मृत्योः) मृत्युसे, (न बिभाय) नहीं डरता।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।
(छा. उ. ७-२३-१)

---

१. रसेन—रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति। (तै. उ. २-७)

जो भूमा[1] है उससे बढ़कर कोई दूसरा सुख नहीं, वही सब सुखोंसे श्रेष्ठ परमानन्द सुख है। उससे जो नीचे है वह 'अल्प' अर्थात् थोड़ा है। उस 'अल्प' में सुख नहीं है। अल्प अर्थात् विषयानन्दमें तृष्णाके कारण थोड़े ही कालतक सुखका अनुभव होता है, उससे शान्ति नहीं होती, दुःख ही दुःख होता है।

तुलना—गीतामें यह बताया गया कि मनुष्य कामनाओंको त्यागकर निरहङ्कार होकर जब आत्मानन्दके रसमें तृप्त होता है, तब उसे शान्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। वेदमें भी यही कहा गया है कि निष्काम तथा ब्रह्मानन्द-रससे सन्तुष्ट होनेवाला कहीं भी न्यून नहीं होता अर्थात् सर्वत्र परिपूर्णकाम होकर विचरता है। ब्रह्मानन्द रसका यथावत् उपभोग करनेसे मृत्युका भय दूर हो जाता है एवं आत्मा अजर, अमर एवं नित्य तरुण है—यह बात भलीभाँति जान लेनेसे मनुष्य शान्तिपद अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है।

७२. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

(पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (एषा) स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षणके प्रसंगसे कही हुई, (ब्राह्मी) ब्रह्मज्ञान करानेवाली, (स्थितिः) निष्ठा, मैंने कही है। (एनाम्) इस ब्रह्मनिष्ठाको, (प्राप्य) प्राप्त करके, शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष, (न विमुह्यति) मोहको प्राप्त नहीं होता, बल्कि, (अन्तकाले) वृद्धावस्थामें अथवा मृत्युके समय क्षणमात्रमें, (अपि) भी, (अस्याम्) इस ब्रह्मनिष्ठामें, (स्थित्वा) स्थिर होकर, (ब्रह्मनिर्वाणम्) ब्रह्मनिर्वाणपद अर्थात् मोक्षके सुखको, (ऋच्छति) प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥

(ऋग्वेदः १-११३-१६)

---

१. भूमा आत्मसुखको कहते हैं, जिसकी प्राप्ति होनेसे आत्मज्ञानी अन्य किसी वस्तुको न देखता है, न सुनता है, न जानता है, क्योंकि निष्काम, निर्मम, निरहंकार होनेसे आत्मतत्त्वके रसके बिना अन्य किसी वस्तुपर दृष्टि नहीं जाती, सर्वत्र आत्मानन्दको ही देखता है।

हे मनुष्यो ! (उदीर्ध्वम्[1]) सांसारिक मोहनिद्राको छोड़कर खड़े हो जाओ अर्थात् तुम सब कामनाओंका परित्याग कर ब्रह्मस्थिति या स्थितप्रज्ञताके लिये खड़े हो जाओ ! (नः) हमारा, (जीवः) जीवात्मा, (असुः—'अस् सत्तायाम्' औणादिकः उप्रत्ययः) ब्रह्मनिष्ठावाला या शरीरयात्रा मात्रके लिये प्रेरित होकर, (आ अगात्) सब संकल्पोंको मिटाकर आ गया है, अर्थात् जो आत्मा इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसनेसे उनसे पृथक् नहीं होता था वह अब इन्द्रियोंके विषयोंसे पृथक् होकर आ गया है। (तमः) मोह और अज्ञान, (अप प्रागात्) भलीभाँति भाग गये हैं अर्थात् मोह और अज्ञानके निवृत्त होनेसे अब शुद्धात्मा ही प्रतीत होता है। जब ऐसी अवस्था हो जाती है तब यह जीवात्मा, (ज्योतिः) ब्रह्मानन्दके प्रकाशको, (आ एति) चारों ओरसे प्राप्त हो जाता है। (सूर्याय–सूर्यस्य, विभक्तिव्यत्ययः) यह जीवात्मा जगत्के उत्पन्न करनेवाले या जगत्को प्रकाशित करनेवाले या चराचर जगत्को अपने-अपने व्यापारके लिये प्रेरित करनेवाले परब्रह्म परमात्माके, (पन्थाम्[2]) मार्गको अर्थात् ब्रह्मनिर्वाण पदवीको, (यातवे) प्राप्त होनेके लिये, (आरैक्[3]) प्रत्यक्षतया प्रकट कर लेता है। (अगन्म[4]) हम उस देशमें प्राप्त होवें, (यत्र) जिस स्थानपर, (आयुः) अपनी समग्रावस्थाको, (प्रतिरन्ते) प्राप्त करनेके लिये उन्नतिकी ओर बढ़ें अर्थात् ब्रह्मानन्दधाममें स्थित होकर वहाँ ही प्रतिक्षण ब्रह्मानन्दके रसको पीते हुए अपने ब्रह्मानन्दके जीवनको बढ़ायें।

गौडपादीय कारिका (प्रक. ३ श्लो. ४७) में भी कहा गया है—

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते॥

जो स्वरूपमें स्थित, शान्त, निर्वाण और अकथनीय सुख है, वही सुखोंमें उत्तम सुख कहलाता है। यह ब्रह्मानन्द सुख, जो आत्मस्वरूप होनेसे अज है अर्थात् अजन्मा है, अजसे अर्थात् आत्मासे ही जाना जाता है। इसी कारण इसे सर्वज्ञ कहते हैं।

---

१. ईर्ध्वम्—'ईर् गतौ'।

२. पन्थाम्—द्वितीयायामपि 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इति व्यत्ययेन आत्वम्।

३. आरैक्—'रिचिर् विरेचने', लङि बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुकि, गुणे, व्यत्ययेनैत्वम्।

४. अगन्म—गमेः लङि बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुक्, 'म्वोश्च' इति सूत्रेण मकारस्य नकारः।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि निष्काम कर्मयोगके अभ्याससे मनुष्य मोहको नहीं प्राप्त होता और इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हुए वह अन्तमें ब्रह्मलीन हो जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जीवन-निर्वाह मात्रके लिये कार्य-व्यापार करनेवाला पुरुष मोहसे निवृत्त हो जाता है और सरलतया ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

अब द्वितीय अध्यायका सारांश पाठकोंके लिये कहा जाता है—

शरीरं नश्वरं ज्ञेयमात्मा नित्योऽजरोऽमरः।
देहे नष्टे न नाशोऽस्य मोहोऽतोऽस्य निरर्थकः ॥१॥
सांख्ययोगसमाधानं सत्त्वशुद्धिस्तथैव च।
ज्ञानं तस्य फलं मोक्षः निष्कामकर्मशिक्षणम् ॥२॥
स्थिरप्रज्ञा फलं शान्तिः इमे सर्वे पृथक् पृथक्।
द्वितीये चास्मिन्नध्याये श्रीकृष्णेन निरूपिताः ॥३॥

इस दूसरे अध्यायमें भगवद्‌गीता और वेदमें निम्नलिखित विषयोंका पृथक् पृथक् विवेचन किया गया है—(१) शरीर नाशवान् जानना चाहिये, (२) आत्मा नित्य अजर और अमर है, (३) देहके नाश होनेपर इस आत्माका नाश नहीं होता, (४) इसलिये इन शरीरोंका मोह करना व्यर्थ है, (५) सांख्य और कर्मयोगका वर्णन तथा मनकी शुद्धि, (६) ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति, (७) उस ब्रह्मज्ञान-का फल मोक्ष, (८) निष्काम कर्मका उपदेश, (९) स्थितप्रज्ञ होना, (१०) और उसका फल शान्ति।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका प्रथम अध्याय समाप्त।

—:०:—

तृतीय अध्याय

अर्जुन उवाच—

१. ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

अर्जुन बोला—(जनार्दन[1] !) सब जीवों द्वारा अपनी-अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिए जिससे याचना की जाती है उसे जनार्दन कहते हैं। हे श्रीकृष्ण ! (चेत्) यदि, (कर्मणः)कर्मयोगसे, (बुद्धिः) ज्ञानयोग, (ज्यायसी) बहुत ही श्रेष्ठ है, ऐसा,(ते मता) तुम्हारा मत है, (तत्) तब, (केशव !) हे कृष्ण ! तुम, (माम्) मुझे, (घोरे) बन्धुओंके हिंसारूप ऐसे घोर, (कर्मणि) कर्ममें, (किम्) क्यों, (नियोजयसि) नियोजित करते हो ? जब कर्मयोगसे ज्ञान-योग श्रेष्ठ मानते हो तो क्यों मुझे कर्ममें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा देते हो ॥ १ ॥

यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः।
कृधी ष्वस्माँ अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥
(ऋग्वेदः ४-१२-४)

(अग्ने !) हे पापदहन-शक्तिसम्पन्न परमात्मन् ! (यविष्ठ !) हे नित्य सबल तरुण या सबमें व्यापक ! (यत् चित् हि) यदि कुछ भी, (ते) तेरे, (पुरुषत्रा) दास पुरुषोंमें अर्थात् तेरे भक्तोंके प्रति, (अचित्तिभिः) अहंता-ममता आदि मोहसे परिपूर्ण अज्ञानतासे, (कच्चित्) कभी कोई, (आगः) अपराध, (चकृम) हम करें, तो, (अस्मान्) हम अज्ञानियोंको, (अदितेः) पृथिवीपर, (सु) अच्छी तरहसे, (अनागान्) पापरहित, (कृधि) कर, अर्थात् हमें इस पापात्मक घोर कर्मसे निकालकर ज्ञानयोगमें लगा। (विष्वक्) चारों ओर विद्यमान, (एनांसि) मुझसे किये हुए, किये जा रहे तथा किये जानेवाले पापोंको, (वि शिश्रथः) शिथिल कर, अर्थात् इस सांसारिक घोर संग्रामात्मक पापसे मुझे वियुक्त कर।

तुलना—गीतामें अर्जुनने ज्ञानयोग और कर्मयोगका उपदेश सुनकर इस द्विविधासे निकलनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की है कि हे भगवन् ! मुझे

---

१. जनार्दनः—सर्वैः जनैः अर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धये इति जनार्दनः।

श्रेष्ठ ज्ञानयोगसे निकालकर फिर कर्मयोगमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा क्यों देते हैं ? वेदमें भी भगवद्भक्त भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मन् ! आप हमारे सांसारिक अपराधोंका नाश करें। इस प्रकार भक्तोंने अपने अपराधोंके लिए क्षमा माँगी और शुभ कर्ममें प्रवृत्त होनेकी प्रार्थना की है।

२. **व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।**
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

हे भगवन् ! (व्यामिश्रेण इव) दो प्रकारके मिले हुए जैसे, (वाक्येन) वाक्यसे, तुम, (मे) मेरी, (बुद्धिम्) अल्पबुद्धिको, (मोहयसि इव) मानो मोहित कर रहे हो, इसलिए, (तत्) इन दोनोंमें जो श्रेष्ठ हो, (एकम्) उसी एकको, (निश्चित्य) निश्चय करके, (वद) कहो, (येन) जिससे, (अहम्) मैं, (श्रेयः) परम कल्याणरूप मोक्षको, (आप्नुयाम्) प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः।
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥

(ऋग्वेदः ७-१००-२)

(एवयावः !) हे भक्तोंकी प्राप्त होनेयोग्य कामनाओंको प्राप्त करानेवाले परमात्मन् ! (विष्णो !) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! (त्वम्) तुम, (विश्वजन्याम्) सब जीवोंका हित करनेवाली, (अप्रयुताम्) निर्दोष, (सुमतिं मतिम्) ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंमें जो श्रेष्ठ बुद्धि हो उसे, (दाः) हमें दो, (यथा) जिस प्रकार, (सुवितस्य) भलीभाँति प्राप्त होने योग्य, (भूरेः) बहुत, (अश्वावतः) वेगवान्, (पुरुश्चन्द्रस्य) चन्द्रकी भाँति अत्यन्त शीतल करनेवाले और आनन्ददायक, (रायः) ज्ञानात्मक धनका, (नः पर्चः) हममें सम्पर्क हो जावे।

तुलना—गीतामें अर्जुनने भगवान्से पूछा है कि मुझे आप द्विविधामें क्यों डालते हैं ? कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनोंमें-से जो श्रेष्ठ हो उसीका उपदेश दें। वेदमें भी परमात्मासे शुभ मति प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना और ज्ञानोपलब्धिके सम्बन्ध की याचना की गई है।

श्रीभगवान् उवाच—

३. **लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।**
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

श्री भगवान् बोले—(अनघ !) हे निष्पाप या विशुद्धान्तःकरण अर्जुन ! (अस्मिन् लोके) इस लोकमें, (पुरा) सृष्टिके आदिमें अथवा पहले उपदेशमें,

(मया) मैंने, (द्विविधा) दो प्रकारकी, (निष्ठा) ब्रह्मनिष्ठा, (प्रोक्ता) कही है, (साङ्ख्यानाम्) आत्मज्ञानियोंकी, (ज्ञानयोगेन) ज्ञानयोगसे, और, (योगिनाम्) कर्मयोगियोंकी, (कर्मयोगेन) कर्मयोगसे, अर्थात् दोनोंके लिए ये दोनों निष्ठायें पृथक्-पृथक् वर्णन की हैं ॥ ३ ॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥
(ऋग्वेदः १०-७१-७)

(अक्षण्वन्तः) इन्द्रियोंवाले अर्थात् अपनी-अपनी इन्द्रियोंकी वृत्तिके अनुकूल कर्मयोगी, और, (कर्णवन्तः) गुरुजीसे उपदिष्ट शब्दोंको श्रोत्रेन्द्रियसे सुननेवाले ज्ञानयोगी, ऐसे दो प्रकारके निष्ठावाले पुरुष इस संसारमें देखे जाते हैं। इस प्रकार ये दोनों कर्मयोगी और ज्ञानयोगी, (सखायः) समान ज्ञानवाले, (मनोजवेषु) मनके वेगोंमें अर्थात् प्रज्ञादियोंमें, (असमाः बभूवुः) समता नहीं रखते, अर्थात् कर्मयोगी कर्मोंका करना स्वीकार करते हैं, ज्ञानयोगी कर्मोंका संन्यास, अतः एक समान नहीं हैं, क्योंकि ज्ञानयोगका मार्ग और कर्मयोगका मार्ग भिन्न प्रकारके हैं। उन दोनों निष्ठाओंमें-से, (त्वे) कई एक पुरुष, (आदघ्नासः ह्रदाः इव) पुरुषके मुखतक आनेवाले जलको धारण करनेवाले तालाबोंकी भाँति ज्ञानयोगके मार्गमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् जैसे मुखतक जलवाले तालाबमें स्नानादि कार्य मध्यमतया चल सकते हैं ऐसे मध्यम ज्ञानयोगसे ज्ञानयोगमें प्रवृत्त हो जाते हैं, (त्वे) ऐसे कई एक, (उपकक्षासः ह्रदाः इव) कक्षामात्रतक जलवाले तालाबोंकी भाँति कर्मयोग-के मार्गमें प्रवृत्त होते हैं, (स्नात्वाः[1]) स्नानके योग्य, (ह्रदाः इव) तालाबोंकी भाँति, पूर्ण ज्ञानी ज्ञानयोगसे और पूर्ण कर्मयोगी कर्मयोगसे, (ददृश्रे) अपने-अपने पृथक्-पृथक् मार्गपर चलते हुए दिखाई देते हैं।

यही वर्णन मुनि वसिष्ठजीने योगवासिष्ठमें श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख किया है —

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
(यो. वा. ५-७८-८)

---

१. स्नात्वाः—सातेः कृत्यार्थे त्वन्प्रत्ययः, स च 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इत्यर्हार्थे च भवति।

हे राघव ! योग अर्थात् कर्मयोग और ज्ञानयोग ये दोनों क्रम चित्तवृत्तिका नाश कर देनेके निमित्त हैं। कर्मयोगसे चित्तवृत्तिका निरोध और ज्ञानयोगसे आत्मसाक्षात्कार होता है।

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः॥

इनमें किसीके लिए कर्मयोग असाध्य है और किसीके लिए ज्ञानयोग। इस कारण भगवान् शिवने ये दो क्रम कहे हैं। इन दोनोंमें जिस प्राणीसे जो साध्य हो उसीका ग्रहण करे। जो पूर्वजन्ममें कर्मयोगकी पूर्ति कर चुका है, उसके लिए ज्ञानयोग, और जिसने पूर्वजन्ममें कर्मयोग पूर्ण नहीं किया अथवा कर्मयोग करता हुआ मृत्युको प्राप्त हो गया, उसके लिए कर्मयोग स्वीकृत करना उचित है।

तुलना—गीतामें ज्ञानयोग और कर्मयोगका पृथक्-पृथक् मार्ग बताया गया है। वेदमें 'अक्षण्वन्तः'से इन्द्रियोंद्वारा देखकर काम करनेवाले अर्थात् कर्मयोगियों-का और 'कर्णवन्तः'से श्रोत्रेन्द्रियसे ज्ञानका उपदेश सुनकर काम करनेवाले अर्थात् ज्ञानयोगियोंका, ये दो मार्ग पृथक्-पृथक् दिखाये गये हैं।

४. **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।**
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

(पुरुषः) कोई पुरुष, (कर्मणाम्) कर्मोंका, (अनारम्भात्) बिना आरम्भ किये, (नैष्कर्म्यम्) निष्कर्मताकी अवस्थाको अर्थात् मोक्षको, (न) नहीं, (अश्नुते) प्राप्त हो सकता है, (च) तथा, (संन्यसनात् एव) एकाएक कर्म छोड़ देनेसे भी, (सिद्धिम्) सिद्धि अर्थात् मोक्षका, (न) नहीं, (सम् अधिगच्छति) लाभ कर सकता है॥ ४॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः॥

(यजुर्वेदः ३-४७)

(मयोभुवा) सुख उत्पन्न करनेवाली अर्थात् सुख और मङ्गल करनेवाली, (वाचा) वेदोपदिष्ट वाणीके, (सह) साथ, (कर्मकृतः) लौकिक-वैदिक कर्मोंको करनेवाले, (कर्म) अपने-अपने वर्णानुसार वेदविहित लौकिक-वैदिक कर्मोंको, (अक्रन्) करते हैं, न कि कर्मोंका परित्याग करते हैं। (सचाभुवः) ज्ञानयोगके साथ-साथ कर्मयोगका भी आश्रय करनेवाले वही पुरुष, (देवेभ्यः)

ईश्वरनिमित्त, (कर्म) नित्य-नैमित्तिक कर्म, (कृत्वा) यथाविधि करके, (अस्तम्) सुखात्मक घर अर्थात् शान्तिधामको, (प्रेत) प्राप्त हो जाते हैं ।

तुलना—गीतामें कर्म न करनेवाले तथा शास्त्रविहित कर्मोंका परित्याग करनेवालेकी निन्दा एवं अर्थापत्तिसे कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा की गई है। वेदमें भी यथाशास्त्र कर्म करनेवालोंको शान्तिधामकी प्राप्ति तथा अर्थापत्तिसे कर्म न करनेवालोंको अशान्तिकी प्राप्ति बताई गई है ।

५. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

(हि) क्योंकि, (प्रकृतिजैः गुणैः) प्रकृतिसे उत्पन्न सात्त्विक, राजस, तामस, तीनों गुणोंके स्वभावके प्रभावसे, (सर्वः) सब स्थावर-जंगम, (अवशः) परतन्त्र होकर, (कर्म) कुछ न कुछ कर्म, (कार्यते) करते ही रहते हैं । इसलिये, (कश्चित्) कोई विद्वान् अथवा मूर्ख प्राणी, (जातु) किसी अवस्था-में, (क्षणमपि) क्षणमात्र भी, (अकर्मकृत्) बिना कर्म किये, (न हि तिष्ठति) नहीं बैठ सकता ॥ ५ ॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
(अथर्ववेदः ६-२३-३)

(सवितुः) सबको उत्पन्न करनेवाले, (देवस्य) ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर-की, (सवे) सृष्टिमें, (मानुषाः) [यहाँ मानुष शब्द जीवमात्रका ज्ञापक है] स्थावर-जंगम सब प्राणी, (कर्म) अपने-अपने कर्मको, (कृण्वन्तु) करें, अर्थात् कोई प्राणी निष्कर्म न रहे ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति । जिह्वा वै ग्रहः स रसेनाति-ग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान् विजानाति । चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्च-क्षुषा हि रूपाणि पश्यति । श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृ-णोति । हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति ।
(बृ. उ. ३-२-२-८)

वाक् इन्द्रिय ग्रह अपने नाम अर्थात् बोलने योग्य विषयरूप अतिग्रहसे पकड़ा हुआ वचनद्वारा ही शब्द-वाक्यमात्रका उच्चारण करता है। जिह्वा ग्रह रसरूप अपने अतिग्रहसे पकड़ा हुआ जिह्वा द्वारा षट्रसोंके स्वादको जानता है। नेत्र ग्रह अपने अतिग्रह रूपसे पकड़ा हुआ चक्षुसे सब रूपोंको देखता है। श्रोत्र ग्रह शब्दरूप अपने अतिग्रहसे पकड़ा हुआ श्रोत्रद्वारा शब्दोंको सुनता है। हस्त ग्रह कर्मरूप अपने अतिग्रहसे पकड़ा हुआ हाथोंसे कर्मोंको करता है।

तुलना—गीतामें भगवान्ने सिद्ध किया है कि प्रत्येक प्राणी प्रकृतिके वशमें होकर अपना-अपना कर्म करता रहता है, संसारमें निष्कर्म कोई नहीं रहता। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्माकी सृष्टिमें सब प्राणी कर्म करें, कोई निष्कर्म न रहे। इसी बातका प्रतिपादन उपनिषद्में भी किया गया है कि इन्द्रियाँ अपने अतिग्रहके वशमें पड़कर सब प्रकारकी क्रियाओंको करती रहती हैं।

६. **कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।**
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(विमूढात्मा) कार्याकार्य-विवेकसे रहित अथवा रागादि दोषोंसे दूषित अन्तःकरणवाला, (यः) जो व्यक्ति, (कर्मेन्द्रियाणि) हाथ, पाँव, जिह्वा इत्यादि कर्मेन्द्रियोंको, (संयम्य) रोककर, (मनमा) मनसे, (इन्द्रियार्थान्) विषयोंको, (स्मरन्) स्मरण करता हुआ, (आस्ते) चुप बैठ जाता है, (सः) वह, (मिथ्याचारः) झूठे आचारवाला दम्भी, कपटी, पापात्मा, (उच्यते) कहा जाता है॥ ६॥

एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः।
अव्यं वारं वि धावति॥

(सामवेदः उ. ५-२-५-१)

(वाजी) वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियोंसे चलनेवाला, (नृभिः) चक्षुरादि नेताओंसे, (हितः) धारण या पालन-पोषण किया हुआ, (विश्ववित्) सब इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला, (मनसः पतिः) अन्तःकरण अर्थात् मानसिक वृत्तियोंके पीछे चलनेवाला, (एषः) यह मूढ़ पुरुष, (अव्यं वारम्) सर्वदा रहनेवाले गड्डलिका-प्रवाहकी भाँति बार-बार, अथवा, (वारम्) यथाक्रम [मरनेके अनन्तर जन्म, जन्मके अनन्तर मरण, इस क्रमको], अथवा,

(वारम्) संसारमें जन्म-मरणरूपी युद्धकी ओर, (वि धावति) विविध प्रकारसे दौड़ता रहता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

(छा. उ. ५-१०-७)

जो प्राणी श्रेष्ठ कर्मोंका परित्याग कर निकृष्ट कर्मोंको करता है वह नीच योनियोंमें अर्थात् कुत्ता, सूकर, चाण्डाल इत्यादि योनियोंमें उत्पन्न होता है। इसलिये बिना विचारके केवल कौतूहलवश कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिए।

तुलना—गीतामें दिखावेके लिये कर्मोंको छोड़कर मनसे पदार्थोंको स्मरण करना कपटी होनेका मूल कारण और मूर्खताका मूल स्वरूप बताया गया है। वेदमन्त्रमें भी कहा गया है कि कर्मेन्द्रियोंके विषयोंको मनमें स्मरण करनेवाला मूर्ख पुरुष बारंबार इस संसारमें जन्म-मरणकी ओर जाता रहता है। यही बात उपनिषद्में भी कही गई है कि पापाचारी पुरुष बार-बार नीच योनियोंमें जन्म लेता रहता है।

७. **यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।**
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (यः) जो प्राणी, (मनसा) अपने मनसे, (इन्द्रियाणि) इन्द्रियोंको, (नियम्य) वशमें करके, (असक्तः) कर्मोंके फलोंकी आशासे रहित होकर, (कर्मेन्द्रियैः) हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियोंसे, (कर्मयोगम्) नाना प्रकारके निष्काम कर्मका अनुष्ठान, (आरभते) आरम्भ करता है, (सः) वह विवेकी चतुर पुरुष, (विशिष्यते) विशेष योग्य माना जाता है अर्थात् उस प्राणीसे श्रेष्ठ है जो आलस्यवश कर्मोंको छोड़कर मिथ्या संन्यासी बन जाता है किन्तु मनसे सब प्रकारके विषयोंकी अभिलाषा करता रहता है॥ ७॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः॥

(यजुर्वेदः ३-४७)

(सचाभुवः) कर्मेन्द्रियोंके साथ रहनेवाले अर्थात् कर्मेन्द्रियोंसे श्रौत-स्मार्त-कर्मको साथ ही करनेवाले, (कर्मकृतः) जो कर्मयोगी पुरुष, (मयोभुवा) सुखोंको उत्पन्न करनेवाली, (वाचा) वाणीके, (सह) साथ, सब वागादि इन्द्रियोंसे, (कर्म) अनासक्त होकर, कर्मको, (अक्रन्) करते हैं, वे पुरुष, (देवेभ्यः) केवल इन्द्रियोंकी सामान्य प्रवृत्ति मात्रके लिये, (कर्म कृत्वा) श्रौत-स्मार्त कर्मोंको करके, (तम् अस्तम्) उस सुखमय घरको, (प्रेत) प्राप्त होते हैं।

उपनिषद्का भी कथन है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

(कठ उ. २-२-११)

जैसे सूर्य सब शुद्ध-अशुद्ध वस्तुओंको देखनेसे दूषित नहीं होता इसी प्रकार निर्मल अन्तःकरणवाला पुरुष इन्द्रियोंसे बाहरके सब व्यवहार करता हुआ भी दूषित नहीं होता।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनसे इन्द्रियोंकी दुष्प्रवृत्ति रोककर स्वाभाविक सांसारिक कर्म करनेवाले पुरुष लिप्त नहीं होते। वेदमें भी अनासक्त होकर कर्म करनेसे मुक्तिधामकी प्राप्ति बताई गई है। यही बात उपनिषद्ने भी प्रमाणित की है।

८. **नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

हे अर्जुन ! (त्वम्) तू, (नियतम्) अपने अधिकारके अनुसार फलकी आशा छोड़कर, (कर्म) शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक सन्ध्या-युद्ध-व्यापार-सेवादि कर्मोंको, (कुरु) कर, (हि) क्योंकि, (अकर्मणः) कुछ काम न करनेसे, (कर्म) कर्म करना, (ज्यायः) अधिक श्रेष्ठ है, (च) तथा, (अकर्मणः) कर्म न करनेसे, (ते) तेरे, (शरीरयात्रा) शरीरके व्यवहारोंका निर्वाह, (अपि) भी, (न) नहीं, (प्रसिद्धचेत्) सिद्ध हो सकता ।८॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजुर्वेदः ४०-२)

(इह) इस मनुष्य-जन्ममें अथवा संसारमें, (कर्माणि) शास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिक सन्ध्या-युद्ध-व्यापार-सेवादि कर्मोंको, (कुर्वन्) करता हुआ, (एव)

ही, (शतं समाः) सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् समग्र आयु पर्यन्त, (जिजीविषेत्) जीनेकी इच्छा करे। (एवम्) ऐसे नियत नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके करनेसे, (त्वयि) तुझ, (नरे) मनुष्यमें, (कर्म) वह किया हुआ कर्म और उसका फल जन्मादि रूपसे, (न लिप्यते) बन्धनका कारण नहीं होता। (इतः) इस पूर्वोक्त प्रकारसे, (अन्यथा) भिन्न कोई मार्ग कर्ममें लिप्त न होनेके लिये, (न अस्ति) नहीं है, अर्थात् लौकिक फलभोगकी अभिलाषासे कर्म करनेवाला तो लिप्त होता ही है।

गोभिलगृह्यसूत्रमें आया है—

> **अथ य इमां सन्ध्यां नोपास्ते नाचष्टे न स जयति, ये तूपासते श्रोत्रियाः भवन्ति इत्युपनीताश्छेदन-भोजनभेदनमैथुनस्वप्नस्वाध्यायानाचरन्ति ये सन्ध्या-काले, ते श्वशूकरशृगालगर्दभसर्पयोनिष्वभिसम्प-द्यमानास्तमोभिरभिसम्पद्यन्ते। तस्मात् सायं-प्रातःसन्ध्यामुपासीत।**

जो प्राणी इस सन्ध्याकी उपासना नहीं करता, जो सन्ध्याके मन्त्रोंको नहीं पढ़ता वह प्राणी अपने किसी कार्यमें जयलाभ नहीं कर सकता अर्थात् उसके किसी भी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सन्ध्याकालमें शास्त्र-विहित कर्म नहीं करने या अन्य अकर्मोंके करनेमें समय निरर्थक जायगा। और जो पुरुष सन्ध्यादि नित्य कर्मोंको करते हैं वे श्रोत्रिय होते हैं। जो पुरुष यज्ञोपवीत धारण करके सन्ध्याकालमें सन्ध्यादि कर्म छोड़कर शास्त्रोंकी आज्ञाके प्रतिकूल छेदन, भोजन, भेदन, मैथुन, स्वप्न (निद्रा लेना), लिखना, पढ़ना करते हैं, वे पुरुष कुत्ता, सूकर, गीदड़, गधा, सर्पादि योनियोंमें उत्पन्न होकर घोर अन्धकारसे घिरे हुए नरकोंको प्राप्त होते हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिए कि वह नियत कर्मोंको अवश्य करता रहे।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि नियत कर्मोंका करना आवश्यक है, नियत कर्म किए बिना शरीर-निर्वाह भी सम्भव नहीं है। वेदमें भी जीवनपर्यन्त नियत कर्मोंका करना आवश्यक बताया गया है, क्योंकि इन नियत कर्मोंके किए बिना मनुष्यके शरीरका निर्वाह नहीं हो सकता। यही बात गोभिलगृह्यसूत्रने भी सिद्ध की है।

९. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (यज्ञार्थात्) यज्ञ अर्थात् विष्णुकी आराधनाके लिये अथवा अग्निहोत्रादि यज्ञोंवाले, (कर्मणः) कर्मसे, (अन्यत्र) अन्य प्रकारके कर्ममें, (अयं लोकः) यह लोक, (कर्मबन्धनः) कर्मबन्धन ही है अर्थात् बन्धनका कारण है। इसलिये, (मुक्तसङ्गः) कर्म-फलोंके सङ्गका त्याग करता हुआ, (तदर्थम्) उस परमेश्वरकी आराधनाके लिये, (कर्म) नियत और विहित कर्म, (समाचर) श्रद्धापूर्वक किया कर॥ ९ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(यजुर्वेदः ३१-१६)

(देवाः) जो विद्वान् लोग, (यज्ञेन) ज्ञानयज्ञसे अथवा अग्निहोत्रादि यज्ञोंसे, (यज्ञम्) 'यज्ञो वै विष्णुः' इस उक्तिके अनुसार परमात्माका, (अयजन्त) पूजन करते, अनुष्ठान करते अथवा सत्सङ्गति करते हैं, (तानि) ये ईश्वरके पूजादि कर्म या नित्य-नैमित्तिक सन्ध्या, अग्निष्टोमादि, (धर्माणि) धर्म-कर्म, (प्रथमानि) अनादि रूपसे प्रवाहित एवं उत्कृष्ट, (आसन्) हैं, (ते) वे विद्वान् लोग, (महिमानः) नियत नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके करनेसे महत्त्वको प्राप्त होकर, (नाकम्) मुक्तिधामके नित्य सुखको, (सचन्तः) प्राप्त करते हैं, (यत्र) जिस मुक्तिधामके सुखमें, (पूर्वे) प्राचीन, (साध्याः) साधनोंको किये हुए या विराट्उपासक या अहंगृहोपासना करनेवाले या ज्ञान वा कर्मसे प्राप्य वस्तुको प्राप्त करनेवाले, (देवाः) ज्ञानी पुरुष, (सन्ति) वास करते हैं।

उपनिषदोंमें भी कहा गया है—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

(कठ उ. २-१-२)

बालबुद्धि अर्थात् मूर्ख पुरुष सांसारिक कामनाओं तथा मृत्युके विस्तृत पाश-में फँसकर बार-बार जन्म, मरण, जरा, रोगादिका दुःख सहते हैं। परन्तु धीर यानी विवेकी पुरुष अमृतत्व या ब्रह्मज्ञानको ध्रुव अर्थात् अटल सुख जानकर इस अध्रुव अर्थात् नश्वर संसारकी वस्तुओंको नहीं चाहते।

तुलना—गीतामें यज्ञ-कर्मकी महिमा बताई गई है और याज्ञिक पुरुषके मुक्तिद्वारतक पहुँचनेकी बात कही गई है। वेदमें भी यज्ञकी महिमा, यज्ञसे मुक्तिकी प्राप्ति बताई गई है। उपनिषद्‌में भी सांसारिक कर्मोंको बन्धनका कारण और याज्ञिक कर्मोंसे मुक्ति बताई गई है।

१०. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

(पुरा) सृष्टिरचनाके आदिमें अर्थात् कल्पके आरम्भमें, (प्रजापतिः) सृष्टिके रचनेवाले प्रजापतिने, (सहयज्ञाः) नाना प्रकारसे यज्ञोंके विधानोंके सहित अथवा जिसके साथ-साथ यज्ञ उत्पन्न हुआ ऐसी, (प्रजाः) प्रजाओं अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णोंको, (सृष्ट्वा) रचकर, (उवाच) यह आज्ञा दी कि, तुम लोग, (अनेन) इस यज्ञसे अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म-विहित कर्मोंके सम्पादनसे, (प्रसविष्यध्वम्) अपनी सब प्रकारकी वृद्धि करो। (एषः) यही यज्ञ, (वः) तुम लोगोंको, (इष्टकामधुक्) मनोवाञ्छित भोगका देनेवाला, (अस्तु) होवे॥ १०॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु॥

(अथर्ववेदः ७-५-२)

(यज्ञः बभूव) सृष्टिके आदिमें अर्थात् कल्पके आरम्भमें यज्ञ प्रकट हुआ अर्थात् जब सृष्टि उत्पन्न हुई तब यज्ञ भी साथ ही उत्पन्न हुआ। (सः आ बभूव) तब वह यज्ञ सर्वत्र व्याप्त हो गया। (सः प्र जज्ञे) वह विशेष प्रकारसे सब प्रजाके लिये ज्ञानका साधन हुआ। (सः उ) वही यज्ञ, (पुनः) फिर, (वावृधे) वृद्धिको प्राप्त हुआ। (सः) वही यज्ञ, (देवानाम्) विद्वानों और ज्ञानी पुरुषोंका, (अधिपतिः) अभीष्ट फल देनेवाला, (बभूव) बन गया, (सः) वही यज्ञ, (अस्मासु) हममें, (द्रविणम्) ज्ञानात्मक धनको, (आ दधातु) धारण करावे।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

(यजुर्वेदः ३१-१४)

(यत्) जिस कारण सृष्टिकी उत्पत्तिके साथ ही, (देवाः) योगी और ज्ञानी लोग, (हविषा) हविःस्वरूप, (पुरुषेण) परमात्माके सन्तुष्टि-निमित्तक,

(यज्ञम्) ज्ञानयज्ञ, हविर्यज्ञ, कर्मयज्ञादिको. (अतन्वत) जगत्में विस्तारित करते रहे, या, (देवाः) योगी लोग, (हविषा) अमृत-स्वरूप प्रकाशमान, (पुरुषेण) आत्माके साथ, (यज्ञम्) आत्मयज्ञको, (अतन्वत) करते हैं, (अस्य) इस यज्ञका, (वसन्तः) वसन्त ऋतु या सात्त्विक गुण, (आज्यम्) घृतरूप अथवा ऊर्ध्वगतिरूप, (आसीत्) है, (ग्रीष्मः) ग्रीष्मऋतु या रजोगुण, (इध्मः) लकड़ीरूप अथवा प्रकाशक है, (शरत्) शरद् ऋतु या तमोगुण, (हविः) हविःरूप है, क्योंकि योगी लोग आत्मयज्ञमें तीनों गुणोंका ही हवन करते हैं।

तुलना—गीतामें यज्ञकी उत्पत्ति सृष्टि-उत्पत्तिके साथ-साथ बताई गई है और यह सिद्ध किया गया है कि यज्ञ सर्वहितकारी होता है। वेदमें भी सृष्टिके आदिमें यज्ञकी उत्पत्ति, फिर यज्ञका जगत्में विस्तृत होना और उस यज्ञसे मुक्तिरूपी धनकी प्रार्थना करना अर्थात् मुक्तिकी प्राप्ति सिद्ध की गई है।

११. देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

प्रजापतिने कहा कि हे प्रजाओ ! तुम, (अनेन) इस प्रकारके यज्ञसे अर्थात् यज्ञके हविष्य इत्यादिसे, (देवान्) वायु, अग्नि, सूर्य, इन्द्रादि देवताओंको, (भावयत) प्रसन्न करो, और, (ते) वे, (देवाः) देवतागण, (वः) तुम लोगोंको, (भावयन्तु) वृष्टि आदि द्वारा अन्न आदि प्रदान करके प्रसन्न करते रहें। इस प्रकार, (परस्परम्) आपसमें एक-दूसरेको, (भावयन्तः) प्रसन्न करते हुए तुम, (परं श्रेयः) परम कल्याण अर्थात् अपने परम प्रिय अभीष्ट फल मोक्ष तथा भगवत्स्वरूपको, (अवाप्स्यथ) प्राप्त करोगे॥ ११॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः॥

(अथर्ववेदः १२-१-२२)

(मनुष्याः) मनुष्य, (भूम्याम्) पृथिवीपर वास करते हुए, (अरंकृतम्) अलंकृत, सुसंस्कृत, (हव्यम्) घृतादिकी आहुतिसे युक्त, (यज्ञम्) पूजास्वरूपात्मक यज्ञको, (देवेभ्यः) वायु, अग्नि, सूर्य, इन्द्रादि देवताओंको, (ददति) देते हैं। इस प्रकार यज्ञादि करनेसे, (मर्त्याः मनुष्याः) मृत्यु-धर्मवाले वे ही मनुष्य, (भूम्याम्) पृथिवीपर, (स्वधया) अमृतरूप अथवा ब्रह्माण्डके प्राणियोंके आधार-

भूत, (अन्नेन) वृष्टि आदिसे उत्पन्न हुए अन्नसे, (जीवन्ति) जीवनको धारण करते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद्में भी कहा गया है—

यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयति।

(१-५-२)

जिस समय प्राणी हवन करता है और इन्द्र-सूर्यादि देवताओंको प्रसन्न करता है, उसी समयसे अन्नादि अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिसे अपनी मृत्युको जीत लेता है अर्थात् दीर्घायु होकर मुक्तिकी प्राप्तिका अधिकारी हो जाता है। इसी प्रसंगमें पहले कहा गया है—

देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च।

(बृ. उ. १-५-२)

प्रजापतिने दो प्रकारके अन्नोंको देवताओंमें विभक्त किया—एक हुत अर्थात् अग्निमें हवनके लिए और दूसरा प्रहुत, बलिहरणद्वारा पृथिवीके जीवोंको प्रसन्न करनेके लिए। इनमें एक आधिदैविक और दूसरा आध्यात्मिक कहा जाता है। इन दोनों प्रकारके यज्ञोंसे देवता और मनुष्योंमें परस्पर भाव बने रहनेसे सबके सब परम कल्याणको प्राप्त होते हैं।

__तुलना__—गीतामें यज्ञद्वारा देवताओंको प्रसन्न करने और उनके द्वारा प्रसन्न होकर मनुष्योंको अन्नादि द्वारा सुख पहुँचानेकी बात कही गई है। वेदमें भी यही कहा गया है कि मनुष्य भूमिपर वास करते हुए यज्ञोंसे देवताओंको प्रसन्न करते हैं और वे देवता उन्हें वृष्टिद्वारा अन्नादिसे तृप्त करते हैं। उपनिषद्में भी यही बात सिद्ध की गई है।

१२. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

हे अर्जुन! (हि) क्योंकि, (यज्ञभाविताः) तुम्हारे श्रुति-स्मृति-विहित दर्श, पौर्णमास तथा नाना प्रकारके यज्ञोंसे सन्तुष्ट हुए, (देवाः) वायु, सूर्य, अग्नि, चन्द्रादि देवता, (वः) तुम्हें अर्थात् यज्ञ करनेवालोंको, (इष्टान्) मनोवाञ्छित, (भोगान्) पदार्थोंको, (दास्यन्ते) बिना माँगे ही देंगे, (तैः दत्तान्) उनसे दिये हुए पदार्थोंको, (एभ्यः) इन देवोंके निमित्त, (अप्रदाय) न देकर अर्थात् उनसे उऋण न होकर, (यः) जो प्राणी, (भुङ्क्ते) अपने स्वार्थवश आप ही भोगता है, (सः) वह, (स्तेनः) देवादिके भागोंको चुरानेवाला, (एव) ही है॥ १२॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥
(ऋग्वेदः १०-११७-४)

(यः) जो पुरुष, (सचाभुवे) सर्वदा साथ रहनेवाले, (सचमानाय) सेवित होनेवाले, (सख्ये) समान भावमें मित्ररूपसे रहनेवाले इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु आदि देवताओंको, (पित्वः) चरु-पुरोडाशादि अन्नोंको, (न) नहीं, (ददाति) देता, (सः) वह पुरुष, (सखा) इस जगत्में मित्ररूप, (न) नहीं हो सकता। (अस्मात्) इन्द्रादि इष्टमित्रोंको हव्य न देनेवाले इस पुरुषसे, (अप प्रेयात्) परस्पर एक-दूसरेको देकर प्रसन्न करनेवाला पुरुष हटकर रहे। ऐसे पुरुषका, (ओकः) कोई वास-स्थान, (न) नहीं, (अस्ति) है। (तत्) इसलिये दानी पुरुष चोर न बने, प्रत्युत, (पृणन्तम्) पुरोडाशादि हविको देते हुए, (अन्यम्) दूसरे, (अरणम्) स्वामीको या कलहादिसे रहितको, (चित्) ही, (इच्छेत्) चाहे।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥
(मु. उ. १-२-३)

जो पुरुष दर्श अर्थात् अमावस्याके दिन, पौर्णमास अर्थात् पूर्णिमाके दिन, चातुर्मास्य अर्थात् आषाढ़ शुक्ल एकादशीसे लेकर कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा तकके दिनोंमें तथा अग्रयणमें (अगहन मासमें व्रतादि करनेको अग्रयण कहते हैं) अग्निहोत्र नहीं करता, न अतिथि-सेवा करता है और न ही वैश्वदेव बलि देता है, यदि कभी संयोगवश हवन करता भी है तो उन्मनस्क हो विधिरहित। ऐसे प्राणीके सातों लोकों अथवा सातों पीढ़ियों (ऊपर तीन पीढ़ीवाले पिता, पितामह, प्रपितामह और तीन पीढ़ी नीचेकी पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, सातवाँ स्वयं) के सुख नष्ट हो जाते हैं, शुभकर्मोंका नाश हो जाता है, जिससे सब अधोगतिको जाते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि देवोंको हवि आदिसे प्रसन्न करना आवश्यक है क्योंकि उसके बदले वे वृष्ट्यादि द्वारा अन्नादि देते हैं। जो उन देवोंको यज्ञादि द्वारा कुछ नहीं देता, प्रत्युत उनका भाग स्वयं खा जाता है वह चोर ही है। वेदमें भी कहा गया है कि अपनेमें समानता रखनेवाले मित्ररूप देवोंको दान न देना नीचता है और दान न देनेवालेसे पृथक् रहना उचित है। जो अपनी उन्नति चाहता है वह हवि आदि द्वारा उन देवताओंको अवश्य प्रसन्न करे।

१३. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(यज्ञशिष्टाशिनः) वैश्वदेवादि यज्ञोंके अवशिष्ट भागको सेवन करनेवाले, (सन्तः) शिष्ट पुरुष, (सर्वकिल्बिषैः) सब प्रकारके पापोंसे अर्थात् कण्डणी, पेषणी, चुल्ली, उदकुम्भी, मार्जनी, इन पाँचों पापोंसे, (मुच्यन्ते) छूट जाते हैं, और, (ये) जो यज्ञ न करनेवाले, (पापाः) पापात्मा, आचारहीन पुरुष, केवल, (आत्मकारणात्) अपने ही पेट भरनेके लिये, (पचन्ति) भोजन तैयार करते हैं, (ते) वे दुराचारी, (तु) तो, निश्चय ही, (अघम्) पापको, (भुञ्जते) भक्षण करते हैं ॥ १३ ॥

मोघमन्नं विन्दते[1] अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी[2] ॥

(ऋग्वेदः १०-११७-६)

(अप्रचेताः) मूर्ख, दान न देनेवाला, पापी, (मोघम्) व्यर्थ ही, (अन्नम्) अन्नको, (विन्दते) पाता है। (सत्यम्) मैं तुमसे सत्य, त्रिकालाबाधित बात, (ब्रवीमि) कहता हूँ। (सः) वह अन्न केवल पापात्मक या व्यर्थ ही नहीं होता, प्रत्युत, (तस्य) उस पुरुषकी, (वधः) मृत्यु, (इत्) ही है। जो पापी पुरुष, (अर्यमणम्) इन्द्र, वायु, अग्नि आदि नियामक देवोंको हवि देकर, (न पुष्यति) नहीं पालता या नहीं प्रसन्न करता है, और, (सखायम्) अतिथि तथा मित्र-वर्गको, (नो पुष्यति) नहीं पालता, या नहीं प्रसन्न करता, (केवलादी) देव, पितर और ब्राह्मण, अतिथि आदिको न देकर केवल स्वयं खानेवाला वह पुरुष, (केवलाघः भवति) केवल पापोंको ही खानेवाला होता है।

स इद्भोजो यो गृहवे[3] ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता[4] उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥

(ऋग्वेदः १०-११७-३)

---

१. विन्दते—'विद्लृ लाभे' तौदादिकः, 'शेमुचादीनाम्' इति नुमागमः ।

२. केवलादी—अदेः 'सुप्यजातौ' इति णिनिः । अतः उपधालक्षणा वृद्धिः ।

३. गृहवे—गृहेर्मृगय्वादित्वात् कुप्रत्ययः ।

४. यामहूतौ—यामा गन्तारो देवाः । अत्र यातेः 'अर्तिस्तुसुहुसृ' इत्यादिना मन्प्रत्ययः । ते आहूयन्तेऽत्रेति यामहूतिः=यज्ञः, तस्मिन् ।

(स इत्) वह पुरुष ही, (भोजः) दानी है, (यः) जो, (अन्नकामाय) अन्नकी कामनाके लिये, (चरते) घर-घर फिरनेवाले, (कृशाय) अन्नके न मिलनेसे और अपनी दरिद्रताके कारण दुर्बल, (गृहवे) घरमें आए हुए अतिथिको, (ददाति) अन्न देता है। (यामहूतौ) अतिथि-यज्ञमें, (अस्मै) इस दानी पुरुषको, फल, (अरम्) पर्याप्त, (भवति) होता है, (उत) और वह दानी पुरुष, (अपरीषु) दूसरे लोगोंमें भी, (सखायम्) सखाभावको, (कृणुते), करता, रखता है अर्थात् सब लोग उसके मित्र होते हैं, शत्रु कोई नहीं होता।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पितेति मेधया हि तपसाजनयत् पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत्।

(बृ. उ. १-५-२)

पिता अर्थात् प्रजापतिने सात प्रकारके अन्न अपनी मेधा अर्थात् सर्जनबुद्धि और तपसे उत्पन्न किये। इनमें वह अन्न साधारण अन्न कहा जाता है जिसे प्राणिमात्र भोजन करते हैं। जो प्राणी इसकी उपासना, अन्नमय यज्ञ करते हैं वे पापमें लिप्त नहीं होते, क्योंकि, (मिश्रं हि एतत्) यह साधारण अन्न मिश्र है। मिश्र इसलिये कहा जाता है कि सब प्राणियोंकी क्षुधाकी शान्तिके निमित्त बनाया गया है। अतएव बलि, वैश्वदेव तथा अतिथिसत्कार करना धर्म है। ऐसा करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है।

तुलना—गीतामें यज्ञशेष भोजनकी आज्ञा दी गई है और उसका निष्पाप होना सिद्ध किया गया है। अपने आप अकेले भोजन करनेवालेको पापी कहा गया है। वेदमें भी यज्ञादि तथा अतिथि प्रभृतिको न देकर स्वयं अकेले भोजन कर लेना पापका भोजन कहा गया है। उपनिषद्में भी यही बताया गया है कि सबके साथ बाँटकर अन्न खाना चाहिये।

१४. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(भूतानि) चौरासी लाख योनियों तथा वृक्षादिकोंके शरीर, (अन्नात् भवन्ति) अन्नसे उत्पन्न होते हैं, (पर्जन्यात्) वर्षासे, (अन्नसम्भवः) अन्नकी

उत्पत्ति होती है, (पर्जन्यः) मेघ अर्थात् वर्षा, (यज्ञात्) यज्ञसे, (भवति) होती है, (यज्ञः) यज्ञ, (कर्मसमुद्भवः) ऋत्विक् और यजमानके कर्मोंसे उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् यद्भूमिं व्यवर्तयत् । चक्राण ओपशं दिवि ॥

(ऋग्वेदः ८-१४-५)

(यज्ञः) ऋत्विक् आदिसे किये गये हवन-यज्ञ, (इन्द्रम्) मेघको अर्थात् वर्षाको, (अवर्धयत्) बढ़ाता है, (यत्) जब मेघ, (दिवि) आकाशमें वर्षाको, (ओपशम्) शयन करनेके समीप, (चक्राणः) करता हुआ, (भूमिम्) पृथिवीको वृष्टिसे और अन्नादिकी समृद्धिसे, (व्यवर्तयत्) विशेष करके पुष्ट कर देता है।

यदीमृतस्य पयसा [1]पियानो नयन्नृतस्य पथिभी [2]रजिष्ठैः ।
अर्यमा मित्रो वरुणः परिज्मा त्वचं [3]पृञ्चन्त्युपरस्य योनौ ॥

(ऋग्वेदः १-७९-३)

(यत्) जब, (ईम्) यह पर्जन्य अर्थात् वर्षा करनेवाला मेघ, (ऋतस्य पयसा) वृष्टि-जलके सारभूत रससे, (पियानः) पृथिवीको तृप्त करता हुआ अर्थात् अन्नादिकी उत्पत्तिसे श्यामला करता हुआ, (ऋतस्य) वर्षाके जलको, (रजिष्ठैः) अत्यन्त सरल, (पथिभिः) मार्गोंसे, (नयन्) पृथिवीके दूसरे स्थानोंपर ले जाता है अर्थात् जगत्के स्नान-पान आदि कार्योंमें लगाता है, तब, (अर्यमा) [अर्यमा आदित्यो भवति, निरुक्त २-१३] सूर्य, (मित्रः वरुणः) वर्षा करानेसे जगत्का मित्ररूप वरुण, (परिज्मा) और चारों ओर चलनेवाला वायु, (उपरस्य=उपलस्य, योनौ) मेघके वृष्टिजलके उत्पत्तिस्थानमें, (त्वचम्) आच्छादक आवरणको, (पृञ्चन्ति) अपने शस्त्रोंसे खोल देते हैं।

---

१. पियानः—'स्फायी ओप्यायी वृद्धौ' 'वहुलं छन्दसि' इति शपो लुक् । धातोः व्यत्ययेन पीभावः ।

२. रजिष्ठैः—ऋजुशब्दात् इष्ठनि, 'विभाषर्जोश्छन्दसि' इति ऋकारस्य रत्वम् । टेरिति टिलोपः ।

३. पृञ्चन्ति—'पृची सम्पर्के' रौधादिकः ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीं श्रिताः ।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपियन्त्यन्ततः ।
अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । (तै. उ. २-२)

जितने प्राणी पृथिवीपर वास करते हैं, सबके शरीर अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं। फिर उसी अन्नको सब जीव खाकर जीते हैं। मरनेके पश्चात् भी अन्नमें ही प्रवेश कर जाते हैं अर्थात् पृथिवी, अग्नि या जलकर अन्न हो जाते हैं इसलिये अन्न ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है।

मनुने भी कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

(म. स्मृ. ३-७६)

विधिपूर्वक स्नेहयुक्त सामग्रियोंसे मिली हुई जो आहुति अग्निमें दी जाती है वह सूर्यमें, फिर सूर्यसे वृष्टिमें जा रहती है, उस वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे प्रजाएँ पलती हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ऋत्विज् जो यज्ञ करते हैं उनसे मेघ जलकी वर्षा करते हैं, वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे जीवोंके शरीर पलते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि ऋत्विजों द्वारा किये हुए यज्ञसे मेघ होते हैं, मेघोंसे वृष्टि होती है, वर्षाका जल पृथिवीको तृप्त करता है, पृथिवीसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे शरीर पलते हैं।

१५. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

हे अर्जुन ! (कर्म) यज्ञादि विधिके कर्म, एवं ऋत्विक् तथा यजमान-कर्मको, (ब्रह्मोद्भवम्) वेदरूप ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, (ब्रह्म) वेदको, (अक्षर-समुद्भवम्) अक्षर ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, (विद्धि) जान, (तस्मात्) इसलिये, (ब्रह्म) वेद, (सर्वगतम्) सर्वव्यापक, (नित्यम्) अविनाशी, तथा, (यज्ञे) यज्ञमें, (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

(ऋग्वेदः १०-९०-९)

(ऋचः, सामानि, छन्दांसि, यजुः) ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद तथा उनकी ऋचाओं एवं मन्त्रोंसे सम्पन्न होनेके कारण अग्निष्टोमादि यज्ञोंका कर्म, (तस्मात्) उस, (सर्वहुतः) परमात्माके आह्वान करनेवाले, (यज्ञात्) यज्ञात्मक अक्षर ब्रह्मसे, (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए हैं। इसलिये ब्रह्म और वेद सर्वव्यापक ही हैं।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्च-
रन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसि-
तमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

(बृ. उ. ४-५-११)

जैसे गीली लकड़ीके साथ अग्निका संयोग होनेसे धूम पृथक् होकर निकलता है, इसी प्रकार सबसे महान् परब्रह्मके निःश्वाससे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकट हुए हैं।

<u>तुलना</u>—गीतामें कर्मकी उत्पत्ति वेदसे और वेदका प्राकट्य सर्वव्यापक अक्षर ब्रह्मसे कहा गया है। वेदमें भी चारों वेदों तथा उनसे यज्ञोंका प्राकट्य सर्वव्यापक अक्षर ब्रह्मसे कहा गया है। उपनिषदोंसे भी यही बात सिद्ध होती है।

१६. **एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।**
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (इह) इस संसारमें, (यः) जो, (एवम्) इस प्रकार, (प्रवर्तितम्) ईश्वरसे चलाए हुए, (चक्रम्) सृष्टिके आदिमें जीवोंको वेदज्ञानकी प्राप्ति, फिर वेदोंके आज्ञानुसार यज्ञादि कर्म करना, फिर देवताओंकी तृप्ति, फिर वर्षा, वर्षासे अन्नोत्पत्ति, अन्नद्वारा प्राणियोंकी उत्पत्ति, फिर वैसे ही पूर्ववत् वेदोंकी प्राप्ति, इस प्रकारके जगत्के निर्वाहक क्रमको, (न अनुवर्तयति) अनुष्ठान नहीं करता, (सः) वह पुरुष, (अघायुः) अपनी आयुःपर्यन्त पापसे लिप्त होकर अर्थात् पापजीवी होकर, और, (इन्द्रियारामः) इन्द्रियपरायण, इन्द्रियों द्वारा विषयोंसे रमण करनेमें प्रवीण रहते हुए, (मोघम्) व्यर्थ, (जीवति) जीता है, अर्थात् इस प्रकार कीट, पतङ्ग, शूकर, शृगाल इत्यादिके समान जीनेसे तो उसका मर जाना ही उत्तम है॥ १६॥

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥

(ऋग्वेद: १०-७१-६)

(यः) जो कर्माधिकारी पुरुष, (सचिविदम्) वेदाध्ययन करनेवाले तथा वेदोंद्वारा कर्मकाण्डका ज्ञान रखनेवाले सत्पुरुषको, और, (सखायम्) सर्वदा नित्य ज्ञानवाले मित्ररूप वेदको, (तित्याज) छोड़ देता है अर्थात् वेदकी आज्ञाके अनुसार इस संसारमें अपना जीवन-निर्वाह नहीं करता, (तस्य) उस पुरुषको, (वाचि अपि) लौकिक और वैदिक फल देनेवाला, (भागः) कोई भाग, (न अस्ति) प्राप्य नहीं है। (ईम्) वह पुरुष इस जगत्में, (यत्) जिस बातको, (शृणोति) सुनता है, (तत्) उसको, (अलकम्) व्यर्थ ही, (शृणोति) सुनता है, (हि) क्योंकि, (सुकृतस्य) पुण्यके अर्थात् शुभ कर्मके, (पन्थाम्) अनुष्ठानके मार्गको, (न प्र वेद) श्रद्धारहित होनेसे भलीभाँति नहीं जानता इसलिये उसका किसी सज्जनसे उपदेश सुनना निष्फल है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः,
स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ
यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति
यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वा-
सयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ
यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य
गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उप-
जीवन्ति तेन तेषां लोकः ।

(बृ. उ. १-४-१६)

यह मानुषी आत्मा सर्वभूतोंका लोक है अर्थात् प्राणिमात्रकी रक्षाका कारण है। मनुष्य जो कुछ हवन करता है और यजन करता है, उससे देवताओंका लोक स्थिर रहता है अर्थात् देवगण तृप्त रहते हैं। जो वेदादि अध्ययन करता है, उससे ऋषियोंका लोक स्थिर रहता है अर्थात् ऋषिगण प्रसन्न रहते हैं। जो पितरोंके लिये तर्पणादि करता है तथा पुत्र-पौत्रकी इच्छा करता है, उससे पितरोंका लोक स्थिर रहता है अर्थात् पितृगण तृप्त रहते हैं। जो अपने घरमें आये हुए मनुष्योंका अर्थात् अतिथिगणका सत्कार करता है,

उनको भोजन कराकर उनकी क्षुधा-तृषाकी शान्ति करता है, उससे मनुष्य-लोककी स्थिरता बनी रहती है अर्थात् मनुष्यगण तृप्त रहते हैं। जो पशुओंके लिये तृण और जल देता है, उससे पशुओंके लोककी स्थिरता होती है अर्थात् पशुगण तृप्त रहते हैं। इसी प्रकार जो इस मनुष्यके घरमें कुत्ते, कौए, चींटी आदि इसके अन्नसे अपना-अपना भाग पाकर जीवित रहते हैं अर्थात् सब कीट-पतंग प्रसन्न रहते हैं इससे उन कीट-पतङ्ग आदिके लोकोंकी स्थिरता होती है।

उपनिषद्के इन वचनोंसे निश्चय होता है कि जो मनुष्य इन कर्मोंका सम्पादन नहीं करता वह देव, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु और पक्षी सबकी हिंसा करनेका अपराधी है। अर्थात् जो हवन, अध्ययन, तर्पण, बलिवैश्वदेव इत्यादि यज्ञोंका वेद-प्रवर्तित चक्र नहीं चलाता, वह अघायु है, इन्द्रियाराम है, व्यर्थ जीता है! इस जीनेसे उसका मर जाना ही उत्तम है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मासे चलाये हुए नित्य-नैमित्तिक यज्ञोंको न करनेवाला मनुष्य पापी, इन्द्रियोंके विषयोंमें वास करनेवाला और व्यर्थ-जीवी है। वेद और उपनिषद्में भी यही कहा गया है कि वैदिक यज्ञ न करनेवालेका इस संसारमें कोई भाग नहीं है और न ही उसकी वाणीमें कोई सत्यता रह सकती है। वह इस जगत्में व्यर्थ ही उपदेश सुनता है और सर्वदा पुण्यलोकके मार्गसे दूर रहता है।

१७. **यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(यः) जो, (मानवः) मनुष्य, (तु) तो, (आत्मरतिः) आत्मामें प्रीति करनेवाला, (एव स्यात्) ही हो, (च) और, (आत्मतृप्तः) आत्मामें तृप्त रहता हो, (च) और, (आत्मनि) आत्मानन्दमें, (एव) ही, (सन्तुष्टः) सन्तोष रखता हो, (तस्य) उस ज्ञानी पुरुषका, (कार्यम्) करनेयोग्य कोई कर्म ही, (न विद्यते) विद्यमान नहीं है॥ १७॥

य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद्वसूनि प्र ववाचास्मै॥

(ऋग्वेदः १-६७-४)

(यः) जो मनुष्य, (ईम्) इस आत्माको, (गुहा) हृदयाकाशमें, (भवन्तम्) रहता हुआ, (चिकेत) जानता है, अर्थात् मैं सर्वदा आत्माके समीप ही हूँ, मुझे दूर-दूर न भटकना चाहिये, ऐसा जानता है, वह [इससे आत्मरति सिद्ध होती

है], (ऋतस्य) सत्यस्वरूपके, (धाराम्) धारण करनेवाले आत्माको, (आ ससाद) भलीभाँति चारों ओरसे इन्द्रियोंको रोककर प्राप्त होता है अर्थात् सर्वदा ही आत्म-तृप्तिमें लगा रहता है, और, (ये) जो मनुष्य, (ऋतानि) आत्मयज्ञोंको, (सपन्तः) अपने आपमें जोड़ते हुए अर्थात् सब आत्माओंकी अपने आत्माके साथ समता करते हुए, (विचृतन्ति) स्तुति करते हैं, (अस्मै) आत्मतृप्तिवाले उन सब पुरुषोंको, (आत् इत्) स्तुति करनेके अनन्तर ही, (वसूनि) सबसे उत्तम वास-स्थान अर्थात् मुक्तिको, (प्र ववाच) परमात्मा कहता है।

उपनिषदोंमें भी कहा गया है—

आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

(छा. उ. ७-२५-२)

आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायें है, आत्मा ही बाएँ है, यह जो कुछ भी इस सृष्टिमें है सब आत्मा ही है। जो विद्वान् इस प्रकार देखता हुआ, मनन करता हुआ, जानता हुआ, आत्मामें ही रति रखनेवाला, आत्मासे ही क्रीडा करनेवाला, आत्मासे ही मिलकर सुखी होनेवाला तथा आत्माके ही आनन्दमें रहनेवाला है, वही यथार्थमें चक्रवर्ती नरेशवत् हो जाता है। वही प्राणी ब्रह्मलोकसे पाताल-लोकपर्यन्त जितने लोक-लोकान्तर हैं उनमेंसे जिस लोककी इच्छा करे वहाँ जा सकता है और सब स्थानोंमें विहार कर सकता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(मु. उ. ३-१-३)

जब विद्वान् ज्योतिःस्वरूप जगत्के कर्ता ईश्वरको अपने दिव्य चक्षुसे देखता है तब आत्माको देखनेवाला विद्वान् शुभाशुभ कर्मोंको जड़सहित नष्ट करके परम समताको प्राप्त हो जाता है अर्थात् फिर उसको कोई कर्म करनेका

प्रयोजन ही नहीं रहता। इसलिए समभाव पाकर शान्त पदवीका लाभ करके जीवन्मुक्त हो जाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्माको आत्मा समझनेवाला, देहको जड़ समझनेवाला तथा सब आत्माओंको अपने आत्माके समान समझनेवाला सबमें समता रखता हुआ मुक्ति पदवीको पाता है। वेद और उपनिषदोंमें भी कहा गया है कि अपने चारों ओर आत्मा ही आत्माको देखनेवाला, आत्मानन्दमें मग्न रहनेवाला समताको पाकर मुक्त हो जाता है।

१८. नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(तस्य) उस आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट प्राणीको, (कृतेन) किये हुए कर्मसे, (अर्थः न) कोई प्रयोजन नहीं है अर्थात् ब्रह्मवेत्ताको कर्म करनेसे कोई तात्पर्य सिद्ध करना शेष नहीं रह जाता। (अकृतेन) न किये हुए कर्मसे, (इह) इस संसारमें, (कश्चन) कोई प्रत्यवाय, (न एव) भी नहीं है। (अस्य) इस प्राणीका, (सर्वभूतेषु) ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्तके सब भूतोंमें, (कश्चित्) कोई, (अर्थव्यपाश्रयः) अर्थका आश्रय करना अर्थात् किसी अर्थके सम्बन्धमें किसी क्रियाका साधन करना, (च न) भी नहीं है, अर्थात् किसी देवतादिसे भी किसी प्रकारका अर्थ निकालनेके लिये या उनके विघ्नोंसे बचनेके लिए किसी क्रियाके साधनका प्रयोजन नहीं है॥ १८॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(यजुर्वेदः ४०-७)

(यस्मिन्) जिस अवस्थाविशेषमें अर्थात् संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाली सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधिके समयमें, (सर्वाणि) सब, (भूतानि) चेतन और अचेतन वस्तुएँ, (आत्मा एव अभूत्) आत्मा ही हो जाती हैं, क्योंकि मन आत्मज्ञानमें लगे रहनेसे आत्मभिन्न वस्तुओंको देखता हुआ भी उन्हें नहीं देखता अर्थात् सर्वत्र आत्माको ही देखता और आत्माका ही अनुभव करता है, और कुछ नहीं देखता, कारण, आत्मज्ञानीको कोई प्रयोजन नहीं होता, ऐसा, (विजानतः) जाननेवाले, और, (एकत्वम्) ['आत्मैवेदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस भावसे] सर्वत्र ब्रह्मके अद्वैतभावको, (अनुपश्यतः) देखनेवाले आत्मज्ञानीको, (तत्र) उस दशामें, (कः मोहः) कैसा मोह! और, (कः शोकः) क्या शोक!

उपनिषद्में भी कहा गया है—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण-मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

(मा. उ. ७)

जिस समय योगी तथा आत्मज्ञानीकी बुद्धि न भीतरकी ओर हो, न बाहरकी ओर अर्थात् न स्वप्न अवस्थामें हो, न जाग्रत्में, कुछ स्वप्न और कुछ जागरित दोनोंसे मिली हुई अवस्था भी न हो और सुषुप्ति अर्थात् घोरनिद्रा भी न हो, जागरित और युगपत् जड़के समान बोधरहित भी न हो, नेत्रोंका विषय न हो, और हाथ-पाँव आदि किसी इन्द्रियद्वारा ग्रहण करनेयोग्य भी न हो, व्यवहारके योग्य भी न हो, अनुमानके भीतर भी न आ सकता हो, चिन्ता करनेयोग्य और उपदेश करनेयोग्य भी न हो, जागरित आदि तीनों अवस्थाओंकी एकता हो जाने-पर जो आत्मज्ञानका सारभाग परमानन्दस्वरूप है वही रहे, फिर प्रपञ्चोपशमकी अवस्था प्राप्त हो, अर्थात् जिस अवस्थामें प्रपञ्चका नाश हो जाता है, उस शान्त, परम कल्याणमय, एकात्मस्वरूप अवस्थाको तुर्यावस्था अर्थात् जीवन्मुक्तावस्था मानते हैं, वही शुद्ध निर्मल आत्मा है और वही जाननेयोग्य है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सर्वत्र, सर्वदा सबको एकात्मस्वरूप देखनेवाला शोक-मोहादिसे रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। वेद और उपनिषद्में भी सर्वत्र सबको एकात्मस्वरूप देखनेवालेको जीवन्मुक्त कहा गया है।

१९. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(तस्मात्) इसलिए, तू, (असक्तः) कर्मोंके फलोंकी कामनासे रहित होकर, (सततम्) सदा, लगातार, (कार्यम्) अवश्य करनेयोग्य, (कर्म) नित्य-नैमित्तिक कर्म, (समाचर) शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार कर, (हि) क्योंकि, (पूरुषः) ईश्वर-चरणानुरागी पुरुष, (असक्तः) सब प्रकारके फलोंकी इच्छा छोड़कर, (कर्म आचरन्) केवल भगवत्प्राप्तिनिमित्त कर्म करता हुआ, (परम्) मोक्षको अर्थात् परम पदको, (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

(यजुर्वेद: ४०-१४)

(य:) आत्मज्ञानी, वेदतत्त्वको जाननेवाला, कर्मफलकी आकांक्षासे रहित जो पुरुष, (विद्याम्) आत्मज्ञानको, (च) और, (अविद्याम्) कर्मयोगको, कर्मयोगसे अन्तःकरणशुद्धि तथा शरीर-कर्तव्यपालन, आत्मज्ञानसे भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति, (च) और, (तद्) उन, (उभयम्) दोनोंको, (सह) इकट्ठा या एकस्वरूप ही, (वेद) जानता है, वह मुमुक्षु पुरुष, (अविद्यया) कर्मयोगसे, (मृत्युम्) जन्म-मरणरूप प्रवाहको, (तीर्त्वा) पार कर, जीवन्मुक्त होकर, (विद्यया) ब्रह्मज्ञानसे, (अमृतम्) मोक्षको, (अश्नुते) प्राप्त होता है।

तुलना—गीतामें निष्काम कर्म करनेसे ही मनुष्यको मुक्तिकी प्राप्ति बतायी गई है। वेदमें भी कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनोंको मुक्तिका कारण बताकर निष्काम कर्मयोगसे मृत्युसे छुटकारा और ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति बताई गई है।

२०. **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।**
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥

(हि) जिस कारण, (जनकादय:) जनक, जयबलि, अश्वपति और अजातशत्रु आदि क्षत्रिय राजा, (कर्मणा एव) नित्य-नैमित्तिक कर्मानुष्ठानसे ही, (संसिद्धिम्) परिपूर्ण ज्ञानात्मक सिद्धि अर्थात् मोक्षपदवीको, (आस्थिता:) प्राप्त हुए अर्थात् कर्म करते हुए ज्ञानको प्राप्त हुए, इसलिए तू भी कर्म ही करनेयोग्य है। (लोकसङ्ग्रहम्) उन्मार्गमें प्रवृत्त लोगोंको उन्मार्गसे निवृत्त करनेके लिये और संसारी लोगोंको धर्मका ग्रहण करवानेके लिए प्रयोजन, (सम्पश्यन् एव) देखते अर्थात् कर्मको आवश्यक जानते हुए, (अपि) भी, तू, (कर्तुम्) निष्काम कर्म करनेके, (अर्हसि) योग्य है॥ २०॥

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः॥

(ऋग्वेद: १-११०-४)

(वाघत:) वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले कर्मयोगी, (सूरचक्षस:) तेजस्वी, सूर्यके समान प्रकाशवाले या सूर्यके समान सबमें प्रसिद्ध, (ऋभव:) नित्य-नैमित्तिक कर्म करनेसे बड़े प्रकाशमान, सत्य बोलने और याज्ञिक कर्मोंके

करनेसे भी प्रकाशमान ज्ञानी, राजा, (सौधन्वनाः) अंगिरसका पुत्र सुधन्वा, सुधन्वाके पुत्र ऋभु, विभ्वा, वाज, तीनों ही, (मर्तासः सन्तः) मरण-धर्मवाले होते हुए, (शमी—'शमीति कर्मनामसु') शान्ति-स्थापन तथा ज्ञान-साधनात्मक नित्य-नैमित्तिक निष्काम कर्मोंको, (तरणित्वेन) सत्वर, लगातार, (विष्ट्वी) करके, (अमृतत्वम्) अमरत्व अर्थात् मोक्षको, (आनशुः) प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे ही कर्मयोगी लोग, (संवत्सरे) संवत्सर-अवयवभूत वसन्तादि सामयिक यज्ञोंमें, (धीतिभिः) कर्मानुष्ठानोंसे, (सम् अपृच्यन्त) मोक्षको पा लेते हैं।

ऐतरेयब्राह्मणके सायण-भाष्यमें आया है—

ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथमभ्यजयन्।

(ऐ. ब्रा. ३-३०)

(ऋभवः) ऋभु, विभ्वा, वाज आदिने, (देवेषु) देवताओंके स्वरूपमें स्थित होकर या प्रकाशात्मक-ज्ञानमें स्थित होकर, (तपसा) निष्काम कर्मानुष्ठानसे, (सोमपीथम्) अमृतकी प्राप्ति, अर्थात् मुक्ति, (अभ्यजयन्) पा गए।

यास्कने भी कहा है—

ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य
त्रयः पुत्रा बभूवुः। तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां
बहुवन्निगमा भवन्ति न मध्यमेन।

(निरुक्त ११-१६)

ऋभु, विभ्वा और वाज ये तीन अङ्गिराके पौत्र तथा सुधन्वाके पुत्र हुए हैं। उनमें पहले और अन्तिम (ऋभु तथा वाज शब्द) के बहुवचनमें निगम होते हैं, मध्यमके नहीं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जहाँ ज्ञानसे मुक्ति हो सकती है वहाँ नित्य-नैमित्तिक निष्काम कर्म करनेसे भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, जैसा कि जनक, अश्वपति आदि राजा निष्कण्टक राज्य करते हुए भी पूर्ण ज्ञानी होकर मुक्तिको प्राप्त हुए थे। वेद और ब्राह्मणग्रन्थमें भी बताया गया है कि ऋभु, विभ्वा, वाज आदि अङ्गिरा-सुत सुधन्वाके पुत्र उत्पन्न हुए। वे कर्ममार्गसे अर्थात् यज्ञानुष्ठानादि कर्मोंसे ही ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गए।

२१. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(श्रेष्ठः) श्रेष्ठ पुरुष, (यत् यत्) जिस-जिस लौकिक-वैदिक कर्मका, (आचरति) आचरण करता है, अर्थात् जैसे महात्मा, ज्ञानी, योगी, विद्वान्, माता, पिता, गुरु, राजा आदि संसारमें प्रधान पुरुष कहलानेवाले स्वार्थका परित्याग करके कामनारहित होकर संसारको धर्ममार्गमें चलाना अपना कर्तव्य-कर्म समझते हैं, अपने ऊपर क्लेशोंको सहन करके भी लोगोंको धर्मपर दृढ़ रखनेके लिये धर्मकी मर्यादाके पालनमें दृढ़ रहते हैं, (इतरः) दूसरा, (जनः) साधारण पुरुष भी, (तत् तत्) उसी-उसी प्रकार उस-उस कामका, (एव) अवश्य आचरण करता है, क्योंकि, (सः) वह श्रेष्ठ पुरुष, (यत्) जिस बातको, (प्रमाणं कुरुते) श्रुति-स्मृतिके अनुसार प्रमाण मानता है अर्थात् जिस मर्यादाका निरूपण करता है, (लोकः) संसारी पुरुष, (तत् अनुवर्तते) उस प्रमाणके अनुसार चलता है ॥ २१ ॥

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥

(ऋग्वेदः ८-१००-११)

(देवाः) विद्वान्, ज्ञानी, योगी, महात्मा लोग, (देवीम्) श्रुति-स्मृतिके प्रमाणोंसे प्रकाशमान, (वाचम्) वेद-शास्त्रोक्त जिस वचनको, (अजनयन्त) उत्पन्न करते हैं अर्थात् बोलते हैं, (विश्वरूपाः) नानारूपोंको धारण करनेवाले, (पशवः) पशुवत् मूढ़ पुरुष, (तां वदन्ति) विद्वानोंसे प्रमाणित की हुई उसी वाणीको बोलते हैं और उसीका आचरण करते हैं अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरण और वचनोंको प्रमाण मानते हैं । श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण की हुई, (मन्द्रा) आनन्दित करनेवाली, (नः) हमारे, (इषम्) अन्नादि भक्ष्यपदार्थोंको, और, (ऊर्जम्) दुग्ध-घृतादिरूप रसको, (दुहाना) दुहकर देती हुई, (धेनुः) कामधेनु तुल्य, (सु स्तुता) भलीभाँति सेवित की हुई, (सा वाक्) वह वाणी, (अस्मान्) हम मूर्ख लोगोंको, (उप एतु) प्राप्त हो ।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि जिस कामको महात्मा, ज्ञानी, योगी आदि पुरुष करते हैं उन्हींके किये कामों तथा आचरणोंको देखकर दूसरे लोग भी वही काम करते हैं । वेदमें भी कहा गया है कि जिस वचनको या जिस आचरणको विद्वान् लोग करते हैं उन्हीं कामोंका आचरण दूसरे पशुवत् मूढ़ पुरुष भी करते हैं । श्रेष्ठ बननेके लिये उसी श्रेष्ठ पुरुषोंसे प्रमाणित की हुई वाणीकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना की गई है ।

२२. न मे पार्थोस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (मे) मेरे लिये, (त्रिषु) तीनों, (लोकेषु) लोकोंमें, (किञ्चन) कुछ भी, (कर्तव्यम्) करने योग्य कर्म, (न अस्ति) नहीं हैं, और किसी, (अनवाप्तम्) अप्राप्त वस्तुको, (अवाप्तव्यम्) प्राप्त करना भी शेष, (न) नहीं है, तो भी मैं, (च) भी, (कर्मणि) कर्ममें, (वर्ते एव) निश्चय करके वर्तमान रहता हूँ, अर्थात् मैं भी वेदविहित कर्मोंका सम्पादन किया करता हूँ॥ २२॥

नाहं तन्तुं न वि जानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।

(ऋग्वेदः ६-९-२)

(अहम्) मैं पूर्णकाम परमेश्वर, (न तन्तुं विजानामि न ओतुम्) अपने लिये कर्मतन्तुरूपी ताने-बाने आवश्यक नहीं समझता, तथा, (न समरे अतमानाः यं वयन्ति) कर्मफलके संगमें अर्थात् देवयजनात्मक यज्ञोंमें लगातार चेष्टा करनेवाले ऋत्विक् या अपने लिये कर्म करते हुए संसारी जीव बन्धन करनेवाले जिस सकाम कर्मरूपी वस्त्रको बुनते हैं उसे भी मैं आवश्यक नहीं मानता।

तुलना—गीतामें अर्जुनको उपदेश देते हुए भगवान्ने कहा है कि जगत्की रक्षाके लिये आये मुझ जीवन्मुक्त पुरुषको कोई कर्तव्य शेष नहीं है क्योंकि मैं पूर्णकाम हूँ; मुझे कोई अप्राप्त वस्तु भी प्राप्त करने योग्य नहीं है। वेदमें भी भगवान्ने यही उपदेश दिया है कि मैं पूर्णकाम हूँ अतः अपने लिये किसी कर्मकी आवश्यकता नहीं समझता।

२३. यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (यदि) यदि, (अहम्) मैं, (हि) निश्चित रूपसे, (जातु) कभी, (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर, (कर्मणि) वेद-विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें, (न वर्तेयम्) प्रवृत्त न होऊँ अर्थात् आलसियोंके समान मैं भी सब काम छोड़कर चुप बैठ जाऊँ, किसी प्रकार भी वेदविहित कर्मोंका आचरण न करूँ तो महा अनर्थ होगा। तब, (मनुष्याः) संसारके सब मनुष्य, (सर्वशः) सब प्रकारसे, (मम) मेरे, (वर्त्म) मार्गको अर्थात् मेरे आचरण-को, (अनुवर्तन्ते) अङ्गीकार कर तदनुसार ही चलने लगेंगे, कर्मोंको छोड़कर सब आलसी हो जायँगे॥ २३॥

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना॥

(ऋग्वेदः ५-८१-३)

(अन्ये इत्) दूसरे साधारण जीव हीं, और, (देवाः) विद्वान् ज्ञानी लोग भी, (यस्य) जिस, (देवस्य) कर्मानुष्ठानसे प्रकाशमान विद्वान् ज्ञानी पुरुषके, (प्रयाणम्) मार्ग तथा उस मार्गके आचरणको, और, (महिमानम्) महत्त्वको, (ओजसा) अपने बलसे, (अनुययुः) अनुसरण करते हैं, (यः) जो पूर्णकाम, (सविता) सर्व जगत्का उत्पादक परमात्मा, (पार्थिवानि) पृथिव्यादि, (रजांसि) लोकोंको. (महित्वना) अपने महत्त्वसे, (वि ममे) परिच्छिन्न कर देता या निर्मित करता है, (सः) वह परमात्मदेव. (एतशः) इस स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्में प्राण-भावसे शयन करता है [एतशः—एतस्मिन् स्थावर-जङ्गमात्मके जगति प्राणभावेन शेते इति]।

तुलना—गीतामें आलस्यका परित्याग तथा नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य-कर्मोंका करना आवश्यक बताया गया है क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणको देखकर दूसरे पुरुष वैसा ही आचरण करते हैं। वेदमें भी बताया गया है कि विद्वान् पुरुषके कर्मोंका अनुसरण दूसरे साधारण पुरुष करते हैं।

२४. उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

हे अर्जुन ! (चेत्) यदि, (अहम्) मैं, (कर्म) वेदविहित कर्तव्य कर्म, (न कुर्याम्) न करूँ, तो, (इमे) ये सब, (लोकाः) प्राणी अथवा भूर्भुवः आदि सातों लोक, (उत्सीदेयुः) नाशको प्राप्त हो जायँगे, (च) और, मैं, (सङ्करस्य) वर्णसङ्करोंका, (कर्ता) उत्पन्न करनेवाला, (स्याम्) हो जाऊँगा, और, (इमाः) इन, (प्रजाः) सम्पूर्ण सृष्टिकी प्रजाओंको, (उपहन्याम्) हनन करनेवाला हो जाऊँगा॥ २४॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥

(अथर्ववेदः १९-४१-१)

(भद्रम्) संसारी जीवोंके कल्याणकी, (इच्छन्तः) कामना करते हुए, (स्वर्विदः) स्वर्ग-प्राप्तिके साधन, तथा मुक्ति-सुखकी प्राप्तिके साधन कर्मोंके, ज्ञाता, (अग्रे) सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए, (ऋषयः) तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ पुरुषोंने,

(तपः) तपस्यात्मक नित्य-नैमित्तिक वैदिक कर्म, तथा, (दीक्षाम्) सन्मार्गमें प्रवृत्ति करानेवाला गुरुका उपदेश, (उप निषेदुः) प्राप्त किया अर्थात् अनुष्ठान किया। (ततः) पश्चात् श्रेष्ठ पुरुषों और ऋषियोंसे दिखाए हुए वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानके सामर्थ्यसे, (राष्ट्रम्) राज्य, (च) और, (ओजः) कर्म करानेवाला वेग, और, (बलम्) बल, (जातम्) उत्पन्न हुआ। (देवाः) लोगोंको काममें प्रवृत्त करानेके लिये कर्म करनेवाले विद्वान् पुरुष, (अस्मै) इस साधारण पुरुषको, (उप संनमन्तु) भली भाँति अपनी ओर झुकावें अर्थात् कर्म करनेमें जोड़ देवें।

तुलना—गीतामें भगवान्ने उपदेश दिया है कि यदि महात्मा ज्ञानी पुरुष कर्म न करें तो कर्म लुप्त हो जायँगे। कर्मोंके लुप्त होनेसे वर्णसङ्करता हो जायगी और वर्णसङ्करतासे जगत्का नाश हो जायगा। वेदमें भी सृष्टिके आदिसे कर्ममें प्रवृत्तिका उपदेश देकर प्राचीन ऋषियोंके दृष्टान्तद्वारा बल और राज्यकी रक्षा सिद्ध की गई है, अन्यथा विनाश ही विनाश उपस्थित हो जायगा।

२५. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥

(भारत !) हे अर्जुन ! (अविद्वांसः) मूर्ख, आत्मज्ञानसे शून्य पुरुष, (कर्मणि) कर्मके फलमें, (सक्ताः) फँसे हुए अर्थात् कर्मजन्य स्वर्गादिप्राप्तिरूप फलोंमें आसक्त हुए, (यथा) जैसे, (कुर्वन्ति) कर्म करते हैं, (लोकसङ्ग्रहम्) लोकसङ्ग्रह अर्थात् लोगोंको अपने धर्ममें प्रवृत्त करनेकी, (चिकीर्षुः) इच्छा करनेवाला, (विद्वान्) आत्मज्ञानी पुरुष, (असक्तः) कर्माभिमानरहित और कर्मोंके फलोंकी आसक्तिसे रहित होकर, (तथा) वैसे, (कुर्यात्) कर्म करे ॥ २५ ॥

आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः ॥

(ऋग्वेदः १-७२-९)

(ये) जो पुरुष, (अमृतत्वाय) यज्ञादिसे उत्पन्न कर्मोंके फलरूप स्वर्गादिसुखकी प्राप्तिके हेतुभूत अमृतकी प्राप्तिका, (गातुम्) उपाय, ([1]कृण्वानासः)

---

१. कृण्वानासः—'कृवि हिंसाकरणयोश्च', व्यत्ययेनात्मनेपदम्। 'धिन्विकृण्व्योरच्च' इत्युप्रत्ययः। तत्सन्नियोगेन आकारान्तादेशश्च। तस्य 'अतो लोपे' सति स्थानिवद्भावाद् गुणाभावः। शानचश्चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। 'आज्जसेरसुक्' इत्यसुक्प्रत्ययः।

करते हुए, (विश्वा) सब, (सु अपत्यानि) कर्मोंसे न भ्रष्ट करनेवाले ज्योतिष्टोमादि कर्मोंको, (आ तस्थुः) सब प्रकारसे करते हैं, (पुत्रैः) जगत्‌की रक्षा करनेवाले, (महद्भिः) विद्वान् महात्मा पुरुषोंके साथ, (अदितिः) न खण्डन करनेयोग्य अर्थात् न नाश करनेयोग्य, (पृथिवी माता) पृथिवी माता, ([1]धायसे) सारे जगत्‌को धारण करनेके लिये, ([2]मह्ना) लोकसंग्राहक कर्मके महत्त्वसे, (वि तस्थे) विशेषतासे स्थित रहती है। हे जीवात्मन्! ([3]वेः) तू कर्मोंके फलोंको खानेवाला है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि जो कर्म मूर्ख लोग फलासक्तिसे करते हैं उन्हीं कर्मोंको ज्ञानी जन अनासक्त भावसे लोकशिक्षाके लिये करते हैं। वेदमें कहा गया है कि यह पृथिवी माता निष्काम कर्म करनेवाले महात्माओंको धारण करनेके लिए स्थिर है नहीं तो इसकी मर्यादा लुप्त हो जाती।

२६. न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

(विद्वान्) ज्ञानी पुरुष, (कर्मसङ्गिनाम्) कर्ममें आसक्त रहनेवाले, (अज्ञानाम्) अज्ञानियोंको, (बुद्धिभेदम्) बुद्धिभेद, (न जनयेत्) कभी न प्रगट करे, अर्थात् यदि ऐसे मूर्ख लोगोंको कर्मतत्त्व बतला दिया जायगा, अथवा उनकी बुद्धिका चालन कर दिया जायगा तो बड़ा अनर्थ होगा, क्योंकि वे ज्ञानयोगमें प्रवृत्ति कर नहीं सकते और कर्म करनेसे विचलित कर दिये गये तो वे बेचारे दोना ओरसे भ्रष्ट हो जायँगे। (विद्वान्) शास्त्रके तत्त्वको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष, (युक्तः) समाहितचित्त होकर, (सर्वकर्माणि) सब प्रकारके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको, (समाचरन्) भलीभाँति करता हुआ, (जोषयेत्) प्रीतिपूर्वक कर्मोंका सेवन करावे॥ २६॥

संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः॥
(ऋग्वेदः १-७२-५)

---

१. धायसे—'वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि' इति दधातेर्भावेऽसुन्। 'णित्' इत्यनुवृत्ते रातो युक् चिण्कृतोः इति युक्।

२. मह्ना—महिम्नेत्यस्य वर्णलोपश्छान्दसः।

३. वेः—'वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु'। लङि सिपि अदादित्वात् शपो लुक्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इत्यडभावः।

(संजानानाः) सकाम और निष्काम कर्म और उनके फलको भलीभाँति जानते हुए साधक, (उपसीदन्) समाहितमन होकर कर्मोंको करनेके लिए प्राप्त होते हैं। (पत्नीवन्तः) सपत्नीक कर्मयोगी, (नमस्यम्) नमस्कार-योग्य गार्हपत्यादि अग्नियोंको, (अभिज्ञु) चारों ओर झुककर, (नमस्यन्) नमस्कार करते, पूजते हैं। (सखा) सकाम कर्ममें आसक्त रहनेवालोंके निष्काम मित्र, (सख्युः) मूर्ख मित्रकी, (निमिषि) दृष्टिमें, (स्वाः तन्वः) कर्मफलवासनारहित होनेपर भी उस कर्मसङ्गीके लिये अपने शरीरोंको, (रक्षमाणाः) सुरक्षित रखते हुए और अनाहार व्रतोंसे अथवा दीक्षानियमसे, (रिरिक्वांसः) रिक्त करते हुए, कृश करते हुए, (कृण्वत) यज्ञ-यागादि कर्मोंको करते रहते हैं।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥

(अथर्ववेदः ३-२४-५)

(शतहस्त !) कर्म करनेके लिए सैकड़ों हाथ रखनेवाले हे मनुष्य ! (समाहर) नित्य-नैमित्तिक कर्म कर। (सहस्रहस्त !) कर्म करनेके लिए सहस्रों हाथ रखनेवाले हे मनुष्य ! (संकिर) तू भलीभाँति अपने नैमित्तिक कर्मोंको फैला, (च) और, (इह) इस संसारमें, (कृतस्य) अपने किये हुए, (कार्यस्य) कामकी, (स्फातिम्) वृद्धि, (समावह) कर।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कर्म करनेवाले पुरुषको कर्म करनेसे न फिसलावे, क्योंकि ज्ञानयोगमें अनधिकारी होनेसे और कर्मका परित्याग करनेसे वह दोनों ओरसे भ्रष्ट हो जायगा। इसलिए विद्वान् पुरुष सर्वदा समाहितचित्त होकर निष्काम कर्म करता-करवाता रहे। वेदमें पूर्णतया कर्म करनेकी शिक्षा दी गई है। शरीरको व्रतादिसे कृश करते हुए भी नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करता रहे। 'सौ हाथोंवाले होकर कर्म करो, सहस्रों हाथोंसे दान दो और अपने कर्तव्य कर्मकी उन्नति करते रहो' यह वेदका उपदेश है।

२७. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(प्रकृतेः) प्रकृतिके, (गुणैः) सात्त्विक, राजस, तामस, इन तीन गुणोंसे अर्थात् मायाके विकारोंसे, (सर्वशः) सब प्रकारके, (कर्माणि) लौकिक-वैदिक कर्म, (क्रियमाणानि) अपने आप सम्पादित होते रहते हैं। परन्तु,

(अहङ्कारविमूढात्मा) अहङ्कारसे मलिन अन्तःकरणवाला, (अहम्) मैं ही, (कर्ता) करनेवाला हूँ, (इति) ऐसा, (मन्यते) मानता है ॥ २७ ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥

(ऋग्वेदः १०-१२५-४)

(यः) जो जीव, (अन्नम्) अन्नादि भोज्य पदार्थको, (अत्ति) खाता है, (सः) वह जीव, (मया) भोक्तृशक्तिरूप पञ्चमहाभूत मुझ प्रकृतिद्वारा अन्नको, (अत्ति) खाता है। (यः) जो जीव, (विपश्यति) चक्षु द्वारा देखता है, (यः) और जो जीव, (प्राणिति) श्वास-उच्छ्वास आदि व्यापार करता है, (यः) जो, (ईम्) ऐसी, (उक्तम्) दूसरोंसे कही बातको, (शृणोति) सुनता है, वह जीव दृष्ट्यादिशक्तिरूप मुझ प्रकृतिसे और गुणोंसे दर्शन-श्रवण आदि कर्म करता है, न कि जीवात्मा इन व्यापारोंको करता है। जो जीव अन्तर्यामी रूपसे स्थिर, (माम्) मुझ आत्माको, (अमन्तवः) नहीं मानते, वे, (उपक्षियन्ति) नष्ट हो जाते हैं। (श्रुत !) मेरे उपदेशको सुननेवाले हे जीवात्मन् ! (श्रुधि) मुझसे कहे हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि विचारोंको भलीभाँति सुन, (श्रद्धिवम्) श्रद्धासे मिले हुए या श्रद्धापूर्वक यत्नोंसे पानेयोग्य कर्तृत्व-भोक्तृत्व-विवेचनात्मक वस्तुतत्त्वका, (ते) तुझे, (वदामि) उपदेश देता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि प्रकृतिके गुण शरीरमें अपने आप दर्शन-श्रवण आदि कर्म करते रहते हैं परन्तु प्रकृतिके गुणोंसे किये हुए कर्मोंको मूर्ख अपना किया हुआ समझता है। वेदमें भी देखना, सुनना, श्वासोच्छ्वास लेना आदि प्रकृतिसे किया हुआ माना गया है और बताया गया है कि जो ऐसा नहीं मानते वे नष्ट हो जाते हैं।

२८. तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

(महाबाहो !) हे विशाल भुजावाले वीर अर्जुन ! (गुणकर्मविभागयोः) गुण और कर्मोंके विभागोंके, (तत्त्ववित्) यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला पुरुष, (तु) तो, (गुणाः) तीनों गुण और उनके कार्य इन्द्रियादि, (गुणेषु) अपने-अपने विषयमें, (वर्तन्ते) वर्तमान रहते हैं, (इति) ऐसा, (मत्वा) जानकर, (न सज्जते) किसी प्रकारके कर्तृत्वाभिमानमें नहीं फँसता ॥ २८ ॥

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीतिर्विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः ।
यस्तुभ्यं दाशाद् यो वा ते शिक्षात्तस्मै चिकित्वान् रयिं दयस्व ॥

(ऋग्वेदः १-६८-३)

(विश्वे) सब चक्षुर्वागादि इन्द्रियाँ, (विश्वायुः) सारी आयु पर्यन्त, (अपांसि) बोलना-चालना, लेना-देना आदि कर्मोंको, (चक्रुः) करती हैं। (ऋतस्य) अविनाशी, सत्यस्वरूप आत्माकी, (प्रेषाः) भेजी हुई दूतीरूप प्रकृतिके गुणोंसे ये इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार करती हैं। (ऋतस्य) आत्माकी, (धीतिः) स्थापित की हुई प्रकृति है। (यः) जो अनात्मज्ञ मूढ पुरुष, (तुभ्यम्) तुझ जीवात्माको, (दाशात्) देखना-सुनना आदि व्यापारोंको देवे, (यः वा) या जो मूढ पुरुष, (ते) तुझपर कर्म करनेके दोषको, (शिक्षात्) शिक्षित करे, (तस्मै) दोनों प्रकारसे दूषित उस जीवको, (चिकित्वान्) उसके ज्ञान और कर्मानुष्ठानको जानता हुआ तू, (रयिम्) अनासक्तिरूप ज्ञानको, (दयस्व) दे।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि गुण और कर्मोंके विभागको जाननेवाला पुरुष समझता है कि गुण गुणोंमें प्रवृत्त होते हैं। अतः वह प्रकृतिके गुणोंमें आसक्त नहीं होता। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्माकी भेजी हुई प्रकृति और उसके गुण समग्र संसारमें अनन्त समयतक प्रवृत्त होते रहते हैं, इस आत्माका उन गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः तत्त्वज्ञ पुरुष या परमात्मासे निवेदन किया गया है कि इससे विपरीत कहने या शिक्षा देनेवालेको सीधी शिक्षाका उपदेश कर।

२९. प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

(प्रकृतेः) प्रकृतिके, (गुणसम्मूढाः) गुणोंसे अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस गुणोंसे उत्पन्न देहेन्द्रियादिके विकारोंसे मोहित चित्तवाले मूढ अविवेकी पुरुष, (गुणकर्मसु) देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणके कर्मोंमें, (सज्जन्ते) लगे रहते हैं अर्थात् उन कर्मोंमें आत्मबुद्धि करते हैं और ऐसा समझते हैं कि मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ। इसलिये, (कृत्स्नवित्) पूर्ण तत्त्वज्ञानी, (तान्) उन, (अकृत्स्नविदः) कर्मफलमात्रमें आसक्त रहनेवाले अज्ञानी, (मन्दान्) मन्दमति पुरुषोंको, (न विचालयेत्) कर्मनिष्ठासे चलायमान न करे॥ २९॥

संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु

(ऋग्वेदः १-७२-५)

इस मंत्रकी व्याख्या भगवद्गीता अध्याय ३, श्लो. २६ के नीचे देखें।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि प्रकृतिके गुणोंसे मोहित जो मनुष्य आसक्तिपूर्वक कार्य करते हैं उन्हें अनासक्त भावसे कर्म करनेवाले ज्ञानीजन विचलित न करें। वेदमें भी बताया गया है कि चित्तमें अनासक्ति-भाव उत्पन्न हो जानेपर भी कर्मका त्याग नहीं करना चाहिए।

३०. **मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।**
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥

(मयि) मुझ परमात्मा श्रीकृष्णमें, (अध्यात्मचेतसा) विवेककी बुद्धिसे, (सर्वाणि) सब, (कर्माणि) लौकिक और वैदिक कर्मोंको, (संन्यस्य) 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' या 'सर्वं ब्रह्मैव' इस बुद्धिसे अर्पण करके, (निराशीः) फलकी आशासे रहित होकर, (निर्ममः भूत्वा) पुत्र, पौत्र आदिकी ममतासे रहित होकर, (विगतज्वरः) ये भीष्म प्रभृति गुरु आदि मुझसे मारे जायँगे, इस शोकसे रहित होकर, (युद्धयस्व) युद्ध कर॥ ३०॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः॥

(अथर्ववेदः २-३४-२)

(देवाः !) हे ज्ञानी पुरुषो ! (भुवनस्य) उत्पन्न देहके और विश्वमात्रके, (रेतः) मूल बीजरूप या उसके फलको अथवा बीजरूप मूल प्रकृतिको, (प्रमुञ्चन्तः) मुझमें अर्पण-बुद्धिसे छोड़ते हुए, (यजमानाय) अग्निष्टोमादि यज्ञ करनेवाले पुरुषके लिये, (गातुम्) ज्ञानके मार्गको, (धत्त) धारण करो अर्थात् उन्हें ज्ञानमार्गका आश्रय दो। (यत्) जब वह कर्मयोगी पुरुष, (देवानाम्) इन्द्रियोंके, (प्रियम्) प्रिय, (पाथः) मार्गपर, (अस्थात्) दृढ रूपसे स्थिर हो जाय, तब वही पुरुष, (उपाकृतम्) अपने सम्मुख यथावसर साधनोंसे संस्कृत होकर, (शशमानम्) अस्त्र-शस्त्रादिसे कामना किये हुए सांसारिक युद्धमार्गको, (एतु) प्राप्त होवे अर्थात् निश्चिन्त होकर सांसारिक युद्ध करे।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य आध्यात्मिक बुद्धिसे भगवदर्पण कर्म करता रहे जिससे वह निरभिमानी होकर संसारयात्राका निर्वाह कर सकता

है। वेदमें भी यह उपदेश दिया गया है कि प्राकृतिक कर्मोंको भगवदर्पण करके सांसारिक संग्राममें प्रवृत्त हो जाओ।

३१. ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(ये) जो, (मानवाः) मनुष्य, (श्रद्धावन्तः) उपर्युक्त वचनोंमें श्रद्धा करते हुए, (अनसूयन्तः) और इनमें किसी प्रकारका दोष न निकालते हुए, (मे) मेरे, (इदम्) इस, (मतम्) मतका, (नित्यम्) सदा, (अनु-तिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं, (ते अपि) वे भी, (कर्मभिः) कर्मोंके बन्धनसे, (मुच्यन्ते) छूट जाते हैं॥ ३१॥

यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥

(ऋग्वेदः ९-६७-३१)

(यः) जो मनुष्य, (पावमानीः) पवित्र करनेवाले, (ऋषिभिः) ब्रह्मज्ञानी यतियोंसे, (संभृतम्) पालन किए हुए या सम्पादित किये हुए, (रसम्) उपदेश-रसको, (अध्येति) नित्य पढ़ता है अथवा उसका अनुष्ठान करता है, (सः) वह साधक, (सर्वम्) सब प्रकारसे, (मातरिश्वना) आकाशवत् सर्वत्र व्याप्त परमात्मासे, (स्वदितम्) स्वादु अर्थात् श्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट, (पूतम्) पवित्र करनेवाले मोक्षको, (अश्नाति) प्राप्त करता है।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें कर्मयोगसे ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानप्राप्ति-से मुक्तिकी प्राप्ति बताई गई है।

३२. ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥

३३. सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(ये) जो मनुष्य, (तु) तो, (अभ्यसूयन्तः) नाना प्रकारके दोषोंका आरोपण करते हुए, (एतत्) इस, (मे) मेरे, (मतम्) मतका, (न अनु-तिष्ठन्ति) पालन नहीं करते, (तान्) उनको, (अचेतसः) ज्ञानहीन, दुष्टचित्त, (सर्वज्ञानविमूढान्) सब प्रकारके ज्ञानसे मूढ, और, (नष्टान्) सब प्रकारके पुरुषार्थसे नष्ट हुआ, (विद्धि) जान॥ ३२॥

(ज्ञानवान्) तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानीजन, (अपि) भी, (स्वस्याः) अपनी, (प्रकृतेः) प्रकृतिके, (सदृशम्) अनुसार, (चेष्टते) चेष्टा करता है, अर्थात् अपने स्वभावानुसार ही कर्मोंमें व्यवहार करता है। इसी प्रकार, (भूतानि) संसारके सब प्राणी ज्ञानी हों या मूर्ख, मनुष्य हों या पशु, सबके सब, (प्रकृतिम्) इच्छाके बिना भी बलात्कारसे अपनी-अपनी प्रकृतिमें, (यान्ति) प्रवेश करते हैं, अर्थात् अपने-अपने स्वभावानुसार ही आचरण करते हैं, वहाँ किसी प्रकारकी, (निग्रहः) रुकावट, (किम्) क्या, (करिष्यति) करेगी ? ॥ ३३ ॥

आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा ।

(अथर्ववेदः १-३२-२)

(अस्य) चारों ओर दृष्टिगोचर अर्थात् प्रतीत होनेवाले, (भूतस्य) संसारके प्राकृत पदार्थमात्रके, (आस्थानम्) आश्रयस्वरूप मूल-प्रकृतिको, (तत्) वे सब, (वेधसः) ज्ञानी लोग, (विदुः) जानते हैं, (न वा) या नहीं, अर्थात् कई पुरुष ज्ञानी होते हुए भी इन्द्रियोंका निग्रह नहीं कर सकते ।

तुलना—गीतामें प्रकृतिको ही प्रबल माना गया है क्योंकि ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही संसारयात्रा करता है, प्रकृति उस आत्माको अपनी ओर बलात् खींच लेती है। वेदमें भी यही बताया गया है कि भूतमात्रके आश्रयभूत प्रकृतिको सब ज्ञानी भी एक-सा नहीं जानते क्योंकि इन्द्रिय-निग्रह अत्यन्त कठिन होता है ।

३४. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे) प्रत्येक इन्द्रियके अपने-अपने विषयमें, (रागद्वेषौ) राग और द्वेष, (व्यवस्थितौ) व्यवस्थित रहते हैं, इसलिये जब जिस इन्द्रियको अपना विषय मिल जाता है तब वह अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने विषयकी ओर दौड़ती है। इसलिये साधक, (तयोः) इन राग और द्वेष दोनोंके, (वशम्) वशमें, (न आगच्छेत्) न पड़े, (हि) क्योंकि, (तौ) ये राग-द्वेष दोनों, (अस्य) इस प्राणीके, (परिपन्थिनौ) विरोधी हैं, क्योंकि ये स्वाभाविक कर्तृत्वाभिमानमें फँसाकर मार डालते हैं ॥ ३४ ॥

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति ।
अप स्म तं पथो जहि ॥

(ऋग्वेदः १-४२-२)

([1]पूषन्) हे देहपोषक जीवात्मन् ! (यः) जो प्रतिपक्षी राग या द्वेष, (नः) सन्मार्गमें प्रवृत्त होनेवाले हमें, (आदिदेशति) चारों ओर अपने मार्ग-से चलनेके लिये आज्ञा देता है, (अघः) वह राग-द्वेष पापस्वरूप है, अतएव, ([2]वृकः) आत्मसत्त्वका हरनेवाला तस्कररूप है, और, ([3]दुःशेवः) जिसका सुख दुःखके ही बराबर होता है अथवा महा कष्ट देनेवाला है। इसलिये, (तम्) उस प्रतिपक्षी पापी राग-द्वेषको, (पथः) अपने मार्गसे अर्थात् अपने सामनेसे, (अप जहि स्म) अवश्यमेव नाश कर, जिससे तू मुक्त हो जाय।

अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्।
दूरमधि स्रुतेरज ॥

(ऋग्वेदः १-४२-३)

हे जीवात्मन् ! (त्यम्) तू, ([4]मुषीवाणम्) सन्मार्गसे हटाकर दूर ले जानेवाले चोर, ([5]परिपन्थिनम्) डाकू, दुर्जन, ([6]हुरश्चितम्) कुटिलतासे चलनेवाले या कुटिल स्वभाववाले राग-द्वेषको, (स्रुतेः) अपने आत्मज्ञानके, प्रेमके मार्गसे अर्थात् अपने ज्ञानात्मक मार्गसे, (अधि दूरम्) अत्यन्त दूर ही, (अप अज) कर दे।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषयकी ओर दौड़ती है। यही इन्द्रियोंके राग-द्वेष आत्मज्ञानी पुरुषके लिये डाकू हैं। उन डाकुओंके वशमें न जाय, नहीं तो यह प्राणी नष्ट हो जायगा। वेदमें भी जीव-को उपदेश दिया गया है कि राग-द्वेषरूपी डाकू, पापी, चोर, दुःख देनेवाली वस्तुको अपने सामनेसे हटा देनेपर ही जीवात्माका कल्याण होता है।

---

१. पूषा पोषयत्। (तै. ब्रा. ६-२-२-२)
२. वृकः—वर्कते इति वृकः, तस्करः।
३. दुःशेवः—दुष्टं शेवं यस्यासौ। दुःखेन सेव्यते इति वा, सेवितुं दुःशकः दुष्टसुखो वा।
४. मुषीवाणम्—मुषीवेति तस्करनाम, मुषीवान् मलिम्लुच इति तन्नामसु पाठात्।
५. परिपन्थिनम्—'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि' (पा. ५-२-८९) इति शत्रावभिधेय इनिप्रत्ययान्तो निपातितः।
६. हुरश्चितम्—हुरश्चिनोति इति हुरश्चित्—'हुर्च्छा कौटिल्ये'।

३५. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

हे अर्जुन! (स्वनुष्ठितात्) भलीभाँति विधिपूर्वक आचरण किये हुए, (परधर्मात्) दूसरे वर्णके धर्मसे, (विगुणः) गुणसे रहित, (स्वधर्मः) अपने वर्ण और अपने आश्रमका धर्म, (श्रेयान्) श्रेष्ठ है। इसलिये, (स्वधर्मे) अपने धर्ममें, (निधनम्) मर जाना भी, (श्रेयः) कल्याणकारक है, क्योंकि, (परधर्मः) पराया धर्म अर्थात् दूसरे वर्णका धर्म, (भयावहः) अनेक प्रकारसे भय देनेवाला होता है॥ ३५॥

वृषा जजान वृषणं रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव।
प्र यः सेनानीरध नृभ्यो अस्तीनः सत्वा गवेषणः स धृष्णुः॥
(ऋग्वेदः ७-२०-५)

(वृषा) जगत्के सिञ्चन करनेवाले या प्राणिमात्रपर अपनी दयादृष्टिकी वर्षा करनेवाले परमपिता परमात्माने, (वृषणम्) जगत्में अपनी दयादृष्टिसे सिञ्चित किये हुए और संसारमें आकर लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणादिसे युक्त विचारोंकी वर्षा करनेवाले जीवात्माको, (रणाय) लोकयात्रारूपी युद्धके लिये, (जजान) उत्पन्न किया, अर्थात् जीवात्मा अपने-अपने धर्ममें स्थित होकर जीवनयात्राको करें, न कि दूसरे वर्णके धर्मको करें। इसलिये परमात्माने, (तम् उ) उसके लिये, (नर्यम्) मनुष्योंके हित करनेवाले पदार्थोंको, और, (नारीः) कर्मफल देनेवाली नर-शक्तियोंको, (ससूव) उत्पन्न किया, (अध) और, (यः) जो पुरुष, (नृभ्यः—विभक्तिव्यत्ययः) मनुष्योंके, (सेनानीः) वर्णधर्मके अनुकूल कर्मरूपी सेनाओंको चलाता हुआ, (प्र अस्ति) प्रकर्षतासे संसारमें वास करता है या स्थिर रहता है, (सः) वह, (धृष्णुः) अपने धर्ममें कठिनताको धारण करनेवाला अथवा दूसरेके धर्मको दूर दबानेवाला, (गवेषणः) इन्द्रियोंके धर्मोंको या अपने वर्ण-धर्मानुसार परमात्माको ढूंढ़नेवाला, (सत्वा) दूसरे वर्ण-धर्ममें प्रवृत्त करनेवाले लोभ-मोहादि शत्रुओंका नाश करनेवाला, और, (इनः) अपनी इच्छाओंका स्वामी होकर मुक्तिधामका भागी बनता है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि अपने-अपने वर्णानुसार धर्म करना ही श्रेष्ठ है। दूसरे वर्णका धर्म कितना ही सुख देनेवाला क्यों न हो, वह भयकारी होता है। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्माने जीवको संसाररूपी युद्धक्षेत्रके लिये उत्पन्न किया है जहाँ वह अपने-अपने वर्णानुसार धर्म करनेसे ही मुक्ति पाता है।

अर्जुन उवाच—

३६. अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

श्रीभगवानुवाच—

३७. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

अर्जुनने कहा—(वार्ष्णेय !) वृष्णिवंशमें अवतार लेनेवाले हे श्रीकृष्ण ! (अथ) अब यह बताइये कि, (अयम्) यह, (पूरुषः) मनुष्य, (अनिच्छन्नपि) इच्छा न करता हुआ भी, (बलात्) बलपूर्वक, (नियोजितः इव) आज्ञा पाये हुएके समान, (केन) किससे, (प्रयुक्तः) प्रेरित किया हुआ, (पापम्) पापको, (चरति) करता है ? ॥ ३६ ॥

अर्जुनकी इस बातको सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन ! (रजोगुणसमुद्भवः) रजोगुणसे उत्पन्न हुआ, (एषः) यह, (कामः) काम, (एषः) यह, (क्रोधः) क्रोध, (महाशनः) बहुत खानेवाला अर्थात् सम्पूर्ण संसारको ग्रास कर जानेवाला, और, (महापाप्मा) महापापी अर्थात् अत्यन्त दुःखदायी है। तू, (इह) इस संसारमें अथवा इस मोक्षरूप मार्गमें, (एनम्) इस काम और इस क्रोधको, (वैरिणम्) शत्रु, (विद्धि) जान ॥ ३७ ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः॥

(अथर्ववेदः ७-१००-१)

(अस्य) इस जीवात्माके, (विथुरौ) पीड़ा बढ़ानेवाले, (श्यावौ) श्यामवर्ण या कालरूप, (गृध्रौ) तथा सांसारिक पदार्थोंमें लोभ और मोह करानेवाले काम और क्रोध, (गृध्रौ द्याम् इव) आकाशमें उड़नेवाले गिद्ध पक्षियोंकी भाँति हृदयाकाशको, (उत्पेततुः) उछलकर प्राप्त होते हैं, (उच्छोचनप्रशोचनौ) ये शोक और चिन्तासे देहको सुखानेवाले, तथा, (अस्य) इस जीवात्माके, (हृदः) हृदयको भी, (उच्छोचनौ) शोकसे सुखानेवाले हैं।

तुलना—गीतामें रजोगुणसे उत्पन्न काम-क्रोधको महापापी और महाशत्रु कहा गया है। वेदमें भी कहा गया है कि काम और क्रोध मनुष्यके अन्तःकरणको सुखानेवाले, पीड़ा और कष्ट देनेवाले हैं। ये गीधके समान मनुष्यके अन्तःकरणपर आक्रमण करते हैं अतः इन्हें शत्रु समझकर बन्धनमें रखना चाहिये।

३८. धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

(यथा) जैसे, (धूमेन) धूएँसे, (वह्निः) अग्नि, (आव्रियते) घिरी हुई रहती है, जैसे, (आदर्शः) दर्पण, (मलेन) धूल और मिट्टीसे आच्छादित रहता है, (च) और, (यथा) जैसे, (गर्भः) माताके गर्भमें प्राणीका शरीर, (उल्बेन) गर्भको लपेटनेवाले चर्मकी झिल्लीसे, (आवृतः) लिपटा रहता है, (तथा) वैसे ही, (इदम्) यह जीवात्माका ज्ञान, (तेन) उस पूर्व-कथित कामसे, (आवृतम्) घिरा रहता है ॥ ३८ ॥

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति ।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥
(अथर्ववेदः ९-२-२)

हे परमात्मन् ! (यत्) जो काम, (मे) मुझ मुमुक्षुके, (मनसः) मनको, (प्रियं न) प्रिय नहीं है, (यत्) जो काम, (मे) मेरे, (चक्षुषः) नेत्रको और उसके विषयको, (प्रियं न) प्रिय नहीं है, (यत्) जिस कारणसे यह काम, (मे) मेरा, (बभस्ति) तिरस्कार करता है, और कोई भी कामी और क्रोधी पुरुषकी, (नाभिनन्दति) स्तुति नहीं करता, और न ही कामी पुरुषका कोई सत्कार करता है, इसलिये हे परमात्मन् ! (तत्) उस कामसे उत्पन्न हुए, (दुष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नको और उसके फलको, (सपत्ने) अपने शत्रु काममें, (प्रति मुञ्चामि) परित्याग करता हूँ अर्थात् भेजता हूँ। इसलिये, (अहम्) मैं मुमुक्षु जीवात्मा, (कामम्) कामकी, (स्तुत्वा) स्तुति करके अर्थात् कामके वास्तविक स्वरूपको जानकर, (उत् भिदेयम्) अपने आपको इस संसारसे और इस कामसे छुड़ाकर ऊपर उठता हूँ अर्थात् मुक्तिमार्गकी ओर जाता हूँ।

तुलना—गीतामें शुद्धस्वरूप जीवकी मलिनता कामके कारण ही बताई गई है। जैसे प्रकाशक अग्नि धूमके कारण प्रकाशसे हीन प्रतीत होता है, जैसे मैल आ जानेपर शीशेमें प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता, जैसे गर्भ पर्देसे लिपटा रहता है, वैसे ही यह जीवात्मा कामके कारण मलिन प्रतीत होता है। वेदमें भी कहा गया है कि काम न मनको प्रिय लगता है, न नेत्रको। कामी पुरुषका सब तिरस्कार करते हैं, कोई उसकी स्तुति नहीं करता। ऐसे कामके परित्यागसे ही संसारसे मुक्ति होती है।

३९. आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन! (ज्ञानिनः) ज्ञानी पुरुषका, (ज्ञानम्) आत्मतत्त्वज्ञान, (नित्यवैरिणा) नित्यके शत्रु, (च) और, (दुष्पूरेण) कभी सन्तुष्ट न होनेवाले, (एतेन) इस, (कामरूपेण) काम-रूप, (अनलेन) अग्निसे, (आवृतम्) घिरा हुआ है अर्थात् ज्ञानियोंका ज्ञान कामरूप अग्निके बीच पड़ा हुआ जल रहा है॥ ३९॥

**कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम
नम इत्कृणोमि॥**

(अथर्ववेदः ९-२-१९)

(कामः) काम अर्थात् आकांक्षा, (प्रथमः) सृष्टिमें सबसे पहले संसार-यात्रा चलानेके लिये, (जज्ञे) उत्पन्न हुआ, (देवाः) देवताओंने, (एनम्) इस कामको, (न आपुः) प्राप्त न किया अर्थात् इसको न अपनाया, (न पितरः) पितरोंने इस कामको न अपनाया, (न मर्त्याः) श्रेष्ठ मनुष्योंने भी इसे न अपनाया। इसलिये देवताओंका देवत्व, पितरोंका पितृत्व और मनुष्योंका मनुष्यत्व बना रहा, नहीं तो इसके अपनानेसे ये सब अपनी-अपनी पदवीसे गिर जाते। (ततः) इसलिए हे काम! (त्वम्) तू, (ज्यायान्) काम-क्रोधादियोंमें बड़ा, (असि) है। तू, (महान्) सबसे बड़ा, (विश्वहा) प्राणिमात्रका या जगत्का नाशक है, (काम !) हे काम ! तुझसे बचनेकी इच्छा करता हुआ मैं, (तस्मै ते) ऐसे तुझको, (इत्) ही, (नमः) नमस्कार, (कृणोमि) करता हूँ, तुझे दूरसे ही मेरा नमस्कार, मैं तुझे देखना भी नहीं चाहता।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

**य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य
तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच।**

(बृ. उ. ३-९-११)

याज्ञवल्क्यजी शाकल्यमुनिसे कहते हैं—हे शाकल्य! यह जो काम-संबन्धी पुरुष है वही यह सबका आत्मा है। अब तुमने प्रश्न किया कि यह जो काममय पुरुष है उसका देदता कौन है ? सो निश्चय करके जानो कि इस काममय पुरुषका देवता स्त्री है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि नित्य शत्रु कामसे ज्ञानियोंका ज्ञान ढका रहता है। अतः ज्ञानी होते हुए भी उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। वेदमें भी कहा गया है कि काम सब दोषोंसे बड़ा दोष है और यह कामही सारे संसारका नाशक है अतः ज्ञानी पुरुषोंको चाहिए कि वे इसे दूरसे नमस्कार करें, इसका मुख भी न देखें।

४०. इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

(इन्द्रियाणि) वाक्, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, त्वक्, ये इन्द्रियाँ, (मनः) मन, (बुद्धिः) और सब तत्त्वोंको समझनेवाली बुद्धि, ये, (अस्य) इस कामका, (अधिष्ठानम्) निवासस्थान, (उच्यते) कहे जाते हैं। (एषः) यह काम, (एतैः) इनसे अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे, (ज्ञानम्) ज्ञानको, (आवृत्य) आच्छादित करके, (देहिनम्) देहधारी जीवात्माको, (विमोहयति) विशेषतासे मोह लेता है अर्थात् मोहमें डालकर उसके ज्ञानको नष्ट कर देता है ॥ ४० ॥

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥

(अथर्ववेदः ३-२-२)

हे मुमुक्षु जीवात्माओ ! (वः) तुम्हारे, (हृदि) मन अथवा बुद्धिमें, (यानि) जो, (चित्तानि) रूपादि विषयोंका बोध करानेवाली इन्द्रियाँ हैं, (अग्निः) प्रचण्ड तेजवाला, (अयम्) यह काम, (अमूमुहत्) इनके द्वारा जीवात्माको विशेष करके मोह लेता है, क्योंकि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि कामके वासस्थान हैं। इसलिये वह काम, (वः) तुम देहधारियोंको, (ओकसः) ब्रह्मतत्त्वके विचाररूपी निवास-स्थानसे, (वि धमतु) विशेषतासे दूर करता है, और, (सर्वतः) चारों ओर सब ज्ञानसे, (वः) तुम जीवोंको, (प्र धमतु) प्रकर्षतासे दूर करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कामके निवास-स्थान इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं। इनके द्वारा यह काम जीवात्माके ज्ञानको आवृत रखता है जिससे जीव मोहित रहता है। वेदमें भी बताया गया है कि यह काम अग्निके समान दाहक है। यह जीवकी चेतनसत्ता और मन-बुद्धिको मोहित कर लेता है जिससे मनुष्य ज्ञानसे दूर रहता है।

४१. तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहीह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

(भरतर्षभ !) हे अर्जुन ! क्योंकि काम तेरा शत्रु है, (तस्मात्) इसलिये, (त्वम्) तू, (आदौ) आरम्भमें ही, (इन्द्रियाणि) चक्षु आदि इन्द्रियों और उनके विषयोंको, (नियम्य) वशीभूत करके, (ज्ञानविज्ञान-नाशनम्) ज्ञान अर्थात् वस्तुओंके तत्त्वके बोध और विज्ञान अर्थात् वस्तुतः मैं कौन हूँ इत्यादि अनुभव-ज्ञानके नाशक, (पाप्मानम्) सब प्रकारके पापोंके मूलरूप, (एनम्) इस कामरूप शत्रुको, (हि) निश्चय से, (प्रजहीहि) त्याग दे ॥ ४१ ॥

अप हत रक्षसो भङ्गुरावतः स्कभायत निर्ऋतिं सेधतामतिम् ।
आ नो रयिं सर्ववीरं सुनोतन देवाव्यं भरत श्लोकमद्रयः ॥

(ऋग्वेदः १०-७६-४)

(अद्रयः !) न नाश होनेवाले हे जीवात्माओ ! तुम सब, (भङ्गुरावतः) टेढ़ी चाल चलनेवाले, या दुष्ट कर्मोंके करनेवाले, या तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके विरोधी, (रक्षसः) राक्षसस्वरूप पापी काम-क्रोधादि शत्रुओंको, (अप हत) नष्ट करो, और, (निर्ऋतिम्) काम-क्रोधात्मक पापको, (स्कभायत) दूरसे ही छोड़ो अर्थात् उन्हें किसी कारागारमें बन्द कर दो । (अमतिम्) काममें प्रवेश करनेवाली खोटी बुद्धिको, (सेधत) अपने वशमें सिद्ध करो अर्थात् वशमें करो । (नः) हमारे लिये भी, (सर्ववीरम्) सब श्रेष्ठ पुरुषोंसे वरनेयोग्य, (रयिम्) कामके त्यागात्मक ज्ञान-धनको, (आ सुनोतन) चारों ओर अर्थात् सब प्रकारसे सींच दो, और, (देवाव्यम्) परमात्माको प्रसन्न करनेवाली, (श्लोकम्) स्तुतिका, (भरत) सम्पादन करो, जिससे तुम भी मुक्त पदवी पा लो ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि इन्द्रियोंको अपने वशमें करके पापी और ज्ञान-विज्ञानके द्वेषी कामका त्याग करना चाहिये । वेदमें भी टेढ़ी चाल चलने और चलानेवाले, राक्षसस्वरूप तथा खोटी बुद्धि उत्पन्न करनेवाले काम और क्रोधके परित्यागका उपदेश देते हुए ज्ञानकी प्राप्तिमें बल दिया गया है और काम-क्रोधके परित्यागके पश्चात् परमात्माकी स्तुति करनेकी आज्ञा दी गई है ।

४२. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

हे अर्जुन ! (इन्द्रियाणि) पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रियोंको, स्थूल देहसे, (पराणि) भिन्न अथवा श्रेष्ठ, (आहुः) कहा है, और, (इन्द्रियेभ्यः) इन इन्द्रियोंसे, (मनः) सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनको, (परम्) श्रेष्ठ कहा है। (मनसः तु) मनसे भी, (बुद्धिः) निश्चयात्मिका वृत्ति, (परा) श्रेष्ठ कही गई है। (यः) जो, (बुद्धेः) बुद्धिसे, (तु) भी, (परतः) परे स्थित है, (सः) वही आत्मा है ॥ ४२ ॥

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥

(ऋग्वेदः १०-८२-५)

(यत्) जो आत्मा, (एना) इस, (पृथिव्याः) स्थूल-देहसे, (परः) भिन्न और श्रेष्ठ है, और, (देवेभिः) चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भी, (परः) भिन्न और श्रेष्ठ है, (असुरैः) प्राण-अपानादि वायु तथा पञ्चतन्मात्राओंसे भी, (परः) भिन्न और सूक्ष्म, (अस्ति) है, जो आत्मा, (दिवा) सर्वत्र प्रकाशमय विद्युत् आदि सूक्ष्म अग्नियोंसे भी, (परः) अत्युत्कृष्ट और भिन्न है अर्थात् जो आत्मा सब पदार्थोंसे भिन्न, सूक्ष्म और श्रेष्ठ है, (आपः) प्राणोंने अथवा जलोंने फिर, (कंस्वित्) किसे, (गर्भम्) गर्भकी भाँति अर्थात् मध्यकेन्द्रकी भाँति सबके ग्राहक तत्त्वको, (प्रथमम्) पहले पहल, (दध्रे) धारण किया ? सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए, (विश्वे देवाः) सब ज्ञानी लोग, (यत्र) मध्यमें प्राप्त जिस आत्मतत्त्वमें, (सम् अपश्यन्त) आपसमें भलीभाँति मिलकर देखते हैं।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

(ऋग्वेदः १-१६४-१५)

(साकंजानाम्) स्थूल देहमें एक साथ उत्पन्न हुएमें-से, (सप्तथम्) सातवें आत्माको, (एकजम्) अकेले जन्मा हुआ, (आहुः) कहते हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ पाँच, छठा मन, सातवाँ आत्मा, ये सातों स्थूलमें साथ-साथ आए, परन्तु इनमें केवल आत्माको ही नित्य बताया गया है। (षट् इत्) पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन, ये ही, (यमाः) आपसमें जुड़े हुए हैं। (देवजाः) इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए पाँच विषय रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, और छठा संकल्प, (ऋषयः इति) संसारमें गति करनेवाले हैं। (तेषाम्) उन छह इन्द्रियोंके, (धामशः) स्थान-

स्थानके अनुसार, (इष्टानि) प्रिय और अभीष्ट, (विहितानि) स्थापित किये हुए हैं, जो, (स्थात्रे) सर्वदा स्थिर रहनेवाले नित्य आत्माके लिये, (रूपशः) यथाक्रम अपने-अपने रूपके अनुसार, (विकृतानि) विकृत हुए, (रेजन्ते) सामने विषयोंकी झलक दिखाते हैं अर्थात् जीवको संसारमें फँसानेके लिये फिर-फिर आते हैं ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा ॥

(कठ उ. २-६-७)

इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे सत्त्व (बुद्धि) और सत्त्वसे परे महान् आत्मा है ।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

(कठ उ. १-३-१०)

इन्द्रियोंसे परे अर्थ (सूक्ष्म तन्मात्राएँ) हैं, अर्थोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है तथा बुद्धिसे परे महान् आत्मा है ।

तुलना—गीतामें स्थूल देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्माको उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताया गया है । वेद और उपनिषदोंमें भी कहा गया है कि यह आत्मा स्थूल देह, इन्द्रियाँ, प्राण-अपान आदि वायु, तन्मात्राएँ, विद्युत् आदि सूक्ष्म अग्नि, इन सबसे श्रेष्ठ या भिन्न है तथा इन्द्रिय आदि सबके साथ उत्पन्न होनेपर भी आत्माको ही सबमें श्रेष्ठ तथा नित्य माना जाता है ।

४३. **एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।**
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

(महाबाहो !) हे अर्जुन ! तू, (एवम्) इस प्रकार, (बुद्धेः परम्) बुद्धिसे भिन्न और श्रेष्ठ, (आत्मानम्) आत्माको, (बुद्ध्वा) जानकर, (आत्मना) अपने शुद्ध और निर्मल आत्मासे, (संस्तभ्य) योगसमाधि लगाकर अर्थात् समाधिकी सिद्धिकी अवस्थामें स्थिर होकर आत्मपरिचयका लाभ

करता हुआ, (दुरासदम्) अत्यन्त दुःखसे प्राप्त होनेयोग्य अर्थात् दुःखसे जीतनेयोग्य, (कामरूपम्) इस कामरूप, (शत्रुम्) शत्रुको, (जहि) नाश कर, अर्थात् आत्मज्ञानसे कामको जीत ले ॥ ४३ ॥

एतानि सोम पवमानो अस्मयुः सत्यानि कृण्वन्द्रविणान्यर्षसि ।
जहि शत्रुमन्तिके दूरके च य उर्वीं गव्यूतिमभयं च नस्कृधि ॥

(ऋग्वेदः ९-७८-५)

(सोम !) हे शान्तस्वरूप मुमुक्षु जीवात्मन् ! तू, (एतानि) 'गोजिन्नः सोमो रथजिद्धिरण्यजित्स्वर्जिदब्जित्पवते' इस पूर्वमन्त्र (ऋ. ९-७८-४) में कहे हुए इन्द्रिय, देह, मन इत्यादि इन, (द्रविणानि) पदार्थोंको, (सत्यानि) ['ब्रह्मैवेदं सर्वं न तद्भिन्नं किञ्चिदपि'] आत्ममय सत्यस्वरूप, (कृण्वन्) करता हुआ, अर्थात् जानता हुआ, इसलिये, (पवमानः) पवित्र होता हुआ, (अस्मयुः) 'यह मेरा आत्मा ही परमतत्त्व है' ऐसे अपने आत्मपरिचयको ढूँढ़ता हुआ, (अर्षसि) आत्मपदको प्राप्त होता है। इसलिये जो कामरूप शत्रु, (दूरके) तुझे दूर प्रतीत होता है, अथवा, (अन्तिके) निकट प्रतीत होता है, (शत्रुम्) उस शत्रुको, (जहि) विनष्ट कर। हे परमात्मन् अथवा मुमुक्षु जीवात्मन् ! इसलिये, (नः) आत्मतत्त्वके ढूँढ़नेवाले हमारे, (उर्वीम्) विस्तृत, (गव्यूतिम्) गोलोकधामस्वरूप मुक्तिमार्गको, (अभयम्) भयरहित अर्थात् संसारमें पुनरागमनके भयसे शून्य, (कृधि) कर, क्योंकि कामके परित्यागसे मुक्तिमार्गकी प्राप्ति स्पष्टतया प्रतीत होती है।

उपनिषद्में कहा गया है—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य
प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।

(केन उ. १-२)

यह आत्मा श्रोत्रका भी श्रोत्र है, मनका भी मन है, वाणीकी भी वाणी है, प्राणका प्राण है और चक्षुका चक्षु है, क्योंकि ये श्रोत्रादि इन्द्रियाँ स्वयं कुछ नहीं कर सकतीं। जबतक देहमें आत्माका वास रहता है तबतक ये चेष्टा कर सकती हैं, अन्यथा ये शरीर शव हैं। इस प्रकार श्रोत्रादिके कारणकलापको छोड़कर अर्थात् ऐसा समझकर कि इन श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें कोई शक्ति अपनी नहीं है, जो कुछ है, केवल आत्मा ही आत्मा है, इस लोकसे मरकर अर्थात्

लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणाका परित्याग कर अमर हो जाते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥
(कठ उ. २-६-८)

अव्यक्तसे परे सर्वव्यापक, लिङ्गसे रहित परमपुरुष है, जिसे जानकर मनुष्य संसारके बन्धनसे छूट जाता है और अमरपद अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ उ. २-६-१४)

इस पुरुषके हृदय अर्थात् मनमें रहनेवाली जो-जो कामनायें हैं वे जब सारी-की सारी छूट जाती हैं तो फिर यह मनुष्य अमृत हो जाता अर्थात् मुक्त हो जाता है और ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

तुलना—गीतामें पूर्वोक्त दोनों श्लोकोंमें स्थूल देहसे श्रेष्ठ इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ मन, मनसे श्रेष्ठ बुद्धि और बुद्धिसे श्रेष्ठ आत्मा बताई गई है। उस श्रेष्ठ आत्मासे कामरूप शत्रुके नाशपूर्वक अमृतपदकी प्राप्ति बताई गई है। वेदमें भी कहा गया है कि देहकी उत्पत्तिके साथ ही आत्मा प्रकट हुआ। इन्द्रियाँ अन्तःकरण-सहित विनश्वर हैं, आत्मा स्थिर अर्थात् नित्य है। ये इन्द्रियाँ और विषय इस जीवात्माको संसारमें फँसानेके लिये अपने-अपने रूपका प्रकाश करते हैं। परन्तु यह आत्मा कामरूप शत्रुका नाश करके आत्मचिन्तन करता हुआ मुक्तिधामको प्राप्त कर लेता है।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका
द्वितीय अध्याय समाप्त।

चतुर्थ अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

१. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

२. एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन! (अहम्) मैंने, (इमम्) इस, (अव्ययम्) सदा एकरस वर्तमान रहनेवाले अनादि, (योगम्) कर्मयोग और ज्ञानयोगको, सृष्टिके आदिमें, (विवस्वते) सारे क्षत्रियवंशके बीजरूप विवस्वत् राजाको, (प्रोक्तवान्) बड़े अच्छे प्रकारसे कहा था। फिर उसे, (विवस्वान्) विवस्वान् अर्थात् आदित्यने, (मनवे) अपने पुत्र मनुको, (प्राह) बताया, फिर, (मनुः) राजा मनुने, (इक्ष्वाकवे) अपने पुत्र इक्ष्वाकुको, (अब्रवीत्) कहा। (परन्तप!) हे शत्रुओंके नाश करनेवाले अर्जुन! (एवम्) इस प्रकार, (परम्पराप्राप्तम्) सृष्टिके आदिमें आदित्यसे लेकर द्वापरतक वंशपरम्परागत प्रणालीसे प्राप्त, (इमम्) इस कर्मयोगको, (राजर्षयः) जनक, अजातशत्रु, कैकय आदि राजर्षिगण तथा सनकादि ऋषियोंने, (विदुः) जाना। इस प्रकार चलते-चलते, (सः योगः) वह योग, (इह) इस जगत्में, (महता) बहुत, (कालेन) दिनोंसे, (नष्टः) नष्ट हो गया है॥ १-२॥

अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित्।
तं मा व्यन्त्याध्यो वृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी॥

(ऋग्वेदः १-१०५-७)

हे जीवात्माओ! (पुरा) सृष्टिके आदिमें, (सुते) तुम्हें कर्ममार्गपर अभिषिञ्चित करनेके लिये अथवा तुम्हारे ज्ञानयोगको परिपक्व करनेके लिये, (कानि चित्) कई कर्मयोग तथा ज्ञानयोगके प्रकार, (यः) जिस, (अहम्) मैंने अर्थात् परमात्माने, (वदामि) कहे हैं, (सः अस्मि) अब भी मैं वही हूँ। (तम्) उस कर्मयोग और ज्ञानयोगको, (आध्यः) विना-

शात्मक दुःख, (व्यन्ति) प्राप्त हो गये । (वृको न तृष्णजं मृगम्) जैसे पानी-की ओर जाते हुए प्यासे मृगको भेड़िया मार्गमें ही भक्षण कर जाता है ऐसे सृष्टिके आदिमें मुझसे उपदेश किया हुआ कर्मयोग और ज्ञानयोग कालरूपी भेड़ियेसे नष्ट कर दिए गए । (रोदसी) हे पृथिवी और आकाशमें वास करने-वाले जीवात्माओ ! (मे) मुझ, (अस्य) इस परमात्माके, (वित्तम्) वचनको जानो अर्थात् इस उपदेशको मुझ परमात्मासे कहा हुआ जानो ।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि सृष्टिके आदि कालसे विवस्वान् मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओं तथा ऋषियों द्वारा परम्परासे जाना जाता हुआ यह कर्मयोग द्वापरके आदिमें लुप्त हो गया, वही पुनः कहा गया है । वेदमें भी परमात्मा उपदेश देता है कि इस सृष्टिके आदि समयमें मैंने कई मार्ग कर्मयोग और ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होनेके लिये कहे थे किन्तु समयरूपी भेड़ियेसे वे मध्यमें खा लिये जाते हैं अतः मुझे रूपान्तरमें वही योग पुनः कहना और समझाना पड़ता है ।

३.　　स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

हे अर्जुन ! तू, (मे) मेरा, (भक्तः) शरणागत सेवक, (असि) है, (च) और, (सखा) मित्र, (च) भी, (इति) इसलिये, (स एव अयम्) वही यह, (पुरातनः) अनादि, गुरु-परम्परागत तथा वेदमूलक होनेके कारण प्राचीन, (योगः) योग, (अद्य) आज इस समय, (मया) मुझसे अर्थात् मेरे द्वारा, (ते) तुझे, (प्रोक्तः) अच्छी रीतिसे कहा गया है, क्योंकि, (एतत्) यह योग, (उत्तमम्) अति उत्तम, (रहस्यम्) परम गोपनीय अर्थात् गुह्यतत्त्व है, यह सर्वसाधारणको बतानेयोग्य नहीं है ॥ ३ ॥

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे ।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः ॥

(ऋग्वेदः ४-१८-१)

हे जीवात्माओ ! (अयं पन्थाः) यह कर्मयोगका मार्ग, (पुराणः) सनातन अर्थात् सृष्टिके आदिमें ही विवस्वान् आदि राजाओं और ऋषियोंके लिये, (अनुवित्तः) यथारीति बताया गया अर्थात् उन राजाओं और ऋषियोंने यह कर्ममार्ग मुझसे जाना, (यतः) जिन विवस्वान् आदि राजाओं और ऋषियोंसे, (विश्वे) सब, (देवाः) विद्वान् पुरुषोंने, (उदजायन्त) सम्यक्तया उत्कृष्ट

कर्मयोग और ज्ञानयोग पाया। (अतः चित्) इस कारण ही, (प्रवृद्धः) यह जीवात्मा कर्मयोग और ज्ञानयोगमें वृद्धिको प्राप्त होकर, (आ जनिषीष्ट) भलीभाँति कर्मयोगमें लगे हुए, (अमुया) इस, (मातरम्) कर्मयोग और ज्ञान-योगका माप करनेवाले जीवात्माके, (पत्तवे) विनाशके लिये अर्थात् कर्मयोगसे पतन करनेके लिये, (कः) कोई, (मा) प्रयत्न न करे।

तुलना—गीतामें सृष्ट्यादिमें कहे हुए कर्मयोगकी महिमा और प्राचीनता बताई गई है। वेदमें भी कहा गया है कि इस सनातन कर्मयोगके आधारसे विद्वानोंने मुक्तिमार्गमें प्रवृत्ति की और प्रतिदिन उन्नतिको प्राप्त करके मुक्तिके अधिकारी हुए। कोई भी पुरुष इस कर्मयोगसे पतित न हो।

अर्जुन उवाच—

४. **अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।**
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥

अर्जुनने कहा—हे भगवन् ! (भवतः) आपका, (जन्म) जन्म, (अपरम्) पीछे हुआ है, और, (विवस्वतः) विवस्वान्का, (जन्म) जन्म, (परम्) पहले हुआ, इसलिये, (त्वम्) आपने, (आदौ) सृष्टिके आदिमें, (प्रोक्तवान्) यह कर्मयोग विवस्वान्को कहा था, (इति) इस प्रकार, (एतत्) इस आपके वचनको, (कथम्) कैसे, (विजानीयाम्) जानूँ ? अर्थात् यह आपकी बात कैसे मान जाऊँ कि न होते हुए यह रहस्य विवस्वान्को सृष्टिके आदिमें आपने कहा ? ॥ ४ ॥

कथा त एतदहमा चिकेतं गृत्सस्य पाकस्तवसो मनीषाम्।
त्वं नो विद्वाँ ऋतुथा वि वोचो यमर्धं ते मघवन् क्षेम्या धूः ॥
(ऋग्वेदः १०-२८-५)

(मघवन् !) हे पूज्य परमात्मन् ! (विद्वान्) सब कुछ जाननेवाले सर्वज्ञ आपने, (ऋतुथा) पहले समयमें ऋतुओंके अनुसार अर्थात् सृष्ट्यादिमें समयानुसार, (नः) हम जीवात्माओंको, (वि वोचः) कर्मयोगका भलीभाँति उपदेश दिया था। (पाकः) पकनेयोग्य बुद्धिवाला मैं, (ते) आपकी, (एतत्) इस बातको, (कथा) कैसे अर्थात् किस नियमके अनुसार, (आ चिकेतम्) अच्छी रीतिसे जानूँ, अर्थात् यह आपकी बात कैसे मान जाऊँ कि उस समय भी आपने ही कर्मयोगका उपदेश दिया था, और, (गृत्सस्य) मेधावी, (तवसः) सबसे वृद्ध, पुरातन, (ते) आपके, (मनीषाम्) ज्ञानको, (कथम्) कैसे,

(आ चिकेतम्) जानूँ। इसलिये, (ते) आपकी, (यम्) जो, (अर्धम्) आधी स्तुति करता हूँ वह स्तुति, (क्षेम्या) कर्मयोगद्वारा मेरा कल्याण करने-वाली, (धूः) भार उठानेयोग्य होवे अर्थात् हे परमात्मन् ! मैं कर्मयोगद्वारा आपकी स्तुतिके भारको उठा सकूँ।

तुलना—गीतामें अर्जुनने भगवान्से पूछा कि आपका जन्म अब हुआ है, विवस्वान्का जन्म आपसे पहले हुआ था, तब आपने उसे उपदेश कैसे दिया होगा ? वेदमें भी जीवात्माने परमात्मासे प्रश्न किया है कि आपने ही सृष्टिके आदिमें वेदोपदेशद्वारा कर्मयोगका उपदेश दिया था, इसका ज्ञान हमें कैसे हो ?

श्रीभगवानुवाच—

५. **बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।**
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (मे) मेरे, (च) और, (तव) तेरे, (बहूनि) बहुत-से, (जन्मानि) जन्म, (व्यतीतानि) बीत चुके हैं। (तानि) उन, (सर्वाणि) सब जन्मोंको, (अहम्) सर्वज्ञ होनेसे मैं, (वेद) जानता हूँ, परन्तु, (परन्तप !) हे अर्जुन ! (त्वम्) तू सब जन्मोंमें-से एक जन्मको भी, (न) नहीं, (वेत्थ) जानता ॥ ५ ॥

उदग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम्।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥

(अथर्ववेदः ४-२०-८)

परमात्माका कथन है कि हे जीवात्मन् ! (परिपाणात्) जगत्की रक्षाके निमित्त, (किमीदिनम्) 'अब मैं क्या खाऊँ, अब मैं क्या खाऊँ' ऐसा विचार करनेवाले, (यातुधानम्) दुष्ट, पापी, राक्षसी जीवोंको, (उद् अग्रभम्) पहले जन्मोंमें वश कर लिया था अर्थात् नष्ट कर दिया था, (अहम्) मैं परमात्मा, (तेन) उस कारण अर्थात् जगत्की रक्षाके कारण, (उत शूद्रम्) शूद्रवर्णसहित, (उत आर्यम्) अथवा ब्राह्मणवर्णसहित, (सर्वम्) सब वर्णोंके प्राचीन जन्मोंको, (पश्यामि) देखता हूँ। वे आर्य और शूद्र आदि अपने पूर्व-जन्मोंको नहीं देखते।

नकिर्ह्येषां जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम्।

(ऋग्वेदः ७-५६-२)

परमात्माका कथन है—(अङ्ग !) हे मेरे अङ्गरूप जीवात्मन् ! (हि) निश्चय ही, (एषाम्) इन तुम जीवात्माओंमें-से, (जनूंषि) मुझ परमात्माके जन्मोंको, (नकिः) कोई भी नहीं, (वेद) जानता। (ते) तुम्हारे, (जनूंषि) जन्मोंको, (वेद) मैं जानता हूँ। परन्तु, (मिथः) आपसमें एक दूसरेके, (जनित्रम्) जन्मोंको भी, (न विद्रे) वे जीवात्मा नहीं जानते।

तुलना—गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे अपने अवतारोंके जन्मोंको बताते हुए कहा है कि सर्वज्ञ होनेसे मैं अपने सब जन्मोंको जानता हूँ। तुम अपने जन्मोंको नहीं जानते क्योंकि अल्पज्ञ हो। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्मा अपने स्वरूपको और सब जन्मोंको जानता है। शेष जीव अपने तथा दूसरोंके पूर्व-जन्मोंको नहीं जानते क्योंकि अल्पज्ञ हैं।

६. **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(अव्ययात्मा) न नाश होनेवाली ज्ञानशक्तिके स्वभाववाला और न व्यय होनेवाला, (अजः) जन्मसे रहित, (सन् अपि) होता हुआ भी, (भूतानाम्) ब्रह्मलोकसे लेकर तृणपर्यन्त भूतमात्रका, (ईश्वरः) स्वामी, (सन् अपि) होता हुआ भी मैं, (स्वाम्) अपनी, (प्रकृतिम्) त्रिगुणात्मिका मायाको, (अधिष्ठाय) दबाकर अर्थात् अपने वशमें करके, (आत्ममायया) अपनी शक्तिसे, न कि कर्मफलोंकी शक्तिसे, (सम्भवामि) प्रकट होता हूँ, अर्थात् सचमुच मैं मनुष्य नहीं होता, परन्तु लोगोंके देखनेमें मैं मनुष्यके समान दिखाई पड़ता हूँ॥६॥

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

(ऋग्वेदः ४-२६-१)

(अहम्) मैं परमात्मा, (मनुः) सृष्टिके आदिमें धर्मशास्त्रानुसार राज्य-चर्या चलानेवाला मनु, (च) तथा, (अहम्) मैं, (सूर्यः) सबको प्रेरणा करनेवाला, कर्मयोग और ज्ञानयोगका उपदेश देनेवाला, अंशावतारसे विवस्वान्, (अभवम्) हुआ। मैं, (ऋषिः) सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, (विप्रः) मेधावी, (कक्षीवान्) [कक्षी=जगत्सञ्चालनरूपा रज्जुः] जगत्‌का सञ्चालन और बन्धन करनेवाली रस्सीका स्वामी, (अस्मि) हूँ, या बुद्धिमान् कक्षीवान् ऋषि मैं हुआ हूँ। (अहम्) मैं, (आर्जुनेयम्) उषाके पुत्र, (कुत्सम्) दिनको, (न्यृञ्जे) सर्वथा अपने वशमें रखता हूँ। (कविः) क्रान्तदर्शी, (उशना) शोभायमान, (अहम्)

मैं हूँ। हे जीवो ! (मा=माम्) सर्वव्यापक होते हुए भी बहुत जन्मोंके लेनेवाले मुझे, (पश्यत) देखो।

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्वस्तत्सुमद्गुः।

(अथर्ववेदः ५-१-७)

(अमृतासुः) अमर प्राणोंवाला अजन्मा, (व्रतः) सारे जगत्को नियममें चलानेके लिए व्रतवाला मैं, (कृण्वन्) भक्तोंके रक्षात्मक और धर्म-संस्थापनात्मक कर्मोंको करता हुआ, (एमि) संसारमें अपनी शक्तिसे प्राप्त होता हूँ, इसलिये, (आत्मा) मेरा आत्मा, (असुः) प्राण, और, (तन्वः) शरीर, ये तीनों, (सुमद्गुः) दिव्य-गुणवाले होते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमपिता परमात्मा अजन्मा, अव्यय है। वह प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी शक्तिसे दिव्य जन्म ग्रहण करता है, जो कर्मोंके अधीन नहीं होता। वेदमें भी कहा गया है कि आत्मा-परमात्मा अमर, अजन्मा है तथापि शरीरके जन्मके साथ उसका जन्म होता है, परन्तु वह अपनी शक्तिसे और दिव्य कर्मोंसे जन्म लेता है न कि कर्मफलोंके आधारपर।

७. **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (यदा यदा) जब-जब, (हि) निश्चय करके, (धर्मस्य) धर्मकी, (ग्लानिः) अवनति तथा विनाश, (अधर्मस्य) और अधर्मका, (अभ्युत्थानम्) उदय, वृद्धि, (भवति) होती है, (तदा) तब-तब, (अहम्) मैं परमात्मा, (आत्मानम्) अपने आपको, (सृजामि) सृजता हूँ अर्थात् देहधारियोंके समान मैं भी अपने प्रातिभासिक यानी वस्तुतः शरीर नहीं परन्तु स्वाप्निक तथा दार्पणिक शरीरवत् शरीरको धारण करता हूँ॥ ७॥

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि॥

(अथर्ववेदः ५-१-१)

(ऋधक्) यह सत्य है, (मन्त्रः) यह गुप्त रहस्य है, (यः) जो, (अमृतासुः) अविनश्वर प्राणोंवाला अर्थात् नित्यजीवी, (सुजन्मा) दिव्य जन्मोंवाला, (वर्धमानः) शरीरके साथ-साथ शक्तिको विस्तृत करता है वही

परमात्मा धर्मकी रक्षाके लिये, (योनिम्) मनुष्यादि योनियोंमें, (आ बभूव) प्राप्त होता है। (अदब्धासुः) प्रकृतिसे न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त, (अहा इव) दिनकी भाँति, (भ्राजमानः) प्रकाशमान, (त्रितः) ब्रह्मा, विष्णु और महादेवसे युक्त, या रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण तीनों गुणोंवाली प्रकृतिको वशमें रखनेवाला, (धर्ता) पृथिव्यादि पदार्थोंको धारण करनेवाला, (त्रीणि) भूर्भुवः स्वः तीनों लोकोंको, (दाधार) धारण करता है।

इसी मन्त्रकी व्याख्या पण्डित जयदेव वेदालङ्कारकृत हिन्दी भाषाके प्रथम खंड पृ. ५१४ पर इस प्रकार लिखी हुई है—'(त्रितः) तीनों लोकोंमें व्यापक परमेश्वर, (ऋधङ् मन्त्रः) जो कि वेदमय बृहत् सत्यज्ञानसे युक्त है, (अमृतासुः) तथा अमृतमय जीवनरूप या अमृतका देनेवाला, (सुजन्मा) शुभ जन्म ग्रहण करनेवाले जीवात्माके समान विराट् सृष्टिरूपसे प्रकट होनेवाला है, [यहाँपर भी सुजन्माका सीधा-सादा अर्थ 'उत्तम जन्म लेनेवाला' है], (वर्धमानः) और अपनी महिमासे महान् है, (यः) जो कि, (योनिम् आ बभूव) प्रकृतिमें अपनी शक्तिका आधान करता है [इसका सीधा-सादा अर्थ है 'मूल उत्पत्ति-स्थानको प्राप्त होता है'], (अदब्धासुः) वह अपनी शक्तिका नाश न होने देकर, (भ्राजमानः) निरन्तर प्रकाशमान रहकर, (अहा इव) सूर्यके समान, (धर्ता) विश्वका धारक, (त्रीणि दाधार) तीनों लोकोंको धारण करता है।'

तुलना—गीतामें बताया गया है कि धर्मके विनाश और अधर्मकी उत्पत्तिके समय परमात्मा अपने आपको संसारमें किसी न किसी रूपमें प्रकट करता है। वेदमें भी कहा गया है कि तीनों लोकोंको धारण करनेवाला परमात्मा दिव्य जन्म-वाला होते हुए भी धर्मकी रक्षाके लिये कई प्रकारकी योनियोंमें प्रकट होता है।

८. **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(साधूनाम्) साधुओं और भक्तोंकी, (परित्राणाय) रक्षा करनेके लिये, (च) तथा, (दुष्कृताम्) पापियोंका, (विनाशाय) नाश करनेके लिये, (युगे युगे) सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुगमें बार-बार, (धर्मसंस्थापनार्थाय) धर्मकी यथाविधि स्थापना करनेके लिये, (सम्भवामि) अवतार लेता हूँ अर्थात् प्रातिभासिक शरीरसे इस संसारमें आता हूँ॥ ८॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ।।

(ऋग्वेदः १०-१२५-६)

(अहम्) मैं परमात्मा, साधुओंकी रक्षाके लिये, (रुद्राय, ब्रह्मद्विषे, शरवे) [रुद्रम्, ब्रह्मद्विषम्, शरुम्—इन तीनों कर्मकारकोंको सम्प्रदान माननेसे द्वितीया विभक्तिके स्थानमें चतुर्थी आई है] रुद्ररूप अर्थात् ऋषियों-साधुओंको रुलानेवाले, वेद और ब्राह्मणके द्वेषी, हिंसा करनेवाले पापी जीवोंको, (उ) निश्चयपूर्वक, (हन्तवै) मारनेके लिये, (धनुः) उनकी क्रूरताको नाश करनेवाली कमानको, (आतनोमि) भलीभाँति चारों ओर विस्तृत करता हूँ। (अहम्) मैं परमात्मा, (जनाय) भक्तके लिये, (समदम्) संग्रामको, (कृणोमि) करता हूँ, और, (अहम्) विशेष विभूतिरूपसे एकदेशमें उतरा हुआ मैं, (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवीमें (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ रहता हूँ अर्थात् सर्वव्यापक होकर रहता हूँ ।

इसी मन्त्रका अर्थ निखिल-तन्त्र-स्वतन्त्र श्री प. आर्यमुनिजी (प्रोफैसर—संस्कृत फिलासफी, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर) ने भगवद्गीताके योगप्रदीपार्थ भाष्यभूमिका पृ. २३ में लिखा है—

"मैं ही रुद्ररूप परमात्माके धनुषको चढ़ाती हूँ, मैं ही वेदके द्वेषियोंके मारनेके लिये उद्यत होती हूँ तथा मैं ही दैवी सम्पत्तिके विरोधियोंको नाश करती हूँ, और मैं ही द्युलोक तथा पृथिवी-लोकके भीतर अन्तर्यामी रूपसे व्याप्त हूँ ।"

इस मन्त्रमें ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी ओरसे परमात्माने आत्मभावका प्रकाश किया है अर्थात् अहंग्रह उपासनाके भावसे ब्रह्मवादिनी स्त्री अपने आपको परमात्मभावसे कथन करती है ।

पण्डित जयदेव विद्यालंकारने अपने अजमेरमें मुद्रित अथर्ववेद भाष्य प्रथम भागमें पृ. ४६६ पर इस मन्त्रका अर्थ ऐसा लिखा है–'(ब्रह्मद्विषे) ब्रह्म=वेदज्ञानके साथ द्वेष करनेवाले, ब्रह्मघाती, (शरवे) हिंसक, (रुद्राय) और कष्ट पहुँचानेवालेको, (हन्तवै) मारनेके लिये, (उ) भी, (अहम्) मैं ही ईश्वर, (धनुः) धनुषको, (आतनोमि) तानता हूँ। (अहम्) मैं ईश्वर ही, (जनाय) जन्तुओंके लिये, (समदम्) सामूहिक प्रमोदको, (कृणोमि) उत्पन्न करता हूँ। (अहम्) मैं ही, (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों-में, (आ विवेश) आविष्ट, व्यापक हूँ ।'

पण्डित सातवलेकरजीने अपने अथर्ववेद-भाष्य भाग १, का. ४, पृ. १६१ में इसका अर्थ ऐसा लिखा है–(ब्रह्मद्विषे-शरवे-हन्तवै) ज्ञानके द्वेषी घातपात करनेवालेका नाश करनेके लिये, (अहं रुद्राय धनुः आतनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुषको तानती हूँ। (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनोंके लिये हर्ष देनेवाले पदार्थ उत्पन्न करती हूँ। (अहं द्यावापृथिवी आ विवेश) मैंने द्यावापृथिवीमें प्रवेश किया है।

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतानाभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः।
वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो वि जघान संदिहः॥

(ऋग्वेदः १-५१-९)

(इन्द्रः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा, (अनुव्रताय) अच्छे व्रतादि नियमोंका पालन करनेवाले सज्जनके लिये, (अपव्रतान्) दुष्कर्म करनेवाले पापियोंको, या व्रतादि नियमोंका उल्लंघन करनेवाले दुष्ट पुरुषोंको, (रन्धयन्) नष्ट करता हुआ, (आभूभिः) सम्मुख स्तुति करनेवाले भक्तोंसे, (अनाभुवः) निन्दक दुष्ट पुरुषोंका, ([१]श्नथयन्) नाश करता है। (वृद्धस्य) सबसे बड़े, और, (वर्धतः) वृद्धिको प्राप्त होते हुए, (द्याम्) आकाशको, ([२]इनक्षतः) व्याप्त करनेवाले परमात्माकी, (चित्) ही, (वम्रः) स्तुति करनेवाला पुरुष, ([३]स्तवानः) स्तुति करता हुआ, तथा, ([४]संदिहः) कर्म और ज्ञानवृद्धिको प्राप्त होता हुआ, (वि [५]जघान) विघ्नोंसे रहित होकर दुष्टसंगतिको त्याग देता है।

ऋतं पिपर्त्यनृतं निपाति।

(अथर्ववेदः ९-१०-२३)

परमात्मा, (ऋतम्) सत्यको, (पिपर्ति) पूर्ण करता है, और, (अनृतम्) असत्यको, (निपाति) नष्ट करता है।

---

१. श्नथयन्—'श्नथ हिंसायाम्', णिचि घटादित्वात् मित्त्वे 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम्।

२. इनक्षतः—'नक्ष गतौ', इकारोपजनश्छान्दसः। यद्वा इनक्षतिर्गत्यर्थः।

३. स्तवानः—'सम्यानच् स्तुवः' (उ. सू. २५५) इति स्तौतेर्बहुलवचनान्निरुपपदादप्यानच्प्रत्ययः।

४. संदिहः—'दिह उपचये', 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति बहुलवचनात् कर्मणि क्विप्।

५. जघान—'अभ्यासाच्च' इत्यभ्यासादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कुत्वम्।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके संहार और धर्मकी स्थापनाके लिये समय-समयपर अवताररूपमें प्रकट होते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि भगवान् समय-समयपर ब्रह्मद्वेषी, हिंसक, दुष्ट पुरुषोंका नाश करनेके लिये धनुषको फैलाकर भक्तोंकी रक्षाके लिये युद्ध करता हुआ समग्र पृथिवी और आकाशमें व्याप्त रहता है। अवतार होनेपर परमात्मा एकदेशी हो जायगा, यह दोष भी दूर हो जाता है।

९. **जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।**
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (यः) जो प्राणी, (मे) मेरे, (दिव्यम्) अलौकिक, (जन्म) जन्म, (च) और, (कर्म) कर्मको, (एवम्) इस प्रकार जैसा कि पहिले कहा गया है, (तत्त्वतः) यथार्थरूपसे, (वेत्ति) जानता है, (सः) वह प्राणी, (देहम्) अपने शरीरको, (त्यक्त्वा) छोड़-कर अर्थात् मृत्युके अनन्तर, (पुनः) फिर, (जन्म) जन्मको, (न) नहीं, (एति) प्राप्त होता, अपितु, (माम्) मुझ सच्चिदानन्द स्वरूपको, (एति) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥

(अथर्ववेदः ५-१-२)

(यः) जो दिव्य देह और दिव्य कर्मोंवाला परमात्मा, (प्रथमः) अनादि होता हुआ भी, (धर्माणि) सांसारिक धर्मोंको, (आ ससाद) प्राप्त होता है, संसारमें प्रकट होता है, (ततः) सांसारिकधर्म-ग्रहणके अनन्तर, (पुरूणि) बहुतसे, (वपूंषि) देहोंको, (कृणुषे) धारण करता है, अर्थात् वह परमात्मा बहुत-सी शारीरिक शक्तियाँ धारण करता है। (प्रथमः) सबका आदि अर्थात् पुरातन, (धास्युः) जगत्को धारण करनेवाला यह परमात्मा, (योनिम्) दिव्य जन्म अर्थात् मूल स्थानको, (आ विवेश) प्रविष्ट होता है, (यः) जो परमात्मा, (अनुदिताम्) किसीसे न कही हुई, (वाचम्) वेदवाणीको, (आ चिकेत) तीनों कालोंमें जानता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मोंवाले शरीरको मानुषी शरीरसे भिन्न, दिव्य शरीर जाननेवाला मुक्त हो जाता है। वेदमें भी बताया गया है कि भगवान् अनादि होता हुआ भी

लीलामात्रके लिये सांसारिक धर्मोंको अपनाता है अतः भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले शरीरोंको स्वीकार करता हुआ दिव्य कर्मोंद्वारा दिव्य जन्म ग्रहण करता है और किसीसे भी अनुपदिष्ट ज्ञान अर्थात् वेदज्ञानको जानता है।

१०. वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

हे अर्जुन ! (वीतरागभयक्रोधाः) हृदयसे राग, भय और क्रोधसे रहित, तथा, (मन्मयाः) एकचित्त होकर मेरे स्वरूपको देखनेवाले, (माम् उपाश्रिताः) मेरी शरणको प्राप्त हुए हैं। (ज्ञानतपसा) ज्ञानरूप तपसे, (पूताः) पापसे रहित अर्थात् पापोंसे छूटकर परम पवित्र हुए, (बहवः) बहुत-से प्राणी, (मद्भावम्) मेरे भावको, (आगताः) प्राप्त हो गये हैं अर्थात् मुझ मधुर-स्वरूपमें मधुररूप होकर वास करते हैं॥ १०॥

त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभियोधीः॥
(ऋग्वेदः १०-१२०-३)

(यत्) जब, (एते) ये, (ऊमाः) सब ज्ञानरूपी तपसे तृप्त हुए पुरुष, (द्विः) राग और भय दोनोंसे रहित, और, (त्रिः) राग, भय और क्रोध तीनोंसे रहित, (भवन्ति) होते हैं, तब वे, (विश्वे) सब पुरुष, (त्वे) तुझ परमात्मामें, (क्रतुम् अपि) अपने-अपने सकाम कर्म भी, (वृञ्जन्ति) समर्पित करते हैं। हे जीवात्मन् ! तू, (स्वादोः) प्रियसे भी प्रिय आत्माको, (स्वादुना) परमप्रिय परमात्माके साथ, (सृज) जोड़ दे। (अदः) उस, (सुमधु) परम अमृतरूप भगवदर्पित ज्ञानको, (मधुना) परम मधुर परमात्माके साथ, (संसृज) जोड़ दे, तथा, (अभि योधीः) उसके साथ सब प्रकारसे क्रीड़ा कर।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि राग, भय, क्रोधसे रहित होना, भगवत्-शरण जाना, भगवन्नाममें लीन होना और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र होना मुक्ति-का द्वार है। वेदमें भी राग, भय, क्रोधसे रहित होकर सब सकाम-निष्काम कर्मोंको भगवदर्पण कर देना आत्मज्ञानकी प्राप्तिका साधन कहा गया है।

११. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (ये) जो पुरुष, (यथा) जिस प्रकार, (माम्) मुझे, (प्रपद्यन्ते) शरणमें प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझे भजते हैं, (अहम्) मैं भी, (तान्) उन पुरुषोंको, (तथैव) उसी प्रकार, (भजामि) भजता हूँ, अर्थात् भिन्न-भिन्न फल-याचना करनेवालोंको भिन्न-भिन्न फल देता हूँ। इस कारण, (मनुष्याः) मनुष्य, (सर्वशः) सब प्रकारसे, (मम) मेरे, (वर्त्म) मार्गका ही, (अनुवर्तन्ते) अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषां यथायथा मतयः सन्ति नृणाम् ।
इन्द्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः ॥

(ऋग्वेदः १०-१११-१)

(मनीषिणः !) हे बुद्धिमान् जीवात्माओ ! (नृणाम्) कर्म करनेमें स्वतन्त्र सब जीवोंकी, (यथा यथा)जैसे-जैसे, अर्थात् ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग-के प्रकारसे, (मतयः) आत्मध्यान-साधना करनेवाली बुद्धियाँ, (सन्ति) हैं, वैसे उस-उस प्रकारसे तुम भी, (मनीषाम्) अपनी-अपनी बुद्धिको ज्ञानयोग अथवा कर्मयोगके प्रकारसे, (प्र भरध्वम्) उस ओर करो, अर्थात् जिस प्रकारसे जिस फलकी इच्छासे तुम परमात्माका पूजन करोगे, उस प्रकार उस कर्मके फलानुसार परमात्मा भी तुम्हें वही-वही फल देगा। हे मुमुक्षु जीवात्माओ ! हम परमेश्वरोपासक भी, (सत्यैः) यथार्थ स्वरूपसे, (कृतेभिः) अपने-अपने कर्मोंसे, (इन्द्रम्) परमात्माकी ओर, (एरयाम) गमन करें, अर्थात् परमात्म-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करें। (हि) क्योंकि, (वीरः) वरनेयोग्य, (गिर्वणस्युः) स्तुति करनेवाले भक्तोंको चाहता हुआ, (सः) वह परमात्मा, (विदानः) सबको जाननेवाला अर्थात् सर्वज्ञ है।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि जो पुरुष जिस रीतिसे और जिस फलकी इच्छाके लिये मुझे भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार वही-वही फल देता हूँ। वेदमें भी कहा गया है कि जिस मनुष्यकी जैसी बुद्धि है वह मुझमें वैसी ही बुद्धि स्थिर करे। वह सत्य कर्मोंसे परमात्म-सेवन करे क्योंकि परमात्मा सबसे वरनेयोग्य और सर्वज्ञ है।

१२. काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

(इह) इस संसारमें, (कर्मणाम्) कर्मोंके, (सिद्धिम्) फलको, (काङ्क्षन्तः) चाहते हुए प्राणी, (देवताः) अग्न्यादि देवोंको, (यजन्ते)

पूजते हैं, (हि) क्योंकि, इन देवताओंके पूजनेसे, (मानुषे लोके) इस मनुष्य-लोकमें, (कर्मजा) सकाम कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली, (सिद्धिः) सिद्धि अर्थात् फल, (क्षिप्रम्) शीघ्र ही, (भवति) प्राप्त होता है, अर्थात् लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा आदिकी सिद्धि शीघ्र हो जाती है ॥ १२ ॥

तेऽविन्दन् मनसा दीध्याना यजुः ष्कन्नं प्रथमं देवयानम् ।
धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन् घर्ममेते ॥

(ऋग्वेदः १०-१८१-३)

(ते) इस संसारमें यज्ञानुष्ठानद्वारा कर्मोंकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष, (दीध्यानाः) प्रकाशमान होते हुए, (मनसा) शुद्ध मनसे, (स्कन्नम्) आसेचन करनेयोग्य, (यजुः) यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा कहे हुए यज्ञको, और, (प्रथमम्) मुख्य, (देवयानम्) देवताओंकी आराधनावाले मार्गको, (अविन्दन्) प्राप्त करते हैं, अर्थात् ढूँढ़ते हैं। (एते) ये पुरुष, (द्युतानात्) ज्योतिःस्वरूप, (धातुः) जगत्का धारण और पालन करनेवाले, (च सवितुः) और जगत्को उत्पन्न करनेवाले, (विष्णोः) सर्वव्यापक, और, (सूर्यात्) सूर्य-स्वरूप परमात्मासे, (घर्मम्) यज्ञादि कर्मोंके फलोंको शीघ्र देनेवाले कर्मको, (आ अभरन्) ग्रहण करते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष इस संसारमें सकाम कर्मोंको करके लौकिक फलोंको शीघ्र पाते हैं। वेदमें भी बताया गया है कि मनु य शुद्ध मनसे यज्ञोंको करते हुए सर्वव्यापक परमात्मासे उन किये हुए यज्ञकर्मोंके फलोंको पाते हैं।

१३. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

(गुणकर्मविभागशः) सत्त्व, रज, तम आदि गुणोंके विभागानुसार और शम, दम, युद्धादि कर्मोंके विभागानुसार, (चातुर्वर्ण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण, (मया) मेरेद्वारा, (सृष्टम्) रचे गये हैं। (तस्य) उस कर्मका, (कर्तारम्) कर्ता, (अपि) भी, (माम्) मुझे, (अकर्तारम्) अकर्ता, और, (अव्ययम्) नाशरहित, (विद्धि) जान, अर्थात् व्यवहारदृष्टिसे उसका कर्ता और परमार्थदृष्टिसे वस्तुतः मुझे अकर्ता, सब कर्मोंसे रहित और अविनाशी जान ॥ १३ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

(ऋग्वेदः १०-९०-१२)

(अस्य) इस विराट्रूप परमात्माका, (मुखम्) मुख अर्थात् अग्नि-स्वरूप, (ब्राह्मणः) ब्राह्मण, (आसीत्) है, अर्थात् ब्रह्मजातिविशिष्ट पुरुष इस विराट्के मुखसे प्रकट हुआ । (राजन्यः) क्षत्रिय, (बाहू) उस विराट्के बाहु, (कृतः) बने, अर्थात् बाहुसे क्षत्रिय प्रकट हुए । (तत्) तब, (अस्य) इस विराट्स्वरूप परमात्माकी, (ऊरू) ऊरू अर्थात् जंघाएँ, (वैश्यः) वैश्य हुईं, (पद्भ्याम्) उसके पैरोंसे, (शूद्रः) शूद्र, (अजायत) उत्पन्न हुआ, अर्थात् प्रत्येक ब्राह्मणादि वर्ण सत्त्वादि गुणोंके विभाग और अपने-अपने कर्मफलानुसार प्रकट हुआ ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मासे चारों वर्ण कर्मों और सत्त्वादि गुणोंके अनुसार प्रकट हुए । इनका कर्ता होते हुए भी वह परमात्मा स्वयं अकर्ता तथा अव्यय है । वेदमें भी बताया गया है कि विराट् पुरुषसे ब्राह्मणादि चारों वर्ण उत्पन्न हुए । पूर्वजन्मके कर्मों और गुणोंके अनुसार ये संसारमें उत्तम, मध्यम, मध्यमतर और निम्न श्रेणीके होते हैं ।

१४. **न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।**
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

(कर्माणि) संसारमें मुझसे किये हुए शुभ वा अशुभ कर्म, (माम्) मुझे, (न लिम्पन्ति) नहीं लपेट सकते हैं, क्योंकि, (कर्मफले) उन शुभाशुभ कर्मोंके शुभाशुभ फलोंमें, (मे) मेरी, (स्पृहा) आसक्ति अथवा आकांक्षा, (न) नहीं है । (इति) इस प्रकार, (यः) जो पुरुष, (माम्) मुझे, (अभिजानाति) आत्मज्ञानद्वारा पहचानता है, (सः) वह, (कर्मभिः) किये हुए शुभाशुभ कर्मोंसे, (न बध्यते) नहीं बाँधा जाता ॥ १४ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुर्वेदः ४०-२)

निःस्पृह योगीको ज्ञानप्राप्तिके लिये कर्म करनेका अधिकार है, यह इस मन्त्रसे सूचित होता है । (इह) इस संसारमें, (कर्माणि) लौकिक और वैदिक निष्काम कर्मोंको, (कुर्वन्) करता हुआ, (एव) ही, (शतं समाः) सौ वर्ष-

पर्यन्त अर्थात् अपने जीवन-पर्यन्त, (जिजीविषेत्) हितकारी आचार-व्यवहार-पूर्वक जीनेकी इच्छा करे, (एवम्) ऐसे आचरणसे, (त्वयि नरे) तुझ पुरुष-में, (कर्म) कर्म, (न लिप्यते) बन्धन नहीं करता । (इतः) इससे, (अन्यथा) भिन्न कोई प्रकार, (न अस्ति) नहीं है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि निष्काम कर्म करनेवालेको कर्म बन्धनमें नहीं डालते । ऐसा जाननेवाला कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़ता । वेदमें भी आयुः-पर्यन्त निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा है, क्योंकि निष्काम कर्मसे मनुष्य संसार-बन्धनमें नहीं आता, मुक्त हो जाता है ।

१५. एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥

(एवम्) मैं कर्मोंका कर्ता नहीं हूँ, मुझे कर्मफलकी इच्छा नहीं है, ऐसा, (ज्ञात्वा) जानकर, (पूर्वैः) तुझसे पहलेके अश्वपति, ययाति, जनकादि, (मुमुक्षुभिः) मोक्षकी इच्छा करनेवाले राजर्षियोंने, (अपि) भी, लोकसंग्रहार्थ या अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए, (कर्म) नित्य-नैमित्तिक वैदिक तथा लौकिक कर्म, (कृतम्) किया । (पूर्वैः) इनसे पहलेके नारद, वसिष्ठ, विश्वामित्रादि मोक्षकी इच्छावाले महर्षियोंने भी, (पूर्वतरम्) बहुत पहले सत्ययुगमें लोक-संग्रहार्थ, (कृतम्) कर्म किया । (तस्मात्) इसलिये, (त्वम् अपि) तू भी, (कर्म) अहङ्कार तथा फलकी इच्छासे रहित होकर अर्थात् निष्काम होकर, कर्मोंको, (कुरु) कर ॥ १५ ॥

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥
(सामवेदः उ. ८-२-७-१)

हे जीवात्माओ ! तुम, (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् परमात्माकी प्राप्तिके लिये, (पूर्व्यम्) सबसे पूर्व उत्पन्न हुए, (मन्म) मानने योग्य, (ब्रह्म) वेदप्रतिपादित वैदिक स्तुतिका, (वोचत) उच्चारण करो, (पूर्वीः ऋतस्य बृहतीः अनूषत) पूर्वकालके यज्ञ-सम्बन्धी बृहतीछन्दवाले बृहत्सामको पढ़ो अर्थात् निष्काम स्वा-ध्याय करो, (स्तोतुः) स्तुति करनेवाले जीवात्माकी, (मेधाः) कर्म करने-वाली बुद्धियोंको, (असृक्षत) ईश्वर रचता है, इसलिये, (अस्तावि) वह परमात्मा सब जीवोंसे स्तुति किया गया ।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।

(अथर्ववेदः ६-२३-३)

(मानुषाः) मनुष्य, (देवस्य सवितुः) जगत्को उत्पन्न करनेवाले ज्योतिःस्वरूप परमात्माकी, (सवे) सृष्टिमें अर्थात् संसारमें, (कर्म) नित्य-नैमित्तिक लौकिक और वैदिक कर्मको, (कृण्वन्तु) करें, अर्थात् संसारमें मनुष्य निष्काम कर्म करे जिससे मुक्तिको प्राप्त हो ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य निष्काम कर्म करनेसे मुक्त हो जाता है जैसे पूर्वके महर्षि और राजर्षि मुक्त हो गये थे । वेदमें भी कहा गया है कि ईश्वरकी स्तुति करो, वेदमन्त्रोंका उच्चारण अर्थात् स्वाध्याय करो और बृहत्सामसे गान करो । कर्मके लिये परमात्माने तुम्हारी बुद्धियाँ उत्पन्न की हैं ।

१६. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

१७. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

१८. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

१९. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(किं कर्म) कर्म क्या है, (किम् अकर्म) अकर्म क्या है, (इति अत्र) इस इतने विचारमें, (कवयः) ज्ञानी लोग, (अपि) भी, (मोहिताः) संशयमें पड़कर मोहित हो गये और कर्म करनेमें असमर्थ हैं, (तत्) उस, (कर्म) कर्मको, (ते) तेरे लिये, (प्रवक्ष्यामि) आगे अच्छी तरह कहूँगा, (यत्) जिस कर्म या अकर्मके भेद या स्वरूपको, (ज्ञात्वा) जानकर, (अशुभात्) अशुभ अर्थात् संसारबन्धनसे,(मोक्ष्यसे) छूट जायगा ॥ १६ ॥

(कर्मणः) श्रुति-स्मृति-विहित कर्मका तत्त्व, (अपि) भी, (बोद्धव्यम्) जाननेयोग्य है, (विकर्मणः) शास्त्रोंसे निषिद्ध कर्मका तत्त्व, (अपि) भी, (बोद्धव्यम्) जाननेयोग्य है, तथा, (अकर्मणः) कुछ न करके चुप वैठनेका तत्त्व, (अपि) भी, (बोद्धव्यम्) जाननेयोग्य है, (हि) क्योंकि, (कर्मणः) इन तीनों प्रकारके कर्मोंकी, (गतिः) गति, (गहना) अत्यन्त दुर्विज्ञेय है अर्थात् बड़े कष्टसे भी इनका वोध नहीं होता ॥ १७ ॥

(यः) जो पुरुष, (कर्मणि) कर्ममें, (अकर्म) कर्मके अभावको, (पश्येत्) देखे, (च) और, (यः) जो, (अकर्मणि) कर्माभावमें, (कर्म) कर्मको देखे, (सः) वही पुरुष, (मनुष्येषु) सब मनुष्योंमें, (बुद्धिमान्) विवेकी और तत्त्वदर्शी है, (सः) वही, (योगी) कर्मयोगी है, और वही, (कृत्स्नकर्मकृत्) सब कर्मोंको पूर्ण करनेवाला है ॥ १८ ॥

(यस्य) जिस पुरुषके, (सर्वे) सब, (समारम्भाः) लौकिक और वैदिक कर्मोंका आरम्भ, (कामसङ्कल्पवर्जिताः) कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं, (ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्) ज्ञानकी अग्निसे भस्मीभूत हुए कर्मवाले, (तम्) उस मनुष्यको, (बुधाः) बुद्धिमान् लोग, (पण्डितम्) पण्डित, (आहुः) कहते हैं ॥ १९ ॥

इन्द्रे विश्वानि वीर्या कृतानि कर्त्वानि च।
यमर्का अध्वरं विदुः ॥

(ऋग्वेदः ८-६३-६)

जिस पुरुषके, (विश्वानि) सब, (वीर्या=वीर्याणि) काम-सङ्कल्पात्मक कर्म, (कृतानि) पूर्व जन्मोंमें या इस जन्ममें किये हुए कर्म, (कर्त्वानि च) और आगे किये जानेयोग्य कर्म, (इन्द्रे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मामें वास करते हैं, (अर्काः) ब्रह्मवेत्ता तत्त्वज्ञानी लोग, (यम्) ब्रह्मार्पण कर्म करने-वाले उस पुरुषको, (अध्वरम्) शारीरिक, वाचिक, मानसिक हिंसासे रहित तथा शुद्ध पण्डित, (विदुः) जानते हैं।

उपनिषद् में भी आया है—

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान्...चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयः... ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः...विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः। विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं... धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति।

(छा. उ. ७-४—७-१)

मनसे सङ्कल्प श्रेष्ठ है, सङ्कल्पसे चित्त श्रेष्ठ है, चित्तसे ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानसे विज्ञान श्रेष्ठ है। विज्ञानसे प्राणी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद,

धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय, रस और अन्न तथा इस लोकको और परलोकको जानता है क्योंकि उसके सब सङ्कल्प-विकल्प विज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं।

तद्यथेषिकातूलमग्नौ प्रोतं प्र दूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।

(छा. उ. ५-२४-३)

जैसे इषिका (मुंज) की रूई अग्निमें पड़ते ही भस्म हो जाती है, इसी प्रकार ज्ञानीके पाप ज्ञानकी अग्निमें भस्म हो जाते हैं।

पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः।

(बृ. उ. ४-४-२२)

मैंने पाप किया इसलिये नरक जाऊँगा, मैंने शुभकर्म किया इसलिये स्वर्गको जाऊँगा, ऐसी बुद्धि रखनेवाला पुरुष नहीं तरता; किन्तु जो पुरुष निश्चय करके इन पाप और पुण्य कर्मके कर्तृत्वाभिमानको पार कर जाता है उसे कृत और अकृत नहीं तपाते अर्थात् वह शुभाशुभ कर्मोंके बन्धनसे छूटकर तर जाता है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि आकांक्षा और कर्मफलके सङ्कल्पका त्याग करनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उससे सम्पन्न पुरुषको तत्त्ववेत्ता कहते हैं। वेदमें कहा गया है कि कृत कर्मोंको तथा कर्तव्य कर्मोंको ईश्वरार्पण करते जाओ। ईश्वरार्पण कर्म करनेवाला तत्त्वज्ञानी सब प्रकारकी हिंसासे रहित हो जाता है। ऐसे पुरुषको पुण्य-पापात्मक कर्म दुःख नहीं देते।

२०. त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

२१. निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

(सः) वह पण्डित, (कर्मफलासङ्गम्) कर्मोंके फलोंकी आसक्तिको या जहाँ कर्म फलते हैं, उस देहमें आसक्तिको, (त्यक्त्वा) छोड़कर, (नित्यतृप्तः) ब्रह्मानन्दैकरससे नित्य तृप्त, (निराश्रयः) कामनासे रहित अर्थात् दृष्ट वा अदृष्ट फलके साधन करनेके आश्रयसे रहित अथवा योगक्षेमके आश्रयसे रहित,

(कर्मणि) शरीररक्षामात्र के लिए कर्ममें, (अभिप्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ, (अपि) भी, (किञ्चित् एव) कुछ भी, (न) नहीं, (करोति) करता ॥ २० ॥

(निराशीः) सब प्रकारकी कामनाओंसे रहित, (यतचित्तात्मा) अपने मन और देहको वशमें रखनेवाला, (त्यक्तसर्वपरिग्रहः) सब प्रकारकी कर्म करनेकी सामग्रियोंको, या सब प्रकारके उपायोंको, या सब परिवारके मोहको त्यागनेवाला प्राणी, (केवलम्) केवल, (शारीरम्) भोजन-शयनादिक शारीरिक, (कर्म) कर्मोंको, (कुर्वन्) करता हुआ, (किल्बिषम्) किसी प्रकारके पापको, (न आप्नोति) नहीं प्राप्त होता, अर्थात् संसारके द्वन्द्वमें फँसकर नष्ट नहीं होता ॥ २१ ॥

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज इत्किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥
(यजुर्वेदः १२-७९)

हे जीवात्माओ ! (अश्वत्थे) कलतक न रहनेवाले अर्थात् विनश्वर संसारमें, (वः) तुम्हारा, (निषदनम्) घर अर्थात् वास है । उस संसारमें भी, (वः) तुम्हारा, (वसतिः) निवास, (पर्णे) पर्णशील अर्थात् जीर्ण होनेवाले पाञ्चभौतिक शरीरमें, (कृता) किया गया है । उस शरीरमें तुम सब, (गोभाजः) शरीरकी स्थितिमात्रके लिये इन्द्रियोंकी वृत्ति अर्थात् भोजन-शयनादिक कर्मोंके करनेवाले होकर, (इत्) ही, (किल) निश्चयसे, (आसथ) रहो, (यत्) जिससे, यहाँ रहते हुए, (पूरुषम्) परम पुरुष परमात्माका, (सनवथ) सेवन करो ।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।
(अथर्ववेदः ३-२४-५)

(कृतस्य) शरीरकी स्थितिमात्रके लिये किये हुए, (कार्यस्य) नित्य-नैमित्तिक कर्मकी, (इह) इस संसारमें, (च) ही, (स्फातिम्) वृद्धिको, (समावह) भलीभाँति कर ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कर्मोंके फलोंमें अनासक्ति, आकांक्षासे रहित होना, नित्य ब्रह्मानन्दमें तृप्त रहना, शरीरके निर्वाहमात्रके लिये इन्द्रियोंसे कर्म करना, नकि इन्द्रियासक्तिसे, ये मुक्तिके द्वार हैं । वेदमें भी संसाररूपी वृक्षके पत्तेरूपी शरीरपर मनुष्यका वास कहा गया है । उसमें रहकर केवल शरीर-निर्वाहार्थ इन्द्रियोंसे खान-पानादि कार्य लेना मुक्तिका द्वार बताया गया है ।

२२. यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

(यदृच्छालाभसन्तुष्टः) बिना इच्छाके जो लाभ हो उसीसे सन्तुष्ट, (द्वन्द्वातीतः) भूख-प्यास, ग्रीष्म-शीत, लाभ-हानि, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, (विमत्सरः) पराये लाभ और उन्नतिको देखकर मत्सर अर्थात् वैरबुद्धिसे रहित, और, (सिद्धौ असिद्धौ च) कार्यकी सिद्धि या असिद्धिमें, (समः) समान रहनेवाला पुरुष, (कृत्वा) नाना प्रकारके कर्मोंको करके, (अपि) भी, (न निबध्यते) कर्मबन्धनमें नहीं बाँधा जाता॥ २२॥

विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥
(यजुर्वेदः ९-१८)

(विप्राः) हे विशेषतासे ज्ञानके लाभमें सन्तुष्ट विद्वानो! (अमृताः!) हे स्वरूपसे नाशरहित जीवात्माओ! या हे जीवन्मुक्तताके सुखको पानेवालो! अर्थात् सुख-दुःखादि द्वन्द्वसे और मत्सरतासे रहित पुरुषो! (ऋतज्ञाः!) हे ब्रह्मज्ञानियो! (अस्य मध्वः) इस मधुमय ब्रह्मरसका, (पिबत) पान करो! सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानके पानसे, (मादयध्वम्) तृप्त हो जाओ, (तृप्ताः) ब्रह्मज्ञानसे तृप्त हुए तुम, (देवयानैः पथिभिः) देवयान पथसे अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी लोग परम तृप्त होकर जिस मार्गसे गये हैं उस मार्गसे, (यात) जाओ।

तुलना—गीतामें अनायास लाभसे सन्तुष्ट होना, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे उदासीन रहना, किसीकी उन्नति देखकर वैर न करना, कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें एक जैसा रहना, ये बातें संसारके बन्धनसे छुड़ानेवाली कही गई हैं। वेदमें भी कहा गया है कि ब्रह्मके तत्त्वको पहचानते हुए सच्चे तत्त्वज्ञानी ब्रह्मके अमृत-रसको पीते हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित होकर प्रसन्न रहें और सब कामनाओंसे रहित होकर तृप्त अर्थात् सन्तुष्ट होकर ब्रह्मवेत्ताओंवाले मार्गपर चलें।

२३. गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गतसङ्गस्य) कर्मोंके फलोंका संग त्याग देनेवाले, (मुक्तस्य) धर्माधर्मसे मुक्त और द्वन्द्वसे रहित, (ज्ञानावस्थितचेतसः) तत्त्वज्ञानमें स्थिर चित्तवाले, (यज्ञाय आचरतः) केवल लोक-कल्याणार्थ या भगवत्प्रीत्यर्थ यज्ञोंको करनेवाले

पुरुषका, (कर्म) कर्म, (समग्रम्) सम्पूर्ण कर्मफलोंके साथ, (प्रविलीयते) लीन हो जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

अपाद्‌ु शिप्र्यन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः ।
इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः ॥

(ऋग्वेदः ८-९२-४)

([1]शिप्री) जीवननिर्वाहके लिये प्राणोंको धारण करनेवाला, (इन्द्रः) ज्ञानरूपी ऐश्वर्यंको धारण करनेवाला पुरुष, (सुदक्षस्य) सृष्टिके उत्पन्न करनेमें प्रवीण, (प्रहोषिणः) सब जीवोंको उनके कर्मानुसार फल देनेवाले, (इन्दोः) ज्योतिःस्वरूप परमात्माके, (अन्धसः) आनन्दमय अन्नके, ([2]यवाशिरः) पके हुए पाक अथवा ज्ञानरसको, (अपात्) पान करता है अर्थात् ज्ञानरसका पान करनेसे जीवनयात्रार्थ किये हुए कर्म अपने आप लीन हो जाते हैं ।

उपनिषद्‌में कहा गया है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्‌ वृणीते ॥

(कठ उ. १-२-२)

ज्ञान और सांसारिक प्रेम अर्थात् अज्ञान, ये दोनों मिलकर मनुष्यको प्राप्त हुए हैं । धैर्यवान् ज्ञानी पुरुष उन दोनोंको पृथक् करता है और प्रेयसे अर्थात् सांसारिक सुख देनेवाली वस्तुओंसे ज्ञानको ग्रहण कर लेता है । परन्तु संसारी पुरुष योगक्षेमसे प्रेयको अर्थात् संसारी विषयोंको ही प्रिय समझकर ग्रहण करता है । इसलिये जो ज्ञानी पुरुष लोक-संग्रहार्थ अथवा केवल ईश्वरार्पण कर्मोंको करता है उसके सब कर्म आपसे आप नष्ट हो जाते हैं ।

तुलना—गीतामें कर्मोंके फलकी इच्छा न करना, ज्ञानमें स्थित रहना, यज्ञादि कर्म करना तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे पृथक् रहना कर्मोंके नाशके कारण बताये गए हैं । वेदमें भी परमात्माके प्रदान किये हुए ज्ञानात्मक रसका पीना सांसारिक कर्मोंके फलोंके नाशका कारण बताया गया है ।

---

१. शिप्री—शिप्राः प्राणाः तद्वान्, 'अत इनिठनौ' इति मत्वर्थीयः ।
२. यवाशिरः—'यु मिश्रणामिश्रणयोः', 'श्रीङ पाके' आङ्पूर्वस्य 'अपस्पृधेथामानृचुः' इत्यादिना धातोः शिरादेशः ।

२४. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष, (अर्पणम्) चमस, स्रुक्, हाथ आदिसे अर्पणको, (ब्रह्म) ब्रह्मस्वरूप देखता है, तथा, (हविः) घृतादि होमद्रव्यको, (ब्रह्म) ब्रह्म देखता है, और, (ब्रह्माग्नौ) ब्रह्मरूपी अग्निमें, (ब्रह्मणा) ब्रह्मरूप यजमानसे, (हुतम्) हवनके कर्मको ब्रह्म देखता है । (तेन) उस, (ब्रह्मकर्मसमाधिना) ब्रह्मकर्ममें समाधिसे, (गन्तव्यम्) प्राप्त होनेवाला फल, (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है, ऐसा देखता है ॥ २४ ॥

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥
ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः ।
शमिताय स्वाहा ॥

(अथर्ववेदः १९-४२-१–२)

(होता) हवन करनेवाला, (ब्रह्म) ब्रह्म है। (यज्ञाः) ज्योतिष्टोम, अतिरात्र आदि यज्ञ, (ब्रह्म) ब्रह्म हैं। (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे ही, (स्वरवो मिताः) सप्त स्वरोंके अथवा उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरोंके यज्ञमें प्रविष्ट होनेसे उद्गाता बने हुए हैं अर्थात् उद्गातादि भी ब्रह्म ही हैं। (अध्वर्युः) यजुर्वेदको जाननेवाला ऋत्विक् भी, (ब्रह्मणः) ब्रह्मसे, (जातः) प्रकट हुआ, अर्थात् अध्वर्यु भी ब्रह्म ही है। (हविः) यज्ञका साधनरूप दिया हुआ घृतादि, (ब्रह्मणः) ब्रह्मके ही, (अन्तर्हितम्) अन्तर्भूत रहता है, अर्थात् घृतादि भी ब्रह्म ही है। (घृतवती) घृतवाली, (स्रुचः) होमका साधन चमस, स्रुक् आदि, (ब्रह्म) ब्रह्म ही है। (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे ही, (वेदिः) यज्ञस्थली, (उद्धिता) तैयार की गयी है। (यज्ञस्य) ज्योतिष्टोम आदि यज्ञका, (तत्त्वम्) पारमार्थिक स्वरूप, (ब्रह्म) ब्रह्म ही है। (ये च) और जो, (हविष्कृतः) हविके करनेवाले, (ऋत्विजः) ऋत्विज् हैं वे भी ब्रह्म ही हैं। [(शम् इताय) होत्रादिसे सुखको प्राप्त हुए ब्रह्मको, (स्वाहा) भलीभाँति आहुत किया होवे]।

उपनिषदोंमें भी बताया गया है—

तस्माद् ऋचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। (मु. उ. २-१-६)

इसलिए ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ, सब कर्म और दक्षिणा, ये सब ब्रह्म ही हैं।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः
प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः। (बृ. उ. ४-४-५)

यह आत्मा ब्रह्म है, वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय और श्रोत्र-मय है, अर्थात् जब यह आत्मा अपने विज्ञान, मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र इत्यादिके साथ ब्रह्ममय हुआ तो जो क्रियायें इनसे की जायेंगी वे भी ब्रह्मरूप ही समझी जायेंगी। इसलिए यजमानका यज्ञोंमें आहुति-समर्पण आदि कर्म भी ब्रह्मरूप ही है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥
(मु. उ. २-२-११)

इस संसारमें नाना प्रकारके भासमान पदार्थ अमृतरूप ब्रह्म ही हैं। आगे भी ब्रह्म, पीछे भी ब्रह्म, दायें भी ब्रह्म, बायें भी ब्रह्म, नीचे भी ब्रह्म और ऊपर भी ब्रह्म तथा सब ओरसे फैली हुई नाम-रूपवाली भासमान जो वस्तुएँ हैं, सब ब्रह्म ही हैं। यह सम्पूर्ण विश्व श्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

तुलना—गीतामें यज्ञके सब अङ्गों, यज्ञकर्ताओं तथा यज्ञरूप कर्मको ब्रह्म ही कहा गया है। वेद और उपनिषदोंमें भी समग्र प्रपञ्च तथा प्रत्येक वस्तुको ब्रह्म कहा गया है।

२५. **दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।**
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥

(अपरे) दूसरे कर्मयोगके साधन करनेवाले, (योगिनः) कर्मयोगी, (दैवम्) सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि देवताओंको प्रसन्न करनेवाले दर्श-पौर्णमासादि, (यज्ञम् एव) यज्ञको ही, (पर्युपासते) श्रद्धासे करते हैं। (अपरे) दूसरे ज्ञानयोगका अनुष्ठान करनेवाले ज्ञानयोगी, (ब्रह्माग्नौ) सब कर्मोंको भस्म करनेवाली ब्रह्मरूपी अग्निमें, (यज्ञम्) अपनी आत्माको अथवा सब कर्मोंके समूहको, (यज्ञेन) जीव और ब्रह्मकी अभेदतारूप यज्ञसे अथवा कर्मोंको ब्रह्म-रूप अग्निमें भस्म करनेवाले यज्ञसे, (एव) ही, (उपजुह्वति) हवन करते हैं अर्थात् सब प्रकारकी उपाधियोंको भस्म करके जीव-ब्रह्मके अभेदरूप ज्ञान-को प्राप्त होते हैं॥ २५॥

हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम ॥
(निरुक्तम् १-११)

(एके) कई एक कर्मयोगी, (हविर्भिः) चरु, पुरोडाश, घृत आदि हवियोंसे हवन करते हैं, और, (एके) कई एक पुरुष, (सवनेषु) यज्ञोंमें, (सोमान्) अमृतवल्लीके रसको, (सुन्वन्तः) निचोड़ते हुए, और, (शचीः) देवताओंकी शक्तियोंकी स्तुति करके देवताओंको, (मदन्तः) प्रसन्न करते हुए, (इतः) इस मनुष्यलोकसे, (स्वः) स्वर्गलोकको, (सचन्ते) प्राप्त होते हैं अर्थात् स्वर्गका सेवन करते हैं। कई ज्ञानयोगी पुरुष, (दक्षिणाभिः) केवल निष्काम दान देनेसे संसारसे पार होते हैं। हे परमात्मन् ! (जिह्मायन्तः) कुटिल आचरण करती हुई हम आत्माएँ, (नरकम्) नरकमें अर्थात् नीच योनियोंमें, (न इत्) नहीं ही, (पताम) गिरें अर्थात् ज्ञानद्वारा हम उच्च पदवीको प्राप्त होवें।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी ये दोनों योगी यज्ञ करते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि कुछ लोग अनेक प्रकारकी हविसे हवन करते हैं, कुछ लोग सोमयज्ञ द्वारा देवताओंको प्रसन्न करते हैं तथा कुछ लोग निष्काम भावसे दान देते हुए ज्ञानयोगका साधन कर संसारसे पार हो जाते हैं।

२६. श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

२७. सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

(अन्ये) दूसरे यज्ञ करनेवाले योगी, (श्रोत्रादीनि) श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा, घ्राणादि, (इन्द्रियाणि) इन्द्रियोंको, (संयमाग्निषु) धारणा, ध्यान, समाधि-रूप संयमाग्नियोंमें, (जुह्वति) हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर ब्रह्मचर्यादि कठिन तपरूप अग्निमें भस्म करते हैं, ऐसे, (अन्ये) इनसे भिन्न तत्त्ववेत्ता पुरुष, (शब्दादीन्) शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शरूप, (विषयान्) विषयोंको, (इन्द्रियाग्निषु) श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा, नासिका और त्वचारूप भिन्न-भिन्न अग्नियोंमें, (जुह्वति) हवन करते हैं ॥ २६ ॥

(अपरे) और दूसरे पुरुष, (सर्वाणि) सब, (इन्द्रियकर्माणि) इन्द्रियोंके कर्मोंको, (च) और, (प्राणकर्माणि) श्वासोच्छ्वास आदि प्राणोंके कर्मोंको, (ज्ञानदीपिते) आत्मज्ञानसे प्रकाशित की हुई, (आत्मसंयमयोगाग्नौ) आत्म-

संयमरूप योगाग्निमें, (जुह्वति) हवन करते हैं, अर्थात् सब कर्मोंको आत्मामें लय कर देते हैं ॥ २७ ॥

घृतस्य जूतिः समनाः सदेवाः संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती ।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥

(अथर्ववेदः १९-५८-१)

(घृतस्य) प्रकाशमान परम तेजस्वी परमात्माका, (जूतिः) ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान, (समनाः) सब प्राणियोंके मनमें रहनेवाला, (सदेवाः)सब इन्द्रियोंके साथ रहनेवाला, (संवत्सरम्) परमात्माको, (हविषा)शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि हवियोंसे, (वर्धयन्ती) पुष्ट करता है । (नः) ज्ञानयज्ञमें प्रवृत्त होनेवाले हमारे, (श्रोत्रम्) कान, (चक्षुः) नेत्रादि ज्ञानेन्द्रिय, और, (प्राणः) कर्मेन्द्रिय, (अच्छिन्नः अस्तु) नष्ट न हों, अर्थात् श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और प्राणादि कर्मेन्द्रिय परमात्मामें लीन रहें । (वयम्) ब्रह्मतत्त्ववेत्ता हम लोग, (आयुषः) प्रारब्ध कर्माश्रयपर रहनेवाले देहकी आयुसे, और, (वर्चसः)तेजसे, (अच्छिन्नाः) नाशवान् न हों अर्थात् सारी आयुतक हमारे तेजकी वृद्धि बनी रहे ।

अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्महया गिरः ।
यज्ञेषु य उ चायवः ॥

(ऋग्वेदः ३-२४-४)

(अग्ने !) हे जीवात्मन् ! तू, (विश्वेभिः) सब प्रकारकी, (देवेभिः अग्निभिः) इन्द्रियरूपी अग्नियोंसे, (गिरः) स्तुतिके द्वारा, (महया) परमात्माका पूजन कर, (च) और, (यज्ञेषु) आत्मसंयमादि यज्ञोंमें, (उ) भी, (आयवः) परमात्माको यज्ञद्वारा पूजन करनेवाले लोग पूजें ।

उपनिषद्का कथन है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे
श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् ।

(बृ. उ. ४-५-६)

याज्ञवल्क्य मैत्रेयीसे कहते हैं—अरे मैत्रेयी ! यह आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने और निदिध्यासन अर्थात् पुनः-पुनः स्मरण करनेयोग्य है । इस आत्माको देखने, सुनने, मनन करने तथा जाननेसे सब कुछ आपसे आप जाना जाता है ।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद··
देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद।

(बृ. उ. ४-५-७)

ब्रह्मने उस प्राणीको अपनी शरणसे दूर फेंक दिया, जिसने आत्माको ब्रह्मसे पृथक् जाना। देवताओंने उस मनुष्यको अपनेसे बहुत दूर हटा दिया, जिसने देवताओंको आत्मासे भिन्न जाना।

यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छ-
क्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेर्ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य
वा शब्दो गृहीतः।

(बृ. उ. ४-५-८)

जैसे दुन्दुभिपर चोट पड़नेसे बाहरका कोई शब्द सुनाई नहीं पड़ता, दुन्दुभि ग्रहण करनेवालेको दुन्दुभिके आघातका वा केवल दुन्दुभिका शब्द सुनाई पड़ता है। इसी प्रकार आत्मसंयम करनेवाले योगीको उसकी श्रोत्रेन्द्रियसे सर्वत्र आत्मा ही सुनाई पड़ता है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि श्रोत्रादि इन्द्रियोंका संयम करना, या शब्दादि विषयोंको इन्द्रियोंमें लीन करना, या इन्द्रिय, प्राणों और कर्मोंको ज्ञानाग्निमें लय करना आत्मज्ञानके लिए आवश्यक है। उपनिषद् और वेदमें भी कहा गया है कि इन्द्रियों तथा मनमें रहनेवाला परमात्म-विषयक ज्ञान रूप, रसादि विषयोंसे भी ब्रह्मज्ञानको ही बढ़ाता है अर्थात् साधककी इन्द्रियाँ तथा मन संयत होकर, बाह्यज्ञानसे शून्य होकर ब्रह्मके ज्ञानमें लीन हो जाते हैं।

२८. द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

२९. अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(तथा) वैसे, (अपरे) और कई पुरुष, (द्रव्ययज्ञाः) यथाविधि धनदान करनेवाले हैं, कई और, (तपोयज्ञाः) मौन, कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तप करनेवाले हैं, (अपरे) कई और, (योगयज्ञाः) यम-नियमादि योगाभ्यास करनेवाले हैं, (अपरे) कई और, (स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः) वेदवेदांगों-सहित शास्त्रोंद्वारा तत्त्वज्ञानका विचार करनेवाले हैं। ऐसे, (यतयः) अपने-अपने

यज्ञोंका यथारीति साधन करनेवाले, (संशितव्रताः) अपने-अपने व्रतरूप यज्ञमें पूर्ण दृढ़ रहते हैं ॥ २८ ॥

(अपरे) कई और पुरुष, (प्राणायामपरायणाः) प्राणायाम करनेमें लगे रहनेवाले, (प्राणापानगतीः) श्वास-उच्छ्वासकी चालोंको, (रुद्ध्वा) रोककर, (अपाने) अधोमुख चलनेवाली अपान वायुमें, (प्राणम्) ऊर्ध्व गमन करनेवाली प्राणवायुको, (तथा) वैसे, (प्राणे) प्राणवायुमें, (अपानम्) अपानवायुको, (जुह्वति) हवन करते हैं, अर्थात् पूरक-कुम्भक-रेचकसहित प्राणायाम करते हैं ॥ २९ ॥

उपास्मान् प्राणो ह्वयतामुप वयं प्राणं हवामहे ।
वर्चो जग्राह पृथिव्यन्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधर्ता ॥

(अथर्ववेदः १९-५८-२)

(प्राणः) ऊर्ध्वकी ओर चलनेवाली प्राणवायु, (अस्मान्) हम प्राणायाम करनेवाले पुरुषोंको, (उप ह्वयताम्) धारण करे। (वयम्) पूरक, कुम्भक और रेचक, तीनों प्राणायाम करनेवाले हम, (प्राणम्) प्राणवायुको अपने-अपने शरीरमें चिरकालतक रहनेके लिये, (उप हवामहे) बुलाते हैं। (पृथिवी) यह पार्थिव देह, और, (अन्तरिक्षम्) भीतर वास करनेवाला मन, (वर्चः) प्राणायामको धारण करनेकी शक्तिवाले, (वर्चः) बलको, (जग्राह) ग्रहण करे, और, (सोमः) शान्त मन, (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ बुद्धि, (विधर्ता) तथा शरीरको धारण करनेवाला अहङ्कार, (वर्चः) तेज और बलको, (जग्राह) ग्रहण करे।

तुलना—गीतामें कई प्रकारके दान, तप, व्रत आदि यज्ञ बताए गए हैं और प्राणायाम करनेवालोंको व्रती कहा गया है। वेदमें भी कहा गया है कि प्राण अपानमें प्राप्त हों और अपान प्राणपर अधिष्ठित हो। प्राणायाममें प्रवृत्ति करनेसे शुभगति होती है।

३०. अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

(अपरे) यज्ञ करनेवाले कई और पुरुष, (नियताहाराः) परिमित भोजन करनेवाले अथवा विषयभोगोंका निग्रह करनेवाले, (प्राणान्) प्राण, अपान आदि वायुओंको, (प्राणेषु) प्राण, अपान आदि वायुओंमें यथाक्रम, (जुह्वति) हवन करते हैं। (एते) ये, (सर्वे) सब, (यज्ञविदः) बारह

प्रकारके यज्ञोंको जाननेवाले, (अपि) भी, (यज्ञक्षपितकल्मषाः) अपने-अपने यज्ञोंसे पापोंका तथा चित्तवृत्तिकी चञ्चलताका नाश करनेवाले होते हैं ॥ ३० ॥

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥

(ऋग्वेदः १०-१३६-२)

(वातरशनाः) वायुमात्र भक्षण करनेवाले, (मुनयः) यति लोग, (पिशङ्गा) पीले रगवाले, (मला) मैले वल्कलरूप वस्त्रोंको, (वसते) ओढ़ते हैं। (यत्) जब, (देवासः) अल्पाहार आदि तपकी महिमासे प्रकाशमान वे मुनि, (अविक्षत) निष्पाप होकर ब्रह्मके स्वरूपमें प्रवेश करते हैं, तब, (वातस्य) प्राण, अपान आदि वायुओंकी, (ध्राजिम्) गतिको, (अनु यन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् प्राणायामके फलको प्राप्त कर लेते हैं।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥

(ऋग्वेदः १-६-१)

योगसमाधिके लिये नियताहारी और मिताहारी पुरुष, (अरुषम्) किसीकी हिंसा न करनेवाली, (ब्रध्नम्) सारे जगत्को बाँधनेवाली अर्थात् सारे जगत्को अपने वशमें रखनेवाला, तथा, (तस्थुषः) वृक्ष-पर्वत आदि स्थावर पदार्थके, (परि) चारों ओर, (चरन्तम्) [चरतीति चरन्, वायुः, 'वायुर्वै चरन्' तै. ब्रा. ३।९।४, चलनेवाला अर्थात् वायु] प्राणादि वायुको, (युञ्जन्ति) अपने शरीरमें प्राणायाम-द्वारा जोड़ लेते हैं। वे, (दिवि) प्रकाशमान ब्रह्मलोकमें, (रोचना) नक्षत्रोंके समान चमकते हुए, (रोचन्ते) प्रकाश करते हैं, अर्थात् आनन्दके साथ निवास करते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य नियताहार होकर प्राणायाम करनेसे मुक्त हो जाते हैं अथवा तप, व्रत आदि यज्ञोंके करनेसे पापरहित हो जाते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि वायुभक्षी मुनिलोग प्राणायामके आधारपर सब पापोंसे रहित होकर मुक्तिधाममें शोभा पाते हैं।

३१. यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

(यज्ञशिष्टामृतभुजः) अमृतरूपी यज्ञशेषका भोजन करनेवाले तथा यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा आत्मानन्द भोगनेवाले कर्मयोगी, (सनातनम्) नित्य

अर्थात् तीनों कालोंमें वर्तमान, (ब्रह्म) परमात्माको, (यान्ति) प्राप्त होते हैं। (कुरुसत्तम !) हे कुरुकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (अयज्ञस्य) यज्ञ न करनेवालेका, (अयम्) यह, (लोकः) संसार अर्थात् इस संसारका ही सुख, (न) नहीं, (अस्ति) है, तो, (अन्यः) परलोकका सुख, (कुतः) कहाँसे हो सकता है, अर्थात् यज्ञ-कर्मसे रहित पुरुषके दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं ।। ३१ ।।

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ।।

(ऋग्वेदः १०-४४-६)

हे जीवात्मन् ! (ते) वे यज्ञशेषामृत भोजन करनेवाले पुरुष, (पृथक्) पृथक् देवलोकोंको, (प्रायन्) जाते हैं। (प्रथमाः) पहले यज्ञ करनेवाले, (देवहूतयः) तथा यज्ञोंमें देवताओंको बुलानेवाले जो लोग, (दुष्टरा) अयाज्ञिक पुरुषोंसे कठिनतासे पार होनेयोग्य, (श्रवस्यानि) सुननेयोग्य यशोंको अर्थात् कीर्तियोंको, (अकृण्वत) करते हैं अथवा बनाते हैं, और, (ये) जो यज्ञ न करनेवाले लोग, (यज्ञियाम्) यज्ञवाली अर्थात् यज्ञसम्बन्धी, (नावम्) नावपर, (आरुहम्=आरोढुम्) चढ़नेके लिये, (न शेकुः) समर्थ नहीं हैं, (ते) वे पुरुष, (केपयः) बुरे पाप करनेवाले, (ईर्मा एव) यज्ञ-ऋणसे ही, (न्यविशन्त) नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं।

यास्कने कहा है—

पृथक्प्रायन् पृथक् प्रथतेः प्रथमा देवहूतयो ये देवान्
आह्वयन्त अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि। दुरनु-
कराणि अन्यैः येऽशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम्।
अथ ये नाशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम्
ईर्मैव ते न्यविशन्त इहैव ते न्यविशन्त।
ऋणेनैव ते न्यविशन्त अस्मिन्नेव लोके।

(५-२५)

अग्ना यो मर्त्यो दुवो धियं जुजोष धीतिभिः।
भसन्नु ष प्र पूर्व्य इषं वुरीतावसे ।।

(ऋग्वेदः ६-१४-१)

(यः) जो मुमुक्षु पुरुष, (अग्ना) अग्निमें, (दुवः) हविके डालनेकी सेवा करते हुए, (धियम्) बुद्धिको, (धीतिभिः) वेदमन्त्रोंके उच्चारणरूप

स्तुतियोंके साथ, (जुजोष) आचरणमें लगाता है, (सः) वह मनुष्य, (पूर्व्यः) आयुसे छोटा होते हुए भी सबका मुख्य बना हुआ, (नु) शीघ्र, (प्र भसत्) विशेष रूपसे प्रकाशित होता है। वह, (अवसे) स्वशरीर-रक्षाके लिये, (इषम्) खान-पानादिको, (वुरीत) ग्रहण करता है।

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।
प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः॥
(ऋग्वेदः १-३३-५)

(इन्द्र !) हे परमात्मन् ! (यत्) जब, (अयज्वानः) यज्ञ-दानादिके न करनेवाले पुरुष, (यज्वभिः) यज्ञ-दानादि करनेवालोंके साथ, (स्पर्धमानाः) स्पर्धा करते हुए, (शीर्षा) अपने सिरोंको, (परा चित्) दूसरी ओर करके, (ववृजुः) चलते हैं, तो, (उग्र !) हे उग्रस्वरूप, (हरिवः !)पापोंके हरनेवाले, (स्थातः !)तथा सारे प्रपञ्चका स्थापन करनेवाले परमात्मन् ! (दिवः) अन्तरिक्षसे, (रोदस्योः) आकाश और पृथिवीसे, अर्थात् भूर्भुवः स्वः तीनों लोकोंसे, (अव्रतान्) यज्ञ-दान-व्रतादि न करनेवाले पुरुषोंको, (अधमः)नीच योनियोंमें, इस दुःखात्मक लोकमें, (प्र निः) प्रकर्षतासे प्राप्त कर, अर्थात् उन्हें दुःखात्मक योनियोंमें डाल।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि यज्ञ, दान, व्रत आदि करनेवाले परमात्माके चरणोंमें प्राप्त होते हैं और यज्ञ, दान, व्रतादि न करनेवाले पुरुषोंको न इस लोकमें सुख प्राप्त होता है, न परलोकमें। वेदमें भी कहा गया है कि यज्ञ, दान, व्रत करनेवाले संसारमें सुखी, मुखिया तथा शुद्धबुद्धि होते हैं पर यज्ञ न करनेवाले याज्ञिक पुरुषोंसे द्वेष रखते हैं और नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं।

३२. एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

(एवम्) इस तरह, (बहुविधाः) बहुत प्रकारके, (यज्ञाः) दैवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, संयमयज्ञ, आत्मसंयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, इन्द्रिययज्ञ, अष्टाङ्गयोगयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणयज्ञ, (ब्रह्मणः) वेदके, (मुखे) मुखमें अर्थात् सम्पूर्ण वेदवचनोंमें, (वितताः) विस्तारपूर्वक कहे गये हैं। (तान्) उन, (सर्वान्) सब यज्ञोंको, (कर्मजान्) कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मोंसे उत्पन्न, (विद्धि) जान। (एवम्) इस प्रकार, (ज्ञात्वा) जानकर, (विमोक्ष्यसे) तू संसार-बन्धनसे छूट जायगा॥ ३२॥

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् ।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥
(अथर्ववेदः ११-७-६)

(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्निसम्बन्धी यज्ञ या इन्द्र और अग्निका सूक्त, (पावमानम्) वायुदेवतात्मक यज्ञ या पवमानसूक्त, (महानाम्नीः महाव्रतम्) महानामवाले बड़े-बड़े व्रत अथवा महानाम और महाव्रतवाले मन्त्र, (यज्ञस्य) यज्ञके, (अङ्गानि) अङ्ग, (उच्छिष्टे) ब्रह्म, परमात्मा या वेदमें रहते हैं, (मातरि अन्तः गर्भः इव) जैसे माताके उदरमें गर्भ रहता है ।

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥
(अथर्ववेदः ११-७-७)

(राजसूयम्) राजसूय यज्ञ, (वाजपेयम्) वाजपेय यज्ञ, (अग्निष्टोमः) अग्निष्टोम यज्ञ, (तत् अध्वरः) वह हिंसारहित यज्ञ, (अर्काश्वमेधौ) सूर्ययज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, (मदिन्तमः जीवबर्हिः) आनन्द देनेवाला जीवोंका रक्षक यज्ञ, ये सब, (उच्छिष्टे) परब्रह्म परमात्मा अर्थात् वेदमें रहते हैं ।

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह ।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्त्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥
(अथर्ववेदः ११-७-८)

(अग्न्याधेयम्) अग्न्याधान, (दीक्षा) जिसमें मन्त्रोपदेश लिया जाता है वह यज्ञ, (छन्दसा सह कामप्रः) छन्दोंके साथ कामोंकी पूर्णता करनेवाला यज्ञ, (उत्सन्नाः यज्ञाः) उत्सन्न नामक यज्ञ, (अथो) और, (सत्त्राणि) अन्य सब यज्ञ, (उच्छिष्टे) परमात्मा या वेदमें, (अधि समाहिताः) समाश्रित हैं ।

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः ।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥
(अथर्ववेदः ११-७-९)

(अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र, (च) और, (श्रद्धा) श्रद्धा, (च) और, (वषट्कारः) हवनमें मन्त्रके अन्तमें बोला जानेवाला वषट्कार, (व्रतम्) सब प्रकारके व्रत, (तपः) सब प्रकारके तप, (दक्षिणा) द्रव्यादि का दान, (इष्टम्)

इष्टात्मक यज्ञ, (च) और, (पूर्तम्) पूर्तयज्ञ, ये सब, (उच्छिष्टे) परब्रह्म परमात्मा और वेदमें, (अधि समाहिताः) स्थित हैं।

इस प्रकार इसी सूक्तके १०, ११, १२ मन्त्रोंमें भी इन्हीं यज्ञोंका वर्णन है।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

(यजुर्वेदः १-५)

(अग्ने !) हे अग्निदेव ! या हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (व्रतपते !) हे यज्ञ-दान-सत्यादि व्रतोंके स्वामी ! मैं, (इदं व्रतम्) इस यज्ञ-दानादि व्रतको, (चरिष्यामि) करूँगा। (तत्) उसे, मैं, (शकेयम्) पूर्ण कर सकूँ, (मे) मेरा, (तत्) वह यज्ञ और व्रत, (राध्यताम्) सिद्ध कीजिये, जिससे, (अहम्) मैं, (अनृतात्) झूठे संसारसे छूटकर, (सत्यम्) सत्यस्वरूप परब्रह्मको, (उपैमि) प्राप्त करूँ।

तुलना—गीतामें ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन किया गया है जो कर्मसे उत्पन्न होते हैं तथा जिन यज्ञोंको भली-भाँति जानने और आचरण करनेसे मनुष्य मुक्त हो सकता है। वेदमें भी कई प्रकारके यज्ञ और उनकी उत्पत्ति वेदसे बताई गई है।

३३. **श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।**
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

(परन्तप !) हे शत्रुओंके नाश करनेवाले अर्जुन ! (द्रव्यमयात्) द्रव्य-मन्त्र-तन्त्रादि साधनोंसे सिद्ध होनेवाले, (यज्ञात्) यज्ञसे, (ज्ञानयज्ञः) ज्ञानयज्ञ, (श्रेयान्) श्रेष्ठ है। (पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (अखिलम्) सम्पूर्ण अङ्गोंके साथ, (सर्वम्) सब, (कर्म) यज्ञ, व्रत आदि कर्म, (ज्ञाने) ज्ञान-यज्ञमें, (परिसमाप्यते) भलीभाँति समाप्त हो जाते हैं॥ ३३॥

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे॥

(अथर्ववेदः ७-५-४)

(देवाः) ज्ञानियोंने, (पुरुषेण हविषा) आत्माकी हविसे अर्थात् आत्म-ज्ञानसे, (यत्) जो, (यज्ञम् अतन्वत) यज्ञका विस्तार किया, वह, (तस्मात्) उस द्रव्ययज्ञसे, (नु) निश्चय ही, (ओजीयः अस्ति) बलवान् या श्रेष्ठ है,

(यत्) जो, (देवाः) विद्वानोंने, (विहव्येन) विविध द्रव्यादिके हवनसे, (ईजिरे) यज्ञ किया ।

तुलना—गीतामें द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञको महान् बताया गया है । वेदमें भी दर्श-पौर्णमासादि बहुत प्रकारके यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञको अत्युत्तम कहा गया है ।

३४. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

हे अर्जुन ! (तत्) उस ज्ञानको, तू, (प्रणिपातेन) महान् पुरुषोंको दण्डवत् प्रणाम, (परिप्रश्नेन) उपासना, कर्म, ज्ञानादिके निमित्त प्रश्न, और, (सेवया) चरणोंकी सेवाके द्वारा, (विद्धि) जान । (तत्त्वदर्शिनः) ब्रह्मविद्याके गूढ तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले, (ज्ञानिनः) ज्ञानी लोग, (ते) तुझे, (ज्ञानम्) ज्ञानका, (उपदेक्ष्यन्ति) उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥
(अथर्ववेदः ९-४-१९)

तत्त्वज्ञानका जिज्ञासु मुमुक्षु पुरुष, (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मवेत्ता महापुरुषोंको, (ऋषभम्) सबसे श्रेष्ठ, (मनः) मनको, (दत्त्वा) देकर अर्थात् अपने सावधान मनको गुरुके उपदेशमें लगाकर, अपने उस मनको, (वरीयः) सबसे श्रेष्ठ या वरनेयोग्य, (कृणुते) करता है । (सः) वह पुरुष गुरुसे ज्ञानको सुनकर, (अघ्न्यानाम्) नाश न करनेयोग्य, परमात्माको प्राप्त करनेवाली मनकी वृत्तियोंकी, (पुष्टिम्) पुष्टताको, (स्वे) अपने, (गोष्ठे) इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके स्थानमें अर्थात् मनमें, (अव पश्यते) देखता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि तत्त्वदर्शी गुरुको प्रणाम तथा उनकी सेवा करके उनसे प्रश्नोंद्वारा उपदेश ग्रहण करना चाहिये । वेदमें भी उपदेशके समय ब्रह्मजिज्ञासुओंको सावधानचित्त होनेकी बात कही गई है क्योंकि सावधान चित्तवालेकी वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं ।

३५. यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

३६. अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥

(पाण्डव !) हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! (यत् ज्ञात्वा) जिस ज्ञानको जानकर, (एवम्) इस प्रकार, (पुनः) फिर, (मोहम्) मोहको, (न) नहीं, (यास्यसि) प्राप्त होगा, (येन) जिस ज्ञानके पानेसे, (अशेषेण) समग्र, (भूतानि) भूतोंको, अर्थात् ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त पदार्थमात्रको, (आत्मनि) अपने आत्मामें, (अथ) और, (मयि) मुझ वासुदेव परमात्मामें, (द्रक्ष्यसि) देखेगा ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! (चेत्) यदि, (सर्वेभ्यः) सब प्रकारके, (पापेभ्यः) पापियों-से, (अपि) भी, तू, (पापकृत्तमः) अधिक पाप करनेवाला, (असि) है, तो भी, (सर्वम्) सम्पूर्ण, (वृजिनम्) घोर पापके समूहको, (ज्ञानप्लवेन) ज्ञानरूपी नौकासे, (एव) ही, (सन्तरिष्यसि) भलीभाँति पार हो जायगा ॥ ३६ ॥

त्वं पुरूण्या भरा स्वश्व्या येभिर्मंसै निवचनानि शंसन् ।
सुगेभिर्विश्वा दुरिता तरेम विदो षु ण उर्विया गाधमद्य ॥

(ऋग्वेदः १०-११३-१०)

(त्वम्) गुरुके उपदेशकी इच्छा करनेवाला तू, (निवचनानि) गुरुसे उपदेश दिये वाक्योंकी, (शंसन्) स्तुति करता हुआ, (पुरूणि) बहुतसे, (स्वश्व्या) आत्मज्ञानके तात्त्विक विषयोंको, (आ भर) गुरुजीसे ग्रहण कर, (येभिः) जिन तात्त्विक विषयोंसे, (मंसै) मैं तुझे योग्य मानूँ । (सुगेभिः) भलीभाँति प्राप्त होनेयोग्य ज्ञानोंसे, (विश्वा) सब, (दुरिता) पापोंको, (तरेम) तू और हम पार करें । (अद्य) आज, इस ज्ञानमार्गमें, (नः) मुझसे कहे हुए, (गाधम्) गूँथे हुए वचनको, (उर्विया) बहुत मानके साथ, (सुविदः) भलीभाँति जान ।

तुलना—गीतामें गुरुके ज्ञानकी महत्ता, गुरुज्ञानसे भगवद्दर्शन तथा उस ज्ञान-से घोर पापीकी भी मुक्ति बताई गयी है। वेदमें भी कहा गया है कि गुरुसे ज्ञान पाकर मनुष्य श्रेष्ठ हो जाता है और सारे पापोंको पार कर जाता है।

३७. **यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।**
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (यथा) जैसे, (समिद्धः) धधककर जलती हुई, (अग्निः) अग्नि, (एधांसि) लकड़ियोंको, (भस्मसात्कुरुते) भस्मीभूत कर देती है, (तथा) वैसे ही, (ज्ञानाग्निः) ज्ञानरूप अग्नि भी, (सर्व-

कर्माणि) पुण्य-पापात्मक सब कर्मोंको, (भस्मसात् कुरुते) भस्मीभूत, निर्बीज कर देती है ॥ ३७ ॥

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः ।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ॥

(ऋग्वेदः १०-७९-३)

जैसे अग्नि, (मातुः) पृथिवीमात्रके, (उर्वीः) बड़े-बड़े, (वीरुधः) लता-काष्ठादिको, और, (प्रतरम्) अत्यन्त, (गुह्यम्) छिपे हुए उनके मूलको, (इच्छन्) खानेकी इच्छा करता हुआ, (प्र सर्पत्) प्रकर्षतासे चलता है, तथा, (न) जैसे, (कुमारः) ब्रह्मचारी ब्रह्मज्ञानसे अज्ञानका नाश करनेके लिये गुरुके पास जाता है, एवं, (ससं पक्वं न) जैसे पका हुआ धान्य काट लिया जाता है, वैसे ज्ञानाग्नि भी, (शुचन्तम्) शरीरको प्रकाशमान करता हुआ, (रिपः) पार्थिव देहकी, (उपस्थे अन्तः) गोदके भीतर, (रिरिह्वांसम्) स्वाद लेता हुआ सब कर्मोंको, (अविदत्) नाश करनेके लिये ढूँढ़ता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जैसे अग्नि लकड़ियोंको जलाकर नाश कर देता है वैसे ही ज्ञानाग्नि भी सब कर्मोंका नाश कर देता है। वेदमें भी अग्निसे लकड़ियोंके जलने तथा पके हुए खेतके कटनेके दृष्टान्त देकर ब्रह्मज्ञान-द्वारा सब कर्मोंका नाश बताया गया है ।

३८. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(इह) इस संसारमें अथवा वेदमें, (ज्ञानेन सदृशम्) ज्ञानके समान, (पवित्रम्) पवित्र, (न हि विद्यते) अन्य कुछ भी विद्यमान नहीं है। (तत्) उस पवित्र, आत्माके ज्ञानको, (कालेन) बहुत कालतक, (योगसंसिद्धः) यत्नके साथ निष्काम कर्मयोग-साधन करके सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष, (स्वयम्) अपने आप, (आत्मनि) अपने आपमें, (विन्दति) प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥

(अथर्ववेदः ७-३-१)

(घृणिः) ब्रह्मज्ञानसे तेजस्वी, (उरुः) विस्तृत हृदयवाला, और, (गातुः) ज्ञान-मार्गपर चलनेवाला, (सः) वह ज्ञानयोगी, (अया)

इस, (वि+स्था) विशेष प्रकारकी स्थितिसे, (कर्वराणि) नित्य-नैमित्तिक निष्काम कर्मोंको, (जनयन्) करता हुआ, (मध्वः) मधुर ज्ञानके रसको, (धरुणम्) धारण करनेके लिये, (अग्रं प्रति) सबसे अग्रभागमें स्थित मुक्ति-के लिये, (उदैत्) ऊपर उठता है, (हि) क्योंकि, वह (स्वया तन्वा) अपने शरीरसे अर्थात् अपनी आत्मासे, (वराय) वरणीय परमात्माके लिये, (तन्वम्) अपने शरीरको अर्थात् अपने आपको, (ऐरयत) प्रेरणा करता है।

उपनिषद् भी कहता है—

एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण
एषां लोकानामसम्भेदाय तमेतं वेदानुवचनेन
ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।

(बृ. उ. ४-४-२२)

वही आत्मा सब भूतोंका स्वामी है, वही सबका पालक है, वही यह आत्मा सबका पार लगानेवाला सेतु है, वही लोकोंकी रक्षाके लिये उनका धारक है। इसलिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष वेदके मन्त्रोंद्वारा यज्ञ, दान और तप इत्यादि साधन करके आत्मज्ञान पानेकी इच्छा करते हैं अर्थात् कामनाओंको त्यागकर इसी ज्ञानको चाहते हैं।

तुलना—गीतामें मुक्तिके लिये ज्ञानके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं बताया गया है। वेदमें भी कहा गया है कि ज्ञानी मनुष्य निष्काम कर्मोंको करते हुए ज्ञानमार्गपर चलता है और इसी ज्ञानद्वारा अपने आप आत्माको ढूँढ़ लेता है।

३९. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(श्रद्धावान्) गुरुके वचनोंमें और वेदशास्त्रमें सत्यबुद्धि और दृढ विश्वास रखनेवाला, (तत्परः) गुरुकी सेवाद्वारा अहर्निश ज्ञानप्राप्तिमें तत्पर, (संय-तेन्द्रियः) तथा इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकनेवाला पुरुष, (ज्ञानम्) ज्ञानको, (लभते) प्राप्त करता है। (ज्ञानम्) ज्ञानको, (लब्ध्वा) पाकर, (अचि-रेण) बहुत शीघ्र, (पराम्) परम, (शान्तिम्) निवृत्ति अर्थात् मुक्ति-पदको, (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है॥ ३९॥

श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजुर्वेदः १९-३०)

(श्रद्धया) गुरुके वचनों तथा वेदशास्त्रोंमें सत्य बुद्धि और दृढ़ विश्वाससे, (सत्यम्) सत्यस्वरूप ब्रह्मको, (आप्यते) प्राप्त कर लिया जाता है।

श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते।

(तै. ब्रा. ३-१२-३)

विद्वान् पुरुष श्रद्धासे ज्ञान अथवा ईश्वरत्वको प्राप्त करते हैं।

समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति ॥

(बृ. उ. ४-४-२३)

श्रद्धारूप धनवाला पुरुष समाहित होकर अपने आत्मामें ही अपने आत्माको देखता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि इन्द्रियोंको वशमें करने तथा गुरुवचन और शास्त्रवचनोंपर श्रद्धा रखनेसे मनुष्य ज्ञानको प्राप्त करके मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। वेदमें भी श्रद्धा ही ब्रह्मकी प्राप्तिका मूल साधन और पुरुषोंकी प्रतिष्ठाका कारण बताई गई है क्योंकि श्रद्धासे ही साधक आत्मामें आत्माको देखता है।

४०. **अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।**
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

(अज्ञः) गुरुद्वारा शिक्षा न पानेसे आत्मतत्त्वको न जाननेवाला अथवा विद्याहीन, (अश्रद्दधानः) नास्तिकबुद्धि होनेके कारण गुरु और वेदवचनोंमें श्रद्धा न रखनेवाला, (संशयात्मा) 'यह बात सिद्ध होगी या नहीं' ऐसा संशय रखनेवाला, (विनश्यति) नष्ट हो जाता है। (संशयात्मनः) संशयवाले मनुष्यके लिये, (न अयं लोकः अस्ति) न यह लोक है, (न परः) न परलोक है, (न सुखम्) न सुख ही है, अर्थात् वह सदा सर्वत्र दुखी ही रहता है ॥ ४० ॥

द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥

(ऋग्वेदः ८-९३)

(यः इन्द्रः) जो जीवात्मा, (द्विता) परमात्मविषयक अर्थात् ब्रह्मज्ञानसंबन्धी तत्त्वज्ञानसे शून्य तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु और वेदादि सच्छास्त्रोंमें श्रद्धारहित अथवा काम और क्रोधसे युक्त ऐसे दो कुत्सित विचारोंको रखनेवाला या [द्विता=द्विधा] देह ही आत्मा है या आत्मा देहसे भिन्न है ऐसी संशयात्मक द्विविधामें पड़नेवाला है वह जीवित रहते हुए भी शवके समान है। (इन्द्रः)

वही जीवात्मा, (वृत्रहन्तमः) अज्ञता और अश्रद्धामय पापका नाशक होकर मनसे द्विविधात्मक संशय या संशयरूपी पापको नष्ट करके, (शतक्रतुः) सैकड़ों अर्थात् असंख्य निष्काम कर्मोंको करता हुआ, ([1]विदे) परमात्मस्वरूप अर्थात् ब्रह्मानन्दरसको सम्यक्तया जान लेता है और फिर परमात्मासे प्रार्थना करता है—हे परमात्मन् ! (हरिभिः) काम-क्रोधको हरनेवाली और हमारे मनसे संशयोंको दूर करनेवाली शक्तियोंके साथ, (नः) हम भक्तजनोंके, (उप सुतम्) सोमात्मक अर्थात् चन्द्रमारूपी मनके समीप प्राप्त होओ।

उपनिषद्में लिखा है—

संशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुः तेन नित्यनिवृत्तस्तं नित्यबोधः तत्स्वयमेवावस्थितिः तं शान्तमचलमद्वयानन्दविज्ञानघन एवास्मि।

(प. हं. उ. २)

यह बात सिद्ध होगी या न होगी ऐसी दो अवस्थाओंके मध्यकी स्थिति, जैसे अँधेरेमें ठूँठ देखनेपर 'यह स्थाणु है या पुरुष है' इस प्रकारकी मनःस्थिति संशय है। जो जैसा न हो उसमें वैसा ज्ञान रखना, जैसे सीपीमें चाँदीकी बुद्धि रखना विपरीत ज्ञान कहा गया है। सत्य या असत्य दोनों अथवा एक प्रकारसे भी जो कहने योग्य न हो, इस अज्ञानावस्थाको मिथ्याज्ञान कहते हैं। इन तीनोंका कारण अविद्या अथवा अश्रद्धा ही है, जो मनुष्यको संशयात्मा बनाकर नष्ट कर देती है इसलिए उसे तीनों लोकोंमें सुख नहीं प्राप्त होता। उस संशय, विपरीत ज्ञान तथा मिथ्याज्ञानसे नित्य दूर रहनेवाला नित्यज्ञानी कहा जाता है। वह अपनी ही स्थिति अर्थात् आत्मावलम्बनवाला या आत्मज्ञानी कहा जाता है। शान्त मनुष्यको या जो आनन्दघनमें आनन्दघन बन रहा है उसे यह बोध होता है कि मैं ही अद्वितीय आनन्दस्वरूप तथा विज्ञानघन हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अज्ञ और श्रद्धासे रहित पुरुष संशयमें पड़ जाता है और संशययुक्त होनेसे किसी बातकी सिद्धितक नहीं पहुँच सकता इसलिए दोनों लोकोंमें दुखी रहता है। वेद तथा उपनिषद्में भी बताया गया है कि संशय, विपरीत और मिथ्याज्ञान विनाशके कारण हैं। जो पुरुष इन तीनोंसे रहित होता है वही सुखी है।

---

१. विदे—'विद ज्ञाने' (अदा.), कर्मणि विहितस्य तप्रत्ययस्य 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. ७-१-४१) इति लोपः।

४१. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥

(धनञ्जय !) हे अर्जुन ! (योगसंन्यस्तकर्माणम्) अपने किये हुए नित्य-नैमित्तिक कर्मके फलोंको ईश्वरमें अर्पण करनेवाले, (ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्) आत्मज्ञान या भगवत्स्वरूपके ज्ञानसे नष्ट हुए संशयवाले, (आत्मवन्तम्) इन्द्रिय, मन और उनकी वृत्तियोंको संयममें रखनेवाले पुरुषको, (कर्माणि) किये गये शुभ और अशुभ कर्म, (न निबध्नन्ति) नहीं बाँधते अर्थात् उसके दुःखके कारण नहीं होते ॥ ४१ ॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥
(ऋग्वेदः १-१६४-१६)

(स्त्रियः सतीः) अज्ञानका आच्छादन करनेवाले, तथा, (तान्)उन स्त्री, पुरुष, षण्ढ सब जीवात्माओंमें 'यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह षण्ढ है', इस मिथ्याज्ञानसे रहित, 'आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न षण्ढ है', इस ज्ञानसे युक्त संशयरहित ज्ञानी पुरुष, (मे) मुझ मुमुक्षुको, (पुंसः) पुरुष अर्थात् पिण्डमें शयन करनेवाला आत्मा है, (आहुः) ऐसा कहते हैं। (अक्षण्वान्) यह बात ज्ञानदृष्टिवाला, (पश्यत्) देखता है, (अन्धः) स्थूलदृष्टि अज्ञानी पुरुष अर्थात् ध्यानसे रहित मूढ पुरुष, (न वि चेतत्) आत्मज्ञानको अथवा आत्मबन्धनको नहीं जानता। (यः) जो, (पुत्रः) छोटी आयुवाला भी, (कविः) ज्ञानी हो, (सः) वह पुरुष, (ईम्) इस आत्मज्ञानके भावको और कर्मोंसे बन्धनके अभावको, (आ चिकेत) भलीभाँति जानता है। (यः) जो ज्ञानी, (ता=तानि) उन कर्मोंको और कर्म-बन्धनोंको, (विजानात्) जानता है, (सः) वह, (पितुः) ज्ञानसे रहित अपने उत्पन्न करनेवाले पिताका भी, (पिता) पिता अर्थात् पितृवत् पूजाके योग्य, (असत्) होता है।

उपनिषद्का भी कथन है—

न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानाव-
मान इति षडूर्मिवर्जितो निन्दागर्वमत्सरदम्भ-
दर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूया-
हङ्कारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते।
(प. हं. उ. २)

सरदी-गरमी, सुख-दुःख, मान-अपमान, शोक-मोह, जरा-मृत्यु और क्षुधा-पिपासा इन छह ऊर्मियोंसे रहित, तथा निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, अहंकारादिका नाश करके अपने शरीरको मृतक शरीरके समान देखता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि निष्काम कर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंको कर्म नहीं बाँधते। वेदमें भी कहा गया है कि स्त्री-पुरुष आदिके मिथ्या ज्ञानका परित्याग करके ही ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वको जान सकता है। ऐसा ज्ञानी थोड़ी अवस्थाका हो तो भी वृद्धवत् पूज्य समझा जाता है।

४२. तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

(भारत!) हे अर्जुन! (तस्मात्) इसलिये, (अज्ञानसम्भूतम्) अज्ञानसे उत्पन्न हुए, (हृत्स्थम्) हृदय अर्थात् बुद्धिमें स्थित, (आत्मनः) अपने, (एनम्) इस, (संशयम्) संशयको, (ज्ञानासिना) ज्ञानमयी तलवारसे, (छित्त्वा) काटकर, (योगम्) कर्मयोगका, (आतिष्ठ) आश्रय ले, और युद्ध करनेके लिए, (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो॥ ४२॥

यूयं धूर्षु प्रयुजो न रश्मिभिर्ज्योतिष्मन्तो न भासा व्युष्टिषु।
श्येनासो न स्वयशसो रिशादसः प्रवासो न प्रसितासः परिप्रुषः॥

(ऋग्वेदः १०-७७-५)

हे जीवात्माओ! (यूयम्) तुम, (धूर्षु) ब्रह्मज्ञानके भारमें, (रश्मिभिः) ज्ञानमयी किरणोंसे, (प्रयुजः न) रस्सियोंसे बँधे हुओंकी भाँति, (परिप्रुषः) चारों ओर अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोंमें चारों ओर गमन करनेवाले होओ, और, (भासा) ज्ञानाग्निके तेजसे अथवा कर्मयोगके प्रकाशसे, (ज्योतिष्मन्तः न) तेजस्वियोंकी भाँति हो जाओ, अर्थात् ज्ञानके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र और अग्निके समान प्रकाशमान हो जाओ। (व्युष्टिषु) सांसारिक पदार्थोंके विषयोंमें, (श्येनासः न) बाज पक्षीके समान झपट्टा मारकर भक्षण करनेवाले हो जाओ अर्थात् विषयोंका नाश कर दो। (स्वयशसः) अपने यशके, (रिशादसः) नाश करनेवाले जीवोंको अपने कर्मयोगसे दूर फेंकनेवाले होओ।

(प्रवासः न) विदेशी पथिकोंके समान, (प्रसितासः) निर्मोह होनेसे कर्मयोग-का आश्रय करनेके लिये प्रसिद्ध सवारियोंवाले होकर, (परिप्रुषः) संसारमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिये गमन करनेवाले हो जाओ ।

तुलना—गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि ज्ञानसे संशयका नाश करो और कर्मयोग अर्थात् युद्धके लिये खड़े हो जाओ । वेदमें भी जीवोंसे कहा गया है कि ज्ञानसे प्रकाशमान होते हुए अपने काम-क्रोधादि शत्रुओंका नाश करके संसारमें पथिकोंके समान अपने आपको समझते हुए कर्मयोगका आश्रय करो ।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका
तृतीय अध्याय समाप्त ।

—(:०:)—

पंचम अध्याय

अर्जुन उवाच—

१. संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

अर्जुनने कहा—(कृष्ण!) हे भक्तोंके पापोंको खींचनेवाले श्रीकृष्णजी! (कर्मणाम्) नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके, (संन्यासम्) त्यागको, (शंससि) कहते हो, (च) और, (पुनः) फिर, (योगम्) कर्मोंके अनुष्ठानको (शंससि) कहते हो, इसलिये मुझे घबराहट हो रही है, अतः, (एतयोः) कर्मसंन्यास और कर्मयोगमें-से, (यत्) जो, (एकम्) एक बात, (मे) मेरे लिये, (श्रेयः) कल्याणकारक हो, (तत्) उसी एक बातको, (सुनिश्चितम्) सुनिश्चित रूपसे, (ब्रूहि) कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

२. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—हे अर्जुन! (संन्यासः) कर्मोंका त्याग, (च) और, (कर्मयोगः) कर्मोंका अनुष्ठान,(उभौ) दोनों ही, (निःश्रेयस-करौ) कल्याणकारक अर्थात् मोक्षके लिये उपयोगी हैं, तथापि, (तयोः) उन दोनोंमें-से, (तु) तो, (कर्मसंन्यासात्) कर्मोंके त्यागसे, (कर्मयोगः) कर्मोंका करना, (विशिष्यते) तेरे लिये उत्तम है ॥ २ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

(यजुर्वेदः ४०-२)

मनुष्यको चाहिए कि वह इस संसारमें कर्मोंको करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।

तुलना—गीतामें कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनोंको कल्याणकारी बताते हुए कहा गया है कि इनमें कर्मयोग ही अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ है। वेदमें तो स्पष्ट ही कहा गया है कि कर्म करते हुए ही शतायु होनेकी कामना करनी चाहिए।

३. यः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

४. साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

५. यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(महाबाहो !) हे विशाल भुजावाले अर्जुन ! (यः) जो कर्मयोगी, (न द्वेष्टि) किसीसे द्वेष नहीं करता, और, (न काङ्क्षति) किसी प्रकार के सुखकी इच्छा नहीं करता, (सः) उस कामनारहित योगीको, (नित्यसंन्यासी) सदा संन्यासी, (ज्ञेयः) जानना चाहिए, (हि) क्योंकि, (निर्द्वन्द्वः) शीतोष्ण-सुखदुःख-रागद्वेषादिसे रहित मनुष्य, (सुखम्) सुखपूर्वक, (बन्धात्) संसार-बन्धनसे, (प्रमुच्यते) छूट जाता है ॥ ३ ॥

(साङ्ख्ययोगौ) ज्ञानसहित कर्मत्याग अर्थात् संन्यास और योगयुक्त कर्मोंका सम्पादन अर्थात् कर्मयोग, इन दोनोंको, (पृथक्) भिन्न-भिन्न फल देनेवाले, (बालाः) बालकोंके समान विवेकशून्य पुरुष, (प्रवदन्ति) कहते हैं। परन्तु, (पण्डिताः) शास्त्रज्ञ ज्ञानी, (न) ऐसा नहीं कहते, क्योंकि, (एकम् अपि) इन दोनोंमें से किसी एकका भी, (सम्यक्) भलीभाँति शास्त्रानुकूल, (आस्थितः) अनुष्ठान करनेवाला, (उभयोः) संन्यास और कर्मयोग दोनोंके, (फलम्) एक जैसे फलको, (विन्दते) प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

(साङ्ख्यैः) ज्ञाननिष्ठायुक्त संन्यासियोंसे, (यत् स्थानम्) जो स्थान, (प्राप्यते) पाया जाता है, (योगैः) कर्मयोगियोंसे, (अपि) भी, (तत्) वही स्थान पाया जाता है। इसलिये, (साङ्ख्यम्) सांख्य अर्थात् संन्यासको, (च) और, (योगम्) कर्मयोगको, (यः) जो पुरुष, (एकम्) एक समान, (पश्यति) देखता है, (सः) वही, (पश्यति) यथार्थ तत्त्वको भली-भाँति देखता है ॥ ५ ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
(यजुर्वेदः ४०-१४)

(यः) जो पुरुष, (विद्याम्) ज्ञानयोग अर्थात् संन्यासयोग, (च) और, (अविद्याम्) कर्मयोग, (तत् उभयम्) उन दोनोंको, (सह) एक

जैसा ही मोक्षका साधन करनेवाला, (वेद) जानता है, (सः) वह पुरुष, (अविद्यया) कर्मयोगसे, (मृत्युम्) संसारमें पुनःपुनः मरनेके कष्टको, (तीर्त्वा) पार करके, (विद्यया) ज्ञानयोगसे, (अमृतम्) मोक्षको, (अश्नुते) प्राप्त करता है।

उपनिषद्‌में कहा गया है—

काम-क्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगा-
निष्टसम्प्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोका-
द्यैरभिहतेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः।

(मै. उ. १-३)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्ष्या, इष्टवियोग, अनिष्ट-सम्प्रयोग, क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, रोग, शोकादिसे ताड़ना किये हुए इस शरीरमें कामभोगद्वारा सुखकी प्राप्ति कहाँ हो सकती है !

अन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन् संसारे
भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः।

(मै. उ. १-७)

मैं इस संसारमें अन्धे कूपमें रहनेवाले मेंढककी भाँति पड़ा हूँ। हे परमात्मन् ! हमारी शरण तुम ही हो, हमारी शरण तुम ही हो।

तुलना—गीतामें ज्ञानयोग और कर्मयोगका अभेद बताया गया है और कहा गया है कि जिस मोक्षधामको ज्ञानयोगी प्राप्त होते हैं, उसी धामको कर्मयोगी भी प्राप्त होते हैं। वेदमें भी कर्मयोग और ज्ञानयोगको साथ-साथ जानना लाभदायक बताते हुए कहा गया है कि कर्मयोगसे मृत्यु-निवृत्ति और ज्ञानयोगसे मुक्ति प्राप्त होती है। उपनिषद्‌में भी निष्काम होकर भगवान्‌की शरणमें जानेका उपदेश दिया गया है।

६. **संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।**
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥

(महाबाहो !) हे अर्जुन ! (अयोगतः) कर्मयोगके अनुष्ठानके बिना, (संन्यासः तु) ज्ञाननिष्ठासहित परम संन्यास तो, (आप्तुम्) प्राप्त करनेमें, (दुःखम्) अत्यन्त दुःखदायी होता है। इसलिये, (योगयुक्तः) कर्मयोगसे युक्त अर्थात् कर्मयोगी (मुनिः) मननशील प्राणी, (न चिरेण) बहुत ही शीघ्र, (ब्रह्म) परमात्माको, (अधिगच्छति) प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

(यजुर्वेदः ४०-११)

(यः) जो कर्मयोगी, (सम्भूतिम्) समस्त जगत्‌की उत्पत्तिके मूल कारण परब्रह्मको, (च) और, (विनाशम्) विनाशी शरीरसे उत्पन्न हुए विनश्वर कर्मयोगको, (तत् उभयम्) उन दोनोंको, (सह) एक साथ, (वेद) जानता है, वह प्राणी, (विनाशेन) विनश्वर कर्मयोगसे, (मृत्युम्) मृत्युको, (तीर्त्वा) पार करके, (सम्भूत्या) आत्मतत्त्वविवेक अर्थात् आत्म-विज्ञानसे, (अमृतम्) मुक्तिधामको, (अश्नुते) प्राप्त होता है ।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् ज्ञान-योग प्राप्त करना कठिन है । कर्मयोगी पुरुष कर्मयोगके साथ-साथ ज्ञानयोगका साधन करता हुआ मुक्त हो जाता है । वेदमें यही बात इस प्रकार कही गई है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग इकट्ठे चलते हुए मुक्तिधामको पहुँचा देते हैं ।

७. **योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।**
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

(विशुद्धात्मा) निर्मल मनवाला, (विजितात्मा) सब प्रकारकी वृत्तियों-को जीतनेवाला, (जितेन्द्रियः) इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, (सर्वभूतात्म-भूतात्मा) ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जड़-चेतन भूतोंकी आत्माको अपनी आत्मा समझनेवाला, (योगयुक्तः) कर्मयोगी पुरुष, (कुर्वन् अपि) नाना प्रकारके कर्मोंको करता हुआ भी, (न लिप्यते) कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ।। ७ ।।

य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः ।
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥

(ऋग्वेदः ७-५५-६)

(नः) मेरा अर्थात् मुझ परमेश्वरमें भक्ति करनेवाला, (यः) जो, (जनः) भक्त पुरुष, (आस्ते) कर्मयोगी होकर रहता है, (च यः) और जो मेरा भक्त, (चरति) शुद्धान्तःकरण होकर संसारमें व्यवहार करता है, (च यः) और जो पुरुष, (पश्यति) मुझे सर्वव्यापक देखता है, (तेषाम्) उन सब जीवोंकी, (अक्षाणि) इन्द्रियों और उनकी वृत्तियोंको, (सं हन्मः) [संहतिः निमीलनम्] संसारवासनासे हटाता हूँ । (हर्म्यम् यथा) जैसे

प्रासादादि स्थावर वस्तुएँ अपनी स्थितितक निश्चल रहती हैं, (तथा) वैसे, (इदम्) इस जगत्में ब्रह्मदृष्टि स्थिर रहती है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनको वशमें करना, इन्द्रियोंको जीतना, शुद्धान्तःकरण होना और सब आत्माओंको अपनी आत्मा समझना कर्मयोगका फल है। कर्मयोगी पुरुष कर्मोंको करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता। वेदमें भी कहा गया है कि जो कर्मयोगी चलते-फिरते, उठते-बैठते मुझे ही देखता है, मैं उसकी इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको संसारसे हटाता हूँ। वह स्थिर रूपसे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देखने लगता है।

८. **नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।**
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥

९. **प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।**
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(युक्तः) कर्मयोगसे युक्त समाहितचित्त, तथा, (तत्त्ववित्) यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला पुरुष, (पश्यन्) सांसारिक पदार्थोंको देखता हुआ, (शृण्वन्) सुनता हुआ, (स्पृशन्) छूता हुआ, (जिघ्रन्) सूँघता हुआ, (अश्नन्) भोजन करता हुआ, (गच्छन्) चलता हुआ, (स्वपन्) सोता हुआ, (श्वसन्) श्वासोच्छ्वास लेता हुआ, (प्रलपन्) बोलता हुआ, (विसृजन्) परित्याग करता हुआ, (गृह्णन्) ग्रहण करता हुआ, (उन्मिषन्) नेत्र खोलता हुआ, (निमिषन्) पलकें बन्द करता हुआ, (अपि) भी, (इन्द्रियाणि) ये सब इन्द्रियाँ, (इन्द्रियार्थेषु) अपने-अपने विषयोंमें, (वर्तन्ते) अपने आप वर्तमान रहती हैं, (इति धारयन्) ऐसा निश्चय करता हुआ, (नैव किञ्चित् करोमि) मैं स्वयं कुछ नहीं करता, (इति मन्येत) ऐसा माने॥ ८-९॥

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु।
इन्द्र तानि त आ वृणे॥

(ऋग्वेदः ३-३७-९)

(शतक्रतो!) हे सैकड़ों कर्म करनेवाले जीवात्मन्! (याः) जो, (ते) तेरी, (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ, (जनेषु पञ्चसु) पाँचों लोगोंमें अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र और निषादोंमें अथवा मनुष्य, असुर, पितर, राक्षस और निषादोंमें अर्थात् प्रत्येक जीवके साथ जिन इन्द्रियोंका सम्बन्ध है उनमें रहती

हैं, (इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (ते) तेरी, (तानि) उन सब इन्द्रियों और उनकी वृत्तियोंको, मैं परमात्मा, (आवृणे) अपनी ओर ले लेता हूँ अर्थात् उन इन्द्रियोंकी शक्तियाँ उनसे हटा लेता हूँ ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कर्मयोगी चलता, फिरता, खाता, पीता, देखता, सूँघता हुआ भी 'इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य कर रही हैं' समझते हुए 'मैं स्वयं कुछ नहीं करता, इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक धर्मको करती हैं' ऐसा माने । वेदमें भी कहा गया है कि जिन पुरुषोंकी इन्द्रियाँ परमात्माकी ओर झुक जाती हैं, वे कर्मयोगी चलते, देखते, खाते, पीते हुए भी कर्म-बन्धनमें नहीं आते ।

१०. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

(यः) जो तत्त्वद्रष्टा पुरुष, (ब्रह्मणि) परब्रह्म परमात्मामें, (आधाय) समर्पण करके, (सङ्गम्) कर्मके फलके सम्बन्धको, (त्यक्त्वा) छोड़कर, (कर्माणि) नैमित्तिक कर्मोंको, (करोति) करता है, (सः) वह पुरुष, (अम्भसा पद्मपत्रम् इव) जलसे लिप्त न होनेवाले कमलके पत्रके समान, (पापेन) पापसे अर्थात् अशुभ कर्मसे, (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता ॥१०॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(यजुर्वेदः ४०-२)

(इह) इस संसारमें, (कर्माणि) नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको, (कुर्वन्) करता हुआ, (एव) ही, (शतं समाः) सौ वर्षोंतक, (जिजीविषेत्) जीनेकी इच्छा करे । (एवम्) इस प्रकार ब्रह्मार्पण कर्म करते हुए, (त्वयि नरे) तुझ पुरुषमें, (इतः अन्यथा) इस प्रकारसे भिन्न, (न) कोई प्रकार नहीं है । (कर्म) ब्रह्मार्पण किया हुआ कर्म, (नरे) कर्मयोगी मनुष्यमें, (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कर्मके फलका परित्याग करके ब्रह्मार्पण कर्म करनेवाला कर्म-फलके बन्धनमें नहीं आता । वेदमें भी यह बताया गया है कि कर्म करता हुआ मनुष्य मुक्तिके द्वारतक पहुँच सकता है । नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका परित्याग न करनेवाला या निष्काम कर्म करनेवाला मनुष्य मुक्ति-पदवीको प्राप्त होता है, संसार-बन्धनमें नहीं आता ।

११. कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

(योगिनः) ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी पुरुष, (सङ्गम्) कर्मके फलको, (त्यक्त्वा) छोड़कर, (आत्मशुद्धये) केवल अपने चित्तकी शुद्धिके लिये, (कायेन) शरीरसे, (मनसा) मनसे, (बुद्ध्या) बुद्धिसे, अथवा, (केवलैः) केवल, (इन्द्रियैः) इन्द्रियोंसे, (अपि) भी, (कर्म) नित्य-नैमित्तिक कर्म, (कुर्वन्ति) करते हैं ॥ ११ ॥

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम् ।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥

(अथर्ववेदः ३-२०-९)

(पञ्च प्रदिशः) दिशाओंकी भाँति वर्तमान पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (मे) मेरे, (दुह्राम्) आत्मशुद्धिरूप फलको दोहन करें अर्थात् अपने विषयोंसे निवृत्तिद्वारा मेरे मनको शुद्ध करें। (उर्वीः) अपने-अपने कर्मोंमें फैलनेवाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ और छठा मन, (यथाबलम्) अपनी शक्तिके अनुसार, (दुह्राम्) आत्मशुद्धि-रूप फलको दोहन करें अर्थात् अपने-अपने विषयोंसे निवृत्तिद्वारा मेरे मनको शुद्ध करें, जिससे मोक्षकी इच्छावाला मैं, (मनसा) सङ्कल्प-विकल्पके हेतुरूप अन्तःकरणकी वृत्तिसे, (च) और, (हृदयेन) अन्तःकरणसे, (सर्वाः) सब, (आकूतीः) निष्काम कर्म तथा आत्मशुद्धि करनेवाले संकल्पोंको, (प्रापेयम्) प्राप्त करूँ।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि कर्मयोगी पुरुष शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे कर्मके फलके सम्बन्धको छोड़कर नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हैं। वेदमें भी इसी आशयकी बात इस प्रकार कही गई है कि कर्मेन्द्रियों द्वारा अपने-अपने कर्म करता हुआ पुरुष शुद्धसंकल्प होनेकी प्रार्थना करता है।

१२. युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

१३. सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

(युक्तः) ईश्वरार्पण-बुद्धिसे निष्काम कर्म करनेवाला कर्मयोगी पुरुष, (कर्मफलम्) कर्मके फलको, (त्यक्त्वा) छोड़कर, (नैष्ठिकीम्) कर्मनिष्ठासे उत्पन्न हुई, (शान्तिम्) शान्तिको, (आप्नोति) प्राप्त करता है। (अयुक्तः)

असमाहित अर्थात् चञ्चलचित्त होकर सकाम कर्म करनेवाला पुरुष, (कामकारेण) कामनाकी प्रेरणासे, (फले) फलमें, (सक्तः) आसक्त होकर, (निवध्यते) संसार-बन्धनको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

(वशी) मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाला, (देही) जीवात्मा, (सर्वकर्माणि) नित्य-नैमित्तिक सब कर्मोंको, (मनसा) मनसे, (संन्यस्य) सम्यक् त्याग कर, (न कुर्वन्) न कुछ करता हुआ, (न कारयन्) न किसीसे कुछ कराता हुआ, (एव) निश्चय ही, (नवद्वारे) नव द्वारके बने हुए, (पुरे) मनुष्य-शरीररूपी नगरमें, (सुखम्) सुखसे, आनन्दपूर्वक, (आस्ते) निवास करता है ॥ १३ ॥

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

(अथर्ववेदः १०-८-४३)

(त्रिभिः गुणेभिः) सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण, इन तीन गुणोंसे, (आवृतम्) घिरा हुआ, (नवद्वारम्) चक्षु, श्रोत्र, नासिका, मुख, गुदा और उपस्थ, इन नव द्वारोंवाला, (पुण्डरीकम्) कमलरूपी शरीर इस जीवात्माको प्राप्त हुआ है । (तस्मिन्) उस नवद्वारवाले कमलरूपी शरीरमें, (यत्) जो, (यक्षम्) पूज्य है, (आत्मन्वत्) आत्मस्वरूप है, (तत्) उसे, (वै) निश्चय ही, (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग ही, (विदुः) जानते हैं ।

तुलना—गीतामें शरीरको नगर और कर्णादि इन्द्रियोंको नवद्वार तथा उसमें निर्लेप आत्माका वास बताया गया है । वेदमें भी कहा गया है कि तीन गुणोंसे मिले हुए नौ द्वारोंवाले कमलरूप शरीरमें पूजनीय आत्मा वास करता है, जिसे ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं ।

१४. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

(प्रभुः) परमात्मा, (लोकस्य) जीवलोकके, (न कर्तृत्वम्) न कर्म करनेके अधिकारको, (न कर्माणि) न कर्मोंको, (न कर्मफलसंयोगम्) न कर्मोंके फलके संयोगको, (सृजति) उत्पन्न करता है, शुभ और अशुभ कर्मोंके फलोंके सम्बन्धको भी वह उत्पन्न नहीं करता, अर्थात् बलपूर्वक किसीको स्वर्ग अथवा नरकमें नहीं फेंक देता । (स्वभावः तु) स्वभाव ही, (प्रवर्तते) वर्तता है, अर्थात् अनादि कालसे मोह-मायाके वशमें पड़ा यह जीवात्मा कर्मोंको स्वयं

करता है और किये हुए कर्मोंके फलोंको भोगता है। ईश्वर तो केवल साक्षीरूप होकर देखता रहता है॥ १४॥

उपनिषदोंमें भी कहा गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(श्वे. उ. ४-६)

जीव और ईश्वर ये दोनों सुन्दर पंखवाले पक्षी परस्पर सखाके समान मिले हुए इस शरीररूप वृक्षपर बैठे हैं। इन दोनोंमें-से एक अर्थात् जीव स्वाद लेता हुआ इस वृक्षके फल—दुःख और सुखका भोग करता है। दूसरा अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा केवल साक्षी-भावसे देखता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा कुछ भी नहीं करता। यह जीव ही मोहमायासे बँधा हुआ स्वभावसे ही सब कुछ करता-कराता, भोगता-भोगाता रहता है।

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः॥

(श्वे. उ. ५-४)

(यद्वत्) जैसे, (अनड्वान्) सूर्य अपनी ज्योतिसे सब दिशाओं तथा ऊपर-नीचे, दायें-बायें सब वस्तुओंको प्रकाशित करता हुआ शोभित होता है इसी प्रकार सबसे स्तुति किये जानेयोग्य एक परमात्मा अपनी ज्योतिसे स्वभावों-को नियमपूर्वक प्रकाशित करता है, अर्थात् सब प्रकारके स्वभावोंमें अपनी ज्ञानशक्तिसे प्रकाश करता हुआ अधिष्ठित है, परन्तु स्वयं न तो किसीसे लिप्त होता, न किसीसे कुछ कराता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा न किसीसे बलपूर्वक कर्म कराता है और न किसीको बलपूर्वक स्वर्ग-नरकादि-प्राप्तिरूप कर्म-फल देता है। जीव अपने पूर्वजन्मकृत कर्मोंके वशीभूत होकर ही कर्मोंको स्वयं करता और फल भोगता है। उपनिषद्-वाक्योंमें भी कहा गया है कि परमात्मा अपने आप ही मनुष्यके कर्मोंको उत्पन्न नहीं करता और न ही अपने आप स्वर्ग-नरक आदिको प्राप्त कराता है। इस संसारमें परमात्मा तो साक्षीरूप होकर रहता है।

१५. **नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।**
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

(विभुः) सर्वव्यापक परमात्मा, (कस्यचित्) किसी भी जीवात्माका, (पापम्) पाप, (न आदत्ते) ग्रहण नहीं करता, (च) और, (न एव) न ही, (सुकृतम्) पुण्य, (आदत्ते) ग्रहण करता है, अर्थात् किसीके पाप-पुण्य-से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। (ज्ञानम्) वास्तविक आत्मतत्त्व, (अज्ञानेन) आवरण-विक्षेपादि उत्पन्न करनेवाले मोह-मायामय अज्ञानसे, (आवृतम्) आच्छादित है। (तेन) इसी कारण, (जन्तवः) संसारी अज्ञानी जीव, (मुह्यन्ति) मोहको प्राप्त होते हैं, अर्थात् मैं दुखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं राजा हूँ, मैं सब कुछ कर सकता हूँ, इस प्रकारके अहङ्कारात्मक अज्ञानसे ज्ञान ढक जाता है, जिससे संसारी जीव मतवालोंके समान मोहित होकर अपनी दशा भूल जाते हैं और अपनी स्मृतिसे भ्रष्ट होकर विषय और कर्तृत्वाभिमानके गड्ढेमें गिर-कर दुखी होते रहते हैं ॥ १५ ॥

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
(ऋग्वेदः १०-८२-७)

हे जीवात्माओ ! (तम्) तुम उस परमात्माको, (न विदाथ) सम्यक्तया नहीं जानते, (यः) जिस परमात्माने, (इमाः) इस जड़-चेतनको अपने-अपने कर्मोंके फलोंके अनुसार, (जजान) उत्पन्न किया और उत्पन्न करता है। (युष्माकम्) तुम सब जीवात्माओंके, (अन्तरम्) कर्म और उनके फला-नुसार 'धनी-निर्धनी, अन्धा-काना आदि' भेदसे, (अन्यत् बभूव) वह ईश्वर-तत्त्व भिन्न है क्योंकि वह पाप-पुण्यसे रहित है। तुम जीवात्मा, (नीहारेण) नीहाररूप मोहात्मक अज्ञानसे, (प्रावृताः) लिपटे हुए हो। इसलिये ही, (जल्प्याः) 'मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि बातें मोह-माया-वश होकर कहा करते हो, (च) और, (असुतृपः) केवल अपने प्राणोंको तृप्त करनेवाले अर्थात् पेटू हो, और, (उक्थशासः) कही हुई बातकी प्रशंसा करने-वाले अर्थात् संसारी वस्तुओंमें मोह धारण करके अपने-अपने पदार्थोंकी प्रशंसा करते हुए, (चरन्ति) इस संसारमें जीवन-यात्रा करते हो।

तुलना—गीतामें परमात्माको निर्लेप एवं पुण्य-पापसे रहित, और जीवोंको अज्ञानसे आच्छादित ज्ञानवाला कहकर बताया गया है कि इसीलिये मोहमायासे जीव मोहित रहते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि जिस परमात्माने समग्र जगत्-को उत्पन्न किया वह निर्लेप और पुण्य-पापसे रहित है। जीव अपने अ.प ही

मोह-मायाके वशमें पड़े हुए अहंकारी और उदरम्भरी बने रहते हैं तथा सांसारिक पदार्थोंमें मोह रखते हुए पुण्य और पापोंके भोग-प्रपंचमें लगे रहते हैं।

१६. ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

(येषाम्) कर्म और उपासनामें लगे हुए जिन मुमुक्षु पुरुषोंका, (तत् अज्ञानम्) सब अनर्थोंका बीजरूप मोहमय वह अज्ञान, (आत्मनः ज्ञानेन) आत्म-ज्ञानसे, (नाशितम्) नाश हो गया है, (तेषाम्) उनका, (ज्ञानम्) ज्ञान, (आदित्यवत्) सूर्यके समान, (तत्) उस, (परम्) परम पिता परमात्माको, (प्रकाशयति) प्रत्यक्ष कर देता है॥ १६॥

मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम्।
आभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः प्र तम्रा अवपत्तमांसि॥
(ऋग्वेदः १०-७३-५)

(इन्द्रः) मुमुक्षु जीवात्मा, (ऋतात्) परब्रह्मसे, (अधि इषिरेभिः) शरीरमें प्रकट की हुई, (सखिभिः) शरीर और जीवात्माके साथ रहनेवाली इन्द्रियोंसे, (मन्दमानः) प्रसन्न होता हुआ, (प्रजायै) इन्द्रियोंसे प्रकर्षतासे उत्पन्न हुई वृत्तियोंके लिये, (अर्थम्) उस-उस इन्द्रियके विषयको इन्द्रियोंको ही समर्पण करता है अर्थात् स्वयं इन्द्रियाधीन नहीं रहता प्रत्युत इन्द्रियाँ उसके अधीन रहती हैं। (हि) इसलिए, वह मुमुक्षु पुरुष, (आभिः) ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेवाली इन निगृहीत इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे, (दस्युम्) डाकूरूप, (मायाः) मोहित करनेवाली अज्ञानकी वृत्तियोंका, (उप आगात्) नाश करनेके लिये उनके समीप प्राप्त होता है, वही मुमुक्षु, (तम्राः) आत्म-ज्ञानसे ग्लानि दिलानेवाली, (मिहः) दुष्प्रवृत्तिरूपी वृष्टिको, (प्र अवपत्) नष्ट कर देता है, और, (तमांसि) अज्ञानमय अन्धकारको भी, सूर्यकी भाँति, (प्र अपवत्) नष्ट कर देता है।

उपनिषद्में कहा गया है—

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया च।
(प्र. उ. १-१६)

जिन लोगोंमें कुटिलता, झूठ और मोह-जाल या कपट नहीं है, जिन्होंने साधारण जीवोंके समान कामान्ध न होकर ज्ञान-वैराग्यके नेत्र खोल रखे हैं, उन्हीं लोगोंके लिये यह निर्मल ब्रह्मलोक है, दूसरोंके लिये नहीं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो लोग ज्ञानसे अज्ञानका नाश कर लेते हैं उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है तथा उन पुरुषोंका ज्ञान उन्हें परमात्माका साक्षात्कार करा देता है। वेदमें भी कहा गया है कि जीवात्मा जब अपनी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ इन्द्रियोंमें अर्पण करता है तो इन निगृहीत इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे ही मोहमायाका, दुष्प्रवृत्तियोंका तथा अज्ञानात्मक अन्धकारका नाश कर देता है। उपनिषद्में भी कपट, छल एवं मायासे रहित पुरुषको ही ब्रह्मपदकी प्राप्ति बताई गई है।

१७. तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) आत्मज्ञानसे नष्ट हुए पापोंवाले, (तद्बुद्धयः) उस ज्ञानसे प्रकट हुए परब्रह्ममें लगी हुई बुद्धिवाले, (तदात्मानः) उस परब्रह्मको अपने आपमें स्थापित करनेवाले, (तन्निष्ठाः) उस परब्रह्म परमात्मामें स्थिति-वाले, (तत्परायणाः) उस सच्चिदानन्द ब्रह्ममें आश्रय रखनेवाले प्राणी, (अपुनरावृत्तिम्) पुनः संसारमें जन्म न लेने अर्थात् मुक्तिको, (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं॥ १७॥

अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत्।
धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदा चक्रे अग्नेः॥

(ऋग्वेदः १०-१८१-२)

(यज्ञस्य) ['यज्ञो वै विष्णुः'] परब्रह्म परमात्माका, (यत्) जो, (परमम्) सबसे उत्तम, (गुहा) गुहास्वरूप, (धाम) मुक्तिस्थान, (आसीत्=अस्ति) है, (बृहत्) उस सबसे बड़े धामको, (द्युतानात्) प्रकाशमान, (च) और, (धातुः) जगत्के धारण-पोषण करनेवाले, (सवितुः) जगत्के उत्पन्न करनेवाले, (विष्णोः) सर्वव्यापक, (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप परब्रह्मसे, (यत्) जो ब्रह्मनिष्ठगण, (भरद्वाजः) सत्त्वगुणका पालन करनेवाले अन्नमय ज्ञानको अथवा ज्ञानात्मक बलको धारण करनेवाला, (आ चक्रे) प्राप्त करता है। (ते) ब्रह्मनिष्ठ वे प्राणी, (अतिहितम्) अति हितके करने-वाले अर्थात् फिर जन्म न देनेवाले, (धाम) मुक्तिधामको, (अविन्दन्) प्राप्त करते हैं।

उपनिषद्में आया है—

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

(मु. उ. ३-१-५)

दोषोंसे रहित हुए यतिलोग उस ब्रह्मको शरीरके भीतर देखते हैं जो ज्योतिर्मय शुभ्रवर्ण परमात्मा हृदयके भीतर है।

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।
तमेकमेव पश्यन्ति परिशुभ्रं विभुं द्विजाः॥
यस्मिन् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजङ्गमम्।
तस्मिन्नेव लयं यान्ति स्रवन्त्यः सागरे यथा॥

(मन्त्रि. उ. १६-१७)

ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले द्विज उस एक, सर्वथा निर्मल तथा स्थावर और जंगम वस्तुओंमें ओत-प्रोत विभु परमात्माको ब्रह्मासे लेकर स्थावर-पर्यन्त देखते हुए उस परब्रह्ममें उसी प्रकार लय हो जाते हैं जैसे समुद्रमें नदियाँ लय हो जाती हैं।

तदेतत्सत्यम्—

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथा अक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

(मु. उ. २-१-१)

यह सत्य है कि जैसे दीप्त अग्निसे सहस्रों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, फिर उसीमें लीन हो जाती हैं। इसी प्रकार हे सौम्य! उस अक्षर ब्रह्मसे सब जीव निकलते हैं और फिर उसीमें लीन हो जाते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मु. उ. ३-२-६)

वेदान्त-शास्त्रसे उत्पन्न विज्ञानसे निश्चित अर्थ यानी परमात्म-स्वरूपवाले सब सकाम कर्मोंके परित्यागसे, केवल ब्रह्मनिष्ठासे यति लोग, शुद्धान्तःकरणवाले या शुद्ध सत्त्वगुणवाले हो जाते हैं। वे सब ब्रह्मलोकमें देहके परित्यागके समयमें जीते हुए अर्थात् जीवन्मुक्त होकर सब प्रकारके संसार-बन्धनोंसे छूट जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥

(छा. उ. ८-१५)

यह जीवात्मा मुक्तिसे फिर लौटकर नहीं आता, मुक्तिसे फिर लौटकर नहीं आता।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥
(वे. द. ४-४-२२)

जो जीवात्मा देवयानमार्गद्वारा मुक्त हो जाते हैं वे मुक्तिसे लौटकर नहीं आते, यह दो बार कहना दृढ़ करनेके लिये है कि मुक्त कभी भी लौटता नहीं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञान-प्राप्तिसे शुद्धान्तःकरण होकर ब्रह्म-स्वरूपका ध्यान करते हुए साधक ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं, फिर संसारमें उनका जन्म नहीं होता। वेद-उपनिषदोंमें भी कहा गया है कि जो एकरस होकर सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्माका ध्यान करते हैं वे परब्रह्मके धामको अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं। वे फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आते।

१८. **विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(पण्डिताः) तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष, (विद्याविनयसम्पन्ने) वेद-शास्त्रोंके ज्ञान और नम्रतासे युक्त, (ब्राह्मणे) ब्राह्मणमें, (च) और, (श्वपाके) चाण्डालमें, (गवि) गायमें, (हस्तिनि) हाथीमें, (च) और, (शुनि) कुत्तेमें, (समदर्शिनः) समान दृष्टि रखनेवाले होते हैं, अर्थात् सब छोटे-बड़े, पशु, पक्षी, कीट-पतङ्गादिमें समान रूपसे ब्रह्मको देखते हैं ॥ १८ ॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥
या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥
(अथर्ववेदः ६-३८-१—२)

(या) जो, (त्विषिः) आत्मदीप्ति, (सिंहे) सिंहमें है, जो आत्म-ज्योति, (व्याघ्रे) व्याघ्रमें है, (उत या) अथवा जो आत्मज्योति, (पृदाकौ) सर्पमें है, जो आत्मज्योति, (अग्नौ) भौमाग्नि तथा विद्युदग्निमें है, जो आत्मज्योति, (ब्राह्मणे) ब्राह्मणमें है, (या) जो आत्मदीप्ति, (सूर्ये) सूर्यमें विद्यमान है, (या) जो आत्मज्योति, (हस्तिनि) हाथीमें विद्यमान है, जो आत्मज्योति, (द्वीपिनि) चीतेमें विद्यमान है, (या) जो आत्मदीप्ति, (हिरण्ये) सुवर्णमें है, जो, (त्विषिः) आत्मदीप्ति, (अप्सु) जलमें

विद्यमान है, जो आत्मज्योति, (गोषु) गौओंमें विद्यमान है, जो आत्मज्योति, (पुरुषेषु) मानवोंमें विद्यमान है, (या) जो, (देवी) द्योतमान, (सुभगा) सुन्दर, (त्विषिः) आत्मप्रकाशनसे, (इन्द्रम्) जीवात्माको अथवा राजाको, (जजान=जनयामास) प्रकट करती है, (सा) वह ब्रह्म-ज्योति अर्थात् आत्मज्योति समानरूप हुए, (वर्चसा) आत्मतेजसे, (संविदाना) भलीभाँति सबमें समताका ज्ञान कराती हुई, (नः) हम मुमुक्षु पुरुषोंको, (आ एतु) चारों ओर प्राप्त हो।

तुलना—गीतामें उसी मनुष्यको पण्डित माना गया है जो विद्वान् ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल आदिमें आत्मा एक जैसा मानते हैं। वेदमें कहा गया है कि शेर, व्याघ्र, सर्प, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, हाथी, चीता, सुवर्ण, गौ और क्षत्रियसे लेकर चाण्डालतक सबमें एक जैसी ही आत्मज्योति प्रकाश कर रही है, आत्मज्योतिमें भेद नहीं है।

१९. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

२०. न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(येषाम्) जिन समदर्शियोंका, (मनः) अन्तःकरण, (साम्ये) सब भूतोंके प्रति समता-बुद्धिमें, (स्थितम्) स्थिर हो जाता है, (तैः) उन समदर्शी पुरुषोंसे, (इह एव) इसी जन्ममें, (सर्गः) संसार अर्थात् संसारमें जन्म, (जितः) जीत लिया जाता है, (हि) क्योंकि, (ब्रह्म) परमात्मा, (निर्दोषम्) दोषसे रहित है, (समम्) सब छोटी-बड़ी वस्तुमें समानरूपसे वर्तमान रहता है, (तस्मात्) इसलिये, (ते) वे समदर्शी पण्डित,(ब्रह्मणि) ब्रह्ममें, (स्थिताः) निश्चल रूपसे निर्दोष होकर निवास करते हैं ॥ १९ ॥

जो पुरुष, (प्रियम्) अभीष्ट पुत्रादि प्रिय वस्तुको, (प्राप्य) पाकर, (न प्रहृष्येत्) प्रसन्न नहीं होता, (च) तथा, (अप्रियम्) शत्रु प्रभृति अनिष्ट वस्तुको, (प्राप्य) पाकर, (न उद्विजेत्) उद्विग्न नहीं होता, वह, (असम्मूढः) संशय, विभ्रम, विपरीतादि मोहके कारणोंसे रहित, (स्थिर-बुद्धिः) सदा स्थिर बुद्धिवाला, (ब्रह्मवित्) ब्रह्मको जाननेवाला अर्थात् ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष, (ब्रह्मणि) ब्रह्ममें, (स्थितः) स्थित हो जाता है, ब्रह्मसंस्थ हो जाता है॥ २० ॥

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥
(अथर्ववेदः १०-७-१७)

(ये) जो पुरुष, (पुरुषे) प्राणिमात्रमें, (ब्रह्म) सबमें समतासे वर्तमान परमात्माको, (विदुः) जानते हैं, (ते) वे, (परमेष्ठिनम्) सबसे उत्कृष्ट पदमें स्थित परब्रह्म परमात्माको, (विदुः) जानते हैं, (यः) जो, परमात्माको, (परमेष्ठिनम्)सबसे उच्चासनमें विराजमान, (वेद) जानता है, (यः) जो, (प्रजापतिम्) परमात्माको स्थावर-जङ्गम सारी प्रजाका स्वामी, (वेद) जानता है, (च) और, (ये) जो, (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञानीको, (ज्येष्ठम्) निर्दोष होनेसे सबसे बड़ा, (विदुः) जानते हैं, (ते) वे पुरुष ही, (स्कम्भम्) सनातन सर्वाधार परमात्माको, (अनुसंविदुः) भलीभाँति जानते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि प्राणिमात्रपर समतादृष्टि, समतामें मनकी स्थिति तथा ब्रह्मको निर्दोष समझना ब्रह्ममें स्थितिके कारण हैं तथा इष्ट वस्तु पानेसे प्रसन्न न होना, अनिष्ट वस्तु पानेसे दुखी न होना, मोहका परित्याग करना और स्थिर-बुद्धि होना ब्रह्मसाक्षात्कारके कारण हैं। वेदमें भी कहा गया है कि जो पुरुष ब्रह्मको प्राणिमात्रमें समरूपसे देखते हैं, परमात्माको परमोच्च पदपर विराजमान अर्थात् सर्वोत्कृष्ट और सब स्थावर-जङ्गम जगत्का स्वामी जानते हैं वही सर्वाधार ब्रह्मको ठीक-ठीक जानते हैं ।

२१. बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥

(बाह्यस्पर्शेषु) इन्द्रियोंके विषय रूप,रस, गन्धादि बाह्य पदार्थोंमें, (असक्तात्मा) आसक्तिसे रहित मनवाला पुरुष, (आत्मनि) अपने अन्तःकरणमें, (यत् सुखम्) उपशमरूप जिस सुखको, (विन्दति) पाता है, उस सुखके पश्चात्, (सः) वह पुरुष, (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा) ब्रह्मयोगमें स्थित आत्मावाला होकर, (अक्षय्यम्) अनन्त, अविनाशी, (सुखम्) स्वरूपभूत सुखको, (अश्नुते) प्राप्त करता है, अर्थात् जैसे विषयी विषयके सुखका अनुभव करता है, ब्रह्मसुखका अनुभव नहीं करता, वैसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष अविनाशी ब्रह्मके सुखका अनुभव करता है, विषय-सुखका अनुभव नहीं करता ॥ २१ ॥

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः ।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥

(ऋग्वेदः ६-९-५)

(पतयत्सु) जङ्गम पदार्थ अर्थात् प्राणिमात्रके, (अन्तः) हृदयमें, (मनो जविष्ठम्) मनसे भी अधिक वेगवाला, (कम्) निरतिशयसुखस्वरूप, (ध्रुवम्) सर्वदा स्थिर, (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप परमात्मा, (निहितम्) स्थित है। उस परमात्माका, (दृशये) साक्षात्कार करनेके लिये, (विश्वे देवाः) सब देवता या सब विद्वान्, (समनसः) समान-मन होकर अर्थात् समदृष्टि होकर, (सकेताः) ब्रह्मज्ञानसे युक्त होकर या ज्ञानके प्रभावसे तेजस्वी होकर, (एकम्) अद्वितीय ज्योतिःस्वरूप, (क्रतुम्) अक्षय सुखात्मक कर्म-स्वरूप परमात्माको, (साधु) भलीभाँति, (अभि वि यन्ति) अभिमुख होकर विविध प्रकारसे प्राप्त होते हैं।

तुलना—गीतामें रूप-रसादि बाह्य विषयोंका परित्याग और ब्रह्मध्यानमें मग्न रहना परमानन्दकी प्राप्तिका कारण बताया गया है। वेदमें भी कहा गया है कि जो लोग प्राणिमात्रमें विराजमान स्थिर ज्योतिका ध्यान करते हैं तथा सबमें समताबुद्धि रखते हैं वही ब्रह्मानन्दका सुख भोगते हैं।

२२. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (हि) क्योंकि, (ये) जो, (संस्पर्शजाः) विषयोंके साथ इन्द्रियोंके स्पर्शसे उत्पन्न, (भोगाः) भोग अर्थात् सुख हैं, (ते) वे सुख, (दुःखयोनयः) दुःखोंके कारण, (एव) ही हैं, तथा, (आद्यन्तवन्तः) उत्पत्ति और विनाशवाले हैं, इसलिये, (बुधः) ब्रह्म-ज्ञानके तत्त्वको देखनेवाला ज्ञानी पुरुष, (तेषु) उन विषय-भोगोंमें, (न) नहीं, (रमते) रमण करता अर्थात् उन विषयोंमें प्रीति नहीं करता ॥ २२ ॥

अप हत रक्षसो भङ्गुरावतः स्कभायत निर्ऋतिं सेधतामतिम् ।
आ नो रयिं सर्ववीरं सुनोतन देवाव्यं भरत श्लोकमद्रयः ॥

(ऋग्वेदः १०-७६-४)

(अद्रयः !) हे विदीर्णतासे रहित जीवात्माओ ! तुम, (भङ्गुरावतः) नाश होनेवाले अर्थात् आदि और अन्तवाले, (रक्षसः) राक्षसरूप इन्द्रियोंके विषयोंके सुखोंको, (अपहत) दूर करो, और, (निर्ऋतिम्) नियत नित्य

घृणावाले भोगोंको, (स्कभायत) दूर स्तम्भन करो अर्थात् दूर रोको, (अमतिम्) परमात्मासे विमुख करनेवाली नीच बुद्धिको, (सेधत) वशमें करो अर्थात् तुम खोटी बुद्धिको नष्ट कर दो, (नः) हम सब जीवोंके लिये, (सर्ववीरम्) सब ब्रह्मज्ञानियोंसे वरनेयोग्य, (रयिम्) ज्ञानस्वरूप धनको, (आ सुनोतन) चारों ओर प्राप्त करो, और, (देवाव्यम्) बुद्धिमानोंकी रक्षा करनेवाली या बुद्धिमानोंको प्रसन्न करनेवाली, (श्लोकम्) भगवत्स्तुतिका, (भरत) सम्पादन करो।

तुलना—गीतामें इन्द्रियजन्य विषयोंके उपभोगको दुःखका कारण बताते हुए कहा गया है कि इनमें बुद्धिमानोंको आसक्त न होना चाहिए। वेदमें भी विनश्वर आद्यन्तवाले इन्द्रियोंके विषयों तथा भोगोके परित्याग, नीच बुद्धिको वशमें करने तथा ज्ञानप्राप्ति और भगवत्स्तुति करनेका आदेश दिया गया है।

२३. शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

(यः) जो विवेकी पुरुष, (शरीरविमोक्षणात्) शरीर छोड़नेसे, (प्राक्) पहले, (इह) इस जन्ममें अथवा इस लोकमें,(एव) ही, (कामक्रोधोद्भवम्) काम और क्रोधसे उत्पन्न, (वेगम्) वेगको अर्थात् क्षोभको, (सोढुम्) सहन करनेमें, (शक्नोति) समर्थ होता है, (सः) वह पुरुष, (युक्तः) योगयुक्त यथार्थ योगी है, (सः) वह, (नरः) मनुष्य, (सुखी) परम सुख भोगनेवाला है ॥ २३ ॥

त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः।
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति ॥
(ऋग्वेदः २-२७-३)

(अदब्धासः) काम-क्रोधादि शत्रुओंसे न मारे हुए अर्थात् काम-क्रोधादिके वेगको सहन करनेवाले, तथा, (दिप्सन्तः) काम-क्रोधादि शत्रुओंका नाश करनेकी इच्छा करते हुए जो मुमुक्षु पुरुष, (अन्तः) अपने शरीरके भीतर ही, (भूर्यक्षाः) अधिकतासे इन्द्रियोंको धारण करते हुए, (वृजिना) पापों अथवा दुःखोंको, (पश्यन्ति) देखते हैं अर्थात् यह समझते हैं कि शरीरको ही अपना माननेपर दुःख प्राप्त होता है, (ते) वही पुरुष, (आदित्यासः) सूर्यके समान तेजस्वी होकर, (उरवः) महत्ताको धारण करते हुए, (गभीराः) काम-

क्रोधादिके वेगको सहन करनेसे गम्भीरतासे युक्त होकर, (सर्वम्) समग्र संसार-की वस्तुमात्रको, (साधु) अच्छी, सुखस्वरूप, (पश्यन्ति) देखते हैं, (उत) और, वही पुरुष, (परमा) सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तुओंको, (चित्) भी, (राजभ्यः) प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप परमात्माके, (अन्ति) पास, (पश्यन्ति) देखते हैं अर्थात् परमात्माको सर्वव्यापक देखते हैं अतः वे सर्वदा सुखी रहते हैं।

तुलना—गीतामें शरीर छोड़नेसे पहले काम-क्रोधका जीतना लाभदायक बताया गया है क्योंकि काम-क्रोधके परित्यागसे ही मनुष्य ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मानन्दका सुख भोगता है। वेदमें भी क्रोधादिका परित्याग, इन्द्रिय-भोगोंमें दुःखोंकी प्रतीति तथा सब वस्तुओंको ब्रह्मरूप देखना, कल्याणका कारण कहा गया है।

२४. योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

(यः) जो पुरुष, (अन्तःसुखः) बाह्यविषयोंसे रहित होकर अपने भीतर ही सुखी है, तथा, (अन्तरारामः) बाह्य स्त्री-पुत्रादि-क्रीड़ाका परित्याग करके अपने आत्माके ही साथ क्रीड़ा करनेवाला है, (तथा) और, (यः) जो पुरुष, (अन्तर्ज्योतिः) अपने अन्तरात्मामें विज्ञानस्वरूप प्रकाशसे प्रकाशित है, (सः एव) वही, (योगी) योगी, (ब्रह्मभूतः) देहात्मभावका त्याग करता हुआ, (ब्रह्मनिर्वाणम्) विदेहमुक्तिको, (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन्मादयस्व ॥

(यजुर्वेदः ७-५)

(मघवन्!) हे ज्ञानात्मक धन-धारक! हे योगिन्! (ते) तुझ योगीके, (अन्तः) हृदयाकाशमें, (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवीमें अर्थात् शरीरमें सहनशक्ति और हृदयमें ज्ञानशक्तियोंको, (दधामि) धारण करता हूँ अर्थात् स्थापित करता हूँ, तथा, (उरु) विस्तृत, (अन्तरिक्षम्) अन्तःकरणमें स्थित अवकाशको, (अन्तः) शरीरके भीतर, (दधामि) धारण करता हूँ। (सजूः) मित्रके समान तू, (देवेभिः) इन्द्रियोंके संयम-द्वारा ज्ञानी पुरुषोंसे, (अवरैः) थोड़े, (च परैः) और बहुत योगाभ्यासके व्यवहारोंसे, (अन्तर्यामे) आन्तरिक नियमोंमें वर्तमान अवस्थामें, (मादयस्व) दूसरे योगाभ्यासी पुरुषोंको भी प्रसन्न कर।

प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः।
पाजस्वन्तो न वीराः पनस्यवो रिशादसो न मर्या अभिद्यवः ॥

(ऋग्वेदः १०-७७-३)

(ये) जो पुरुष, (दिवः) हृदयाकाशमें, (प्र रिरिच्रे) प्रकर्षतासे स्वयंमें रमण करनेके लिए आसक्त रहते हैं, (न=च) और जो पुरुष, (पृथिव्या—पृथिव्याम्) पृथिवीके विकार देहमें, (प्र रिरिच्रे) प्रकर्षतासे वियुक्त रहते हैं अर्थात् देहमें आसक्ति नहीं रखते, और जो पुरुष, (बर्हणा) महान्, (त्मना) आत्मासे, (अभ्रात्) मेघसे वियुक्त, (सूर्यः न) सूर्यकी भाँति, और, (पाजस्वन्तः) बलवान्, (वीराः न) वीरोंकी भाँति, (पनस्यवः) भगवत्स्तुतिकी इच्छा करते हुए, (रिशादसः) हिंसासे दूर रहनेवाले, (मर्याः न) मनुष्योंकी भाँति, (अभिद्यवः) आत्मज्योतिसे अत्यन्त प्रकाशमान विदेहमुक्त होते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आन्तरिक सुखका भोग, बाह्य इन्द्रिय-सुखका परित्याग और अन्तरात्मामें प्रकाशस्वरूप ब्रह्मका दर्शन करनेवाला योगी विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है। वेदमें भी हृदयाकाशमें ब्रह्मानन्दका सुख भोगना, बाह्यविषयोंका परित्याग करना, हिंसासे रहित होना और ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए शूर-वीर बनना, ये सब विदेहमुक्तिके कारण कहे गए हैं।

२५. **लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।**
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

(क्षीणकल्मषाः) निष्काम कर्म करनेसे पापोंका नाश करके अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त किये हुए, (छिन्नद्वैधाः) संशयरहित होकर शत्रु-मित्र भेदको दूर करनेवाले, (यतात्मानः) अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, (सर्वभूतहिते रताः) सब जीवोंका हित करनेमें लगे हुए अर्थात् परोपकारी, (ऋषयः) ऋषि लोग, (ब्रह्मनिर्वाणम्) विदेहमुक्ति अर्थात् अगाध ब्रह्मानन्दको, (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।
उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद्देवा देवानामपि यन्ति पाथः ॥

(ऋग्वेदः ३-८-९)

हमारे सहवासी जीवात्मा, (शुक्राः) पापोंसे रहित होकर शुद्ध हुए, (वसानाः) पापोंको अत्यधिक आच्छादित करते हुए अर्थात् पापोंको ढकते हुए, (यतानाः) इन्द्रिय-नियमनमें यत्न करते हुए, (श्रेणिशः) श्रेणिबद्ध, (हंसाः इव) हंसोंकी भाँति अर्थात् मिलकर, (स्वरवः—स्वरुः यज्ञः भवति) यज्ञात्मक परमात्माको

स्मरण करते हुए, (नः) हमारे सम्मुख, (आ अगुः) चारों ओर प्राप्त होते हैं। (पुरस्तात्) शरीर छोड़नेसे पहले, (कविभिः) ब्रह्मज्ञानियोंसे, (उन्नीयमानाः) ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए उन्नतिको प्राप्त करते हुए, (देवाः) बुद्धिमान् जीवात्मा अर्थात् ऋषिगण, (देवानाम् पाथः) देवताओंके मार्गको अर्थात् मुक्तिधामको ही, (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं।

तुलना—गीतामें संशयरहित होना, राग-द्वेषका त्याग, इन्द्रिय-संयमन, सब जीवोंपर उपकार करना तथा पापोंसे रहित होना कैवल्य-प्राप्तिके कारण बताए गए हैं। वेदमें भी पाप-परित्यागपूर्वक शुद्धात्माका ध्यान करना और ब्रह्मज्ञानियोंसे उपदेश लेना कैवल्य-प्राप्तिके साधन कहे गये हैं।

२६. कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(कामक्रोधवियुक्तानाम्) काम और क्रोधसे रहित, (यतचेतसाम्) अन्तःकरणको वशमें रखनेवाले, (विदितात्मनाम्) आत्मज्ञानी, (यतीनाम्) यतियोंका, (अभितः) जीने और मरनेपर अर्थात् दोनों अवस्थाओंमें, (ब्रह्मनिर्वाणम्) कैवल्यमुक्ति अर्थात् परमपद, (वर्तते) वर्तमान रहता है॥ २६ ॥

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित्॥

(ऋग्वेदः ७-१०३-८)

(सोमिनः) आत्मज्ञानी, (घर्मिणः—घर्मः यज्ञः) यज्ञात्मक ब्रह्मका ध्यान करनेवाले, (अध्वर्यवः) काम-क्रोधादिसे उत्पन्न हिंसासे रहित या सन्मार्गपर चलनेवाले, (सिष्विदानाः) काम-क्रोधादिको छोड़नेवाले, (ब्राह्मणासः) ब्रह्मज्ञानी, यति, (ब्रह्म) ज्ञानगोष्ठीको, (कृण्वन्तः) करते हुए अर्थात् ब्रह्मकीर्तन करते हुए, (परिवत्सरीणम्) ब्रह्मसम्बन्धी, (वाचम्) वार्तालाप, (अक्रत) करते हैं। (के) सुखस्वरूप ब्रह्मज्ञानी यतिलोग, (चित् न=अपि) ही, (गुह्या) गुह्यस्थान, ब्रह्मनिर्वाणको, (आविर्भवन्ति) प्रकट करते हैं अर्थात् ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं।

तुलना—गीतामें काम-क्रोधसे रहित, मनको वश रखनेवाले आत्मज्ञानियोंको ही ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति बतलायी गई है। वेदमें भी यही कहा गया है कि काम-क्रोधादि हिंसासे दूर रहनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मका कीर्तन करते हुए ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं।

२७. स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
२८. यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

(यः) जो, (मुनिः) मननशील पुरुष, (बाह्यान्) शरीरके बाहर रहनेवाले, (स्पर्शान्) रूप, रस आदि विषयोंको, (बहिः कृत्वा) अन्तःकरणसे बाहर निकालकर, (च) और, (चक्षुः) नेत्रोंको, (भ्रुवोः) दोनों भौंहोंके, (अन्तरे एव) मध्यभागमें, (कृत्वा) स्थिर करके, (नासाभ्यन्तरचारिणौ) नासिकाके भीतर चलनेवाले, (प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों वायुओंको, (समौ कृत्वा) समान करके अर्थात् दोनोंका युगपत् निरोध करके, (यतेन्द्रियमनोबुद्धिः) गुरुद्वारा बताई हुई रीतिसे अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धिको यत्नके साथ वशमें रखता हुआ, (विगतेच्छाभयक्रोधः) नाना प्रकारके विषयोंकी कामना तथा जन्म-मरणके भय और क्रोधसे रहित होकर, (मोक्षपरायणः) मुक्ति पानेकी इच्छामें लगा हुआ है, (सः) वह मुनि, (सदा) तीनों कालोंमें, (मुक्त एव) निश्चित रूपसे मुक्त ही है ॥ २७–२८ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥
(अथर्ववेदः २-३४-५)

(पूर्वे) सृष्ट्यादिकालमें उत्पन्न हुए, तथा, (प्रजानन्तः) अच्छी रीतिसे प्राणायाम-विधिको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष, (परि आचरन्तम्) शरीरके सब स्थानोंमें भ्रमण करती हुई, (प्राणम्) प्राणवायुको, (अङ्गेभ्यः) सब अङ्गोंसे खींचकर, (प्रतिगृह्णन्तु) ग्रहण करते हैं अर्थात् कुम्भक रीतिसे प्राणोंको अपने अधीन कर प्राणोंको खींचते हैं। (शरीरैः) ऐसे ही तुम प्राणवायुके रोकनेपर भी, स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप शरीरोंसे और उनके अङ्गोंसे, (प्रतितिष्ठ) भलीभाँति स्थित हो, अर्थात् तुम्हारा शरीर भी भलीभाँति स्थिर रहे। (देवयानैः) विद्वान् और योगियोंके चलनेयोग्य, (पथिभिः) मार्गोंसे, (स्वर्गम्) सुखमय स्थानको, (याहि) प्राप्त होओ, फिर, (दिवम्) सबसे ऊपर प्रकाशमान मुक्तिधामको, (गच्छ) प्राप्त होओ।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥
(ऋग्वेदः ७-१०३-१)

(मण्डूकाः) ब्रह्मज्ञानसे नित्य प्रसन्न या आत्मज्ञानसे नित्यतृप्त या अनेक प्रकारकी नव भेदवाली भक्तियोंसे भूषित मुमुक्षु पुरुष, (पर्जन्यजिन्विताम्) परमात्माको प्रसन्न करनेवाली, (वाचम्) वाणीको, (प्र अवादिषुः) बोलते हैं। (व्रतचारिणः) रूप-रस-गन्धादि विषयोंके त्यागरूप व्रतको करनेवाले, (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता मुनि लोग, (संवत्सरम्) परमात्मामें, (शशयानाः) वास करते हुए मुक्त हो जाते हैं।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥

(अथर्ववेदः २-१६-१)

(प्राणापानौ !) हे प्राण और अपान वायुओ ! (मृत्योः) कुम्भक प्राणायाम-द्वारा, (मा=माम्, पातम्) मुझे मृत्युसे बचाओ, (स्वाहा) [स्वा वागाहेति निरुक्तम् ८-२०] शुद्ध वाणी द्वारा मेरी यही प्रार्थना है।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥

(अथर्ववेदः ३-११-५)

(प्राणापानौ !) हे प्राण और अपान वायुओ ! (अनड्वाहौ व्रजम् इव) अपने वासस्थानमें बैलोंकी भाँति, (प्र विशतम्) तुम दोनों मेरे शरीरमें कुम्भक प्राणायामद्वारा प्रवेश करो, (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) मेरे शरीरसे सब अपमृत्यु भलीभाँति दूर हों, (यान् इतरान् शतम् आहुः) उन और सैकड़ों अपमृत्युओंको दूर करो जिन्हें वैद्यजन दूर करते हैं, क्योंकि प्राणायामका अभ्यास करनेसे प्राणापानकी शक्ति बढ़ती है, प्राणापानकी शक्ति बढ़नेसे सब रोग दूर होते हैं, रोग दूर होनेसे मनुष्यकी आयु बढ़ती है।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥

(अथर्ववेदः ३-११-६)

(प्राणापानौ !) हे प्राणापान वायुओ ! (युवम् इहैव स्तम्) तुम दोनों इसी देहमें रहो, (इतः मा अप गातम्) इस शरीरसे दूर मत जाओ, (अस्य शरीरम् अङ्गानि) इस कुम्भक-प्राणायामी पुरुषके शरीर और अङ्गों-को, (जरसे पुनः वहतम्) बुढ़ापेतक स्थापित करो।

तुलना—गीतामें बाह्येन्द्रियोंको रोकना, भौंहोंके मध्य दृष्टि रखना, प्राण और अपान वायुका रोकना, इच्छा-भय-क्रोधका परित्याग करना, ये सच्चे सुख-

लाभके कारण बताए गए हैं। वेदमें भी कहा गया है कि प्राणवायुको सब ओरसे खींचकर एक स्थानपर संयत करना, भगवत्स्तुति करना और सदा परमात्माके ध्यानमें मग्न रहना, मुक्तिके साधन हैं।

२९. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

(यज्ञतपसाम्) श्रौत-स्मार्त आदि यज्ञोंका तथा कृच्छ्, चान्द्रायण, मौन आदि तपोंका, (भोक्तारम्) पालन करनेवाले तथा भोगनेवाले, (सर्वलोक-महेश्वरम्) अव्यक्तसे लेकर स्थूलपर्यन्त भूः, भुव आदि सब लोकोंके महेश्वर, तथा, (सर्वभूतानाम्) सब प्राणियोंके, (सुहृदम्) उपकार करनेवाले मित्ररूप, (माम्) मुझ वासुदेवको, (ज्ञात्वा) जानकर, (शान्तिम्) परमपद कैवल्य, को, (ऋच्छति) प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम् ॥

(ऋग्वेदः १-१२-७)

हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! (अध्वरे) यज्ञकर्ममें, (कविम्) महेश्वरत्वसे सब लोकोंके देखनेवाले, (अमीवचातनम्) काम-क्रोधादि हिंस्र रोगोंके या काम-क्रोधादि हिंसक शत्रुओंके नाश करनेवाले अर्थात् सब प्राणियोंके सुहृद्रूप, (सत्यधर्माणम्) सत्यधर्मवाले, (देवम् अग्निम्) ज्योतिःस्वरूप परमात्माको, जानकर, (उप स्तुहि) आत्मतत्त्व-परिज्ञानसे परमात्माके पास जाकर स्तुति कर और परमात्माकी स्तुति करनेसे शान्ति अर्थात् मुक्तिधामको प्राप्त हो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मतत्त्वको जाननेसे तथा परमात्माको सर्वलोकमहेश्वर समझनेसे साधक शान्तिको पा लेता है। वेदमें भी कहा गया है कि सब रोगोंका नाश करनेवाले, सत्यस्वरूप तथा सर्वलोकद्रष्टा परमात्माके पास आत्मज्ञानद्वारा पहुँचकर स्तुति करनेसे साधक शान्तिको प्राप्त करता है।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका चतुर्थ अध्याय समाप्त।

षष्ठ अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

१. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(यः) जो कर्मानुष्ठान करनेवाला मुमुक्षु पुरुष, (कर्मफलम् अनाश्रितः) कर्मफलोंके आश्रय या अपेक्षासे रहित होकर, (कार्यम्) अवश्य करनेयोग्य, (कर्म) ब्रह्मयज्ञादि विहित कर्मोंको, (करोति) सम्पादित करता है, (सः) वही, (संन्यासी) यथाधिकार कर्मफलोंके परित्यागसे यथार्थ त्यागी है, (च) और, (सः) वही, (योगी) यथार्थ कर्मयोगी होता है, (च) और, (न निरग्निः) श्रौत-स्मार्त अग्निका परित्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है, (च) और, (न अक्रियः) सन्ध्योपासनादि विहित कर्मोंका त्याग करनेवाला भी संन्यासी नहीं है॥ १॥

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध॥

(ऋग्वेदः १०-१०७-६)

(यः प्रथमः) जो कर्मानुष्ठान करनेवाला मुख्य या श्रेष्ठ मुमुक्षु पुरुष, (दक्षिणया) ब्रह्मयज्ञकी पूर्तिके लिये द्रव्यादि दक्षिणासे, (रराध) परब्रह्मकी आराधना करता है [परन्तु स्वर्गादि-प्राप्तिकी इच्छासे आराधना नहीं करता], (सः) वही पुरुष, (शुक्रस्य) ज्योतिःस्वरूप परमात्माके, (तिस्रः) आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक, तीन, (तन्वः) शरीरोंको, (वेद) जानता है। (तम् एव) उसी पुरुषको, (ऋषिम्) निष्काम कर्म करनेसे अतीन्द्रियार्थदर्शी, (आहुः) कहते हैं। (तम् उ) उसीको, (ब्रह्माणम्) यथार्थ ब्रह्मवेत्ता, (आहुः) कहते हैं, (तम् उ) उसको ही, (यज्ञन्यम्) श्रौत-स्मार्त यज्ञका करनेवाला, (आहुः) कहते हैं। (तम् उ) उसको ही, (सामगाम्) सामवेदका गानेवाला, (आहुः) कहते हैं। (तम् उ) उसी को, (उक्थशासम्) मुक्तिको सिद्ध करनेवाले सामवेदके विशेष अङ्गोंसे स्तुति करनेवाला, (आहुः) कहते हैं।

तुलना—गीतामें कर्मफलकी इच्छा न रखनेवाला तथा शास्त्रोक्त रीतिसे करनेयोग्य कर्मोंको करनेवाला यथार्थ संन्यासी बताया गया है न कि यज्ञादिका तथा विहित कर्मोंका त्याग करनेवाला। वेदमें भी कहा गया है कि द्रव्यादि दक्षिणा देनेवाला, प्रतिफल ग्रहण करनेकी इच्छा न रखनेवाला, ज्योतिःस्वरूप परमात्माके आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक स्वरूपोंको यथार्थतया देखनेवाला ही ऋषि तथा ब्रह्मज्ञानी हो सकता है।

२. **यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।**
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥

३. **आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।**
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

४. **यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते।**
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(पाण्डव !) हे अर्जुन ! (यम्) जिस कर्मफलके परित्यागको, (संन्यासम् इति प्राहुः) परमार्थ संन्यास कहते हैं, (तम्) उसी संन्यासको, (योगम्) फलाकांक्षासे रहित कर्मयोग, (विद्धि) जान, (हि) क्योंकि, (कश्चन) कोई भी, (असंन्यस्तसङ्कल्पः) कर्मफलोंको छोड़े बिना, (योगी) समाहित चित्तवाला योगी, (न भवति) नहीं हो सकता। (योगम्) यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग अर्थात् ध्यानयोगपर, (आरुरुक्षोः) चढ़नेकी इच्छा करनेवाले, (मुनेः) मुनिके लिये, (कर्म) निष्काम कर्मका अनुष्ठान करना, (कारणम्) साधन, (उच्यते) कहा गया है, परन्तु, (तस्य) उस, (योगारूढस्य) योग-पर चढ़े हुए साधकके लिये, (एव) ही, (शमः) सब कर्मोंसे निवृत्ति, (कारणम्) साधन, (उच्यते) कही गयी है॥ २–३॥

(यदा) जब मुमुक्षु पुरुष, (हि) निश्चित रूपसे (न) न तो, (इन्द्रियार्थेषु) नाना प्रकारके इन्द्रियोंके विषयोंमें, (न) न तो, (कर्मसु) नाना प्रकारके कर्मोंमें, (अनुषज्यते) आसक्त होता है, (तदा) तब, (सर्वसङ्कल्पसंन्यासी) सब प्रकारके सङ्कल्पोंका त्याग करनेवाला वही पुरुष, (योगारूढः) योगपर आरूढ़ हुआ, (उच्यते) कहा जाता है॥ ४॥

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभि पौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमव सस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्॥

(ऋग्वेदः १०-११३-४)

मुमुक्षु जीवात्मा, (जज्ञानः) ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता हुआ अथवा उत्पन्न हुआ, (एव) ही, (स्पृधः) स्पर्धा करनेवाली इन्द्रियोंके विषयरूपी शत्रुओंको, (व्यबाधत) विशेष करके बाँध लेता अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंको वश कर लेता है। (वीरः) इन्द्रियोंके विषयोंको जीतनेमें समर्थ वही मुमुक्षु पुरुष, (रणम्) सांसारिक संग्रामको, (अभि) लक्ष्य करके, (पौंस्यम्) नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके फलरूप स्वर्गादिकी कामनासे शून्य अपने बलको, (प्र अपश्यत्) प्रकर्षतासे देखता है, और, (अद्रिम्) न विदीर्ण होनेवाले अर्थात् वशमें सुलभतासे न आनेवाले चञ्चल चित्तको, (अवृश्चत्) वशमें करनेके लिये काटता है अर्थात् मनका निरोध करता है, (सस्यदः) प्रस्रवणशील ज्ञान-रसके प्रवाहोंको, (अव सृजत्) उत्पन्न करता है, जिस ज्ञानरसके उत्पन्न होनेपर ही मनुष्य योगारूढ कहा गया है। वही योगारूढ, (स्वपस्यया) मुक्ति प्राप्त करानेवाले शुभ कर्मोंकी इच्छासे, (पृथुम्) सबसे बड़े अर्थात् सबसे विस्तृत, (नाकम्) सुखमय मुक्तिधामको, (अस्तभ्नात्) स्तम्भित करता है अर्थात् शान्तिद्वारा मुक्तिको पा लेता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

> **स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञौ ताव-**
> **देनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञावथ हत्वा-**
> **सुरान्विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधि-**
> **पत्यं पर्येति तथो एवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं**
> **स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति, य एवं वेद य एवं वेद।**
>
> **(कौ. ब्रा. उ. ४-२०)**

सर्वदेवाधिपति इन्द्र जबतक इस आत्माको नहीं जानता तबतक उसे इन्द्रियोंके विषयरूपी असुर लोग पराजित करते रहते हैं अर्थात् इन्द्र इन्द्रियोंके विषयोंके वशमें हो जाता है। परन्तु जब इस आत्माको जान लेता है तब सब विषयरूपी असुरोंको जीतकर सब देवोंमें श्रेष्ठ अपने राज्यपद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह योगारूढ पुरुष सब पापोंका हनन करके अर्थात् कर्म-बन्धनोंको काटकर सब भूतोंसे श्रेष्ठ अपने स्वरूपको पा लेता है, जो आत्मा ऐसा जानता है, जो आत्मा ऐसा जानता है।

तुलना—गीतामें संन्यास और योगकी एकता बताते हुए कहा गया है कि निष्काम कर्म करनेवाला शान्तिको पाकर योगारूढ होता है तथा इन्द्रियों और उनके विषयोंमें आसक्ति और सब सकाम कर्मोंके परित्यागसे योगारूढ पद प्राप्त

कर लेता है। उपनिषद् और वेदमें भी कहा गया है कि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको वशमें रखने, संसार-संग्राममें युद्ध करनेके लिये वीर बनने, मनको रोकने और कर्मफलकी इच्छाके परित्यागसे मुक्तिकी पदवी प्राप्त होती है।

५. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(आत्मानम्) संसार-सागरमें डूबे हुए अपने जीवात्माका, (आत्मना) अपने ही अभ्यास-वैराग्यमय शुद्धान्तःकरणसे, (उद्धरेत्) उद्धार करे, (आत्मा-नम्) अपने आपको अविद्या-अस्मितादिसे, (न अवसादयेत्) नष्ट न करे अर्थात् नीचे न गिरावे, (हि) क्योंकि, (आत्मा) अपना आत्मा, (एव) ही, (आत्मनः) अपने आपका, (बन्धुः) हितकारी है, (आत्मा) अपना आत्मा, (एव) ही, (आत्मनः) अपने आपका, (रिपुः) शत्रु है ॥ ५ ॥

योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ।
(अथर्ववेदः १६-७-५)

(यः) जो आत्मा, (अस्मान्) हम जीवात्माओंसे, (द्वेष्टि) द्वेष करता है, शत्रुता करता है, अर्थात् जो जीवात्मा अपने आपसे द्वेष करता है, (तम्) आत्माका उद्धार न करनेवाले उस आत्मासे, (आत्मा) अपने आप आत्मा, (द्वेष्टु) द्वेष करती है। (वयम्) संसाररूपी समुद्रमें डूबे हुए हम, (यम्) ज्ञानमार्गके दर्शक जिस आत्माके साथ, (द्विष्मः) शत्रुता करते हैं, (सः) वह भी, (आत्मानम्) अपने आत्माके साथ आप, (द्वेष्टु) द्वेष करता है।

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥
(अथर्ववेदः १६-७-६)

(निर्द्विषन्तम्) किसी आत्माके साथ द्वेष न करनेवाले पुरुषको, (निः-पृथिव्याः) संसारसे बाहर अर्थात् सांसारिक बन्धनोंसे रहित, (निरन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे बाहर, (दिवः=दिवि) ज्योतिर्मय धाम अर्थात् मुक्तिधाममें, (भजाम) प्राप्त हुआ देखते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मा ही आत्माका उद्धार करनेवाला है, आत्मा ही आत्माको नीचे गिरानेवाला है, अपना आत्मा ही अपना हितकारी है, अपना आत्मा ही अपना शत्रु है। वेदमें भी बताया गया है कि जो आत्मा जिस आत्मासे द्वेष करता है वह आत्मा भी उससे द्वेष करता है। द्वेषसे रहित पुरुष त्रिलोकीसे ऊपर योगारूढ़ होकर मुक्तिपदवीको पाता है।

६. बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

(येन) जिस आत्मविवेकी पुरुषने, (आत्मना) अपने विवेकयुक्त मन-द्वारा, (आत्मा) इन्द्रियोंके सहित अपना शरीर, (जितः) जीत लिया अर्थात् अपने वश कर लिया है, (तस्य) उसीका, (आत्मा) अन्तःकरण, (आत्मनः) अपना, (बन्धुः) हितकारी है। (अनात्मनः तु) अपने आपको वशमें न रखनेवालेका तो, (आत्मा) अपना आत्मा, (एव) ही, (शत्रुत्वे) शत्रुतामें, (शत्रुवत्) शत्रुके समान, (वर्तेत) होता है अर्थात् जिसने अपने आत्मासे अपने आपको जीता है, जितेन्द्रिय होनेसे उसका आत्मा अपने आपका हित करता है। अपने आपको न जीतनेसे अपना आत्मा ही बन्धन करानेके लिये शत्रु हो जाता है ॥ ६ ॥

आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः ।
प्रत्नं नि पाति काव्यम् ॥

(ऋग्वेदः ९-६-८)

(यज्ञस्य) देवपूजा करनेवाले, या विष्णुध्यानमें तत्पर पुरुषका, (आत्मा) आत्मा, (रंह्या) वेगसे, (सुष्वाणः) संसार-समुद्रसे पार करनेवाली कामनाओंको प्रेरणा करता हुआ, (पवते) पवित्र हो जाता है। फिर, (सुतः) ब्रह्मज्ञानके लिये प्रवृत्त होकर, (प्रत्नम्) सबसे पूर्व रहनेवाले, सनातन, (काव्यम्) क्रान्तदर्शी ब्रह्मको, (नि पाति) निःशेषतासे अपने भीतर सुरक्षित करता है अर्थात् सर्वदा ब्रह्मज्ञानमें लीन रहता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

(श्वे. उ. ४-७)

जीवात्मा शरीररूपी वृक्षपर बैठा हुआ अपने स्वामीके न समझनेके कारण अनाथभावसे दुःखमें डूबकर मोहाक्रान्त होता हुआ शोक करता है। परन्तु जब पूर्वजन्मोंके कर्मोंके उदय होनेसे साथ रहनेवाले अपने स्वामी परमात्माको देखता है, इस परमात्माकी विभूति और दूसरी महिमाको पहचानता है, तब शोकसागरसे छूटकर कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् फिर उसे किसी पदार्थकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं रह जाती।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जिसने मनको जीत लिया उसका मन उसका हितकारी मित्र बन जाता है किन्तु जो मनको वशमें नहीं करता उसका मन उसका शत्रु होकर बर्ताव करता है। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्माका ध्यान और पूजन करनेवालेका आत्मा वेगसे अपने आपको सांसारिक मलोंसे रहित करना चाहता है और परमात्माके चरणोंमें प्राप्त होनेका प्रयत्न करता है। उपनिषद्में भी यही भाव दर्शाया गया है।

७. जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

८. ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

(शीतोष्णसुखदुःखेषु) शीत और गर्मीमें, सुख और दुःखमें, (तथा) और, (मानापमानयोः) मान और अपमानमें, (जितात्मनः) मनको वशमें रखनेवाले, (प्रशान्तस्य) सदा शान्त रहनेवाले पुरुषका, (परमात्मा) परमेश्वर, (समाहितः) समाधिका विषय होता है अर्थात् उसके हृदयमें स्थित हो जाता है॥ ७॥

(ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त आत्मावाला, (कूटस्थः) किसी भी प्रकारके तापसे विचलित न होनेवाला, (विजितेन्द्रियः) इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, तथा, (समलोष्टाश्मकाञ्चनः) मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान दृष्टि रखनेवाला, (योगी) योगारूढ अर्थात् ज्ञानी पुरुष, (युक्तः) परमात्मामें समाहित चित्तवाला है, (इति) ऐसा, (उच्यते) लोगोंके द्वारा कहा जाता है॥ ८॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥

(ऋग्वेदः १-२२-२१)

(विष्णोः) परमात्माका, (यत्) जो, (परमम्) सबसे उत्तम, (पदम्) स्थान अर्थात् कैवल्यधाम है, (तत्) उसे, (विप्रासः) ब्रह्ममें बुद्धि रखनेवाले, (जागृवांसः) इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके निरोधके लिए सर्वदा जागनेवाले अर्थात् ब्रह्म-चिन्तन करनेवाले, (विपन्यवः) ज्ञानी पुरुष, (समिन्धते) सम्यक् योगाभ्यास द्वारा प्रकाशित करते हैं अर्थात् मुक्तिधामको प्राप्त होते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि इन्द्रियोंको जीतनेवाला तथा सुख-दुःखादिमें समदृष्टि रखनेवाला ज्ञानी पुरुष ही ब्रह्मको प्राप्त करनेवाला होता है। वेदमें भी कहा गया है कि इन्द्रियोंके बन्धनसे दूर रहनेवाला जागरूक ज्ञानी पुरुष ही ब्रह्मपदको प्राप्त कर सकता है।

९. **सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।**
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

(सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु) सुहृत्, मित्र, शत्रु और उदासीन अर्थात् किसीसे कुछ सम्बन्ध न रखनेवाला, मध्यस्थ अर्थात् दो विवादियोंका न्यायपूर्वक हित चाहनेवाला, द्वेष्य अर्थात् अपने साथ विरोध करनेवाला, और बन्धु, इनमें, (साधुषु) साधुओंमें, (च) और, (पापेषु) पापियोंमें, (अपि) भी, (समबुद्धिः) समान बुद्धि रखनेवाला, (विशिष्यते) सब प्राणियोंमें विशिष्ट अर्थात् उत्तम समझा जाता है ॥ ९ ॥

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(अथर्ववेदः ६-६४-१)

हे मुमुक्षु पुरुषो ! तुम, (संजानीध्वम्) सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीनादि सबको एक जैसा जानो, और, (संपृच्यध्वम्) सबमें एकात्मभाव रखते हुए सबके साथ मिलकर व्यवहार करो। (वः) समता रखनेवाले तुम्हारे, (मनांसि) मन, (संजानताम्) एकविध अर्थको जानें, [परस्परविरुद्ध ज्ञान उत्पन्न न करें]। (यथा) जिस प्रकार, (पूर्वे) पूर्ववर्ती या श्रेष्ठ, (देवाः) ज्ञानी पुरुष, (संजानानाः) सबमें समानताका भाव रखते हुए, (भागम्) मुक्तिरूपी सौभाग्यको अर्थात् ऐश्वर्यको, (उपासते) प्राप्त करते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन आदिमें समता-बुद्धि रखनेसे मनुष्य अवश्य ही योगारूढ पदको प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है। वेदमें भी कहा गया है कि सबमें समबुद्धि रखनेवाले, सबके आत्माको अपना आत्मा समझनेवाले, मनमें परस्परविरोधी ज्ञान न रखनेवाले परम भाग्यवान् पुरुष ही मुक्तिपदको प्राप्त होते हैं।

१०. **योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।**
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

(यतचित्तात्मा) अपने मन, इन्द्रिय और देहको वशमें रखनेवाला, (निराशीः) सब कामनाओंसे अर्थात् लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणासे रहित, (अपरिग्रहः) योग-प्रतिबन्धक पदार्थोंका संग्रह न करनेवाला, (योगी) योगाभ्यास करनेवाला पुरुष, (सततम्) सर्वदा, (रहसि) एकान्त स्थानमें, (एकाकी) अकेले, (स्थितः) निवास करते हुए, (आत्मानम्) अपने अन्तःकरणको, (युञ्जीत) योग-समाधिमें जोड़े ॥ १० ॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥
(यजुर्वेदः ११-४)

(होत्राः) ज्ञानयज्ञसे ब्रह्मका आह्वान करनेवाले या निष्काम भावसे पञ्चमहायज्ञ करनेवाले, या ब्रह्मज्ञानियोंसे ज्ञानोपदेश लेनेवाले, (विप्राः) मेधावी मुमुक्षु पुरुष, (मनः) अन्तःकरणको सब इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाकर, परमात्मामें, (युञ्जते) लगाते हैं, (उत) और, (विपश्चितः) समग्र योगविद्याके जाननेवाले बुद्धिमान् लोग, (बृहतः) अपनेसे अधिक, ज्ञानी, (विप्रस्य) मेधावी पुरुषके, उपदेशसे, (धियः) बुद्धिको, (युञ्जते) योगसमाधिमें लगा देते हैं। (वयुनावित्) प्रज्ञाको जाननेवाला अर्थात् प्रज्ञावान् पुरुष, (एकः) अकेला, (इत्=एव) ही, (देवस्य) ज्योति-स्वरूप, (सवितुः) जगत्को उत्पन्न करनेवाले परमेश्वरकी, (मही) अत्युत्कृष्ट, (परिष्टुतिः) सब प्रकारसे स्तुति, (वि दधे) करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मबोध प्राप्त करनेके लिये साधकको एकान्त स्थानमें स्थित होकर सब इच्छाओं तथा योगप्रतिबन्धक पदार्थोंका परित्याग करके योगमें मन लगाना चाहिए। वेदमें भी कहा गया है कि बुद्धिमान् मनुष्य मन और बुद्धिको यदि अपने वशमें करे तो ज्ञानी होकर परमात्माके धाम अर्थात् परमपदको प्राप्त कर लेता है।

११. **शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।**
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

१२. **तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।**
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥

(यतचित्तेन्द्रियक्रियः) चित्तकी क्रिया स्मृति और इन्द्रियोंकी क्रिया विषयोंका ग्रहण, दोनोंको अपने वशमें रखनेवाला मनुष्य, (न अति उच्छ्रितम्)

न बहुत ऊँचे, (न अतिनीचम्) न बहुत नीचे, (चैलाजिनकुशोत्तरम्) तथा, एकपर एक क्रमशः कुश, मृगचर्म या व्याघ्रचर्म तथा कोमल वस्त्र बिछाए हुए, (आत्मनः आसनम्) अपने आसनको, (शुचौ) पवित्र, (देशे) स्थानपर, (स्थिरम्) दृढ़रूपसे, (प्रतिष्ठाप्य) स्थापित करके (तत्र) उस, (आसने) आसनपर, (उपविश्य) बैठकर, (मनः) मनको, (एकाग्रम्) एकाग्र अर्थात् सावधान, (कृत्वा) करके, (आत्मविशुद्धये) अपने देह और मनकी शुद्धिके साथ ब्रह्मसाक्षात्कार करनेके लिये, (योगम्) योगसमाधिको, (युञ्ज्यात्) युक्त करे अर्थात् अपने आपको ध्यानयोगमें लगा दे ।।११-१२।।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।।

(यजुर्वेदः ११-३)

(सविता) जिज्ञासु पुरुषके लिये ज्ञान और योग उत्पन्न करनेवाले अर्थात् ज्ञान और योगका उपदेश देनेवाले प्राणी, आत्मशुद्धिके लिये, (स्वः) सांसारिक सुखको, (यतः) प्राप्त करनेवाली, (देवान्) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंको, (युक्त्वाय) परमात्मामें जोड़कर, (धिया) एकाग्रबुद्धिसे, (दिवम्) दिव्यस्वरूप, (बृहत्) सबसे बड़े, (ज्योतिः) विज्ञानस्वरूप परमात्माका, (करिष्यतः) ध्यान करेंगे । (सविता) जगत्को उत्पन्न करनेवाला परमात्मा, (तान्) उन ब्रह्मवेत्ता कर्मयोगियोंको, (प्रसुवाति) प्रकर्षतासे ज्ञानयोग और कर्मयोगमें प्रेरित करता है ।

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ।।

(सामवेदः पू. २-१-५-९)

(विप्रः) मेधावी पुरुष, (गिरीणाम् उपह्वरे) पहाड़ोंकी गुहामें, (च) तथा, (नदीनां संगमे) नदियोंके संगम-स्थानपर, (धिया) बुद्धिकी एकाग्रताको, (अजायत) उत्पन्न करता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि एकान्त देशमें बुद्धि एकाग्र करके आसनको ठीक जमाकर ध्यान करनेसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है । वेदमें भी बताया गया है कि सांसारिक सुखका परित्याग करके शुद्धबुद्धि होकर एकान्त स्थान-पर अर्थात् पर्वतोंकी कन्दराओंमें या नदियोंके संगमपर परमात्माका ध्यान करने-से मुक्ति प्राप्त हो सकती है ।

१३. समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

१४. प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

(प्रशान्तात्मा) सर्वथा शान्त आत्मावाला, (स्थिरः) पूर्वोक्त शुद्ध आसनपर योगाभ्यास करनेके लिये दृढ़तासे स्थिर हुआ प्राणी, (ब्रह्मचारिव्रते) ब्रह्मचर्यके व्रतमें, (स्थितः) दृढ़तासे स्थित होकर, (विगतभीः) मृत्युके भयसे रहित होकर, (मच्चित्तः) मुझ परमेश्वरमें चित्तको रखता हुआ, (मत्परः) मुझे ही परम इष्ट समझता हुआ, (कायशिरोग्रीवम्) देह, शिर और ग्रीवाको, (समम्) एक सीधमें, (अचलम्) बिना हिलाए-डुलाए, (धारयन्) धारण करता हुआ, (दिशः च) और इधर-उधर किसी दिशाको, (अन् अवलोकयन्) न देखता हुआ, (स्वम्) अपनी, (नासिकाग्रम्) नासिकाके अग्रभागको, (सम्प्रेक्ष्य) देखकर, और, (मनः) मनको, (संयम्य) वशमें करके अर्थात् विषयोंसे रोककर, (युक्तः) मुझमें ध्यान करनेका संकल्प लेकर, (आसीत) बैठ जाय॥ १३-१४॥

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥

(ऋग्वेदः १०-७१-८)

(सखायः) सारे संसारके मित्ररूप अर्थात् सब जीवात्माओंमें समानता रखनेवाले, (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष, (हृदा) शान्त चित्तसे, (तष्टेषु) सूक्ष्मताको प्राप्त हुए, (मनसः) अचिन्त्य अध्यात्म विषयोंमें मनकी वृत्तिके, (जवेषु) वेगोंमें, (यत्) जिस ब्रह्ममय तत्त्वको, (संयजन्ते) सम्यक्तया पूजन करते हैं या जिस तत्त्वको प्राप्त होते हैं, (अत्र) इस ब्रह्म-समाधिके साधन-कालमें, (अह) निश्चयपूर्वक, (त्वम्) ब्रह्मसमाधिमें लगा हुआ तू, (विजहुः) मनकी चञ्चलता छोड़ दे। (ओहब्रह्माणः) यथामति ब्रह्मविद्याके श्रवण, मनन और आचरण करनेका विचार करते हुए तथा सांसारिक संकटोंमें बन्धनको न प्राप्त होते हुए, (त्वे) कई एक ब्रह्मज्ञानी, (वेद्याभिः) जानने योग्य ब्रह्ममयी वृत्तियोंसे, (विचरन्ति) संसारमें विशेषतासे भ्रमण करते हैं, (उ) यह बात प्रसिद्ध ही है।

ध्यानयोगके लिये सिद्धासनका स्वरूप हठयोगप्रदीपिकामें इस प्रकार बताया गया है—

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥

(१-३५)

गुदा और उपस्थमें, जिसे योनिस्थान कहते हैं, दृढ़तापूर्वक अपने बायें पाँवकी एड़ी लगाकर बैठ जाय, फिर दायें पैरकी एड़ीको गुरुद्वारा बताई हुई रीतिसे मेढ्र-स्थान अर्थात् नाभिसे नीचे शिश्नेन्द्रियसे ऊपरके भागमें दृढ़ करके स्थिर करे और दोनों चरणोंकी पाँचों उँगलियोंको दोनों ओर जंघा और पिंडलियोंके बीचमें प्रवेशकर दबा रक्खे। फिर गलेसे नीचे हृदयकी गहराईमें अपनी चिबुकको लगाकर स्थिर करे। इस प्रकार स्थिर होकर इन्द्रियोंको विषयोंसे रोके हुए, दोनों पुतलियोंको मिलाकर एक दृष्टि करके भ्रुकुटीके बीचों-बीच भीतरकी ओर देखता रहे। इसी आसनको मोक्षके कपाटका तोड़नेवाला सिद्धासन कहते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि योगसाधनामें समाधि लगानेके लिये ब्रह्मचर्यमें स्थित होकर, इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए, देह, शिर, और ग्रीवाको सीधा कर नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि स्थिर करके परमात्मामें चित्त लगावे। हठयोगमें यही सिद्धासन कहा गया है। वेदमें भी कहा गया है कि सबमें समताबुद्धि अर्थात् मित्र-दृष्टि रखते हुए ब्रह्मज्ञानी लोग हृदयसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म आध्यात्मिक विषयोंमें विचरते हुए मनको परमात्मामें लगाकर निर्वाणपदको प्राप्त हो जाते हैं।

१५. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

(नियतमानसः) मनको वशमें रखनेवाला, (योगी) ध्यान-योगका अभ्यास करनेवाला योगी, (एवम्) इस प्रकार, (सदा) निरन्तर, (आत्मानम्) अपने आपको अथवा अपने अन्तःकरणको, (युञ्जन्) योग-समाधिमें लगाते हुए, (मत्संस्थाम्) मुझमें स्थितिवाली, और, (निर्वाणपरमाम्) मोक्षस्थितिवाली, (शान्तिम्) शान्तिको, (अधिगच्छति) प्राप्त होता है अर्थात् मुझमें स्थिर होकर संसारसे उपरतिको प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥
(ऋग्वेदः १०-६३-४)

(नृचक्षसः) कर्म और ज्ञानके नेता अर्थात् कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंके देखनेवाले, (देवासः) ब्रह्मज्ञानी, (अनिमिषन्तः) सर्वदा ज्ञानप्राप्तिके लिये जागते हुए अर्थात् संसारमें परमात्म-ध्यानके लिये आँखें बन्द न करते हुए, (अर्हणाः) योगसाधनद्वारा निर्वाणपदकी योग्यताको प्राप्त होते हुए, (बृहत्) सबसे बड़ी, परमोत्कृष्ट, (अमृतत्वम्) निर्वाणपदवीको, (आनशुः) प्राप्त होते हैं। (अथ) फिर वही ब्रह्मज्ञानी, (ज्योतीरथाः) ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे प्रकाशमान शरीरवाले या दिव्यदेहवाले, (अहिमायाः) किसी भी इन्द्रियसे न नाश होने योग्य प्रज्ञावाले, इसलिये, (अनागसः) राग-द्वेषादि पापोंसे रहित होकर, (दिवः) ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मकी, (वर्ष्माणम्) देहात्मक निर्वाणपदवी, तथा, (स्वस्तये) स्वजन्म-मरण-परित्यागरूप कल्याणकी प्राप्तिके लिये, (वसते) संसारमें निवास करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥
(भा. ३-२९-३५)

नियत मनवाला पुरुष जब सब प्रकारकी आशाओंसे रहित तथा सबसे विरक्त और निर्विषय होकर निर्वाणपदवीको प्राप्त हो जाता है तब जैसे दीपककी ज्वाला तेल और बत्तीका नाश होनेपर अपने महाकारणमें लय हो जाती है, इसी प्रकार पुरुष बिना किसी रुकावटके सब प्रकारसे गुण-प्रवाह-रूप देहेन्द्रियोंके व्यापारसे रहित होकर केवल एक आत्मानन्दके साक्षात्कारका अनुभव कर लेता है।

देहं च तं न चरमं स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥
(भा. ३-२९-३७)

योगाभ्याससे पूर्ण पुरुष जिस शरीरसे आत्मानन्दकी प्राप्ति करता है वह शरीर दैवाधीन होनेके कारण आसनपर-से उठ बैठा या खड़ा रहा, या वहाँसे किसी दूसरे स्थानको चला गया अथवा फिर आसनपर आ बैठा, इन बातोंका अनुसंधान नहीं रखता। जैसे मदिरा पीनेवाला मदिरा पीनेके पश्चात् मदसे उन्मत्त होकर यह अनुभव नहीं करता कि उसकी कटिपर लिपटा हुआ वस्त्र गिर गया है या शरीरपर है। ऐसी अवस्थावाला योगी निर्वाणपदवीवाला या जीवन्मुक्त कहा जाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनको रोककर ब्रह्मसमाधिमें लगानेवाला पुरुष निर्वाणपदवीको प्राप्त होता है। वेदमें भी कहा गया है कि कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें रखकर योगाभ्यासके लिए सदा जागरण करता हुआ ज्ञानी अमरपद या निर्वाणपदको पाता है। भागवतने भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है।

१६. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (अत्यश्नतः) बहुत भोजन करनेवालेके लिए, (तु) तो, (योगः) ज्ञानयोग अथवा भगवद्ध्यानसमाधि, (न अस्ति) नहीं है, (च) और, (एकान्तम्) सर्वथा, (अनश्नतः) भोजन न करनेवाले अर्थात् निराहारीके लिए भी, (न) नहीं है। (च) और, (अतिस्वप्नशीलस्य) अत्यधिक सोनेवालेके लिये भी, (न) नहीं है, (च) और, (जाग्रतः एव) बहुत जागनेवालेके लिये भी, (न) नहीं है॥ १६॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा॥
(ऋग्वेदः १०-१०-८)

(इह) इस संसारमें, (ये) जो पुरुष, (देवानाम्) इन्द्रियोंके शयन-खानपानादि कार्योंमें, (स्पशः) दूत होकर, (चरन्ति) भ्रमण करते हैं, (एते) ये, (न तिष्ठन्ति) योगसमाधिमें स्थित नहीं रहते, (न निमिषन्ति) और जो सांसारिक पदार्थोंसे नेत्र बन्द नहीं करते अर्थात् उनमें आसक्त रहते हैं, वे भी योगसमाधिमें नहीं ठहरते। (आहनः) हे योगसमाधिके लिए प्राप्त होनेवाले जीवात्मन् ! (मत्) मेरी शक्तिसे या मेरे ध्यानसे, (अन्येन) दूसरे युक्ताहार-शयनादिके साथ, (तूयम्) शीघ्र, (याहि) प्राप्त हो अर्थात् योगसमाधिके लिये युक्ताहार-विहार-शयनासनादि होने चाहिये। (तेन) उस युक्ताहार-विहारादिके

साथ, (रथ्या इव चक्रा) तू भी रथके आधार चक्रोंके समान, (विवृह) परमात्माके संश्लेषको प्राप्त हो ।

तुलना—गीतामें योगसमाधि-साधनाके लिये भोजन न करना, अधिक भोजन करना, बहुत शयन करना तथा अधिक जागना प्रतिबन्धक बताए गये हैं । वेदमें भी कहा गया है कि जो जीवात्मा इन्द्रियोंके दूत बने हुए संसारमें जीवनका निर्वाह करते हैं और जो सांसारिक पदार्थोंके भोगमें आसक्त रहते हैं वे योगसमाधिमें स्थित नहीं हो सकते ।

१७. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

(युक्ताहारविहारस्य) नियत परिमाणमें भोजन करनेवाले और नियत परिमाणमें मार्ग चलनेवाले, (कर्मसु) शारीरिक कर्म, वक्तृतादि कर्म तथा जपपाठादि कर्मोंमें, (युक्तचेष्टस्य) नियत कालतक परिश्रम करनेवाले, तथा, (युक्तस्वप्नावबोधस्य) नियत काल तक सोने और जागनेवाले योगीका, (योगः) ध्यानयोग, (दुःखहा) सांसारिक दुःखका नाश करनेवाला, (भवति) होता है ॥ १७ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥

(अथर्ववेदः १-७-२)

(परमेष्ठिन् !) हे अत्युत्तम योगासनपर वास करनेवाले ! (जातवेदः !) हे उत्पन्न हुए ज्ञानवाले ! तथा, (तनूवशिन् !) हे युक्ताहार-विहारादिसे अपने शरीरको वशमें रखनेवाले योगी ! (अग्ने !) हे जीवात्मा ! तू, (तौलस्य) तुलासे तुले हुए अर्थात् परिमित, (आज्यस्य) घृतका अर्थात् घृतादि पदार्थोंका, (प्राशान) भोजन कर, अधिक भोजन न कर, तदनन्तर, (यातुधानान्) पीड़ा देनेवाले योगबाधक दुष्ट रोगोंका, (विलापय) विनाश कर ।

तुलना—गीतामें यथायोग्य भोजन, भ्रमण, सोना-जागना आदिको योगका साधक बताते हुए कहा गया है कि इस प्रकारके समुचित साधनोंसे साधा गया योग सब दुःखोंको दूर करनेवाला होता है । वेदमें भी कहा गया है कि यथापरिमाण घृतादि भोज्य पदार्थ सेवन करनेसे योगबाधक शारीरिक रोग दूर हो जाते हैं जिससे योगाभ्यासमें बाधा नहीं पड़ती ।

१८. यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

(यदा) जब, (विनियतम्) एकाग्रताको प्राप्त हुआ, (चित्तम्) मन, (आत्मनि) आत्मामें, (एव) ही, (अवतिष्ठते) स्थिर हो जाता है, (तदा) तब, (सर्वकामेभ्यः) सब प्रकारकी कामनाओंसे, (निःस्पृहः) तृष्णारहित हुआ साधक, (युक्तः) योगमें युक्त पुरुष है, (इति उच्यते) ऐसा कहा जाता है॥ १८॥

अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्
क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्र-
मन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥

(यजुर्वेदः १९-७५)

(परिस्रुतः) परिपक्व हुए, (अन्नात्) यथायोग्य खान-पानादिके आधारसे, (रसम्) ब्रह्ममय रसको, (ब्रह्मणा) समाहित ब्रह्ममयी आत्मा द्वारा, (व्यपिवत्) योगी पान करता है, तथा, (प्रजापतिः) अपने अन्तःकरणसे उत्पन्न विचार-शक्तिसे रक्षा करनेवाला योगी, (क्षत्रम्) रक्षा करनेवाले, (पयः) दूधकी भाँति, (सोमम्) सत्त्वगुणको या ब्रह्मस्वरूपको, (व्यपिवत्) ग्रहण करता है। वह योगी, (ऋतेन) सत्यस्वरूप आत्मासे, (सत्यम्) सत्यस्वरूप, (इन्द्रियम्) जीवात्मा द्वारा सेवन किये हुए, (विपानम्) अनेक प्रकारकी रक्षा करनेवाले, (शुक्रम्) पवित्र, (अन्धसः) मोहाविष्ट, (इन्द्रस्य) जीवात्माके, (इन्द्रियम्) विज्ञानके साधनरूप, (इदम्) इस, (पयः) सुखके साधक, (अमृतम्) न मरनेवाले अर्थात् नित्य, (मधु) परम मधुर ब्रह्मको प्राप्त होता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठ उ. १-३-१३)

बुद्धिमान् मनुष्य पहले वाणी और मनको वशमें करे, फिर उस मनको बुद्धिमें, बुद्धिको आत्मामें और आत्माको शान्तात्मा अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्मामें लय करे।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनको निर्विषय करके आत्मामें लीन करनेवाला, सब कामनाओंसे रहित पुरुष युक्त योगी कहा जाता है। वेद और उपनिषद्में भी कहा गया है कि अपने मनसे उठी हुई सङ्कल्प-शक्तियोंको वशमें रखनेवाला ज्ञानमय ब्रह्मरसका पान करनेवाला तथा क्रमशः मनको बुद्धिमें, बुद्धिको आत्मामें और आत्माको परमात्मामें लय करनेवाला पुरुष सत्यस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त करता है।

**१९. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥**

(यथा) जैसे, (निवातस्थः) वायुसे रहित स्थानमें स्थित, (दीपः) दीपक, (न इङ्गते) नहीं हिलता-डुलता, (सा) वही, (उपमा) दृष्टान्त, (योगम्) परमात्मसम्बन्धी ध्यानयोगका, (युञ्जतः) अनुष्ठान करते हुए, (यतचित्तस्य) अन्तःकरणको वशमें रखनेवाले, (योगिनः) योगीके, (आत्मनः) अन्तःकरणकी, (स्मृता) तत्त्वदर्शियों द्वारा कही गई है॥ १९॥

**यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥**

(ऋग्वेदः १-१६४-२१)

(यत्र) जिस योगी पुरुषमें, (सुपर्णाः) उत्तम वेगयुक्त इन्द्रियाँ, (अमृतस्य) अमृतमय परमात्माके, (भागम्) अंशको, (अनिमेषम्) निमेष-रहित, कुशलतापूर्वक, (विदथा) परमात्माके ध्यानात्मक ज्ञानसे, (अभिस्वरन्ति) प्राप्त करती हैं अर्थात् मायाका आवरण दूर हो जानेसे स्पष्टतया परमात्म-साक्षात्कार करती हैं, और, (इनः) जो योगी पुरुष, (विश्वस्य) समग्र, (भुवनस्य) देहात्मक जगत् और उसके विषयोंकी, (गोपाः) अपने अधीन ही रक्षा करनेवाला है, (सः) वही, (धीरः) योगसमाधियुक्त धैर्यवान् आत्मा, (अत्र) इस योगसमाधिमें, (मा=माम्) योगारूढ मुझमें, (पाकम्) निर्विषय होनेके कारण परिपक्व रूपसे, (आविवेश) प्रवेश करे अर्थात् वैसा ही अन्तःकरण मुझे प्राप्त हो जिससे मैं योगसमाधिमें अविचल रहूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि वशमें किये हुए मनको परमात्माके ध्यानमें लगानेवाला साधक योगसमाधिमें वायुसे रहित स्थानमें रखे हुए दीपककी भाँति स्थिर रहता है। वेदमें भी कहा गया है कि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ निरन्तर परमात्माके ध्यानमें लीन रहती हैं, वही देहका नियन्ता, धैर्यवान् तथा मनको वशमें रखनेवाला होता है।

२०. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

(यत्र) जिस अवस्थामें, (योगसेवया) योगसमाधि करनेसे, (निरुद्धम्) सब प्रकारकी सांसारिक वृत्तियोंसे निवृत्त और ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्तिमें लगा हुआ, (चित्तम्) मन, (उपरमते) सांसारिक विषयोंसे शान्तिको प्राप्त करता है, (च) और, (यत्र) जिस अवस्थामें, (आत्मना) समाधिसे निर्मल हुए अन्तःकरणसे, (आत्मानम्) परमचैतन्य ज्योतिःस्वरूप आनन्दघन परमात्माको, (पश्यन्) देखता हुआ अर्थात् साक्षात्कार करता हुआ, साधक, (आत्मनि) आत्मामें, (एव) ही, (तुष्यति) सन्तोषको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ।
ब्रह्मणे स्वाहा ॥

(अथर्ववेदः १९-४३-८)

(यत्र) जिस समय, जिस अवस्थामें या जिस स्थानपर, (ब्रह्मविदः) योगसमाधिसे ब्रह्मके स्वरूपको जाननेवाले, (दीक्षया सह) दण्ड-कृष्णाजिन-मेखला-धारण-सहित दीक्षासे, (तपसा) योगव्रतके तपसे, (यान्ति) ब्रह्म-पदवीको अर्थात् मुक्तिधामको प्राप्त होते हैं, (तत्र) उस समय, उस अवस्थामें या उस स्थानमें, (ब्रह्मा) जगत्स्रष्टा परमेश्वर, (मा) मुझे, (नयतु) प्राप्त करे अर्थात् मुझे भी परमेश्वर मुक्ति-धाम प्रदान करे। (ब्रह्मा) जगत्-स्रष्टा परमात्मा, (ब्रह्म) अपने स्वरूपात्मक, योगसमाधिसे उत्पन्न हुए ज्ञानको अथवा तेजको, (मे) मुझ मुमुक्षु पुरुषके लिये, (दधातु) पोषण करे अर्थात् उस तेजको मुझमें धारण करे। (ब्रह्मणे) सच्चिदानन्द परब्रह्मके निमित्त, (स्वाहा) यह मेरा शरीर भलीभाँति प्रदत्त होवे अर्थात् यह मेरा समग्र शरीर ब्रह्मार्पण होवे।

तुलना—गीतामें योगसमाधिसे वशमें किया चित्त प्रसन्नता तथा शान्तिका कारण कहा गया है। वेदमें भी शरीरको ब्रह्मार्पण करना, गुरु-दीक्षा तथा नियम-पालनार्थ तपश्चर्या ब्रह्मपदकी प्राप्तिके कारण बताए गए हैं।

२१. सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

(यत्र) जिस अवस्थामें, (अयम्) यह योगसाधन करनेवाला पुरुष, (आत्यन्तिकम्) अत्यन्त पास रहनेवाला या अनन्त या सर्वोत्कृष्ट, (बुद्धिग्राह्यम्) निर्मल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य, (अतीन्द्रियम्) इन्द्रियातीत, (यत्) जो, (सुखम्) सुख है, (तत्) उस सुखको, (वेत्ति) जानता है, (च) और, (स्थितः) अपनी योगसमाधिमें दृढ प्रतिज्ञासे स्थित होकर, (तत्त्वतः) परमात्मस्वरूप या आत्मज्ञानसे, (न एव चलति) नहीं विचलित होता अर्थात् कभी नहीं फिसलता ॥ २१ ॥

य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य ।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद्वसूनि प्र ववाचास्मै ॥

(ऋग्वेदः १-६७-४)

(यः) जो योगी पुरुष, (गुहाभवन्तम् ईम्) हृदयाकाशमें विद्यमान सुखस्वरूप परब्रह्मको, (चिकेत) जानता है, (यः) जो योगी, (ऋतस्य धाराम्) सत्यको धारण करनेवाले परमात्माको, (आ ससाद) चारों ओर प्राप्त होता है, और, (ये) जो ब्रह्मसमाधिमें स्थित होनेवाले पुरुष, (ऋता) सत्यस्वरूप सुखोंको, (सपन्तः) अपने आपमें समाविष्ट करते हुए, (विचृतन्ति) इस परमात्माकी विविध प्रकारसे स्तुति और ध्यानमें लीन रहते हैं, (आदित्) तदनन्तर ही, (अस्मै) ब्रह्मानन्द-सुखको अनुभव करनेवाले उस पुरुषको, (वसूनि) वासस्थान मुक्तिधामको, (प्र ववाच) परमात्मा निर्देश करता है ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

(कठ उ. २-६-११)

जब बुद्धिके साथ-साथ सब इन्द्रियाँ अचर अवस्थाको प्राप्त होती हैं तब उसीको योग कहते हैं । तब वह योग ब्रह्मसमाधिके लिये सावधान अर्थात् स्थिर होता है । जिस योगावस्थामें इन्द्रियों द्वारा फिर किसी प्रकारके आरम्भ और विनाश अथवा लय और विक्षेपका भय नहीं रहता वही योगकी अवस्था है ।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(मु. उ. ३-२-८)

जैसे अपने प्रवाहसे कल्लोल करती हुई गङ्गा-यमुना आदि नदियाँ नाम और रूपको त्यागकर समुद्रमें जाकर लय हो जाती हैं उसी प्रकार योगानुष्ठान करनेवाला विद्वान् इस नाम-रूपात्मक मायाके विस्तारसे छूटकर उस दिव्य परात्पर पुरुष भगवत्स्वरूप आनन्द-सागरमें लय हो जाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि उस योगसमाधिमें स्थित हुआ पुरुष आत्यन्तिक सुखको जानता है अतः वह योगसमाधिसे विचलित नहीं होता। वेद और उपनिषद्में भी कहा गया है कि जो पुरुष हृदयस्थ ब्रह्मतत्त्वको जानता है, सत्यके धारण करनेसे ब्रह्मकी शरणमें प्राप्त होता है तथा ब्रह्मकी स्तुति करता है वह समुद्रमें नदियोंकी भाँति नाम-रूपसे रहित होकर परब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाता है।

२२. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(च) और, (यम्) जिस चित्त-वृत्ति-निरोधरूप अखण्ड निर्विकल्प समाधिको, (लब्ध्वा) प्राप्त करके, साधक, (अपरम्) अन्य किसी प्रकारके, (लाभम्) लाभको, (ततः) उससे, (अधिकम्) अधिक, (न मन्यते) नहीं मानता है, फिर, (यस्मिन्) जिस अवस्थामें, (स्थितः) स्थित होकर, (गुरुणा) बहुत बड़े, (दुःखेन) दुःखसे अर्थात् जन्ममरणके दुःखसे, (अपि) भी, (न) नहीं, (विचाल्यते) हिलाया जाता अर्थात् उसे कोई दुःख दुखी नहीं करता॥ २२॥

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत्॥

(ऋग्वेदः १-१५६-२)

(यः) जो योगी, (पूर्व्याय) सबसे पूर्व वर्तमान, (वेधसे) विविध प्रकारके लोकोंके उत्पन्न करनेवाले, (नवीयसे) नित्य-नूतन अर्थात् नित्य-रमणीय, (सुमज्जानये) [सुमत् स्वयम्, इति यास्कः] स्वयं अर्थात् बिना कर्मके ही उत्पन्न हुए, (विष्णवे) व्यापक परम ब्रह्म परमात्माके लिये, (ददाशति) निर्विकल्प समाधिसे मनकी वृत्तिको अर्पण कर देता है, और, (यः) जो योगी, (अस्य) इस परमात्माके, (महतः महि) बड़ेसे बड़े, (जातम्) प्रकट हुए हिरण्यगर्भादि रूपकी, (ब्रवत्=ब्रूयात्) स्तुति करे, (स इत् उ) परमात्माकी स्तुति करनेवाला वही योगी, (श्रवोभिः) परमात्माकी

स्तुतियोंसे, (युज्यम् चित्) ब्रह्मवेत्ताओंको प्राप्त होनेयोग्य सायुज्यमुक्तिको, (असत्) प्राप्त होता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मै. उ. ४-९)

समाधिद्वारा चित्तके मलोंको दूर करके आत्मसुखमें प्रवेश करनेसे जो सुख प्राप्त होता है उसका आनन्द वाणीसे अथवा सरस्वतीसे वर्णन नहीं किया जा सकता। वह आनन्द केवल अपने अन्तःकरणसे ही ग्रहण किया जा सकता है।

सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्। यो वै भूमा तत्सुखम्,
नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्।

(छा. उ. ७-२३-१)

तुम्हें सुखकी जिज्ञासा करनी चाहिये। जो भूमा अर्थात् पूर्ण ब्रह्मसुख है' वही परमसुख है, उससे अतिशय अन्य कुछ भी नहीं। वही भूमा सबसे श्रेष्ठ निरतिशय परमानन्द है। इससे भिन्न अल्प है, तुच्छ है। अल्प सुखमें तृष्णा बनी रहती है। पूर्ण सुखमें तृष्णा दूर हो जाती है।

गौडपादीय कारिकामें बताया गया है—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

(३-४६)

जब योगीका चित्त अपने तत्त्वमें इस प्रकार स्थित हो जाय कि लय और विक्षेपके उपद्रवोंसे दायें-बायें न हिले, वायुसे रहित स्थानमें स्थित दीप-शिखाके समान स्थित रहे और समाधिसे व्युत्थानकालमें न भासे तब जानना चाहिये कि योगी ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित होकर योगसमाधि-भूमिकाको प्राप्त हो गया है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्।

(श्वे. उ. ३-९)

जिससे परे दूसरा कुछ नहीं है वही परम लाभ है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि ब्रह्मसमाधिके सुखसे उत्तम सुख कोई नहीं है, जिसे पाकर पुरुष बड़े-बड़े दुःखोंसे भी विचलित नहीं होता। वेद और उपनिषद्में भी कहा गया है कि जो पुरुष अपने मनको सनातन परम ब्रह्म परमात्माके चरणकमलोंमें अर्पण कर देता है और महान्से महान् परब्रह्म-की स्तुति करता है तथा जिसका चित्त लय-विक्षेपसे चलायमान नहीं होता उसे सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है और वह महान् सुख ब्रह्मानन्दमें लीन रहता है।

२३. तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(तम्) उस विशेष अवस्थाको, (दुःखसंयोगवियोगम्) दुःख और पुत्र-पितादिसे उत्पन्न सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिसे रहित आत्मावस्था-विशेषको, (योगसंज्ञितम्) योगसंज्ञावाला यथार्थ योग, (विद्यात्) जानना चाहिये। (सः योगः) वह अवस्थाविशेष, (अनिर्विण्णचेतसा) व्याकुलतारहित चित्तसे, (निश्चयेन) निश्चयपूर्वक, (योक्तव्यः) भलीभाँति अभ्यास करने योग्य है॥ २३॥

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥

(यजुर्वेदः ४०-११)

(यः) जो समाहित मनवाला योगी, (सम्भूतिम्) समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले परब्रह्मको, (च) और, (विनाशम्) विनश्वर देहसे उत्पन्न होनेवाले कर्मयोगको, (तद् उभयम्) उन दोनोंको, (सह) इकट्ठा ही, (वेद) जानता है, वह योगी, (विनाशेन) विनश्वर देहसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंसे, (मृत्युम्) सांसारिक जन्म-मरणको, (तीर्त्वा) पार करके, (सम्भूत्या) आत्मविज्ञानसे प्रकट होनेवाले ब्रह्मध्यानकी समाधिसे, (अमृतम्) अमरता अर्थात् मुक्तिपदको, (अश्नुते) प्राप्त होता है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि सुख-दुःखके सम्पर्कसे रहित योगका साधन स्वस्थ चित्तसे करना चाहिये। वेदमें भी कहा गया है कि कर्मयोग और ध्यानयोग दोनोंका आचरण करनेसे मनुष्य जन्म-मरणके बन्धनसे रहित होकर मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है।

२४. सङ्कल्पप्रभवान् कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

२५. शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(सर्वान्) सब प्रकारकी, (सङ्कल्पप्रभवान्) सङ्कल्पसे उत्पन्न हुई, (कामान्) कामनाओंको, (अशेषतः) पूर्ण रूपसे, (त्यक्त्वा) त्यागकर, (मनसा एव) मनसे ही, (इन्द्रियग्रामम्) इन्द्रियोंके समूहको, (समन्ततः) सब विषयोंकी ओरसे, (विनियम्य) विशेषतया रोककर अर्थात् सबको अपने-अपने नियममें रखकर, (धृतिगृहीतया) धैर्यसे ग्रहण की हुई अर्थात् धैर्ययुक्त, (बुद्ध्या) बुद्धिसे, (शनैः शनैः) धीरे-धीरे, (उपरमेत्) उपरामको प्राप्त होवे, और, (मनः) मनको, (आत्मसंस्थम्) आत्मामें स्थिर, (कृत्वा) करके, (किञ्चिदपि) किसी प्रकारकी, कुछ भी, (न चिन्तयेत्) चिन्ता न करे॥ २४-२५॥

धृषतश्चिद्धृषन्मनः कृणोषीन्द्र यत्त्वम्।
तीव्रैः सोमैः सपर्यतो नमोभिः प्रतिभूषतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥
(ऋग्वेदः ८-६२-५)

(इन्द्र ! त्वम्) जीवात्मन् ! तू, (मनः) अपने मनको, (धृषतः चित्) ढीठसे भी, (धृषत्) ढीठ, (कृणोषि) करता है अर्थात् तू मनको अपने वशमें नहीं करता, प्रत्युत सब विषयोंका ग्राहक बनाता है, (यत्) जबकि, (तीव्रैः) बहुत बड़ी, (सोमैः) शान्तिमयी स्तुतियों, और, (नमोभिः) प्रणाम द्वारा, (सपर्यतः) पूजा करते हुए, (प्रतिभूषतः) शोभित होनेवाले, (इन्द्रस्य) इन्द्रियोंको जीतनेवाले जीवात्माकी, (रातयः) त्यागपूर्ण क्रियाएँ, (भद्राः) कल्याण करनेवाली अर्थात् शान्तिमय धामको देनेवाली होती हैं।

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु॥
(अथर्ववेदः २-१२-८)

(समिद्धे) प्रकाशमान, (जातवेदसि) परब्रह्म परमात्मामें, (ते) तुझ ब्रह्मज्ञानी पुरुषके, (पदम्) मुक्तिपदको, (आदधामि) स्थापित करता हूँ। (अग्निः) परमात्मा, (शरीरम्) तेरे शरीरके अंग-अंगमें, (वेवेष्ट) व्यापक

या अग्निस्वरूप परमात्मा तेरे शरीरके अंग-अंगके दोषको जलावे। (वाक् अपि) तेरी वाणी भी, (असुम्) प्राणमय ब्रह्मको, (गच्छतु) प्राप्त हो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सब सङ्कल्पोंको छोड़कर मनके साथ इन्द्रियोंको वशमें करके, धैर्य रखते हुए विवेकपूर्वक शनैः शनैः उपरामको प्राप्त होवे, मनको चलायमान न करे, तब मुक्तिधाम या योगसमाधिको प्राप्त होता है। वेदमें भी आया है कि सब इन्द्रियोंके विषयोंको अपनानेवाले मनको वश करनेसे जीवात्मा ब्रह्मपद अर्थात् मुक्तिधामको प्राप्त होता है।

२६. यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(यतः यतः) जिन-जिन कारणोंसे, (चञ्चलम्) चञ्चल स्वभाववाला, (अस्थिरम्) एक स्थानपर स्थिर न होनेवाला अर्थात् शान्तिसे रहित, (मनः) मन, (निश्चरति) अपने वशसे बाहर निकल जाता है, (ततः ततः) उन-उन कारणोंसे, (एतत्) इस मनको, (नियम्य) रोककर, (आत्मनि) अपने आत्मामें, (एव) ही, (वशम्) वशमें, (नयेत्) ले आवे अर्थात् आत्मस्वरूपमें लगावे ॥ २६ ॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्।
मुनिर्देवस्यदेवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥

(ऋग्वेदः १०-१३६-४)

यह चञ्चल मन, (विश्वा) समग्र, (रूपा) रूपोंको अर्थात् पदार्थों और विषयोंको, (अवचाकशत्) देखते या प्रकाशित करते हुए, (अन्तरिक्षेण) आकाशमार्गसे, (पतति) उछलता-कूदता है। जब वही चञ्चल मन, (मुनिः) सब विषयोंसे मौनको धारण करता हुआ, (देवस्य) ज्योतिःस्वरूप, (देवस्य) आत्माका, (सखा) सखारूप होकर, (सौकृत्याय) शुभकर्ममयी योगसमाधिके लिये, (हितः) हित रखनेवाला होता है, तब आत्माके वशमें वास करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि चञ्चल मन जिन कारणोंसे वशमें नहीं रहता, उन्हीं कारणोंसे इसको वश करनेका प्रयत्न करे तभी यह आत्मसखा बन सकता है। वेदमें भी यही बात कही गई है कि चञ्चल मन सर्वदा विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है। परन्तु वही मन जब विषयोंसे विमुख हो जाता है तब आत्मसखा बनकर सुकृत्यमें अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिमें लग जाता है।

२७. प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

(प्रशान्तमनसम्) इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको रोक लेनेसे अत्यन्त शान्त मन-वाले, (शान्तरजसम्) रजोगुणके शान्त होनेसे मोहादिजन्य क्लेशोंसे रहित, (ब्रह्मभूतम्) सब वस्तुओंमें ब्रह्मदृष्टिवाले, (अकल्मषम्) नाना प्रकारके धर्म और अधर्मके उपद्रवोंसे रहित, (एनम्) इस समाहित चित्तवाले, (योगिनम्) योगीको, (हि) निश्चय ही, (उत्तमम्) अत्यन्त श्रेष्ठ, (सुखम्) सुख अर्थात् मोक्ष, (उपैति) प्राप्त होता है॥ २७॥

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥

(ऋग्वेदः १०-१३६-५)

(वातस्य) वायुमात्रका, (अश्वः) भोजन करनेवाला, (मुनिः) शास्त्र-मर्यादाका मनन करनेवाला योगी पुरुष, (वायोः) सर्वव्यापक परमात्माका, (सखा) सखारूप अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखनेवाला, (अथो) और, (देवे-षितः) परमात्माकी प्रसन्नतासे ही ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके लिए प्रेरणा किया हुआ, (च) और, (यः) जो, (पूर्वः) जीवन्मुक्तिकी अपेक्षा दैहिक सम्बन्धरूपी पहला समुद्र, (उत) और, (अपरः) कैवल्य-मुक्तिकी अपेक्षा देहपातके अनन्तर कैवल्यमुक्तिरूपी दूसरा समुद्र, अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्थामें पूर्वसमुद्रमें वास होता है और कैवल्यमुक्ति अवस्थामें दूसरे समुद्रमें वास होता है, (उभौ समुद्रौ) इन दोनों समुद्रोंको अर्थात् इस देहसे संसाररूपी समुद्रको तथा दिव्य देहसे आका-शस्थ स्वर्गादि समुद्रको, (अक्षेति) पार कर जाता है।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥

(यजुर्वेदः ११-१)

(सविता) ज्ञानपूर्वक अन्तःकरणसे ब्रह्मपदवीको उत्पन्न करनेवाला मनुष्य [ऐश्वर्यको चाहनेवाला मनुष्य, स्वामी दयानन्द], (तत्त्वाय) ब्रह्मज्ञानके तत्त्व-की प्राप्तिके लिए, (प्रथमम्) सर्वप्रथम, (मनः) अपने अन्तःकरणको, (धियः) इन्द्रियोंके विषयोंका पूर्णतया ज्ञान रखनेवाली बुद्धियोंको, (युञ्जानः) योगा-भ्यासद्वारा अपने आत्मामें संयुक्त करता हुआ, (अग्नेः) ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म-की, (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूपताको, (निचाय्य) निश्चित करके, (पृथिव्याः

अधि) पृथिवीलोकसे ऊपर, (आभरत्) भलीभाँति चारों ओर धारण करता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

> नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
> नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
> (महोप. ४-६९)

दुश्चरितोंसे न हटा हुआ जो प्राणी पापोंसे रहित न होकर शान्तात्मा नहीं हुआ और मनको समाहित नहीं किया, ऐसा अशान्त मनवाला पुरुष कभी ब्रह्मको प्राप्त नहीं कर सकता। शान्त मन और समाहित चित्तवाला पुरुष ही तत्त्वज्ञानसे ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि बिना मन शान्त हुए और बिना रजोगुण-तमोगुणसे रहित हुए कोई व्यक्ति न निष्पाप हो सकता है, न ब्रह्मज्ञान पा सकता है। वेदमें भी यही बताया गया है कि मन, बुद्धि और उनकी वृत्तियोंको रोकनेसे ही पुरुष शान्ति और ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है।

२८. **युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।**
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

(एवम्) इस प्रकार, (विगतकल्मषः) मल और क्लेशोंसे रहित, (योगी) योगानुष्ठान करनेवाला साधक, (सदा) निरन्तर, (आत्मानम्) अपने अन्तःकरणको, (युञ्जन्) योगसमाधिमें युक्त करता हुआ, (सुखेन) अनायास ही, (ब्रह्मसंस्पर्शम्) ब्रह्मसे स्पर्शवाले अर्थात् ब्रह्मानन्दवाले, (अत्यन्तम्) अतिशय, सबसे उत्तम, (सुखम्) सुखको अर्थात् मोक्षसुखको, (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

कपिलगीतामें कहा गया है—

> मनःस्थिरं फलमिदं यथा पक्वं भवेत्तदा।
> माधुर्यं ब्रह्मरसतां प्राप्तं हंसैः सुसेव्यते ॥
> मनो वासनया बद्धं मुच्येन्निर्वासनं यदि।
> तदेव ब्रह्मरसतां याति तत्पीयते बुधैः ॥
> ब्रह्मरसः स्वादुतमो हृत्तमे पूर्ण आत्मनि।
> इन्द्रैश्वर्यमतः क्षुद्रं का कथेतरभूपतेः ॥
> (५-८४-८६)

योगाभ्यास द्वारा मनको स्थिर करनेका फल यह है कि पके हुए फलकी मिठास जैसी ब्रह्मरसकी मिठास परमहंस योगियों द्वारा पायी जाती है। जब मन सब प्रकारकी वासनाओंका परित्याग कर शुद्ध हो जाता है, तब वह ब्रह्मरसताको पाता है, जिसे विवेकी जन पान करते हैं। आत्मानन्द पूर्ण हृदयकमलके लिए स्वादु अर्थात् मीठा है, जिसके सम्मुख इन्द्रका ऐश्वर्य भी अत्यन्त क्षुद्र है, अन्य लौकिक राजाओंके सुखकी तो कथा ही क्या है!

२९. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(योगयुक्तात्मा) योगसमाधिसे समाहित मनवाला, (सर्वत्र समदर्शनः) सर्वत्र समान दृष्टिवाला योगी, (आत्मानम्) अपने आपको, (सर्वभूतस्थम्) सब भूतोंमें स्थित, और, (सर्वभूतानि) सब भूतोंको, (आत्मनि) अपने आपमें, (ईक्षते) देखता है॥ २९॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥
(यजुर्वेदः ४०-६)

(यः) जो जितेन्द्रिय योगी, (सर्वाणि) सब, (भूतानि) चेतनाचेतन पदार्थोंको, (आत्मन् एव) अपने आत्मामें ही, (अनुपश्यति) देखता है और अनुभव करता है, (च) तथा, (सर्वभूतेषु) सब चेतन और अचेतन पदार्थोंमें, (आत्मानम्) अपने आपको, (अनुपश्यति) देखता है, (ततः) ऐसी अवस्था होनेपर, फिर, (न विचिकित्सति) निन्दित आचरण नहीं करता॥ ६॥

कठोपनिषद्में कहा गया है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
(२-५-९)

जैसे एक ही अग्नि छोटी-बड़ी-त्रिकोण-चौकोण लकड़ियोंमें प्रवेश करके उन्हीं जैसी आकृतिवाला हो जाता है, वैसे आत्मा सब छोटे-बड़े रूपोंमें प्रवेश करके उन्हीं आकारोंवाला दिखाई पड़ता है तथा उन पदार्थोंसे बाहर भी दिखाई पड़ता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनको वशमें रखनेवाला समदर्शी योगाभ्यासी पुरुष भूतमात्रमें अपने आपको तथा अपनेमें सब भूतोंको स्थित देखता है।

वेदमें भी कहा गया है कि जो पुरुष अपने आत्माको सबके भीतर और सबके आत्माको अपने भीतर देखता है, किसीमें द्वेषबुद्धि या मित्रबुद्धि धारण नहीं करता, वही योगाभ्यासी पुरुष है। वह कभी निन्दित आचरण नहीं करता।

३०. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(यः) जो समाहित योगी, (सर्वत्र) सब भूतोंमें, (माम्) मुझ सर्वात्मा परमात्मा वासुदेवको, (पश्यति) ज्ञान-नेत्रोंसे देखता है, (च) और, (सर्वम्) ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त प्राणिमात्रको, (मयि) मुझ सर्वात्मा परमात्मामें, (पश्यति) प्रत्यक्षरूपसे देखता है, (तस्य) उस योगीके लिए, (अहम्) मैं, (न प्रणश्यामि) परोक्ष नहीं होता अर्थात् मैं उसके सामनेसे दूर नहीं होता, (सः) वह, (च) भी, (मे) मेरे लिए, (न प्रणश्यति) परोक्ष नहीं होता अर्थात् सामनेसे पृथक् नहीं होता ॥ ३० ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(यजुर्वेदः ४०-७)

(यस्मिन्) जिस निर्विकल्प योगसमाधि अवस्थामें, (एकत्वम्) ब्रह्मके अद्वैतभावको अर्थात् प्राणिमात्रमें एकत्वस्वरूपको, (अनुपश्यतः) देखते हुए, (विजानतः) 'सारा जगत् ब्रह्ममय है, ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कुछ नहीं' ऐसा ज्ञान रखनेवाले योगीको, (सर्वाणि) सब, (भूतानि) चेतन और अचेतन पदार्थ, (आत्मा एव) आत्मा ही, (अभूत्) हो जाते हैं, (तत्र) ऐसी अवस्थामें, (कः मोहः) योगीको क्या मोह, और, (कः) कौन, (शोकः) शोक होता है ! अर्थात् ऐसे प्राणीको न किसी वस्तुमें मोह हो सकता, न नष्ट हुई वस्तुमें शोक हो सकता।

उपनिषद्में कहा गया है—

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

(श्वे. उ. ६-१२)

धैर्यवान् अर्थात् समाहित चित्तवाले जो पुरुष परमात्माको सबके आत्मामें स्थित देखते हैं अर्थात् साक्षात्कार करते हैं उन्हींको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति होती है, अन्यको नहीं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो ब्रह्मको प्रत्येक आत्मामें देखता है और प्रत्येक आत्माको ब्रह्ममें देखता है, उसे परमात्मा नहीं भूलता और वह परमात्माको नहीं भूलता। वेद तथा उपनिषद्में भी कहा गया है कि जिस अवस्थामें यह जीवात्मा पदार्थमात्रको परमात्मस्वरूप ही जानता है, उस अवस्थामें उसे न तो धन-पुत्रादिमें मोह रह जाता, न धन-पुत्रादिका नाश होनेपर कोई शोक होता और उसे ही आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति होती है।

३१. सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(यः) जो समदर्शी योगी, (सर्वभूतस्थितम्) सब भूतोंमें स्थित, (माम्) मुझ परमात्माको, (एकत्वम्) सबमें एक ही स्वरूप-भावको, (आस्थितः) आश्रय करके, (भजति) सेवन करता है, (सः) वह, (योगी) योगी, (सर्वथा) सब प्रकारसे, (वर्तमानः अपि) संसारी व्यवहारोंमें रहता हुआ भी, (मयि) मेरे स्वरूपमें ही, (वर्तते) वर्तमान रहता है॥ ३१॥

पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥
(यजुर्वेदः २३-५२)

हे मुमुक्षु जीवात्मन्! (पञ्चसु) पृथिव्यादि पाँच महाभूतोंमें और पाँच तन्मात्राओंके, (अन्तः) भीतर, (पुरुषः) परमात्मा, (आविवेश) ताने-बानेकी भाँति समाया हुआ है, (तानि) वे पञ्चमहाभूत और तन्मात्राएँ, (पुरुषे) परब्रह्म परमात्माके, (अन्तः) भीतर, (अर्पितानि) स्थित हैं। (एतत्) इस आत्मैकत्वस्वरूप या ब्रह्मैकत्वस्वरूप, (त्वा) तुझ मुमुक्षु जीवात्माको, (प्रतिमन्वानः) स्वीकार करता हुआ, मैं परमात्मा हूँ और समाहित मनवाला ज्ञानयोगी तू, (मायया) मेरी दैवी ज्ञानशक्तिसे, (उत्तरः) सबसे उत्तम हैं, और तू, (मत्) मुझसे पृथक् भी नहीं है अर्थात् तू मेरा स्वरूप है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
(मु. उ. २-१-४)

यह अग्नि विराड्रूप परमात्माका मस्तक है, सूर्य और चन्द्र नेत्र हैं, दसों दिशाएँ कान हैं, वेद उसके वचन हैं, वायु उसका प्राण है, सम्पूर्ण विश्व उसका हृदय है और पृथिवी उसके पैरोंसे उत्पन्न है। इस प्रकार यह परमात्मा सर्वान्तर्यामी भूतमात्रका अधिष्ठान है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माको सर्वत्र देखनेवाला योगी सब व्यवहार करता हुआ भी मुझमें ही लगा रहता है, किसी भी दुरवस्थामें दुखी नहीं होता। वह मुक्तस्वरूप हो जाता है। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्मा पञ्चमहाभूतोंमें ओतप्रोत है और वे पाँच महाभूत परमात्मामें स्थित हैं। ऐसा ज्ञान रखनेवाले तुझ मुमुक्षु योगीका मैं हूँ और तू सबसे उत्तम है।

३२. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(अर्जुन!) हे अर्जुन! (यः) जो समदर्शी योगी, (सर्वत्र) सब प्राणियोंमें, (आत्मौपम्येन) अपने आत्माके समान, (सुखम्) सुखको, (यदि वा) अथवा, (दुःखम्) दुःखको, (समम्) समान, (पश्यति) देखता है, (सः) वह, (योगी) योगी, (परमः) श्रेष्ठ, (मतः) माना गया है॥ ३२॥

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि॥

(ऋग्वेदः १-१६३-६)

हे परमात्मन्! मैं मुमुक्षु पुरुष, (ते) तेरे, (आत्मानम्) आत्माके स्वरूपको, (मनसा) अपने प्रबल मननशील मनसे या ज्ञानबुद्धिसे, (आरात्) अपने निकट अर्थात् अपने आत्मामें ही स्थित या दूरकी वस्तुओंमें भी स्थित, (अवः) भूमिके नीचेसे लेकर, (दिवा) आकाशके साथ-साथ, (पतङ्गम्) सबमें व्याप्त, (पतयन्तम्) सर्वत्र प्राप्त होनेवाले स्वरूपको, (अजानाम्) जानता हूँ, अथवा—(दिवा) अन्तरिक्षमार्गसे, (पतयन्तम्) गमन करते, (पतङ्गम्) सूर्यमें भी, (अवः) तू व्याप्त है, और मैं मुमुक्षु, (सुगेभिः) सम्यक्तया गमन करनेयोग्य, (अरेणुभिः) सुखदुःखरूपी धूलिसे रहित, (पथिभिः) मार्गोंसे, (जेहमानम्) समानतासे व्यापक, (पतत्रि) सबमें शीघ्रतासे गमन करनेवाले, (शिरः) सर्वत्र सबके शिररूप अर्थात् सबमें मुख्यस्वरूप तुझे, (अपश्यम्) देखता हूँ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरति-
रात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।
(छा. उ. ७-२५)

समाहित मन और समान दृष्टिवाला योगी इस प्रकार सबको अपने आत्माके समान देखता हुआ, सबको अपने समान मानता हुआ, सबको समानतासे जानता हुआ, आत्मामें रमण करता हुआ अथवा अपने आत्माके ही साथ मनका अनुसन्धान करता हुआ, अपने आत्माके साथ क्रीडा करता हुआ, अपने आत्माके साथ ही संयुक्त होता हुआ अर्थात् दिन-रात आत्मामें वृत्तिको बाँधता हुआ, और आत्माके साथ सब कालमें आत्माके आनन्दमें लगा हुआ, स्वराट्की पदवीवाला चक्रवर्ती राजाके समान हो जाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि साधक जैसे अपने साथ नाना प्रकारके सांसारिक क्लेशोंको अनिष्ट रूपसे और सुखोंको इष्ट रूपसे देखता है, इसी प्रकार यदि दूसरेके सुख-दुःखोंको भी देखता है तो वही श्रेष्ठ योगी है। उपनिषद् और वेदमें भी कहा गया है कि जो पुरुष परमात्म-ज्ञानके प्रभावसे सबसे निकट अर्थात् अपने आत्मामें और दूर सब वस्तुओंमें आत्माको ही देखता है। आत्माको ही जानता है और आत्माको ही सबका प्रधान समझता है वही सच्चा योगी तथा चक्रवर्ती राजाके समान है।

अर्जुन उवाच—

३३. योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥

३४. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगा—(मधुसूदन !) हे चित्तके चाञ्चल्यरूपी मधु-राक्षसके नाश करनेवाले श्रीकृष्ण ! (साम्येन) समतासे, (यः) जो, (अयम्) यह, (योगः) योग, (त्वया) आपने, (प्रोक्तः) कहा है, (चञ्चलत्वात्) मनके अत्यन्त चञ्चल होनेके कारण, (एतस्य) इस योगकी, (स्थिरां स्थितिम्) निश्चल स्थितिको, (अहम्) मैं, (न) नहीं, (पश्यामि) देखता हूँ अर्थात् अपने चित्तकी चञ्चलताके कारण मुझमें योगका सदा एकरस रहना असम्भव-सा जान पड़ता है ॥ ३३ ॥

(कृष्ण !) हे श्रीकृष्ण ! (हि) क्योंकि, (मनः) यह मन, (चञ्चलम्) स्वभावसे ही अत्यन्त चञ्चल है, (प्रमाथि) देह और इन्द्रियोंको अत्यधिक मन्थन करनेवाला है अर्थात् विक्षिप्त करनेवाला है, (बलवत्) अत्यन्त बलवान् है, और, (दृढम्) अत्यन्त दृढ़ है, इसलिये, (अहम्) मैं, (तस्य) उस मनका, (निग्रहम्) रोकना, (वायोः) वायुके, (इव) समान, (सुदुष्करम्) अत्यन्त कठिन, (मन्ये) मानता हूँ ।। ३४ ।।

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।

(अथर्ववेदः ६-१०५-१)

(यथा) जिस प्रकार, (आशुमत्) शीघ्रगामी, (मनः) मन, (मनस्केतैः) मनके विषयोंके साथ, (परापतति) अत्यन्त दूर चला जाता है अर्थात् चंचल मन सामने आये हुए विषयकी ओर भाग जाता है, एक स्थानपर नहीं रहता ।

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ।।

(ऋग्वेदः १०-५८-४)

हे जीवात्मन् ! (यत्) जो, (ते) तेरा, (मनः) मन, (चतस्रः) चारों, (प्रदिशः) दिशाओं और उपदिशाओंको, (दूरकम्) अत्यधिक दूर, (जगाम) चला जाता है अर्थात् चञ्चल होनेसे एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता, (तत्) उस चञ्चल, (ते) तेरे मनको, (क्षयाय) देहमें स्थिर रहनेके लिये, और, (जीवसे) तेरे जीनेके लिये, (आ वर्तयामसि) मैं लौटा कर स्थिर करता हूँ ।

ऋग्वेदके इस अध्यायका समग्र बीसवाँ वर्ग मनकी चञ्चलताका ही प्रतिपादन करता है ।

तुलना—गीतामें वायुके दृष्टान्तद्वारा मनको चञ्चल और कठिनतासे वशमें आनेवाला कहा गया है । वेदमें भी मनको सब दिशाओं और उपदिशाओंमें भागनेवाला बताते हुए कहा गया है कि प्रभुकी कृपादृष्टिसे ही वह स्थिर हो सकता है ।

श्रीभगवानुवाच—

३५. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

अर्जुनकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा, (महाबाहो !) हे बड़ी भुजावाले अर्जुन ! (असंशयम्) इसमें कोई सन्देह नहीं कि, (मनः) मन, (दुर्निग्रहम्) बड़ी कठिनतासे निग्रह करने अर्थात् जीतनेयोग्य है, और, (चलम्) बड़ा चञ्चल है, (तु) तो भी, (कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र ! वह मन, (अभ्यासेन) बार-बार निरोधके अभ्याससे, (च) और, (वैराग्येण) सब प्रकारके विषयोपभोगोंको दूषित समझकर उनसे उपराम हो जानेसे, (गृह्यते) चञ्चल होते हुए भी वशीभूत किया जा सकता है ॥ ३५॥

यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा।

तद्व आ वर्तयामसि ······ ॥

(अथर्ववेदः ७-१३-४)

(यद्) जो, (वः) तुम मुमुक्षु पुरुषोंका, (मनः) मन, (परागतम्) चञ्चल होनेसे अत्यन्त दूर चला गया, (यद् वा) अथवा जो, (इह) यहाँ, इधर-उधर किसी और विषयमें, (बद्धम्) बँध गया है, (तत्) उस तुम्हारे मनको, (आ वर्तयामसि) फिर विषयोंसे हटाकर एक स्थानपर स्थित करता हूँ ।

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु संतवीत्वत्पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् ॥

(ऋग्वेदः ४-४०-४)

हे जीवात्मन् ! (वाजी) चञ्चल होनेसे बड़े वेगवाला, (स्यः) वह मन, (ग्रीवायाम्) ग्रीवामें अर्थात् विषयोंके मूलस्थानमें, (कक्षे) मध्यभागमें, और, (आसनि) मुखमें, (बद्धः अपि) वैराग्य और अभ्याससे बाँधा हुआ भी, (क्षिपणिम्) वैराग्य और अभ्यासको दूर फेकनेके लिये, (तुरण्यति) शीघ्रता करता है। (दधिक्राः) वैराग्य और अभ्यासको धारण करनेवाला पुरुष, (सन्तवीत्वत्) अत्यन्त बलवान् होता हुआ, (पथाम्) बहुत विचारके मार्गोंके, (अङ्कांसि) सत् और असत्से विलक्षण, (क्रतुम्) कर्मोंका, (अनु) अनुसरण करके, (आपनीफणत्) चारों ओर भलीभाँति संसार-समुद्रको पार कर जाता है।

योगदर्शनमें कहा गया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१-१२)

अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध होता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मन कठिनतासे वशमें होता है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे वशमें हो जाता है। वेद तथा योगदर्शनमें भी मनको अतीव चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला बताते हुए कहा गया है कि जो पुरुष अभ्यास और वैराग्यसे उसे वशमें करता है वह परम पदको प्राप्त कर सकता है।

३६. असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

हे अर्जुन ! (असंयतात्मना) अभ्यास और वैराग्यसे अपने अन्तःकरणको वश न करनेवाले पुरुषसे, (योगः) यह ध्यानयोग, (दुष्प्रापः) प्राप्त होने योग्य नहीं है, (इति) ऐसी, (मे) मेरी अर्थात् मुझ श्रीकृष्णकी, (मतिः) सम्मति है। परन्तु, (यतता) बार-बार अभ्यास और वैराग्यकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाले, (वश्यात्मना) अभ्यास और वैराग्यद्वारा मनको वश रखनेवाले योगी पुरुषसे, (तु) तो, (उपायतः) अभ्यास और वैराग्यके उपायसे, यह योग, (अवाप्तुम् शक्यः) प्राप्त किये जानेयोग्य है॥ ३६॥

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥

(अथर्ववेदः ६-७४-२)

हे मुमुक्षु पुरुषो ! (वः) योगसमाधिकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाले तुम योगी पुरुषोंके, (मनसः) ज्ञानके साधन मनको, (संज्ञपनम्) ब्रह्मज्ञान-की उत्पत्ति होवे, (अथो) और, (हृदः) विषयादिसे हर लिए जानेवाले हृदयको, (संज्ञपनम्) भली-भाँति ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो, (अथो) और, (भगस्य) ज्ञानरूपी ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये, (यत्) जो, (श्रान्तम्) श्रमसे उत्पन्न हुआ तप है, (तेन) उस श्रमजनित तपसे, (वः) ज्ञानयोगका साधन करते हुए तुम मुमुक्षु पुरुषोंको, (संज्ञपयामि) ज्ञान प्राप्त करनेके लिये बतलाता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि असंयतात्मा पुरुष योगको प्राप्त नहीं कर सकता। संयतात्मा पुरुष ही योगसाधना करके मोक्ष प्राप्त करता है। वेदमें भी परमात्माने पुरुषको योगसमाधि प्राप्त करनेके लिये मनको यत्नपूर्वक विषयोंसे रोककर ज्ञानकी प्राप्तिका उपदेश दिया है।

अर्जुन उवाच—

३७. अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥

३८. कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥

३९. एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

(अर्जुन उवाच) भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश सुनकर अर्जुनने कहा, (श्रद्धया) गुरुके उपदेश और शास्त्रके वचनोंमें सत्यता विद्यमान है, इस प्रकारकी श्रद्धासे या मोक्ष और ईश्वरकी प्राप्तिकी श्रद्धासे, (उपेतः) संयुक्त, (अयतिः) थोड़ी आयुके कारण या पूर्ण वैराग्य-प्राप्ति न होनेके कारण पूर्ण योगाभ्यासी न होनेवाला, (योगात्) योगसे, (चलितमानसः) चलायमान मनवाला पुरुष, (योगसंसिद्धिम्) योगकी सिद्धिको, (अप्राप्य) प्राप्त न करके, मरनेपर, (काम्) किस, (गतिम्) गतिको, (गच्छति) प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

(महाबाहो !) हे बड़े बलवान् बाहुवाले भगवान् श्रीकृष्ण ! (ब्रह्मणः) ब्रह्मप्राप्तिके, (पथि) मार्गमें, (विमूढः) मोहको प्राप्त हुआ विक्षिप्त पुरुष, (अप्रतिष्ठः) कर्ममार्ग, उपासनामार्ग या ज्ञानमार्गमें-से किसी एकपर पूर्णतया स्थिर न होकर, (उभयविभ्रष्टः) कर्म और ज्ञान दोनों मार्गोंसे पतित होकर, (छिन्नाभ्रम् इव) छिन्न-भिन्न बादलोंके समान, (कच्चित्) क्या, (न नश्यति) नष्ट नहीं होता ॥ ३८ ॥

(कृष्ण !) हे भगवान् श्रीकृष्ण ! (मे) मेरे, (एतत्) इस, (संशयम्) संशयका, (अशेषतः) पूर्णतया,(छेत्तुम्) नाश करनेके लिये, (अर्हसि) आप योग्य हैं, (हि) क्योंकि, (त्वदन्यः) आपके बिना कोई दूसरा, ऋषि या देवता, (अस्य) इस, मेरे, (संशयस्य) सन्देहको, (छेत्ता) दूर करनेवाला, उत्तर देकर नष्ट करनेवाला, (न उपपद्यते) नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ३९ ॥

सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो ।
स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥

(ऋग्वेदः १-१६-९)

(शतक्रतो !) हे सैंकड़ों कर्मोंको करनेवाले परमात्मन् ! (सः) वह पूर्ण-ब्रह्म आप, (अश्वैः गोभिः) अपने-अपने विषयोंको प्राप्त इन्द्रियोंसे, (कामम्=काम्यमानम्) कामना किये हुए, (नः इमम्) हमारे इस सन्देहको [ब्रह्म-मार्ग-से पतित, योगाभ्यासमें पूर्णता न प्राप्त करनेवाला किन्तु श्रद्धासे युक्त पुरुष किस गतिको प्राप्त होता है], (आ पृण) परिपूर्ण उत्तरसे पूरा करें, दूर करें, क्योंकि आपके बिना दूसरा कोई हमारे संशयको दूर करनेवाला नहीं है। हम मुमुक्षु पुरुष भी, (स्वाध्यः) भलीभाँति चारों ओर आपके ध्यानसे मिले हुए, (त्वा) आप परमात्माकी, (स्तवाम) संशय दूर करनेके लिये स्तुति करें।

तुलना—गीतामें अर्जुनने प्रश्न किया कि श्रद्धालु होते हुए भी योगसे विचलित हुआ साधक योगसिद्धिको न पाकर किस गतिको प्राप्त होता है ? हे कृष्ण ! इस संशयको दूर करनेवाला बिना आपके और कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। वेदमें भी परमात्मासे प्रार्थना की गई है कि हमारी इन्द्रियोंसे कामना किये हुए संदेहको दूर करो, इसीलिये हम आपकी स्तुति करते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

४०. पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (तस्य) उस श्रद्धासे युक्त योगभ्रष्ट पुरुषका, (विनाशः) किसी प्रकार भी नाश, (न इह) न इस लोकमें, (न अमुत्र) न परलोकमें, (एव) ही, (विद्यते) सम्भव होता है, (हि) क्योंकि, (तात !) हे परमप्रिय ! (कल्याणकृत्) शुभ कर्म करनेवाला, (कश्चित्) कोई प्राणी, (दुर्गतिम्) किसी प्रकारकी हीन अवस्था अर्थात् इस संसारमें अपयशको और परलोकमें कीटादि नारकीय योनियोंको, (न) नहीं, (गच्छति) प्राप्त होता ॥ ४० ॥

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम्।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥

(अथर्ववेदः ४-९-५)

(आञ्जन !) हे सारे जगत्‌को प्रकट करनेवाले परमात्मन् ! (यः) जो शुभ कर्म करनेवाला योगी, (त्वा) तुझ परमात्माको, (बिभर्ति) सदा योगाभ्याससे अपने हृदयमें धारण करता है, (एनम्) तेरा ध्यान करनेवाले इस योगी पुरुषको, (शपथः) दूसरेसे की हुई निन्दा अथवा अपकीर्ति, (न प्राप्नोति) नहीं लगती, (कृत्या) पापमयी कामना, (न प्राप्नोति) नहीं प्राप्त होती, और,

(अभिशोचनम्) दूसरेसे किये हुए अपमानसे उत्पन्न अथवा अपनी हानि या लाभसे उत्पन्न शोक, (न प्राप्नोति) नहीं प्राप्त होता, (एनम्) और इसको, (विष्कन्धम्) सद्योनिके पानेके लिये विघ्नोंका समूह, (न अश्नुते) भक्षण नहीं करता ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शुभ कर्म करनेवाला पुरुष इस लोक और परलोकमें सुखी रहता है और मृत्युके अनन्तर कीटादि नारकीय योनियोंको प्राप्त नहीं होता । वेदमें भी बताया गया है कि परमात्माका भजन करनेवाले पुरुषको अपकीर्ति, निन्दा, किसी प्रकारका शोक और शुभगतिप्राप्तिका प्रतिबन्धक विघ्न प्राप्त नहीं होते ।

४१. प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

(योगभ्रष्टः) योगमार्गमें प्रवृत्त होकर उसके पूर्ण होनेसे पहले मृत्युको प्राप्त हुआ या अन्य किसी प्रकारसे योगभ्रष्ट प्राणी, (पुण्यकृताम्) पुण्य करनेवाले पुरुषोंको, (लोकान्) प्राप्त होनेयोग्य स्वर्गादि लोकोंको, (प्राप्य) प्राप्त करके, (शाश्वतीः) असंख्य, (समाः) वर्षोंतक, (उषित्वा) उनमें निवास करके, (शुचीनाम्) पवित्र आचरण करनेवाले, शुद्धान्तःकरणवाले, (श्रीमताम्) धनवान् पुरुषोंके, (गेहे) घरमें अर्थात् कुलमें, (अभिजायते) उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥

(अथर्ववेदः ९-५-१)

हे गुरुजी ! (एतम्) इस योगभ्रष्ट योगीको, (आ नय) अपने समीप लाइए, (आ रभस्व) इसे कर्म करनेके कर्ममें आरम्भ कीजिये अर्थात् इसे कर्म करनेमें लगाइए, जिससे यह पुरुष, (प्रजानन्) उन्नतिके मार्गको जानता हुआ अर्थात् ज्ञानयोगी होकर, (सुकृताम्) नाना प्रकारके पुण्य करनेवाले पुरुषोंके, (लोकम्) स्वर्गादि लोकको, (गच्छतु) प्राप्त होवे । (अजः) यह जीवात्मा, (महान्ति) बड़े-बड़े, (तमांसि) अज्ञानात्मक अँधेरेको अथवा नारकीय योनियोंको, (तीर्त्वा) पार करके, (तृतीयं नाकम्) तीसरे धाम अर्थात् स्वर्गधाम या मुक्तिधामको, (आ क्रमताम्) प्राप्त होवे ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते
रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा।

(छा. उ. ५-१०-७)

इस लोकमें शुभ आचरणोंका अभ्यास करनेवाले अवश्य रमणीय योनिको अथवा ब्राह्मणयोनिको प्राप्त होते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि पुण्यात्मा योगभ्रष्ट लोग असंख्य वर्षोंतक पुण्यलोकोंमें रहकर शुद्धाचारी धनवानोंके घरमें जन्म लेते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि ज्ञानोपदेष्टा गुरु सदाचारी शिष्यको ज्ञानोपदेश देनेके लिये लावे तथा उसे कर्म और ज्ञानका उपदेश दे। ऐसा सदाचारी पुण्यात्मा पुरुष नारकीय योनियों अथवा सम्पूर्ण अज्ञानात्मक अवस्थाओंको पार कर उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है।

४२. अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

(अथवा) या, देरतक योगाभ्यास करनेवाले योगभ्रष्ट प्राणीका, (धीमताम्) ब्रह्मतत्त्वके विचारसे युक्त बुद्धिवाले, (योगिनाम्) योगियोंके, (कुले) कुलमें, (एव) ही, (भवति) जन्म होता है, (हि) क्योंकि, (लोके) इस लोकमें, (ईदृशम्) इस प्रकारका, (यत्) जो, (जन्म) जन्म है, (एतत्) यह, (दुर्लभतरम्) अतीव दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा
म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्।
वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥

(यजुर्वेदः ४-१५)

(मे) योगसे भ्रष्ट हुए मुझे, (मनः) विज्ञानका साधक मन, (पुनः) फिर दूसरे जन्ममें, (आ अगन्) प्राप्त होता है, और, (आयुः) ज्ञानसाधनके लिये आयुका काल अर्थात् समय भी फिर प्राप्त होता है, (पुनः) फिर मनुष्यदेहकी प्राप्तिके अनन्तर, (मे) मुझ योगीको, (प्राणः) श्वासोच्छ्वास लेनेके लिये प्राणवायु, (पुनः) फिर प्राप्त होता है, और, (आत्मा) आत्मस्वरूपावस्था अर्थात् पूर्ण ज्ञानयोगावस्था, (आ अगन्) प्राप्त होती है। (मे) दूसरे जन्ममें ज्ञानयोगसे भ्रष्ट मुझ योगीको, (पुनः) फिर, (चक्षुः) देखनेका साधन चक्षुरिन्द्रिय, और, (पुनः) फिर, (श्रोत्रम्) श्रवणका साधन श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्त

होती है। (वैश्वानरः) सब मुक्त जीवोंको अपने पास लानेवाला, (अदब्धः) किसीसे भी हिंसा न करनेयोग्य, (तनूपाः) संसारात्मक शरीरका रक्षक, (अग्निः) ज्योतिःस्वरूप परमात्मा, (नः) वैराग्य और मोक्षकी इच्छाके योग्य जन्म धारण करनेवाले ज्ञानयोगसे भ्रष्ट हुए हमें, (दुरितात्) पापसे प्राप्त होनेयोग्य हीन योनियोंके दुःखसे, तथा, (अवद्यात्) पापके आचरणसे, (पातु) रक्षा करे अर्थात् हमारा जन्म बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें हो।

तुलना—गीतामें योगभ्रष्ट पुरुषका जन्म बुद्धिमान् ज्ञानी योगियोंके कुलमें बताया गया है अर्थात् महापुरुषोंके वंशमें परम्परासे योगियोंकी ही उत्पत्ति होती चली जाती है। वेदमें भी बताया गया है कि योगभ्रष्ट योगी परमात्मासे पुनर्जन्ममें शुद्ध मन, शुद्ध प्राण तथा आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये चक्षु आदि इन्द्रियोंकी प्राप्तिकी प्रार्थना करता है और योगिकुलमें जन्म लेनेकी कामना करता है।

४३. तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

(कुरुनन्दन !) हे अर्जुन ! (तत्र) ज्ञानियों या योगिजनोंके कुलमें जन्म लेकर वह योगभ्रष्ट योगी, (पौर्वदेहिकम्) पूर्वजन्मके देहद्वारा प्राप्त किए हुए, (तं बुद्धिसंयोगम्) उस ज्ञानयोगको, (लभते) पा लेता है, (ततः च) तदनन्तर, (भूयः) अत्यधिक, (संसिद्धौ) ज्ञानकी सिद्धिके लिए अर्थात् मुक्ति-प्राप्तिके निमित्त, (यतते) यत्न करने लगता है॥ ४३॥

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ।
[1]जूरसि धृता मनसा [2]जुष्टा विष्णवे॥
(यजुर्वेदः ४-१७)

(शुक्र !) हे सत्त्वगुणविशिष्ट योगिजन ! (एषा तनूः) पूर्वजन्ममें योगभ्रष्ट होनेसे इस जन्ममें ग्रहण किया हुआ यह देह, (ते=त्वया) जो तूने, (विष्णवे) भगवान् विष्णुकी प्राप्तिके लिए, (धृता) धारण किया है, वह, (मनसा) एकाग्र मनसे, (जुष्टा) सेवित है। (जूः असि) तू जीवनको प्राप्त हुआ है या यही तेरा अन्तिम जीवन है, (एतत् वर्चः) इसी देहसे यह प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक तेज, (सम्भव) समीचीनतया प्राप्त कर, तथा, (तया)

---

१. जूः—'जीव प्राणधारणे', क्विबन्तस्यापि ड्रूप्रत्ययः, जूरिति।
२. जुष्टा—'जुषी प्रीतिसेवनयोः'।

उस अन्तिम देह द्वारा प्राप्त अपरिपूर्ण, (भ्राजम्) प्रकाशस्वरूप ज्ञानको, (गच्छ) पुनः प्राप्त्यर्थ प्राप्त हो जा।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें यही कहा गया है कि यदि यति योगभ्रष्ट हो जाय तो वह दूसरे जन्ममें योगिकुलमें अथवा सात्त्विक धनाढ्य कुलमें जन्म पाकर पुनः योगाभ्याससे परिपूर्ण ज्ञान-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है।

४४. पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(हि) क्योंकि, (तेन एव पूर्वाभ्यासेन) उसी पूर्वजन्मकृत योगाभ्यासकी नियत-सम्बद्ध वृत्तिद्वारा, (सः) वह योगपतित, (अवशः) बलपूर्वक, (ह्रियते) योगाभ्यासद्वारा ज्ञानप्राप्तिकी ओर खींचा जाता है, योगसमाधिमें बलपूर्वक लगा दिया जाता है। (योगस्य) निर्विकल्पक समाधि द्वारा प्राप्त होनेयोग्य परमात्माका, (जिज्ञासुः) खोजी, परमात्मस्वरूपके जाननेका इच्छुक योगी, (शब्दब्रह्म अतिवर्तते) 'मैं ही ब्रह्म हूँ' केवल इस शब्दमात्रको कहता हुआ भी प्रकृतिको पार कर जाता है या वेदप्रतिपादित सकामकर्मको छोड़कर निष्काम-कर्मद्वारा भगवत्प्राप्तितक पहुँच जाता है॥ ४४॥

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
(ऋग्वेदः १-१६४-४५)

(वाक्पदानि) वाणीके स्थान, (चत्वारि) चार, (परिमिता) निश्चित हैं अर्थात् १. आर्त वाणी, २. जिज्ञासु-वाणी, ३. प्रयोजनार्थ वाणी, ४. ज्ञानयुक्त वाणी या १. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा, ४. वैखरी ये चार वाणियाँ नियत हैं। एक ही वाणी मूलाधार अर्थात् कण्ठसे उच्चारण की हुई 'परा' कही जाती है। नाद या शब्दके सूक्ष्म होनेसे कठिनाईसे बोली जानेके कारण हृदय-गत वाणी 'पश्यन्ती' कही जाती है। केवल योगियोंसे जाननेयोग्य एवं बुद्धिगत होनेके कारण 'मध्यमा' कही जाती है। जब वही वाणी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूपमें मुखमें स्थित होकर तालु और ओष्ठादिके व्यापारसे बाहर आती है तब 'वैखरी' कही जाती है। (तानि) उन चारों वाणियोंके पदोंको, (मनीषिणः) मनको वशमें रखनेवाले, (ब्राह्मणाः) वाच्य शब्दब्रह्म—'अहं ब्रह्मास्मि' कहने-वाले योगिजन, (विदुः) जानते हैं। उन चार वाणियोंमें-से, (त्रीणि) तीनों वाणियाँ, (गुहा निहिता) हृदयाकाशमें स्थित होनेसे, (न इङ्गयन्ति) हलचल

करनेकी चेष्टा नहीं करतीं, (मनुष्याः) योगभ्रष्ट प्राणी, (वाचः) वाणीके, (तुरीयम्) चतुर्थ भाग 'अहं ब्रह्मास्मि' को, (वदन्ति) कहते हैं।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें कहा गया है कि जो प्राणी पूर्वजन्ममें योगाभ्यास करता हुआ ज्ञानभ्रष्ट हो जाता है, वह दूसरे जन्ममें पुनः ब्रह्मप्राप्तिकी इच्छा करता हुआ ज्ञानयोग द्वारा 'वैखरी' वाणीतक पहुँचकर शब्दब्रह्म अर्थात् प्रकृत-पदार्थसंयोगका परित्याग कर, ब्रह्मज्ञानी होकर मुक्तिधामका अधिकारी हो जाता है।

४५. **प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।**
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(योगी) पूर्वजन्ममें योगभ्रष्ट होनेसे ज्ञानयोगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगी, (प्रयत्नात्) प्रयत्नपूर्वक, (यतमानः) साधना करते हुए, (संशुद्धकिल्बिषः) सब प्रकारके पापोंसे संशुद्ध होकर अर्थात् अज्ञानसे दूर होकर, (अनेकजन्मसंसिद्धः) अनेक जन्मोंमें कृत योगसमाधिद्वारा ब्रह्मज्ञानप्राप्तिमें पूर्ण सिद्ध हो जाता है। (ततः) योगसंसिद्धिके अनन्तर, (परां गतिम्) परमपद मुक्तिको, (याति) प्राप्त होता है॥ ४५॥

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

(ऋग्वेदः १०-१३६-२)

([1]वातरशनाः) वायुमात्र भोजन करनेवाले, (मुनयः) वेदवचनोंके मनन करनेवाले, अतीन्द्रियार्थके देखनेवाले अर्थात् बहुत जन्मोंके अभ्याससे ब्रह्मतत्त्वदर्शी, (पिशङ्गा=पिशङ्गानि, मला=मलानि) कपिल वर्णवाले अर्थात् म्लानस्वरूप वल्कलोंको योगाभ्यासकी सिद्धिके लिये, (वसते) अपने शरीरपर आच्छादित करते हैं। (यत्=यस्मात्) अनेक जन्मोंके अनन्तर प्राप्त योगसंसिद्धिके कारण, (देवासः) योगसमाधि और तपश्चर्याके महत्त्वसे प्रकाशमान होते हुए, (अविक्षत) सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिमें ही प्रवेश कर जाते हैं। (वातस्य) योगसमाधिजनित ब्रह्मदृष्टिके अनन्तर सर्वजगदाधार सूत्रात्मक परब्रह्मके, (ध्राजिम्) सर्वाधार परमोत्कृष्ट ज्योति या परब्रह्मगति अर्थात् विदेह कैवल्यको, (अनुयन्ति) अनुभव करते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञानयोगी निष्काम कर्मद्वारा बहुत जन्मों-

---

१. ऋग्वेदे १०-१३६ तमसूक्तस्यर्षयः।

तक योगाभ्यासमें प्रयत्न करता हुआ निष्पाप होकर परमगतिको पाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि ब्रह्ममें ध्यान और सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि रखनेवाले योगी केवल वायुभोजी होकर ब्रह्मका ध्यान करते हुए ब्रह्मज्योतिसे प्रकाशमान होकर उस ज्योतिका दर्शन करके मुक्त हो जाते हैं।

४६. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (तपस्विभ्यः) ब्रह्मप्राप्तिके लिये तपस्या करनेवाले भगवद्भक्तोंसे, (योगी) निष्काम-कर्मयोगी, (अधिकः) श्रेष्ठ कहा गया है। (ज्ञानिभ्यः अपि) केवल ज्ञानमात्र धारण करनेवालेसे भी, (अधिकः मतः) निष्काम-कर्मयोगी श्रेष्ठ माना गया है, (च) और, (कर्मिभ्यः) वैदिक अग्निहोत्रादि सकामकर्म करनेवाले कर्मठोंसे भी, (अधिकः) निष्काम-कर्मयोगी श्रेष्ठ कहा गया है। (तस्मात्) इसलिये, (योगी भव) ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये निष्काम-कर्मयोगी हो जा॥ ४६॥

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

(ऋग्वेदः ५-४४-१४)

(यः) जो तपस्वी शीतऋतुमें जलमें खड़े रहकर तथा ग्रीष्ममें पञ्चाग्नि तापता हुआ, (जागार) जागता है, (ऋचः) ऋग्वेदकी तपस्यासूचक ऋचायें, (तं कामयन्ते) उस तपस्वीको चाहती हैं और तपस्वी भी उनकी ओर खिच जाता है। (यः) जो ज्ञानी मनुष्य, (जागार) संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये जागृत रहता है अर्थात् सांसारिक बन्धनोंसे बचना चाहता है, (तम्) उसको, (सामानि यन्ति) ब्रह्मप्रतिपादक वैदिक स्तोत्र प्राप्त होते हैं। (यः) जो निष्काम-कर्मयोगी, (जागार) ब्रह्मप्राप्तिके लिये निष्कामकर्म करनेमें सदा चित्त लगाता रहता है, (अयं सोमः) सर्वव्यापक यह परब्रह्म परमात्मा, (तम्) उसको, (आह) कहता है कि हे योगिजन ! (तव सख्ये) तेरी मित्रताके लिये, (अहम्) मैं परमात्मा, (न्योकाः अस्मि) नियतस्थानवाला अर्थात् नियतरूपमें हूँ, क्योंकि निष्काम-कर्मयोगी मेरा अतिप्रिय है। अतः तपस्वियों, ज्ञानियों और सकामकर्म करनेवाले कर्मठोंसे भी कर्मयोगी श्रेष्ठ है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि निष्कामकर्म करनेवाला साधक तपस्वी, ज्ञानी तथा सकाम कर्म करनेवाले इन सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। वेदमें भी

कहा गया है कि जो व्यक्ति जन्ममरणके बन्धनसे छूटनेके लिये जागरूक रहकर निष्काम कर्म करते हुए साधना करता है उसे ऋक् और साम प्राप्त होते हैं और परमात्मा उसका मित्र हो जाता है अर्थात् निष्काम कर्म करनेवाला ही सर्वश्रेष्ठ है।

४७. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ध्यानःयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः।

हे अर्जुन! (यः) जो ब्रह्मवेत्ता योगी, (श्रद्धावान्) ब्रह्मको सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी मानते हुए—गुरु और वेदवचनोंमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते हुए, (मद्गतेन) मुझ परमात्माके ध्यानमें लीन होकर, (अन्तरात्मना) एकाग्र मनसे, (मां भजते) मुझ परमात्माकी उपासना करता है अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखता है, (सर्वेषाम्) भिन्न-भिन्न रूपसे ब्रह्मोपासना करनेवाले, (योगिनाम् अपि) योगियोंसे भी, (सः) वह ब्रह्मवेत्ता योगी, (मे) मेरा, (युक्ततमः) अत्यन्त श्रेष्ठ उपासक, (मतः) माना गया है, क्योंकि युक्तयोगीको सर्वत्र सबमें ब्रह्मरूप भासता है ॥ ४७ ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराऽरसं विषम् ॥
(अथर्ववेदः ४-६-१)

(ब्राह्मणः) ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाला, (दशशीर्षः) १. शम, २. दम, ३. तप, ४. शौच, शुद्धि, ५. क्षमा, ६. ऋजुता, ७. ज्ञान, ८. विज्ञान अर्थात् ज्ञानपूर्वक ब्रह्मस्वरूपानुभव, ९. आस्तिकता, १० आचार्य, वेद और अकर्तव्यमें भय तथा कर्तव्य-कर्ममें श्रद्धा-भक्ति—इन दश मुकुटोंवाला, (दशास्यः) धृति, क्षमा आदि मनुप्रोक्त दश धर्मोंके मुकुटोंवाला अथवा पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको मुखमें रखनेवाला अर्थात् उन्हें अपने-अपने विषयोंसे दूर रखनेवाला इन्द्रियजित् ब्रह्मयोगी, (प्रथमः) सब योगियोंमें श्रेष्ठ, (जज्ञे) संसारमें प्रकट होता है। (सः) वह, सब योगियोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता, (सोमम्) ब्रह्मानन्दात्मक अमृतरसको, (पपौ) पान करता है। (सः) वही युक्ततम योगी, (विषम्) पापात्मक नास्तिकताके हलाहलको,

(अरसम्) नीरस अर्थात् पापरहित, (चकार) कर देता है अर्थात् उसके पास पापका नाम भी नहीं आ सकता ।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें ब्रह्मानन्दरसका पान करनेवाले योगीको सर्वश्रेष्ठ माना गया है और कहा गया है कि एकाग्र मनसे श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक परमात्माकी उपासना करनेवाला मनुष्य ही मुक्तिपदको पाता है ।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका

पञ्चम अध्याय समाप्त ।

सप्तम अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

१. मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

२. ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा, (पार्थ !) हे अर्जुन ! (योगम्) दुःखसंयोगसे रहित निष्काम कर्मयोगको, (युञ्जन्) एकाग्र मनसे करता हुआ, (मदाश्रयः) अनन्यभावसे मुझ परमात्माका आश्रय ग्रहण करता हुआ, (मयि आसक्तमनाः) मुझ परमात्मामें मनको लगाता हुआ तू, (माम्) मेरे स्वरूप अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपको, (असंशयम्) निःसन्देह, (समग्रम्) पूर्णरूपसे, (यथा) जिस प्रकार, (ज्ञास्यसि) जानेगा, (तत्) उस प्रकारको, (शृणु) सुन। (अहम्) परब्रह्मस्वरूप मैं, (ते) अर्जुनरूप तुझ जीवको, (अशेषतः) पूर्णरूपसे, (सविज्ञानम् इदं ज्ञानम्) अनुभवात्मक ज्ञानके साथ इस ब्रह्मज्ञान-योगको, (वक्ष्यामि) कहता हूँ, (यत्) जिस ज्ञानको, (ज्ञात्वा) जानकर, (इह) इस जन्ममें, (भूयः) फिर, (अन्यत् ज्ञातव्यम्) और कोई जानने-योग्य, (न) नहीं, (अवशिष्यते) शेष रह जाता अर्थात् सब कुछ उस मेरे द्वारा कहे ज्ञानके भीतर आ जाता है ॥ १-२ ॥

यस्यानक्षा दुहिता जात्वास कस्तां विद्वाँ अभि मन्याते अन्धाम् ।
कतरो मेनिं प्रति तं मुचाते य ईं वहाते य ईं वा वरेयात् ॥

(ऋग्वेदः १०-२०-११)

(यस्य) जिस ज्ञानयोगी यतिकी, (दुहिता) अपने अन्तःकरणसे दूर धारण की हुई, (अनक्षा) इन्द्रियातीत वृत्ति, (जातु) कदाचित्, (आस) परब्रह्ममें स्थित हो जाती है, (कः) कौन मनुष्य, (ताम्) उस मनोवृत्तिको, (विद्वान्) जानता हुआ, (अन्धाम्) अन्नमयी अर्थात् सांसारिक वृत्ति, (अभिमन्याते) मानता है अर्थात् कोई नहीं मानता, प्रत्युत परमात्मामें आसक्त उस वृत्तिको श्रेष्ठ मानता है। (कतरः) कौन मनुष्य, (तम्) अनात्म-

ज्ञानात्मक विचारवाले उस, (मेनिम्) पापमय वज्रको, (प्रतिमुचाते) दूसरी ओर छोड़ता है अर्थात् परमात्माका भक्त ही पापमयी वृत्तिको छोड़ सकता है। (यः) जो मुमुक्षु पुरुष, (ईम्) इस ज्ञानात्मक वृत्तिको, (वहाते) धारण करता है, और, (यः) जो मुमुक्षु प्राणी, (ईम्) परमात्मानुभव करानेवाले विज्ञानके साथ ज्ञानको, (वरेयात्) ग्रहण कर लेता है, वही परमात्माका परम प्रिय भक्त होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मामें अनन्यभावसे मन लगानेवाला और परमात्माकी शरणमें गया हुआ मनुष्य ज्ञानयोग साधकर मुक्त हो जाता है। ज्ञानके साथ विज्ञानकी परमावश्यकता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि सांसारिक वृत्तियोंको दूर करके परमात्माके चरणोंमें वृत्ति लगावे अर्थात् परमात्माकी शरण जाकर भगवद्भक्तिका ज्ञान प्राप्त करे। ज्ञान ही मुक्तिका परम साधन है। ब्रह्मज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती। उस परमपिता परमात्माके वास्तविक तत्त्वको जानकर ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

३. **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।**
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(मनुष्याणाम् सहस्रेषु) सहस्रों मनुष्योंमें-से, (कश्चित्) कोई मनुष्य, (सिद्धये) ब्रह्मज्ञानकी सिद्धिके लिये, (यतति) यत्न करता है। (यतताम्) यत्न करनेवाले, (सिद्धानाम्) सिद्ध पुरुषोंमें-से, (अपि) भी, (कश्चित्) कोई मनुष्य, (माम्) मुझे, (तत्त्वतः) ठीक-ठीक अर्थात् वास्तविक रूपमें, (वेत्ति) जानता है॥ ३॥

दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्॥

(ऋग्वेदः १०-७५-३)

(भूम्या+उपरि) इस पृथिवीपर, (दिवि) प्रकाशात्मक ब्रह्मयोग और ध्यानयोगसमाधिमें, (स्वनः) शब्दात्मक ब्रह्मका उपासक कोई जिज्ञासु पुरुष, (यतते) ब्रह्मप्राप्तिकी सिद्धिके लिये यत्न करता है। कोई ब्रह्मज्ञानी, ध्यानयोगी पुरुष, (भानुना) ब्रह्मज्ञानके प्रकाशसे, (अनन्तम्) पारावार-रहित, (शुष्मम्) ब्रह्मज्ञानको, (उत् इयर्ति) प्राप्त होता है। कोई, (अभ्रात् इव वृष्टयः) आकाशसे बरसते मेघोंकी भाँति, (प्र स्तनयन्ति) ऊँचे स्वरसे ब्रह्मका कीर्तन करता है, (यत्) जिस तत्त्वज्ञान-प्राप्तिके कारण, (सिन्धुः) ब्रह्मज्ञान-

के प्रवाहवाला, सबमें श्रेष्ठ योगी, (वृषभः न) वृषभके समान ऊँचे स्वरसे, (रोरुवत्) ब्रह्म-नामका अतिशय कीर्तन करता हुआ, (एति) संसारमें जीवनयात्राको प्राप्त करता है ।

उपनिषद्में भी ब्रह्मज्ञानकी दुर्लभता बताते हुए कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः । (कठ उ. १-२-२२)

यह आत्मा प्रवचनसे नहीं प्राप्त होता ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि असंख्यात मनुष्योंमें कोई मनुष्य ब्रह्म-प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले पुरुषोंमें-से भी कोई एक पुरुष मुझे पा सकता है । वेदमें भी कहा गया है कि पृथिवीमें कोई जिज्ञासु ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मप्राप्तिकी सिद्धिके लिये यत्न करता है, सब नहीं, और ज्ञानी पुरुष ही परमात्माके धामको प्राप्त करता है ।

४. **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।**
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

(भूमिः) पृथिवी, गन्धतन्मात्रा, (आपः) जल, रसतन्मात्रा, (अनलः) अग्नि, रूपतन्मात्रा, (वायुः) वायु, स्पर्शतन्मात्रा, (खम्) आकाश, शब्द-तन्मात्रा, (मनः) संकल्प-विकल्पात्मक अहंकार, (बुद्धिः) ज्ञान अर्थात् अहङ्कारको स्थिर और एकत्र रखनेवाला महत्तत्त्व, (अहङ्कारः) सब वास-नाओंसे भरा हुआ अविद्यात्मक अव्यक्त, (इति) यही, (मम) मेरी, (इयम्) यह, (प्रकृतिः) सांख्यशास्त्रप्रोक्त प्रधान या ईश्वरी मायाशक्ति, (अष्टधा) आठ प्रकारसे, (भिन्ना) भेदभावको प्राप्त होकर अवस्थित है अर्थात् मेरी प्रकृति आठ प्रकारकी है । (इयम्) यह मेरी आठ प्रकारकी प्रकृति, (तु) तो, (अपरा) अपरा नामवाली है ॥ ४ ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥
(अथर्ववेदः ८-९-२१)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (ऋतस्य) सत्यस्वरूप परब्रह्मकी, (प्रथमजा) सर्वप्रथम उत्पन्न, (अष्ट) भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार, इन आठ संख्यावाली, (भूता) भावरूप अर्थात् कार्यरूप प्रकृतियाँ, (जाताः) प्रकट हुईं, (ये) जो, (दैव्याः) प्रकाशात्मक, (ऋत्विजः) जग-

न्मय यज्ञ करनेवाली ऋत्विग्रूप हैं। (अष्टयोनिः) जो प्रकृति पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठोंका मूल कारण है, (अदितिः) खण्डन न होनेयोग्य अर्थात् नित्य है, और, (अष्टपुत्रा) पृथिवी आदि स्थूल पदार्थ जिसके पुत्ररूप हैं ऐसी, (अष्टमीम्) अपरा नामवाली प्रकृति, (रात्रिम्) अपने लय-स्वरूप, (हव्यम्) भोजनको, (अभि एति) प्राप्त होती है।

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम्।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ॥

(अथर्ववेदः १३-३-१९)

(उग्रः) उग्ररूप अर्थात् पापियोंको कठोर दण्ड देनेवाला, (देवानाम्) इन्द्रियों, उनके विषयों तथा ज्ञानी पुरुषोंका, (पिता) पालक, (मतीनाम्) बुद्धियोंका, (जनिता) उत्पादक, (वह्निः) समग्र संसारको उठानेवाला परमात्मा, (अष्टधा युक्तः) भूमि, वायु, जल, आकाश, तेज, मन, बुद्धि, अहंकार इन आठ भेदोंवाली अपरा प्रकृतिसे युक्त होकर, (वहति) संसारमें चलता है। (मनसा) मनसे, सब प्राणियोंकी संकल्प-कल्पनासे, (ऋतस्य) जगद्रूप यज्ञके, (तन्तुम्) तन्तुके विस्तारको, (मिमानः) मापता हुआ, (मातरिश्वा) अन्तरिक्षमें भी वास करनेवाला वह, (सर्वा दिशः) सब दिशाओंमें, (पवते) गति करता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी ॥

(तै. उ. २-१)

उस इस आत्मासे आकाश प्रकट हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, और जलसे पृथिवी प्रकट हुई।

तुलना—गीता तथा वेद दोनोंमें परमात्माकी अपरा प्रकृति भूमि आदि आठ प्रकारकी बताई गई है।

५. **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

(महाबाहो !) हे अर्जुन ! (इयम्) यह प्रकृति, (तु) तो, (अपरा) अपरा नामवाली है। (इतः) इस प्रकृतिसे, (अन्याम्) भिन्न दूसरी, (जीवभूताम्) जीवस्वरूप, (मे) मेरी, (प्रकृतिम्) प्रकृतिको, (पराम्) परा

नामवाली, (विद्धि) जान, (यया) जिस जीवस्वरूप प्रकृतिद्वारा, (इदम्) यह, (जगत् धार्यते) जगत् धारण किया जाता है ॥ ५ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥

(अथर्ववेदः ३-१०-४)

(इयम्) यह भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार रूपोंसे अष्टविध अपरा नामवाली प्रकृति, (एव) ही, (सा) वह है, (या) जो, (प्रथमा) सृष्टिके आदिमें ही पहले, (व्यौच्छत्) प्रकट होकर सब स्थानोंमें फैली । (आसु) इन प्रकृतियोंमें, (इतरासु) दूसरी जीवभूत परा प्रकृति, (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर, (चरति) संसारको धारण किये हुए विचरती है । (अस्याम्) इस प्रकृतिके, (अन्तः) भीतर, (महान्तः) बड़ी-बड़ी, (महिमानः) महिमाएँ हैं । यह प्रकृति, (वधूः) नूतन कुलवधूकी भाँति, (नवगत्) अपने-अपने कर्मोंसे अभिनव जन्मको पाकर, (जनित्री) शुभाशुभ कर्मोंको उत्पन्न करती हुई, (जिगाय) सबपर विजय करती है अर्थात् जीव-रूप प्रकृति ही सारे जगन्मय शरीरको धारण करती है ।

तुलना—गीतामें भूम्यादि अष्टविध प्रकृतिको अपरा प्रकृति और जीवरूप प्रकृतिको परा प्रकृति कहा गया है, जिस जीवरूप प्रकृतिसे यह सारा जगत् धारण किया जाता है । वेदमें भी प्रथम आविर्भूत भूम्यादि सृष्टिको अपरा प्रकृति और विशेष माहात्म्यवाले जीवात्माको परा प्रकृति कहा गया है जो कि जगत्में जन्म लेकर विश्वात्मक शरीरको धारण करता है ।

६. **एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।**
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

(सर्वाणि) सब, (भूतानि) जड़ और चेतन पदार्थ, (एतद्योनीनि) इन्हीं दोनों अपरा और परा प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले हैं, (इति) ऐसा, (उपधारय) जान, क्योंकि, (अहम्) मैं सर्वेश्वर परमात्मा, (कृत्स्नस्य) सम्पूर्ण, (जगतः) जगत्की, (प्रभवः) उत्पत्ति, (तथा) और, (प्रलयः) नाशका कारण हूँ ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥

(ऋग्वेदः १०-१२५-७)

(अहम्) मैं, (अस्य) इस भूर्लोकके, (मूर्धन्) ऊपर, (पितरम्) पितारूप आकाशको, (सुवे) उत्पन्न करता हूँ, और, (समुद्रे अप्सु अन्तः) अन्तरिक्ष या जलचरों तथा पदार्थोंमें या ब्रह्मनिरत बुद्धिवृत्तियोंमें, (मम) मेरी, (योनिः) उत्पत्तिके कारण वर्तमान हैं। (ततः) इस कारण, (विश्वा) सब, (भुवना) जगत्में दृष्टिगोचर होनेवाले जड़ और चेतन पदार्थोंमें, (अनु) प्रवेश करके, (वितिष्ठे) विशेषतासे व्यापक होकर स्थित रहता हूँ, (उत) और, (अमूम्) उस, (द्याम्) दूर रहनेवाले द्युलोकको, (वर्ष्मणा) कारण-भूत विराट्स्वरूप देहसे, (उप स्पृशामि) समीपसे स्पर्श करता हुआ व्यापक रूपसे रहता हूँ।

'द्यौः पिता' (तै. ब्रा. ३-७-५-४), 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै. उ. २-१), 'जन्माद्यस्य यतः' (वे. द. १-१-२) इत्यादि वचनोंसे भी यही बात समर्थित होती है। तात्पर्य यह कि इस सृष्टिका जन्म, पालन और संहार जिससे होता है वही ब्रह्म है।

यही आशय अन्य उपनिषदों में भी है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

(तै. उ. ३-१-१)

जिससे ये भूत अर्थात् जड़-चेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए पदार्थ जिससे पाले जाते हैं और जिसमें जाकर फिर प्रवेश कर जाते हैं उसीको जान, वही ब्रह्म है।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत।

(ऐ. उ. १-१-१–२)

सृष्टिसे पहले केवल एक आत्मा अर्थात् ब्रह्म ही था, और कुछ नहीं था। अपनी ओर दृष्टि करते ही अपनी शोभापर प्रसन्न होकर उसने सोचा कि अपनी विभूतियोंसे लोक-लोकान्तरोंको रचकर उनके साथ रमण करूँ। ऐसा विचार आते ही बस एक निमिषमात्रमें सारे ब्रह्माण्डकी रचना हो गयी।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि समग्र पदार्थोंकी उत्पत्तिका कारण मैं हूँ। यह सारा जगत् मुझसे ही उत्पन्न होता है और मुझमें ही लीन होता

है। वेद और उपनिषदोंके अनुसार भी आकाशादि पञ्चमहाभूतोंको उत्पन्न करनेवाला परमात्मा समग्रभूतोंको उत्पन्न करके उनमें व्यापक रूपसे रहता है।

७. **मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।**
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(धनञ्जय!) हे अर्जुन! (मत्तः) मुझसे अर्थात् इस सृष्टिके प्रभव, प्रलय और संहारके कारणसे, (परतरम्) श्रेष्ठ कारण, (अन्यत्) दूसरा, (किञ्चित्) कुछ भी, (न अस्ति) नहीं है। (सूत्रे) मालाके धागेमें, (मणिगणा इव) मणियोंकी भाँति, (मयि) मुझ परमात्मामें, (इदं सर्वम्) यह सब अर्थात् सूर्य, चन्द्र, तारागण, सागर, पर्वत, नदी आदि सब पदार्थ, (प्रोतम्) पिरोये हुए हैं अर्थात् मैंने अपने सत्तारूप सूत्रमें नाना प्रकारके लोक-लोकान्तरोंको तथा उनमें स्थित भिन्न-भिन्न पदार्थोंको धागेमें मणियोंके समान पिरो रक्खा है॥ ७॥

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद्ब्राह्मणं महत्॥
(अथर्ववेदः १०-८-३८)

(अहम्) मैं मुमुक्षु जन, (सूत्रम्) जो चित् शक्तिसे सारे ब्रह्माण्डको अपने आप समेट लेता है ऐसे सूत्ररूप परमात्माको, (विततम्) सर्वत्र फैला हुआ, (वेद) जानता हूँ, (यस्मिन्) जिस परब्रह्ममें, (इमाः) ये सब तारा, चन्द्र, सूर्य, पर्वत, नद, नदी आदि, (प्रजाः) पदार्थ, (ओताः) पिरोये हुए हैं। (अहम्) मैं मुमुक्षु पुरुष, (सूत्रस्य) जगत्के फैलानेवाले ब्रह्मादि देवताओंके भी, (सूत्रम्) सूत्ररूप अर्थात् समेटनेवाले परमात्माको, (वेद) जानता हूँ, (अथो) और, (यत्) जो, (महत्) सबसे बड़ा, (ब्राह्मणम्) सर्वत्र बृंहणशील ब्रह्म है उसको भी जानता हूँ।

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः॥
(अथर्ववेदः ११-७-४)

(दृंहस्थिरः) दृढ़तासे स्थिर, (ब्रह्म) सर्वत्र फैला हुआ, (दृढः) सुदृढ़ अर्थात् स्थिर परमात्मा, (न्यः) सर्वत्र व्यापक है। (विश्वसृजः) विश्वको उत्पन्न करनेवाले, (दश) दस, (देवताः) ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, कुवेर,

पृथिव्यादि सब देवता, (नाभिं चक्रम् इव सर्वतः) नाभिचक्रके चारों ओर रहनेके समान सब ओरसे, (उच्छिष्टे) शेषरूप परब्रह्म परमात्मामें, (श्रिताः) आश्रित रहते हैं ।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥

(अथर्ववेदः ११-८-३२)

(हि) क्योंकि, (अस्मिन्) इस परब्रह्म परमात्मामें, (सर्वाः) सब, (देवताः) पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारागण और ब्रह्मादि देवता, (गोष्ठे) गोशालामें, (गावः) गौओंकी, (इव) भाँति, (आसते) निवास करते हैं, (तस्मात्) इसलिये, (वै) निश्चय ही, (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष, (पुरुषम्) पुरुषको, (इदम्) यह, (ब्रह्म) ब्रह्म है, (इति मन्यते) ऐसा मानता है ।

तुलना—गीतामें ब्रह्मको सूत्ररूप और शेष पृथिव्यादि सब पदार्थोंको उसमें मणियोंकी तरह पिरोया हुआ बताया गया है । वेदमें भी ब्रह्मको सूत्ररूप तथा शेष पृथिव्यादि, दश लोकपालादि तथा ब्रह्मादि देवताओंको गोशालामें गौओं और सूत्रमें मणियोंके समान वर्णन किया गया है ।

८. **रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।**
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (अहम्) मैं श्रीकृष्ण अर्थात् परमात्मा, (अप्सु) जलोंमें अर्थात् जलीय पदार्थोंमें, (रसः) रसरूप, (शशि-सूर्ययोः) चन्द्रमा और सूर्यमें, (प्रभा) प्रकाश अर्थात् दीप्तिरूप, (सर्ववेदेषु) ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, इन चारों वेदोंमें, (प्रणवः) ओंकाररूप, (नृषु) मनुष्योंमें, (पौरुषम्) शौर्य-वीर्य-पुरुषार्थरूप, और, (खे) आकाशमें, (शब्दः) ध्वनिरूप, (अस्मि) हूँ ॥ ८ ॥

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ्मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥

(अथर्ववेदः ३-१३-६)

(आत् इत्) इस अपने स्वरूपके अनन्तर, (पश्यामि) जो देखता हूँ वह मेरी प्रभा सूर्य और चन्द्रमें है । (उत वा) या, (घोषः) शब्द, (मा) मुझे, (आगच्छति) प्राप्त होता है, (शृणोमि) उसे सुनता हुआ मैं अपनी

विभूति देखता हूँ, और, (वाक्) वागिन्द्रिय और उसका गुण, तथा, (आसाम्) इन रसके अधिष्ठान जलोंका गुण, (मा) मुझे, (आगच्छति) प्राप्त होता है, उसे भी मैं अपनी विभूति देखता हूँ। (यदा) जिस समय, (अमृतस्य) अमृतमय ओंस्वरूपका, (भेजानः) भजन करता हुआ जीवात्मा मुझमें अवस्थित होता है तब मैं, (मन्ये) उस जीवात्माको भी अपना स्वरूप मानता हूँ, (हिरण्यवर्णाः) हे शुद्धस्वरूप जीवात्माओ! या सबमें हितपूर्वक स्वरूपवाले जीवात्माओ! (तर्हि) तब, (वः) तुम्हारे ओंस्वरूपको सेवन करनेवाले पौरुषसे, (अतृपम्) तृप्त हो जाता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जलमें रसरूप, चन्द्र और सूर्यमें प्रभारूप, वेदोंमें ओंकाररूप, आकाशमें शब्दरूप तथा मनुष्योंमें पुरुषार्थरूप परमात्मा वास करता है। वेदमें भी दृष्टिगोचर वस्तुओंमें प्रभास्वरूप, श्रवणयोग्य वस्तुओंमें शब्दस्वरूप, पीनेयोग्य जलादि पदार्थोंमें रसरूप, वेदोंमें अमृतमय ओंकाररूप तथा मुक्तिदाता पुरुषार्थरूपको परमात्म-स्वरूप कहा गया है।

९. **पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।**
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

हे अर्जुन! (पृथिव्याम्) पृथिवीमें, (पुण्यः) पवित्र और विकाररहित, (गन्धः) गन्ध, (च) और, (विभावसौ) अग्निमें, (तेजः) जलाने तथा प्रकाश करनेवाली आभा, (च) भी, (अस्मि) मैं हूँ। (सर्वभूतेषु) सब प्राणियोंमें, (जीवनम्) प्राणधारणस्वरूप आयु, (च) और, (तपस्विषु) नाना प्रकारके तप करनेवाले पुरुषोंमें, (तपः) तप शक्ति, (अस्मि) मैं हूँ॥ ९॥

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति
पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥
(अथर्ववेदः ८-१०[५]-८)

(गन्धर्वाप्सरसः) वेदवाणीको धारण करनेवाले विद्वान्, या इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, या गन्धर्व-जाति और अप्सरा-जाति, या ब्रह्मस्वरूपको देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी, या हृदयाकाशमें ब्रह्मको ढूँढ़नेवाले मुमुक्षु पुरुष, (तम्) उस, (पुण्यम्) पवित्र, (गन्धम्) पृथिवीमें समवेत पवित्र गन्धके आश्रयपर, (उप जीवन्ति) जीवित रहते हैं, (पुण्यगन्धिः) पुण्यगन्धस्वरूप परमात्माके स्वरूपका ध्यान करनेवाला पुरुष, (उपजीवनीयः) शरण देनेयोग्य होता है। (यः)

जो जीवात्मा, (एवम्) पुण्यगन्धको परमात्माकी विभूति, (वेद) जानता है, वह ब्रह्मको जानता है ।

तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि । (यजुर्वेदः १-३१)

हे परमात्मन् ! तुम तेजरूप हो, शुक्र हो और अमृतस्वरूप हो ।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । (यजुर्वेदः १९-९)

हे परमात्मन् ! तुम तेजरूप हो इसलिये मुझे तेज दो अर्थात् मुझे तेजस्वी बनाओ ।

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः ।।

(ऋग्वेदः १-९९-१)

हम अग्निस्वरूप परमात्माके निमित्त हवन करते हैं, जो हमारे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक शत्रुरूप तीनों तापोंका नाश करनेवाला है ।

त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि षञ्छुक्र आततः ।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ।।

(ऋग्वेदः ६-२-६)

हे शोधक अग्ने ! तेरा शुभ्रवर्ण धूम आकाशमें मेघरूप होकर चलता है। हे पवित्र करनेवाले अग्निदेव ! तू सूर्यके समान अपनी समर्थ दीप्तिसे सर्वत्र प्रकाश फैलानेवाला है ।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ।।

(अथर्ववेदः ११-४-११)

(प्राणः मृत्युः) प्राण ही मृत्यु है अर्थात् शरीरसे प्राणके चले जानेपर मृत्यु हो जाती है। (प्राणः तक्मा) सब प्राणियोंमें प्राण ही जीवनकी शक्ति है। (प्राणम्) प्राणकी ही, (देवाः) सब देवता, (उपासते) उपासना करते हैं। (प्राणः ह सत्यवादिनम्) क्योंकि सत्यवादीको प्राण ही, (उत्तमे लोके) उत्तम लोकमें, (आ दधत्) पहुँचाता है। इसलिये वह प्राणरूप ब्रह्म सब प्राणियोंका जीवनरूप है ।

प्राणाद्वायुरजायत ।

(ऋग्वेदः १०-९०-१३)

परमेश्वरकी प्राणशक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हुई है ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणः । (अथर्ववेदः ५-९-७)

ईश्वरका उपदेश है कि सूर्य मेरा नेत्र और वायु मेरा प्राण है।

तद्ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति
ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥
(अथर्ववेदः ८-१०[४]-१६)

(सप्तऋषयः) सृष्टिके आदिमें प्रकट हुए अत्रि-भृगु-वसिष्ठादि ऋषि या ब्रह्मज्ञानी, (तत्) उस, (ब्रह्म) परमात्माको, (तपः) तपरूप जानकर, (उप जीवन्ति) अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। (यः) जो ब्रह्मवेत्ता, (एवम्) ऐसा, (वेद) जानता है, वह, (ब्रह्मवर्चसी) ज्ञानवान् होकर, (उपजीवनीयो भवति) जीवन-निर्वाह करनेवाला होता है।

तुलना—भगवद्गीतामें भगवान्ने पृथिवीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें दाहक-शक्ति और प्रकाश, प्राणियोंमें प्राणजीवन तथा तपस्वियोंमें तपको अपनी विभूति कहा है। वेदमें भी पुण्य गन्ध, तेजस्वियोंके तेज, सब भूतोंके जीवनरूप प्राण तथा तपस्वियोंमें तपको भगवान्का स्वरूप अर्थात् उनकी विभूति कहा गया है।

१०. बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

(पार्थ !) हे अर्जुन ! तू, (सर्वभूतानाम्) सब कार्यरूप पदार्थोंका, (सनातनम्) नित्य, (बीजम्) बीज अर्थात् कारण, (माम्) मुझे, (विद्धि) जान।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥
(ऋग्वेदः १०-१२५-८)

(अहम्) मैं परमात्मा, (एव) ही, (विश्वा भुवनानि) सब कार्यरूप पदार्थोंको, (आरभमाणा) उत्पन्न करता हुआ, (वात इव) वायुकी भाँति, (प्रवामि) प्रवृत्त होता हूँ अर्थात् जैसे वायु गतिकालमें दूसरे किसी पदार्थकी सहायता नहीं लेता वैसे मैं भी स्वयं कारणरूप होकर अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होकर संसारका निर्माण करता हूँ, और, (दिवा परः) द्युलोकके परे, और, (एना पृथिव्या=अस्याः पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीके भी परे, (महिना) अपने महत्त्वसे, (एतावती) इतना विशाल बीजरूप, (सं बभूव) होता हूँ।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

(अहम्) मैं, (बुद्धिमताम्) आत्म और अनात्म-विचारमें चतुर पुरुषों-की, (बुद्धिः) बुद्धि, विवेचन-शक्ति, (अस्मि) हूँ, तथा, (तेजस्विनाम्) तेज-वालोंमें, (तेजः अस्मि) तेज हूँ ॥ १० ॥

मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतरं मतिम् ।
त्वामर्भस्य हविषः समानमित्त्वां महो वृणते नान्यं त्वत् ॥

(सामवेदः उ. ३-२-७-३)

(मेधाकारम्) बुद्धिस्वरूप या बुद्धिके करनेवाले, (विदथस्य) ज्ञानके या ब्रह्मयज्ञके, (प्रसाधनम्) प्रकर्षतासे सिद्ध करनेवाले, (होतारम्) ज्ञानके दाता, या सबको बुलानेवाले, या प्रलयकालमें सबका भक्षण करनेवाले, (परि-भूतरम्) सबको दबानेवाले, या पापोंका नाश करनेवाले, (मतिम्) मति अर्थात् बुद्धिस्वरूप, (महः) तेजःस्वरूप, (अग्निम्) ज्योतिःस्वरूप या तेजः-स्वरूप, (त्वाम्) तुझ परमात्माको ही, सब मुमुक्षु पुरुष, (समानम् इत्) साथ ही या समानरूप ही, (अर्भस्य) थोड़े, (हविषः) ज्ञानमय हविके भक्षणके लिये, (वृणते) वरते हैं अर्थात् प्रार्थना करते हैं । (त्वत् अन्यम्) हे परमात्मन् ! तेरे सिवाय किसी दूसरे देवको, (न वृणते) नहीं वरते अर्थात् प्रार्थना नहीं करते ।

तुलना—गीतामें परमात्माको समग्र पदार्थोंका बीजरूप, बुद्धिमानोंमें बुद्धि-रूप तथा तेजस्वियोंमें तेजरूप बताया गया है। वेदमें भी परमात्मा सब पदार्थोंका कारणरूप तथा बुद्धिमानोंमें बुद्धिरूप और तेजस्वियोंमें तेजस्वरूप कहा गया है।

११. बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।

हे अर्जुन ! (अहम्) मैं, (बलवताम्) बलवानोंमें, (कामरागविव-र्जितम्) कामना और सब प्रकारकी आसक्तिसे रहित, (बलम् अस्मि) बल, सामर्थ्य, ओजरूप हूँ ।

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ।

(अथर्ववेदः २-१७-३)

हे परमात्मन् ! तू, (बलम् असि) बलवानोंमें बलस्वरूप है, (मे) मुझे, (बलं दाः) बल, सामर्थ्य दे ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

(भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (च) और, (भूतेषु) सब प्राणियोंमें, (धर्माविरुद्धः) धर्मसे अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुकूल, पुत्र-पौत्रादिकी अभिलाषासे उचित, (कामः) कामदेव, (अस्मि) मैं हूँ ॥ ११ ॥

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।

(अथर्ववेदः ३-२१-४)

(यः) जो, (देवः) ज्योतिःस्वरूप परमात्मा, (विश्वाद्) विश्वका संहर्ता है, (यम्) जिसे, (दातारम्) कर्मफल देनेवाला, और, (यम्) जिसे, (प्रतिगृह्णन्तम्) अपने आपमें ले लेनेवाला, (आहुः) कहते हैं, (यम्) जिस परमात्माको, (उ) ही, (कामम्) कामदेव, (आहुः) कहते हैं।

तुलना—गीतामें धर्म-सम्मत काम भगवत्स्वरूप बताया गया है। वेदमें भी विश्वका संहर्ता, कर्मफलका दाता तथा सर्वप्रथम सृष्टिका उत्पादक परमात्मा धर्म-सम्मत काम-स्वरूप कहा गया है।

१२. ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

(च एव) और भी, (ये) जो, (सात्त्विकाः) सत्त्वगुणसे उत्पन्न धर्म, ज्ञान, वैराग्यादि, (राजसाः) रजोगुणसे उत्पन्न लोभ, हर्ष, दर्पादि, (च) और, (तामसाः) तमोगुणसे उत्पन्न निद्रा, आलस्य, शोक-मोहादि, (भावाः) भाव हैं, (तान्) उन सब सात्त्विक, राजस, तामस भावोंको, (मत्तः) मुझसे, (एव) ही उत्पन्न हुए हैं, (इति) यह, (विद्धि) जान। (तेषु) उनमें अर्थात् उनके अधीन, (अहम् न) मैं नहीं हूँ, अपितु, (ते) वे सब भाव, (तु) तो, (मयि) मुझमें रहते हैं अर्थात् वे सब मेरे अधीन हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिष्ट्वं देव सवितर्वर्षिष्ठैः सोम धामभिः ।
अग्ने दक्षैः पुनीहि नः ॥

(ऋग्वेदः ९-६७-२६)

(देव !) हे ज्योतिःस्वरूप ! (सवितः !) हे जगत्के उत्पन्न करनेवाले ! (अग्ने !) हे परमात्मन् ! (सोम !), हे अमृतस्वरूप ! (त्वम्) तू,

(वर्षिष्ठैः) सबसे श्रेष्ठ, (दक्षैः) अपने-अपने गुणों और भावोंको प्रत्यक्ष करनेमें सामर्थ्यवाले, (त्रिभिः धामभिः) संसारकी प्रवृत्तिके स्थानरूप सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे, (नः) अपनी विभूतिकी उपासना करनेवाले हमें, (पुनीहि) शुद्ध कर, ताकि हम तीनों गुणोंके बन्धनमें न आवें ।

मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है—

तदेतत्सत्यम्—

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

(२-१-१)

यह सत्य है कि जैसे जलते हुए अग्निसे सहस्रों चिनगारियोंके रूप उत्पन्न होते हैं। हे सोम्य ! इसी प्रकार उस अक्षर अविनाशी ब्रह्मसे भाँति-भाँतिके भाव उत्पन्न होते हैं और फिर उसीमें लीन हो जाते हैं ।

तुलना—गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस भावोंका परमात्मासे उत्पन्न होना और उन्हींमें लीन हो जाना बताया गया है । वेदमें भी परमात्मासे प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन् ! मुझ जीवात्माको इन तीनों गुणोंके बन्धनसे छुड़ा दे और मुझे पवित्र कर ।

१३. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।

हे अर्जुन ! (एभिः) पूर्व श्लोकमें कहे हुए इन, (त्रिभिः) तीनों प्रकारके, (गुणमयैः) सत्त्व, रज और तमोगुणके विकारसे भरपूर, (भावैः) भावोंसे, (इदम्) यह, (सर्वम्) सारा, (जगत्) जगत्, (मोहितम्) मोहमें पड़ा हुआ है, और, (एभ्यः परम्) इनसे परे, (अव्ययम्) सब प्रकारके जन्मादि विकारोंसे रहित, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (न अभिजानाति) नहीं जानता है।। १३ ।।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ।।

(अथर्ववेदः १-१-१)

(विश्वा=विश्वानि) सब, (रूपाणि) रूपोंको, (बिभ्रतः) धारण करते हुए, (ये त्रि+सप्ताः) तीन गुण अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमो-

गुणसे सात प्रकार किये हुए जो इक्कीस पदार्थ, (परि यन्ति) सर्वत्र फैले हुए हैं, (वाचस्पतिः) इनसे भिन्न वास करनेवाला परमात्मा, (तेषां बला=बलानि) उन पदार्थोंके त्यागशक्तिवाले बलोंको, (मे) मुझ जीवात्मामें, (दधातु) धारण करे।

तुलना—गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि तीनों गुणों और उनसे उत्पन्न भावोंसे यह जगत् लिप्त है। उनके बन्धनमें पड़े रहनेके कारण मनुष्य मुझे नहीं पहचान सकता। वेदमें भी तीनों गुणोंसे विस्तृत होकर इक्कीस पदार्थ जो जगत्‌में व्याप्त हैं उनसे पृथक् होनेके लिये परमात्मासे प्रार्थना की गई है।

१४. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(मम) मुझ परमात्माकी, (दैवी) प्रकाशमान, अलौकिक, अत्यद्भुत, (गुणमयी) सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंवाली, (एषा) यह, संसारमें प्रत्यक्षस्वरूप, (माया) बन्धनशक्ति, (दुरत्यया) कठिनतासे तरनेयोग्य है। (ये) जो विद्वान् पुरुष निष्काम सेवासे, (माम् एव) मुझ परमात्माकी ही, (प्रपद्यन्ते) शरणमें प्राप्त होते हैं, (ते) वे विद्वान् सांसारिक विक्षेपावरणात्मक, (एतां मायाम्) इस बन्धनशक्तिको तथा उसके बन्धन करनेवाले सब कार्योंको, (तरन्ति) पार कर जाते हैं॥ १४॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥

(ऋग्वेदः १०-६३-१०)

हे परमात्मन्! (सुत्रामाणम्) भली प्रकार अपने गुणोंसे अपने-अपने विषयकी रक्षा करनेवाली, (पृथिवीम्) सर्वत्र पदार्थमात्रमें विस्तीर्ण, (सुप्रणीतिम्) सुखसे सब कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाली, (स्वरित्राम्) सुन्दर डाँड़ोंसे युक्त, अच्छी तरह दण्ड देनेयोग्य, (नावम्) नौकाके सदृश पार करनेवाली, (दैवीम्) परमात्मसम्बन्धिनी प्रकाशमयी त्रिगुणात्मिका सांसारिक बन्धनशक्तिको, हम मुमुक्षु पुरुष, (आ रुहेम) दबाकर ऊपर चढ़ जायँ अर्थात् सांसारिक मायाको पार कर जायँ। फिर, (अनागसः) पापादि दोषोंसे रहित होकर हम दैवी मायाके पार करनेके अनन्तर, (सुशर्माणम्) अच्छे प्रकारसे सुखस्वरूप, (अदितिम्) न नाश होनेवाले, (अस्रवन्तीम्) अविकृत स्वरूपवाले, (द्याम्),

प्रकाशमान परमेश्वरके धामको, (स्वस्तये) मुक्ति पानेके लिये अथवा उत्तम सुखसिद्धिके लिये, (आ रुहेम) ऊपर चढ़ें।

माया शब्दका अर्थ ब्रह्मवैवर्त-पुराण (४-२७-२८) में इस प्रकार बताया गया है—

माश्च मोक्षार्थवचनो याश्च प्रापणवाचकः।
तं प्रापयति या नित्यं सा माया परिकीर्तिता॥

'माः' मोक्षार्थवचन और 'याः' प्राप्तिके अर्थका वाचक है। इसलिये मोक्ष प्राप्त करानेवाली शक्तिको माया कहते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सांसारिक बन्धन कठोर हैं, उन्हें अथवा मायाको पार करना मुक्तिका साधन है। वेदमें भी कल्याण-साधनके लिये सांसारिक बन्धन काटकर, मायासे पार होकर निष्पाप होना आवश्यक बताया गया है।

१५. न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(दुष्कृतिनः) पाप करनेवाले, (मूढाः) मोहबन्धनमें पड़कर विवेचन-शक्तिसे रहित, (मायया) मायासे, (अपहृतज्ञानाः) नष्ट हुए ज्ञानवाले, (आसुरम्) असुरोंवाले, (भावम्) भावको, (आश्रिताः) आश्रय किये हुए अर्थात् राक्षसी भावको प्राप्त हुए, (नराधमाः) अत्यन्त नीच और अधम पुरुष, (माम्) मुझ सर्वेश्वर परमात्माकी, (न प्रपद्यन्ते) शरणको नहीं प्राप्त होते अर्थात् मुझे नहीं भजते ॥ १५ ॥

पराच एनान् प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत् क्रव्यादो अजीगमम्॥

(अथर्ववेदः २-२५-५)

हे जीवात्मन्! हे मुमुक्षु! तू, (पराचः) परमात्माके ध्यानसे विमुख करनेवाले, और, (जीवितयोपनान्) मोहद्वारा जीवनका नाश करनेवाले, (एनान्) ज्ञानसे विमुख करनेवाले इन आसुरी भावोंवाले, (कण्वान्) पापमय रोगबीजोंको अथवा पापमय बीजोंको, (प्र नुद) दूर धकेल दे। (तमांसि) अज्ञानान्धकार, (यत्र) जिसमें, (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं, या, (यत्र) जिस मूढ़ पुरुषमें, (तमांसि) अज्ञान, (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं, (तत्=तत्र) वहाँ

या उस पुरुषमें, (क्रव्यादः) राक्षसी भाववाले या राक्षसी भाव, (अजीगमम्) प्राप्त होते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि पापी, मूढ़, मायामें फँसे हुए, आसुरी भाववाले पुरुष मुक्त नहीं होते । वेदमें भी बताया गया है कि जहाँ अज्ञान है, जो आसुरी भावको ग्रहण करते हैं वे पूर्ण पुरुषोत्तमके चरणोंमें नहीं, बल्कि आसुरी भावको प्राप्त होते हैं ।

१६. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

(भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ ! (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (आर्तः) नाना प्रकारकी आपत्तियोंसे दुखित पुरुष, (जिज्ञासुः) भगवतत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवाला पुरुष, (अर्थार्थी) धन, सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री आदिकी इच्छा रखनेवाला पुरुष, (च) और, (ज्ञानी) भगवत्तत्त्वमें मग्न रहनेवाला पुरुष, (चतुर्विधाः) ये चार प्रकारके, (सुकृतिनः) पुण्यात्मा, (जनाः) मनुष्य, (माम्) मुझ परमात्माको, (भजन्ते) भजते हैं ॥ १६ ॥

चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते ।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान् ॥
(ऋग्वेदः ५-४७-४)

(चत्वारः) आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी, ये चार प्रकारके मनुष्य, (क्षेमयन्तः) अपने कल्याणकी कामना करते हुए, (ईम्) इस परमात्माको, (बिभ्रति) मुक्तिकी प्राप्तिके लिये धारण करते हैं अर्थात् परमात्माका भजन करते हैं, और, (दश) दश दिशाओंके, (गर्भम्) मध्यमें वर्तमान परमात्माको, (चरसे) पानेके लिये, (धापयन्ते) दौड़ते हैं या जाते हैं । (अस्य) इस परमात्माकी, (त्रिधातवः) भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें जगत्की मर्यादाको धारण करनेवाली या कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंको धारण करनेवाली, (परमा) सबसे श्रेष्ठ, (दिवः) अन्तःकरणको प्रकाशित करनेवाली, (गावः) ज्ञानमयी वाणियाँ, (अन्तान् परि) सांसारिक बन्धनका नाश होनेके अनन्तर, (सद्यः) तत्काल, (चरन्ति) प्राप्त होती हैं ।

मां चत्वार आशवः शविष्ठस्य द्रवित्नवः ।
सुरथासो अभि प्रयो वक्षन् वयो न तुग्र्यम् ॥
(ऋग्वेदः ८-७४-१४)

हे जीवात्मन् ! (आशवः) नाना प्रकारकी सांसारिक आपत्तियोंको देख-कर संसारके परित्यागके लिये शीघ्रता करनेवाले आर्त पुरुष, (शविष्ठस्य) धनसे सिद्ध होनेयोग्य किसी बलवान् कार्यके, (द्रवित्नवः) द्रवण करनेवाले अर्थात् धनादिकी इच्छा रखनेवाले पुरुष, (सुरथासः) शरीररूप रथको समीचीन मार्गपर चलानेवाले अर्थात् जिज्ञासु पुरुष, और, (प्रयः) प्रकृष्ट ज्ञानकी कामना-वाले अर्थात् ज्ञानी पुरुष, (चत्वारः) ये चार प्रकारके पुरुष, (माम्) मुझ परमात्माको, (अभि वक्षन्) धारण करते हैं, (वयः न तुग्र्यम्) जैसे जल-चर पक्षी जलराशिको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं।

आपथयो विपथयोऽन्तस्पथा अनुपथाः ।
एतेभिर्मह्यं नामभिर्यज्ञं विष्टार ओहते ॥

(ऋग्वेदः ५-५२-१०)

हे जीवात्मन् ! (आपथयः) सांसारिक विपत्तियोंको देखकर संसारी मार्गपर न चलनेवाले अर्थात् आर्त पुरुष, (विपथयः) ध्यानयोग अच्छा है या कर्म-योग अच्छा है या ज्ञानयोग अच्छा है, ऐसे नाना प्रकारके उपासना-मार्गों में-से एक मार्गको जाननेकी इच्छावाले अर्थात् जिज्ञासु पुरुष, (अन्तस्पथाः) धन आदिकी प्राप्तिके लिये अपने मनके मार्गपर चलनेवाले अर्थात् अर्थार्थी पुरुष, और, (अनुपथाः) परमात्माके मार्गपर चलनेवाले अर्थात् ज्ञानी पुरुष, इस संसारमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छावाले चार प्रकारके पुरुष हैं, जो, (एभिः नामभिः) जगत् प्रसिद्ध इन चार प्रकारके नामोंसे, (मह्यम्) मेरी प्राप्तिके लिये, (वि स्तारे) इस विस्तृत संसारमें, (यज्ञम्) ध्यान-ज्ञानादि यज्ञका, (आ ओहते) सम्यक्-तया विचार करते हैं।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें बताया गया है कि दुखी, जिज्ञासु, लालची और ज्ञानी, ये चार प्रकारके मनुष्य भगवद्भजन करते हैं।

१७. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

हे अर्जुन ! (तेषाम्) उन चार प्रकारके भक्तोंमें-से, (नित्ययुक्तः) सदा भगवत्स्वरूपमें समाहितचित्त होकर, (एकभक्तिः) सब देवी-देवताओंको छोड़-कर एक परमात्मामें ही भक्ति रखनेवाला, (ज्ञानी) ज्ञानवान् पुरुष, (विशि-ष्यते) सब प्रकारके भक्तों तथा ज्ञानियोंमें विशेष समझा जाता है। (हि) इसी कारण, (अहम्) मैं परमात्मा, (ज्ञानिनः) ज्ञानी पुरुषको, (अत्यर्थम्)

अत्यन्त, (प्रियः) प्रिय हूँ, (च) और, (सः) वह ज्ञानी भक्त, (मम) मुझे, (प्रियः) प्रिय है ॥ १७ ॥

सत्यमित्त्वा महेनदि परुष्ण्यव देदिशम् ।
नेमापो अश्वदातरः शविष्ठादस्ति मर्त्यः ॥

(ऋग्वेदः ८-७४-१५)

हे जीवात्मन् ! (सत्यम्) सत्यस्वरूप, (महेनदि) महान् आनन्दवाला अर्थात् आनन्दघन, (परुष्णि) ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्दस्वरूप मैं परमात्मा, (त्वा इत्) तुझ मुमुक्षु जीवात्माको, (अव देदिशम्) उपदेश देता हूँ कि, (आपः) ज्ञानी, (मर्त्यः) मनुष्य, (ईम्) इस, (शविष्ठात्) प्रबलतासे युक्त, (अश्वदातरः) संसारसे शीघ्रतासे विरक्त होकर गमन करनेवाले आर्त पुरुषसे, (न अस्ति) कोई बड़ा नहीं है और न मुझे कोई इस ज्ञानीसे अधिक प्रिय है ।

तुलना—गीतामें परमात्माकी लगातार भक्ति करनेवाला ज्ञानी पुरुष ही श्रेष्ठ और भगवान्‌का परम प्रिय कहा गया है । वेदमें भी सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा इस जीवको उपदेश देता है कि ज्ञानी पुरुषसे अधिक प्रिय मुझे और कोई नहीं है ।

१८. उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

अर्जुन ! (एते) आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चारों मेरे भक्त, (सर्वे) सब, (एव) ही, (उदाराः) श्रेष्ठ और सर्वोत्तम हैं, परन्तु, (ज्ञानी) मुझमें सदा रमण करनेवाला ज्ञानवान् पुरुष, (तु) तो, मेरा, (आत्मा एव) आत्मा ही है अर्थात् स्वयं मैं ही हूँ, (मे मतम्) यह मेरा मत है, (हि) क्योंकि, (युक्तात्मा सः) समाहितचित्त अर्थात् एकाग्र वृत्ति-वाला वह ज्ञानी, (अनुत्तमाम्) अत्यन्त श्रेष्ठ, (गतिम्) गति, (माम् एव) मुझमें ही अर्थात् मेरे ही स्वरूपमें, (आस्थितः) सदा स्थित रहता है ॥ १८ ॥

एते शमीभिः सुशमी अभूवन् ये हिन्विरे तन्वः सोम उक्थैः ।
नृवद्वदन्नुप नो माहि वाजान्दिवि श्रवो दधिषे नाम वीरः ॥

(ऋग्वेदः १०-२८-१२)

(ये) जो आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी, चारों मेरे भक्त, (तन्वः) अपने देहसंघातको, (सोमे) परमात्मामें, (उक्थैः) स्तुतिके वचनोंसे,

(हिन्विरे) अर्पण कर देते हैं, (एते) ये चारों मेरे भक्त, (शमीभिः) अपने परमात्मज्ञानवर्धक कर्मोंसे, (सुशमी) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले अर्थात् श्रेष्ठ, (अभूवन्) होते हैं। हे ज्ञानी ! तू तो, (नृवत्) इन चारों भक्तोंमें अपने आपको प्रत्यक्षरूपसे नेताके समान, (वदन्) कहता हुआ, (नः) मुझ परमात्माके, (उप) समीप, (माहि) प्राप्त होकर महत्त्ववाले, (वाजान्) ज्ञानरूपी बलोंको, (दधिषे) धारण करता है। ([1]वीरः) तू मुझसे वरनेयोग्य होकर, (दिवि) प्रकाशमान मेरे लोकमें, ([2]श्रवः) यशसे युक्त, (नाम) नामको, (दधिषे) धारण करता है।

तुलना—गीतामें आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी इन चारों भक्तोंको श्रेष्ठ बताकर सबमें ज्ञानीको अत्युत्तम, भगवत्स्वरूप ही कहा गया है। वेदमें भी कहा गया है कि ये चारों भक्त अपने-अपने कर्मोंसे अच्छे हैं परन्तु ज्ञानी सबका नेता, सबसे वरनेयोग्य तथा अपना नाम और यश उत्पन्न करके परमात्माके चरणोंमें प्राप्त होनेवाला होता है।

१९. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(सर्वम्) ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त सब पदार्थ, (वासुदेवः) सम्पूर्ण विश्वको अपनी-अपनी मर्यादामें वास करानेवाले परमात्माके स्वरूप हैं; (इति) इस प्रकार, (ज्ञानवान्) जाननेवाला ज्ञानी, (बहूनाम्) अनेक, (जन्मनाम्) जन्मोंके, (अन्ते) अन्तमें, (माम्) मुझ परमात्माको, (प्रपद्यते) प्राप्त होता है, (सः) वह, (महात्मा) उच्च आत्मावाला ज्ञानी पुरुष, (सुदुर्लभः) बड़ी कठिनतासे प्राप्त होनेयोग्य है अर्थात् उसका दर्शन भी बड़ी कठिनतासे मिलता है॥ १९॥

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु॥

(अथर्ववेदः ४-१-६)

---

१. वीरः—यथा यास्क आह—वीरो वीरयति अमित्रान् वेत्तेर्वा स्याद् गतिकर्मणः वीरयतेर्वा (निरुक्त १-७)।

२. श्रवः—यथा यास्क आह—प्र वो महे मन्द-श्रवणीयं यशो नृम्णं च बलम् (निरुक्त ११-९); यद्वा श्रवः प्रशंसा भवति श्रव इच्छमानः प्रशंसामिच्छमानः (निरुक्त ९-१०)।

(काव्यः) परमात्माकी सर्वव्यापकताको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष, (नूनम्) निश्चय ही, (अस्य) इस, (पूर्व्यस्य) सबसे पूर्व, (देवस्य) प्रकाशस्वरूप परमात्माके, (तत्) उस, (महः) महान्, (धाम) स्थानको, (हिनोति) प्राप्त करता है, क्योंकि, (एषः) यह ज्ञानी पुरुष, (इत्था) इस प्रकार, (बहुभिः साकम्) बहुत जीवोंके साथ, (जज्ञे) संसारमें उत्पन्न हुआ था। परन्तु तब, (पूर्वे अर्धे वि सिते) पहले आधेमें अर्थात् अपूर्ण ज्ञानमय जन्ममें विशेष बन्धनमें आनेपर उसके साथी जीव, (ससन् नु) निश्चिन्त होकर अज्ञानान्धकारमें सो रहे थे।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि पूर्वजन्मोंमें परमात्मज्ञानाभ्यास करते हुए, 'सर्वं वासुदेवः' इस ज्ञानको धारण करते हुए बहुतोंमें-से कोई एक ज्ञानी मुक्तिधामको प्राप्त होता है। वेदमें भी कहा गया है कि बहुत-से जीवोंके साथ जन्म लेकर कोई ज्ञानी पुरुष मुक्त होता है अर्थात् ज्ञानीके लिये जिस समय प्रयत्नसे परमात्मधामकी प्राप्तिके लिये ज्ञानका महाद्वार थोड़ा-सा खुल जाता है उस समय जाग्रत् होनेके कारण उसमें ज्ञानी पुरुष प्रवेश कर जाता है, परन्तु अन्य लोग संसारमें ही मोहावस्थामें पड़े रहते हैं।

२०. कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

अर्जुन! (तैः तैः) उन-उन अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मान, स्वर्गादिकी, (कामैः) कामनाओंसे, (हृतज्ञानाः) नष्ट हुए ज्ञानवाले पुरुष, (स्वया प्रकृत्या) पूर्वजन्मोंमें उपार्जित अपने विशेष संस्कार या स्वभावके अनुसार, (नियताः) नियत किये हुए, (तं तम्) उस-उस, (नियमम्) उपवास, जप आदि नियमका, (आस्थाय) आश्रय करके, (अन्यदेवताः) अन्य देवताओंको, (प्रपद्यन्ते) भजते हैं अर्थात् भगवदाश्रयको छोड़कर अन्य-अन्य देवताओंकी शरणको प्राप्त होते हैं॥ २०॥

यज्ञेयज्ञे स मर्त्यो देवान्त्सपर्यति।
यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान्॥

(ऋग्वेदः १०-९३-२)

(यः दीर्घश्रुत्तमः) बहुत शास्त्रोंके सुननेवालोंमें श्रेष्ठ अर्थात् भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न कामनाओंको पूर्ण करनेवाली भिन्न-भिन्न विधियोंको सुननेवाला जो मनुष्य, (सुम्नैः) पुत्र, स्वर्ग, पशु, धनादि सुख देनेवाले पूजनसे,

(एनान्) इनको प्राप्त करानेवाले इन इन्द्र-वरुणादि, (देवान्) देवताओंकी, (आ विवासाति) सब प्रकारसे पूजा करता है, (सः) वह, (मर्त्यः) मनुष्य, (यज्ञे यज्ञे) भिन्न-भिन्न याच्ञात्मक कर्मोंमें, (देवान्) भिन्न-भिन्न देवताओंको, (सपर्यति) पूजता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।

(मु. उ. १-२-९)

अविद्याके कार्योंमें वास करते हुए मूर्ख पुरुष प्रायः ऐसा मानते हैं कि हम कृतार्थ हो गए हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि धन-पुत्रादि सांसारिक कामना करनेवाले पुरुष उन-उन कामनाओंकी प्राप्तिके लिये भिन्न-भिन्न देवताओंकी शरणको प्राप्त होते हैं। वेदमें भी बताया गया है कि भिन्न-भिन्न इच्छाएँ करनेवाला पुरुष परमात्मपूजनको छोड़कर भिन्न-भिन्न देवतओंकी उपासना करता है।

२१. यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(यः यः भक्तः) जो-जो भक्त पुरुष, (यां याम्) जिस-जिस, (तनुम्) देवताके शरीर अर्थात् मूर्तिको, (श्रद्धया) श्रद्धा-भक्तिसे, (अर्चितुम्) पूजनेके लिये, (इच्छति) इच्छा करता है, (तस्य तस्य) उस-उस पुरुषकी, (ताम् एव श्रद्धाम्) उसी देवताविषयक श्रद्धा-भक्तिको, (अहम्) मैं परमात्मा, (अचलाम्) अत्यन्त दृढ, (विदधामि) कर देता हूँ॥ २१॥

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषां यथायथा मतयः सन्ति नृणाम्।
इन्द्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः॥

(ऋग्वेदः १०-१११-१)

(मनीषिणः!) हे बुद्धिमान् पुरुषो! (नृणाम्) कर्म करनेमें नेता तुम बुद्धिमान् पुरुषोंकी, (यथा यथा) जिस-जिस देवताके पूजनकी जैसी-जैसी, (मतयः) बुद्धियाँ, (सन्ति) हैं, वैसी-वैसी, (मनीषाम्) अपनी बुद्धि या श्रद्धा-भक्तिको, (प्र भरध्वम्) परिपूर्ण करो। (सत्यैः) विद्यमान-स्वरूप, (कृतेभिः) श्रद्धात्मक कर्मोंसे, (इन्द्रम्) इस जीवात्माको, (आ ईरयाम) चारों ओर उस-उस कर्ममें प्रेरित करता हूँ, (हि) क्योंकि, (वीरः) देवताकी पूजाके लिए

वीर, (विदानः) देवताओंके पूजन-प्रकारको जाननेवाला, (सः) वह जीवात्मा, (गिर्वणस्युः) वाणीसे स्तुति करनेवाला है।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि जो मनुष्य श्रद्धा-भक्तिसे जिस देवताका पूजन करता है, मैं उस पुरुषकी उस देवतामें अचल श्रद्धा कर देता हूँ। वेदमें भी परमात्माने जीवोंको उपदेश दिया है कि हे बुद्धिमान् मनुष्यो ! जिस-जिस देवतामें तुम्हारी मति जैसी-जैसी है, उस-उस देवताके पूजनमें मैं तुम्हें प्रेरित करता हूँ।

२२. स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

(सः) अन्य देवताओंका पूजन करनेवाला वह सकाम भक्त, (तया) उस, (श्रद्धया) श्रद्धासे, (युक्तः) युक्त होकर, (तस्य आराधनम्) उस देवताके पूजन-भजन, (ईहते) करता है, (ततः) तदनन्तर उस देवतासे, (मया एव) मुझसे ही, (विहितान्) नियत की हुई, (कामान्) कामनाओंको, (हि) निश्चित रूपसे, (लभते) प्राप्त करता है॥ २२॥

अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्।
कुवित्सोमस्यापामिति॥

(ऋग्वेदः १०-११९-५)

(अहम्) मैं परमात्मा ही, (हृदा) अपने संकल्पसे, (मतिम्) भक्तकी बुद्धि या कामनाको, (वन्धुरं तष्टा इव) सारथिके स्थानको बढ़ईकी भाँति, (पर्यचामि) सब प्रकारसे जोड़ता हूँ अर्थात् जैसे बढ़ई सारथिके स्थानको उसके बैठनेके लिए ठीक करता है, वैसे मैं भी उसकी बुद्धिको उस देवताकी पूजाके लिए ठीक करता हूँ, (इति) क्योंकि मैंने, ([1]कुवित्) बहुत बार, (सोमस्य अपाम्) सत्त्वगुणविशिष्ट भक्त लोगोंको पान किया या उनकी रक्षा की अर्थात् वे सर्वदेवतात्मक मुझमें लीन हो गए।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि जो भक्त जिस कामनाकी पूर्तिके लिए जिस देवताकी पूजा करता है, मैं उसी देवता द्वारा उसकी वह कामना पूर्ण कर देता हूँ। वेदमें भी बढ़ई और सारथिके स्थानका दृष्टान्त देकर परमात्माने कहा है कि मैं अपने संकल्पसे भक्तके मानसिक संकल्पके अनुसार उसकी बुद्धिको उस-उस देवताके पूजनमें लगा देता हूँ।

---

१. कुविच्छब्दस्य बहुनामसु पाठः (निघण्टु ३-१)।

२३. अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

(तेषाम्) बहुत प्रकारकी कामना करनेवाले उन, (अल्पमेधसाम्) अल्पबुद्धि पुरुषोंका, (तत्) वह, (फलम्) अन्य देवताओंकी आराधनासे प्राप्त फल, (तु) तो, (अन्तवत्) नाशवान्, (भवति) होता है, क्योंकि, (देवयजः) देवताओंका पूजन करनेवाले पुरुष, (देवान्) उन-उन देवताओंको, (यान्ति) प्राप्त होते हैं, और, (मद्भक्ताः) मेरे अनन्य भक्त, (माम् अपि) मुझ सच्चिदानन्दघनको ही, (यान्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् मेरे स्वरूपमें लीन हो जाते हैं ॥ २३ ॥

देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥
(ऋग्वेदः १०-६५-१५)

(वसिष्ठः) इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला भक्त, (अमृतान्) बिना याच्ञाके मान पानेवाले, (देवान्) इन्द्र, वरुण, ब्रह्मा आदि देवताओंको, (ववन्दे) प्रणाम करता है, (ये) जो देवता, (विश्वा भुवना) समग्र लोकोंमें अपने तेजसे, (अभि प्र तस्थुः) सब ओर स्थित रहते हैं। (ते) वे देवता, (अद्य) आज अर्थात् अपने पूजनके समय, (नः) हम निज भक्तोंको, (उरुगायम्) बहुतोंसे गानेयोग्य मानवाले यशको अथवा बहुतोंसे स्तुतिके योग्य अपने-अपने लोकोंको, (रासन्ताम्) प्रदान करें, (यूयम्) और आप सब देवता, (सदा) सर्वदा, (स्वस्तिभिः) अपने कल्याणमय आशीर्वचनोंसे, (नः) हम दासोंकी, (पात) रक्षा करें।

समिधा यो निशिती दाशददितिं धामभिरस्य मर्त्यः ।
विश्वेत्स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैरुद्न इव तारिषत् ॥
(ऋग्वेदः ८-१९-१४)

(यः) जो, (मर्त्यः) मनुष्य, (निशिती) तेज, (समिधा) समिद्धयमान अर्थात् प्रकाशमान भक्तिसे, (अस्य) इस परमात्माद्वारा दी हुई, (धामभिः) शरीरधारक इन्द्रियोंसे, (अदितिम्) खण्डादिसे रहित अविनश्वर परमात्माकी, (दाशत्) दासभावसे सेवा करता है, (स इत्) वह भगवद्भक्त ही, (धीभिः)

अपनी बुद्धिविशेषसे, (सुभगः) सौभाग्यवाला या सबका प्रिय होता है, और, (द्युम्नैः) अपने शुद्ध यशसे, (विश्वा) सब, (जनान्) मनुष्योंको, (उद्नः इव) जलको नौकाओंकी भाँति, (अति तारिषत्) इस संसारसे ज्ञानद्वारा पार कर देता है।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि देवताओंके पूजक देवताओंके लोकोंको पहुँचते हैं और मेरे पूजक मुझे ही प्राप्त होते हैं, किन्तु देवताओं द्वारा दिए सब लोक विनश्वर होते हैं अर्थात् स्थिर नहीं रहते। वेदमें भी कहा गया है कि देवताओंका पूजक देवताओंको और परमात्माका पूजक नित्यलोकको प्राप्त होता है।

२४. अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(अबुद्धयः) बुद्धिरहित पुरुष, (मम) मेरे, (अव्ययम्) नित्य, अविनाशी, (अनुत्तमम्) सबसे उत्तम, (परं भावम्) परमभाव अर्थात् परमात्मस्वरूपको, (अजानन्तः) न जानते हुए, (अव्यक्तम्) अव्यक्त अर्थात् सब प्रकारकी उपाधिसे रहित, (माम्) मुझ परमात्माको, (व्यक्तिम्) मनुष्यादिशरीरको, (आपन्नम्) धारण किया हुआ, (मन्यन्ते) मानते हैं॥ २४॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते॥
(अथर्ववेदः १०-७-२१)

(ये) जो, (अवरे) अधम मूढ, (जनाः) मनुष्य, (परमम् इव=एव) सबसे उत्तम ही, (सत्) अविनश्वर ब्रह्मस्वरूपको, (प्रतिष्ठन्तीम्) अतिशयतासे स्थित होनेवाली, (असच्छाखाम्) असद्रूपसे आकाशमें वास करनेवाली देहमयी शाखा, (विदुः) जानते हैं, (उतो) और, (मन्यन्ते) सद्रूपको असद्रूप मानते हैं, (ते) वे मूढ पुरुष, (शाखाम्) मेरे वास्तविक स्वरूपको छोड़कर विनश्वर मनुजदेहकी ही, (उपासते) उपासना करते हैं।

इस मन्त्रका श्री पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी द्वारा किया गया अर्थ निम्नलिखित है—(असत्-शाखा-प्रतिष्ठन्तीम्) असत्से उत्पन्न हुई और स्थिरतासे रहनेवाली एक शाखा है, उसे, (जनाः परमम् इव विदुः) मनुष्य परम श्रेष्ठतत्त्व मानते हैं। (उतो ये अवरे सत् मन्यन्ते) और जो दूसरे लोग हैं वे

उसको सत् ही मानते हैं, (ते शाखां उपासते) वे उसी शाखाकी उपासना करते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अवतारधारी परमात्माके वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाले उसे मनुष्य शरीरमें रहनेवाला समझ बैठते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि असत् शाखा देह विनश्वर है और सत्स्वरूप परमात्मा सत्य है। उसीकी उपासना सर्वोत्तम है।

२५. नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(अहम्) मैं वासुदेव परमात्मा, (सर्वस्य) सब लोक-लोकान्तरोंमें रहनेवाले जीवोंके लिये, (प्रकाशः न) स्पष्ट रूपसे प्रकाशित नहीं हूँ। इसलिये, (योगमायासमावृतः) मेरी योगमायासे आच्छादित, तथा, (मूढः) मोहको प्राप्त हुआ, (अयम्) यह, (लोकः) जीवमात्र, (माम्) मुझे, (अजम्) अजन्मा, और, (अव्ययम्) विकाररहित, (नाभिजानाति) नहीं जानता ॥ २५ ॥

परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से ॥

(ऋग्वेदः ७-९९-१)

(मात्रया परः) इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे परे रहनेवाले, (तन्वा) सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीरसे, (वृधान !) बढ़नेवाले, (विष्णो !) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! (ते) तेरे, (महित्वम्=महत्त्वम्) बड़प्पनको अर्थात् बड़े तेजको, (न अनु अश्नुवन्ति) मूर्ख पुरुष नहीं प्राप्त होते, (ते) तेरे, (रजसी पृथिव्याः) पृथिवीसे लेकर अन्तरिक्षलोकतक, (उभे) दोनों लोकोंको, (विद्म) हम जानते हैं, परन्तु तेरा प्रत्यक्ष स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। (देव !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (त्वम्) तू, (परमस्य) अत्युत्कृष्ट लोकके तत्त्वको या अत्युत्कृष्ट तेजके तत्त्वको, (वित्से) जानता है, और कोई नहीं जानता।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

(कठ उ. २-६-१२)

परमात्मा अर्थात् परब्रह्म न वचनसे प्राप्त हो सकता है, न मनसे और न नेत्रोंसे, अर्थात् उसे न कोई किसी भी इन्द्रियद्वारा प्राप्त कर सकता, न प्रकट रूपसे प्रत्यक्ष कर सकता।

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
(श्वे. उ. ४-२०)

उस महाप्रभुका स्वरूप दर्पणादिमें कहीं भी नहीं देखा जाता, न इसको कोई प्राणी इन नेत्रोंसे ही देख सकता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
(मु. उ. ३-१-८)

वह परब्रह्म न नेत्रसे ग्रहण किया जाता, न वचनसे। न वह अन्य किसी देवताद्वारा जाना जाता है, न तपसे, न ही अश्वमेधादि यज्ञोंसे, अर्थात् यथार्थ स्वरूपसे सबके सम्मुख प्रकट नहीं होता।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सांसारिक मोहमायासे मिला हुआ मूर्ख पुरुष भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्मा इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे दूर रहनेवाला है, उसके तत्त्वको साधारण जीव नहीं जान सकते।

२६. वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा महेश्वर, (समतीतानि) उत्पन्न होकर नष्ट हुए, (वर्तमानानि) इस समय वर्तमान, (च) और, (भविष्याणि) आगे उत्पन्न होनेवाले, (भूतानि) स्थावर-जंगम पदार्थोंको, (वेद) जानता हूँ, (मां तु) मुझको तो, (कश्चन) कोई प्राणी, (न वेद) नहीं जानता॥ २६॥

न त्वा देवास आशत न मर्त्यासो अद्रिवः।
विश्वा जातानि शवसाभिभूरसि न त्वा देवास आशत॥
(ऋग्वेदः ८-९७-९)

(अद्रिवः !) हे सबसे आदर करनेयोग्य परमात्मन् ! (देवासः) चक्षु आदि इन्द्रियाँ, (त्वा) तुझ परमात्माको, (न आशत) नहीं प्राप्त कर सकतीं, (मर्त्यासः) साधारण मनुष्य, (त्वा) तुझ परमात्माको, (न आशत) जाननेके लिये समर्थ नहीं हैं, (देवासः) तपस्वी और अश्वमेधादि कर्मोंके जाननेवाले पुरुष, (त्वा) तुझ परमात्माको, (न आशत) जाननेके लिये समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि तू परमात्मा, (विश्वा) समग्र, (जातानि) उत्पन्न हुए तथा

उत्पन्न होनेवाले पदार्थमात्रको, (शवसा) अपनी परमात्मशक्तिसे, (एव) ही, (अभिभूः असि) प्रभावित करनेवाला है ।

उपनिषद्में कहा गया है—

न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितात् ।

(केन उ. १-३)

हम उस परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते, जैसा कि जिज्ञासु पुरुषको उपदेश दिया जाय, क्योंकि वह परमात्मा जाने हुए इन सांसारिक पदार्थोंसे भिन्न है ।

तुलना—गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि मैं भूत-भविष्यद्वर्तमान पदार्थोंका जाननेवाला हूँ परन्तु मुझे वास्तविक स्वरूपमें कोई भी नहीं जानता। वेदमें भी कहा गया है कि इन्द्रियाँ, सर्वसाधारण पुरुष तथा तपस्वी पुरुष परमात्माको वास्तविक रूपमें नहीं जान सकते, परन्तु परमात्मा सबको जानता है ।

२७. इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥

(परन्तप !) हे शत्रुओंके तपानेवाले ! (भारत !) हे भरत-कुलोत्पन्न अर्जुन ! (सर्वभूतानि) ब्रह्माण्डके सब प्राणी, (सर्गे) उत्पत्तिके समय, (इच्छाद्वेषसमुत्थेन) इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए, (द्वन्द्वमोहेन) सुख-दुःखादि मोहके कारण, (सम्मोहम्) मूढताको, (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्र जालेनामूँस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥

(अथर्ववेदः ८-८-८)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (शक्रस्य) सर्वसमर्थ, (महतः) सबसे पूजनीय या सबसे बड़े मुझ परमात्माका, (अयम्) यह, (महान्) बड़ा, (लोकः) लोक अर्थात् यह समग्र संसार, (जालम्) जाल अर्थात् इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, हानि-लाभादि द्वन्द्वसे युक्त मोहजाल, (आसीत्) है अर्थात् प्रत्येक जीवके जन्मसे ही यह मोहजाल स्थित है। (अहम्) मैं परमात्मा, (तेन) उस, (जालेन) मोहमय जालसे, (अमून्) मोहित इन, (सर्वान्) सब पुरुषोंको, (तमसा) मोहात्मक अँधेरेसे, (अभि दधामि) चारों ओरसे घेरता हूँ ।

तुलना—गीताके कथनानुसार सब प्राणी जन्मसे ही इच्छा-द्वेषादि द्वन्द्वमोहसे मोहित रहते हैं। वेदके अनुसार भी यह संसार मोहमय जाल है, मनुष्य जन्मसे ही इस मोहजालमें फँस जाता है ।

२८. येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

हे अर्जुन! (येषाम्) जिन, (पुण्यकर्मणाम्) पुण्यकर्मोंके करनेवाले, (जनानाम्) प्राणियोंका, (तु) तो, (पापम्) पूर्वदैहिक तथा ऐहिक पाप-कर्म, (अन्तगतम्) नष्ट हो गया है, (ते) वे पुण्यकर्मी लोग, (दृढव्रताः) दृढव्रत अर्थात् परिपक्व बुद्धिवाले, (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, हानि-लाभादि द्वन्द्वोंके मोहसे छुटकारा पाकर, (माम्) मुझ परमात्माका, (भजन्ते) अनन्यशरण होकर अनन्यभक्तिसे भजन करते हैं॥ २८॥

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते॥
(ऋग्वेदः १०-१०९-७)

(देवैः) इच्छा-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित, ज्ञानी पुरुष, (निकिल्बिषम्) अपने आपको पापोंसे रहित, (कृत्वी) करके, (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्मानन्दसे उत्पन्न अनन्य भक्तिको, (पुनर्दाय) फिर मनमें देकर अर्थात् मनमें अनन्य भक्तिको धारण करके, (पृथिव्याः) पृथिवीके रसरूप, (ऊर्जम्) अन्नको, (भक्त्वाय) समया-नुकूल यथायोग्य स्वशरीर-रक्षार्थ भोजन करके, (उरुगायम्) बहुत प्रकारसे, या बहुतोंसे गानेयोग्य परमात्माकी, (उपासते) उपासना करते हैं या पर-मात्माके समीप वास करते हैं।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥
(श्वे. उ. १-१०)

उस परमात्माके ध्यानसे, अपनेको उसमें लगा देनेसे और सदा तत्त्वकी भावना करनेसे अनेक बार जन्म लेनेके अनन्तर अन्तिम जन्ममें विश्वमायाकी निवृत्ति हो जाती है।

तुलना—गीतामें भगवान्का कथन है कि जो पुण्यात्मा पुरुष सञ्चित पाप दूर हो जानेके अनन्तर नए पाप नहीं करते वे इच्छा-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित होकर मुझे भजते हैं और मेरी शरणको प्राप्त हो जाते हैं। वेदमें कहा गया है कि पुण्यात्मा मनुष्य संसारमें निष्पाप होकर युक्ताहार-विहार करके परमात्माकी उपासनामें मनको लगाता है।

२९. जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

(ये) जो पुरुष, (जरामरणमोक्षाय) बुढ़ापा और मृत्यु आदि दुःखोंसे छूटनेके लिए, (माम्) मुझ वासुदेव परमात्माको, (आश्रित्य) आश्रय करके, (यतन्ति) मुझे प्राप्त करनेका यत्न करते हैं अर्थात् मुझमें समस्त कर्मोंको अर्पण करके निष्काम कर्म करते हुए मेरी प्राप्तिका यत्न करते हैं, (ते) वे, (तद्) उस, (ब्रह्म) शुद्ध सनातन ब्रह्मको, (कृत्स्नम्) समग्र, (अध्यात्मम्) प्रत्यगात्म-विषयको, (च) और, (अखिलम्) समग्र, (कर्म) कर्मको, (विदुः) जान लेते हैं ॥ २९ ॥

तुभ्येदेते मरुतः सुशेवा अर्चन्त्यर्कं सुन्वन्त्यन्धः ।
अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः ॥

(ऋग्वेदः ५-३०-६)

(इन्द्र !) हे ब्रह्मैश्वर्योपपन्न जीवात्मन् ! तू, (ओहानम्) ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके अवरोधक जरा और मृत्युके कारण, (अपः आशयानम्) ब्रह्मप्राप्ति-कारक कर्मको शयन करानेवाले, (मायिनम्) शुभकर्मोंसे छल करनेवाले अर्थात् ऐन्द्रजालिककी भाँति ठगनेवाले, (अहिम्) पापको, (मायाभिः) परमात्माकी ज्ञानशक्तियोंसे, (प्र सक्षत्) हटाता है, (एते मरुतः) स्तुति करनेवाले ये मुमुक्षु पुरुष, (तुभ्येत्) तुझ परमात्माके लिये ही, (अर्कम्) स्तुति करनेयोग्य स्तोत्रको, (अर्चन्ति) भजते हैं, इसलिये, (सुशेवाः) सुन्दर मोक्षात्मक सुखवाले होकर, (अन्धः) पापमें प्रवृत्त करनेवाले अन्नको, (सुन्वन्ति) निचोड़ देते हैं अर्थात् पापकर्मका परित्याग कर देते हैं ।

तुलना—गीतामें जरा-मरणादि दुःखोंको दूर करनेके लिए परमात्माका आश्रय ही मुख्य साधन बताते हुए कहा गया है कि परमात्माका आश्रय करनेसे ही मनुष्य परमात्म-तत्त्वको जान सकता है। वेदमें भी कहा गया है कि मुमुक्षु पुरुष पाप, छल आदिका परित्याग करे, क्योंकि सुख-दुःखादिसे रहित होकर ही साधक परब्रह्मको पा सकता है, अन्यथा नहीं ।

३०. साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।

(ये) जो पुरुष, (साधिभूताधिदैवम्) अधिभूत और अधिदैवके साथ, तथा, (साधियज्ञम्) अधियज्ञके साथ, (च) भी, (माम्) मुझ परमेश्वरको,

(विदुः) जानते हैं अर्थात् मेरा ध्यान और भजन करते हैं, (ते) वे, (युक्तचेतसः) समाहित चित्तवाले, (प्रयाणकालेऽपि च) मृत्युके समयमें भी, (माम्) मुझ परमात्माको, (विदुः) जानते हैं अर्थात् स्मरण करते हैं ॥ ३० ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋग्वेदः १-१६४-३९)

यह मन्त्र अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका प्रतिपादन करनेवाला है ।

अधिभूतपक्ष—(ऋचः) [अर्चन्ति अनेनेति ऋचः] परमेश्वर-पूजनका साधन यह देह, (परमे) सांसारिक पदार्थोंसे परमोत्तम, (व्योमन्) देहरक्षक या 'अवतिर्ज्ञानार्थः' ब्रह्मके विशेष जाननेवाले, (अक्षरे) आत्मामें, आश्रित है, (यस्मिन्) जिस आत्मामें, (विश्वे) सब, (देवाः) अपने-अपने विषयोंको प्रकाशित करनेवाली चक्षुआदि इन्द्रियाँ, (अधिनिषेदुः) स्थित रहती हैं अर्थात् जबतक आत्मा देहमें वास करता रहता है तबतक इन्द्रियाँ भी शरीरमें काम करती दृष्टिगोचर होती हैं । (यः) देहमात्रको आश्रय माननेवाला जो पुरुष, (तत्) उस आत्माको, (न वेद) नहीं जानता, वह, (ऋचा) इस देहसे, (किम्) क्या, (करिष्यति) करेगा, अर्थात् संसारमें उसके जीनेसे कोई लाभ नहीं है । (ये इत्) जो भी पुरुष, (तत्) अक्षर आत्माको, (विदुः) जानते हैं, (ते) वे, (इमे) देहविशिष्ट ये जीव, (समासते) इस संसारमें सम्यक्तया वास करते हैं और फिर संसारमें अपुनरावृत्तिसे अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं । निरुक्तमें भी कहा गया है—'शरीरमत्र ऋगुच्यते यदेनेन अर्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणीन्द्रियाणि, तस्य यदविनाशिधर्म तदक्षरं भवतीन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते । यानि अस्मिन्नधिनिषण्णानीत्यात्मप्रवादाः (१३-११) ।

अधिदैवपक्ष—(ऋचः) [यदेनम् अर्चन्ति स्वप्रभया] समग्र ब्रह्माण्डके प्राणी, (परमे) श्रेष्ठ, (व्योमन्) रक्षक, (अक्षरे) सूर्यमें ही, आश्रित रहते हैं, (यस्मिन्) जिस सूर्यमें, (विश्वे) सब, (देवाः) प्रकाशमान किरणें, (अधिनिषेदुः) रहती हैं । (यः) जो प्राणी, (तत्) उस सूर्यको, (न वेद) नहीं जानता, वह पुरुष, (ऋचा) प्राणिवर्गोंसे, (किम्) क्या, (करिष्यति) करेगा ? (ये इत्) जो भी प्राणी, (तत्) उस सूर्यके स्वरूपको हिरण्मयस्वरूप, (विदुः) जानते हैं [क्योंकि तै. आ. १०-१३ में कहा गया है कि 'य एषो अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' अर्थात् जो यह

सूर्यके भीतर हिरण्मय पुरुष दृष्टिगोचर होता है], (ते इमे) वे ये प्राणी, (समासते) रोगादिसे रहित सुखसे वास करते हैं अर्थात् संसारमें चिरकालतक जीवन रखते हैं। निरुक्तमें कहा गया है—'आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेरेषर्गर्भवति। यदेनमर्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणि भूतानि। तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यः तदक्षरं भवति। रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते य एतस्मिन्नधिनिषण्णा इत्यधिदैवतम् (१३-११)।

अधियज्ञपक्ष—(ऋचः) [ऋचाएँ जिनमें प्रधान हैं ऐसे अङ्गोंके साथ पर और अपर विद्याके स्वरूप] चारों वेद, (परमे) सबसे उत्कृष्ट, निरतिशय, (व्योमन् अक्षरे) अलोप, नीरूप, सर्वव्यापक, सबके रक्षक, अकार-उकार-मकार-विशिष्ट ओंस्वरूप परमात्मामें ज्ञानस्वरूपसे वास करते हैं। (यस्मिन्) जिस ओंकारस्वरूप परमात्मामें, (विश्वे) सब, (देवाः) देवता, (अधि-निषेदुः) आश्रय करके रहते हैं। जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है कि अकार-मात्रामें पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद और पृथिवी-लोकनिवासी वास करते हैं। दूसरी उकारमात्रामें अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद और उस लोकके निवासी प्राणी वास करते हैं और मकारमें द्यौ, आदित्य, सामवेद और उस लोकके वास करनेवाले प्राणी वास करते हैं—'ओङ्कार एवेदं सर्वम्' अर्थात् यथोक्तलक्षण परब्रह्ममें ऋग्वेदादि चारों वेद वास करते हैं। (यः) जो मनुष्य, (तत्) वैसे स्वरूप-वाले देवादि, ज्ञानी और विद्वानोंके स्वरूपोपलब्धि-स्थान, समग्र वेद-शास्त्रादिसे प्रतिपाद्य परब्रह्म परमात्माको, (न वेद) नहीं जानता; वह मनुष्य, (ऋचा) ऋग्वेदादि शब्दजालसे, (किम्) क्या, (करिष्यति) करेगा ? (ये इत्) जो भी पुरुष, (तत्) उस ओंकारस्वरूप परब्रह्मको, (विदुः) जानते हैं, (ते इमे) वे ये ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष, (समासते) स्व-स्वरूपस्थितिसे भली-भाँति उस ब्रह्ममें वास करते हैं। जैसे निरुक्तमें भी कहा गया है—'ऋचो अक्षरे. . .इति विदुष उपदिशति। कतमत्तदेतदक्षरम् 'ओ३म्' इत्येषा वागिति शाकपूणिः, ऋचश्च हि अक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेषु एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रति' (१३-१०)।

तुलना—गीतामें आया है कि जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ परमात्माका भजन करते हैं वे अन्तकालमें भी उस परमात्माको जान जाते हैं। वेदमें भी जन्म-मृत्युसे रहित होनेके लिये प्राणीको जिस ज्ञानकी अपेक्षा होती है उसके अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ स्वरूपका विवेचन किया गया है।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका षष्ठ अध्याय समाप्त।

अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच—

१. किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥

२. अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

(अर्जुन उवाच) अर्जुन बोला—(पुरुषोत्तम !) हे भगवान् श्रीकृष्ण ! (तत् ब्रह्म किम् ?) वह ब्रह्म क्या है ? (अध्यात्मं किम् ?) अध्यात्म अर्थात् इस सम्पूर्ण शरीरके बाहर और भीतर आत्माके व्याप्त होनेका कारण क्या है ? क्या इस शरीरमें आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ, मन-बुद्धचादि अन्तःकरण-चतुष्टय, प्राणापानादि प्राण और रोम-चर्मादि सात धातुएँ, ये सब मिलकर अध्यात्म कहे जाते हैं या केवल प्रत्यक् चैतन्य जो सब शरीरमें जीवनका कारण है, जिसके स्पन्दनसे सब कार्य हो रहे हैं, वह अध्यात्म कहा जाता है ? (कर्म किम् ?) कर्म क्या है अर्थात् क्या अग्निष्टोमादि याज्ञिक कर्मोंसे तात्पर्य है या नित्य-नैमित्तिक काम्य कर्मोंसे ? (च) और, (अधिभूतं किं प्रोक्तम् ?) पाँच भूतोंका आश्रय कौन-सा कहा गया है ? अर्थात् क्या इन पाँचों भूतोंके आश्रयसे जो यह सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर स्थित है वह अधिभूत कहलाता है या इनसे इतर जो पांचभौतिक कार्य है वह अधिभूत कहलाता है ? (च) और, (अधिदैवं किम् उच्यते) अधिदैव क्या कहलाता है अर्थात् क्या सूर्यादि देवताओंके आश्रयसे जो कुछ कार्य होता है उसे अधिदैव कहते हैं अथवा इनसे भिन्न कुछ और अधिदैव कहलाता है ? (अत्र) यहाँ, (अधियज्ञः कः ?) अधियज्ञ कौन है अर्थात् अधियज्ञ कोई देवता-विशेष है अथवा परब्रह्मको ही अधियज्ञ कहते हैं, या इन यज्ञोंके आश्रय कौन-कौन पदार्थ हैं ? (कथम्) वह अधियज्ञ किस रूपसे, (अस्मिन् देहे) इस देहमें स्थित है ? (मधुसूदन !) हे मधु राक्षसके नाश करनेवाले श्रीकृष्ण ! (च) और, (प्रयाणकाले) मृत्युके समय, (नियतात्मभिः) समाहित चित्तवाले जीवोंसे, (कथम्) किस प्रकार, आप, (ज्ञेयः असि) जाननेयोग्य हैं ॥ १–२ ॥

श्लोक १-२ प्रश्नात्मक होनेके कारण वेदमन्त्र नहीं दिये गये ।

श्रीभगवानुवाच—

३. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

(श्रीभगवान् उवाच) भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन ! (परमम्) सबसे उत्कृष्ट, (अक्षरम्) विनाशरहितको, (ब्रह्म) ब्रह्म, (उच्यते) कहा जाता है, (स्वभावः) उस परब्रह्मका प्रतिदेहमें प्रवेश करके तदाकार होना, (अध्यात्मम्) अध्यात्म, (उच्यते) कहा जाता है, (भूतभावोद्भवकरः) भूतोंके भावोंको उत्पन्न करनेवाला, (विसर्गः) चरु-पुरोडाशादि द्रव्योंके द्वारा यज्ञ करना, (कर्मसंज्ञितः) कर्मके नामसे उच्चारण किया गया है ॥ ३ ॥

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥

(यजुर्वेदः २३-६३)

हे जीवात्मन् ! (ह) यह प्रसिद्ध है कि, वह परमात्मा, (प्रथमः) सबका आदि है, (सुभूः) सम्यक्तया होनेवाला अर्थात् अविनाशी ब्रह्म है, वही, (स्वयम्भूः) अपने आप होनेवाला अर्थात् कारणसे रहित, प्रतिदेहमें प्रवेश करके वासरूपसे प्रत्यगात्मस्वरूप अर्थात् अध्यात्म-स्वरूप कहा गया है, (महति) बड़े विस्तृत, (अर्णवे) संसाररूपी समुद्रमें, (अन्तः) सब पदार्थोंके भीतर, (ऋत्वियम्) प्रत्येक ऋतुके अर्थात् समयके अनुसार, (गर्भम्) भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले विसर्गको, (दधे) धारण करता है, (यतः) जिस कर्मसे, (प्रजापतिः) सूर्य आदि प्रजापालक, (जातः) उत्पन्न हुए अर्थात् देवोंके उद्देश्यसे किया जानेवाला कार्य कर्मसंज्ञावाला कहा गया है ।

तुलना—गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने 'अक्षर'को ब्रह्म, प्रत्यगात्मताको अध्यात्म तथा सृष्टि, उत्पत्ति, पालन आदि और यज्ञोंको कर्म बताया है। वेदमें भी परमात्माको 'सुभूः' और सबमें प्रवेशात्मक होनेसे 'स्वयम्भू' अर्थात् अध्यात्म-स्वरूप कहा गया है और देवताओंके उद्देश्यसे ऋत्वनुकूल किया गया कार्य कर्म कहा गया है ।

४. अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

(देहभृतां वर !) हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (क्षरः भावः) नाशवान् पदार्थ, (अधिभूतम्) अधिभूत कहा जाता है, (च) और, (पुरुषः) देह-

धारियोंके शरीरोंमें शयन करनेवाला हिरण्यगर्भ, (अधिदैवतम्) अधिदैव कहा जाता है। (अत्र) इस, (देहे) शरीरमें, (अहम् एव) मैं परमात्मा ही, (अधियज्ञः) अधियज्ञ कहा जाता हूँ ॥ ४ ॥

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इ यमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥

(ऋग्वेदः १०-१३५-७)

(इदम्) यह देह अधिभूत है, (यत्) जो, (देवमानम्) इन्द्रियोंके विषयोंका मापक, (उच्यते) कहा जाता है। यह देह, (यमस्य) मृत्युका, (सादनम्) स्थान है अर्थात् सब आधिभौतिक पदार्थ विनश्वर हैं। (अस्य) इस देहकी, (इयं नाडी) यह नाड़ी, (धम्यते) परमात्मासे फूँकी जाती है अर्थात् आत्माद्वारा इन नाड़ियोंमें प्राणवायु सञ्चार करता है। (अयम्) यह देह, (गीर्भिः) मीठी-मीठी वाणियोंसे, (परिष्कृतः) सजा हुआ रहता है। यह अधिभूतका वर्णन है।

अब नीचे लिखे मन्त्रमें अधिदैव कहा जाता है।

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान्सर्वान्ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥

(अथर्ववेदः ११-५-२२)

(सर्वे प्राजापत्याः) परमात्मासे उत्पन्न किये हुए देव-मनुष्य आदि सब पदार्थ या ब्रह्मासे उत्पन्न किये हुए सब सूर्य-चन्द्रादि पदार्थ, (आत्मसु) विनाशशाली अपने-अपने देहोंमें, (पृथक् प्राणान्) भिन्न-भिन्न परमात्मसत्ताको या भिन्न-भिन्न अधिदैवतको, (बिभ्रति) धारण करते हैं। अधियज्ञ क्या है ? इसका उत्तर मन्त्रद्वारा ही दिया जाता है—(ब्रह्मचारिणि) ज्ञानी पुरुषमें, (आभृतम्) धारण किया हुआ, (ब्रह्म) परमात्मा, (तान्) उन, (सर्वान्) सब पदार्थोंकी, (रक्षति) अधियज्ञ-स्वरूपसे रक्षा करता है।

तुलना—गीतामें विनश्वर पदार्थको अधिभूत, उनमें वास करनेवाले आत्माको अधिदैव और स्वयं परमात्माको सब देहोंमें अधियज्ञ-स्वरूप कहा गया है। वेदमें भी इन्द्रियोंके अधिष्ठान देहको अधिभूत, भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करनेवाले सूर्यादिको अधिदैव और उनके रक्षक अथवा ज्ञानदाताको अधियज्ञ कहा गया है।

५. **अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(यः) जो पुरुष, (अन्तकाले) प्राणोंके परित्यागके समय, (च) भी, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (एव) ही, (स्मरन्) स्मरण करता हुआ, (कलेवरम्) शरीरको, (मुक्त्वा) छोड़कर, (प्रयाति) अर्चिः आदि मार्गको जाता है, (सः) वह पुरुष, (मद्भावम्) मेरे भावको अर्थात् ब्रह्म-तत्त्वको, (याति) प्राप्त करता है, (अत्र) इस बातमें, (संशयः) सन्देह, (न अस्ति) नहीं है अर्थात् अवश्यमेव मुझे प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अहमेवास्म्यमावास्या मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥

(अथर्ववेदः ७-८४-२)

(अहम्)मैं परमात्मा, (एव) ही, (अमावास्या) निर्माणरहित अर्थात् अपनेमें कारणके वाससे रहित अमावास्या, (अस्मि) हूँ [अमा अस्मिन्नदन्ति । अमा पुनरनिमित्तं भवति । निरुक्त ५-१], (इमे) ये, (सुकृतः) शुभ कर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुष, (माम्) मृत्युके समय मुझे स्मरण करके, (मयि) मुझ परमात्मामें, (आ वसन्ति) आकर वास करते हैं। (इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्रदेवता जिनमें बड़ा है, या ज्ञानैश्वर्यसे बड़े, (साध्याः) कर्म, उपासना और ज्ञानकी साधना करनेवाले या विराट्की उपासना करनेवाले, (च) और सिद्ध लोग, (उभये) दोनों प्रकारके, (देवाः) ज्ञानी और इन्द्रादि देवता, (सर्वे) सब, (मयि) मुझ परमात्मामें, (समगच्छन्त) मिल जाते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अन्तमें भी भगवान्को स्मरण करनेवाला प्राणी भगवान्को ही प्राप्त होता है। वेदमें परमात्माका स्वरूप निष्कारण बताते हुए कहा गया है कि इन्द्रादि देवता, सिद्ध, साध्य और ज्ञानी पुरुष उसे स्मरण करते हुए उसमें वास कर जाते हैं।

६. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

(कौन्तेय !) हे अर्जुन ! (यं यं वा) जिस किसी, (अपि) भी, (भावम्) देवता-सम्बन्धी विचारको या किसी अन्य पदार्थको, (अन्ते) मृत्युके समय, (स्मरन्) स्मरण करता हुआ, (कलेवरम्) शरीरका, (त्यजति) परित्याग करता है, (सदा) सर्वकालमें, (तद्भावभावितः) उस भावसे भावित होकर अर्थात् उसी भावके बार-बार अभ्यासके कारण वही स्वरूप होकर, (तं तम्) उसी-उसी, (भावम्) भावको, (एति) प्राप्त होता है ॥६॥

प्र च्यवस्व तन्वं सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम् ।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ।।
(अथर्ववेदः १८-३-९)

हे जीवात्मन् ! तू, (तन्वम्) अपने शरीरको, (प्र च्यवस्व) भली-भाँति छोड़, फिर, (सं भरस्व) दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेवाले शरीरका अच्छी रीतिसे पालन कर । (ते) तेरे, (गात्राः) हाथ-पैर आदि अङ्ग, (मा वि हायि) न छूटें अर्थात् तुझे छोड़कर न चले जायँ, और, (मा उ शरीरम्) तेरा शरीर भी तुझसे न छूटे । (यत्र) जिस भावमें, (मनः) तेरा मन, (निविष्टम्) भली-भाँति स्थित है, (तत्र) उसी भावमें, (अनु संविशस्व) मनकी इच्छाके अनुसार प्रवेश कर, और, (भूमेः) पृथिवीके, (यत्र) जिस देशमें, (जुषसे) तू प्रीति करता है, (तत्र) उसी देशमें, (गच्छ) जा ।

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ।।
(अथर्ववेदः १८-२-४७)

(अग्रवः) लौकिक व्यवहारकी प्राप्तिके लिए अग्रगामी, (द्वेषांसि) सांसारिक द्वेषोंको, (हित्वा) त्यागकर, (अनपत्यवन्तः) लौकिक वासनारूपी सन्तानोंसे रहित, तथा, (शशमानाः) भिन्न-भिन्न देवताओंकी कामना करते हुए या भिन्न-भिन्न देवताओंकी प्रशंसावाले, (ये) जो पुरुष, (परेयुः) शरीर-को छोड़कर चले जाते हैं अर्थात् मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं, (ते) वे, (अधि दीध्यानाः) अपने-अपने देवताकी भावनासे अत्यन्त दीप्यमान होते हुए, (द्याम्) प्रकाशमयी अवस्थाको, (उदित्य) प्राप्त होकर, (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमें, (लोकम्) सुकृतफलोपभोगवाले उत्तम स्थानको, (अविदन्त) पाते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शरीर-परित्यागके समय प्राणी जिस-जिस भावको स्मरण करता है, मृत्युके अनन्तर उस-उस भावके अनुसार उस-उस गतिको पाता है । वेदमें भी कहा गया है कि जो पुरुष जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ लौकिक कामनासे रहित होकर शरीर छोड़ता है, दूसरे जन्ममें उसी-उसी भावके अनुसार उस-उस स्वर्गादि गतिको प्राप्त करता है ।

७. **तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।**
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।

हे अर्जुन ! (तस्मात्) इसलिये, (सर्वेषु कालेषु) सब समयमें अर्थात् आठों प्रहर, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (अनुस्मर) स्मरण कर, (च) और (युध्य) युद्ध भी कर। (मयि) मुझ परमेश्वरमें, (अर्पितमनोबुद्धिः) मन और बुद्धिको अर्पण करनेवाला तू, (असंशयम्) निस्सन्देह, (माम्) मुझ परमात्माको, (एव) ही, (एष्यसि) प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तं नमस्या धीरममृतस्य गोपाम् ।
स नः शर्म त्रिवरूथं वि यंसत्पातं नो द्यावापृथिवी उपस्थे ॥
(ऋग्वेदः ८-४२-२)

गुरु शिष्यसे कहता है—हे शिष्य ! (बृहन्तम्) बड़ेसे बड़े, (वरुणम्) वरनेयोग्य अथवा सबमें श्रेष्ठ परमात्माको, (एवा=एवं वन्दस्व) नाम-स्मरण-पूर्वक नमस्कार कर। (अमृतस्य) अमृतपदकी, (गोपाम्) रक्षा करनेवाले, (धीरम्) सबको धारण करनेवाले या सबको बुद्धि देनेवाले परमात्माको, (नमस्य) नमस्कार कर। (सः) वह परमात्मा, (नः) हम गुरु-शिष्यके लिये, (त्रिवरूथम्) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, इन तीनों प्रकारके दुःख दूर करनेके लिये कवचरूप, (शर्म) घरको, (वि यंसत्) दे देता है। (द्यावापृथिवी) हे द्यौ-पृथिवीमें व्यापक परमात्मन् ! (उपस्थे) अपनी गोदमें वास करते हुए, (नः) हम गुरु और शिष्यकी सांसारिक वास-नाओंसे, (पातम्) रक्षा कर।

तुलना—गीतामें भगवान्ने अर्जुनको उपदेश दिया है कि हे अर्जुन ! मुझे स्मरण करता हुआ संसारमें अपना काम कर अर्थात् कर्मका परित्याग मत कर। अपना काम करता हुआ तू मेरे धामको प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। वेदमें भी गुरुने शिष्यको उपदेश देते हुए कहा है कि परमात्माको सदा प्रणाम कर। वही तुझे त्रिविध तापसे बचाएगा। हे ईश्वर ! हम दोनोंकी रक्षा कर।

८. अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (अभ्यासयोगयुक्तेन) अभ्यास योगसे संयुक्त, (नान्यगामिना) भगवत्स्वरूपको छोड़कर किसी और विषयकी ओर न जाने-वाले, (चेतसा) चित्तसे, (अनुचिन्तयन्) शास्त्राज्ञानुकूल और गुरुके उप-देशके अनुसार चिन्तन करता हुआ प्राणी, (परमम्) अत्युत्कृष्ट, (दिव्यम्) प्रकाशात्मक ज्योतिःस्वरूप, (पुरुषम्) पुरुषोत्तम परमात्माको, (याति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥

(यजुर्वेदः ११-२)

गुरु शिष्यसे कहता है—हे शिष्यो ! (वयम्) हम लोग, (युक्तेन) अभ्यास-योगमें लगे हुए, (मनसा) चित्तसे, (देवस्य) प्रकाशात्मक, ज्योतिः-स्वरूप, (सवितुः) जगत्के उत्पन्न करनेवाले परमात्माकी, (सवे) पूजामें, (शक्त्या) अपने समाहित-चित्तकी शक्तिके अनुसार, (स्वर्ग्याय) भगवदानन्दके उपभोगके लिये प्राप्त हैं ।

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया ।
गृभ्णन्ति जिह्वया ससम् ॥

(ऋग्वेदः ६-७२-३)

(जने) जो पुरुष, (परः मनीषया) अत्युत्कृष्ट योगाभ्याससे उत्पन्न बुद्धिसे या परम स्तुतिसे, (तम्) उस, (रुद्रम्) पापियोंको रुलानेवाले या दुःखोंको भगानेवाले अथवा [रुत् नाम स्तुतिका है] स्तुतिसे प्राप्त होनेवाले परमात्माकी, (अन्तः) अन्तरात्मामें योगाभ्याससे, (इच्छन्ति) इच्छा करते हैं, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष, (जिह्वया) ओंकारका जप करनेवाली जिह्वासे, ([1]ससम्) सब वस्तुओंमें शयन करनेवाले अर्थात् सर्वव्यापक परमात्माको, (गृभ्णन्ति) ग्रहण करते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि योगाभ्याससे चित्तको वशमें करके परमात्माका चिन्तन करनेसे परमपुरुष अर्थात् पुरुषोत्तमके पदकी प्राप्ति होती है । वेदमें भी कहा गया है कि योगाभ्यासी चित्तसे जिह्वाद्वारा ओम्का उच्चारण करनेसे ज्ञानी पुरुष अपने भीतर ही ब्रह्मको पानेकी इच्छा करते हैं ।

९. कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
१०. प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

हे अर्जुन ! (यः) जो पुरुष, (प्रयाणकाले) मृत्युके समयमें, (भक्त्या) प्रेमपूर्वक, भक्तिसे, (च) और, (योगबलेन) अलौकिक शक्तिवाली समाधिके बलसे, (युक्तः) युक्त होकर, (अचलेन) स्थिर अर्थात् परमात्मा के ध्यानमें

---

१. ससम्—स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनम् (निरुक्त ५-३) ।

समाहित, (मनसा) मनसे, (भ्रुवोः) भौंहोंके, (मध्ये) मध्य स्थानमें अर्थात् द्विदल पद्मकी कर्णिकामें, (सम्यक् एव) अच्छी रीतिसे, (प्राणम्) अपने प्राणको, (आवेश्य) प्रवेश करके, (कविम्) सर्वज्ञ, (पुराणम्) सबसे पुरातन, सनातन, (अनुशासितारम्) सम्पूर्ण जगत्को अन्तर्यामी रूपसे अपनी आज्ञामें रखनेवाले, (अणोः अणीयांसम्) अणुसे भी अणु अर्थात् सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, (सर्वस्य) सारे जगत्के, (धातारम्) प्राणियोंके कर्मानुसार फल देनेवाले और सबका पालन-पोषण करनेवाले, (अचिन्त्यरूपम्) अचिन्तनीय रूपवाले, (आदित्यवर्णम्) आदित्यकी भाँति प्रकाशस्वरूप या अखण्डनीय वर्णवाले, (तमसः परस्तात्) अज्ञानसे परे रहनेवाले परमात्माको, (अनुस्मरेत्) स्मरण करता है, (सः) वह पुरुष, (तम्) उस, (दिव्यम्) ज्योतिःस्वरूप, (परं पुरुषम्) सबके शरीरोंमें वास करनेवाले पुरुषोत्तमको, (उपैति) प्राप्त होता है ॥ ९-१० ॥

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः ॥

(अथर्ववेदः १०-२-२६)

(अथर्वा) संसारके भयसे न काँपनेवाला योगी, (अस्य) इस अपने देहके, (मूर्धानम्) सिरको, और, (यत्) जो, (हृदयम्) हृदय है उसे, (संसीव्य) आपसमें सीकर अर्थात् मूर्धाको हृदयके साथ एक करके, (पवमानः) प्राण वायु, (शीर्षतः अधि) शिरके भीतर, और, (मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः) मस्तिष्कसे ऊपर, (प्रैरयत्) प्रेरित करता है ।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥

(अथर्ववेदः ६-८८-३)

हे जीवात्मन् ! (इह) इस योगसमाधिमें, (ध्रुवः) भौंहोंके मध्यमें प्राणोंके स्थापन करनेसे स्थिर हुआ, इसलिए, (अच्युतः) योगसमाधिसे विचलित न होनेवाला तू, (शत्रून्) मुक्तिके प्रतिबन्धक काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि शत्रुओंको, (प्रमृणीहि) नाश कर । (शत्रूयतः) शत्रुओंके समान आचरण करनेवाले मानसिक विचारोंको, भक्ति और योग-बलसे, (अधरान्) नीचे, (पादयस्व) गिरा दे । देहमें वास करनेवाले शत्रुओंके निकल जानेपर, (सर्वा दिशः) चारों ओर सब पदार्थ, (सम्मनसः) समान मनवाले एकरूप होकर, (सध्रीचीः) तेरे साथ चलनेवाले हो जायँगे । सब अवस्थाओंमें, (ध्रुवाय) भगवद्ध्यानमें स्थित,

(ते) तेरे लिए, (समितिः) संसारमय संग्राम, (कल्पताम्) समर्थ होवें अर्थात् संसार-संग्रामसे तेरा भागना न हो ।

उपनिषद्में कहा गया है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

(श्वे. उ. ३-८)

यह महापुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम आदित्यवर्णवाला, प्रकाशस्वरूप तथा प्रकृतिके अन्धकारसे ऊपर अर्थात् मोहान्धकारको नाश करनेवाला है, ऐसा जानता हूँ।

तुलना—गीतामें परमात्माको ज्योतिःस्वरूप, अज्ञानसे परे, अणुसे भी अणु अर्थात् सूक्ष्मसे सूक्ष्म, कवि और जगत्को शिक्षा देनेवाला कहकर उसका वर्णन किया गया है जिसका ध्यान करनेसे मनुष्य परमपदको प्राप्त होता है । वेदमें भी कहा गया है कि उस परमात्माका योगसमाधि द्वारा ध्यान करनेसे मनुष्य परमधामको प्राप्त हो जाता है ।

११. यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

हे अर्जुन ! (वेदविदः) वेदोंके जाननेवाले ज्ञानी पुरुष, (यत्) जिस परमात्माको, (अक्षरम्) 'ओम्' इस अक्षर अर्थात् अविनाशी नामसे, (वदन्ति) पुकारते हैं, (वीतरागाः) नष्ट हुए रागवाले, (यतयः) मन और इन्द्रियोंका संयमन करनेवाले योगी लोग, (यत्) जिस ब्रह्ममें, (विशन्ति) प्रवेश कर जाते हैं, (यत्) जिस ब्रह्मकी, (इच्छन्तः) प्राप्तिकी इच्छा करते हुए, (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य, वीर्यकी रक्षा, (चरन्ति) करते हैं, (तत्) उस, (पदम्) पदको, (ते) तुझे, (सङ्ग्रहेण) संक्षेपसे, (प्रवक्ष्ये) कथन करूँगा ॥ ११ ॥

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवैर्विदितं पुरा ।
यद्भूतं भव्यमासन्वत्तेना ते वारये विषम् ॥

(अथर्ववेदः ६-१२-२)

हे शिष्य ! (ब्रह्मभिः) वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंसे, (यत्) जो परब्रह्म परमात्मा 'ओम्' अक्षरसे, (पुरा) पहले ही, (विदितम्) जाना हुआ है, (ऋषिभिः) वैराग्यपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिके साधनमें लगे हुए यति, मुनि और ऋषिलोगोंसे, (पुरा) पूर्व कालमें ही, (यत्) जो, (विदितम्) ब्रह्ममें लीन होनेका ज्ञान विदित है, (देवैः) ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले ब्रह्मचारी देवताओंसे, (यत्)

जो ब्रह्म, (पुरा) पहले ही, (विदितम्) ज्ञात है, (यत्) जो परब्रह्म परमात्मा, (भूतम्) भूतकालमें, और, (भव्यम्) भविष्यत्कालमें, तथा वर्तमानकालमें, (आसन्वत्) विद्यमान रहता है, (तेन) उस ब्रह्मके ज्ञानसे, (ते) तेरे, (विषम्) शरीर और मनके विषको, (वारये) दूर करता हूँ ।

उपनिषद्में कहा गया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि ।
ओमित्येतत् ॥

(कठ उ. १-२-१५)

सब वेद जिस ओंकार ब्रह्मका वर्णन करते हैं, सब तपस्वी जिस ओंकार पदके उच्चारणके विषयको कहते हैं अर्थात् जिस ओम् अक्षरको उच्चारण करके ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और जिस ओंकारस्वरूप ब्रह्मके पदकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यको करते हैं वह पद मैं तुझे संक्षेपसे कहता हूँ कि वह ओंकार अर्थात् 'ओम्' ही है।

तुलना—गीतामें ओंकारके महत्त्वका वर्णन किया गया है जिसका श्रद्धापूर्वक उच्चारण और ध्यान करनेसे वेदवेत्ता ज्ञानी और ब्रह्मचारी मुक्तिधामको पाते हैं, ऐसा आगे बतानेके लिए उपक्रम किया गया है । वेद और उपनिषदोंमें भी 'ओंकार' के स्वरूपका महत्त्व बताकर उसके उच्चारणकी रीति बतानेकी बात कही गई है ।

१२. सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
१३. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

हे अर्जुन ! (यः) जो मुमुक्षु पुरुष, (सर्वद्वाराणि) रूप-शब्दादि विषयोंके ग्राहक चक्षुः-श्रोत्रादि सब इन्द्रियोंको, (संयम्य) उनके विषयोंसे रोककर, (च) फिर, (मनः) मनको, (हृदि) हृदयाकाशमें, (निरुध्य) रोककर, (आत्मनः प्राणम्) अपने प्राणको, (मूर्ध्नि) ललाटसे ऊपर भीतरकी ओर सहस्रदलकी कर्णिकामें, (आधाय) स्थापित करके, (योगधारणाम्) योगकी धारणा, ध्यान आदिमें, (आस्थितः)आरूढ होकर, (ओम् इति) ओंकार इस नामवाले, (एकाक्षरम्) एक अक्षरवाले, (ब्रह्म) ब्रह्मवाचक शब्दका, (व्याहरन्) उच्चारण करता

हुआ, और, (माम्) मुझ परमात्माको, (अनुस्मरन्) स्मरण करता हुआ, (देहम्) शरीरको, (त्यजन्) त्याग करता हुआ, (प्रयाति) ऊर्ध्वनाडीद्वारा प्रयाण करता है, (सः) वह पुरुष, (परमां गतिम्) परमगति अर्थात् मोक्ष-पदको तथा भगवत्स्वरूपको, (याति) प्राप्त होता है ॥ १२-१३ ॥

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥

(अथर्ववेदः ११-८-१३)

(संसिचः नाम) 'संसिच्' नामवाले, (ये) जो, (देवाः) ब्रह्मज्ञानी योगी, (सम्भारान्) देहको यथावस्थित रखनेवाले अपने विषयोंकी साधक सब इन्द्रियोंको, (समभरन्) भली-भाँति एक स्थानमें रोक सकते हैं, (ते देवाः) वही ब्रह्मज्ञानी, (सर्वम्) सब, (मर्त्यम्) मृत्युके धर्मवाले अर्थात् विनश्वर देहको और उसकी वृत्तिको, (संसिच्य) भली भाँति एकत्र करके, (पुरुषम्) पूर्णपुरुष परमात्मामें, (आविशन्) प्रवेश करते हैं ।

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः ।
प्रत्यौहन् मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥

(अथर्ववेदः ५-२८-८)

वही ज्ञानी, (अमृतेन) अमृतसे, अर्थात् नित्य अविनाशी आत्मासे, (विश्वा) सब, (दुरितानि) पापोंको, (साकम्) एक साथ ही, (अन्तर्दधानाः) हृदयाकाशमें रोकते हुए, (मृत्युम्) मरण-कालमें मृत्युको, (प्रत्यौहन्) वशमें कर लेते हैं, (यत्) जब, (त्रयः शक्राः) इन्द्रियोंका नियमन करनेवाला, मनको रोकनेवाला तथा ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्रयाण करनेवाला, ये तीनों समर्थ योगी, (सुपर्णाः) भलीभाँति ज्ञानी होकर, (त्रिवृताः) तीन प्रकारके प्राणोंके बलसे अर्थात् सब इन्द्रियद्वारोंको रोककर, मनको हृदयमें वशीभूत करके, अपने प्राणोंको मूर्धामें स्थापित करके, इन तीन प्रकारके व्यवहारोंसे, (एकाक्षरम्) 'ओम्' इस एकाक्षर ब्रह्मको, (अभिसम्भूय) प्राप्त करके, (आयन्) मोक्षको प्राप्त होते हैं ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

(कठ उ. १-२-१६)

हे नचिकेतः ! यही ओंकार एकाक्षर ब्रह्म है और यही एकाक्षर ओम् परमश्रेष्ठ है । इस कारण इस एकाक्षर ओंकारको जानकर जो जिस तत्त्वकी इच्छा करता है वह अवश्य उसी तत्त्वको प्राप्त होता है ।

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कार-
स्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।

(प्रश्न उ. ५-२)

ऋषि पिप्पलाद सत्यकाम शिष्यसे कहते हैं—हे सत्यकाम ! निश्चय ही यह ओंकार पर और अपर दोनों प्रकारका ब्रह्म सिद्ध है, जो प्राणी दोनों रूप जानकर दोनोंमें-से किसी एककी उपासना करता है वह इस अपनी उपासनाके अनुसार ही गति पाता है अर्थात् जो प्राणी सब प्रकारकी वृत्तियोंको रोककर ओंकारकी मात्राओंको एक दूसरेमें लय करता हुआ अर्थात् अकारको उकारमें, उकारको मकारमें, फिर मकारको शुद्ध परब्रह्म चैतन्यमें लय करता हुआ निर्विकल्प समाधिमें स्थित होता है वह परब्रह्मको प्राप्त होता है ।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

(मु. उ. २-२-४)

ओंकार धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है अर्थात् इस आत्मरूप बाणको ओंकाररूप धनुषपर चढ़ाकर ब्रह्मरूप लक्ष्यका वेध करे, फिर एकाग्र चित्तसे ब्रह्मरूप लक्ष्यको वेधता हुआ बाणके समान तन्मय हो जाय जिससे आत्मा परमात्माको प्राप्त हो जाय ।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।

(छा. उ. १-१-१)

'ओम्' यह अक्षर उद्गीथ है । इसकी उपासना करो । संसारमें जो श्रेष्ठपन, महत्त्व, विभूति इत्यादि हैं, सब ओंकारका उपाख्यान है ।

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्येतदनुकृति·· ।
ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति ।
ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥

(तै. उ. १-८-१)

'ओम्' ब्रह्म है, सारा चराचर जगत् ओङ्काररूप ही है, सम्पूर्ण जगत्की रक्षा और सहायता करनेवाला ओङ्कार ही है। अध्ययनके समय या ब्रह्म-प्राप्तिके लिये ब्राह्मण ओङ्कारका उच्चारण करता है कि मैं ब्रह्मको प्राप्त होऊँ, तब ओङ्कारका जप करता हुआ ब्रह्मज्ञानी ओङ्कारोपासनाके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता है।

तुलना—भगवद्गीता, वेद तथा उपनिषद्में भी ब्रह्मप्राप्तिके लिये इन्द्रियोंका रोकना, मनको स्थिर करना और एकाग्रचित्तसे 'ओम्' इस एकाक्षरका जपना मुक्तिका साधन कहा गया है।

१४. अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (यः) जो मुमुक्षु मनुष्य, (अनन्यचेताः) मुझे छोड़कर अन्य किसी वस्तुका ध्यान न करता हुआ, (सततम्) निरन्तर, (नित्यशः) प्रतिदिन, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (स्मरति) स्मरण करता है, (नित्ययुक्तस्य) सदा भगवद्धयानमें समाहित चित्तवाले, (तस्य) उस, (योगिनः) योगीके लिये, (अहम्) मैं, (सुलभः) मरणके समय बड़ी सरलतासे प्राप्त हो जाता हूँ ॥ १४॥

परिप्रयन्तं वय्यं सुषंसदं सोमं मनीषा अभ्यनूषत स्तुभः।
यो धारया मधुमाँ ऊर्मिणा दिव इयर्ति वाचं रयिषाळमर्त्यः॥
(ऋग्वेदः ९-६८-८)

(स्तुभः) ['छन्दः स्तुप्, रुद्रः' स्तोतृनामसु पाठः (निघण्टु ३-१६)] ब्रह्मकी स्तुति करनेवाले ब्रह्मज्ञानी पुरुष, (परिप्रयन्तम्) सब ओरसे प्रकर्षताको प्राप्त हुए, (वय्यम्) ज्ञानी पुरुषोंसे कामना करनेयोग्य, (सुषंसदम्) शोभन स्थानवाले अर्थात् मुक्तिधामवाले, (सोमम्) परमात्माकी, (मनीषा) मनको वशमें रखनेवाली एकाग्र बुद्धिसे, (अभ्यनूषत) स्तुति करते हैं। (रयिषाट्) अविद्याविलास संसारात्मक धनका ज्ञानद्वारा नाश करनेवाला, (अमर्त्यः) मृत्युधर्मसे रहित, (मधुमान्) मधुर ब्रह्मज्ञानवाला, (यः) जो पुरुष, (धारया) धाराप्रवाहवाले, (ऊर्मिणा) [ऊर्मिरूर्णोतेः, नौः प्रणेतव्या भवति नमतेर्वा (निरुक्त ५-२३)] नमस्कारसे, (दिवः) दिव्यस्वरूप प्रकाशमान परमात्माकी, (वाचम्) स्तुति करनेवाली वाणीको, (इयर्ति) चलाता है अर्थात् सदा ईश्वरको स्मरण करता रहता है।

तुलना—भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि सदा एकाग्रचित्तसे योगी पुरुष जब मेरा ध्यान करता है तब मैं उसे सरलतासे मिल जाता हूँ। वेदमें भी कहा गया है कि जो मनुष्य शुद्ध तथा मनको वश करनेवाली एकाग्र बुद्धिसे सर्वव्यापक, आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी स्तुति करता है वह ज्ञानी पुरुष परमात्माकी स्तुतिद्वारा ही परमात्माके स्थानको प्राप्त हो जाता है।

१५. मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

हे अर्जुन! (परमाम्) उत्कृष्ट, (संसिद्धिम्) सिद्धि अर्थात् जीवन्मुक्तिको, (गताः) प्राप्त हुए, (महात्मानः) महात्मा पुरुष, (माम्) मुझ सर्वेश्वर परमात्माको, (उपेत्य) प्राप्त होकर, (पुनः) फिर, (दुःखालयम्) नाना प्रकारके दुःखोंके घर, और, (अशाश्वतम्) चंचल तथा अव्यवस्थित, (जन्म) जन्म अर्थात् गर्भपीड़ाको, (न आप्नुवन्ति) नहीं प्राप्त होते, क्योंकि मेरे स्वरूपमें प्रवेश करनेसे फिर उनको किसी प्रकारका दुःख होना सम्भव नहीं है और संसारमें जन्म लेना दुःखका घर है अतः वे फिर लौटकर इस घोर दुःखसागरमें डूबने नहीं आते ॥ १५ ॥

ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रनीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप् ॥

(ऋग्वेदः ९-९६-१८)

(ऋषिमनाः) ऋषियोंकी भाँति मनवाला या ऋषियोंकी भाँति परमात्माका मनन करनेवाला, (ऋषिकृत्) ऋषियोंके कर्मोंके समान कर्म करनेवाला, या अपने आपको तत्त्वदर्शी बनानेवाला, (स्वर्षाः) शुभगुण तथा शुभ पदार्थोंको देखनेवाला, और, (सहस्रनीथः) [नीथः स्तुतिरुच्यते] सहस्रों प्रकारोंसे परमात्माकी स्तुति करनेवाला, (यः सोमः) जो मुमुक्षु पुरुष, (कवीनाम्) ज्ञानियोंके, (पदवीः) स्थान अर्थात् ज्ञानियोंमें शिरोमणि, (महिषः) पुरुषोंसे पूज्य होकर, (तृतीयं धाम) तीसरे धामको अर्थात् मुक्तिके स्थानको, (सिषासन्) सिद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ, (विराजम्) सर्वत्र विशेषतासे प्रकाशमान परमात्माकी, (ष्टुप्) स्तुति करता है, वह, (अनुराजति) परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता हुआ परमसिद्धिको प्राप्त होता है।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि भगवद्ध्यानकी सिद्धिको प्राप्त होकर मनुष्य फिर दुःखमय जन्मको नहीं प्राप्त करता। ऐसे पुरुष मुक्त हो

जाते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि ऋषियोंकी भाँति मनवाला और ऋषियों-के कर्मोंके समान कर्म करनेवाला ज्ञानी पुरुष परमात्माका भजन करता हुआ परमात्माके धामको प्राप्त हो जाता है।

१६. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (आब्रह्मभुवनात्) ब्रह्माके लोकतक, (लोकाः) भूलोक, भुवर्लोकादि सब लोक-लोकान्तरके निवासी, (पुनः आवर्तिनः) फिर इस संसारमें आकर जन्म लेनेवाले हैं। (कौन्तेय !) हे अर्जुन ! (तु) किन्तु, (माम्) मुझ परमात्माको, (उपेत्य) प्राप्त होकर, (पुनर्जन्म) फिर किसी लोकमें कोई जन्म, (न विद्यते) नहीं पाते अर्थात् मेरा ध्यान एवं मेरा यजन करनेवाले मुक्त हो जाते हैं, संसारमें फिर जन्म नहीं लेते॥१६॥

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा।
यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
(अथर्ववेदः ६-७५-२)

(वृत्रहा) त्रिविध पापोंका नाश करनेवाला, (इन्द्रः) परमात्मा, (परमां परावतम्) ब्रह्मादि लोकोंसे अत्यन्त दूर, (तम्) उस अपने परम-धामको, (नुदतु) मुझे प्रदान करे, (यः) जिस परमधामसे मुक्त प्राणी, (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) बहुत काल अर्थात् कल्प-कल्पान्तर व्यतीत होनेपर भी, (न पुनः आयति) फिर इस संसारमें जन्म ग्रहण करनेके लिये नहीं आता।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे॥
(अथर्ववेदः ६-५५-१)

(देवयानाः) बुद्धिमानोंसे चलनेयोग्य, (ये) जो, (बहवः) बहुत प्रकारवाले, (पन्थानः) भगवत्प्राप्तिके मार्ग या ब्रह्मादिलोक-प्राप्तिके उपाय, (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवीके, (अन्तरा) मध्यमें, (संचरन्ति) विद्यमान होकर चल रहे हैं [भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेसे मनुष्य भिन्न-भिन्न ब्रह्मादि लोकोंको प्राप्त होते हैं], (तेषाम्) उन ब्रह्मादिलोकोंमें-से, (यतमः) जो भी लोक, (अज्यानिम्) जन्म-रहित अर्थात् नित्य, (वहाति) प्राणीको धारण करता है, (सर्वे देवाः) हे सबके प्रकाशक परमात्मन् !

(तस्मै) उस अविनश्वर लोकके लिये, (इह) इस जन्ममें ही, (मा) मुझ मुमुक्षु पुरुषको, (परिधत्त) सब प्रकारसे धारण कर।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
(श्वे. उ. १-१०-११)

उस भगवत्स्वरूपका ध्यान करनेसे, फिर उस परमतत्त्वमें मिल जानेसे परमतत्त्वकी भावनासे प्रारब्ध कर्मके अन्तमें अर्थात् मृत्युके समयमें संसारके सब सुख-दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। फिर परमज्योतिःस्वरूप परमात्माको ज्ञान और ध्यानद्वारा सब प्रकारसे जान लेनेपर सब प्रकारके बन्धनोंका नाश हो जाता है। सब प्रकारके क्लेशोंके क्षीण होनेपर प्राणीके जन्म-मरणका नाश हो जाता है अर्थात् फिर कभी उस प्राणीको संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता।

ते··तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।
(बृ. उ. ६-२-१५)

जो प्राणी ब्रह्मके लोकमें अर्थात् मुक्तिधाममें अत्यन्त दूर जाकर निवास करते हैं उनकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् वे फिर जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं आते। व्यासजीने भी वेदान्त-सूत्रमें कहा है कि 'अनावृत्ति शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' अर्थात् मुक्तिधामसे लौटकर फिर नहीं आता, फिर नहीं आता।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि ब्रह्माके लोकतक जाकर भी प्राणी फिर इस संसारमें आकर जन्म ग्रहण करता है परन्तु परमात्माके धामको पाकर फिर इस संसारमें नहीं आता। वेद और उपनिषदोंमें भी यही कहा गया है कि सब लोक-लोकान्तरोंसे लौटकर प्राणीको इस संसारमें जन्म लेना पड़ता है परन्तु परमात्माके धामको प्राप्त होकर प्राणी इस संसारमें पुनः जन्म नहीं लेता।

१७. **सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।**
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

१८. **अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।**
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

जो पुरुष, (सहस्रयुगपर्यन्तम्) सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग इन चारों युगोंके एक सहस्र बार व्यतीत होनेतक, (ब्रह्मणः) पितामह ब्रह्माजी-

के, (यत्) जिस, (अहः) एक दिनको, और, (युगसहस्रान्ताम्) एक सहस्र चतुर्युगीके अन्ततक, (रात्रिम्) ब्रह्माजीकी रात्रिको, (विदुः) जानते हैं, (ते) वे, (जनाः) लोग, (अहोरात्रविदः) ब्रह्माके दिन और रात्रिके जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

(अहरागमे) ब्रह्माजीका दिन आनेपर अर्थात् ब्रह्माजीके जागनेपर, (अव्यक्तात्) अव्यक्त रूप अर्थात् सूक्ष्म स्वरूपसे, (सर्वाः) सब, (व्यक्तयः) स्थावर और जंगम पदार्थ, (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं, और, (रात्र्यागमे) ब्रह्माकी रात्रि आनेपर, (तत्र एव) उसी, (अव्यक्तसंज्ञके) अव्यक्त नामवाले अर्थात् कारणस्वरूपमें, (प्रलीयन्ते) भली-भाँति लीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥

(अथर्ववेदः १३-२-३८)

(अस्य) इस, (हरेः) पापोंको दूर करनेवाले, (हंसस्य) सब पदार्थोंमें गतिशील या हंसकी सवारी करनेवाले ब्रह्माजीके, (पक्षौ) दिन और रात्रि, गति करनेवाले दोनों पक्ष, (सहस्राह्ण्यम्) एक सहस्र चतुर्युगीके एक दिन और एक सहस्र चतुर्युगीकी एक रात्रितक, (वियतौ) विशेष नियमसे फैले हुए, (स्वर्गम्) विस्तृत आकाश भागमें, (पततः) चलते रहते हैं । (सः) वह हिरण्यगर्भ, (सर्वान्) सब, (देवान्) संसारमें प्रत्यक्ष होते हुए पदार्थोंको, (उरसि) अपनी अव्यक्तस्वरूप छातीमें, (उपदद्य) धारण करके, (विश्वा) सब, (भुवनानि) भुवनके पदार्थोंको, (संपश्यन्) भली-भाँति देखता हुआ, (याति) चलता है ।

उपनिषदोंमें कहा गया है—

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून् सृजते संहरत्यपि ।
जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥

(ब्रह्म उ. ४)

मकड़ी जैसे अपने मुँहसे जाल निकालकर घर बनाती है फिर भीतर समेट लेती है, इसी प्रकार जीव व्यक्त काल अर्थात् ब्रह्माका दिन होनेपर अव्यक्तसे व्यक्तमें आता है और अव्यक्त काल अर्थात् ब्रह्माकी रात्रि होनेपर व्यक्तसे अव्यक्तमें जाता है ।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
(मु. उ. १-१-७)

जैसे मकड़ी अपने मुखसे जालको उत्पन्न करती है और उसे फिर निगल जाती है, जैसे पृथिवीमें औषधियाँ निकलती हैं और जैसे मनुष्यके शरीरसे केश और लोम प्रकट होते हैं इसी प्रकार यह संसार उस अक्षर अर्थात् अव्यक्त-स्वरूप परमात्मासे उत्पन्न होता है और वहीं लीन हो जाता है।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
(श्वे. उ. ३-४)

जो परमात्मा रुद्रस्वरूप इन्द्रादि देवताओंकी उत्पत्तिका स्थान और वृद्धिका कारण है, जो सर्वज्ञ और चराचर जगत्का अधिपति है और जिसने सबसे पहले हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्माको उत्पन्न किया, वह परमात्मा हम लोगोंको शुभ बुद्धिसे भली प्रकार संयुक्त कर दे। तात्पर्य यह है कि सृष्टि ब्रह्मासे उत्पन्न होती है और ब्रह्मा अक्षर ब्रह्मसे उत्पन्न होता है इसलिए दोनों वचनोंमें विरोध नहीं है।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि एक सहस्र चतुर्युगीका ब्रह्माका एक दिन और एक सहस्र चतुर्युगीकी ब्रह्माकी एक रात्रि होती है। ब्रह्माके दिनमें अव्यक्तसे व्यक्त संसार उत्पन्न होता है और रात्रिमें उसी अव्यक्तमें लीन हो जाता है। वेदमें भी ब्रह्माके अहोरात्रका यही परिमाण बताते हुए कहा गया है कि हिरण्यगर्भ ब्रह्मसे उत्पन्न होता है। शेष संसार अव्यक्तसे उत्पन्न और उसीमें लय होता है। उपनिषदोंसे भी इसी सृष्टि-क्रमकी पुष्टि होती है।

१९. भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (सः एव) वही, (अयम्) यह, (भूतग्रामः) पाँच भूतोंकी रचनाका समूह, (भूत्वा भूत्वा) बार-बार उत्पन्न होकर, (रात्र्यागमे) ब्रह्माकी रात्रिके आनेपर, (प्रलीयते) अव्यक्त अर्थात् कारणस्वरूप हिरण्यगर्भमें लय हो जाता है, और, (अहरागमे) ब्रह्माका दिन आनेपर, (अवशः) पराधीन अर्थात् मायाके वशीभूत होनेके कारण, (प्रभवति) प्रकट हो जाता है ॥ १९ ॥

अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः।
इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥

(अथर्ववेदः ११-८-५-६)

(ऋतवः) वसन्त आदि समग्र ऋतुयें अर्थात् समय, (अथ) और, (धाता) ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ, (बृहस्पतिः) जीवात्मा, (इन्द्राग्नी) इन्द्र, अग्नि, और, (अश्विना) दिन-रात [मतान्तरसे सूर्य-चन्द्रमा], (अजाताः आसन्) ब्राह्मी रात्रिके समय जब प्रकट नहीं हुए थे, (तर्हि) उस समय अर्थात् प्रलयकालमें, (ते) वे सब अपने-अपने कर्मोंके अधीन हुए, (कम्) किस या सुखस्वरूप, (ज्येष्ठम्) सबसे बड़े कारणमें, (उपासत) रहते थे। (तपः) ज्ञानमय तप, (च) और, (कर्म) पुण्य-पापात्मक सुख-दुःख फलोंको देनेवाले कर्म, (महति) बड़े, (अर्णवे) प्रलयकालात्मक समुद्रके, (अन्तः) भीतर, (आस्ताम्) रहते हैं अर्थात् ब्रह्माका दिन आनेपर, (तपः) परमात्माका सृष्टि-रचनात्मक इच्छा-मय तप, (कर्मणः) कल्पान्तरमें प्राणियोंसे किये हुए और फल देनेके लिए तैयार हुए कर्मसे, (जज्ञे) संसारमें प्रकट हुआ, इसलिए, (ते) वे सब प्राणी और अप्राणी, (तत्) उस, (ज्येष्ठम्) सृष्टिके कारणभूत सबसे बड़े परमात्माके अव्यक्तस्वरूपमें, (ह उपासत) वास करते हैं।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत।

(कठ उ. २-४-७)

इन पाँच भूतोंसे जो रचनाएँ प्रकट होती हैं वे सब हिरण्यगर्भरूप गुफामें प्रवेश करके स्थिर रहती हैं अर्थात् जहाँसे प्रकट होती हैं वहाँ ही लय होकर सूक्ष्म रूपसे निवास करती हैं।

तुलना—भगवद्गीताके अनुसार यह समग्र संसार और संसारके पदार्थ ब्राह्म दिनमें अव्यक्तसे प्रकट होते हैं और ब्राह्मी रात्रिमें अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं। वेद और उपनिषद्से भी यही भाव स्पष्ट होता है कि सब वस्तुएँ ज्येष्ठब्रह्मसे निकलती हैं और ज्येष्ठब्रह्ममें लय हो जाती हैं।

२०. **परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।**
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

(तस्मात्) उस, (अव्यक्तात्) अव्यक्तसे, (परः) परे अर्थात् भिन्न, (अन्यः) एक दूसरा, (अव्यक्तः) अव्यक्त है, (सनातनः) सदासे है और सदा रहनेवाला है, (यः) जो, (भावः) सत्तारूप है, (सः) वह हिरण्य-गर्भका भी कारण अव्यक्तस्वरूप परमात्मा, (सर्वेषु) सब, (भूतेषु) उत्पन्न होनेवाले पदार्थमात्रके, (नश्यत्सु) नाश होनेपर भी, (न विनश्यति) नहीं नष्ट होता ॥ २० ॥

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥

(अथर्ववेदः १०-७-३१)

मुमुक्षु पुरुष, (सूर्यात् पुरा) सूर्यसे पहले, और, (उषसः पुरा) उषः-कालसे भी पहले, (नाम) प्रणाम करनेयोग्य परमात्माके नामको, (नाम्ना) ओम् नामसे, (जोहवीति) अतिशयतासे आह्वान करता है अर्थात् परमात्माके यशका गान करता है । (यत्) जो, (प्रथमम्) सबसे पहले ही, (संबभूव) विद्यमान था, वह परमात्मा, (अजः) अजन्मा अर्थात् कारणरहित है । (ह) यह बात सिद्ध है कि, (सः) वह परमात्मा, अव्यक्तस्वरूप हिरण्यगर्भसे दूसरा, (तत् स्वराज्यम्) अपने ही स्वरूपसे स्वयं प्रकाशमान उस स्वरूपको, (इयाय) प्राप्त हुआ है। (यस्मात्) हिरण्यगर्भसे परे जिस अव्यक्त अर्थात् अनादि-स्वरूप परमात्मासे, (अन्यत्) भिन्न, (परम्) दूसरा या श्रेष्ठ, (भूतम्) कोई भी पदार्थ, (न अस्ति) नहीं है ।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि ब्रह्मा अर्थात् अव्यक्त नामवाले हिरण्यगर्भसे परे अव्यक्तस्वरूप पदार्थ ओङ्कार-स्वरूप है जो कि नित्य और सर्वव्यापक है । सब पदार्थोंके नाशवान् होनेपर भी वह अविनाशी है, जिसे पर-ब्रह्म कहते हैं । वेदमें भी कहा गया है कि यह मुमुक्षु पुरुष उस परमात्माके नामको ओङ्कारके नामसे स्मरण करता है जो हिरण्यगर्भसे परे, सबसे श्रेष्ठ और नित्य है ।

२१. अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(अव्यक्तः) अव्यक्त भाव ही, (अक्षरः इति उक्तः) वेदोंमें अक्षर, नाश-रहित कहा गया है, (तम्) उसी अव्यक्तको, (परमाम्) अत्युत्तम, (गतिम्)

गति अर्थात् प्राप्तिका स्थान, (आहुः) कहते हैं। (यम्) मनुष्य जिस स्थान-को, (प्राप्य) पाकर, (न निवर्तन्ते) फिर नहीं लौटते अर्थात् इस संसारमें जन्म नहीं लेते, (तत्) वही, (मम) मेरा, (परमम्) सबसे श्रेष्ठ, (धाम) स्थान अर्थात् परम विष्णुपद है ॥ २१ ॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥

(ऋग्वेदः १-२२-२०)

(सूरयः) ज्ञानी पुरुष, (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्माके, (तत्) उस प्रसिद्ध अक्षर नामवाले, (परमम्) अत्युत्तम, (पदम्) पदको अर्थात् अत्युत्तम धामको, (दिवि) द्युलोकमें, (चक्षुः इव आततम्) फैले हुए चक्षु-रूपी सूर्यके समान, (सदा) सर्वदा, (पश्यन्ति) देखते हैं। जैसे सूर्यमण्डल सर्वत्र प्रकाश करता है और स्वयं प्रकाशस्वरूप है ऐसे परमात्माका वह परम-धाम भी प्रकाशस्वरूप है।

उपनिषदोंका कथन है—

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥

(कठ उ. २-६-८)

वह जो अव्यक्तस्वरूप ब्रह्मा है उससे भी परे वह महापुरुष परमात्मा है जो सर्वत्र व्यापक और प्राकृत मन, चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रहित है या जिसे चक्षुआदि इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं। उसी परब्रह्मको जानकर मनुष्य इस जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाता है और भगवान्के परमधामको प्राप्त हो जाता है।

अन्यदेव हि तद्विदितात्। (केन उ. १-३)

जितनी वस्तुएँ आजतक विदित हुई हैं वह उन सबसे न्यारा है।

तुलना—भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि हिरण्यगर्भसे ऊपर अव्यक्तको अक्षर ब्रह्म तथा परम गति भी कहा जाता है। वह ऐसा परमधाम है जिसमें पहुँचकर मनुष्य फिर नहीं आता। उपनिषद् और वेदमें भी बताया गया है कि ज्ञानी पुरुष सर्वव्यापक परमात्माके मुक्तिधामको पाते हैं जो परम-ज्योतिःस्वरूप है।

२२. पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (भूतानि) पृथिव्यादि सब स्थावर और जंगम पदार्थ, (यस्य) जिस परमपुरुषके धामके या जिस पुरुषोत्तमके, (अन्तः-स्थानि) भीतर स्थित हैं, और, (येन) जिससे, (इदम्) यह, (सर्वम्) सब जगत्, (ततम्) व्याप्त है, (सः) वह, (परः) सबसे दूर और सबसे श्रेष्ठ, (पुरुषः) पुरुष अर्थात् सब शरीरोंमें शयन करनेवाला, (अनन्यया) एकाश्रयवाली, (भक्त्या) भक्तिसे, (लभ्यः) प्राप्त होनेयोग्य है ॥ २२ ॥

अर्चा शक्राय शाकिने शचीवते शृण्वन्तमिन्द्रं महयन्नभि ष्टुहि ।
यो धृष्णुना शवसा रोदसी उभे वृषा वृषत्वा वृषभो न्यृञ्जते ॥
(ऋग्वेदः १-५४-२)

हे जीवात्मन् ! तू, (शक्राय) पूर्ण शक्तिमान्, (शचीवते) ज्ञानस्वरूप, (शाकिने) कर्तुम्–अकर्तुम्–अन्यथाकर्तुम् समर्थ प्रभुकी, (अर्चाम्) कायिक, वाचिक और मानसिक पूजा कर, और, (शृण्वन्तम्) स्तुतिको सुननेवाले, (इन्द्रम्) परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्माके, (महयन्) महत्त्वको श्रद्धा-भक्तिसे गाता हुआ या पूजता हुआ, (अभि ष्टुहि=स्तुहि) स्तुति कर, (यः वृषा) जो समर्थ परमात्मा, (धृष्णुना) सब दुष्टोंके दबानेवाले, (शवसा) बलसे, (उभे) दोनों, (रोदसी) पृथिवी और आकाशको, (न्यृञ्जते) अपने वशमें अर्थात् अपने भीतर रखता है, जैसे, (वृषभः) बलवान् पुरुष, (वृषत्वा) अपने बलसे सब निर्बलोंको अपने वशमें रखता है ।

उपनिषदोंमें कहा गया है—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
(मु. उ. २-२-५)

जिस परमात्मामें द्यौलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष लोक, प्राणियों और सब इन्द्रियोंके साथ मन ओत-प्रोत है ।

सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः ।
(बृ. उ. ४-४-२२)

वह प्रभु सबको अपने वशमें रखनेवाला, सबका स्वामी और सबका अधि-पति है ।

तुलना—भगवद्गीताके अनुसार वह परम पुरुषोत्तम अनन्य भक्तिद्वारा प्राप्त होता है जो सब पदार्थोंमें व्यापक है। उपनिषद् और वेदमें भी कहा गया है कि जो लोग द्यौ और पृथिवी दोनों लोकोंमें व्याप्त रहनेवाले, सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् प्रभुकी भक्तिसे स्तुति और पूजा करते हैं, भगवान् उनकी स्तुति सुनता है।

२३. यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

२४. अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

(भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (यत्र) जिस, (काले) कालमें, (तु) तो, (प्रयाताः) मृत्युको प्राप्त होनेवाले, (योगिनः) योगी लोग, (अनावृत्तिम्) पुनर्जन्मको न देनेवाली पदवीको, (च एव) और, (आवृत्तिम्) संसारमें फिर लौटकर आनेवाली पदवीको, (यान्ति) प्राप्त होते हैं, (तम्) उस, (कालम्) समयको अर्थात् कालाभिमानी देवतासे उपलक्षित मार्गको, (वक्ष्यामि) तुझसे कहूँगा ॥ २३ ॥

(अग्निः) अग्न्यभिमानी देवता, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप ज्योतिः-अभिमानी देवता, और, (अहः) दिनका अभिमानी देवता, (शुक्लः) शुक्ल-पक्षका अभिमानी देवता, (षण्मासाः उत्तरायणम्) षण्मासोत्तरायणाभिमानी देवता अर्थात् उत्तरायण, (तत्र प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः) मृत्युके अनन्तर इन मार्गोंसे होकर जानेवाले ब्रह्मज्ञानी पुरुष, (ब्रह्म) परमात्माको, (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥
(अथर्ववेदः ४-१४-३)

(अहम्) परमात्म-चिन्तन करनेवाला मैं ब्रह्मज्ञानी, (पृथिव्याः) इस मनुष्यलोकसे अग्निद्वारा पार्थिव शरीरको छोड़कर, (अन्तरिक्षम्) समग्र ज्योतियोंके आश्रयभूत आकाशपर, (उदारुहम्) ऊर्ध्वक्रमसे चढ़ता हूँ। (अन्तरिक्षात्) फिर अन्तरिक्षसे, (दिवम्) प्रकाशमान सूर्यको, (आरुहम्) प्राप्त होता हूँ। (दिवः) प्रकाशमान, (नाकस्य) सुखनिमित्त सूर्यके, (पृष्ठात्) पृष्ठसे, (अहम्) मैं, यथाक्रम ऊपर जाता हुआ, (स्वः) सुख-

मय, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप परमात्माको, (अगाम्) प्राप्त होता हूँ, जिस मार्गसे फिर संसारमें कोई लौटकर नहीं आता ।

उपनिषद्में कहा गया है—

> **तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते**
> **तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण-**
> **पक्षमापूर्यमाणपक्षात् यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान् ॥ १ ॥**
> **मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्या-**
> **च्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः**
> **स एनान् ब्रह्म गमयति एष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥**
> (छा. उ. ५-१०-१–२)

ये जो पञ्चाग्नि विद्या जाननेवाले पुरुष पञ्चाग्नि विद्याको इस प्रकार जानते हैं और जो ये संसारसे विरक्त होकर वनमें अर्थात् एकान्तस्थानमें श्रद्धा अर्थात् भक्तियोग और तप अर्थात् ज्ञानयोगकी उपासना करते हैं, वे मृत्युके समय अर्चिको अर्थात् अग्निको प्राप्त होते हैं, फिर अर्चिसे दिनाभिमानी देवता अर्थात् सूर्यको, फिर शुक्लपक्षाभिमानी देवताको, फिर उससे षण्मासोत्तरायणाभिमानी देवताको, फिर उत्तरायणके महीनोंसे चढ़ते-चढ़ते संवत्सरको अर्थात् विराट्की रचनाको, फिर आदित्यलोकको, फिर आदित्यलोकसे चन्द्रलोकको, फिर चन्द्रलोकसे बिजली अर्थात् शीघ्रगतिको प्राप्त होते हैं। वहाँसे ब्रह्मका मानसपुरुष ब्रह्मलोकको ले जाता है। यही देवयान मार्ग कहलाता है।

तुलना—गीतामें जैसे क्रममुक्तिका वर्णन है, वैसे वेद तथा उपनिषद्में भी क्रममुक्तिका प्रतिपादन किया गया है।

२५. धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

(धूमः) अन्धकारमय मार्ग या अज्ञानमय मार्ग या धूमाभिमानी देवता, (रात्रिः) घोर अन्धकार, रात्रि अथवा दुःसङ्गति या रात्र्यभिमानी देवता, (कृष्णः) तमोगुण अथवा कृष्णपक्षाभिमानी देवता, (तथा) और, (षण्मासा दक्षिणायनम्) छह मास दक्षिणायनाभिमानी देवता, (तत्र) इन मार्गोंमें जानेवाला, (योगी) कर्मयोगी, (चान्द्रमसं ज्योतिः) चन्द्रमाकी शीतल और सुहावनी किरणोंसे शोभायमान स्वर्गलोकके सुखको, (प्राप्य) पाकर अर्थात् कर्मानुसार स्वर्गके सुखको भोगकर, (निवर्तते) फिर संसारमें जन्म-मरणके बन्धनमें लौट आता है ॥ २५ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्‌घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

(ऋग्वेदः १-१६४-४७)

(कृष्णम्) कृष्णपक्ष, (नियानम्) रात्रि, (अपः) धूममय कर्म, (हरयः) दिनको छोटा करनेवाले दक्षिणायनके छह महीने इत्यादिमें, (वसानाः) वास करते हुए प्राणी, और, (सुपर्णाः) इष्टापूर्तादि कर्मोंमें पड़े हुए कर्मयोगी, (दिवम्) द्युलोकमें रहनेवाली चन्द्रमासम्बन्धी ज्योतिको, (उत्पतन्ति) चढ़ जाते हैं। (ते) वे कर्मयोगी, (ऋतस्य) कर्मफलके, (सदनात्) स्थान चन्द्रमण्डलसे, (आववृत्रन्) नीचे संसारमें लौट आते हैं, (आत् इत्) इसके अनन्तर ही, (घृतेन) कर्मयोगियोंके कर्ममय जलसे, (पृथिवी) पृथिवी लोकमें उत्पन्न हुआ शरीर, (व्युद्यते) विविध प्रकारसे गीला होता है अर्थात् जन्म-मरणरूपी जलसे सींचा जाता है ।

उपनिषद्‌का मत है—

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासाँस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते।

(छा. उ. ५-१०-३—५)

जो इष्टापूर्त दत्तादि कर्मोंको करते हैं वे मृत्युके समय पहले धूमको प्राप्त करते हैं, धूमसे रात्रिको, रात्रिसे कृष्णपक्षको, कृष्णपक्षसे छह महीने दक्षिणायन मार्गको, फिर संवत्सरके अभिमानी देवताको प्राप्त करते हैं। उपनिषद्-प्रमाणसे संवत्सर देवयान और पितृयान दोनों मार्गोंके मध्यमें आता है। संवत्सरको पाकर देवयान मार्गवाले देवयान मार्गको चले जाते हैं और पितृयान मार्गवाले पितृलोकको, फिर पितृलोकसे आकाशको, आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं, जहाँ अमृतके समान सुखकी सामग्री है, जिसे सोमराजा भी कहते हैं, जो देवताओंका अन्न है अर्थात् जिसे देवगण भक्षण करते हैं या भक्षणसे भोगनेका तात्पर्य है क्योंकि उपनिषद् और वेदादिमें अन्नभक्षणका तात्पर्य अन्न भोगनेसे है। वहाँ देवताओंके साथ क्रीडा करते हुए जबतक कर्मका क्षय नहीं होता तबतक प्राणी वहाँ निवास करके फिर उसी मार्गसे आकाशको लौट आते हैं। आकाशसे वायुमें, वायुसे धूममें,

धूमसे बादलमें, बादलसे जल होकर अन्नमें, फिर अन्नद्वारा मनुष्यके वीर्यमें, वीर्यद्वारा गर्भमें, फिर गर्भद्वारा संसारमें। इस प्रकार इन जीवोंकी पुनरावृत्ति होती है।

तुलना—गीतामें कर्म-बन्धनका वर्णन जिस प्रकार किया गया है, उपनिषद् और वेदमें भी कृष्णपक्ष, रात्रि आदिका उल्लेख करते हुए उसी प्रकारका उत्तम वर्णन किया गया है।

२६. शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

हे अर्जुन! (जगतः) इस संसारके, (शुक्लकृष्णे) शुक्ल अर्थात् प्रकाशमय देवयान तथा कृष्ण अर्थात् अन्धकारमय पितृयान, (एते हि) यही दोनों, (गती) मार्ग, (शाश्वते मते) श्रुति-स्मृति-द्वारा अनादि माने गये हैं। (एकया) इनमें एकसे, (अनावृत्तिम्) मोक्ष, (याति) प्राप्त होता है, और, (अन्यया) दूसरे मार्गसे, (पुनः) फिर, (आवर्तते) जन्म-मरणका बन्धन प्राप्त होता है॥ २६॥

नाना चक्राते यम्या वपूंषि तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्।
श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥

(ऋग्वेदः ३-५५-११)

(यम्या) यमरूप अर्थात् जोड़ा—दिन और रात या ज्ञानगति और कर्मगति ये दो गतियाँ, (नाना) बहुत प्रकारके, (वपूंषि) शुक्ल और कृष्णादि या ज्ञानस्वरूप और कर्मस्वरूप, मुक्ति और पुनरावृत्तिवाले स्वरूपोंको, (चक्राते) उत्पन्न करती हैं। उन दोनोंमें-से एक, (श्यावी) कृष्णस्वरूप अर्थात् पितृगति, (च) और दूसरी, (अरुषी) शुक्लतासे प्रकाशमान अर्थात् ज्ञानसे प्रकाशित है, (यत्) जो, (स्वसारौ) एक दूसरेके साथ-साथ चलनेवाली हैं। (तयोः) उन दोनों गतियोंमें-से, (अन्यत्) एक, (कृष्णम्) संसारमें जन्म-मरणको प्राप्त करानेवाली तमः अर्थात् अन्धकारस्वरूप गति है, जिसे पितृयान कहते हैं, (च) और, (अन्यत्) दूसरी गति ज्ञानस्वरूप अर्थात् शुक्लगति, (रोचते) प्रकाश होती है, जिसे देवयान कहते हैं, जिस गतिसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। फिर लौटकर संसारमें नहीं आता। वह शुक्लगति ही, (देवानाम्) प्रकाशमान ब्रह्मादिलोकोंके ऊपर, (महत्) सबसे बड़े और सबसे उत्तम, (एकम्) मुख्य, (असुरत्वम्) दुष्ट पापी पुरुषोंको अपनेसे दूर रखनेवाले पदको अर्थात् मुक्तिप्राणप्रदातृ पदको प्राप्त कराती है।

तुलना—भगवद्गीतामें शुक्ल और कृष्ण दो गतियाँ बताई गई हैं। कृष्ण-गतिसे संसारमें पुनरावृति और शुक्लसे मुक्ति प्राप्त होती है। वेदमें भी साथ चलनेवाली दो गतियोंका वर्णन है—एक कृष्णगति, दूसरी प्रकाशमान शुक्लगति। शुक्लगति सबसे उत्तम पदवी अर्थात् मुक्तिको देनेवाली कही गई है।

२७. नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (एते) इन दोनों, (सृती) मार्गों अर्थात् देवयान और पितृयान मार्गोंको, (जानन्) जानता हुआ, (कश्चन) कोई, (योगी) योगी, (न मुह्यति) मोहको प्राप्त नहीं होता। (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (तस्मात्) इसलिये तू, (सर्वेषु) सब, (कालेषु) समय अर्थात् तीनों कालोंमें या दिन-रात, (योगयुक्तः) ज्ञानयोगसे संयुक्त अर्थात् समाहितचित्त, (भव) हो जा, तू पितृयान मार्गसे बचकर देवयान मार्गकी ओर जानेका प्रयत्न कर॥ २७॥

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥

(ऋग्वेदः १०-८८-१५)

(अहम्) मुमुक्षुयोगी मैंने, (देवानाम्) ज्ञानसे प्रकाशमान, (पितॄणाम्) शास्त्रके अनुसार अपने नियमोंको पालन करनेवाले ज्ञानयोगियों, (उत) और, (मर्त्यानाम्) मृत्युके धर्मवाले अर्थात् अपने-अपने कर्मानुसार कर्म-फलोंको भोगते हुए कर्मयोगी मनुष्योंके, (द्वे) दो, (स्रुती) मार्ग अर्थात् शुक्ल और कृष्ण गतिवाले देवयान और पितृयान दो मार्ग, (अशृणवम्) सुने हैं, (यत्) जोकि, (इदम्) यह, (पितरम्) पितृस्वरूप अर्थात् द्युलोक, (च) और, (मातरम्) मातृलोक अर्थात् पृथिवीके, (अन्तरा) मध्य है। (इदम्) ये, (विश्वम्) संसारके जीव, (ताभ्याम्) उन दोनों देवयान और पितृयान मार्गोंसे, (एजत्) जाते हुए, (समेति) कृष्ण और शुक्लगतिके अनुसार संसारमें जन्म ग्रहण करते और मुक्तिको प्राप्त होते हैं।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि सर्वदा योग-समाधिस्थ हुआ पुरुष दोनों मार्गों अर्थात् देवयान और पितृयान मार्गोंके फलका ज्ञान रखनेसे संसारमें मोहित नहीं होता। इसलिये मनुष्यको ज्ञानयोगद्वारा देवयान मार्गको प्राप्त करना चाहिए। वेदमें भी देवयान और पितृयान दो मार्ग बताते हुए कहा गया है कि उन दोनों मार्गोंमें-से प्रथमसे मुक्तिको तथा दूसरेसे संसारमें पुनरावृत्तिको प्राप्त होता है।

२८. वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ब्रह्माक्षरनिर्देशो नामाष्टमोऽध्यायः।

हे अर्जुन! (वेदेषु) अङ्गोंके साथ वेदोंके पढ़नेसे, (यज्ञेषु) अग्निष्टोमादि यज्ञोंके अनुष्ठानोंसे, (तपःसु) कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तपोंसे, (च) और, (दानेषु) गौ-सुवर्णादिका दान करनेसे, (एव) ही, (यत्) जो, (पुण्यफलम्) पुण्यका फल, (प्रदिष्टम्) वेदों और शास्त्रोंमें बताया गया है, (इदम्) इस देवयान और पितृयान मार्गोंके स्वरूपको, (विदित्वा) जानकर, (योगी) योगी, (तत्) उस, (सर्वम्) सम्पूर्ण फलको, (अत्येति) अतिक्रमण कर जाता है, और, (आद्यम्) जगत्के आदि स्थान, (परम्) सबसे उत्तम, (स्थानम् उपैति) धामको प्राप्त करता है॥ २८॥

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥

(यजुर्वेदः १७-६८)

(ये) जो कर्मयोगी, (विश्वतो धारम्) आहुति, दक्षिणा और अन्न, यज्ञकी इन तीनों धाराओंवाले या सब प्रकारसे लोगोंको धारण करनेवाले, (यज्ञम्) भिन्न-भिन्न पुण्योंका फल देनेवाले कर्मको, (वितेनिरे) विस्तृत करते हैं अर्थात् उनका अनुष्ठान करते हैं, (सुविद्वांसः) तथा जो ब्रह्मोपासक पूर्ण ब्रह्मज्ञानी ज्ञानयोगी, (अन्तः) परब्रह्म परमात्माको अनन्य भक्तिसे प्राप्त होते हुए, (स्वः) स्वर्ग और ब्रह्मादि दूसरे लोकोंकी अर्थात् स्वर्गादि लोकोंके सुखकी, (न अपेक्षन्ते) अभिलाषा नहीं करते, वे, (रोदसी) जरा, मृत्यु और शोकादिको रुलानेवाली, (द्याम्) दिव्य गतिको, (आ रोहन्ति) प्राप्त हो जाते हैं।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें कहा गया है कि जो व्यक्ति यज्ञ-दान आदि सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी उनके पुण्यकी अपेक्षा नहीं रखता तथा देव-पितृयान मार्गोंका स्वरूप जानता है, वह मृत्युके अनन्तर उस धामको प्राप्त करता है जहाँसे आकर फिर संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका सप्तम अध्याय समाप्त।

नवम अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

१. इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

२. राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—हे अर्जुन! (इदम्) यह, (गुह्यतमम्) अत्यन्त छिपा हुआ, (विज्ञानसहितम्) अनुभवज्ञानके साथ, (ज्ञानम्) परमात्माके स्वरूपका ज्ञान, (तु) तो, (अनसूयवे) किसीके साथ असूया न करनेवाले, (ते) तुझ अर्जुनसे, (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा, (यत्) जिसको, (ज्ञात्वा) जानकर, (अशुभात्) पापसे अथवा संसारबन्धनसे, (मोक्ष्यसे) मुक्त हो जावेगा॥ १॥

हे अर्जुन! (इदम्) यह ज्ञान, (उत्तमम्) अत्यन्त श्रेष्ठ, (पवित्रम्) परमपवित्र, (राजगुह्यम्) अतिगुह्य, (राजविद्या) सब विद्याओंमें राजारूप, श्रेष्ठ, (प्रत्यक्षावगमम्) प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त होनेयोग्य, (सुसुखम् कर्तुम्) अत्यन्त सुखसे अर्थात् आसानीसे करनेयोग्य, (धर्म्यम्) धर्मके अनुकूल, और, (अव्ययम्) कभी विकृत न होनेवाला है॥ २॥

गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्स्वपीवृतं मायिनं क्षियन्तम्।
उतो अपो द्यां तस्तभ्वांसमहन्नहिं शूर वीर्येण॥

(ऋग्वेदः २-११-५)

(शूरः) [शूरः शवतेर्गतिकर्मणः, निरुक्त ४-१३] हे शूर, एक देहसे दूसरे देहतक गति करनेवाले जीवात्मा! क्योंकि, (वीर्येण) अपने ज्ञानात्मक वीर्यसे, (द्याम्) ज्योतिःस्वरूप परमात्माके स्वरूपको, (तस्तभ्वांसम्) स्तम्भित करनेवाले अर्थात् परमात्माके स्वरूपके दर्शनका प्रतिबन्ध करनेवाले, (अहिम्) संसार-बन्धनात्मक पापको, (अहन्) नष्ट करता है, इसलिए, (गुहा हितम्) बुद्धिमें धारण किये हुए, (गुह्यम्) छिपानेयोग्य, (गूळ्हम्) अत्यन्त छिपे हुए विज्ञानके साथ ज्ञानको, (अप्सु) अत्यन्त भक्तिवाले कर्मोंमें, (अपीवृतम्) अतिशयतासे तिरोहित हुए, (मायिनम्) मायाको अपने वशमें

रखनेवाले परमात्मा, (उतो) तथा, (क्षियन्तम्) अपने भीतर वास करनेवाले ज्ञानकी तू, (अपः) रक्षा कर, या मैं परमात्मा तुझे विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश देता हूँ।

विज्ञानका स्वरूप कूर्मपुराणमें बताया गया है—

चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः।
विज्ञानमितरं विद्याद् येन धर्मो विवर्द्धते॥

(उत्त. १५-३२)

चौदह विद्याओंका यथार्थ स्वरूपसे धारण करना ज्ञान है परन्तु विज्ञान वह है जिससे धर्म वृद्धिको प्राप्त होता है।

उपनिषद्में कहा गया है—

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते॥

(तै. उ. २-५)

विज्ञान अर्थात् यथार्थानुभव ज्ञानको और वेदके कर्मानुष्ठानको विस्तृत करता है। सब देवता विज्ञानस्वरूप ज्येष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुरा कल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥
यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वे. उ. ६-२२-२३)

यह ज्ञानविद्या अर्थात् आत्मविद्या अन्य सब गुप्त तत्त्वोंसे भी अत्यन्त गुप्त है जिसका कथन कल्पके आदिमें किया गया है। यह विद्या अशान्तात्मा, कुपुत्र और कुशिष्यको नहीं देनी चाहिये। जिस मनुष्यकी परमात्मामें तथा गुरुमें बड़ी श्रद्धा हो, ऐसे प्राणीको महात्मा पुरुष विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करते हैं।

तुलना—गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि मैं तुझे उस गुह्यातिगुह्य परम ज्ञानका उपदेश देता हूँ जो किसी असूयकको सुनानेयोग्य नहीं है, धर्मानुकूल है, अव्यय, पवित्र, और प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला है और जो सब विद्याओंका राजा है। उपनिषद् और वेदमें भी कहा गया है कि यह विज्ञान गुह्यातिगुह्य है। यह विज्ञान परमात्माके ध्यानमें बाधक पापका भी नाश करनेवाला है।

३. अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(परन्तप !) हे अर्जुन ! (अस्य) इस, (धर्मस्य) विज्ञानसहित ज्ञान-रूप धर्मका अनुष्ठान करनेमें, (अश्रद्दधानाः पुरुषाः) श्रद्धा न रखनेवाले नास्तिक पुरुष, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (अप्राप्य) न प्राप्त होकर, (मृत्युसंसारवर्त्मनि) मृत्युसे युक्त संसारके मार्गमें, (निवर्तन्ते) फिर लौट-कर आते हैं अर्थात् जन्ममरणके चक्रमें पड़े रहते हैं॥ ३ ॥

यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः।
स्वर्मदसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे॥

(अथर्ववेदः १९-५६-५)

(दुष्कृतः) धर्ममें श्रद्धा न रखते हुए अपने इच्छानुसार दुष्कर्म करने-वाले पुरुष, दुष्कर्मके, (क्रूर) बुरे फलको, (अभजन्त) प्राप्त होते हैं, और, (सुकृतः) श्रद्धासे विज्ञानसहित ज्ञानरूप धर्मका अनुष्ठान करनेवाले, (अस्वप्नेन) मोहात्मक निद्रासे रहित होनेके कारण, (पुण्यम्) पवित्र कर्म, (आयुः) आयुःपर्यन्त, (अभजन्त) करते हैं। हे अश्रद्धे ! जब तू, (तप्यमानस्य) ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेवाले, (मनसः अधि जज्ञिषे) मनपर अधिकार कर लेती है, तब, (परमेण) अत्यन्त, (बन्धुना) बन्धन करनेवाले स्वरूपसे, (स्वः) सुखस्वरूप स्वर्गको या अविच्छिन्न मुक्तिको, (मदसि) आच्छादित कर देती है।

कौषीतकि उपनिषद्में कहा गया है—

स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञौ
तावदेनमसुरा अभिबभूवुः।

(४-२०)

जबतक वह इन्द्र अर्थात् जीवात्मा अपने इस आत्माको नहीं जानता तबतक उसे असुर दबाते रहते हैं अर्थात् जबतक यह प्राणी इस ज्ञानका लाभ नहीं करता तबतक उसकी आसुरी बुद्धि उसको संसारबन्धनमें गिराती रहती है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञानमार्गमें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष अन्य कुमार्गोंमें लगकर जन्म-मरणके बन्धनमें फँसे रहते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो प्राणी क्रूर कर्म करते हैं वे संसारके बन्धनमें जकड़े रहते हैं क्योंकि अश्रद्धा मनकी स्वच्छता तथा मुक्ति-सुखको दबा लेती है।

४. मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

हे अर्जुन! (अव्यक्तमूर्तिना) इन्द्रियोंसे अग्राह्य सच्चिदानन्दरूप, (मया) मुझसे, (इदम्) यह, (सर्वम्) सम्पूर्ण, (जगत्) चर और अचर विश्व, (ततम्) व्याप्त है अर्थात् मेरा स्वरूप इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता इसलिये, (सर्वभूतानि) ब्रह्मासे लेकर तृणतक सारा चराचर, (मत्स्थानि) मुझमें स्थित है, (च) परन्तु, (अहम्) मैं, (तेषु) उन भूतोंमें, (न अवस्थितः) स्थित नहीं हूँ अर्थात् मैं महदव्यक्त स्वरूपसे सर्वत्र व्यापक हूँ परन्तु किसीके भीतर समानेयोग्य नहीं हूँ क्योंकि मैं असङ्ग हूँ, एकदेशी नहीं हूँ ॥ ४ ॥

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत् स आभवत्॥

(अथर्ववेदः ७-१-२)

(सः) वह परमात्मा, (पुत्रः)[पुत्रः पुरु त्रायते—निरुक्त २-११] आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंकी अनर्थरूप संसारसे रक्षा करनेवाला, संसाररक्षक, (पितरम्) सबके आवरणरूप द्युलोकको, (वेद) जानता है। (सः) वह परमात्मा, (मातरम्) पृथिवी[1] माताको, (वेद) जानता है। (सः) वह परमात्मा, (सूनुः) सारे जगत्के पदार्थोंको स्वकर्म करनेमें प्रेरणा करनेवाला, (भुवत्) होता है, (पुनः) फिर, (सः) वह परमात्मा ही, (मघः) कर्मका फल, (भुवत्) होता है, (सः) वह परमात्मा, (द्याम्) दैवी पुरुषोंसे प्राप्त होनेयोग्य द्युलोक, (अन्तरिक्षम्) आकाश, और, (स्वः) स्वर्गलोकादिको, (और्णोत्) व्याप्त करता है, (सः) वह परमात्मा, (इदम्) दृष्टिगोचर होता हुआ नाम-रूपात्मक, (विश्वम्) समग्र ब्रह्माण्ड, (अभवत्) है, अर्थात् विश्वरूपसे वही वास करता है, और, (सः) वह, (आभवत्) चारों ओर व्याप्त होकर रहता है।

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण (३-७-५-५) में माता शब्दका पृथिवी अर्थमें प्रयोग किया गया है—'द्यौः पिता पृथिवी माता।' ऋग्वेद (१०-८८-१५) में भी आया है—'ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च।'—क्योंकि द्यौ और पृथिवीके मध्यमें विश्वकी स्थिति है इसलिये इन दोनोंको माता और पिता शब्दसे व्यवहृत किया गया है।

तुलना—गीतामें भगवान्‌को सारे संसारमें ओत-प्रोत बताते हुए कहा गया है कि परमात्मा वस्तुओंमें व्याप्त होता हुआ भी उनके बन्धनमें नहीं आता अर्थात् उनसे सीमित नहीं है, अपितु समग्र चराचर जगत् उस परमात्मासे आवेष्टित है। वेदमें भी कहा गया है कि भगवान् सर्वव्यापक, अचिन्त्यरूप तथा सारे विश्वमें समाया हुआ है। क्योंकि परमात्मा परब्रह्म है इसलिए उन भूतोंमें सीमित नहीं है और भूतमात्र उनमें ही रहता है।

५. न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

हे अर्जुन ! (मे) मेरे, (ऐश्वरम्) ऐश्वर्ययुक्त अर्थात् असाधारण प्रभाववाले ईश्वरीय, (योगम्) योगकला अर्थात् अघटित घटनाके चातुर्य-को, (पश्य) देख, कि, (भूतानि) ये स्थावर और जङ्गम पदार्थ, (मत्स्थानि) मुझमें स्थित, (च) भी, (न) नहीं हैं, और फिर, (मम) मेरा, (आत्मा) सच्चिदानन्द स्वरूप, (भूतभावनः) पदार्थमात्रका उत्पादक या संवर्धक, तथा, (भूतभृत्) भूतमात्रको धारण करनेवाला है, (च) और, (भूतस्थः) सब पदार्थोंमें निवास करनेवाला, (न) नहीं है, अर्थात् न कोई मुझमें है और न मैं किसीमें हूँ, मैं तो असङ्ग ही हूँ॥५॥

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः॥

(अथर्ववेदः ६-३३-२)

हे जीवात्मन् ! वह अव्यक्तस्वरूप परमात्मा, (नाधृषे) किसी पदार्थसे नहीं दबाया जा सकता अर्थात् परमात्मा अपनेसे प्रकट किये हुए भूतोंके आश्रय-पर नहीं रहता, क्योंकि वह परमात्मा, (धृषाणः) दूसरोंको दबानेवाला अर्थात् दूसरोंको अपनेमें रखनेवाला होता हुआ, (धृषितः) दूसरोंके दबानेवाले, (शवः) बलको, (आदधृषते) दबा लेता है। (पुरा) सृष्टिके आदिमें, (व्यथिः) पापियोंको पीड़ित करनेवाले, (श्रवः) ['श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्' निरुक्त ४-२४] सबसे श्रेष्ठ, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् परमात्माके, (शवः) त्रैकालिक बलको, (नाधृषे) किसी भी प्रकारसे दूसरों द्वारा नहीं दबाया जा सका क्योंकि वह असङ्ग है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माकी अघटित घटनाकी कलासे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परमात्मामें भासता है परन्तु ब्रह्माण्डका एक तृण भी परमात्मा-

में नहीं है क्योंकि वह असङ्ग है। वेदमें भी परमात्माके बलको सबसे बड़ा बताते हुए कहा गया है कि वह सब पदार्थोंको दबा लेता है परन्तु उसे कोई नहीं दबा सकता क्योंकि वह असङ्ग है।

६. यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

हे अर्जुन! (यथा) जैसे, (सर्वत्रगः) सब दिशा-विदिशाओंमें जानेवाला, (महान्) बहुत बड़ा, (वायुः) पवन, (नित्यम्) सदा, (आकाशस्थितः) आकाशमें रहनेवाला है, (तथा) वैसे, (सर्वाणि) सब, (भूतानि) स्थावर और जङ्गम पदार्थ, (मत्स्थानि) मुझमें निःसङ्ग रूपसे वास करते हैं, (इति) ऐसा, (उपधारय) तू निश्चय कर॥ ६॥

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥

(अथर्ववेदः ४-२५-१)

गुरु शिष्यको उपदेश देता है—हे शिष्य! (सवितुः) जगत्को प्रकट करनेवालेके, (विदथानि) व्यापकता और निःसङ्गतादि जाननेयोग्य गुणोंको, (वायोः) सर्वत्र सदा विचरण करनेवाले वायुके गुणोंके समान, (मन्महे) हम ब्रह्मज्ञानी लोग मनन करते हैं, क्योंकि, (यौ) दोनों वायु और परमात्मा, (आत्मन्वत्) स्थावर और जङ्गम जगत्में, (विशथः) बड़े परिमाणवाले होकर भी प्रविष्ट हो जाते हैं, (च) और, (यौ) दोनों प्राणरूप तथा सर्वान्तर्यामी होकर, (रक्षथः) रक्षा करते हैं। (यौ) जो परमात्मा और वायु, (विश्वस्य) सारे संसारमें, (परिभू) सर्वत्र व्याप्त, (बभूवथुः) होकर रहते हैं [वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो—ऋग्वेदः), (तौ) वे दोनों वायु और परमात्मा, (अंहसः) मलिनतारूपी पापसे, (नः) हमें, (मुञ्चतम्) छुड़ावें अर्थात् बचावें।

तुलना—गीतामें जैसे वायुको सर्वव्यापक अर्थात् आकाशादि पदार्थोंमें विचरणशील बताया गया है वैसे ही परमात्माको भी सब वस्तुओंमें व्यापक कहा गया है। वेदमें भी वायुके दृष्टान्तद्वारा परमात्माको सर्वत्र व्यापक तथा पापसे छुड़ानेवाला कहा गया है।

७. सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

(कौन्तेय !) हे अर्जुन ! (कल्पक्षये) कल्पके विनाशकाल अर्थात् प्रलयकालमें, (सर्वभूतानि) सब स्थावर और जङ्गम पदार्थ, (मामिकाम्) मेरी, (प्रकृतिम्) अपरा प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका मायामें, (यान्ति) लय हो जाते हैं। (पुनः) फिर, (कल्पादौ) कल्पके आदिमें अर्थात् सृष्टिकालमें, (अहम्) सृष्टिकी इच्छा करनेवाला मैं परमात्मा, (तानि) उन सब स्थावर और जङ्गम पदार्थोंको, (विसृजामि) विविध प्रकारसे रचता हूँ॥ ७॥

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥

(ऋग्वेदः १०-८१-१)

(इमाः) इन, (विश्वा) सारे, (भुवनानि) स्थावर और जङ्गम पदार्थोंको, (जुह्वत्) कल्पके अन्तमें भक्षण कर जानेवाला या सबको अपनेमें लीन कर लेनेवाला, (नः) हम प्राणी और अप्राणी पदार्थोंका, (पिता) रक्षा और पालन करनेवाला, (यः) जो विश्वकर्मा, (ऋषिः) सबका द्रष्टा, और, (होता) सर्वज्ञ परमात्मा, (न्यसीदत्) स्वयं स्थित रहता है अर्थात् प्रलयकालमें सब लोकोंको अपनेमें संहृत कर लेता है और सृष्टिके आदिमें फिर उत्पन्न कर देता है, (सः) ऐसा वह परमेश्वर, (आशिषा) 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' ऐसी संसारके रचनेकी इच्छासे, (द्रविणम्) जगत्में जीवोंसे भोगनेयोग्य पदार्थोंको रचनेकी, (इच्छमानः) इच्छा करता हुआ, (प्रथमच्छद्) प्रथम और मुख्य अव्यक्त स्वरूपको आच्छादित करता हुआ, (अवरान्) दूसरे रचना किये हुए स्थावर-जङ्गम पदार्थोंमें, (आविवेश) प्रवेश कर जाता है, क्योंकि कहा गया है—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' अर्थात् परमात्मा उस संसारको रचकर उसमें ही प्रवेश कर गया।

तुलना—गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि सब पदार्थ कल्पके अन्तमें मुझमें लीन हो जाते हैं। कल्पके आदिमें फिर मैं अपने-अपने स्थानपर उनको स्थापित करता हूँ। वेदमें भी कहा गया है कि जो परमात्मा सारे जगत्को प्रलयकालमें भक्षण कर जाता है वही परमात्मा फिर सृष्टिके आदिमें सब पदार्थोंको रचकर उनमें प्रवेश कर जाता है।

८. **प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।**
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

हे अर्जुन ! मैं, (स्वाम्) अपनी, (प्रकृतिम्) त्रिगुणात्मिका मायाको, (अवष्टभ्य) अधीन करके, (प्रकृतेः) उस प्रकृतिके, (वशात्) अधीन होनेके

कारण, (अवशम्) परतन्त्र, स्व-स्व-कर्माधीन, (इमम्) इस, (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण, (भूतग्रामम्) स्थावर और जङ्गम पदार्थोंके समूहको, (पुनः पुनः) फिर-फिर, (विसृजामि) नाना प्रकारसे रचता हूँ अर्थात् संसारको पुनः-पुनः उत्पन्न करता हूँ और नष्ट करता हूँ ॥ ८॥

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि ।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥

(अथर्ववेदः ११-८-१)

हे जीवात्मन् ! (यत्) जब, (मन्युः) ['मन्युर्भगो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो विश्ववेदाः' (तै. ब्रा. २-४-९-११), 'मंन ज्ञाने' औणादिको युप्रत्ययः] सब कुछ माननेवाला आवरणरहित ज्ञानवाला परमात्मा, (सङ्कल्पस्य) 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' इस इच्छाके, (गृहात्) ग्रहण करनेकी सामर्थ्यसे, (जायाम्) [जायतेऽस्यां सर्वं जगत् इति जाया] सिसृक्षावस्थामें प्राप्त हुई भूम्यादि अष्टविध मूल प्रकृतिको, (आवहत्) अपने अधीन ही धारण करता है, जिसके द्वारा सृष्टिका आविर्भाव करता है, तब, (के जन्याः आसन्) प्रकृतिके स्तम्भनके समय कौन-कौन-सी वस्तुएँ सृष्टि उत्पन्न करनेवाली हुईं ? 'तपश्चैवास्तां कर्म' (अथर्ववेद ११-८-२) इस उक्तिसे पूर्वकल्पमें प्राणियोंके किये हुए कर्म ही सृष्टिकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। (के वराः) अपने-अपने देहोंसे कौन-कौन वरनेयोग्य हुए थे ! (कः उ ज्येष्ठवरः अभवत्) उस समय सबमें श्रेष्ठ और बड़ा कौन था ? अथर्ववेदमें आया है कि 'ब्रह्म ज्येष्टवरोऽभवत्'—सबमें अत्यन्त श्रेष्ठ और ज्येष्ठ ब्रह्म ही था।

तुलना—गीतामें प्रकृतिको परमात्माके अधीन बताते हुए कहा गया है कि भगवान् प्रकृति-द्वारा सृष्टि करते हैं। वे ही सृष्टिको बार-बार उत्पन्न करते और लय करते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा अपनी शक्तिद्वारा प्रकृतिको वशमें करके सृष्टिको बार-बार प्राणियोंके कर्मानुसार उत्पन्न करते हैं और लय करते हैं।

९. न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥

(धनञ्जय !) हे अर्जुन ! (उदासीनवत्) सब पदार्थोंसे उदासीनकी भाँति अर्थात् तटस्थके समान, (आसीनम्) चुपचाप अलग बैठे रहनेवाले, और, (तेषु) उन-उन, (कर्मसु) सृष्टिनिमित्तक कर्मोंमें, (असक्तम्) आसक्तिसे रहित, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (तानि कर्माणि च) वे सब कार्य अर्थात् भूतादिकी रचना,

पालन और संहारादि काम भी, (न निबध्नन्ति) बाधा नहीं करते अर्थात् बन्धन-के कारण नहीं होते ॥ ९ ॥

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँ रसनोदन्तरिक्षम् ।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोथाभवद्दमिताभिक्रतूनाम् ॥

(अथर्ववेदः २०-११-१०)

(इन्द्रः) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न परमात्माने पृथ्वीपर प्राणियोंको, (ओषधीः) तृण-गुल्म आदि पदार्थ, (अहानि) और दिन-रात, (असनोत्) दिए, (वनस्पतीन्) [यथाह यास्कः—तत्को वनस्पतिः । यूप इति कात्थक्यः । अग्निरिति शाकपूणिः । निरुक्त ८-१७] खदिर-पलाशादि वृक्ष या अग्नि, तथा, (अन्तरिक्षम्) आकाश, (असनोत्) दिए, वह परमात्मा, (बलम्) आत्मज्ञानकी प्रतिबन्धक शक्तिको, (बिभेद) काटता है, (विवाचः) भक्तिका प्रतिबन्ध करनेवाली विविध वाणियोंको, (नुनदे) भक्तोंकी रक्षाके लिये दूर करता है, या, (विवाचः) विविध प्रकारकी वेद-वाणियोंको, (नुनुदे) संसारके कल्याणके लिये प्रेरणा करता है, (अथ) और, (अभिक्रतूनाम्) सर्वदा युद्ध-कर्म करनेवालों अर्थात् बलवान् पुरुषोंको भी, (दमिता) दमन करनेवाला, (अभवत्) होता है अर्थात् परमात्मा सृष्ट्यादिकी रचना तथा प्रजाका हित करनेसे और अहितको दूर करनेसे सारी प्रजाका पालन और संहार करता है, उसमें आसक्ति नहीं रखता ।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि विवेकी पुरुषको स्वर्ग और नरक देनेवाले कर्म बन्धनमें नहीं डालते । विवेकी पुरुष सब कर्मोंके फलकी इच्छा न करता हुआ उदासीन-जैसा रहता है । वेदमें भी कहा गया है कि परमात्माने सब जीवोंके लिये सारे संसारको उत्पन्न किया किन्तु उसमें वास करता हुआ भी वह निर्लेप रहता है ।

१०. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (मया) मुझ, (अध्यक्षेण) स्वामीसे अर्थात् मुझ परमेश्वरकी आज्ञासे, (प्रकृतिः) मेरी त्रिगुणात्मिका माया या मेरी शक्ति, (सचराचरम्) जड़ और चेतन समग्र संसारको, (सूयते) उत्पन्न करती अर्थात् प्रकट करती है । (अनेन) इस, (हेतुना) कारण, (जगत्) यह चराचर संसार, (विपरिवर्तते) बार-बार उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे॥
(अथर्ववेदः ४-१-२)

(पित्र्या) जगत्का पालन करनेवाले परमपिता परमात्मासे प्रेरित, (इयम्) यह, (राष्ट्री) संसारमय राष्ट्रकी स्वामिनी प्रकृति अर्थात् परमात्माकी शक्ति, (भुवनेष्ठाः) परमात्मप्रदत्त सर्जन शक्तिसे चराचर जगत्में स्थित हुई, (प्रथमाय) प्रारम्भिक, (जनुषे) संसारके प्रकट करनेके लिये, (अग्रे) सृष्टिके आरम्भमें, (एतु) कार्यरूपताको प्राप्त होती है। (तस्मै) उस प्रकृतिके स्वामी, (प्रथमाय) अनादि अर्थात् सारे संसारमें प्रथम, स्व-स्वरूपसे स्थित, (धास्यवे) सारे जगत्के धारण और पोषण करनेवाले परमात्माको, (सुरुचम्) अत्यन्त रोचक, (ह्वारम्) मानसिक सद्विचारका आह्वान करनेवाले, (अह्यम्) हीनतासे रहित, (घर्मम्) पूजामय यज्ञ, (श्रीणन्तु) अर्पण करें।

तुलना—गीताके अनुसार प्रकृतिका स्वामी भगवान् प्रकृतिद्वारा चराचर जगत्को उत्पन्न कराता है इसलिये यह संसार बार-बार उत्पन्न होता है। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्मा संसारको उत्पन्न करनेके लिये प्रकृति या अपनी शक्तिको प्रेरित करता है जिससे सारा संसार बार-बार उत्पन्न होता और नष्ट होता है, अतः प्रत्येक जीवको उस परमात्माकी भक्ति करनी चाहिये।

११. अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
१२. मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

(मोहिनीम्) मोह द्वारा भ्रष्ट करनेवाले, (राक्षसीम्) हिंसादि करनेके निमित्त द्वेषमय, तामस, (च) और, (आसुरीम्) नाना प्रकारके भोग-विषयोंकी लालसा करनेवाले, (प्रकृतिम्) स्वभावको, (एव) ही, (श्रिताः) आश्रय करनेवाले अर्थात् धारण करनेवाले, (मोघाशाः) व्यर्थ आशा रखने-वाले, (मोघकर्माणः) व्यर्थ कर्मोंके करनेवाले, (मोघज्ञानाः) व्यर्थ ज्ञान रखनेवाले, तथा, (विचेतसः) सदसद्विवेकशक्तिसे रहित, (मूढाः) सांसारिक मोहग्रस्त मूढ पुरुष, (भूतमहेश्वरम्) सब भूतोंके महान् ईश्वर, (मम) मेरे, (परं भावम्) अत्यन्त श्रेष्ठ भावको अर्थात् मुझ परमेश्वरके निःसङ्गरूपको,

(अजानन्तः) न जानते हुए, (मानुषीम्) इस समय अर्थात् अवतारावस्थामें मनुष्य-सम्बन्धी, (तनुम्) शरीरको, (आश्रितम्) आश्रय करके मनुष्यवत् व्यवहार करनेवाले, (माम्) मुझ परमात्माका, (अवजानन्ति) अपमान करते हैं अर्थात् मूर्ख लोग मेरे इस कृष्णस्वरूपका अनादर करते हैं ॥११-१२॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥
(अथर्ववेदः ४-३०-४)

(श्रुत !) हे श्रवण करनेवाले जीवात्मन् ! (श्रुधि) मुझसे कहे जानेवाले वचनको सुन । (ते) तुझे, (श्रद्धेयम्) श्रद्धा रखनेयोग्य वचन, (वदामि) कहता हूँ । (यः) जो प्राणी, (पश्यति) सांसारिक पदार्थोंको देखता है अर्थात् जिस जीवमें देखनेकी शक्ति है, (यः) जो प्राणी, (प्राणति=प्राणिति) श्वास लेता है, (यः) जो प्राणी, (ईम्) इस वैदिक, (उक्तम्) वचन अर्थात् उपदेशको, (शृणोति) सुनता है, (मया) यह सब कुछ मेरे द्वारा अर्थात् मेरी शक्तिद्वारा करता है, (सः) वह प्राणी, (अन्नम्) अन्नको, (अत्ति) खाता है, (मया) वह भी मेरी कृपासे या मेरी शक्ति द्वारा खाता है । (माम्) मुझे इस प्रकार, (अमन्तवः) न माननेवाले, (ते) वे मूढ पुरुष, (उपक्षियन्ति) सर्वदा सब कार्योंमें विनाशको प्राप्त होते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माके परमतत्त्वको न जाननेवाले, सांसारिक कर्मोंमें संलग्न, व्यर्थ सांसारिक आशाओंको रखते हुए मूढ संसारके कल्याणके लिये अवतार रूपमें आए हुए परमात्माको मनुष्यवत् व्यवहार करता हुआ देखकर मनुष्य ही कहते हैं और उस अवतारका अनादर करते हैं । वेदमें भी कहा गया है कि जीवात्मा प्रभुकी दी हुई शक्ति द्वारा खाता-पीता, देखता-सुनता है, परन्तु आसुरी जीव उस परमात्माके स्वरूपको वैसा नहीं मानते और उस स्वरूपका अनादर करते हैं इसलिए वे क्षीण होते जाते हैं अर्थात् संसारमें पुनः पुनः उनका जन्म-मरण होता है ।

१३. महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

(पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (दैवीम्) शम-दमादियुक्त सात्त्विक ज्ञानमय, (प्रकृतिम्) स्वभावको, (आश्रिताः) आश्रय करते हुए, (अनन्यमनसः) मेरे अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुका ध्यान न करनेवाले अर्थात् मुझमें

एकाग्रचित्त हुए, (महात्मानः) महात्मा अर्थात् विवेकी पुरुष, (तु) तो, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (भूतादिम्) आकाशादि सब भूतोंका आदि कारण, और, (अव्ययम्) निर्विकार, (ज्ञात्वा) जानकर, (भजन्ति) भजते हैं ॥ १३ ॥

कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥

(ऋग्वेदः ८-३-१६)

(प्रियमेधासः) भगवत्प्रेमसे युक्त प्रिय बुद्धिवाले, (आयवः) [आयोरयनस्य मनुष्यस्य, निरुक्त १०-४१] मनुष्य, (कण्वा इव) भगवत्स्तुति करनेवाले या सब कामोंमें परमात्माके नामको लक्ष्य करके चलनेवाले या बाह्येन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर परमात्माका ध्यान करनेवाले मेधावी, (भृगवः) ज्ञानमय तपसे प्रकाशमान तेजस्वी पुरुषोंकी भाँति दैवी प्रकृतिमें रहते हुए, (सूर्याः इव) सूर्यके समान तेजस्वी प्राणी, (धीतम्) सबसे ध्यान करनेयोग्य, (विश्वम् इत्) समग्र विश्वमें व्याप्त परमात्माको, (आनशुः) प्राप्त करते हैं अर्थात् अनन्यमन होकर सर्वदा परमात्मामें लीन रहते हैं। ऐसा पुरुष, (इन्द्रम्) परमात्माको, (महयन्तः) पूजते हुए, (स्तोमेभिः) स्तोत्रोंसे अर्थात् स्तुतियों-से, (अस्वरन्) ईश्वरके यश और नामका गायन करते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि दैवी प्रकृतिमें वास करनेवाले पुरुष अनन्यमनसे उस परमात्माका भजन करते हैं जो अव्यय और सबका मूलकारण है। वेदमें भी कहा गया है कि भगवद्भक्ति करनेवाले, तपसे तेजस्वी, सूर्यके समान प्रकाशमान मेधावी पुरुष भगवद्भजन करते हुए मुक्तिको पाते हैं।

१४. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

हे अर्जुन! मेरे भक्त, (सततम्) सर्वदा, (माम्) मुझ परमात्माका, (कीर्तयन्तः) कीर्तन करते हुए, (यतन्तः) शमदमादि और अहिंसाका यत्न करते हुए, (च) और, (दृढव्रताः) शम-दमादि दृढ व्रतवाले, (माम्) मुझ परमात्माको, (भक्त्या) परम अनन्य भक्तिसे, (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुए, (च) भी, (नित्ययुक्ताः) सदा एकाग्र चित्तसे मेरे स्वरूपके ध्यानमें लगे हुए, (उपासते) मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन् ॥
(ऋग्वेदः ४-२-१७)

(सुकर्माणः) अच्छे कर्मोंवाले अर्थात् भगवन्नामजपादि शुभ कर्म करनेवाले, (सुरुचः) परमात्मामें सुन्दर रुचिसे युक्त प्रीति रखनेवाले, (देवयन्तः) सर्वदा सर्वथा परमात्माकी कामना करते हुए ईश्वर-भक्तिसे देदीप्यमान यति पुरुष, (अयो न) अग्निमें परितप्त लोहेके समान, (जनिम्) अपने मनुष्य जन्मको, (आधमन्तः) चारों ओर सब प्रकारसे भक्तिसे फूंकते हुए, (अग्निम्) अग्निवत् प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप आत्माको, (शुचन्तः) ज्ञानसे प्रदीप्त करते हुए या ज्ञानसे शुद्ध करते हुए, (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यवान् परमात्माको, (ववृधन्तः) स्तुतिसे अपने अन्तःकरणमें बढ़ाते हुए, और, (परिषदन्तः) चारों ओर नित्य योगसमाधिसे स्थित होते हुए, (देवाः) देदीप्यमान प्राणी, (ऊर्ध्वम्) महान्से महान्, (गव्यम्) वाङमय परब्रह्म अर्थात् शब्दब्रह्मकी, (अग्मन्) उपासना करते हैं अर्थात् शब्दब्रह्मकी शरणको प्राप्त होते हैं ।

तुलना—गीतामें भगवान् कृष्णने ब्रह्मचर्यादि धारण करना, भगवन्नामकीर्तन करना तथा परमात्माके सम्मुख झुकना, ये तीन रीतियाँ अपने भजनकी बताई हैं । वेदमें भी अच्छे कर्म करना, भगवान्में अच्छी रुचि रखना, नित्य परमात्माकी प्राप्तिकी कामना करना, जन्मभर भक्तिमें तत्पर रहना, आत्माको ज्ञानसे शुद्ध करना, ये भगवत्प्राप्तिके साधन बताए गए हैं ।

१५. ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

(अन्ये) कई एक भजन करनेवाले मेरे भक्त, (च) भी, (अपि) निश्चय करके, (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञानयज्ञसे, (एकत्वेन) 'केवल एक ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं' इस एकताबुद्धिसे, अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं और ब्रह्म दोनों एक ही हैं, ऐसी एकत्वबुद्धिसे, (यजन्तः) पूजन-भजन करते हुए, (माम्) मुझ परमेश्वरकी, (उपासते) उपासना करते हैं, और कई एक कर्म-यज्ञोपासक प्राणी, (पृथक्त्वेन) भेददृष्टिसे अर्थात् 'वह ब्रह्म सच्चिदानन्द मेरा स्वामी है और मैं उसका दास हूँ' ऐसी पृथक्त्व-बुद्धि करके, (विश्वतोमुखम्) चारों ओर मुख-पादादिवाले विराट् मूर्तिकी, (बहुधा) अनेक प्रकारसे अर्थात् इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, वरुण आदि रूपसे, (उपासते) उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

ईजे यज्ञेभिः शशमे शमीभिर्ऋधद्वारायाग्नये ददाश ।
एवा चन तं यशसामजुष्टिर्नांहो मर्तं नशते न प्रदृप्तिः ।।

(ऋग्वेदः ६-३-२)

हे जीवात्मन् ! जो प्राणी, (ऋधद्वाराय) सबसे अधिक तेजस्वी, (अग्नये) ज्योतिःस्वरूप परमात्माको, (ददाश) अनन्य भक्तिसे अपने मनको अर्पण कर देता है, वह प्राणी, (यज्ञेभिः) अभेदोपासनात्मक यज्ञोंसे, (ईजे) परमात्माका पूजन करता है। कई कर्मयज्ञोपासक प्राणी, (शमीभिः) अनेक प्रकारके अग्निष्टोमादि कर्मोंसे, (शशमे) भगवत्पूजन करके अपने आपको शान्त कर लेते हैं अर्थात् कर्मयोगसे मुक्तिको प्राप्त करते हैं। (एव चन) और, (तं मर्तम्) उस एकत्वोपासक और भेदोपासक कर्मठ प्राणीकी, (यशसाम्) यशोंकी, (अजुष्टिः) अप्राप्ति, (न नशते) नहीं प्राप्त होती अपितु उन दोनोंको यशोपलब्धि हो जाती है। (तम्) उस एकत्वोपासक और कर्मयज्ञोपासक प्राणीको, (अंहः) किसी प्रकारका भी पाप, (न नशते) नहीं प्राप्त होता, और, (प्रदृप्तिः) अनर्थका कारण अभिमान भी, (न) नहीं प्राप्त होता ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञानी लोग अभेदभावसे तथा कर्मयोगी भेदभावसे परमात्माकी उपासना करते हैं। वेदमें भी 'यज्ञेभिः', 'शमीभिः' इन दोनों शब्दोंसे यही स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी लोग अभेदोपासनासे और कर्मी लोग भेदोपासनासे परमात्माका पूजन करते हैं और दोनों ही भगवद्धामको प्राप्त होते हैं। वेद और गीताने अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तोंको 'एकत्व', 'पृथक्त्व' और 'विश्वतोमुख' शब्दोंसे सिद्ध कर दिया है।

१६. अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।।

हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा, (क्रतुः) यूपादिसामग्रीसहित अश्वमेधादि यज्ञ हूँ, (अहम्) मैं ही, (यज्ञः) पञ्चमहायज्ञ, देवपूजा, सत्सङ्गति आदि हूँ, (अहं स्वधा) मैं ही स्वधा हूँ, (अहम् औषधम्) मैं ही मनुष्योंके लिए साधारण भोजन, अन्न तथा रोगादि दूर करनेके लिये औषध हूँ, (अहम्) मैं ही, (मन्त्रः) देव-पितृ-परमात्म-पूजाके लिए उच्चारण किया जानेवाला मन्त्र हूँ, (अहमाज्यम्) मैं आयु तथा बल बढ़ानेवाला, अग्निकुण्डमें हवन किया जानेवाला घृत हूँ, (अहम्) मैं ही, (अग्निः) हवन किया जानेवाला और हविको भक्षण करनेवाला अग्नि हूँ, (अहं हुतम्) मैं ही हवन कर्म हूँ।। १६।।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥

(ऋग्वेदः ३-२६-७)

हे जीवात्मन् ! (अग्निः अस्मि) मैं परमेश्वर ही अग्नि हूँ । मैं ही, (जन्मना) आरम्भसे ही, (जातवेदाः) प्रत्येक प्राणीके किए हुए क्रियमाण और किये जानेवाले कर्मोंका जाननेवाला हूँ, इसलिए ऋतुरूप हूँ, (घृतम्) आयु तथा बल बढ़ानेवाला और अग्निमें हवन किया जानेवाला घृत, (मे) मुझ परमात्माका, (चक्षुः) चक्षु है, जैसे चक्षु दूसरे पदार्थोंको देखता है ऐसे ही मेरा स्वरूप घृत भी हवन द्वारा मेरे स्वरूपको प्रकट करता है। (अमृतम्) अन्न और औषध-जगत्में अमृतस्वरूप होते हुए, (मे) मुझ परमात्माके, (आसन्) मुखमें वास करता है अर्थात् अन्न और औषधका अमृतमय प्रभाव मेरे अमृतमय मुखका दर्शन कराता है। (नाम) मुझ परमेश्वरका नाम, (अर्कः) अर्चनीय अथवा स्तुतियोग्य यज्ञ है अर्थात् मैं ही अर्क नामसे प्रसिद्ध हूँ। (त्रिधातुः) ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इस वेदत्रयीवाले जन्ममात्रको धारण करनेवाले मन्त्र मैं हूँ। (रजसः) पितृलोकको, (विमानः) पहुँचानेवाला स्वधामय विमान मैं हूँ। (अजस्रः) न क्षीण होनेवाला अर्थात् सर्वदा एकरस, (घर्मः) जगत्को प्रकाश देनेवाला सूर्य मैं हूँ, और मैं परमेश्वर ही, (हविः) अग्निमें हवन किया जानेवाला पुरोडाश आदि द्रव्य हूँ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

अन्नाद्धि खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन
जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

(तै. उ. ३-२)

अन्नसे ही ये सब जड़-चेतन जीव उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही जीते हैं और उसमें ही लय हो जाते हैं।

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्माद्
इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ।

(प्रश्न उ. १-१४)

अन्न ही निश्चय करके प्रजापति है क्योंकि इसीसे वीर्य उत्पन्न होता है जिससे प्रजाओंकी उत्पत्ति होती है।

तुलना—भगवद्गीता और वेदोपनिषद्में कर्म, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्रादि सब भगवत्स्वरूप ही बताए गए हैं।

१७. पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥

(अहम् एव) मैं परमेश्वर ही, (अस्य) इस दृष्टिगोचर होनेवाले, (जगतः) जगत्का, (पिता) उत्पन्न करनेवाला पिता, (माता) गर्भमें रखनेवाली माता, (धाता) कर्मानुसार पोषण करनेवाला, (पितामहः) जगत्को उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माका भी पिता अर्थात् सारे संसारका पितामह, (वेद्यम्) जगत्में जाननेयोग्य, (पवित्रम्) परम-पवित्र, (ओङ्कारः) ओंकार, तथा, (ऋक्) ऋग्वेद, (साम)सामवेद,(च) तथा,(यजुः) यजुर्वेद हूँ ॥ १७ ॥

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥

(ऋग्वेदः ६-१-५)

(तरणे !) हे दुःखोंसे रक्षा करनेवाले ! (त्वम्) तू, (त्राता) जगत्की रक्षा करनेवाला, (चेत्यः) पूजनेयोग्य, और, (भूः) सबको उत्पन्न करनेवाला आधाररूप है। हे परमात्मन् ! तू, (सदमित्) सर्वदा, (मानुषाणाम्) सब मनुष्योंका, (पिता) पिता, और, (माता) माता है।

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥

(अथर्ववेदः ११-७-१६)

(उच्छिष्टः) सब पदार्थोंका नाश होनेपर भी शेष रहनेवाला परमात्मा, (जनितुः) जगत्के उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा तथा पदार्थमात्रके कारणोंका भी, (पिता) उत्पन्न करनेवाला कारण है। वह परमात्मा, (असोः) प्राणका, (पौत्रः) नरकादि दुर्गतिसे रक्षा करनेवाला, और, (पितामहः) पिताका भी पिता अर्थात् कारणोंका भी कारण है। (सः) वह परमात्मा, (विश्वस्य) सारे ब्रह्माण्डका, (ईशानः) ईश्वर होकर, (क्षियति) सर्वत्र वास करता है, तथा, (वृषा) ऋग्वेदादिके ज्ञानकी वर्षा करनेवाला अथवा सबसे बलवान् होते हुए, (भूम्याम्) पृथिवीपर, (अतिघ्न्यः) सबसे श्रेष्ठ है।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥

(अथर्ववेदः २-१-३)

(सः) वह परमात्मा, (नः) हम सबका, (पिता) पालन करनेवाला, (जनिता) उत्पन्न करनेवाला, आदि कारण अर्थात् पिता है, (उत) और, (सः) वह परमात्मा, (बन्धुः) बन्धु अर्थात् अपने गर्भमें बन्धन करनेवाली माता है। वह परमात्मा ही, (विश्वा) सारे, (भुवना भुवनानि धामानि) भूतमात्रको, स्थानोंको तथा नामोंको, (वेद) जानता है। (यः) जो परमात्मा, (देवानाम्) अग्नि, वायु आदि देवताओंके, (नामध) नामोंका धारण करनेवाला, (एकः) एक अक्षर ओङ्कार, (एव) ही है। (सर्वा) सब प्राणी, (संप्रश्नम्) भलीभाँति प्रश्नपूर्वक जाननेयोग्य, (तम्) उस परमात्माको, (यन्ति) प्रलयकालमें प्राप्त होते हैं।

ऋचो नामास्मि यजूँषि नामास्मि सामानि नामास्मि।
ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि।
तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव॥

(यजुर्वेदः १८-६७)

(ऋचः नामास्मि, यजूँषि नामास्मि, सामानि नामास्मि) ऋक्सामयजुःस्वरूप मैं ही हूँ यह बात प्रसिद्ध है। (ये अग्नयः) जो ज्ञानी प्राणी, (पाञ्चजन्याः) मनुष्यमात्रके हित करनेवाले, (अस्यां पृथिव्याम्) इस पृथ्वीपर, (अधि) स्थित हैं, भगवन्! (तेषाम्) उन सबमें-से, (उत्तमः) आप अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, इसलिये, (नः) हमारे, (जीवातवे) जीनेके लिए, (प्रसुव) प्रेरक हों अर्थात् आपकी भक्ति करनेके लिए हमारा जीवन अधिक हो।

तुलना—भगवद्गीतामें परमात्माने अपने आपको जगत्का पिता, माता, पितामह, धाता, सब पदार्थोंमें श्रेष्ठ, जाननेयोग्य, ओंकाररूप तथा ऋग्यजुःसामस्वरूप बताया है। वेदमें भी परमात्मा ही जगत्का माता, पिता, भाई, समग्र पदार्थोंका जाननेवाला, सबमें वास करनेवाला और वेदत्रयीस्वरूप बताया गया है।

१८. गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

मैं परमात्मा ही इस जगत्का, (गतिः) कर्मफल अर्थात् स्वर्गादि या मुक्तिस्थान, अथवा देवयान-पितृयान मार्ग, (भर्ता) सारे संसारका अन्न-वस्त्रादि द्वारा पालन करनेवाला, अथवा कामनाओंका पूर्ण करनेवाला, (प्रभुः) ब्रह्माण्डका स्वामी, (साक्षी) सब शुभ-अशुभ कर्मोंका देखनेवाला, (निवासः)

सबका निवास-स्थान, (शरणम्) दुखियोंका सहारा अर्थात् दुखियोंके सुरक्षित होनेका स्थान, (सुहृत्) सबका बिना प्रयोजन उपकार करनेवाला, (प्रभवः) सबका उत्पत्तिस्थान, (प्रलयः) सब पदार्थोंका लय-स्थान, (स्थानम्) सृष्टिकी स्थितिका स्थान, (निधानम्) कार्य और कारण-प्रपञ्चका अधिष्ठान, और, (अव्ययं बीजम्) विकाररहित सदा वर्तमान अविनाशी बीज अर्थात् कारण हूँ ॥ १८ ॥

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥

(अथर्ववेदः ७-३-१)

(अया—प्रथमाया आकारादेशः) यह परमात्मा, (विष्ठा) विविध प्रकारकी सृष्टिका साधनरूप, (कर्वराणि) नाना प्रकारके कर्मों और उनके फलोंको, (जनयन्) उत्पन्न करनेवाला, सबका प्रभु है । (सः) वह परमात्मा, (हि) निश्चय ही, (घृणिः) प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप, और, (वराय) वरनेयोग्य भक्तके लिए, (उरुः) महान्, (गातुः) गतिस्वरूप है । (सः) वह परमात्मा ही, (धरुणम्) सबका धारण करनेवाला, और, (मध्वः) मधुर-मधुर, (अग्रम्) सार अर्थात् बीजरूप, (प्रत्युदैत्) सबके प्रति उदय होता है अर्थात् सबका बीजस्वरूप वही परमात्मा है । वह परमात्मा ही, (स्वया) अपने विराट्‌रूप, (तन्वा) शरीरसे, (तन्वम्) सबके शरीरोंको, (ऐरयत) अपने-अपने कर्मोंमें प्रेरित करता है । इससे प्रभव, प्रलय, सुहृत् शब्दोंकी व्याख्या की गई है ।

तुलना—गीतामें भगवान् ही सबकी गति, सबका पालन-पोषण करनेवाला, प्रभु, साक्षी, निवासस्थान, शरण, सुहृत्, जगत्‌की उत्पत्ति एवं लय करनेवाला और जगत्‌का आदिकारण कहा गया है । वेदमें भी कहा गया है कि यही परमात्मा अनेक प्रकारकी स्थितिवाला, सब जीवोंके कर्मफलोंको उन जीवोंके कर्मानुसार उत्पन्न करनेवाला, ज्योतिःस्वरूप, सबसे महान्, सबकी गति, सबका धारण करनेवाला तथा सबमें विराट् रूपसे स्थित है ।

१९. तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा, (तपामि) आदित्यरूप होकर अपनी किरणोंसे गर्मीमें संसारको ताप देता हूँ । (अहम्) मैं परमात्मा ही, (वर्षम्) वर्षाकालमें अथवा भिन्नकालमें मेघद्वारा वर्षाका जल, (उत्सृजामि)

पृथिवीपर छोड़ता हूँ, (निगृह्णामि) पृथिवी और समुद्रादिसे वर्षाके लिये जल खींचता हूँ तथा वर्षाका अभाव भी मैं ही करता हूँ। (अहम्) मैं परमात्मा, (एव) ही, (अमृतम्) मुक्ति अथवा सबका जीवनाधार अमृतमय अन्न हूँ, (च) और, (मृत्युः) संसारको नष्ट करनेवाला विष अथवा काल मैं हूँ। (सत्) दृश्य स्थूल वस्तु अर्थात् कार्य जगत्, (च) और, (असत्) अदृश्य सूक्ष्म वस्तु अर्थात् अव्यक्तस्वरूप मैं ही हूँ ॥ १९ ॥

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥

(अथर्ववेदः ११-७-३)

हे जीवात्मन् ! (मयि उच्छिष्टे) सारे ब्रह्माण्डके लय हो जानेपर शेष रह जानेवाले मुझ परमात्मामें, (सत्) दृश्य स्थूलवस्तु अर्थात् कार्यजात, (च) और, (असत्) अदृश्य सूक्ष्मवस्तु अर्थात् अव्यक्त स्वरूप, (उभौ) दोनों विद्यमान हैं। (उच्छिष्टे) परमात्मामें ही, (मृत्युः) संसारको नष्ट करनेवाला विष अथवा मृत्यु, (वाजः) बल अथवा तप, (प्रजापतिः) प्रजापालक मेघ और वृष्टि, (द्रः) द्रवीभूत अमृत अर्थात् अन्न-पानादि क्रिया, (च) और, (व्रः) सबको आच्छादित करनेवाला आकाश, तथा, (श्रीः) चेतनसत्तावाली शोभा, (च) और, (लौक्याः) सब लोक-लोकान्तर, (आयत्ताः) उस परमात्माके अधीन वर्तमान हैं।

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥

(ऋग्वेदः ४-२६-२)

हे जीवात्मन् ! (अहम्) मैं परमात्मा, (आर्याय) श्रेष्ठ लोक अर्थात् भक्तजनोंको, (भूमिम्) निवासस्थानके लिये पृथिवी, (अददाम्) देता हूँ। (अहम्) मैं, (दाशुषे) अपना पूजन करनेवाले, (मर्त्याय) मनुष्यको, (वृष्टिम्) वर्षाकालीन जल, (अददाम्) देता हूँ। (अहम्) मैं परमात्मा, (अपः) जन्म-मरणरूप फल देनेवाले कर्मोंको और उनके फलोंको, (अनयम्) अपनी सृष्टिके लिये प्राप्त कराता हूँ। (वावशानाः) मेरी प्राप्तिकी कामना करनेवाले, (देवासः) ज्ञानी पुरुष, (मम) मेरे, (केतम्) वासस्थान मुक्तिपदको या मेरे ज्ञानको, (अनु आयन्) प्राप्त करते हैं।

उपनिषद्‌में कहा गया है—

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः।

(प्रश्न उ. २-९)

हे परमात्मन् ! तू ही अन्तरिक्षमें ज्योतियोंका पति होकर सूर्यरूपसे विचरता है तथा संसारके पदार्थोंको तपाता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास ॥

(बृ. उ. २-१-२)

जो वह पुरुष आदित्यमें है, मैं उस ब्रह्मकी उपासना करता हूँ।

असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत। (तै. उ. २-७)

सबसे पहले अव्यक्त था, फिर व्यक्त उत्पन्न हुआ।

तुलना—गीतामें भगवान्‌को सूर्य, वृष्टि और वृष्टिका आकर्षक, अमृत और मृत्यु तथा स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् कहा गया है। वेद और उपनिषद्में भी परमात्माको सद्रूप अर्थात् व्यक्त रूप और असद्रूप अर्थात् अव्यक्तरूप, मृत्यु, अमृत, बल, तापक, वृष्टिकर्त्ता, वृष्ट्यवरोधक तथा सूर्यरूप कहा गया हैं।

२०. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

(त्रैविद्याः) कर्म, उपासना, ज्ञान, इन तीनों विद्याओंको अथवा ऋग्यजुसाम इस वेदत्रयीके आज्ञानुसार कर्मोंको जाननेवाले विद्वान्, (यज्ञैः) नाना प्रकारके सोम, अग्निष्टोम, वाजपेयादि यज्ञों द्वारा, (माम्) मेरे यज्ञस्वरूपकी अथवा वसु, रुद्र, आदित्यादि ईश्वर-स्वरूपकी, (इष्ट्वा) उपासना करके, (सोमपाः) सोमरसके पान करनेवाले अथवा अमृतके पान करनेवाले, (पूतपापाः) पापोंसे शुद्ध अर्थात् पापोंसे रहित होकर, (स्वर्गतिम्) स्वर्ग-प्राप्तिकी, (प्रार्थयन्ते) प्रार्थना करते हैं। (ते) वे याज्ञिक विद्वान् अथवा कर्मोपासक जीव, (पुण्यम्) अपने पुण्यके फलरूप परमपवित्र, (सुरेन्द्रलोकम्) इन्द्रलोक अर्थात् स्वर्गको, (आसाद्य) पाकर, (दिवि) स्वर्गलोकमें, (दिव्यान्) परम रमणीय, (देवभोगान्) देवताओंके भोगोंको, (अश्नन्ति) भोगते हैं ॥ २० ॥

येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥

(अथर्ववेदः ४-११-६)

(येन) जिस कर्म-उपासना-ज्ञान-प्रतिपादक वेदत्रयीके आज्ञानुसार कर्मोंके अनुष्ठानसे, (देवाः) सोमपान करनेवाले या सकाम कर्म करनेवाले विद्वान्, (शरीरम्) इस पाञ्चभौतिक देहको, (हित्वा) इसी पृथिवीपर छोड़कर, (अमृतस्य) अमृतमय भागके, (नाभिम्) मध्यभाग अर्थात्, (स्वः) स्वर्गको, (आरुरुहुः) चढ़ जाते हैं अर्थात् स्वर्गको पहुँच जाते हैं, (तपसा) पञ्चाग्नि आदि तपश्चर्यासे, (यशस्यवः) इस संसारमें यशको प्राप्त करते हुए या यशःस्वरूप परब्रह्मकी कामना करते हुए हम दास लोग भी, (घर्मस्य) दीप्यमान सूर्यसंबन्धी, (व्रतेन) व्रत धारण करनेसे, (तेन) उस कर्मोपासनाज्ञान-प्रतिपादक ऋग्यजुःसामरूप वेदत्रयीके आज्ञानुसार कर्मोंके अनुष्ठानसे, (सुकृतस्य) पुण्यात्माओंके, (लोकम्) लोकको अर्थात् स्वर्गलोकको, (गेष्म) प्राप्त होवें।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥
(मु. उ. १-२-५)

अग्निकी प्रकाशमय इन जिह्वाओंमें जो प्राणी नियत कालके अनुसार आहुतियाँ डालते हैं अर्थात् अग्निष्टोमादि यज्ञ करते हैं, उनको सूर्यकी ये किरणें वहाँ ही ले जाती हैं जहाँ सब देवताओंका पति इन्द्र निवास करता है अर्थात् उनको स्वर्गलोकमें पहुँचा देती हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि याज्ञिक लोक स्वर्गकी प्राप्तिके लिये यज्ञ करते हैं और मृत्युके अनन्तर स्वर्गमें दिव्य भोगोंको भोगते हैं, उपनिषद् और वेदमें भी यज्ञों द्वारा पार्थिव शरीरको पृथिवीपर छोड़कर स्वर्गलोकको प्राप्त होनेकी कामना की गई है और बताया गया है कि यज्ञोंके फलस्वरूप स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है।

२१. ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥

(ते) वे यज्ञादि कर्मोंके करनेवाले और यज्ञोंके फलोंको भोगनेवाले, (तम्) उस, (विशालम्) बड़े, (स्वर्गलोकम्) स्वर्गलोकके सुखको, (भुक्त्वा) भोगकर, (पुण्ये) पुण्यके, (क्षीणे) समाप्त हो जानेपर, (मर्त्यलोके) इस मनुष्यलोकमें, (विशन्ति) लौटकर प्रवेश करते हैं अर्थात् इस पृथ्वीलोकमें जन्म लेते हैं। (एवम्) इस प्रकार, (हि) निश्चय ही, (त्रयीधर्मम्) वेदत्रयीप्रोक्त धर्मको, (अनुप्रपन्नाः) प्राप्त हुए, (कामकामाः) दिव्य

भोगोंको चाहनेवाले, (गतागतम्) जन्म-मरणके प्रवाहको, (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥

(अथर्ववेदः ४-१४-४)

हे जीवात्मन् ! (ये) जो याज्ञिक पुरुष अर्थात् कर्मठ विद्वान्, (सुविद्वांसः) ज्ञान और कर्मको समुच्चय रूपमें करनेवाले, (विश्वतोधारम्) आहुति, दक्षिणा, अन्न-दानादि कई प्रकारकी धाराओंवाले, (यज्ञम्) यज्ञको या जगत्-को धारण करनेवाले अग्निष्टोमादि यज्ञको, (वितेनिरे) विस्तृत करते हैं अर्थात् अग्निष्टोमादि यज्ञोंका सम्पादन करते हैं वे दिव्य भोगोंको भोगनेवाले विद्वान्, (स्वः) स्वर्गलोक और उसके सुखको, (यन्तः) प्राप्त होते हुए, (न अपेक्षन्ते) पुण्य कर्मोंके प्रभावसे मनुष्य-लोकमें भोगे हुए पुत्र, पशु आदिके सुखकी अपेक्षा नहीं करते । पुण्यके उपभोगपर्यन्त, (रोदसी) जरा, मृत्यु, शोकादिके रोकनेवाले, (द्याम्) स्वर्गीय प्रकाशमय लोकको, (आरोहन्ति) प्राप्त करते हैं अर्थात् पुण्योंके क्षीण होनेपर इस मनुष्यलोकमें जन्म-मरणके प्रवाहको प्राप्त होते हैं ।

उपनिषद्का भी कथन है—

प्लवा ह्येते ह्यदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति ॥

(मु. उ. १-२-७)

अग्निष्टोमादि यज्ञ ही जीवात्माके लिये नौकाएँ हैं । इन नौकाओंके चलाने-वाले १८ मल्लाह हैं । ये यज्ञरूप नौकायें दृढ़ नहीं हैं अर्थात् टूट जानेवाली हैं । मल्लाह कौन हैं ? १६ ऋत्विग्, १ यजमान और १ यजमानकी पत्नी । इन नौकाओंमें कर्मका नाश हो जाता है । जो मूढ इनको श्रेय अर्थात् कल्याणदायक जानकर प्रसन्नतापूर्वक इनके करनेमें सुखी होते हैं वे मूर्ख बार-बार इस मनुष्यलोकमें आकर जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि याज्ञिक पुरुष स्वर्गलोकमें यज्ञके फलको भोगकर पुण्योंके क्षीण होनेपर इस मनुष्यलोकमें आकर जन्म-मृत्युको प्राप्त होते हैं । उपनिषद् और वेदमें भी कहा गया है कि जबतक पुण्यका क्षय नहीं होता तबतक याज्ञिक पुरुष स्वर्गमें वास करते हैं, किन्तु पुण्य क्षीण होनेपर इस मनुष्यलोकमें लौट आते हैं ।

२२. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(ये) जो, (जनाः) भक्तजन, (अनन्याः) किसी अन्य वस्तुका आश्रय न करके, (चिन्तयन्तः) मेरा चिन्तन करते हुए, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (पर्युपासते) सब प्रकारसे सेवन करते हैं, (नित्याभियुक्तानाम्) निरन्तर मुझमें संलग्न चित्तवाले, (तेषाम्) उन पुरुषोंके, (योगक्षेमम्) योग और क्षेमको [अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम योग है और प्राप्त वस्तु का सब प्रकारसे पालन करना क्षेम है या ब्रह्मकी समाधिका नाम योग है, उसकी यथावत् स्थितिको क्षेम कहते हैं। इन दोनोंको], (अहम्) मैं परमेश्वर ही, (वहामि) वहन करता हूँ ॥ २२ ॥

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम् ।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव ॥

(ऋग्वेदः १०-१६६-५)

हे जीवात्मन् ! हे योगिजनो ! (मे) मुझ परमात्माके, (अधस्पदात्) पाँवके नीचे अर्थात् क्षुद्रजीवनमें रहते हुए तुम, (उदकान्) वृष्टिके जलसे निचले प्रदेशमें रहते हुए, (मण्डूका इव) मेण्डकोंके समान, (उद्वदत) ऊँचे स्वरसे मुझे बुलाओ अर्थात् स्पष्ट शब्दोंसे मेरी स्तुति करो। फिर, (अहम्) मैं परमात्मा, (वः) निरन्तर समाहितचित्तवाले तुम योगियोंकी, (मूर्धानम्) मूर्धस्थानीय अर्थात् सबसे ऊँची पदवी, (आ अक्रमीम्) चारों ओर करता हूँ। फिर, (अहम्) मैं परमात्मा, (वः) समाहित-चित्त-वाले तुम भक्तजनोंको, (योगक्षेमम्) अप्राप्त वस्तु जो मुक्ति उसकी प्राप्ति और उस मोक्षकी रक्षा अर्थात् पुनर्जन्म न होना, इन दोनों वस्तुओंको, (दाय) देकर, (उत्तमः) सबसे श्रेष्ठ परमपद अर्थात् मुक्तिका देनेवाला, (भूयासम्) होता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अनन्यभावसे चिन्तन करनेवाले भक्तोंको परमात्मा योगक्षेम प्रदान करता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा भक्तको जीव-गतिसे उत्तमगति मुक्तिकी प्राप्तिके लिये योगक्षेम प्रदान करते हैं।

२३. येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (ये) जो प्राणी, (अन्यदेवताभक्ताः) इन्द्र-वरुणादि अन्य देवताओंकी भक्ति करनेवाले, (अपि) भी, (श्रद्धयान्विताः) श्रद्धासे मिले हुए, (यजन्ते) अपने-अपने इष्टदेवका यजन-पूजन करते हैं, (ते) वे प्राणी, (अपि) भी, (अविधिपूर्वकम्) यथार्थ विधिसे रहित अर्थात् अज्ञानसहित, (माम् एव) मुझ परमात्माका ही, (यजन्ति) पूजन करते हैं ।।२३।।

यच्चिद्धि शश्वता तना देवंदेवं यजामहे ।
त्वे इद्धूयते हविः ।।

(सामवेदः उ. ८-१-१-२)

हे परमात्मन् ! (शश्वता) निरन्तर, (तना) विस्तृत पूजनसे, (देवं देवम्) भिन्न-भिन्न दूसरे इन्द्र-वरुणादि देवताओंका, (यत् चित्) जो भी, (हि) निश्चयपूर्वक, (यजामहे) हम पूजन करते हैं, (हविः) वह हविःपूजन या हवनादि कर्म, (त्वे) तुझ परमात्मामें, (इत्) ही, (हूयते) अर्पण किया जाता है।

तुलना—गीतामें परमात्माको छोड़कर इन्द्रादि अन्य देवताओंकी उपासना भी गौणरूपसे परमात्माकी ही उपासना कही गई है। वेदमें भी कहा गया है कि पुरुष जो अन्य देवताओंका पूजन करते हैं वह पूजन भी गौणरूपसे परमात्माको प्राप्त होता है।

२४.　अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
नतु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।

हे अर्जुन ! (हि) क्योंकि, (अहम्) मैं परमेश्वर, (एव) ही, (सर्वयज्ञानाम्) सब प्रकारके यज्ञोंका, (भोक्ता) ग्रहण करनेवाला, (च) और, (प्रभुः) स्वामी अर्थात् फल देनेवाला, (च) भी हूँ, (ते) अन्यदेवताओंका पूजन करनेवाले वे पुरुष, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (तत्त्वेन) यथार्थस्वरूपसे सबको फल देनेवाला स्वामी, (न) नहीं, (अभिजानन्ति) जानते, (अतः) इसलिये, (च्यवन्ति) यज्ञोंके फलोंके भोगनेके अनन्तर इस संसारके गड्ढेमें गिर जाते हैं।। २४ ।।

अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित् ।
तं मा व्यन्त्याध्यो वृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी ।।

(ऋग्वेदः १-१०५-७)

हे जीवात्माओ ! (यः) जो मैं परमात्मा, (पुरा सुते) आदिसृष्टिमें या तुम्हारे प्राचीन यज्ञात्मक कर्ममें, (कानिचित्) कई कर्मों या स्तोत्रोंको

अथवा यज्ञात्मक कर्मोंको, (वदामि) पुकार-पुकारकर कहता हूँ, (सः) वह सब यज्ञोंका भोक्ता, उपदेश करनेवाला और उन यज्ञोंका स्वामी, (अहम्) मैं परमेश्वर, (अस्मि) हूँ, इसलिये मेरा त्याग क्यों करते हो ? (आध्यः) तुम भक्तजनोंकी मानसिक स्थितियाँ, (तम्) उस यज्ञपति और प्रभु, (माम्) मुझ परमात्माको, (व्यन्ति) भुला देती हैं अर्थात् वे मानसिक स्थितियाँ इन्द्र-वरुणादि अन्य देवताओंके पूजनकी ओर लग जाती हैं इसलिये मुझ परमात्माको भुला देती हैं। (वृको न तृष्णजं मृगम्) जैसे भेड़िया अन्य वस्तुओंमें जलकी भ्रान्ति रखते हुए प्यासे मृगका नाश कर देता है ऐसे ही वे तुम्हारी मानसिक वृत्तियाँ मुझे भुला बैठी हैं। (रोदसी !) हे आकाश और पृथिवीमें रहनेवाले जीवात्माओ ! (मे) मेरे, (अस्य) इस कथनके तत्त्वको, (वित्तम्) जानो।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु
लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति।
(छा. उ. ५-२४-२)

जो विद्वान् इस प्रकार सर्वत्र अभेद-दृष्टिसे वैश्वानर स्वरूपकी उपासना करता है उसका हवन सब लोक, सब भूत और सब आत्माओंमें पहुँच जाता है अर्थात् उसके हवनसे ब्रह्मकी तृप्ति होनेके कारण लोक-लोकान्तर तथा सब भूतमात्र प्रसन्नताको प्राप्त होते हैं और वह प्राणी स्वयं मोक्षपदको प्राप्त होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा ही सब यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी है। जो इस बातको नहीं जानते वे फिर संसारमें बन्धनको प्राप्त होते हैं। उपनिषद् और वेदमें भी परमात्माको सब कर्मोंका स्वामी बताते हुए कहा गया है कि जो उस परमात्माको भुला देता है उसका अधःपतन हो जाता है।

२५. यान्ति देवव्रता देवान्।

हे अर्जुन ! (देवव्रताः) विष्णु, शिव, इन्द्रादि देवताओंका पूजन करनेवाले, (देवान्) विष्णु, शिव, इन्द्रादि उपास्य देवताओंको, (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः।
महामनूषत श्रुतम्॥
(ऋग्वेदः १-६-६)

(गिरः) विष्णु, शिव, इन्द्रादि देवताओंकी स्तुतिरूप वाणी बोलनेवाले पुरुष, (देवयन्तः) विष्णु, शिव, इन्द्रादि देवताओंकी कामना करते हुए, (यथामतिम्) अपनी-अपनी मतिके अनुसार या यथार्थतया मननयोग्य, (वसुम्) वासयोग्य, (श्रुतम्) श्रवणयोग्य, (महाम्) बड़ेसे बड़े, (अच्छ) शुद्ध और प्रत्यक्षरूप उस देवताको, (विदद्) जानते हैं, और, (अनूषत) स्तुति करते हैं, इसलिये उस देवताको प्राप्त होते हैं ।

पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।

(पितृव्रताः) श्राद्ध-तर्पणादि द्वारा अग्निष्वात्त, अर्यमादि पितरोंको पूजनेवाले, (पितॄन्) पितॄलोकोंको, (यान्ति) प्राप्त होते हैं ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवीँष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥

(ऋग्वेदः १०-१५-८)

हे परमात्मन् ! (नः) अग्निष्वात्त, अर्यमादि पितरोंके पूजनेवाले हमारे, (ये) जो, (पूर्वे) पूर्ववर्ती, (पितरः) पिता, पितामह, प्रपितामहादि, (सोम्यासः) सोमगुणयुक्त अर्थात् शान्त्यादि गुणवाले या स्वधा यज्ञोंमें सोममय सुधारसका पान करनेवाले, (वसिष्ठाः) इन्द्रियोंको अत्यन्त वशमें रखनेवाले अर्थात् जितेन्द्रिय, (सोमपीथम्) स्वधारसके पानको, (अनूहिरे) यथाविधि प्राप्त करते हैं, (हवींषि) पितृयज्ञमें दी हुई हवियोंकी, (उशन्) कामना करता हुआ, (यमः) इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला पितृपूजक प्राणी, (तेभिः) उन अर्यमादि पितरोंके साथ, (संरराणः) सम्यक्तया रमण करता हुआ, (उशद्भिः) पितृपूजकोंसे दी हुई हवियोंकी कामना करनेवालोंके साथ, (प्रतिकामम्) प्रत्येक कामनाके अनुसार, (अत्तु) हविओंको भक्षण करे।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥

(ऋग्वेदः १०-१५-२)

(पूर्वासः) मुझसे पहले जन्म लिये हुए मेरे पिता और ज्येष्ठ भ्रातादि, तथा, (उपरासः) मुझसे पीछे जन्म लेनेवाले कनिष्ठ भ्राता या पुत्रादि, (ये) जो पितर, (ईयुः) मरकर पितृलोकको प्राप्त हो गये हैं, (ये) जो, (नूनम्) निश्चय ही सदा, (सुवृजनासु विक्षु) श्राद्धकर्मके प्रति निष्ठावाले बन्धु-वर्गोंमें प्रवेश कर गये हैं, (ये वा पार्थिवे रजसि) और जो पृथिवी लोकमें, (आ

निषत्तां:) आकर उपस्थित हुए हैं, (अद्य) आज, (पितृभ्य:) उन सब पितरों-को, (इदं नमोऽस्तु) यह मेरा नमस्कार हो या यह मेरा दिया हुआ अन्न प्राप्त हो।

भूतानि यान्ति भूतेज्याः।

हे अर्जुन ! (भूतेज्या:) विनायक, वेताल, दुर्गादि या पञ्चभूतोंके उपासक लोग, (भूतानि) भूतयोनियोंको, (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥

(अथर्ववेदः ४-८-१)

(भूत:) भूतोंकी उपासना करनेवाला, (भूतेषु) विनायक, दुर्गा, वेताल अथवा पञ्चभूतोंमें, (पय:) पूजाद्रव्य या जलादिको, (आदधाति) धारण करता है। (स:) भूतोपासक वह प्राणी, (भूतानाम्) भूतोंका, (अधिपति:) स्वामी, (बभूव) हो जाता है। (तस्य) उस भूताधिपतिकी, (मृत्यु:) दण्डसामर्थ्य, (राजसूयम्) राजसूय यज्ञको, महाराजाधिराज पदको, (चरति) प्राप्त होता है, (स:) वह भूतपति, (राजा) जगत्में प्रकाशमान होता हुआ, (इदम्) इस, (राज्यम्) भूताधिपत्यको, (अनुमन्यताम्) स्वीकार करता है।

यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

हे अर्जुन ! (मद्याजिन:) मेरा पूजन करनेवाले, (माम्) मुझ परमेश्वर-को, (अपि) ही, (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये।
सोमासो दध्याशिरः ॥

(ऋग्वेदः १-५-५)

हे जीवात्मन् ! (इमे) ये मेरा पूजन करनेवाले, (शुचय:) निर्मल, निष्पाप, (सुता:) भगवज्ज्ञानसे अभिषिक्त हुए अर्थात् मेरी योग-समाधिमें निष्णात, (सोमास:) ब्रह्मोपासक ज्ञानी पुरुष, (दध्याशिर:) ध्यानयोगसे देहके दोषोंका नाश करनेवाले अर्थात् नित्यमेव परमात्माके ध्यानयोगसे देह-दोषोंसे रहित होकर, (सुतपाव्ने) ज्ञान-निष्णात प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले परमात्माकी, (वीतये) पूर्णतया प्राप्तिको, (यन्ति) प्राप्त हो जाते हैं।

तुलना—भगवद्गीता और वेद दोनोंमें कहा गया है कि देवताओंके उपासक देवताओंको, पितरोंके उपासक पितरोंको, भूतोंके उपासक भूतोंको और परमात्माके उपासक परमात्माको प्राप्त होते हैं ।

२६. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

हे अर्जुन ! (यः) जो प्राणी, (मे) मुझ परमेश्वरको, (भक्त्या) भक्तिसे अर्थात् प्रीतिपूर्वक, (पत्रम्) तुलसी या बिल्वादिका पत्र, (पुष्पम्) पुष्प, (फलम्) कोई फल, (तोयम्) अथवा केवल जल, (प्रयच्छति) अर्पण करता है, (प्रयतात्मनः) मनको वशमें रखनेवाले अथवा शुद्ध बुद्धिवाले भक्तके, (भक्त्युपहृतम्) भक्ति अर्थात् प्रेमसे अर्पण किये हुए, (तत्) उस पदार्थ अर्थात् पत्र, पुष्प, फल या जलको, (अहम्) मैं परमात्मा, (अश्नामि) ग्रहण करता हूँ ॥२६॥

प्रयाजान् मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम् ।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥

(ऋग्वेदः १०-५१-८)

(देवाः !) हे देवताओ ! या हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम, (मे) मुझ परमात्माको, (प्रयाजान्) प्रकृष्ट भक्तिसे पूजाके लिये अर्पण करनेयोग्य अन्नादि पदार्थ, और, (केवलान्) केवल भक्तिसे अर्पण किये हुए, (अनुयाजान्) साधारण पदार्थ, (दत्त) अर्पण करो, और, (ऊर्जस्वन्तम्) प्राणियोंके बलको बढ़ानेवाले, (हविषः) आहवनीय पदार्थका, (भागम्) भाग, (दत्त) श्रद्धापूर्वक अर्पण करो, तथा, (ऊर्जस्वन्तम्)सारभूत, (घृतम्) जल, (च) और, (अपाम्) जलोंके, (ऊर्जस्वन्तम्) साररूप पत्र-पुष्पादि, (च) और, (ओषधीनाम्) ओषधियोंसे उत्पन्न हुए, (भागम्) फल, (पुरुषम्) परमपुरुष परमात्माको, (दत्त) अर्पण करो। हे जीवात्माओ ! तुमसे श्रद्धा-भक्तिसे दिया हुआ यह पत्र-पुष्पादि पदार्थ, (अग्नेः) मुझ ज्योतिःस्वरूप परमात्माके लिये, (दीर्घमायुः) देरकालतक, (अस्तु) अर्पित होता रहे ।

यो अस्मा अन्नं तृष्वादधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति ।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम् ॥

(ऋग्वेदः १०-७९-५)

(यः)जो प्राणी,(अस्मै)इस परमात्माको, (तृषु)शीघ्र ही, (अन्नम्) परम श्रद्धासे अन्न, (आदधाति) भेंट करता है, और जो, (आज्यैः घृतैः) आज्य.

अर्थात् घृत और जलसे, (आजुहोति) भलीभाँति हवन करता है अर्थात् भेंट करता है, (पुष्यति) वह फूलता-फलता है । परमात्मा, (तस्मै) उस भक्तको, (सहस्रम् अक्षभिः) सहस्रों प्रकारसे, (विचक्षे) देखता है अर्थात् कृपादृष्टि-से देखता है । (अग्ने !) हे जीवात्मन् ! (त्वम्) तू, उस परमात्माको, (विश्वतः) सब प्रकारसे, (प्रत्यङ्ङसि) सम्मुख प्राप्त होता है अर्थात् तू मुक्तिपदको प्राप्त होता है ।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्का कथन है—

अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३ ॥
नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥ ९ ॥

(भागवत १०-८१-३, ९)

हे सुदामा ! भक्तोंसे प्रेमसे अर्पण की हुई थोड़ीसी वस्तु भी मेरे लिये बहुत हो जाती है और भक्तिरहित व्यक्तिके द्वारा दी हुई बहुतसी वस्तु भी सन्तोषदायक नहीं होती ॥३॥ हे सखे ! परम प्रेमसे लाई हुई यह चावलोंकी तुष भी मुझे अत्यन्त प्रिय और आनन्द देनेवाली है । इतना ही नहीं, ये तण्डुल मुझे और मेरे आश्रयमें रहनेवाले सारे संसारको तृप्त करनेवाले हैं ॥९॥

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि जो पुरुष अनन्य भक्तिसे पत्र, पुष्प, जल या फलमात्र अर्पण करता है मैं उसे परम प्रेमसे स्वीकार करता हूँ और वह वस्तु मेरी प्रसन्नताके लिये होती है । वेद और श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें भी यही कहा गया है कि भक्तिसे परमात्माको दी हुई जल-पुष्पादि तुच्छ वस्तु भी बड़े सुख-कल्याणके लिये होती है । परमात्मा उस साधारण वस्तुसे भी अतीव प्रसन्न हो जाते हैं, परन्तु अश्रद्धासे दिये हुए बड़े-बड़े पदार्थ भी पर-मात्माको प्रसन्न नहीं करते ।

२७. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (यत्) जिस शास्त्र-प्रतिपादित कर्मको, (करोषि) तू करता है, और, (यत्) जिस शास्त्रविहित भक्ष्याभक्ष्य विचारवाले भोजनको, (अश्नासि) तू खाता है, (यत्) जिस शास्त्रप्रतिपादित द्रव्यको अग्निहोत्रादि कर्ममें, (जुहोषि) अग्निमें हवन करता है, (यत्)

जिस देनेयोग्य द्रव्यको, (ददासि) तू दीनोंको या ब्राह्मणोंको देता है, (यत्) जो सन्ध्योपासना, वेदाध्ययन अथवा व्रतोपवासादि, (तपस्यसि) तपका सम्पादन करता है, (तत्) उस सब कामको, (मदर्पणम्) मुझे अर्पित कर अर्थात् ब्रह्मार्पण बुद्धिसे कर ॥ २७ ॥

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥

(अथर्ववेदः ८-२-१९)

(कृष्याः !) हे परमात्माकी ओर मनका कर्षण करनेवाले योगी पुरुष ! (यत्) जिस शास्त्रविहित, (धान्यम्) धान्य आदि अन्नको, (अश्नासि) तू खाता है, (यत्) जिस शास्त्रप्रतिपादित, (पयः) गौ-भैंस आदिके दूधको अथवा नदी आदिके जलको, (पिबसि) तू पान करता है, (यत्) जो, (आद्यम्) समयानुकूल सुखसे भक्षण करनेयोग्य पदार्थ, और, (यत्) जो, (अनाद्यम्) स्वयं न ग्रहण करनेयोग्य, दूसरोंके देनेयोग्य अथवा समयानुकूल न खानेयोग्य पदार्थ जो स्वयं खाता है अथवा दीनों और ब्राह्मणोंको देता है, (ते) तेरे, (सर्वम्) परमात्माको अर्पण किये हुए उस सारे, (अन्नम्) अन्नपानादि पदार्थोंको, (अविषम्) दोषरहित अर्थात् अमृतमय, (कृणोमि) करता हूँ।

तुलना—गीतामें भगवान्‌ने उपदेश दिया है कि हमारे भक्त जो कुछ करें वह सब मुझमें अर्पण करते रहें। फिर उनके भले-बुरेका मैं देखनेवाला हूँ। उनको स्वयं अपनी चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनका मुख्य कार्य यह है कि सब कुछ करते हुए कर्तृत्वाभिमानरहित होकर अहर्निश मेरे स्वरूप-चिन्तनमें मग्न रहें। उनका योगक्षेम करनेवाला मैं हूँ। वेदमें भी भगवान्‌का यही उपदेश है कि भगवद्भक्त जो खाता है, जो पीता है, जो काम करता है, यदि वह सब काम मुझे अर्पण किया होता है तो मैं उसे अमृत कर देता हूँ।

२८. शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(एवम्) हे अर्जुन ! परमात्मार्पण-बुद्धिसे ऐसे लौकिक और वैदिक कर्मोंको करता हुआ तू, (कर्मबन्धनैः) कर्मोंके बन्धनरूप, (शुभाशुभफलैः) सुख और दुःखमय फलोंसे, (मोक्ष्यसे) छूट जायगा। फिर, (संन्यासयोगयुक्तात्मा) संन्यासयोग अर्थात् भगवान्‌में सब कर्मोंको अर्पण कर देनेसे कर्मोंके त्यागरूप संन्याससे युक्त हुए अन्तःकरणवाला तू, (विमुक्तः) कर्मबन्धनसे रहित होकर, (माम्) मुझ परमात्माको, (उपैष्यसि) प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

क्रत्वा दा अस्तु श्रेष्ठोऽद्य त्वा वन्वन्त्सुरेक्णाः ।
मर्त आनाश सुवृक्तिम् ॥

(ऋग्वेदः ६-१६-२६)

हे परमात्मन् ! (अद्य) इस मनुष्य जन्ममें, (क्रत्वा) तेरी भक्तिसे युक्त कर्मसे, (त्वा) तुझ परमात्माका, (वन्वन्) भलीभाँति भजन करता हुआ, तथा, (दाः) सब कर्मोंको तुझमें अर्पण करता हुआ योगी, (श्रेष्ठः) कर्मबन्धनसे विमुक्त होनेके कारण सबसे श्रेष्ठ, (अस्तु) है। (सुरेक्णाः) समीचीन ज्ञानवाला, (मर्तः) संन्यासयोगसे युक्त मनवाला मनुष्य, (सुवृक्तिम्) परमात्म-विषयवाले सुन्दर ज्ञानको या परमात्माकी सुन्दर स्तुतिको, (आनाश) प्राप्त होता है अर्थात् ऐसा योगी सर्वदा आपकी स्तुति करनेवाला होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सब कर्मोंको भगवदर्पण करनेवाला योगी कर्मबन्धनोंसे रहित होकर भगवच्चरणोंमें प्राप्त होता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि लौकिक-वैदिक कर्म करनेवाला प्राणी सब कर्मोंको भगवदर्पण करता हुआ परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

२९. **समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।**
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

हे अर्जुन ! (अहम्) वासुदेवस्वरूप मैं भगवान् कृष्ण, (सर्वभूतेषु) सब प्राणियोंमें, (समः) समानरूप अर्थात् एकरस हूँ। (मे) मेरा, (द्वेष्यः) द्वेष करनेयोग्य प्राणी, (न अस्ति) नहीं है, और, (प्रियः) मेरा कोई प्रिय, (न) नहीं है। (ये) जो प्राणी, (तु) तो, (भक्त्या) अनन्यभक्तिसे, (माम्) मुझ परमात्माको, (भजन्ति) भजते हैं, (ते) वे प्राणी, (मयि) मुझमें अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें रहते हैं, (च) और, (अहम्) मैं परमात्मा, (अपि) भी, (तेषु) उन भक्तोंके हृदयमें वर्तमान रहता हूँ ॥ २९ ॥

कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थेन्द्राय सोममुशते सुनोति ।
सध्रीचीनेन मनसाविवेनं तमित्सखायं कृणुते समत्सु ॥

(ऋग्वेदः ४-२४-६)

हे जीवात्मन् ! (यः) जो मेरा उपासक ब्रह्मज्ञानी, (इत्था) इस प्रकार सब भूतोंमें राग-द्वेपसे रहित होकर अनन्य-भक्तिसे, (सोमम्) शान्त्यादि गुणवाले भक्तकी, (उशते) कामना करनेवाले, (इन्द्राय) परमात्माका, (सध्रीचीनेन) समाहित, सीधे, (मनसा) अन्तःकरणसे, (सुनोति) भजन करता है, परमात्मा

भी, (अस्मै) इस ब्रह्मज्ञानी प्राणीको, (वरिवः) ज्ञानमय धनवाला, (कृणोति) कर देता है । (अविवेनम्) सबमें समरूप, किसीके साथ राग-द्वेष न करनेवाला एकरस परमात्मा, (तम्) उस भक्तको, (इत्) ही, (सखायम्) सखारूप, और, (समत्सु) सब प्रकारकी प्रसन्नतामें, (कृणुते) धारण करता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा सबमें एकरस रहता है । वह किसीसे द्वेष या राग नहीं करता । जो पुरुष राग-द्वेपसे रहित होकर परमात्माका भजन करते हैं उनमें परमात्मा वास करता है और वे परमात्मामें वास करते हैं । वेदमें भी कहा गया है कि जो भक्त सच्चे मनसे परमात्माका ध्यान करता है उसे परमात्मा अपना सखा बना लेता है और उस भक्तको सब प्रकारका आनन्द प्राप्त होता है ।

३०. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥

३१. क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

हे अर्जुन ! (सुदुराचारः अपि चेत्) यदि कोई प्राणी पूर्व अवस्थामें अत्यन्त दुराचारी भी हो, परन्तु पिछली अवस्थामें, (अनन्यभाक्) सत्सङ्गति पाकर परमात्माकी अनन्य भक्ति करता हुआ, या आत्म-चिन्तनके अतिरिक्त किसी देहेन्द्रियके विषयको सेवन न करता हुआ, (माम्) मुझ परमेश्वरको ही, (भजते) भजता है, तो, (सः) वह प्राणी, (साधुः) सत्पुरुष ही, (मन्तव्यः) माननेयोग्य है, (हि) क्योंकि, (सः) उस पुरुषने, (सम्यक्) समीचीनतया, (व्यवसितः) 'मैं परमेश्वरके भजनसे सब प्रकारके पूर्वकृत पापोंसे छूट जाऊँगा' ऐसा निश्चय कर लिया है ॥ ३० ॥

ऐसा मेरा भक्त, (क्षिप्रम्) बहुत शीघ्र ही, (धर्मात्मा) पुण्यात्मा, (भवति) हो जाता है । फिर, (शश्वत्) सदाके लिये, (शान्तिम्) सब प्रकारकी विषयवासनाओंको त्यागकर संसारसे शान्तिको, (निगच्छति) प्राप्त हो जाता है। (कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (मे) मुझ परमेश्वरका, (भक्तः) भक्त, (न प्रणश्यति) कभी भी नष्ट नहीं होता, (प्रतिजानीहि) इस प्रतिज्ञाको तू निश्चयपूर्वक जान ले ॥ ३१ ॥

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि ।
तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ॥

(ऋग्वेदः ३-३०-१)

हे परमात्मन् ! पूर्व अवस्थाओंमें अत्यन्त दुराचारी प्राणी भी यदि, (प्रयांसि) अपने प्राण-अपानादि हवियोंको भगवदर्पण, (दधति) धारण करते हैं अर्थात् पिछली अवस्थामें भगवद्भजन करते हैं, (त्वत्) तेरे लिये अर्थात् परमात्माके लिये ही, (जनानाम् अभिशस्तिम्) प्रत्येक प्राणीके द्वारा की हुई हिंसादि बुराई अथवा दुर्वचनात्मक हिंसाको, (तितिक्षन्ते) सहन करते हैं अर्थात् मन, कर्म, वचनको अपने वशमें करते हुए क्षमाशील या साधु हो जाते हैं तो वही क्षमाशील पुरुष, (सोम्यासः) शान्तिको प्राप्त होकर, (सखायः) सबको समान दृष्टिसे देखते हुए सबमें एकरस होकर, (त्वा) तुझ परमात्माको, (इच्छन्ति) पानेकी इच्छा करते हैं, और, (सोमम्) शान्त ब्रह्मको, (सुन्वन्ति) सिद्ध करते हैं अर्थात् मुक्ति पदवीको प्राप्त होते हैं । (इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (त्वत्) अनन्य भक्तिसे तेरा भजन करनेवाला, (कश्चन) कोई भी प्राणी, (हि) निश्चय ही, (आ प्रकेतः) सब ओरसे परिपूर्ण ज्ञानवान् हो जाता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कोई प्राणी पहले दुराचारी हो परन्तु पिछली अवस्थामें भगवच्छरणमें प्राप्त हो जाय तो उसके पूर्व दुष्कर्मोंका नाश हो जाता है और वह परमपवित्र साधु पुरुष हो जाता है । फिर वह कभी जन्म-मरणके बन्धनको प्राप्त नहीं होता । वेदमें भी कहा गया है कि अपने देहेन्द्रिया-भिमानका परित्याग करके दूसरे पुरुषोंके कठोर-वचनमय बाणोंको सहन करने-वाले प्राणी शान्तिको पाते हैं और संसारसे उपराम होनेके अनन्तर भगवज्ज्ञान और भगवच्छरणद्वारा मुक्त हो जाते हैं ।

३२. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (ये) जो, (पापयोनयः) अन्त्यजादि नीच या हिंसक जातिमें उत्पन्न, (स्त्रियः) साधारण स्त्रियाँ, (वैश्याः) कृषि-व्यापा-रादि कर्मोंमें संलग्न वैश्य, (तथा) और, (शूद्राः) शूद्र अर्थात् सेवा करने-वाली जातिके प्राणी, (अपि स्युः) भी हों, (ते अपि) वे भी, (माम्) मुझ पतितपावन परमात्माको, (व्यपाश्रित्य) आश्रय करके अर्थात् मेरी शरण आकर, (परां गतिम्) परम श्रेष्ठ गतिको, (यान्ति हि) निश्चित रूपसे प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥

(अथर्ववेदः ३-५-६)

(पर्ण !) हे ज्ञानवान् ! हे यते ! (ये) जो, (रथकाराः) रथ आदिके बनानेवाले बढ़ई आदि शूद्रवंशवाले भी, (धीवानः) परमात्माकी भक्तिमें बुद्धि रखनेवाले हैं, और, (ये) जो, (कर्माराः) लौह, सुवर्ण आदि धातुओंके अथवा मृत्तिका-पत्थर आदि गढ़नेवाले शूद्रवंशोत्पन्न शिल्पी भी, (मनीषिणः) अपने मनको वशमें रखकर भगवान्की उपासनामें बुद्धिको धारण करनेवाले अर्थात् अध्यात्मविद्याके ज्ञाता हैं, (उपस्तीन्) मेरी अर्थात् परमात्माकी उपासनाके लिये उपस्थित हुए, (सर्वान् जनान्) उन सब दुराचारी, स्त्री, वैश्य, शूद्रादिको भी, (अभितः) सब ओरसे, (त्वम्) तू सदुपदेष्टा ज्ञानी और भक्त पुरुष, (मह्यम्) मुझ परमात्माके लिये अपनी सत्सङ्गतिके प्रभावसे, (कृणु) तैयार कर ।

उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी ।
अदेवत्रादराधसः ॥

(ऋग्वेदः ५-६१-६)

हे मनुष्य ! (त्वा) एक अकेली, (स्त्री उत) स्त्री भी, (अदेवत्रात्) देवपूजन अर्थात् परमात्माका पूजन न करनेवाले, (अराधसः) दानादि धनसे रहित अर्थात् शुभ कर्ममें अपने धनको न लगानेवाले, (पुंसः) लोभी पुरुषसे, (शशीयसी) अतीव श्रेष्ठ, और, (वस्यसी) सब स्थानोंमें वासके योग्य अर्थात् मुक्तिधाममें वासके योग्य, (भवति) होती है ।

तुलना—गीताके अनुसार साधारण स्त्रियाँ और वेश्यादि नीच स्त्रियाँ तथा गृहकार्यासक्त वैश्य और सेवापरायण शूद्रादि नीच जातियाँ भी परम-श्रद्धाभक्तिसे भगवद्भजन करनेसे परमपदको प्राप्त हो जाती हैं । वेदमें भी कहा गया है कि रथकार, लोहकार, कर्मकार तथा स्त्री जाति भी भगवद्भजन न करनेवाले ब्राह्मणादि वर्णोंके पुरुषोंसे श्रेष्ठ मानी जाती है ।

३३. किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

हे अर्जुन ! (पुनः) तो फिर, (पुण्याः) शम-दमादिसे पवित्रात्मा, और, (भक्ताः) परमात्माकी भक्ति करनेवाले, (ब्राह्मणाः) शुद्ध ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए, (तथा) वैसे ही, (राजर्षयः) शुद्ध आचरणवाले सूक्ष्मदर्शी क्षत्रिय, (किम्) इनके लिये क्या कहना है ! अर्थात् उत्तम कुल होनेके साथ पवित्रात्मा और भगवद्भक्त होनेसे ब्राह्मण और क्षत्रिय क्या परमपदको प्राप्त न होंगे ? इसलिये हे अर्जुन ! तू, (इमम्) इस, (अनित्यम्) विनाशी,

तथा, (असुखम्) सुखसे रहित, (लोकम्) लोकको अर्थात् मनुष्यलोकको, (प्राप्य) प्राप्त करके, (माम्) मुझ परमात्माको, (भजस्व) भज अर्थात् मुझ परमात्माकी उपासना कर॥ ३३ ॥

यं विप्रा उक्थवाहसोऽभिप्रमन्दुरायवः ।
घृतं न पिप्य आसन्यृतस्य यत् ॥

(ऋग्वेदः ८-१२-१३)

(विप्राः) ब्रह्मज्ञान रखनेवाले बुद्धिमान् ब्राह्मण, और, (उक्थवाहसः) अस्त्र-शस्त्र उठानेवाले राजर्षि अर्थात् क्षत्रिय, (आयवः) मुक्तिकी प्राप्तिके लिये विस्तृत विचारोंवाले भगवद्भक्त मनुष्य, (यम्) जिस परमात्माको पाकर, (अभिप्रमन्दुः) अत्यन्त आनन्दमें स्थित होते हैं, इसमें कहना ही क्या है। इसलिये हे जीवात्मन्! तू भी, (ऋतस्य) सत्यस्वरूप परब्रह्मके, (आसनि) मुख अर्थात् मुक्तिपदमें, (यत्) जो ज्ञान है उसे, (घृतं न) शुद्ध घृतके समान, (पिप्ये) सेवन कर या पान कर।

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः ।
देवासो नित्ययाशिरा ॥

(ऋग्वेदः ८-३१-५)

(देवासः!) हे ब्रह्मज्ञानी विद्वानो! (या) जो, (दम्पती) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि स्त्री-पुरुष, (समनसा) समाहित मनसे, (सुनुतः) परमात्म-भजनात्मक यज्ञको करते हैं, जो स्त्री-पुरुष, (आधावतः) भगवद्भक्तिकी ओर अपने आपको ले जाते हैं या ब्रह्मज्ञानसे अपने आपको शुद्ध करते हैं, (च) और, जो स्त्री-पुरुष, (नित्यया) सर्वदा रहनेवाले, (आशिरा) भगवदाश्रयपूर्वक वास करते हैं, इस बातमें कहना ही क्या है!

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय यदि भगवद्भक्ति करनेवाले हों तो क्या वे परमपदको प्राप्त न होंगे? अर्थात् अवश्यमेव परमपदको प्राप्त होंगे। वेदमें भी कहा गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय भगवद्भक्ति करनेसे पवित्र हो जाते हैं और भगवद्भक्तिके प्रभावसे अवश्यमेव परमपदको प्राप्त हो जाते हैं।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥

(बृ. उ. ४-४-१४)

हम लोग इस संसारमें शरीर पाकर अज्ञाननिद्रासे रहित होकर उस ब्रह्मतत्त्वको किञ्चित् जान सकते हैं। यदि ऐसा न हुआ तो बड़ी हानि होगी अर्थात् बड़े दुःखके कारण जन्म-मरणको प्राप्त होना होगा। अतः जो लोग उस अनन्त शक्तिमान् जगदीश्वरको जानते हैं वे अमृतस्वरूप हो जाते हैं अर्थात् अमर होकर परमपद कैवल्यको पाते हैं और जो उस परमेश्वरको नहीं जानते वे बार-बार सर्वदुःखमय जन्म-मरणको प्राप्त होते रहते हैं।

३४. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।

हे अर्जुन! तू, (मन्मनाः) मुझ परमात्मामें मनको लगानेवाला, (मद्भक्तः) मुझ परमात्माका अनन्य भक्त, और, (मद्याजी) मुझ परमात्माकी प्राप्तिके लिये नित्य-नैमित्तिक यज्ञ करनेवाला, (भव) हो जा, तथा, (माम्) मुझ परमात्माको ही, (नमस्कुरु) शरीर, मन और वाणीसे नमस्कार कर। (एवम्) इस प्रकार, (मत्परायणः) सर्वदा मेरे स्वरूपके ध्यानमें लगा हुआ, (आत्मानम्) अपने अन्तःकरणको, (युक्त्वा) समाधिमें लगाकर, (आत्मानम्) सर्वत्र व्याप्त, (माम्) मुझ परमात्माको, (एष्यसि) प्राप्त हो जायगा॥ ३४॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥

(अथर्ववेदः ३-८-५)

हे मुमुक्षु पुरुषो! मैं परमात्मा, (वः) तुम अनन्य भगवद्भक्तोंके, (मनांसि) चित्तोंको, (सं नमामसि) अपने अनुकूल करता हूँ। (वः) तुम्हारे अर्थात् अपने अनन्य भक्तोंके, (व्रताः) नित्य-नैमित्तिक व्रत, तप आदि यज्ञ, (सं नमामसि) अपने अनुकूल करता हूँ जिससे तुम्हारी वृत्ति मेरे लिये यजनशील हो। (वः) तुम्हारे, (आकूतीः) संकल्पों अर्थात् आध्यात्मिक विचारोंको, (संनमामसि) स्वानुकूल करता हूँ जिससे तुम्हारे नमस्कार भी मुझ परमात्माके अनुकूल हों, (ये) और जो, (अमी) ये, (विव्रताः) विरुद्ध कर्म करनेवाले अर्थात् परमात्मासे विमुख, (स्थन) हैं, (तान्) परमात्मासे विमुख उन पुरुषोंको, (वः) तुम्हारे सम्मुख ही,

(संनमयामसि) अपनी मर्यादा स्थापित करनेके लिये और अपने भक्तोंकी रक्षा करनेके लिये अच्छे कर्ममें झुका देता हूँ जिससे वे मुझ परमात्माके भक्त बन जायँ।

उपनिषद्‌में भी कहा गया है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मु. उ. ३-२-८)

जैसे भिन्न-भिन्न नदियाँ बहती हुई अपने सिन्धु, गंगा, यमुनादि नाम और रूपको त्यागकर समुद्रमें लय हो जाती हैं वैसे ही विद्वान् अपने नाम-रूपसे रहित होकर उस परमपुरुष परमात्मामें जा मिलता है।

तुलना—गीताके अनुसार परमात्मामें मन लगानेवाला, परमात्माका भक्त, परमात्माके नामपर संकल्परहित होकर यज्ञ करनेवाला प्राणी परमात्मामें जा मिलता है। वेद और उपनिषद्‌में भी कहा गया है कि मन, संकल्प और नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको निष्कामभावसे परमात्मार्पण करता हुआ प्राणी संसारसे विमुक्त होकर परम पुरुषोत्तम परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका अष्टम अध्याय समाप्त।

दशम अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

१. भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥

श्रीभगवान् बोले—(महाबाहो !) हे महान्, पराक्रमयुक्त भुजावाले अर्जुन ! (मे) मेरे, (परमम्) परम श्रेष्ठ परमार्थदायक, (वचः) वचनको, (भूयः) फिर एक बार, (एव) निश्चय ही, (शृणु) सुन, (यत्) क्योंकि, (अहम्) मैं श्रीकृष्ण, (हितकाम्यया) तेरी भलाई करनेकी इच्छासे, (प्रीयमाणाय) वचनामृतको प्रीतिपूर्वक पान करनेवाले, (ते) तुझ भक्त अर्जुनसे, (वक्ष्यामि) कहूँगा ॥ १ ॥

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम् ॥

(ऋग्वेदः १-१०-९)

(आश्रुत्कर्ण !) सब बातें चारों ओर भलीभाँति सुननेवाले कान रखनेवाले हे जन ! (इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (मम) मुझ परमेश्वरके, (हवम्) [ह्विञ् ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च] वचनको, (नु) शीघ्र, (श्रुधी) सुन। (मे) मुझ परमात्माकी, (गिरः) वेदमयी वाणीको, (दधिष्व) चित्तमें धारण कर ['चित्' पादपूर्तिके लिये है], (मम) परमार्थका उपदेश देनेवाले मेरे, (इमम्) उपदेश दिये हुए इस, (स्तोमम्) वाक्यसमूहको, (युजश्चित्) अपने साथ जुड़े हुए सखारूप मनके ही, (अन्तरम्) भीतर, (कृष्व) कर अर्थात् मेरा उपदेश समाहित मनसे ग्रहण कर।

तुलना—गीतामें अर्जुनको फिर श्रद्धासे वचनामृत सुनानेके लिये तैयार किया गया है। अर्जुनकी विशेष श्रद्धा और प्रीति देखकर भगवान् अर्जुनका सांसारिक मोह छुड़ानेके लिये उसे फिर उपदेश देते हैं। वेदमें भी भगवान्ने मनुष्योंको यही उपदेश दिया है कि वेदोपदेशको सावधान होकर अर्थात् कान खोलकर सुनना चाहिये और मनको उस उपदेशमें लगाना चाहिये।

२. न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥

हे अर्जुन ! (सुरगणाः) ब्रह्मादि देवगण, (मे) मेरे, (प्रभवम्) प्रभाव अर्थात् सामर्थ्यको अथवा मेरी उत्पत्तिको, (न विदुः) नहीं जानते, और, (महर्षयः) भृगु, मरीचि, अत्रि प्रभृति ब्रह्माके दश मानस पुत्र भी, (न) नहीं जानते, (हि) क्योंकि, (अहम्) मैं परमात्मा, (देवानाम्) ब्रह्मा, इन्द्रादि देवताओंका, (च) और, (महर्षीणाम्) भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषियोंका, (सर्वशः) सब प्रकारसे, (आदिः) मूल कारण हूँ अर्थात् इन महर्षि और देवताओंसे भी प्रथम हूँ ॥ २ ॥

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः ।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान् नो भवत्विन्द्र ऊती ॥
(ऋग्वेदः १-१००-१५)

(देवाः) इन्द्रादि देवता, ज्ञानी विद्वान् अथवा वागादि इन्द्रियाँ, (यस्य) जिस, (देवता) ज्योतिःस्वरूप परमात्माके, (शवसः) बल अर्थात् सामर्थ्य-के, (अन्तम्) अन्तको, (न आपुः) प्राप्त नहीं होते, (आपः) भृगु, व्यासादि आप्तवक्ता महर्षिगण भी, (यस्य) जिस परमात्माके प्रभावके अन्तको, (न) नहीं प्राप्त होते, और, (मर्ताः) मरनेवाले सब साधारण जीव भी, (यस्य शवसः अन्तम्) जिस परमात्माके प्रभावके अन्तको, (न) प्राप्त नहीं होते, (मरुत्वान्) वह जीवोंका स्वामी, (त्वक्षसा) पापोंका नाश करनेवाले बल-से, (क्ष्मः) पृथिवी, (च) और, (दिवः) आकाशको, (प्ररिक्वा) अत्यन्त भिन्न स्थानपर स्थापित करनेवाला, या इन दोनोंको भिन्न-भिन्न करनेवाला, (सः इन्द्रः) वह परमैश्वर्यवान् परमात्मा, (नः) हम भक्तोंकी, (ऊती) रक्षाके लिये, (भवतु) होवे ।

उपनिषदोंमें भी कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् ।
(कठ उ. ५-१५)

न वहाँ सूर्य प्रकाशित होता, न चन्द्र-तारे ही ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति ।
(केन उ. १-३)

न वहाँ नेत्र पहुँच पाता, न वाणी ही ।

ओं बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
(मु. उ. ३-१-७)

वह बहुत बड़ा, दिव्य, अचिन्त्य रूपवाला और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।
(मु. उ. ३-१-८)

न वह चक्षुरिन्द्रियसे ग्रहण किया जा सकता, न वाणीसे ही।

इन श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ, सूर्यादि देवता तथा महर्षिगण, कोई भी परमात्माका अन्त नहीं पा सका।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥
(केन उ. २-१)

प्रजापति शिष्यसे कहता है—हे सोम्य! यदि तू ऐसा मानता है कि उस ब्रह्मका स्वरूप सुवेद है अर्थात् वह ब्रह्म सुलभतासे जाननेयोग्य है तब तू निश्चय ही कुछ नहीं जानता। जो कुछ जानता है वह थोड़ा ही जानता है। क्या तू उस ब्रह्मके स्वरूपको जानता है? नहीं, क्योंकि जो तू इस ब्रह्मको अध्यात्मोपाधिके कारण जीव और अधिदैव उपाधिके कारण शरीरसे परिच्छिन्न जानता है, और ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिको ब्रह्मरूप जानता है, यदि ऐसा हो, तो इतना जाननेपर भी तू अल्प ही जानता है। तू पूर्णतया विचारपूर्वक देख कि तू उसके स्वरूपको जानता है या नहीं!

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा ही सब देवता तथा महर्षियोंका आदि कारण है इसलिये देवता और महर्षिगण उसका अन्त नहीं पा सके। वेद और उपनिषदोंमें भी बताया गया है कि परमात्मा दुर्ज्ञेय है। उसके अन्तको ब्रह्मादि देवता तथा ऋषि-महर्षि और साधारण पुरुष भी नहीं पा सकते।

३. **यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।**
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(यः) जो मुमुक्षु पुरुष, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (अजम्) प्राकृतिक जन्मसे रहित, (अनादिम्) कारणरहित अर्थात् नित्य, (च) और, (लोकमहेश्वरम्) सब लोकोंका स्वामी, (वेत्ति) जानता है, (सः) वह मुमुक्षु पुरुष, (मर्त्येषु) सब मनुष्योंमें, (असम्मूढः) मोहरहित अर्थात् ज्ञानी है, तथा, (सर्वपापैः) आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक पापोंसे

और पापके कार्य दुःख, दुर्योनि और दुर्गतिसे, (प्रमुच्यते) भलीभाँति छूट जाता है ॥ ३ ॥

स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान ।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत् ॥

(ऋग्वेदः ४-५६-३)

(यः) जिस परमात्माने, (इमे) दृष्टिगोचर होते हुए इन, (द्यावा-पृथिवी) आकाश और पृथिवीको, (जजान) उत्पन्न किया [नकि पृथिव्यादिसे स्वयं उत्पन्न हुआ, इसीलिये उसे अज कहते हैं], (धीरः) वैदिक ज्ञान एवं बुद्धिका देनेवाला, (यः) जो परमात्मा, (उर्वी) विस्तीर्ण, (गभीरे) हल-चल न करनेवाले, (सुमेके) शोभनस्वरूप, (रजसी) इस लोक तथा परलोक-को, (शच्या) अपनी शक्तिसे, (सम् ऐरत्) भलीभाँति चलाता है, ऐसा जो जानता है, (स इत्) वह ज्ञानी ही, (भुवनेषु) सब भुवनवासी जीवोंमें, (स्वपाः) अच्छे कर्मोंवाला अर्थात् पापकर्मोंसे रहित, (आस) है ।

तुलना—गीतामें ईश्वरको अज, अनादि तथा सर्वजगत्का स्वामी और उस ईश्वरको जाननेवालेको सब पापोंसे रहित बताया गया है । वेदमें भी कहा गया है कि पृथिवी और आकाशादिके उत्पादक ब्रह्मको स्मरण करता हुआ पुरुष निष्पाप हो जाता है ।

४. **बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।**
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥

५. **अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।**
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

हे अर्जुन ! (बुद्धिः) तत्त्व और अतत्त्वका निश्चय करनेवाली अन्तःकरण-वृत्ति, (ज्ञानम्) सदसद्विवेक अर्थात् आत्मा क्या है, देह क्या है, इत्यादि तत्त्वका बोध, (असम्मोहः) किसी कार्यपर मोहित न होना अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ता-से रहित होना, (क्षमा) किसीके दिये हुए क्लेश अथवा उपद्रवादिका सहन करना, (सत्यम्) यथार्थ बात कहना, (दमः) बाह्येन्द्रियोंका निग्रह करना, (शमः) विषयोंसे उपरति अर्थात् शान्ति रखना, (सुखम्) पूर्ण आह्लाद, (दुःखम्) सन्ताप, (भवः) उद्भव, (भावः) सत्ता, अथवा, (अभावः) विनाश, (भयम्) डर, (च) और, (अभयम्) निर्भयता, (च) और, (एव) निश्चय ही, (अहिंसा) किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा न देना, (समता)

राग-द्वेषसे रहित होकर शत्रु-मित्रमें समान बुद्धि रखना, (तुष्टिः) यथालाभ सन्तोष रखना, (तपः) चित्तकी एकाग्रता अर्थात् भगवत्प्राप्तिके निमित्त शारीरिक क्लेश उठाना, (दानम्) देशकालानुसार सत्पात्रको दान देना, (यशः) शुभ कर्मोंके कारण लोकमें अपने बड़प्पनकी प्रसिद्धि, (अयशः) अपकीर्ति, (एते) ये, (पृथग्विधाः) भिन्न-भिन्न प्रकारके, (भूतानाम्) प्राणियोंके, (भावाः) कहे हुए या न कहे हुए काम-क्रोध-लोभादि भाव अर्थात् विकार, (मत्तः) मुझ परमेश्वरसे, (एव) ही, (भवन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझ परमात्मा द्वारा ही जीवोंको हानि-लाभ, यश-अपयश, सुख-दुःखादि सब बातें प्राप्त होती हैं ॥ ४-५ ॥

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः ।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥

(अथर्ववेदः ११-७-१७-१८)

(ऋतम्) मानसिक संकल्प अर्थात् बुद्धि या [ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके] कर्मोंका फल, (सत्यम्) यथार्थ बात कहना, (तपः) चित्तकी एकाग्रता अर्थात् भगवत्प्राप्तिके निमित्त व्रतोपवासादि करके शारीरिक क्लेश उठाना, (राष्ट्रम्) राज्य-सुख अथवा देहरूपी राज्यका सुख भोगना, (श्रमः) परिश्रम अथवा विश्राम अर्थात् विषयोपभोगसे उपरति, (धर्मः) अहिंसादि सर्वसाधारण धर्म, (च) और, (कर्म) वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविध्यनुकूल यज्ञ-यागादि कर्म, (भूतम्) उद्भव, और, (भविष्यत्) आगे उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थ, (वीर्यम्) अभयताका बल या सामर्थ्य, (लक्ष्मीः) सब प्रकारका ऐश्वर्य और उससे उत्पन्न हुआ यश, (बलम्) बल, (समृद्धिः) इष्ट फलकी अभिवृद्धि, (ओजः) तेज, (आकूतिः) इष्टफलप्राप्तिविषयक संकल्प, (क्षत्रम्) क्षात्र तेज, (राष्ट्रम्) राज्यमें शत्रुजन्य दुःख, (षट् उर्व्यः) छह उर्वियाँ अर्थात् द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और औषधियाँ, (संवत्सरः) द्वादशमासात्मक काल, (इडा) वाणी, (प्रैषाः) यज्ञादि कर्मोंमें चारों ऋत्विजोंके प्रेरणा करनेवाले मन्त्र, (ग्रहाः) सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह और उपग्रह, (हविः) चरु-पुरोडाशादि अन्न, तथा और भी प्राणियोंके नाना प्रकारवाले कहे हुए और न कहे हुए काम-क्रोध-लोभादि भाव, (बले) सबसे बलवान्, (अधि उच्छिष्टे) स्वप्रकाश परब्रह्म परमात्मामें रहते हैं ।

तुलना—जैसे भगवद्गीतामें बुद्धि-ज्ञानादिका आश्रय परमात्मा ही बताया गया है वैसे ही वेदमें भी ऋत, सत्य, तप आदिका वासस्थान परमात्मा ही कहा गया है ।

६. महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

(पूर्वे) सृष्टिके आदिमें सबसे पहले, (सप्त महर्षयः) भृगु, अत्रि आदि सात महर्षि, (तथा) और, (पूर्वे चत्वारः) सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, और, (मनवः) स्वयम्भू आदि मनु, (मानसाः जाताः) मेरे संकल्पमात्रसे प्रकट हुए, (मद्भावाः) मुझ परमेश्वरमें अपना चित्त लगाये हुए मेरे विभूतिरूप हैं, (लोके) इस संसारमें, (येषाम्) जिन सप्तर्षि, स्वयम्भू आदिकी, (इमाः) ये सब दृष्टिगोचर होती हुई, (प्रजाः) सारी प्रजाएँ हैं ॥ ६ ॥

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥

(अथर्ववेदः ३-२८-१)

(एषा) विधातासे प्रकट की हुई यह सृष्टि, (एकैकया) एक-एक व्यक्ति-के रूपमें, (सृष्टया) मानस सृष्टिके रूपसे, (संबभूव) उत्पन्न हुई, (यत्र) जिस मानसिक सृष्टिमें, (भूतकृतः) भूतोंसे की हुई अर्थात् पार्थिवादि भूत-विकारवाली, (विश्वरूपाः) नाना वर्णोंवाली, (गाः) गौएँ तथा गौसे उप-लक्षित मानुषी सृष्टि भी, (असृजन्त) प्रकट हुई । यह प्रथम सृष्टि मान-सिक उत्पन्न हुई है, न कि मैथुनी, (यत्र) जिस उत्पन्न हुई मानसिक सृष्टि-में-से, (अपर्तुः) अपकृष्ट ऋतु और वीर्यवाली अर्थात् ऋतुकालसे भिन्न समयवाली मनुष्यादि सृष्टि, (यमिनी) मैथुनके लिए पुरुषसे संयुक्त होनेवाली अर्थात् मैथुन द्वारा सृष्टि उत्पन्न करनेवाली, (विजायते) उत्पन्न होती है । (सा) वह सृष्टि, (रिफती) काम-चेष्टासे आपसमें हिंसा करती हुई, (रुशती) क्रोध करती हुई, (पशून्) [पश्यतीति पशुः] जीवमात्रका, (क्षिणाति) पशुधर्मवाली होकर नाश करती है ।

तुलना—गीताके अनुसार सप्तर्षि, सनक-सनन्दनादि चार, तथा मनु आदि-की प्रथम सृष्टि मानसिक हुई है, जिनकी सन्तानोंका क्रम आजतक चल रहा है । वेदमें भी आदि मानसिक सृष्टि एक-एक करके बिना माता-पिताके उत्पन्न

हुई बताई गई है, जैसे वसिष्ठादि सप्तर्षि उत्पन्न हुए थे। फिर मैथुनी सृष्टि होने लगी, जो काम-चेष्टाके अधिक हो जानेसे एक दूसरेको मारने लगी।

७. एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

(यः) जो ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष, (मम) मुझ परमात्माकी, (एताम्) पूर्वप्रतिपादित विभूति अर्थात् विविधाकारक सर्वात्मस्वरूप या महत्त्वविस्तारको, (च) और, (योगम्) सृष्टिस्थितिसंहार-सामर्थ्य अथवा प्रवेश-नियमनादि सामर्थ्यको, (तत्त्वतः) यथार्थतासे, (वेत्ति) जानता है, (सः) वह ज्ञानी पुरुष, (अविकम्पेन) चंचलतासे रहित अर्थात् स्थिर, (योगेन) चित्तवृत्ति-निरोधक योगसंबन्धसे अर्थात् मेरी उपासनाके संबन्धसे, (युज्यते) देहादिमें आत्मभावको छोड़कर ब्रह्मात्मैकत्वभावसे जुड़ जाता है, (अत्र संशयः न) इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ७॥

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते[1]।
सद्यश्चित्[2]सन्ति दाशुषे[3]॥

(ऋग्वेदः १-८-९)

(इन्द्र!) हे परमैश्वर्ययुक्त परमात्मन्, (ते) तुझ परमात्माके, (विभूतयः) विविधाकारक सर्वात्मस्वरूप महाशक्तिशाली पदार्थ अर्थात् ऐश्वर्यविशेष, (एवा हि) इस प्रकार, (मावते) मुझ जैसे, (दाशुषे) आपको सर्वस्व अर्पण करनेवाले यजमान अर्थात् मुमुक्षु भक्तको, (सद्यः चित्) सर्वदा ही, (ऊतयः सन्ति) संसाररूपी समुद्रसे बचाते हैं।

---

१. मावते—'वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्' इत्यस्मच्छब्दात् वतुप्। मपर्यन्तस्य 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति मादेशः। अद्शब्देन सह 'अतो गुणे' इति पररूपत्वम्। दृग्दृशवतुष्वित्यनुवृत्तावासर्वनाम्नः इति दकारस्य आकारः, सवर्णदीर्घत्वम्।

२. सद्यः—समाने द्यवि इत्यर्थे 'सद्यःपरुत्परार्यैषमः' इत्यादिना निपातितम्।

३. दाशुषे—'दाशृ दाने', 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' इति निपातनात् क्वसाविडभावो द्विर्वचनाभावश्च। चतुर्थ्येकवचने 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'वसोः संप्रसारणम्' इति संप्रसारणम्। वकारस्योकारः, परपूर्वत्वम्, 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम्।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि परमात्माके विविधस्वरूपवाले ऐश्वर्य-विस्तारको जो सम्यक्तया जान लेता है उस मुमुक्षुकी चित्तवृत्तिका योग परमात्माके साथ अविचलभावसे हो जाता है, अर्थात् उसकी चित्तवृत्ति सांसारिक विकृतिशील पदार्थोंके स्नेहको छोड़कर पूर्णतया परमात्मभक्तिमें लग जाती है। वेदमें भी यही बताया गया है कि सारे जगत्में अपने स्वरूपको भिन्न-भिन्न शक्तियोंसे युक्त करके परमात्मा ही भिन्न-भिन्न समयमें उन शक्तिशाली विभूतियोंसे देहात्मभावको छोड़कर अपने आपको परमात्माके समर्पण करनेवाले अपने भक्तोंकी रक्षा करता है।

८. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(अहम्) मैं परमात्मा ही, (सर्वस्य) दृष्टिगोचर होते हुए सारे जगत्का, (प्रभवः) उत्पत्तिस्थान अर्थात् उपादान-कारण हूँ। (मत्तः) मुझ परमात्मासे ही, (सर्वम्) सब वस्तुएँ अपने-अपने कार्यमें, (प्रवर्तते) प्रवृत्त होती हैं अर्थात् पदार्थोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति मेरे द्वारा ही सिद्ध होती है। (बुधाः) ज्ञानी लोग, (इति मत्त्वा) सबका उपादानकारण परमेश्वर है, यह मानकर, (भावसमन्विताः) ब्रह्मात्मभावसे युक्त होकर, (माम्) मुझ परमेश्वरको, (भजन्ति) भजते हैं अर्थात् सेवन करते हैं ॥ ८॥

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया॥

(अथर्ववेदः ६-६१-३)

(अहम्) मैंने अर्थात् परमात्माने, (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और आकाशको, (जजान) उत्पन्न किया है। (अहम्) मैंने ही, (ऋतून्) ऋतुओंको अर्थात् समयको, तथा, (सप्त सिन्धून्) सातों समुद्रोंको, (अजनयम्) उत्पन्न किया अर्थात् सारे संसारको उत्पन्न किया है। अतः जगत्का उपादान-कारण मैं ही हूँ। (अहम्) मैं परमात्मा ही, (यत् सत्यं यत् अनृतम्) संसारके सत्य या असत्य पदार्थोंको, (वदामि) वेदमें प्रतिपादित कर देता हूँ अर्थात् सत्य क्या है और असत्य क्या है, सत्य बोलनेका फल क्या है और असत्य बोलनेका फल क्या है, यह स्पष्ट वेदद्वारा कह देता हूँ। (अग्नीषोमौ सखायौ अजुषे) मैं ही जीवात्मा और परमात्माको समानरूप या एक रूपसे जोड़ देता हूँ अर्थात् जीवात्मा और मैं परमात्मा जो एकरूप हो जाते हैं, वह भी मेरा कार्य है।

तमु ष्टवाम य इमा जजान विश्वा जातान्यवराण्यस्मात् ।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम[1] गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम ॥

(ऋग्वेदः ८-९६-६)

(यः) जिस परमात्माने, (इमाः) इन पञ्चभूतोंको, (जजान) उत्पन्न किया, (अस्मात्) इस परमात्मासे, (विश्वा अवराणि) त्रिकालमें उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुएँ, (जातानि) प्रकट हुईं। (तम् उ स्तवाम) हम मुमुक्षु जीव उस परमात्माकी ही स्तुति करें। हम मुमुक्षु भक्तजन, (गीर्भिः) स्तुति-मयी वाणियोंसे, (इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम) परमैश्वर्यवान् परमात्माके साथ मित्रताको धारण करें या हम इन्द्र अर्थात् परमात्माके मित्र बनें, संसारके मित्र न बनें। इसलिए, (नमोभिः) हम अपने किये हुए नमस्कारों द्वारा अर्थात् नम्रतासे, (वृषभम्) दयाकी वृष्टि करनेवाले उस सर्वोत्तम परमात्मामें, (उपोविशेम) प्रवेश कर जायँ अर्थात् एक-स्वरूप हो जायँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ईश्वर ही सबको उत्पन्न करता है, उसकी प्रेरणासे ही सब वस्तुएँ अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होती हैं और नियमानुसार कार्य करती रहती हैं। ज्ञानी यही जानकर अनन्यभक्तिसे परमेश्वरका भजन करते हैं। इसी अनन्यभक्ति द्वारा उनका चित्त ईश्वरमें लगता है। वेदमें भी यही भाव है कि परमेश्वरने ही इस जगत्‌को उत्पन्न किया, सारे पदार्थोंको उत्पन्न करके उनमें कार्यकर्तृत्वक्षमता धारण की, जिससे सूर्य-चन्द्रादि ग्रहगण तथा स्थावर-जङ्गम सब वस्तुएँ अपने-अपने नियमानुसार अपना-अपना कार्य कर रही हैं। ऐसा जो पुरुष जानता है वही अपनी स्तुतिमयी वाणियोंद्वारा परमात्माको प्रसन्न करता है और अपने शुद्धचित्त द्वारा ब्रह्मात्मैकत्वका ज्ञान प्राप्त करके परमात्मामें वास करता है।

९. **मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।**
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

(मां बोधयन्तः) शिष्योंको शास्त्रके सत्य अर्थद्वारा मुझ परमेश्वरको वतलाते हुए, (परस्परम्) आपसमें, (कथयन्तः) स्व-स्वानुभव कहते हुए, (मच्चित्ताः) मुझ परमात्मामें मन लगाये हुए, (मद्‌गतप्राणाः) मेरे तत्त्वके प्रतिपादक वाक्योंके उच्चारण करनेमें तथा उस वास्तविक अर्थके सुनने और निश्चित अर्थके विचारमें वाणी आदि इन्द्रियोंको भगवत्परक करते हुए भक्तजन,

---

१. दिधिषेम—'दिधिष धारणे' इति केचिद्वदन्ति, यद्वा 'धिष् शब्दे' जौहोत्यादकः।

(नित्यम्) सदा, (तुष्यन्ति) प्रसन्न होते हैं, (च) और, (रमन्ति) मेरे विचारोंमें ही रमण करते हैं ॥ ९ ॥

ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जनेजने ।
सुनीथासः सुदानवोंहोश्चिदुरुचक्रयः ॥

(ऋग्वेदः ५-६७-४)

(ते हि) निश्चय ही वे भगवद्भक्त मुमुक्षुजन, (सत्याः) सत्यस्वरूप परमात्म-स्थितिवाले या सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मसाक्षात्कार होनेसे सत्यभाषी, (ऋत-स्पृशः) ब्रह्म को वागादि द्वारा स्पर्श करनेवाले अर्थात् वाणी द्वारा परमात्म-स्तुति करते हुए, या 'ऋत' नाम यज्ञका है, अतः नित्य सत्सङ्गतिरूपी यज्ञमें लगे हुए, (ऋतावानः) सारे जगत्को ब्रह्मस्वरूप देखते हुए, (जने जने सुदानवः) प्रत्येक मनुष्यको भगवद्भक्तिका सुन्दर दान देनेवाले, अतः, (सुनीथासः) ['सुनी-थस्य प्रशस्ये पाठः' निघण्टु ३-८] अत्यन्त शुद्धचित्त होनेसे श्रेष्ठ भक्त, (अंहोः चित्) पापीसे पापीको अर्थात् महापातकीको भी, (उरुचक्रयः) बहुत उत्तमसे उत्तम कर्म करानेवाले, ब्रह्मानन्दमें प्रसन्न रहते हुए, ब्रह्मरसमें ही रमण करते रहते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ईश्वरमें चित्तको स्थिर रखनेवाले तथा अपने जीवनको भी ईश्वरार्पण करनेवाले ईश्वरप्राप्तिका ज्ञान दूसरे जिज्ञासुओं-को बताते एवं आपसमें ईश्वरके गुणोंका वर्णन करते हुए सदा सन्तुष्ट रहते हैं और विश्वरूप ईश्वरमें ही रमण करते रहते हैं । वेदमें भी यही कहा गया है कि जो भक्तजन सत्यवक्ता, सदा ब्रह्ममें रमण करनेवाले, नित्य सत्सङ्गतिरूपी यज्ञमें वास करनेवाले, प्रत्येक मनुष्यको परमात्मभक्तिका दान देनेवाले और पापीसे पापी मनुष्यको भी भगवद्भक्तिका उपदेश देनेवाले हैं वही श्रेष्ठ पुरुष हैं।

१०. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(सततयुक्तानाम्) सर्वदा अखण्डैकरस आनन्दस्वरूप परमात्मज्ञानमें संलग्न, और, (प्रीतिपूर्वकं भजताम्) प्रीतिपूर्वक पराभक्तिसे मेरा भजन करनेवाले, (तेषाम्) उन अपने प्रेमी भक्तोंको प्रीतिपूर्वक, (तं बुद्धियोगं ददामि) अपना स्वरूप-ज्ञानकारक वह बुद्धि-संबन्ध देता हूँ, (येन) जिस बुद्धियोगसे, (ते) वे मेरे प्रिय भक्तजन, (माम् उपयान्ति) मुझको प्राप्त होते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥

(अथर्ववेदः ११-९-२६)

(मित्राः) किसीके साथ द्वेष न रखनेवाले, सबको एकरूपतासे या मित्र-दृष्टिसे देखनेवाले, (देवजनाः यूयम्) परमात्माके भक्त तुम, (तेषां सर्वेषाम् ईशानाः) उन सब इन्द्रियों अथवा काम-क्रोधादि शत्रुओंपर प्रभुत्व रखते हुए, (उत्तिष्ठत) उठो, और, (संनह्यध्वम्) परमात्म-भजन-द्वारा मुक्तिधाम जानेके लिये तैयार हो जाओ ! तुम भगवद्भक्त, (इमम्) इस, (सङ्ग्रामम्) संसार-युद्धको, (संजित्य) जीतकर अर्थात् अनात्ममें आत्मबुद्धि त्यागकर, (यथालोकम्) अपनी-अपनी भक्तिके अनुसार अपने-अपने लोक अर्थात् मुक्तिधाममें, (वितिष्ठ-ध्वम्) स्थित हो जाओ ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो भक्त नित्य ही परमात्मभक्तिमें लग-कर परमात्मासे प्रीति करते हैं उन्हें दयालु परमात्मा सद्बुद्धिका संबन्ध देता है जिसके बलपर वे ईश्वरको प्राप्त कर लेते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो जीव सारे जगत्को मित्रदृष्टिसे देखेंगे, किसीके साथ द्वेष न रखेंगे और सब इन्द्रियों तथा इन्द्रियजन्य काम-क्रोधादिको वशमें रखेंगे वे ही परमात्माकी दयासे सांसारिक युद्धको जीतकर अर्थात् सांसारिक वासनाको छोड़कर परमात्मभक्तिकी सहायतासे मुक्तिधामको प्राप्त होंगे ।

११. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(आत्मभावस्थः अहम्) भक्तोंकी अन्तःकरणकी वृत्तिके अनुसार प्रत्यगात्म-वृत्तिमें स्थित हुआ मैं परमात्मा, (तेषाम्) प्रीतिपूर्वक पराभक्तिसे भजन करने-वाले उन्हीं भक्तजनोंपर, (अनुकम्पार्थम्) दयादृष्टि करनेके लिये, (अज्ञानजम्) असत्में सद्भावना, अनात्ममें आत्मभावनादि अज्ञानसे उत्पन्न हुए, (तमः) आवरणको, (भास्वता ज्ञानदीपेन) प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपकसे, (नाशयामि) दूर कर देता हूँ ॥ ११ ॥

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥

(अथर्ववेदः ८-१-१०)

(पुरुष !) हे जीवात्मन् ! (एतं पन्थाम्) इस अज्ञानमार्गको अर्थात्

अनात्ममें आत्मबुद्धि, असत्में सद्बुद्धि आदि विपरीत ज्ञान अर्थात् अज्ञानको, (मा अनुगाः) मत प्राप्त हो, क्योंकि, (एष भीमः) यह काम-क्रोधादिसे जन्य अज्ञान-मार्ग भयानक है, (येन) जिस अज्ञानमार्गसे, (पूर्वम्) पूर्व कल्पमें पूर्व-पुरुष अर्थात् ज्ञानीजन भी, (न इयथ) नहीं जाते। (तं ब्रवीमि) मैं परमात्मा उस अज्ञानमार्गको कहता हूँ, (तम एतत्) वह अन्धकारमय है, (मा प्रपत्थ) उस अज्ञानमार्गपर मत प्राप्त हो। हे जीवात्मन्! यदि तू इस अज्ञान-मार्गपर चलेगा तो तुझे, (परस्तात् भयम्) दूसरेसे भी भय होगा,(अर्वाक् ते अभयम्) और इधर सामनेसे अभय है अर्थात् अज्ञान-मार्गका सहारा लेनेसे परलोकमें नरकादिका भय होगा, परन्तु जीते-जी इस लोकमें तू अज्ञानसे दुःखको सुख मानेगा।

तुलना—गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि मैं अपने भक्तोंके अन्तःकरणमें ज्ञान उत्पन्न करके उनका अज्ञान नष्ट कर देता हूँ। वेदमें भी अज्ञानी जीवको परमात्मा उपदेश द्वारा ज्ञान देता है कि हे जीवात्मन्! तू अज्ञानी मत बन, अज्ञान-पाशसे बँधा हुआ कुमार्गपर मत चल। इस कुमार्गगतिका परिणाम बुरा होता है। इसमें जो जाते हैं वे दुर्गति पाते हैं। अतः सत्यमार्गका आश्रय कर, तभी तू निर्भय होगा।

अर्जुन उवाच—

१२. परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

१३. आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

अर्जुनने कहा—हे श्रीकृष्ण! (भवान् परं ब्रह्म, परं धाम, परमं पवित्रम्) आप परब्रह्म हैं, प्रकृतिसे परे हैं, परमपवित्र हैं, (सर्वे ऋषयः देवर्षिः नारदः असितः देवलः तथा व्यासः) सारे ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास, (त्वाम्) आपको, (शाश्वतं पुरुषं दिव्यम् आदिदेवम् अजं विभुम् आहुः) पुराणपुरुष, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा तथा सर्वव्यापक कहते हैं, (स्वयं चैव मे ब्रवीषि) तथा आपने स्वयं भी मुझसे 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्', 'सर्वभूतस्थितं यो माम्' इत्यादि उक्तियों द्वारा अपने आपको शाश्वत एवं परिपूर्ण परब्रह्म कहा है॥ १२-१३॥

अवाचचक्षं पदमस्य सस्वरुग्रं निधातुरन्वायमिच्छन्।
अपृच्छमन्याँ उत ते म आहुरिन्द्रं नरो बुबुधाना अशेम॥
(ऋग्वेदः ५-३०-२)

(अस्य) इस परमात्माके, (सस्वः) अन्तर्हित, परम गुह्य, (उग्रम्) सर्वोत्कृष्ट, (पदम्) स्थान, स्वरूप या परमधामको, (अवाचचक्षम्) निश्चय ही मैंने देख लिया अर्थात् जाँच लिया । (इच्छन्) परब्रह्मके स्वरूपको जानने-की इच्छा करता हुआ मैं, (निधातुः) अपनी महिमासे जगत्‌की स्थापना करने-वाले परब्रह्मके पदको अर्थात् वास्तविक स्वरूपको, (अन्वायम्) प्राप्त हो गया अर्थात् जान गया । (अन्यान्) नारद-व्यासादि भिन्न-भिन्न ऋषि-मुनियोंसे भी, (अपृच्छम्) परमात्माके स्वरूपको पूछा । (ते) मुझसे पूछे हुए उन नारदादि ऋषियोंने, (मे) मुझसे, (इन्द्रम् आहुः) इन्द्र अर्थात् सर्वैश्वर्यसम्पन्न परब्रह्म परमात्माको सर्वोत्कृष्ट कहा । (नरः) ज्ञानियोंके नेता, (बुबुधानाः) परमात्मा-के स्वरूपको जाननेकी इच्छा करते हुए हम मुमुक्षुजन भी, (अशेम) परमात्माके स्वरूपमें प्रवेश करें अर्थात् हम भी परमात्माके स्वरूपको जानें ।

तुलना—गीतामें अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—नारद-व्यासादि तथा असित-देवलादि आपको परब्रह्मका स्वरूप बताते हैं और आपने स्वयं भी मुझे अपने आपको परब्रह्म बताया है । वेदमें भी कहा गया है कि भक्तजनोंने परमात्माके स्वरूपको जाननेकी इच्छा की तो वेदमन्त्रों तथा भिन्न-भिन्न ऋषियोंने सर्वैश्वर्य-सम्पन्न परमात्माको सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म कहा ।

१४. सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
नहि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥
१५. स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥

(केशव !) हे केशव ! (यत् मां वदसि) आपने जो कुछ भी कहा है ['बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन', 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय', 'न मे विदुः सुरगणाः', 'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा' इत्यादि], (एतत् सर्वम् ऋतं मन्ये) उन सारी बातोंको मैं सत्य मानता हूँ । (भगवन् !) हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन् ! (देवाः) ज्ञानी इन्द्रादि देवता, या, (दानवाः) किंकर्तव्यविमूढ जन, (ते) आपके, (व्यक्तिम्) 'सारा जगत् इनसे प्रकट होता है अथवा सारे जगत्‌का उपादान कारण ये ही हैं' ऐसे अचिन्त्य, ऐश्वर्यस्वरूपको, (न विदुः) नहीं जानते ॥ १४ ॥

(भूतभावन !) हे सारे भूतों अर्थात् पञ्चभूतोंके उत्पन्न करनेवाले, (भूतेश !) हे भूतेश ! पञ्चमहाभूतोंको अपने वशमें रखनेवाले ! (देवदेव !) अग्न्यादि देवोंको भी अपनी ज्योतिसे प्रकाशित करनेवाले ['यः आदित्ये तिष्ठन् आदित्यं

प्रकाशयति'] या हे पूज्योंके भी पूज्य ! (जगत्पते !) अपने उत्पन्न किये हुए सारे जगत्का अन्न और जलादि रूपसे पालन करनेवाले ! (पुरुषोत्तम !) हे पूर्ण पुरुष ! (त्वम्) आप, (स्वयम् एव) स्वयं ही, (आत्मना) अपने स्वरूपसे, (आत्मानम्) अपने आपको, (वेत्थ) जानते हैं ॥ १५ ॥

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से ॥
(ऋग्वेदः १०-४-४)

(अमूर !) हे अमूढ ! सर्वज्ञ परमात्मन् ! (मूरा वयम्) मूर्ख, अज्ञानी तथा सांसारिक पदार्थोंमें मोह रखनेवाले हम, (महित्वम्) आपकी महिमाको अर्थात् आपके स्वरूपको, (न चिकित्वः) नहीं जानते । (अग्ने !) हे ज्योति-स्वरूप परमात्मन् ! (त्वम् अङ्ग वित्से) आप ही अपनी महिमा अर्थात् अपने स्वरूपको जानते हैं । यास्कने भी कहा है—'मूढा वयं स्मोऽमूढस्त्वमसि न वयं विद्मो महत्त्वमग्ने ! त्वं तु वेत्थ ।' (निरुक्त ६-८) ।

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप ।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः ॥
(ऋग्वेदः ७-९९-२)

(विष्णो !) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! आपने, (ऋष्वम्) सुन्दर दर्शनीय, (बृहन्तम्) महान्से महान्, (नाकम्) द्युलोकको, (उदस्तभ्नाः) ऊपर स्थापित किया, तथा, (पृथिव्याः) भूमि-संबन्धिनी, (प्राचीम्) पूर्व-पश्चिमादि, (ककुभम्) दिशाओंको, (दाधर्थ) धारण किया । (देव !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (ते) आपकी, (महिम्नः) महिमा अर्थात् महत्त्व-के, (परम् अन्तम्) परंपारको, (जायमानः) आजकल उत्पन्न हुआ मनुष्य, (न आप) नहीं प्राप्त होता, और, (न जातः) पूर्वकालमें उत्पन्न हुआ मनुष्य भी नहीं पा सका ।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें यही गया है कि साधारण मनुष्य ईश्वर-के स्वरूपकी महिमा अर्थात् विस्तारको पूर्णतया नहीं जानते। परमात्मा ही स्वयं अपने स्वरूपको ठीक-ठीक जानता है ।

१६. **वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।**
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥

१७. **कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।**
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥

१८. विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥

श्रीभगवानुवाच—

१९. हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

२०. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

हे भगवन्! (दिव्याः) तेजोमयी, श्रेष्ठ, (आत्मविभूतयः) स्वमहत्त्व-विस्तारवाली विभूतियोंको, (वक्तुम् अर्हसि)आप ही बतानेके योग्य हैं, (त्वम्) आप, (याभिः विभूतिभिः) जिन विभूतियोंसे, (इमान् लोकान् व्याप्य) इन लोकोंमें व्यापक होकर, (तिष्ठसि) ठहरते हैं, (योगिन् !) हे योगिन् ! ज्ञानयोग-कर्मयोगादि संबन्धवाले कृष्ण! (त्वां सदा परिचिन्तयन्) सदा आप परमात्माका ध्यान करते हुए मुझसे किन-किन पदार्थोंमें आप ध्यान करने-योग्य हैं, (अहं कथं विद्याम्) यह मैं कैसे जानूँ ! (जनार्दन !) दृश्यादृश्य चराचर वर्गमें व्यापक होकर रहनेवाले हे परमात्मन् ! (आत्मनः योगम्) स्व-शक्तिजन्य ऐश्वर्ययोगको, तथा, (विभूतिम्) अपने विस्तारको, (भूयः कथय) विशद रूपमें कहिए, (हि) क्योंकि, (अमृतं शृण्वतः) आप परमेश्वरके वाणीरूपी अमृतको कानोंद्वारा पान करते हुए, (मे तृप्तिः नास्ति) मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ १६-१८ ॥

अर्जुनके इस वचनको सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—(हन्त !) बड़ी प्रसन्नता है, (दिव्याः आत्मविभूतयः हि प्राधान्यतः)जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं उनमें मुख्य-मुख्य विभूतियोंको निश्चित रूपसे, (ते) तुझे, (कथयिष्यामि) बताऊँगा । (कुरुश्रेष्ठ !) हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! (मे विस्तरस्य अन्तो न) मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

(गुडाकेश !) हे निद्राको वशमें रखनेवाले अर्जुन ! (सर्वभूताशयस्थितः आत्मा) ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त सब भूतोंके हृदयमें स्थित होनेवाला सर्वव्यापक आत्मा, (अहम्) मैं हूँ । (भूतानाम्) आकाशादि पदार्थोंका, (आदिः) मूल कारण, तथा, (मध्यम्) स्थितिका कारण, (च अन्तः) और नाशका कारण, (अहम् एव) मैं ही हूँ ॥ २० ॥

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ।
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ।।
(अथर्ववेदः १३-४[३]-५)

(स : एव मृत्युः) वह परमात्मा ही सबकी मृत्युका कारण है, (सः अमृतम्) वह परमात्मा ही अमृतरूप होकर मध्यकालमें स्थिर रखता है, परन्तु, (सः) वही परमात्मा, (अभ्वम्) स्वयं उत्पत्तिसे रहित है, सबका आदि है, (सः रक्षः) वह परमात्मा ही रक्षक है, (सः रुद्रः) संहारक अर्थात् अन्तकारक भी वही परमात्मा है, (वसुवनिः) वही परमात्मा सबका वासक है अर्थात् वही सब भूतोंमें स्थित आत्मरूप है, (वसुदेये) यज्ञादिमें देनेयोग्य पदार्थोंमें, और, (नमोवाके) नमस्करणीय ब्रह्मयज्ञमें, (वषट्कारः) नमः-स्वाहा-वषट्-वौषट् आदि आकारोंवाला होकर, (अनुसंहितः) वही नित्य अनुसन्धान किया जाता है अर्थात् नित्य स्मरण किया जाता है ।

उपनिषद्में कहा गया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि
जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।
(तै. उ. १)

जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं और मरते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसे जाननेकी इच्छा कर, वह ब्रह्म है ।

तुलना—गीतामें ईश्वर सर्वभूताशयस्थ अर्थात् सर्वव्यापक, सारे जगत्का आदि कारण, जगत्का स्थापक और नाशक बताया गया है। वेदमें भी पर-मात्मा ही अमृत अर्थात् पालक, उत्पादक, नाशक तथा सब यज्ञ-यागादिमें वषट्कारादि रूपसे स्थित कहा गया है ।

२१. आदित्यानामहं विष्णुः ।

(आदित्यानाम्) द्वादशादित्योंमें, (अहं विष्णुः) मैं विष्णुरूप हूँ अथवा अदितिके पुत्रोंमें [विष्णुः वामनः] वामन मैं हूँ ।

ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति ।
(ऋग्वेदः १०-८५-१)

(आदित्याः) आदित्य, (ऋतेन) परमात्माके संवन्ध या सत्यके संबन्धसे, (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं ।

सोमेनादित्या बलिनः ।

(ऋग्वेदः १०-८५-२)

(आदित्याः) आदित्य अर्थात् द्वादशादित्य, (सोमेन) चन्द्रमाके साथसे, (बलिनः) बलवान् होते हैं ।

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥

(अथर्ववेदः ५-२६-७)

(सुयुजः !) हे योगाभ्यासके करनेवाले मुमुक्षु पुरुषो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस विभूतिसमूह यज्ञमें, (विष्णुः) विष्णुरूप आदित्य, (तपांसि) तपानेवाले, प्रकाशक, (बहुधा) बहुत प्रकारसे, (युनक्तु) तुझ मुमुक्षुमें संबन्धित हो जायँ, तथा, (स्वाहा) उस विष्णुका सम्यक्तया आह्वान हो ।

तुलना—भगवद्गीता और वेदोंमें द्वादशादित्योंमें विष्णु नामक आदित्यको विशेष विभूति बताया गया है ।

ज्योतिषां रविरंशुमान् ।

प्रकाशमान पदार्थोंमें मैं किरणोंवाला सूर्य हूँ ।

सूर्यश्चाहम् ।

(ऋग्वेदः ४-२६-१)

(अहम्) मैं परमात्मा, (सूर्यः) रवि हूँ ।

अहं सूर्य इवाजनि ।

(अथर्ववेदः २०-११५-१)

(अहम्) मैं परमात्मा, (सूर्यः इव) [इव शब्द एवार्थे] सूर्य ही, (अजनि) विभूतिरूपसे प्रकट हुआ हूँ ।

यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना सं मधूनि ।

(ऋग्वेदः १०-५४-६)

(यः) जो परमात्मा, (ज्योतिषि) ज्योतिकारक अग्न्यादि पदार्थोंमें, (ज्योतिः अदधात्) प्रकाश धारण करता है, जो रविमें ज्योति है वह परमात्मस्वरूप है । (यः) जो परमात्मा, (मधुना) अपने-अपने कार्य-सम्पादनके लिये सेवन किये हुए सूर्य अर्थात् रविके साथ, (मधूनि समसृजत्) जलको रचता है ।

तुलना—गीता और वेद दोनों रविको परमात्म-विभूति बताते हैं ।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥

(अहम्) मैं, (मरुताम्) मरुद्गणोंमें, (मरीचिः) मरीचि, (अस्मि) हूँ, (अहम्) मैं, (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रोंमें, (शशी) चन्द्रमा हूँ अर्थात् मरुद्गणोंमें मरीचि और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा मेरी विभूति है ॥ २१ ॥

वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम् ।
अस्मे वृद्धा असन्निह ॥

(ऋग्वेदः १-३८-१५)

हे जीवात्मन् ! (मारुतं गणम्) मरुतोंमें उत्तम विभूति मरीचि नामक मरुद्गणको, (वन्दस्व) प्रणाम कर । (पनस्युम्) स्तुतियोग्य, (त्वेषम्) दीप्तिमान, (अर्किणम्) पूजनीय मरीचि नामक मरुद्गणको नमस्कार कर । (अस्मे) हमारी, (इह) नमस्कृति करनेमें, (वृद्धाः असन्) सबसे श्रेष्ठ है ।

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।

(अथर्ववेदः ५-२४-१०)

(चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (नक्षत्राणामधिपतिः) नक्षत्रोंका अधिपति है । सब नक्षत्रोंमें चन्द्र उत्तम विभूति है । वही परमात्माकी विभूति चन्द्रमा, (माम् अवतु) मेरी रक्षा करे ।

चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे ।

(अथर्ववेदः ६-८६-२)

(चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रोंका, (ईशे) स्वामी है ।

तुलना—भगवद्गीता और वेदमें भी मरुद्गणोंमें मरीचिको और नक्षत्रोंमें चन्द्रमाको विभूति माना गया है ।

२२. वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥

(वेदानाम्) वेदोंमें, (सामवेदः अस्मि) सामवेद मैं हूँ अर्थात् सामवेद मेरी विभूति है, (देवानाम्) देवताओंमें, (वासवः अस्मि) बासव मैं हूँ, (इन्द्रियाणाम् मनः अस्मि) इन्द्रियोंमें मन मैं हूँ, (च) और, (भूतानाम् चेतना अस्मि) पञ्चभूतोंमें चेतनाशक्ति मैं हूँ ॥ २२ ॥

सामानि यस्य लोमानि ।

(अथर्ववेदः ९-६-२)

(यस्य) जिस विराट्रूप परमात्माके, (लोमानि) बाल, (सामानि) साम हैं अर्थात् सामवेदके मन्त्र गानका आधार होनेसे परमात्माके विभूति-स्वरूप कहे गए हैं।

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।
इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥

(अथर्ववेदः ६-८२-१)

हे मुमुक्षुजनो ! (वन्वे) भगवन्नामस्मरणात्मक यज्ञमें, (आगच्छत) आकर सम्मिलित होओ। (आयतः) सारे जगत्में ताने-बानेके समान विस्तृत, (वृत्रघ्नः) पापनाशक, (शतक्रतोः) सर्जन-स्थिति-लयादि सैकड़ों कर्मोंके करनेवाले, (आगतस्य) सर्वत्र व्यापक, (इन्द्रस्य) सर्वैश्वर्यसम्पन्न, (वास-वस्य) स्थावर-जङ्गम पदार्थोंके वासकरूप वासव नामक विभूतिके, (नाम) नामको, (गृह्णामि) उच्चारण करते हैं।

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो ।
इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥

(ऋग्वेदः ३-३७-२)

(शतक्रतो !) हे सर्जनादि सैकड़ों काम करनेवाले ! (इन्द्र !) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न परमात्मन् ! (वाघतः) नामरूपी यज्ञके भारको उठानेवाले सहनशील जन, (ते सुमनः) तुझ परमात्माके प्रत्येकको अपना-अपना अभीष्ट फल देने-वाले विभूतिरूपी मनको, (अर्वाचीनं कृण्वन्तु) अपने सम्मुख करते हैं। (उत) तथा, (चक्षुः) तेरे दर्शनको हममें अनुग्रहमयी दृष्टिवाला करते हैं।

चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान् ।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥

(ऋग्वेदः ४-२-११)

(विद्वान्) ज्ञानी जन अर्थात् पाप-पुण्य और उनके फलको जाननेवाला, (चित्तिम्) चेतना शक्तिको, (अचित्तिम्) चेतनारहित अर्थात् जड़ शक्तिको, (विचिनवद्) पृथक्-पृथक् चुन सकता है अर्थात् यह प्राकृतिक शक्ति है, यह चेतनाशक्ति है, इस बातको भलीभाँति पहचान सकता है। (पृष्ठेव वीता वृजिना च) जैसे अश्वपाल घोड़ोंकी अच्छी और बुरी पीठको जानकर हेयोपादेयताको पृथक्-पृथक् कर लेता है, वैसे, (मर्तान्) मरण-धर्मवाले भूतोंको और चेतनाको ज्ञानी पृथक् जान लेता है। (देव !) हे देव ! परमात्मन् ! (स्वपत्याय राये)

न नाश होनेवाले ज्ञानके लिए, (नः) हम मुमुक्षुजनोंको बुद्धि दे, (दितिम्) ज्ञान देनेवाली अपनी विभूतिरूप चेतनाको, (रास्व) दे दे, तथा, (अदितिम्) कृपणतासे, (उरुष्य) रक्षा कर।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें वासव, इन्द्रियोंमें मन तथा भूतोंमें चेतनाशक्ति परमात्माकी विभूति है। वेदमें भी विराट्के लोमभूत सामवेदके मन्त्र, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें ब्रह्मज्ञानका साधन मन तथा पञ्चमहाभूत-संघर्षमें चेतना अर्थात् जीवात्मा विभूति माने गये हैं।

२३. रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥

(रुद्राणाम्) एकादश रुद्रोंमें, (शङ्करः) शङ्कर—कल्याणकारी रुद्र, (अस्मि) मैं हूँ। (यक्षरक्षसाम्) यक्ष और राक्षसोंमें, (वित्तेशः) कुबेर मैं हूँ। (वसूनाम्) वसुओंमें, (पावकः अस्मि) पावक यानी अग्नि मैं हूँ और, (शिखरिणाम् अहं मेरुः) पर्वतोंमें मेरु मैं हूँ॥ २३॥

नमः शङ्कराय च।

(यजुर्वेदः १६-४१)

(शङ्कराय) कल्याणकारी शंकर नामक रुद्रको, (नमः) प्रणाम हो।

रुद्राणामाधिपत्यम्।

(यजुर्वेदः १४-२५)

(रुद्राणाम्) रुद्रोंके, (आधिपत्यम्) अधिपति शङ्कर रुद्र हैं।

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्।

(अथर्ववेदः ८-१०[५]-१०)

(तस्याः) उस यक्ष-राक्षसोंकी सृष्टिमें, (वैश्रवणः कुबेरः) विश्रवाका पुत्र कुबेर, (वत्सः) भगवत्प्रिय विभूतिरूप, (आसीत्) है। (आमपात्रम्) आमपात्र, कच्चा पका हुआ ज्ञान, (पात्रम्) पात्ररूप है।

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्।

(ऋग्वेदः १०-४५-५)

धनियोंमें उदार, धनको धारण करनेवाला कुबेर मेरी विभूति है।

वसूनां भागोऽसि।

(यजुर्वेदः १४-२५)

(वसूनाम्) अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र इन आठ वसुओंमें-से, (भागः असि) भजनीय पावकरूप अग्नि तू है।

उशिक् पावको अरतिः सुमेधा
मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।

(ऋग्वेदः १०-४५-७)

मनुष्योंमें प्रकाशमान, गतिशील, सुन्दर मेघावाला, पावक अग्नि अमृतरूप धारण किये हुए है।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें रुद्रोंमें शङ्करको, यक्ष-राक्षसोंमें कुबेरको, वसुओंमें पावक नामक अग्निको तथा पर्वतोंमें मेरुको परमेश्वर-विभूति माना गया है।

२४. पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।

(च) और, (पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (पुरोधसाम्) सब कर्मोंमें आगे स्थापित किये जानेवाले या पहलेसे ही यजमानके हित करनेवाले पुरोहितोंमें-से, (माम्) मुझे, (मुख्यं बृहस्पतिम्) मुख्य बृहस्पति—इन्द्रियोंका पति, नियन्ता, अन्तरात्मा अथवा शुभ वाणियोंका पति, (विद्धि) जान।

सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥

(ऋग्वेदः १०-१४५-३)

(राजानम्) प्रज्ञानसे प्रकाशमान, (सोमम्) ['सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' तै. सं. १-८-१०-२] ऐसे सोम अर्थात् शान्तिदायक, (वरुणम्) सब जगत्को करनेवाले या सब पापोंके निवारक, (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप अथवा सन्मार्गदर्शक, (आदित्यम्) सब प्रकारके रसोंके ग्राहक, (विष्णुम्) सब कर्मोंमें व्याप्त होनेवाले, (सूर्यम्) सब कर्मोंके प्रेरक, (ब्रह्माणम्) सब कर्म-कर्ताओंमें महान्, (च) और, (बृहस्पतिम्) इन्द्रियोंके पालक अन्तरात्माको या विज्ञानियोंके प्रभु बृहस्पतिको, (अन्वारभामहे) स्मरण करें, क्योंकि बृहस्पति सबमें मुख्य है।

बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान्।

(अथर्ववेदः २-३५-४)

(महिष !) हे अत्यन्त पूजनीय ! (द्युमत्) दीप्तिमान् ! (विश्वकर्मन् !) हे बहुत प्रकारके कर्म करनेवाले परमात्मन् ! (बृहस्पतये) बृह-

स्तुति रूप आपको, (नमः) नमस्कार हो, (नमः ते) तुझे पुनः प्रणाम हो, (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर ।

बृहस्पतिर्नः परिपातु ।

(अथर्ववेदः ७-५३-१)

बड़े-बड़े ज्ञान आदि कर्मोंका पति परमज्ञानी बृहस्पतिरूप पुरोहित हमारी रक्षा करे ।

सेनानीनामहं स्कन्दः ।

(सेनानीनाम्) सब सेनापतियोंमें, (स्कन्दः अहम्) स्कन्द मैं हूँ ।

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून् विभजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥

(ऋग्वेदः १०-८४-२)

(मन्यो !) 'मन्यते सर्वं गुरूपदिष्टमिति' जो गुरुके उपदेशको सत्य मानता है ऐसे हे जिज्ञासु मनुष्य ! (अग्निः इव त्विषितः) अग्नि-सा प्रज्वलित होता हुआ तू, (सहस्व) काम-क्रोधादि शत्रुओंको दबा । (सहुरे !) हे सहन-शील ! (हूतः) बुलाया हुआ तू, (नः सेनानी एधि) हमारा सेनानी हो, (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओंको मारकर, (वेदः) ज्ञानको, (विभजस्व) दे, तथा, (ओजो मिमानः) ज्ञानरूपी बलको मापता हुआ तू सेनानायक, (मृधः) शत्रुओंका, (वि नुदस्व) विविध प्रकारसे नाश कर ।

सरसामस्मि सागरः ॥

(सरसाम्) सरोवरोंमें, (सागरः अस्मि) समुद्र मैं हूँ ॥ २४ ॥

समुद्र ईशे स्रवताम् ।

(अथर्ववेदः ६-८६-२)

(स्रवताम्) बहनेवाले नदी और तालाबोंमें, (समुद्रः ईशे) समुद्र मुख्य है ।

तुलना—गीतामें पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति, सेनापतियोंमें मुख्य स्कन्द और बहनेवाले जलाशयोंमें मुख्य समुद्रको विभूति माना गया है । वेदमें भी सबमें बृहस्पतिको, योद्धाओंमें सेनानायकको और नदी-तालाबोंमें समुद्रको श्रेष्ठ माना गया है ।

२५. **महर्षीणां भृगुरहम् ।**

(महर्षीणाम्) महर्षियोंमें, (अहं भृगुः) परिपक्व ज्ञानवाला भृगु मैं हूँ।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः ॥

(यजुर्वेदः १७-६९)

(अग्ने!) हे परमात्मन्! (देवयतां प्रथमः) सब देवताओंमें आदिम, और, (देवानाम् उत मर्त्यानाम्) देवताओं और मनुष्योंका, (चक्षुः) यथार्थ ज्ञान देनेवाला चक्षु तू है। अतः, (प्रेहि) हमारे हृदयप्रदेशमें आ जा। (यजमानाः सजोषाः) तेरी पूजा करते हुए समान सेवाभाववाले पुण्यात्मा जीव, (भृगुभिः इयक्षमाणाः) महर्षियोंमें परिपक्व ज्ञानी भृगु नामक महर्षियोंके साथ यज्ञ करते हुए, (स्वस्ति स्वर्यन्तु) सदैव रहनेवाले सुखको प्राप्त हों।

गिरामस्म्येकमक्षरम्।

(गिराम्) यथार्थ अर्थवाली वाणियोंमें, (एकम् अक्षरम् अस्मि) एकाक्षर ॐ मैं हूँ।

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषम्।

(यजुर्वेदः ९-३१)

(अग्निः) परमात्मा, (एकाक्षरेण[1]) एक अक्षर ॐ रूपसे, (प्राणम् उदजयत्) प्राणका अर्थात् प्रजाका उत्तमतासे पालन करता है। (तम् उज्जेषम्) मैं भी उस परमात्माको पाऊँ।

---

१. ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदितिसर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव (मा. उ. १)

तस्य वाचकः प्रणवः (यो. द. १-२७)।

तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा पृथिव्यकारः, स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा प्रथमः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुप् दक्षिणाग्निः सा द्वितीयः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः, तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रादित्या जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्म-

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ।

(यज्ञानाम्) ज्योतिष्टोमादि सब यज्ञोंमें, (जपयज्ञः अस्मि) मैं जपयज्ञ हूँ।

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।

(अथर्ववेदः ४-३४-५)

(एषः) यह भगवन्नामका जपरूपी यज्ञ, (विततः) अपनी नामकी महिमासे संसारमें विस्तृत, तथा, (यज्ञानां वहिष्ठः) अग्निष्टोमादि यज्ञोंमें सबसे बड़ा है। भगवन्नामका जप करनेवाला प्राणी, (विष्टारिणम्) सारे संसारको विस्तृत करनेवाले अथवा अपने आपको विराट् रूपसे विस्तृत करनेवाले परमात्माको, (पक्त्वा) अपने हृदयमें पूर्णतया परिपक्व करके, (दिवम् आविवेश) ज्योतिःस्वरूप परमधामको प्राप्त होता है। योगदर्शनमें आया है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्' अर्थात् उस ओम्का जप करना और उसके अर्थका चिन्तन करना मुक्तिदायक है।

स्थावराणां हिमालयः ॥

स्थावर अर्थात् अचलों (पर्वतों) में मैं हिमालय पर्वत हूँ ॥ २५ ॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः ॥

(अथर्ववेदः ४-९-९)

(हिमवतः परि) हिमाच्छन्न पर्वतोंसे उत्कृष्ट, (त्रैककुदम्) त्रिशिखर नामक पर्वत-भाग, (यत् आञ्जनम्) जो सुरमेके समान श्यामस्वरूप, (जातम्) है; वही परमात्मविभूति है। वह विभूतिरूप पर्वत, (सर्वान् यातून्) सब पीडक विषयोंको, (च) और, (सर्वाः यातुधान्यः च) मोक्षमें विघ्न करनेवाली सभी दुष्प्रवृत्तियोंको, (जम्भयत्) नाश करता है अर्थात् जो प्राणी हिमालयकी गुफाओंमें भगवद्भजन करता है उसे कोई जीव-जन्तु अर्थात् हिंस्र प्राणी तथा सांसारिक वासनाएँ पीड़ा नहीं देतीं।

तुलना—गीतामें सब महर्षियोंमें भृगु, वाणियोंमें ओङ्कार, यज्ञोंमें जपयज्ञ और पर्वतोंमें हिमालयको विभूति कहा गया है। वेदमें भी यज्ञके सहयोगियोंमें भृगु,

---

बीजसाक्षिभिः यावसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओङ्कारः साथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता चतुर्थः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूल सूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ।

(नृ. उ. ता. उ. ३-१)

सब यज्ञोंमें नामयज्ञ, सारे संसारका उत्पादक ओंकार तथा जप-तपस्या-भगवद्-ध्यान आदिके लिए हिमालय पर्वत श्रेष्ठ कहा गया है।

२६. अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।

(सर्ववृक्षाणाम् अश्वत्थः) सब वृक्षोंमें अश्वत्थ मेरा रूप है, (च) तथा, (देवर्षीणां नारदः) देवर्षियोंमें नारद मैं हूँ।

अश्वत्थः खदिरादधि।

(अथर्ववेदः ३-६-१)

(अश्वत्थः) पीपलका वृक्ष, (खदिरात् अधि) [यहाँ खदिर शब्द वृक्षोपलक्षक है अर्थात्] सब वृक्षोंसे उत्कृष्ट है।

शमीमश्वत्थ आरूढः।

(अथर्ववेदः ६-११-१)

(अश्वत्थः) पीपलका वृक्ष, (शमीम् आरूढः) शमीवृक्षसे भी उत्कृष्ट है।

अश्वत्थो देवसदनः।

(अथर्ववेदः ५-४-३)

(अश्वत्थः देवसदनः) अश्वत्थ सब देवताओंका वासस्थान है।

देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत।
तामेतां विद्यां नारदः सह देवैरुदाजत॥

(अथर्ववेदः १२-४-२४)

(अग्रे) सबसे प्रथम, (यस्मिन्) जिस ब्रह्मवेत्ता ऋषिमें ब्रह्मज्ञान, (अजायत) उत्पन्न हुआ, (देवाः) उससे ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा करते हुए देवताओंने, (वशाम् अयाचन्) संयममें रखनेवाली ब्रह्मज्ञान-शक्तिकी याचना की। (नारदः) 'नारम् अज्ञानं खण्डयति'—अज्ञानके विनाशक या नर-संबन्धी ज्ञानके दाता नारदने, (ताम् एताम् विद्याम्) उस इस ब्रह्मज्ञानशक्तिको, (देवैः सह) देवताओंके साथ मिलकर, (उदाजत) सबके आगे प्रकट किया अर्थात् ब्रह्मज्ञानोपदेश दिया।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥

(गन्धर्वाणाम्) गन्धर्वसृष्टिमें, (चित्ररथः) मैं चित्ररथ गन्धर्व हूँ, और, (सिद्धानाम्) सब सिद्धोंमें, (कपिलः मुनिः) कपिल मुनि हूँ॥ २६॥

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् 'पुष्करपर्णं पात्रम् ॥

(अथर्ववेदः ८-१०[५]-६)

(तस्याः) गन्धर्वसृष्टिमें, (सौर्यवर्चसः) सूर्यवत् प्रकाशमान या ब्रह्मज्ञान-बलवाला, (चित्ररथः) चित्ररथ गन्धर्व, (वत्स आसीत्) प्रिय है और वह चित्ररथ, (पुष्करपर्णं पात्रम्) ज्ञानसे भूषित शरीरवाला पात्र है।

दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय।
गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति ॥

(ऋग्वेदः १०-२७-१६)

(माता) देवहूति माताने, (दशानाम् एकम्) परब्रह्मांश दश अवतारोंमें मुख्य, (समानम्) सर्वत्र समान व्यवहार करनेवाले, (कपिलम्) कपिलको, (क्रतवे) ज्ञानयज्ञके लिए, तथा, (पार्याय) प्रणेतव्य ज्ञानयज्ञादि व्यवहारके लिए, (हिन्वन्ति) संसारमें प्राप्त किया। (माता) देवहूति माता, (वक्षणासु) अपनी नदीरूप नाड़ियोंमें, (सुधितम्) भलीभाँति धारण किये हुए, (अवेनन्तम्) अप्रकाशमान अर्थात् प्राकृतिक बालकवत् गुह्यरूपवाले उस प्रसिद्ध कपिल मुनिको, (तुषयन्ती) प्रसन्न करती हुई, (गर्भं बिभर्ति) गर्भमें धारण करती है।

तुलना—गीतामें सब वृक्षोंमें अश्वत्थ, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ गन्धर्व और सिद्धोंमें कपिल मुनिको सर्वश्रेष्ठ परमात्म-विभूति माना गया है। वेदमें भी वृक्षोंमें अश्वत्थको, ज्ञानियोंमें नारदको, गन्धर्वोंमें चित्ररथको और सिद्धोंमें कपिल मुनिको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

२७. उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।

(अश्वानां माम्) घोड़ोंमें मुझे, (अमृतोद्भवम्) अमृतमन्थनकालमें प्रकट हुआ, (उच्चैःश्रवसं विद्धि) उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा जान।

पृष्ठं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन्।
स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम् ॥

(अथर्ववेदः २०-१२८-५)

(हर्योः) घोड़े और घोड़ियोंमें-से, (धावन्तम्) वेगसे दौड़नेवाले, (आ उच्चैःश्रवसम्) सब प्रकारसे ऊँचे कानोंवाले घोड़ेको उच्चैःश्रवा नाम-वाला, (अब्रुवन्) कहते हैं अर्थात् उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको पुकारकर कहते

१. यथा च यास्कः 'पुष्करमन्तरिक्षं पोषयति भूतानि। उदकं पुष्करं पूजाकरं पूज-यितव्यमिदमपीतरत्पुष्करमेतस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा (निरुक्तम् ५-१४)।

हैं—, (अश्व !) हे उच्चैःश्रवा नामके अश्व ! तू, (जैत्राय) शत्रुपर विजय पानेके लिए, (सुस्रजम्) सुन्दर माला धारण किये हुए, (इन्द्रम्) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न राजा अथवा श्रेष्ठीको, (पृष्ठं स्वस्ति आवह) पीठपर सुखसे उठाकर युद्ध-स्थल ले जा । 'पृष्ठम्' के स्थानपर 'प्रष्टिम्' पाठान्तरका अर्थ होगा अधिक वेगसे ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥

(गजेन्द्राणाम् ऐरावतम्) मुझे बड़े-बड़े हाथियोंमें ऐरावत, (च) और, (नराणां नराधिपम्) मनुष्योंमें राजा जान ॥ २७ ॥

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥

(अथर्ववेदः ८-१०[५]-१५)

(धृतराष्ट्रः) राष्ट्रके धारण करनेवाले अर्थात् राष्ट्रके आश्रयभूत, (ऐरावतः) ऐरावत नामक गजने, (ताम् अधोक्) उस सारी गजसृष्टिको दोह लिया, सबको नीचा दिखा दिया अर्थात् ऐरावत सर्वश्रेष्ठ रहा । (ताम्) उस शेष गज-सृष्टिको, (विषमेवाधोक्) मूलसे विश्वरूप अर्थात् तुच्छ बना दिया ।

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।

(अथर्ववेदः ६-८६-३)

(असुराणाम्) प्राणदाताओंका तू, (सम्राट्) राजाधिराज है, (मनुष्याणां ककुत्) मनुष्योंमें भी तू मुख्य है ।

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम् ।

(ऋग्वेदः ७-२७-३)

(जगतः चर्षणीनाम्) स्थावर और जङ्गम पदार्थोंमें, (राजा) राजा ही, (इन्द्रः) सर्वश्रेष्ठ है ।

त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि ।

(ऋग्वेदः ८-९५-३)

हे परमात्मन् ! (शश्वतीनां विशाम्) नित्य प्रजाका, (त्वं हि) तू ही, (पतिः) राजा, (असि) है ।

त्वमग्ने राजा ।

(ऋग्वेदः २-१-४)

हे अग्ने ! हे परमात्मन् ! तू ही राजा है ।

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ।

(ऋग्वेदः २-२७-१०)

(वरुण !) हे वरुण ! हे सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् ! (त्वं विश्वेषां राजासि) तू सबका राजा है ।

पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा ।

(ऋग्वेदः ६-३६-४)

(असमः) अद्वितीय तू, (जनानाम्) सब मनुष्योंका, (पतिः बभूथ) स्वामी है । (एकः) तू अकेला ही, (विश्वस्य भुवनस्य) सम्पूर्ण संसारका, (राजा) राजा है ।

तुलना—गीता और वेदमें अश्वोंमें उच्चैःश्रवानामक घोड़ेको, हाथियोंमें ऐरावतको और मनुष्योंमें राजाको सर्वश्रेष्ठ विभूति माना गया है ।

२८. आयुधानामहं वज्रम् ।

शस्त्रास्त्रोंमें मैं वज्र हूँ या आयुवर्द्धक द्रव्योंमें वज्रमणि मैं हूँ ।

वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते ॥

(ऋग्वेदः ८-२९-४)

(एकः) एक मनुष्य अथवा राजा, (हस्ते आहितम्) अपने हाथमें ग्रहण किये हुए, (वज्रम्) भगवद्विभूतिरूप वज्रको, (बिभर्ति) धारण करता है । (तेन) वही राजा उस वज्रसे, (वृत्राणि) शत्रुओंको तथा दरिद्रतारूपी पापको, (जिघ्नते) नाश करता है ।

धेनूनामस्मि कामधुक् ।

(धेनूनाम्) गौओंमें, (कामधुक् अस्मि) मैं कामधेनु हूँ ।

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥

(अथर्ववेदः १८-४-३३)

(एताः धेनवः) ये आगे बताई जानेवाली गौएँ, (ते असौ) तेरे प्राणोंके निमित्त अर्थात् जीवनके लिए, (कामदुघाः भवन्तु) अभीष्ट फल देनेवाली हों । (एनीः) कपिला, (श्येनीः) श्वेतवर्णवाली, (सरूपाः) समान रूपवाली, (विरूपाः) विविध रूपवाली अर्थात् चितकबरी, (तिलवत्साः) तिलसदृश

श्याम बछड़ोंवाली, ये सब गौएँ, (अत्र) इस जन्ममें, (त्वा उपतिष्ठन्तु) तुझे प्राप्त हों ।

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः ।

शास्त्रविध्यनुसार सन्तानोत्पादक कामदेव मैं हूँ ।

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ।।

(अथर्ववेदः ९-२-२५)

(काम !) हे काम ! सन्तानोत्पादक कन्दर्प ! (ते या भद्राः) तेरे जो कल्याणकारी, (शिवाः) सन्तानसुखप्रदाता, (तन्वः) देह हैं, (याभिः) जिनसे, (यत्) गृहस्थाश्रमी जिस पुत्रफलको, (वृणीषे) वरता है, (सत्यं भवति) वह पुत्रप्राप्तिरूप फल सत्य होता है। (त्वम्) तू कामदेव, (ताभिः) पुत्रफलप्रदाता कल्याणकारी उन शरीरोंसे, (अस्मान् अभिसंविशस्व) यथाशास्त्र पुत्राभिलाषी हम जीवोंमें प्रवेश कर, तथा, (पापीः धियः) हमारी पापवाली बुद्धियोंको, (अन्यत्र) दूर देशमें, (अपवेशय) प्राप्त कर अर्थात् परस्त्रीके लिये हमारी बुद्धि पापवाली न हो ।

सर्पाणामस्मि वासुकिः ।

(सर्पाणाम्) सब सर्पोंमें, (वासुकिः अस्मि) वासुकि सर्प मैं हूँ ॥२८॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ।।

(यजुर्वेदः १३-६)

(ये के च पृथिवीमनु, ये अन्तरिक्षे, ये दिवि) जो सर्प पृथिवीपर, अन्तरिक्षमें और द्युलोकमें रहते हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः, नमः अस्तु) उन सब वासुकि प्रभृति सर्पोंको नमस्कार हो, उन सर्पोंको नमस्कार हो ।

तुलना—वेद और गीतामें आयुधोंमें वज्रको, गौओंमें कामधेनुको, यथाशास्त्र सन्तानोत्पादक कामदेवको तथा सर्पोंमें वासुकि अर्थात् शेषनागको परमात्मविभूति कहा गया है ।

२९. अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।

(अहं नागानाम् अनन्तः) नागोंमें मैं अनन्तनामक नाग हूँ, तथा, (यादसां वरुणः) जलचर जीवोंमें वरुण हूँ ।

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।

(अथर्ववेदः ५-२४-४)

(अपाम् अधिपतिः) जलचर जीवोंका स्वामी, (वरुणः) वरुण है। (सः माम् अवतु) वह मेरी रक्षा करे।

पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।

(अहं पितॄणाम् अर्यमा अस्मि) पितरोंमें मैं अर्यमा नामका पितृराज हूँ, तथा (संयमतां यमः) नियमित रखनेवालों या दण्ड देनेवालोंमें यम हूँ ॥ २९ ॥

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।

(अथर्ववेदः १३-४-४)

(सः अर्यमा) वह परमात्मा पितरोंमें अर्यमारूप है, (सः वरुणः) जलचरोंमें वरुणरूप है, (सः रुद्रः) वही रुद्ररूप है, (सः महादेवः) वही महादेव है।

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किञ्चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥

(अथर्ववेदः १८-२-३२)

(यमः) संयमनकर्त्ताओंमें यम, (परः) सब नियन्ताओंसे उत्कृष्ट है। (विवस्वान्) विविध लोकोंका वासक सूर्य, (अवरः) अल्पशक्तिवाला है। (ततः परम्) उस यमसे उत्कृष्ट, (किञ्चन नाति पश्यामि) किसी वस्तुको मैं नहीं देखता। (मे अध्वरः) मेरा जीवनयज्ञ, (यमे अधिनिविष्टः) यमके अधीन स्थित है। (विवस्वान्) सूर्य ही, (भुवः) लोकोंको, (अनुआततान) ईश्वरकी आज्ञासे अपने-अपने स्थानमें स्थापित करता है।

स उ एव महायमः ।

(अथर्ववेदः १३-४-५)

वह परमात्मा ही महायम है।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें नागोंमें अनन्त नाग, जलचर जीवोंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा और संयमन करनेवालोंमें यमको सर्वश्रेष्ठ परमात्माकी विभूति कहा गया है।

३०. प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।

(अहं दैत्यानां प्रह्लादः) दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूँ अर्थात् दुष्कर्म करनेवालोंके मध्य जो भगवद्भक्तिसे प्रसन्नमुख रहे वह मैं ही हूँ, तथा, (कलयतां कालः अस्मि) क्षण-निमेषादिमें मैं काल हूँ अर्थात् काल या समय मेरी विभूति है।

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥

(अथर्ववेदः १९-५३-२)

(एषः कालः) यह क्षण-निमेषादिरूप काल, (सप्तचक्रान्) चक्रकी भाँति पुनः-पुनः घूमनेवाली वसन्तादि सात ऋतुओंको, (वहति) धारण करता है। (अस्य) इस कालके, (नु सप्त नाभीः) सात लोक नाभिस्थानरूप हैं। काल, (अक्षः) सारे संसारमें व्यापक, (अमृतम्) मरणधर्मरहित अर्थात् नित्य है। (सः) वह सबका संहारक काल, (इमा विश्वा भुवनानि) इन सब लोकोंमें, (अञ्जत्) व्याप्त है। (सः कालः) वह काल, (प्रथमः नु देवः) निश्चय ही पहला देवता, भक्तजनोंसे, (ईयते) प्राप्त किया जाता अर्थात् जाना जाता है।

मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।

(मृगाणां मृगेन्द्रः) पशुओंमें मैं सिंह, (च) और, (पक्षिणां वैनतेयः) पक्षियोंमें गरुड़ हूँ॥ ३०॥

महिषो मृगाणाम्।

(ऋग्वेदः ९-९६-६)

(मृगाणाम्) सब पशुओंमें मैं, (महिषः) महान् सिंह हूँ।

स सुपर्णो गरुत्मान्।

(अथर्ववेदः ९-१०-२८)

(सः) वह परमात्मा, (सुपर्णः) सुन्दर परोंवाला या अच्छा उड़नेवाला, (गरुत्मान्) गरुड़रूप है अर्थात् गरुड़ परमात्माकी विभूति है।

तुलना—गीता और वेदमें भी दैत्योंमें प्रह्लाद अर्थात् सर्वदा प्रसन्न रहनेवालोंको, समयोंमें कालको, पशुओंमें सिंहको और पक्षियोंमें गरुड़को सर्वश्रेष्ठ परमात्मविभूति कहा गया है।

३१. पवनः पवतामस्मि।

(पवताम्) पवित्र करनेवाले पदार्थोंमें, (पवनः अस्मि) मैं वायु हूँ।

वायुरेनाः समाकरत् ।

(ऋग्वेदः ६-१४१-१)

(वायुः) वायु अपनी पवित्रतासे, (एनाः) सब पापात्मक अशुद्धियोंको, (समाकरत्) दूर फेंकता है ।

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।

(अथर्ववेदः ५-२४-८)

(वायुः) वायु, (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्षका, (अधिपतिः) स्वामी है, (सः मावतु) वह अपनी पवित्रतासे मेरी रक्षा करे ।

[1]वन्दस्व [2]मारुतं गणं त्वेषं [3]पनस्यु[4]मर्किणम् ।
अस्मे वृद्धा [5]असन्निह ॥

(ऋग्वेदः १-३८-१५)

हे जीवात्मन् ! तू, (त्वेषम्) अपनी पवित्रतासे प्रकाशमान, (पनस्युम्) स्तुतियोग्य, (अर्किणम्) पूजासे युक्त, (मारुतं गणम्) सब प्रकारके वायुओंके समूहको, (वन्दस्व) नमस्कार कर । (अस्मे) हमारे, (इह) इस नमस्कार-कर्ममें, (वृद्धाः असन्) वायु प्रवृद्ध हों ताकि जगत्में पवित्रता बढ़े ।

रामः शस्त्रभृतामहम् ।

(शस्त्रभृताम्) शस्त्रधारियोंमें, (अहं रामः) मैं राम हूँ ।

वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः ।

(ऋग्वेदः ८-२९-३)

(देवेषु अन्तः) अपने तेजसे प्रकाशमान अर्थात् शस्त्रधारियोंमें प्रकाशमान, (निध्रुविः) स्थिरासन या युद्धमें शत्रुओंके सामने स्थिर रहनेवाला, (एकः)

---

१. वन्दस्व—'वदि अभिवादनस्तुत्योः' ।

२. मारुतम्—मरुत् मितं निर्मितम् अन्तरिक्षं प्राप्य रौति शब्दं करोति इति मरुत् । यद्वा अमितं भृशं शब्दं करोतीति मरुत् । यद्वा मितं स्वैर्निर्मितं मेघं प्राप्य विद्युदात्मना सेवमानः इति मरुत् ।

३. पनस्युम्—'पन च' इति स्तुत्यर्थो धातुः । ततोऽसुन् । 'सुप् आत्मनः क्यच्', क्याच्छन्दसीत्युः प्रत्ययः ।

४. अर्किणम्—'ऋच् स्तुतौ' ।

५. असन्—'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः, 'इतश्च लोपः' इतीकारलोपः ।

एक राम अर्थात् परशुराम, (आयसीं वाशीम्) सशब्द चलनेवाले लोहमय कुठार-को, (हस्ते) अपने हाथमें, (बिभर्ति) धारण करता है ।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥

(अथर्ववेदः ५-१८-९)

(तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण तीरोंवाले, (हेतिमन्तः) अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करने-वाले, (ब्राह्मणाः) परशुराम, (यां शरव्याम्) जिस शरके लक्ष्यको या शरके प्रवाहको, (अस्यन्ति) फेंकते हैं, (सा न मृषा) वह वृथा नहीं जाता । (तपसा उत) तपसे भी, (मन्युना च) और क्रोधसे भी, (अनुहाय) पीछा करके, (एनम्) इस पापी क्षत्रियको, (दूरात् अवभिन्दन्ति) दूरसे ही नष्ट करते हैं ।

झषाणां मकरश्चास्मि ।

(झषाणाम्) मछलियोंमें (मकरः अस्मि) मैं, मकर हूँ ।

शिशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्योऽस्यसि ।

(अथर्ववेदः ११-२-२५)

(अजगराः) सामुद्रिक संसारमें जलमें रहनेवाले बड़े-बड़े सर्पविशेष, तथा, (पुरीकयाः) जलचर प्राणिविशेष, (जषा=झषाः) मत्स्यविशेष, (मत्स्याः) साधारण मछलियाँ हैं। परन्तु, (शिशुमाराः) मगर-मच्छ, (रजसा) परमात्मा-के दिये हुए रजोगुण अर्थात् विशेष प्रकाशसे युक्त हैं, (येभ्यः अस्यसि) जिनके लिये तू जाल डालता है अर्थात् मगर-मच्छ परमात्माकी विभूति हैं ।

स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥

(स्रोतसाम्) वेगवती नदियोंमें, (जाह्नवी अस्मि) गंगा मैं हूँ ॥ ३१ ॥

ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मंकरणीरपः ।
यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः ॥

(अथर्ववेदः १९-२-५)

हे जीवात्माओ ! (ताः अपः) गङ्गानदीका जल, (शिवाः) सब प्रकारका कल्याण करनेवाला है । (अयक्ष्मंकरणीः अपः) वही गङ्गाजल राजयक्ष्मादि रोगोंका नाशक है । (ते) गङ्गाजल सेवन करनेवाले ऐसे तुम प्राणी, (ताः भेषजीः) उस औषधरूप जलको, (आदत्त) ग्रहण करो, पान करो । (यथैव) जिस प्रकार उस गङ्गाजलसे, (मयः तृप्यते) परिपूर्ण सुख प्राप्त होता है ।

तुलना—गीता और वेदमें भी पवित्रकारक पदार्थोंमें वायु, शस्त्रधारियोंमें राम, मछलियोंमें मगर-मच्छ और नदियोंमें गङ्गाजल, जिसके पीनेसे यक्ष्मादि महारोग भी नष्ट हो जाते हैं, उत्तम विभूति कहे गए हैं।

३२. सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

हे अर्जुन! (सर्गाणाम्) महदादि-स्थूलान्त सारी रचनाओंका, (आदिः) मूल कारण, (मध्यम्) सब रचनाओंका मध्यभाग अर्थात् स्थितिकाल, (अन्तः च) और सबका अन्तकाल अर्थात् नाशक भी, (अहम् एव) मैं ही हूँ।

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः॥
(अथर्ववेदः ४-११-८)

(अनडुहः) ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले परमात्माका, (एतत् मध्यम्) इस संसारका स्थितिकरण ही मध्यभाग है अर्थात् मध्यमें स्थितिकारक पालक विष्णुरूप परमात्मा है, (यत्र) जिस मध्यभागमें, (एषः वहः) विश्वका भार धारण किया हुआ है अर्थात् विश्व स्थिर है। (अस्य) इस परमात्माकी, (एतावत् प्राचीनम्) इतनी ही प्राचीनता अर्थात् सर्गका आदित्व है, (यावान् प्रत्यक्) जितना या जैसा अन्तभाग, (समाहितः) स्थित है।

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।

लौकिक-पारमार्थिक ज्ञानके दाता, वेद-शास्त्रों तथा चतुर्दश विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या हूँ।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
(अथर्ववेदः १०-२-३२)

(तस्मिन्) उस, (हिरण्यये) सुनहरे अर्थात् सुन्दर, (त्र्यरे) सत्त्व-रज-तम गुणोंके तीन अरोंवाले, (त्रिप्रतिष्ठिते) वात, पित्त, कफ, इन तीनोंके सहारे स्थित, (कोशे) देहमें, (यद् यक्षम्) जो पूजनीय तत्त्व, (आत्मन्वत्) ज्ञान-स्वरूप आत्मा है, (तत्) उस अध्यात्मज्ञानको, (वै) निश्चय ही, (ब्रह्म-विदः) ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी लोग, (विदुः) जानते हैं।

वादः प्रवदतामहम् ॥

(प्रवदताम्) वाद-जल्प-वितण्डासे विवाद करनेवालोंमें, (वादः) अर्थनिर्णायक वाद, (अहम्) मैं हूँ ॥ ३२ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥

(अथर्ववेदः ३-३०-५)

(ज्यायस्वन्तः) मैं बड़ा हूँ तू छोटा है, मुझे अधिक ज्ञान है तुझे थोड़ा ज्ञान है, ऐसे बड़े-छोटेपनके भावका आपसमें अनुसरण करते हुए, (चित्तिनः) वाद-जल्प-वितण्डासे भरे हुए चित्तवाले, (सधुराः) समान कार्यके भारको उठानेवाले, (चरन्तः) विवाद करते हुए, (मा वियौष्ट) तुम लोग हार-जीतके भेद-भावको मत प्राप्त हो अर्थात् इस भावसे अलग मत होओ कि यह छोटा है, मैं बड़ा हूँ। (अन्यः अन्यस्मै) एक दूसरे साथ, (वल्गु) सुन्दर वादको, (वदन्तः) कहते हुए तुम, (एत) आपसमें मिलकर रहो। अरे विवादी लोगो ! (वः) मैं परमात्मा तुम सबको, (सध्रीचीनान्) वाद-कार्यमें इकट्ठे प्रवृत्त होनेवाला, और, (सं मनसः) समान मनवाला, (कृणोमि) करता हूँ, अर्थात् तुम सब समान मनवाले हो जाओ। वाद करो परन्तु जल्प-वितण्डा-छलादि मत करो।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें परमात्माको ही सृष्टिका आदि, मध्य और अन्त कहा गया है। सब विद्याओंमें अध्यात्मविद्या तथा जल्प-वितण्डा-छलादि विवादोंमें वाद परमात्माकी विभूति कहा गया है।

३३. अक्षराणामकारोऽस्मि ।

(अक्षराणाम्) वर्णमालाके अक्षरोंमें, (अकारः अस्मि) मैं पहला अक्षर अकार हूँ।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।

(अथर्ववेदः २०-३४-५)

(येन) जिस परमात्माने, (इमा विश्वा) ये सब स्थावर-जङ्गम पदार्थ, (च्यवना कृतानि) गतिशील अर्थात् संसरणशील बनाए हैं, (यः) जिस परमात्माने, (अधरम्) आदिमें अकारके धारण करनेवाले, (दासम्) पुनः-पुनः उच्चारण करनेसे विनश्वर तथा सब वर्णोंका सहायक होनेसे दासरूप [क्योंकि 'अकार' मिलाये बिना किसी वर्णका पूरा उच्चारण नहीं हो सकता अतः

अकारवर्ण सबका दास और सहायक रहता है], (वर्णम्) अक्षरवर्गको, (गुहा) कण्ठात्मक गुफामें, (कः) उत्पन्न किया अर्थात् सब अक्षरोंका मूल अकार है और उसका उच्चारणस्थान कण्ठ है।

द्वन्द्वः सामासिकस्य च।

समाससमूह अर्थात् समष्टिमें मैं द्वन्द्वरूप अर्थात् दिन-रात, हानि-लाभ आदि हूँ।

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद।

(अथर्ववेदः ८-९-१०)

(विराजः) विराट्रूप परमात्माके, (मिथुनत्वम्) द्वन्द्व भावको, (कः प्रवेद) कौन जानता है? किस-किस वस्तुमें कैसा-कैसा द्वन्द्व है यह कोई नहीं जानता। अतः द्वन्द्व होना परमात्माकी विभूति है।

अहमेवाक्षयः कालः।

(अक्षयः कालः) अविनश्वर काल, (अहम् एव) मैं ही हूँ।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः।

(अथर्ववेदः १९-५३-८)

(कालो ह) निश्चितरूपसे काल ही, (सर्वस्य ईश्वरः) सारे संसारका स्वामी और सारे संसारको चलानेवाला है, (यः) जो, (प्रजापतेः) ब्रह्मा अथवा सूर्यका भी, (पिता) उत्पादक है।

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥

(अथर्ववेदः १९-५३-९)

(कालो ह) निश्चित रूपसे काल ही, (ब्रह्म भूत्वा) बहुत बड़ा होकर, (परमेष्ठिनम्) ब्रह्मादि देवता अथवा सारे ब्रह्माण्डको धारण करता है।

धाताहं विश्वतोमुखः॥

(विश्वतोमुखः) चारों ओर मुखवाला अर्थात् सर्वद्रष्टा, (धाता) धारण करनेवाला और कर्मफल-प्रदाता, (अहम्) मैं हूँ॥ ३३॥

धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिः।

(ऋग्वेदः १०-१२८-७)

(धाता) वह परमेश्वर सबका धारण करनेवाला और पोषण करनेवाला है, (विधाता) वह सारे संसारका उत्पादक है, (यः) जो, (भुवनस्य पतिः) उत्पन्न हुए संसारका स्वामी है और संसारका पालक और रक्षक है।

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।

(अथर्ववेदः ६-६०-३)

(धाता) जगत्‌को धारण करनेवाले परमात्माने ही, (पृथिवीं द्याम् उत सूर्यम्) पृथ्वी आकाश और सूर्यको, (दाधार) धारण किया है।

स धाता स विधर्ता ।

(अथर्ववेदः १३-४-३)

वही परमात्मा धाता है, वही विधर्ता है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

(ऋग्वेदः १०-१९०-३)

(सूर्याचन्द्रम्) कालके ध्वजभूत सूर्य और चन्द्रको, (असौ धाता) इस धारण करनेवाले परमात्माने, (यथा पूर्वम् अकल्पयत्) जैसे पूर्वकल्पमें रचा था।

तुलना—गीतामें सब वर्णोंमें अकारको तथा समास अर्थात् समष्टिमें द्वन्द्व समास अर्थात् एकताको श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार कालको उत्तम विभूति और सर्वपालक धातृरूपको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। वेदमें भी अकारको सब वर्णोंमें मुख्य माना गया है क्योंकि वही सब वर्णोंका आधार है।

३४. मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।

(सर्वहरः) सबका नाशक मृत्यु, (च) तथा, (भविष्यताम्) आगे होनेवाले पदार्थोंका, (उद्भवः) अभ्युदय अर्थात् जन्मका कारण, (अहम्) मैं हूँ।

स एव मृत्युः ।

(अथर्ववेदः १३-४-२५)

(सः एव) वह परमात्मा ही, (मृत्युः) मृत्युरूप है।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ सीदाथा नो वर्धया गिरः ॥

(ऋग्वेदः ३-२९-१०)

(अग्ने !) हे जीवात्मन् ! (ते) तुझ जीवात्माका, (योनिः) उद्भव अर्थात् जन्मका कारण, (ऋत्वियः) सर्वव्यापक, (अयम्) यह परमात्मा है। (यतो जातः) जिस परमात्मासे मनुष्य जन्ममें हुआ तू, (अरोचथाः) जगत्में अपने अभ्युदयके लिये प्रकाशमान होता है, (तं जानन्) उस अपने उत्पादक परमात्माको जानता हुआ तू, (आसीद) अपने अभ्युदयपर चढ़ अर्थात् अपने अभ्युदयको प्राप्त हो। (अथ) अब हे परमात्मन् ! (नः गिरः वर्धय) अपने चरणोंमें प्राप्त करानेवाले हमारे ज्ञानको बढ़ा जिससे हम सब परम अभ्युदयको प्राप्त हों।

कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

स्त्रियोंमें कीर्ति, शोभा, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और क्षमा मैं हूँ अर्थात् कीर्ति आदि सब विभूतियाँ हैं ॥ ३४ ॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥

(अथर्ववेदः १४-२-२६)

(सुमङ्गली) सुन्दर मङ्गलाचारवाली [श्रीसम्पन्न], (गृहाणां प्रतरणी) गृहवासी लोगोंको दुःखसे पार करनेवाली [संसारमें उसकी कीर्ति रहती है], (पत्ये सुशेवा) पतिके लिये सुन्दर सेवा करनेवाली [इससे स्त्रीकी बुद्धि, धैर्यकी प्रशंसा होती है], (श्वशुराय शम्भूः) श्वशुरको कल्याण और सुख देनेवाली [इससे स्मृतिका बोध होता है], (श्वश्र्वै स्योना) सासके लिये सुखकारी [इससे स्त्रीमें क्षमाका गुण प्रतीत होता है], (इमान् गृहान् प्रविश) हे स्त्री ! इन सुन्दर घरोंमें तू प्रवेश कर।

याज्ञवल्क्यस्मृति (३-७१) में कहा गया है—चन्द्रमाने स्त्रियोंको पवित्रता दी, गन्धर्वने शुभ वाणी दी तथा अग्निने सर्वमेध्यता प्रदान की, अतः स्त्रियाँ निश्चित रूपसे पवित्र हैं। उसकी टीका मिताक्षरामें भी कहा गया है—चंद्रमा, गन्धर्व और अग्निने स्त्रियोंका उपभोग कर क्रमसे उन्हें शौच, मधुरवाणी और सर्वमेध्यता प्रदान की।

तुलना—गीताके अनुसार मृत्यु परमात्माकी विभूति है, जन्म लेनेवाले जीवोंका उत्पत्तिस्थान अभ्युदयकारक परमात्मा ही है तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, सुन्दर शोभा, सुन्दर भाषण, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और क्षमा विभूतियाँ हैं। वेदमें भी कहा गया है कि वही परमात्मा मृत्युरूप है, वही परमात्मा जीवोंका

अभ्युदयकारक है और स्त्रियोंमें जो कीर्ति, सुन्दरता, शुभवाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और क्षमा गुण देखे जाते हैं यही परमात्माकी विभूतियाँ हैं।

३५. बृहत्साम तथा साम्नाम्।

मैं परमात्मा ही, (साम्नाम्) सामवेदके मन्त्रोंमें, (बृहत् साम) बृहत् साम हूँ।

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥

(ऋग्वेदः ८-९८-१)

हे जीवात्माओ ! (विप्राय) विशिष्ट ज्ञानवाले, (महते) महान्से महान्, (धर्मकृते) जगत्के धारण और पालन धर्मके करनेवाले, (विपश्चिते) सर्वज्ञ, (पनस्यवे) स्तुतियोग्य, (इन्द्राय) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्माके लिये, (बृहत् साम) बृहत् नामक साम-मन्त्रोंको, (गायत) गाओ, क्योंकि बृहत्साम परमात्माकी परमविभूति है।

गायत्री छन्दसामहम्।

गायत्र्यादि छन्दोंमें मैं चौबीस अक्षरवाला गायत्री छन्द हूँ।

प्राणायनो गायत्री।

(यजुर्वेदः १३-४५)

(गायत्री) गायत्री ही, (प्राणायनः) प्राणोंका घर है।

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥

(अथर्ववेदः ४-३५-६)

(यस्मात् पक्वात्) जिस परिपूर्ण परमात्माका ध्यान करनेसे, (अमृतं संबभूव) मुक्ति उपस्थित होती है, (यः) जो परमात्मा, (गायत्र्याः) गायत्री छंदका, (अधिपतिः बभूव) स्वामी है, (यस्मिन्) जिस परमात्मामें, (विश्वरूपाः) सब प्रकारके स्वरूपवाले, (वेदाः) ऋग्वेदादि चारों वेद, (निहिताः) स्थित हैं, (तेन ओदनेन) सबसे ग्राह्य उस परमात्मासे, (मृत्युम्) मृत्युको, (अतितराणि) पार कर जाऊँ।

गायत्रं छन्दोऽसि ।

(यजुर्वेदः ३८-६)

हे परमात्मन् ! तू गायत्री[1] छन्द है ।

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

(अथर्ववेदः १९-७१-१)

(द्विजानां पावमानी) ॐ भूर्भुवःस्वः इत्यादिके उच्चारण मात्रसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको पवित्र करनेवाली, (वरदा) मनुष्यजन्मके सफलतारूप वरको देनेवाली, (वेदमाता) वेदज्ञानकी मापक अर्थात् वेदज्ञानकी जननी, (मया स्तुता) मुझ गायत्रीके उपासक द्वारा स्तुति की गई है अर्थात् गायत्रीका जप करनेवाला गायत्रीसे शुभ बुद्धि प्राप्त होनेका वर माँगता रहता है। (प्रचोदयन्ताम्) द्विजमात्र परस्पर गायत्रीजपकी प्रेरणा करते रहें। वह गायत्री मुझ परमात्मभक्तको, (आयुः) जप करनेके लिए दीर्घायु, (प्राणम्) स्वास्थ्य, (प्रजाम्) सन्तति, (पशुम्) गौ-अश्व आदि पशु, (कीर्तिम्) यश, (द्रविणम्) धन, और, (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज, (दत्त्वा) देकर, (ब्रह्मलोकं व्रजत) ब्रह्मलोकको प्रस्थान करे।

यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः ॥

(ऋग्वेदः १०-५०-६)

---

१. गायत्री छन्दसां माता। (ना. पु. ६-३३)
सा हैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँस्तत्रे तद्यद्गयाँस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम। (बृ. उ. ५-१४-४)
वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च। (छा. उ.३-१२-१)
गायतेः स्तुतिकर्मणः········या वै सा गायत्री इयं वाव सा येयं पृथिव्यस्यां हीदं सर्वं भूतम्···एतामेव नातिशीयते। (छा. उ. ३-१२-२)
गायत्री छन्दसां माता। (म. ना. उ. [२] ३४)
गायत्री वा इदं सर्वम्। (छा. उ. ३-१२-१)
ब्रह्म हि गायत्री। (ता. ब्रा. ११-११-९)

(यज्ञः) सत्संग, अग्निहोत्र, ज्ञानयज्ञादि, और, (मन्त्रः) शुभ संकल्प द्वारा मनन करनेयोग्य 'ॐभूर्भुवःस्वः' आदि गायत्री मन्त्र, (ब्रह्मोद्यतं वचः) परमात्मासे कहा हुआ वचन है अर्थात् परमात्माकी आज्ञा है।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।

(अहं मासानां मार्गशीर्षः) चैत्रादि मासोंमें मैं मार्गशीर्ष मास हूँ, तथा, (ऋतूनां कुसुमाकरः) ऋतुओंमें वसन्त हूँ॥ ३५॥

सहश्च····अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि।

(यजुर्वेदः १४-२७)

(सहः) मार्गशीर्ष मास, (अग्नेः) सर्वप्रकाशक परमात्माका, (अन्तः-श्लेषः) मन्दिरमें, मनमें लगा हुआ विभूतिरूप है।

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः॥

(यजुर्वेदः १३-५४)

(अयं वसन्तः) यह वसन्त ऋतु, (पुरोभुवः) प्रथम उत्पन्न हुआ अर्थात् सनातन, (तस्य) उस परमात्माका, (प्राणः) प्राणस्वरूप, तथा, (भौवायनः) स्वसत्तारूपसे स्थित है।

तुलना—गीता और वेदमें भी सामवेदके मन्त्रोंमें बृहत्साम, अनुष्टुबादि छन्दोंमें गायत्री छन्द, चैत्रादि मासोंमें मार्गशीर्ष मास तथा वसन्तादि छह ऋतुओं-में वसन्तको परमात्मविभूति कहा गया है।

३६. द्यूतं छलयतामस्मि।

छल करनेवालोंमें मैं द्यूत (जुआ या शर्त) हूँ।

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्।
अवि वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम्॥

(अथर्ववेदः ७-५२-५)

हे छलकर्ता पुरुष ! (सं लिखितम्) छल करनेवालोंमें सम्यक्तया लिखे हुए भी, (त्वा) छल करनेवाले तुझको, (अजैषम्) मैंने जीत लिया। (संरुधम् उत) सब शुभ कर्मके रोकनेवाले तथा जुएमें फँसे हुए तुझको, (अजैषम्) जीत लिया। (वृकः अविं यथा मथत्) भेड़िया जैसे भेड़का नाश करता है, (एव) ऐसे, (ते कृतं मथ्नामि) तुझ छलकर्ताके कामोंका नाश करता हूँ।

त्वं मायाभिरनवद्य मायिनं श्रवस्यता मनसा वृत्रमर्दयः ।

(ऋग्वेदः १०-१४७-२)

(अनवद्य !) हे शुद्ध परमात्मन् ! (त्वम्) तू, (मायिनम्) छल करनेवालेको, (मायाभिः) छल करनेवाली विशिष्ट बुद्धियोंसे, (श्रवस्यता मनसा) श्रवणीय वचनकी इच्छा करनेवाले मनसे, (वृत्रम्) पापी छलकर्ताको, (अर्दयः) नाश करता है ।

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।
विदुष्टे तस्य मेधिराः ॥

(ऋग्वेदः १-११-७)

(इन्द्र !) हे परमात्मन् ! (त्वम्) तूने, (मायाभिः) अपनी मायिक शक्तियोंसे, (मायिनम्) छली या कपटीको, (शुष्णम् अवातिरः) सूखा कर दिया । (मेधिराः) बुद्धिमान् जन, (तस्य) उस छलीके छलयिता तुझे, (विदुः) जानते हैं ।

तेजस्तेजस्विनामहम् ।

(तेजस्विनाम्) तेजस्वियोंमें, (अहं तेजः) तेज मैं हूँ ।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ।

(यजुर्वेदः १९-९)

हे परमात्मन् ! (तेजोऽसि) तू तेजःस्वरूप है, अतः, (मयि) मुझ भक्तमें, (तेजः धेहि) तेजका आधान कर ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥

(अहं जयः) मैं जेताओंमें जय, (व्यवसायः) व्यवसायियों अर्थात् उद्यमी पुरुषोंमें उद्यम, तथा, (सत्त्ववतां सत्त्वम् अस्मि) बलवानोंमें बल हूँ ॥ ३६ ॥

जेता नृभिरिन्द्रः पृत्सु शूरः ।

(ऋग्वेदः १-१७८-३)

(इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा, (पृत्सु) जयशील सेनाओंमें, (शूरः) शौर्यगुणसम्पन्न मनुष्योंमें, (जेता) जेतास्वरूप है ।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ।

(अथर्ववेदः ६-३९-३)

(विश्वस्य भूतस्य यशाः) मैं सारे भूतमात्रका यश हूँ, अतः, (अहम्) मैं, (यशस्तमः) परम यशस्वी हूँ।

बलमसि बलं मयि धेहि।

(यजुर्वेदः १९-९)

हे परमात्मन् ! (बलमसि) तू बलरूप है, अतः, (मयि) मुझमें, (बलं धेहि) बलको धारण कर।

दाशुष उपाक उद्यन्ता।

(ऋग्वेदः १-१७८-३)

हे परमात्मन् ! तू, (दाशुषः) दानी यजमानके, (उपाके) समीप, (उद्यन्ता) व्यवसायरूप अर्थात् उद्यमरूप है।

तुलना—गीता और वेदमें भी भगवान्ने कहा है कि छल-कपट करनेवालों-में मैं जुआ—द्यूत, तेजस्वियोंमें तेज, जेताओंमें जय, व्यवसायियों अर्थात् उद्यमियोंमें उद्यम और बलवानोंमें बलरूप हूँ।

३७. वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।

(वृष्णीनाम्) ज्ञानवर्षणशील यादवोंमें, (वासुदेवः अस्मि) मैं वासुदेव हूँ, तथा, (पाण्डवानां धनञ्जयः) पाण्डवोंमें धनञ्जय हूँ।

समिन्द्रो यो धनञ्जयः।

(अथर्ववेदः ३-१४-२)

(यः इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा, (धनञ्जयः) धनञ्जय है, (सम्) यह भलीभाँति जानो।

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(अथर्ववेदः २०-२४-६)

(कवे !) हे परमात्मन् ! (वाजेषु) युद्धोंमें, (दधृषम्) प्रबलतासे शत्रुके दबानेवाले, (त्वा) तुझे, (धनञ्जयं विद्म) हम धनञ्जय जानते हैं। (अधा ते सुम्नमीमहे) इसलिए तुझसे धनकी याचना करते हैं।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥

(अहं मुनीनां व्यासः) मुनियोंमें मैं व्यास हूँ, और, (कवीनाम्) तत्त्वज्ञानियोंमें, (उशना कविः) उशना कवि हूँ ॥ ३७ ॥

अहं कविरुशना पश्यता मा ।

(ऋग्वेदः ४-२६-१)

(अहम्) मैं परमात्मा, (उशना) उशना नामक, (कविः) तत्त्वज्ञानी हूँ, हे मनुष्यो ! (माम्) मुझे सर्वात्मस्वरूप, (पश्यत) देखो ।

आ गा आजदुशना काव्यः ।

(अथर्ववेदः २०-२५-५)

(काव्यः) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी, (उशना) उशना नामक ऋषि, (गाः) अपनी वाणियोंको, (आ आजत्) उत्तम मार्गपर चलाता है ।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि वृष्णिवंशमें तथा ज्ञान वर्षण करनेवालोंमें वासुदेव कृष्ण मैं हूँ, पाण्डवोंमें धनञ्जय (धन जीतनेवाला अर्जुन) मैं हूँ, मुनियोंमें व्यासमुनि मैं हूँ, क्योंकि वेदोंको कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्गके मन्त्रोंका पृथक्-पृथक् दर्शन करानेवाला मैं हूँ, तथा और कवियोंमें उशना नामक कवि मैं हूँ । वेदमें भी धनञ्जय (धनको जीतनेवाला तथा अर्जुनरूप) परमात्माको बताया गया है और कवियोंमें उशना कवि परमात्मरूप कहा गया है क्योंकि एक तो उशना ऋषि ऋग्वेद ८-८४, ९-८७—८८ आदिका है, दूसरे ऋषि भी शुद्ध ज्ञानी होनेसे परमात्मरूप होते हैं ।

३८. दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

(दमयताम्) दुष्टोंको शिक्षा देनेवालोंमें, (दण्डः अस्मि) दण्ड मैं हूँ, और, (जिगीषताम्) जीतनेकी इच्छा करनेवालोंमें, (नीतिः अस्मि) नीति अर्थात् न्याय हूँ, (गुह्यानाम्) गोपनीय बातोंमें, (मौनम्) मौन अर्थात् मनन, (अस्मि) हूँ, (च) और, (ज्ञानवताम्) ज्ञानियोंमें, (ज्ञानम् अहम् एव) ज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

दण्डा इवेद् गोअजनास आसन् ।

(ऋग्वेदः ७-३३-६)

(गोअजनासः इव) जैसे गौओंके हाँकनेके लिये, (दण्डा इत्) दण्ड ही,

(आसन्) होते हैं, वैसे मैं भी संसारको चलानेके लिये दमन करनेवालोंमें दण्डरूप हूँ।

जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया ।

(ऋग्वेदः १-२३-११)

(जयतां मरुताम् इव) जयशील मनुष्योंका-सा, (तन्यतुः) नीतिमय शब्द, (धृष्णुया) धर्षणशीलता अर्थात् वीरताके साथ, (एति) प्राप्त होता है । जेता यही ध्वनि लगाते हैं कि जीती हुई प्रजाके साथ पूरा न्याय करेंगे ।

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।

(ऋग्वेदः ७-३२-१३)

हे जीवो ! (यज्ञियेषु) राजकार्यादि यज्ञों तथा सत्सङ्गति यज्ञोंमें, (अखर्वम्) अतीक्ष्ण अर्थात् प्रत्येकके मनको रुचि देनेवाले, (सुधितम्) उत्तम रूपसे अर्थात् सुन्दर बुद्धिसे विचारे हुए, (सुपेशसम्) सुन्दर, (मन्त्रम्) मनन अर्थात् मनमें गुप्त रखनेयोग्य मन्त्र, मौनको, (आदधात) धारण करो ।

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ।

(अथर्ववेदः १२-५-४)

(ब्रह्म) ज्ञानियोंका ज्ञान, (पदवायम्) परमात्माके स्वरूपको दर्शानेवाला है, (ब्राह्मणः) अतः ब्रह्मज्ञानी, (अधिपतिः) स्वामी है, अथवा, (ब्राह्मणः) परमात्मा, (अधिपतिः) उस ज्ञानका स्वामी है ।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि दमन करनेवालोंमें दण्ड, विजेताओंमें न्याय, गुह्य बातोंमें मौन या मन्त्र और ज्ञानियोंमें ज्ञान मेरी विभूति है । वेदमें भी भगवान्ने कहा है कि जैसे दण्ड गौओंको हाँककर अपने गोष्ठमें ले जाता है ऐसे दुष्टोंको सुमार्गपर लानेके लिये दण्ड मेरा रूप है । विजेताओंका जित प्रजाको विश्वास दिलाना कि तुम्हारे साथ न्याय होगा, अन्याय न होगा, यह नीति या न्याय मेरी विभूति है । गुह्य वार्ताओंकी मन्त्रणा करके केवल उसे मौन रूपसे मनन करना मेरी विभूति है और ब्रह्मज्ञानियोंका ज्ञान मेरा ही स्वरूप है ।

३९. यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

हे अर्जुन ! (सर्वभूतानाम्) सब आकाशादि पाँच भूतोंका, (यत्) जो, (बीजम्) उत्पत्तिका मूल कारण है, (तद् अपि) वह बीज अर्थात् उपादानकारण, (अहम्) मैं परमात्मा ही हूँ । (चराचरं भूतम्) जङ्गम और स्थावर जो भी वस्तुएँ हैं उनमें, (तत् न अस्ति) ऐसी कोई वस्तु नहीं है, (यत् मया विना स्यात्) जो मेरे बिना या मुझसे रहित हो अर्थात् मुझसे पृथक् सत् या असत् कोई वस्तु नहीं है । इससे यही ज्ञात होता है कि परमात्मा सर्वस्वरूप है ॥ ३९ ॥

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥

(ऋग्वेदः १०-१८३-३)

(अहम्) मैं परमात्मा ही, (ओषधीषु) शाल्यादि धान्योंमें पुष्प-फलादिकी उत्पत्तिके लिये, (गर्भम्) बीजको, (अदधाम) धारण करता हूँ । (विश्वेषु भुवनेषु) सब भुवनोंके अथवा सब भूतोंके, (अन्तः) भीतर, (अहम्) मैं ही, (गर्भम् अदधाम) बीजको धारण करता हूँ । (पृथिव्याम्) पृथिवीपर, (अहम्) मैं परमात्मा, (प्रजाः) कर्मफलानुसार सब जीवोंको, (अजनयम्) उत्पन्न करता हूँ । (जनिभ्यः) अपनेसे अपनी-अपनी जातिकी उत्पादिकायों से, (अपरीषु) और भी उत्पादक शक्तियोंमें, (पुत्रान्) सन्ततियोंको, (अहम् अजनयम्) मैं उत्पन्न करता हूँ । अतः मैं सब पदार्थोंकी उत्पत्तिका मूल कारण हूँ ।

उपनिषदोंमें भी कहा गया है—

सोऽवेदहं वाद सृष्टिरस्मि अहं हीदं सर्वमसृक्षीरिति ।

(बृ. उ. १-४-५)

उसने जाना कि मैं सृष्टिरूप हूँ क्योंकि मैंने ही यह सारी सृष्टि रची है ।

पुरुष एवेदं सर्वम् । ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।

(नृ. उ. ता. उ. ७-३)

यह सब कुछ वह पुरुष ही है । वह ब्रह्म ही यह सब है ।

तुलना—गीतामें सारे संसारका उत्पादक अर्थात् उपादान कारण परमात्मा-को ही बताते हुए कहा गया है कि जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें परमात्माकी सत्ता न हो, अर्थात् सब वस्तुओंमें परमात्मा व्यापक है । वेद-

वचनोंसे भी सिद्ध होता है कि परमात्मा सब भूतोंका आत्मा है, वही सबका आदि-मध्य-अन्त है। सब भूतोंका बीज भी वही है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो ईश्वरसत्तासे रहित हो। ईश्वरकी सत्तासे सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। अतः प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरकी ही विभूति है।

४०. नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥

(मम) मुझ परमात्माकी, (दिव्यानाम्) त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे उत्पन्न हुई अच्छीसे अच्छी, (विभूतीनाम्) विभूतियोंका, (अन्तः नास्ति) अन्त नहीं है। (परन्तप!) हे अर्जुन ! (मया) मैंने, (एषः विभूतेः विस्तरः) विभूतिका यह विस्तार, (तु) तो, (उद्देशतः) तुझे लक्ष्य करके संक्षिप्त-मात्र, (प्रोक्तः) कहा है, न कि विशेष विस्तारसे ॥ ४० ॥

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥
(अथर्ववेदः ४-३०-८)

(अहम्) मैं परमात्मा, (विश्वा भुवनानि) सब भुवनोंको अर्थात् भूत-मात्र कार्यसमूहको, (आरभमाणा) आरम्भ करता अर्थात् निर्माण करता हूँ। (वात इव प्रवामि) जैसे वायु स्वयं सदागति रहती है वैसे मैं परमात्मा भी सबका बीजरूप होकर उत्कृष्ट रूपसे चलता रहता हूँ अर्थात् जगत्में अपनी विभूतियोंका विशेष रूपसे निर्माण करता रहता हूँ। (परो दिवा) द्युलोकसे भी परे, और, (एना पृथिव्याः परः) इस पृथिवीसे भी परे अर्थात् इन विकारी पदार्थोंसे भी पूर्वकालमें विद्यमान रहकर, (महिम्ना) अपनी महिमासे अर्थात् बड़े भारी सामर्थ्यसे, (एतावती) इतने विशालरूपमें जगत्को बनाकर, (संबभूव) भलीभाँति विद्यमान हूँ।

तुलना—गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि मेरी उत्तमोत्तम विभूति-योंका कोई अन्त नहीं है। तो भी तेरे प्रश्न करनेपर संक्षेपरूपमें मैंने कुछ मुख्य विभूतियाँ बतलाई हैं। वेदमें भी भगवान्ने कहा है कि जैसे वायु बिना किसी लौकिक प्रेरणाके अपने आप सदागति अर्थात् गतिशील रहता है वैसे मैं परमात्मा भी सब लोकोंका अपनी स्वेच्छाशक्तिसे निर्माण करता रहता हूँ और अच्छीसे अच्छी तेजस्वी वस्तुओंमें विशेषरूपसे प्रविष्ट रहता हूँ।

४१. यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

हे अर्जुन! (यत् यत् सत्त्वम्) जो-जो चेतन अथवा जड़ पदार्थ, (विभूतिमत्) विद्या, तप, शौर्य, धैर्य, उदारता, शम-दमादि सद्गुणों या ज्ञानकी समृद्धिसे विभूतिवाला देखा जाता है, (श्रीमत्) शोभा, लक्ष्मी, कान्ति, बुद्धि कीर्ति, स्फूर्तिसे युक्त दृष्टिगोचर होता है, (वा) अथवा, (ऊर्जितम्) ओज, तेज, बल, उद्यम, दृढ़ता या उत्साहसे युक्त देखा जाता है, (तद् तद् एव) उसी-उसी पदार्थको, (मम) मुझ परमेश्वरके, (तेजोंशसम्भवम्) शक्ति अर्थात् कलासे उत्पन्न हुआ, (अवगच्छ) जान॥ ४१॥

सोऽङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद्वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन्।
ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥
(ऋग्वेदः १-१००-४)

(अङ्गिरोभिः अङ्गिरस्तमः=अङ्गिरःसु अङ्गिरस्तमः—अङ्गन्ति सर्वेषु कार्येषु प्रधानतां गच्छन्ति इति अङ्गिरसः) जो सब कार्योंमें प्रधानताको प्राप्त होते हैं उन प्रधानतासे कार्य-संचालकोंमें प्रधान अर्थात् सबसे अधिक प्रधान कार्यकर्ता जो है, (सः) वह मेरी विभूति है, (वृषभिः वृषा=वृषेषु वृषा) धर्मात्माओंमें धर्मात्मा मेरी विभूति है, (सखिभिः सखा=सखिषु सखा सन्) जो सखाओंमें सखा होकर बर्तता है वह मेरी विभूति है। (ऋग्मिभिः ऋग्मी=ऋग्मिषु ऋग्मी) परमात्माकी स्तुति करनेवाले भक्तोंमें मेरा स्तोता, मेरा भक्त मेरी विभूति है। (गातुभिः=गातुषु) मेरा भजन गानेवालोंमें, (ज्येष्ठः) जो सबसे श्रेष्ठ है, वह मेरे तेजसे उत्पन्न हुआ मेरी विभूति है। एवंविध विभूतिस्वरूप, (मरुत्वान्) सर्वात्मस्वरूप, (इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्न परमविभूतिमान् परमात्मा, (नः ऊती भवतु) हमारा रक्षक हो।

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्।
(ऋग्वेदः ४-७-९)

हे परमात्मन्! (ते) तेरे, (कृष्णम्) कर्षणकारक स्वरूपको, (एम) हम प्राप्त हों। तेरा स्वरूप कैसा है? (रुशतः) जिस परमप्रकाशस्वरूपकी शोभा भक्तोंके सम्मुख प्रकाशित होती है। फिर, (चरिष्णु अर्चिः) जिसका तेज भक्तोंके मनमें चलनेवाला है, जिसके तेजका चलता हुआ विस्फुलिङ्ग, (वपुषाम् इत् एकम्) शरीरधारियोंकी एक अर्थात् मुख्य विभूतिका निर्माण है।

तुलना—गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि जो-जो जड अथवा चेतन पदार्थ शोभावाला या बलसे बढ़ा हुआ है वही मेरी विभूति है। मेरे विशेष तेजके अंश-से जो उत्पन्न हुआ हो उसे मेरी विभूति जानो। जहाँ ईश्वरका विशेष भाव दिखाई देता है उसे विभूति समझो। वेदमें भी कहा गया है कि कार्यकर्ताओंमें प्रधान कार्यकर्ताको, धर्मात्माओंमें परमधर्मात्माको, सखाओंमें पूर्ण सखाभाव रखनेवालेको, स्तोताओंमें मुख्य स्तोताको तथा भगवद्भजन करनेवालोंमें मुख्य भगवद्भजन करनेवालेको परमात्माके विशेष तेजका अंश अर्थात् विभूति जानो।

४२. अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।

हे अर्जुन! अथवा, (तव) तुझ मुमुक्षुको, (बहुना) बहुत प्रकारवाले, (एतेन ज्ञातेन) मेरे विभूतिविषयक इस ज्ञानसे, (किम्) क्या प्रयोजन है! (अहम्) मैं परमात्मा, (कृत्स्नम्) स्थावर-जङ्गमात्मक सारे, (इदं जगत्) इस जगत्‌को, (एकांशेन) एक भागमात्रसे, (विष्टभ्य) चारों ओर व्याप्त करके, (स्थितः) स्थित हूँ॥ ४२॥

**एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥**

(ऋग्वेदः १०-९०-३)

देव-तिर्यक्-मनुष्यात्मक-अतीतानागतवर्तमान-अस्तिरूप यह जितना जगत् है, (एतावान्) इतनी ही, (अस्य) परमपुरुष परमब्रह्मकी, (महिमा) बड़ाई, बड़ा कर्म, स्वकीय सामर्थ्यविशेष है। यह स्वरूप इस परमात्माका वास्तविक स्वरूप नहीं है। (अतः) इस यथोक्त महिमासे, जड़-चेतन-लक्षण कार्य-वेगसे, (पुरुषः) परमात्मा, (ज्यायान्) बहुत अधिक बड़ा है। (विश्वा भूतानि) तीनों कालोंमें बर्तनेवाले सब प्राणी-अप्राणी-समूह, (अस्य) इस परमात्माके, (पादः) एक अंश, भाग अर्थात् लेशमात्र हैं। (अस्य) इस परमात्माका,

(त्रिपाद्) अवशिष्ट तीन अंशवाला स्वरूप, (अमृतम्) अमृतस्वरूप है जो, (दिवि) द्योतनात्मक स्वप्रकाशस्वरूपमें स्थित है ।

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत्पुनः ।

(अथर्ववेदः १९-६-२)

वह परमात्मा, (त्रिभिः पद्भिः) अपने तीन चरणोंसे, (द्याम् अरोहत्) चढ़कर स्वर्गलोक चला गया, (अस्य पाद् पुनः इह अभवत्) उसका एक चरण इस भूलोकमें प्रकाशित हो रहा है ।

त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।

(ऋग्वेदः १०-९०-४)

(त्रिपाद् पुरुषः) ब्रह्मस्वरूप संसाररहित पुरुष वह परमात्मा, (ऊर्ध्वम् उदैत्) संसारके गुण-दोषोंसे रहित होकर ऊपर चला गया । (अस्य पादः) उसका एक पाद अर्थात् लेशमात्र, (पुनः इह अभवत्) इस मायामें सृष्टि-संहारके द्वारा बार-बार आता है।

तुलना—गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि मेरी विभूतियोंके बहुत ज्ञानसे तुझे क्या प्रयोजन है ! मैं इतना महान्से महान् हूँ कि इस चराचर जगत्की रचना करनेमें मेरा केवल एक अंश काम करता है । शेष मैं कितना हूँ और क्या-क्या मेरी विभूति हैं यह तू नहीं जान सकता ! वेदमें भी यही कहा गया है कि हे परमात्मन् ! इस चराचर जगत्को देखकर यही न जान कि बस परमात्मा इतना ही है । मेरा केवल एक अंश इस संसारकी बार-बार उत्पत्ति कर रहा है । मेरा शेष भाग अमृतमय ज्योतिःस्वरूप परमप्रकाशमान अपने स्वरूपमें आप स्थित है ।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका नवम अध्याय समाप्त ।

एकादश अध्याय

अर्जुन उवाच—

१. मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥
२. भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥
३. एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—हे भगवन् ! (मदनुग्रहाय) मुझपर कृपा करनेके लिये, (परमं गुह्यम्) अत्यन्त गोप्य, (अध्यात्मसंज्ञितम्) अध्यात्म-संज्ञावाला, (यत्) आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, इनका परस्पर भेद है या नहीं, आत्मा परमात्माको कैसे पा सकता है, इत्यादि जो ज्ञान, (त्वया उक्तम्) आपने कहा है, (तेन) उस अध्यात्मज्ञानके वचनोंसे, (मम) मेरा (अयं मोहः) यह चाचा है, यह भ्राता है, यह मामा है इत्यादि मोह, (विगतः) दूर हो गया है ॥ १ ॥

(मया) मैंने, (त्वत्तः) आपसे, (भूतानाम्) भूतोंके अर्थात् सृष्टिके, (भवाप्ययौ) उत्पत्ति और विनाश अर्थात् लय, (विस्तरशः) बहुत विस्तार-के साथ, (श्रुतौ) सुने हैं। (च) और, (कमलपत्राक्ष !) हे कमलपत्रके समान नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण ! (च) और, (अव्ययम्) विनाशरहित, (माहात्म्यम्) सर्वात्मस्वरूप और सर्वेश्वरत्वको प्रकट करनेवाला माहात्म्य भी, (हि) निश्चित रूपसे सुना है ॥ २ ॥

(परमेश्वर !) परमेश्वर ! (त्वम्) आपने, (आत्मानम्) अपने आप-को, (यथा) जिस प्रकार, (आत्थ) कहा है, (एतत् एवम्) यह ऐसा ही है। (पुरुषोत्तम !) हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! (ते) आपके, (ऐश्वरं रूपम्) ईश्वर-सम्बन्धित सर्वसामर्थ्यसे युक्त स्वरूपको, (द्रष्टुम्) अपने इन नेत्रोंसे देखनेकी, (इच्छामि) इच्छा करता हूँ ॥ ३ ॥

४. मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

(प्रभो !) हे स्वामिन् ! (तत्) उस ईश्वरीय स्वरूपको, (मया) मुझ अर्जुन जैसे साधारण मनुष्यसे, (द्रष्टुं शक्यम्) देखा जा सकता है, (इति यदि मन्यसे) ऐसा यदि आप मानते हैं, (योगेश्वर !) कर्मयोग, उपासना-योग और ज्ञानयोगके स्वामी परमात्मन् ! (ततः) तो फिर, (त्वम्) आप, (मे) मुझे, (अव्ययम्) विनाशरहित, (आत्मानम्) अपने स्वसामर्थ्योपेत ईश्वरीय रूपको, (दर्शय) दिखा दीजिए ॥ ४ ॥

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥

(अथर्ववेदः ४-२०-५)

(सहस्रचक्षो !) सहस्र नेत्रोंवाले, सर्वद्रष्टा हे परमात्मन् ! यदि आप मुझ जीवात्मासे अपने स्वरूपको देखनेयोग्य समझते हैं, तो, (रूपाणि) अपने ईश्वरीय रूपको, (आविष्कृणुष्व) प्रकट कीजिये, हम आपके भक्त आपके स्वरूपको देखें। (आत्मानम्) अपने स्वरूपको, (मा अपगूहथाः) मत छिपाइए, (त्वम्) मेरे उपदेष्टा परमात्मन् ! (किमीदिनः) क्या अब इस वासनावाले मेरे मनको, (प्रतिपश्यः) आप देखते हैं !

तुलना—गीतामें बताया गया है कि अध्यात्मज्ञानके जाननेसे मनुष्यका मोह दूर हो जाता है, सांसारिक मोह दूर हो जानेसे वह परमात्माके स्वरूपको देखने-की इच्छा करता है और तब परमात्मासे यही प्रार्थना करता है कि यदि मैं ईश्वर-स्वरूपको जाननेका अधिकारी हो चुका हूँ, तो हे परमात्मन् ! मुझे अपना वास्तविक स्वरूप दिखा दीजिए। वेदमें भी जीवात्माने परमात्मासे यही प्रार्थना की है कि मुझ भक्तको कृतार्थ करनेके लिये अपने वास्तविक स्वरूपके दर्शन करा दीजिए, अपने विराट् रूपको छिपाइए नहीं।

श्रीभगवान् उवाच—

५. पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥

६. पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहने लगे—(पार्थ !) हे पृथापुत्र अर्जुन !

(मे) विराट्रूप मुझ परमात्माके, (नानाविधानि) भिन्न-भिन्न प्रकारवाले, (दिव्यानि) दिव्य, (नानावर्णाकृतीनि च) अनेक प्रकारके वर्ण और आकृतियोंवाले, (शतशः अथ सहस्रशः) सैकड़ों और सहस्रों प्रकारके, (रूपाणि) रूपोंको, (पश्य) देख ॥ ५ ॥

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (आदित्यान्) अनेक सूर्योंको, (वसून्) आठ वसुओंको, (रुद्रान्) शङ्करादि एकादश रुद्रोंको, (अश्विनौ) अश्विनीकुमारोंको, (तथा मरुतः) तथा मरुद्गणोंको, (पश्य) देख, और, (अदृष्टपूर्वाणि बहूनि) पहले न देखे हुए बहुत प्रकारवाले, (आश्चर्याणि) आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले (रूपाणि) रूपोंको, (पश्य) देख ॥ ६ ॥

[1]दर्शं नु [2]विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि [3]क्षमि ।
एता जुषत मे गिरः ॥

(ऋग्वेदः १-२५-१८)

हे जीवात्माओ ! हे ऋषियो ! (विश्वदर्शतम्) विश्वमें दर्शनयोग्य अथवा सब तत्त्वज्ञानियोंसे देखनेयोग्य, भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए सर्वत्र विश्वरूपसे प्रकट हुए, (मम) मुझ परमात्माके स्वरूपको, (नु) निश्चय ही, (दर्शम्) देखो । (अधि क्षमि) इस पृथिवीपर, (रथम्) नाना वर्णों और नाना आकृतियोंवाले आदित्य-वसु-मरुद्गणादि देहोंको, (अधि दर्शम्) अधिकतासे देखो । (एतम्) इन कही हुई, (मे गिरः) मुझ परमेश्वरकी वाणियोंको, (जुषत) सेवन करो अर्थात् पालन करो ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि भगवान् कृष्णने विराट् रूप प्रकट करके अर्जुनसे कई प्रकारके आश्चर्यमय व्यक्तियों, अनेक रूपवाली मूर्तियों और सूर्यादियोंको अपनेमें देखनेके लिये कहा । वेदमें भी परमात्माने यही कहा है कि हे जीवात्माओ ! मुझमें विश्वरूपको देखो, विश्वमें नाना रूपोंवाला मुझे देखो और मेरी वाणियोंका सेवन करो ।

७. इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥

---

१. दर्शम्—दृशेः 'इरितो वा' इति च्लेरङ्, 'ऋदृशोऽङि गुणः' इति गुणः।
२. विश्वदर्शतम्—दृशेः 'भृमृदृशि' इत्यादिना अतच्प्रत्ययान्तो दर्शतशब्दः।
३. क्षमि—'आतो धातोः' इत्यत्र आतः इति योगविभागात् आकारलोपः।

(गुडाकेश !) हे घुँघराले वर्तुलाकार केशोंवाले अथवा हे निद्राको भी वश करनेवाले अर्जुन ! (इह मम देहे) इस दृश्यमान मेरे देहमें अर्थात् विराट्रूप देहमें, (सचराचरम्) स्थावर-जङ्गमके साथ, (एकस्थम्) एक ही स्थानमें वर्तमान, (कृत्स्नं जगत्) सारे जगत्को, (अद्य) आज, (पश्य) देख। (यत् च अन्यत्) और इससे भिन्न अर्थात् शत्रु-पराजय आदि, (द्रष्टुम् इच्छसि) जो देखना चाहता है, उसे भी देख ॥ ७ ॥

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥

(ऋग्वेदः ८-१००-४)

(जरितः !) हे मेरी स्तुति अर्थात् परमात्म-स्तुति करनेवाले जीवात्मन् ! (अयम् अस्मि) यह मैं परमात्मा विराट् रूपमें तेरे सामने खड़ा हूँ। (इह) इस मेरे विराट् रूप देहमें, (मा पश्य) मुझे देख । विराट्स्वरूप मैं ही, (विश्वा जातानि) सारे उत्पन्न हुए स्थावर-जङ्गम भूतमात्रको, (मह्ना) अपनी महिमासे अर्थात् अपने बड़प्पन या परमेश्वरत्वसे, (अभ्यस्मि) दबा लेता हूँ। (मा) मुझ परमात्माको, (ऋतस्य प्रदिशः) सत्यस्वरूपके उपदेष्टा अर्थात् ज्ञानीजन, (वर्धयन्ति) अपने स्तोत्रोंसे बढ़ाते हैं, और, (अर्दादिरः) सबसे आदरणीय मैं, (भुवना) संसारमें उत्पन्न हुए तुझ भक्तके शत्रुओंको, (दर्दरीमि) दरेरकर फाड़ देता हूँ अर्थात् नष्ट कर देता हूँ, अतः तू अपने सब शत्रुओंको नाश होते हुए मुझमें देख ।

तुलना—गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनको इसी कृष्णस्वरूप देहमें विराट् रूपकी अवस्थामें सारे चराचर जगत्को दर्शाया तथा दुर्योधनादि शत्रुओंको अपनी देहमें प्रवेश करते हुए दिखाया। वेदमें भी परमात्माने अपने स्तोता भक्तको यही कहा है कि मेरे विराट् रूपमें सारे चराचर जगत्को देख। ज्ञानीजन भी इसी जगत्को मेरा स्वरूप जानते हुए मेरे विराट् रूपकी सेवा करते हैं और काम-क्रोधादि सांसारिक शत्रुओंका नाश करके मुझे प्राप्त होते हैं।

८. **न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।**
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

हे अर्जुन ! तू, (अनेन एव स्वचक्षुषा) अपने इन्हीं नेत्रोंसे, (मम) मेरे दिव्य स्वरूपको, (न तु द्रष्टुं शक्यसे) देखनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता,

अतः, (ते) तुझे, (दिव्यं चक्षुः ददामि) अप्राकृत तेजोमय नेत्र देता हूँ। (मे) मेरे, (ऐश्वरं योगम्) ईश्वर-संबन्धी स्वरूपको, (पश्य) देख ॥ ८॥

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् ॥

(ऋग्वेदः ५-८५-६)

हे जीवात्मन् ! कोई प्राकृतिक पुरुष, (कवितमस्य) अत्यन्त क्रान्तदर्शी सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माकी, (इमाम्) इस विराट्स्वरूप, (महीम्) बड़ी, (मायाम्) दिव्य शक्तिवाली मूर्तिको चर्मचक्षु अर्थात् प्राकृतिक चक्षुसे, (नकिः आदधर्ष) धारण करनेके लिये समर्थ नहीं होता अर्थात् देख नहीं सकता। [(ऊ नु) मन्त्रमें दोनों शब्द पादपूर्तिके लिये हैं]। (एनीः) शुभ कर्ममें चलनेवाले, (आसिञ्चन्ती) स्नेहात्मक दिव्य नेत्रसे सिञ्चन करते हुए, (अवनयः) भगवद्भक्तिके पात्ररूप भक्तजन, (समुद्रम्) सारा चराचर जगत् जिसमें भली-प्रकार गमन करता है ऐसे परमेश्वरको, (पृणन्ति) अपनी भक्तिसे तृप्त करते हैं अर्थात् परमात्माको प्रसन्न करते हैं, (यत्) जिस कारणसे, (एकम्) पर-मात्माके दर्शनात्मक मुख्य कर्मको, (उद्ना) जलात्मक अर्थात् प्राकृतिक नेत्रसे, (न पृणन्ति) धारण करने अर्थात् देखनेके कर्मको पूर्ण नहीं कर सकते।

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति।
दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति ॥

(अथर्ववेदः ४-२०-१)

(देवि!) हे ज्योतिर्मय दिव्यदृष्टे ! तू स्वयं जिसे मिल जाय वह, (तत् आपश्यति) उन सारे दिव्यादिव्य पदार्थोंको देखता है, (प्रति पश्यति) प्रत्येक दिव्य पदार्थके प्रति दिव्यदृष्टिसे देखता है, (परा पश्यति) वह दूरसे दूरकी भी वस्तु देख लेता है, (पश्यति) सब पदार्थोंको अच्छी रीतिसे देख लेता है, (दिवम् अन्तरिक्षम् आत् भूमिम्) द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और भूमि, (सर्वं पश्यति) सब कुछ देख लेता है।

तुलना—गीतामें दर्शाया गया है कि चर्मचक्षुसे प्राकृतिक पदार्थ देखे जाते हैं और दिव्य नेत्रोंसे अर्थात् दिव्यदृष्टि, ज्ञानमय दृष्टिसे दिव्य पदार्थ देखे जाते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि उस ज्ञानघन परमात्माके दिव्य स्वरूपको इस चर्ममय चक्षुसे नहीं देखा जा सकता, ज्ञानी लोग उसे दिव्य दृष्टिसे देखते हैं।

सञ्जय उवाच—

९. एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥

१०. अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥

११. दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥

सञ्जयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—हे राजन् धृतराष्ट्र! (महायोगेश्वरः) योगमाया, महायोग या महाशक्तिके स्वामी, अथवा कर्मयोग, उपासनायोग, ज्ञान-योग, इन तीनों महायोगोंके स्वामी, (हरिः) भय और पापके हरनेवाले श्रीकृष्णने, (ततः) तब, (एवम् उक्त्वा) पूर्वोक्त ऐश्वर रूपको कहकर, (पार्थाय) अर्जुन-को, (ऐश्वरं रूपम्) परमात्म-संबन्धी अर्थात् विराट् स्वरूप, (अनेकवक्त्र-नयनम्) अनेक मुख और अनेक नेत्रोंवाले, (अनेकाद्भुतदर्शनम्) अनेक आश्चर्यकारी रूपोंसे युक्त, (अनेकदिव्याभरणम्) बहुत प्रकारके सुन्दर-सुन्दर भूषणोंवाले, (दिव्यानेकोद्यतायुधम्) अच्छेसे अच्छे अनेक अस्त्र-शस्त्रोंको उठाए हुए, (दिव्यमाल्याम्बरधरम्) अच्छेसे अच्छे फूलोंकी माला और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहने हुए, (दिव्यगन्धानुलेपनम्) दिव्य सुगन्धियोंका देहपर लेपन किये हुए, (सर्वाश्चर्यमयम्) सारे आश्चर्योंसे युक्त, (विश्वतोमुखम्) चारों ओर मुख धारण करनेवाले, (अनन्तम्) आद्यन्तसे रहित अर्थात् अपरिच्छिन्न, (देवम्) ज्योतिःस्वरूप ईश्वर रूपको, (दर्शयामास) दिखाया॥ ९-११॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(ऋग्वेदः १०-९०-१)

(सहस्रशीर्षाः) सारे चराचर जगत्के समष्टि और व्यष्टिरूप विराट् नामक परमात्माका शरीर अर्थात् विराट् पुरुष सहस्रों सिरवाला, (सहस्राक्षः) सहस्रों नेत्रवाला, और, (सहस्रपात्) सहस्रों पैरवाला है, क्योंकि जगत्में सब प्राणियोंके हाथ, पाँव, सिर, नेत्र, भुजाएँ आदि इसीमें हैं, (सः) वह परम-पुरुष, (भूमिम्) ब्रह्माण्डगोलकरूपको, (विश्वतः वृत्वा) चारों ओर घेरकर, (दशाङ्गुलम्) दश अंगुल परिमित देशको, (अत्यतिष्ठत्) अतिक्रमण करके ठहरा हुआ है। दशांगुल शब्द केवल उपलक्षण है। वह परमपुरुष ब्रह्माण्डसे बाहर भी व्यापक है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।
(ऋग्वेदः १०-८१-३)

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ।।
(अथर्ववेदः १३-२-२६)

(यः) जो परमपुरुष परमात्मा, (विश्वचर्षणिः) समस्त जगत्का द्रष्टा और चारों ओर नेत्रोंवाला, (विश्वतोमुखः) चारों ओर मुखवाला, (विश्वतोबाहुः, विश्वतःपाणि,) चारों ओर बाहु और हाथवाला, (विश्वतस्पात्) चारों ओर पैरवाला, (विश्वतःपृथः) चारों ओर व्यापक है, (सः एकः देवः) वह एक ही सर्वद्रष्टा परमात्मा, (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवीको अर्थात् आकाश और पृथिवीमें वर्तमान सब प्राणी और अप्राणियोंको, (पतत्रैः) अपने कर्मशील मार्गोंसे, (सं जनयन्) भलीप्रकार उत्पन्न करता हुआ, (बाहुभ्याम्) अपनी बाहुओंसे, उनका, (सं भरति) भली प्रकार भरण-पोषण करता है ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।।
(मु. उ. २-१-३-४)

इसी परमात्मासे प्राण, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, आकाश, वायु, अग्नि, जल, सबका धारण करनेवाली पृथिवी, ये सब उत्पन्न होते हैं । अब विराट् रूप क्या है, इसपर कहते हैं कि अग्नि मूर्द्धा है, सूर्य-चन्द्र दो नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र हैं, वेद वाणी है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष हृदय है और पाँव पृथिवी है । यह सर्वभूतान्तरात्मा है ।

तुलना—गीतामें श्रीकृष्णने अर्जुनको जो विराट् रूप दिखाया है, उसमें अनेक मुख, सहस्रों विविध रूपोंवाली आश्चर्यमय मूर्तियाँ, अनेक प्रकारके अस्त्र-

शस्त्रोंसे सजे हुए योद्धा, सूर्य-चन्द्र और तारागणादिसे युक्त स्वरूप दिखाया। वेद और उपनिषद्में भी परमात्माका विराट् रूप सहस्रों सिर-पैर-हाथ-मुखवाला बताते हुए सूर्य-चन्द्रको उसके नेत्र, हृदयको आकाश तथा दिशाओंको श्रोत्ररूप बताया गया है।

१२. दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥
१३. तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥

(यदि) यदि, (दिवि) अन्तरिक्षमें, (सूर्यसहस्रस्य) सहस्रों सूर्योंका, (भाः) तेज अथवा प्रकाश, (युगपत्) इकट्ठा एक साथ ही, (उत्थिता भवेत्) उठ खड़ा हो, (सा) तो वह प्रभा, (तस्य महात्मनः) उस महात्म विराट् रूपके, (भासः) प्रकाशके, (सदृशी) बराबर, (स्यात्) सम्भव है कि हो जाय॥ १२॥

(तदा) तब, (पाण्डवः) पाण्डवपुत्र अर्जुनने, (देवदेवस्य) प्रकाशकोंके प्रकाशक परमात्माके, (तत्र शरीरे) उस विराट्रूप शरीरमें, (एकस्थम्) एक स्थानपर स्थित हुए, (अनेकधा) अनेक प्रकारसे, (प्रविभक्तम्) विभक्त हुए, (कृत्स्नं जगत्) सारे जगत्को, (अपश्यत्) देखा॥ १३॥

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥
(ऋग्वेदः ८-७०-५)

(इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (यद्) यदि, (ते) तेरी समता अथवा तुलना पानेके लिये, (द्यावः) प्रकाशात्मक आकाशमें रहनेवाले चन्द्र-तारादिक पदार्थ, (शतम्) सैकड़ों मिलकर भी, (स्युः) इकट्ठे हों, (न अष्ट) तो तेरी समता नहीं पा सकते। (उत शतं भूमीः) सैकड़ों भूमियाँ भी इकट्ठी, (स्युः) होवें तो भी, (न अष्ट) समताको नहीं पा सकतीं। (वज्रिन् !) हे वज्रकी तरह तीक्ष्ण पाप-पुण्य-फल देनेवाले परमात्मन्! (सहस्रं जातं सूर्याः) सहस्रों सूर्य भी उत्पन्न होकर, (त्वा न अन्वष्ट) तेरी समता नहीं पा सकते। (रोदसी) सहस्रों पृथिवी और आकाश मिलकर भी तेरी समता नहीं पा सकते।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

(कठ उ. ५-१५)

उस परमात्माके सामने सूर्य नहीं प्रकाशता अर्थात् परमात्माकी ज्योतिके सामने सूर्य तुच्छ वस्तु है। चन्द्र और तारा भी उसके सामने नहीं प्रकाशते। बिजलियाँ भी प्रकाश नहीं कर सकतीं, फिर यह अग्नि उसके सामने कैसे प्रकाश कर सकता है !

ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा-
ज्ज्यायान् दिशो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ।

(छा. उ. ३-१४-३)

वह परमात्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिशा और इन सब लोकोंसे बड़ा है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि भगवान्ने अर्जुनको अपना जो विराट् स्वरूप संयुक्त तथा विभक्त दोनों प्रकारसे दिखाया, उस विराट् रूपके प्रकाश-के सामने सहस्रों सूर्योंका प्रकाश भी कुछ नहीं था। वेदमें भी बताया गया है कि सैकड़ों आकाश ईश्वरकी अनन्तताको तथा सैकड़ों भूमियाँ और उसके वासी चित् शक्तिको जीवोंद्वारा नहीं माप सकते। सैकड़ों सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, विद्युत् तथा पार्थिवाग्नि परमात्माके तेजकी समता नहीं कर सकते।

१४. ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥

(ततः) तब, (विस्मयाविष्टः) विस्मयसे भरा हुआ, (हृष्टरोमाः) पुलकित रोंगटोंवाला, (सः धनञ्जयः) दिव्यदृष्टिवाला वह अर्जुन, (देवम्) अपनी ज्योतिसे प्रकाशमान श्रीकृष्णको, (शिरसा प्रणम्य) सिर झुकाकर प्रणाम करके, (कृताञ्जलिः) दोनों हाथ जोड़कर, (अभाषत) बोला ॥ १४ ॥

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु ।
नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः ॥

(ऋग्वेदः १०-७९-१)

हे परमात्मन् ! दिव्य दृष्टिवाले आपके भक्त मैंने, (मर्त्यासु विक्षु) मानुषी प्रजामें अर्थात् प्राण्यप्राणिमात्रमें, (अमर्त्यस्य) अमरण स्वभाववाले परमात्मरूपसे वर्तमान, (अस्य) इस विराट् रूपकी, (महतो महित्वम्)

बड़ीसे बड़ी महिमाको, (अपश्यम्) देखा। (अस्य) इस विराट् रूपके, (नाना हनू) नाना प्रकारके मुखोंके दो जबड़े, (विभृते) पृथक्-पृथक् स्थित होते हुए, (संभरेते) सम्यक्तया जगत्की रक्षा और पालन करते हैं। (ते) विराट्रूप भगवान्के वे दोनों हनु अर्थात् जबड़े, (असिन्वती) प्रातः और सायंकाल भोजन न करनेवाले, (बप्सती) स्वयं भोजनरहित भी दोनों हनु स्तोता भक्तको ग्रहण करते हुए, (भूरि) अत्यधिक, (अत्तः) भोजन कर लेते हैं अर्थात् संसारमें मुक्त कर देते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अर्जुन परमात्मा (कृष्ण) के विराट् रूपको देखकर विस्मित हो गया, तथा प्रसन्नतासे उसे रोमांच हो गया। वह प्रणाम कर हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा। वेदमें भी कहा गया है कि भगवद्भक्तने अविनाशी, सर्वव्यापक परमात्माके विराट् रूपको और उसमें दो जबड़ोंवाले भिन्न-भिन्न प्रकारके मुखोंको देखा। वे जबड़े स्वयं तो दिन-रात कुछ नहीं खाते पर अपने भक्तोंको ग्रहण कर लेते अर्थात् मुक्त कर देते हैं।

अर्जुन उवाच—

१५. पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रार्थना करके कहा—(देव !) हे प्रकाशस्वरूप ! (तव देहे) आपके शरीरमें, (भूतविशेषसङ्घान्) देव-तिर्यगादि प्राणियोंके समूहको, (सर्वान् देवान्) इन्द्र-यमादि सब देवताओंको, (कमलासनस्थं ब्रह्माणम्) कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माको, (ईशम्) महादेवको, (च) और, (सर्वान् ऋषीन्) नारदादि सब ऋषियोंको, (च) तथा, (दिव्यान् सर्वान् उरगान्) दिव्यरूप सब सर्पोंको, (पश्यामि) देखता हूँ॥ १५॥

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यञ्च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि॥
(अथर्ववेदः १०-७-२२)

हे जीवात्मन् ! (यत्र) जिस परमात्माके विराट् स्वरूपमें, (आदित्याः च) सब सूर्य तथा प्रकाश करनेवाले चन्द्र, विद्युत्, तारा, अग्नि भी, (च रुद्राः) तथा एकादश रुद्र, (च वसवः) और आठ वसुगण, (समाहिताः) भली प्रकार स्थित हैं। (च यत्र) और परमात्माके जिस विराट् स्वरूपमें, (भूतं च) उत्पन्न हुआ जगत्, (भव्यं च) और आगे उत्पन्न होनेवाला जगत्, (च

सर्वे लोकाः) और सारे लोक-लोकान्तर, (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं, (तम्) उसे, (स्कम्भम्) ब्रह्म, (ब्रूहि) कह ।

यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षंद्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि ॥

(अथर्ववेदः १०-७-१२)

जिस परमात्माके विराट् स्वरूपमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, वायु स्थित हैं, उसे ब्रह्म कह ।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि अर्जुनने श्रीकृष्णके विराट् रूपमें प्राणि-अप्राणिमात्रको और ब्रह्मा-शिवादि देवताओं, ऋषियों तथा वासुकि आदि सर्पोंको देखा । वेदमें भी परमात्माके विराट् रूपमें सूर्यादि प्रकाशक ग्रह, एकादश रुद्र, आठ वसु, सारे लोक-लोकान्तर, भूमि, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु आदि स्थित बताए गए हैं ।

१६. अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

(विश्वेश्वर !) हे विश्वके स्वामिन् ! सर्वाधिपते ! (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्) अनेक भुजा, उदर और नेत्रोंवाले, (अनन्तरूपम्) अनन्त रूपोंवाले, (त्वाम्) आपको, (सर्वतः पश्यामि) चारों ओर देखता हूँ । (विश्वरूप) हे सर्वस्वरूप ! (पुनः) फिर, (तव) आपके, (न आदिं पश्यामि) न आदिको देखता हूँ, (न मध्यम्) न मध्यको, (न अन्तम्) न अन्तको ही देख पाता हूँ ॥ १६ ॥

अतो विश्वान्यद्भुता [1]चिकित्वाँ अभि पश्यति ।
कृतानि या च [2]कर्त्वा ॥

(ऋग्वेदः १-२५-११)

---

१. चिकित्वान्—'कित ज्ञाने', 'लिटः क्वसुः' अभ्यासहलादिशेषचुत्वानि । 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इति नियमादिडभावः । रुत्वानुनासिकावुक्तौ संहितायाम् ।
२. कर्त्वा—कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः इति करोतेस्त्वन्, 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः ।

(चिकित्वान्) ज्ञानी, दिव्यदृष्टिवाला योगी, (अतः) इस परमात्माके विराट् स्वरूपमें, (या=यानि, अद्भुतानि) जो अनेक बाहूदर-वक्त्र-नेत्रादि आश्चर्य करनेवाले कर्म, (कृतानि) पहले सृष्टचुत्पत्तिमें किए गए हैं, (च) और, (कर्त्वा) आगे किए जायँगे, (विश्वानि) उन सब कर्मोंको, (अभि-पश्यति) सम्मुख देखता है।

तुलना—वेद और गीता दोनोंमें विराट् रूपका वर्णन है जिसमें अर्जुन तथा ज्ञानी योगी उसी विराट् रूपमें अनेक स्वरूप, विविध प्रकारकी आश्चर्य करनेवाली वस्तुएँ तथा भूमि, अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु आदिको देखते हैं और कहते हैं कि मैं आपके विराट् रूपमें सारे ब्रह्माण्डको देख रहा हूँ।

१७. किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥

हे भगवन्! (तेजोराशिम्) तेजके समूहवाले, (सर्वतः दीप्तिमन्तम्) चारों ओर प्रकाशज्वालासे देदीप्यमान, (दीप्तानलार्कद्युतिम्) अत्यन्त जलते हुए अग्नि और सूर्य जैसे प्रकाशवाले, (अप्रमेयम्) प्रमाणसे बाहर अर्थात् अपरिच्छिन्न, (समन्तात् दुर्निरीक्ष्यम्) चारों ओर कठिनतासे देखने योग्य, (किरीटिनम्) मुकुटधारी, (गदिनम्) गदाधारी, (च चक्रिणम्) और सुदर्शन-चक्रधारी, (त्वाम्) आपको, (पश्यामि) मैं देखता हूँ॥ १७॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥
(ऋग्वेदः ८-९८-२)

(इन्द्र!) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (त्वम्) आप, (अभिभूः असि) सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंको दबानेवाले हैं अर्थात् आप सबसे अधिक तेजस्वी हैं। (त्वम्) आपने, (सूर्यम्) सूर्यको, (अरोचयः) अपने प्रकाशसे प्रकाशित किया है। (त्वं विश्वकर्मा) आप ही जगत्के बनानेवाले हैं अर्थात् विश्वरचना ही आपका कर्म है। (विश्वदेवः) आप सबके प्रकाशक और सबके पूज्य हैं, (महान् असि) तथा बड़ोंसे भी बड़े हैं।

तुलना—गीतामें वर्णन है कि श्रीकृष्णके विराट् स्वरूपमें अर्जुनने तेजस्वियोंसे भी अधिक तेजस्वी स्वरूपको चारों ओर ज्वालासे प्रकाशमान, सिरपर मुकुट, हाथमें गदा और चक्र धारण किये हुए देखा। वेदमें भी यही कहा गया

है कि परमात्मा अपने तेजसे सबको दबा रहा है। सूर्यको प्रकाश देनेवाला, विश्वकर्मा और विश्वदेव वही है।

१८. त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥

हे भगवन् कृष्ण! (त्वम्) आप, (अक्षरम्) निरवयव, निराश्रय, अक्रिय, अव्यय और अनन्त होनेसे अक्षर ब्रह्म हैं। (त्वम्) आप, (परमं वेदितव्यम्) भक्तजनोंसे अत्युत्कृष्ट जाननेयोग्य हैं। (त्वम्) आप, (अस्य विश्वस्य) महदादि–स्थूलपर्यन्त इस विश्वके, (परं निधानम्) सर्वश्रेष्ठ आश्रय हैं। (त्वम्) आप, (अव्ययः) अविकारी हैं, (शाश्वतधर्मगोप्ता) वेदधर्मके रक्षक हैं, (त्वम्) आप, (सनातनः पुरुषः मे मतः) नित्य पुरुष अर्थात् पुराण पुरुष हैं, ऐसा मैं मानता हूँ॥ १८॥

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः॥

(अथर्ववेदः ११-२-११)

(पशुपते!) हे जीवमात्रके स्वामी परमात्मन्! (तव अयम्) आप परमात्माका यह विराट् देह, (उरुः) परम महान् है, (कोशः) सकल प्राण्यप्राणियोंका मूल बीजरूप है, (वसुधानः) और जीवोंके वासस्थान सूर्य-पृथिव्यादि जिसमें धान हैं अर्थात् कणरूप हैं, और, (यस्मिन् इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) ये दृश्यमान सारे लोक जिस विराट् देहके भीतर वास करते हैं। (ते नमः अस्तु) हे परमात्मन्! आपको नमस्कार हो। (परः) दूसरे, (क्रोष्टारः) कोलाहल करनेवाले सियार आदि, (अभिभाः) अपने बल और तेजके प्रभावसे दूसरेके बल और तेजको दबानेवाले सिंहादि जीव, (श्वानः) कुत्ते, (अघरुदः) पापाचरणके कारण अत्यन्त उग्र कोलाहल मचानेवाले जीव, और, (विकेश्यः) विविध प्रकारके भयङ्कर बालोंवाले अथवा बालोंसे रहित मुँड़े हुए सिरोंवाले ये सब आपमें विद्यमान हैं जिनसे मुझे भय लगता है, अतः वे, (परः यन्तु) मेरे नेत्रोंसे दूर हों। (सः) वह सच्चिदानन्द परमात्मा, (नः मृड) हमें सुखी करे।

उपनिषदोंमें भी आया है—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' (बृ. उ. ३-८-८), 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' (कठ उ. ६-८), 'स आत्मा स विज्ञेयः' (मा. उ. ७),

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र. सू. १-४-२३), 'एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एष लोकानामसंभेदाय' (बृ. उ. ४-४-२२), 'अयमात्मा ब्रह्म' (मा. उ. २) ।

तुलना—गीतामें अक्षरब्रह्म, सारे संसारका मूल बीज, अविकारी तथा वेद-धर्म और वेदमर्यादाका रक्षक सनातन परमपुरुष कहा गया है। वेद और उपनिषद्में भी परमात्माको महान्से महान्, सारे चराचर जगत्का मूल बीज, सात्त्विक-राजस-तामस सब प्रकारके जीवोंका वासस्थान और सबका रक्षक कहा गया है।

१९. अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

हे विराट्रूप कृष्ण ! (अनादिमध्यान्तम्) आदि, मध्य और अन्तसे रहित, (अनन्तवीर्यम्) असीम पराक्रमवाले, (अनन्तबाहुम्) अनन्त बाहुवाले, (शशिसूर्यनेत्रम्) चन्द्र और सूर्यरूपी नेत्रोंवाले, (दीप्तहुताशवक्त्रम्) जलते हुए अग्निके मुखवाले, (स्वतेजसा) अपने तेजसे, (इदं विश्वं तपन्तम्) इस संसारको तपाते हुए, (त्वाम्) आपको, (पश्यामि) मैं देख रहा हूँ। यह सारा विश्व आप ही हैं, आपसे भिन्न कुछ नहीं है ॥ १९ ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्ववेदः १०-७-३३)

(सूर्यः) सूर्य, (पुनः नवः) प्रतिदिन नया-नया, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (यस्य) जिस विराट् रूपके, (चक्षुः) नेत्र हैं, (यः) जिस विराट्ने, (अग्निम्) अग्निको, (आस्यं चक्रे) मुख बना लिया है, (तस्मै) उस, (ज्येष्ठाय) सबसे ज्येष्ठ, (ब्रह्मणे) परमात्माको, (नमः) नमस्कार हो।

तुलना—गीता और वेदमें भी परमात्माको अनन्त शक्ति और अनन्त स्वरूपवाला, आदि-मध्य और अन्तसे रहित, अपने तेजसे प्रकाशमान, सूर्य-चन्द्रके नेत्रोंवाला और अग्निरूप मुखवाला कहा गया है।

२०. द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

(हि) निश्चय ही, (त्वया एकेन) आप एक विराट् रूपसे, (द्यावापृथिव्योः) भूमि और आकाशका, (इदम् अन्तरम्) यह अन्तराल अर्थात्

मध्यभाग, (व्याप्तम्) व्याप्त हो गया अर्थात् भर गया। (सर्वाः दिशः) प्राची, अवाची आदि सब दिशाएँ आप विराट् रूपने व्याप्त कर लीं अर्थात् चराचरात्मक सारा जगत् आपसे परिपूर्ण है। (महात्मन्!) हे सबसे बड़े! (तव) विश्वरूप आपके, (अद्भुतम्) अद्भुत अर्थात् परम आश्चर्यमय, (उग्रम्) भय देनेवाले, (इदम्) इस विराडात्मक, (रूपम्) स्वरूपको, (दृष्ट्वा) देखकर, (लोकत्रयम्) तीनों लोकोंमें वर्तमान प्राणिजात, (प्रव्यथितम्) व्याकुलतासे काँप उठा है ॥ २० ॥

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः॥

(अथर्ववेदः १०-७-१२)

(यस्मिन्) जिस विराट्रूप परमात्मामें (भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः) भूमि, आकाश और आकाशस्थ सूर्यचन्द्रादि, (अध्याहिता) व्याप्यरूप होकर स्थित हैं और, (यत्र अग्निः चन्द्रमाः सूर्यः वातः) जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु, (आर्पिताः तिष्ठन्ति) समाए हुए स्थित हैं अर्थात् अकेले विश्वरूप परमात्मासे घिरे हुए हैं।

अग्निर्द्यावापृथिवी विश्वजन्ये आ भाति देवी अमृते अमूरः।
क्षयन् वाजैः पुरुश्चन्द्रो नमोभिः॥

(ऋग्वेदः ३-२५-३)

(अमूरः=अमूढः) सर्वज्ञ, (क्षयन्) सारे संसारको अपने-अपने कर्मफलानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें वास कराता हुआ अतएव सारे जगत्का स्वामी, (पुरुः) सबसे महान् अर्थात् सबमें व्यापक, (चन्द्रः) चन्द्रमाके समान दीप्तिस्वरूप और भक्तोंके हृदयोंको शीतल करनेवाला, अथवा, (पुरुश्चन्द्रः) बहुदीप्तिरूप, (वाजैः) तीव्रतासे प्राप्त होनेवाले, (नमोभिः) नमस्कारोंसे, (अग्निः) अग्निवत्सर्वत्र व्यापक अथवा अग्निमुख परमात्मा, (विश्वजन्ये) विश्वोत्पादक, (देवी) विराट् रूपके प्रकाशसे प्रकाशमान, (अमृते) मरणधर्मरहित, (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी, (आभाति) परमात्माकी सत्तासे व्याप्त प्रकाशित होती हैं।

यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद्यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः।
यस्येन्द्रस्य सिंधवः सश्चति व्रतं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥

(ऋग्वेदः १-१०१-३)

(यस्य) जिस परमात्माके विराट् रूपका, (महत् पौंस्यम्) अत्यधिक व्याप्ति बल, (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवीमें व्याप्त है, (यस्य) जिस परमात्माके, (व्रते) नियमनरूप कर्ममें, (वरुणः) जलाभिमानी वरुण देवता तथा जल, (सूर्यः च) और सूर्य रहता है अर्थात् सब देवता उसकी आज्ञासे चलते हैं। (सिन्धवः) नदियाँ, (यस्य इन्द्रस्य) जिस सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्माके, (व्रतम्) आज्ञात्मक कर्मको अर्थात् नियम-पालनको, (सश्चति) प्राप्त होते हैं अर्थात् ईश्वरकी आज्ञाको मानते हुए अपना काम करते हैं [यद्भयात् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्]। (मरुत्वन्तम्) उस परमात्माका, (सख्याय) स्नेहपूर्वक मित्रता करनेके लिए, (हवामहे) आह्वान करते हैं अर्थात् हम भी परमात्माको सर्वव्यापक जानते हुए सर्वदा उसके साथ स्नेह करते रहें।

यही बात उपनिषद्में भी कही गई है—

कस्मादुच्यते भीषणमिति। यस्माद्भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति। भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति।

(नृ. पू. ता. उ. २-४)

तुलना—गीतामें विराट् रूपको आकाश और पृथिवीमें सब दिशाओंमें व्याप्त बताते हुए कहा गया है कि ऐसे विराट्के अद्भुत स्वरूपको देखकर तीनों लोकोंमें रहनेवाले जीव-जन्तु भयसे काँपने लगे। वेदके अनुसार भी पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु उस विराट् रूपमें विराजमान हैं। जल, अग्नि और सब देवता उसकी आज्ञाका पालन करते हुए नियमानुसार अपना कार्य कर रहे हैं।

२१. **अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति**
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥

(हि) जिस कारणसे, वैदिक धर्मके रक्षक उग्र भी अद्भुत स्वरूपवाले आपको देखनेके लिए, (अमी केचित्) ये कई बलवान्, (सुरसङ्घाः) देवताओंके समूह, (त्वां विशन्ति) आपमें प्रवेश करते हैं अर्थात् आपके समीप आते हैं,

(केचित्) कई निर्बल जीव, (भीताः) भयभीत हुए, (प्राञ्जलयः) हाथ जोड़े हुए, (गृणन्ति) स्तुति करते हैं, (महर्षिसिद्धसङ्घाः) महर्षि भृगु-नारदादि और सिद्ध कपिलादियोंके समूह, (स्वस्ति) कुशल हो, (इति उक्त्वा) यह कहकर, (पुष्कलाभिः स्तुतिभिः) बड़ी-बड़ी स्तुतियोंसे, (त्वां स्तुवन्ति) आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥

(ऋग्वेदः १-१०-१)

(शतक्रतो !) हे सैकड़ों कर्मोंवाले तथा अधिक बुद्धिवाले परमात्मन् ! ([1]गायत्रिणः) गायत्रीद्वारा भगवन्नाम-गायक देवोंका समूह, (त्वा गायन्ति) आपके स्वरूपका गान करते हैं, ([2]अर्किणः) भगवत्पूजाके प्रतिपादक मन्त्रोंसे आपकी उपासना करते हुए महर्षियोंका समूह, (अर्कम् त्वाम्) पूजनीय आप परमात्माको, ([3]अर्चन्ति) पूजा करते हैं । (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणजन, (त्वाम्) आपको, ([4]वंशमिव) परंपरागत वंशके समान, (उद् येमिरे) स्तुतिद्वारा बहुत ऊँचा मानते हैं ।

तुलना—गीतामें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा है कि विराट् रूपको देखकर साधनायुक्त सिद्ध पुरुष आपको देखनेके लिये आपके समीप आते हैं, निर्बल जीव भयभीत हो गए हैं, महर्षि इस स्वरूपको देखकर आपकी बारम्बार स्तुति करते हैं । वेदमें भी कहा गया है कि विराट् स्वरूपकी अद्भुतताको देखकर गायत्री मन्त्र जपनेवाले भगवन्नामका गान करते हैं, भगवत्पूजक भगवान्का

---

१. गायत्रिणः—गायत्रं साम येषामुद्गातॄणाम् अस्ति ते गायत्रिणः । 'अत इनिठनौ' इति इन्प्रत्ययः ।

२. अर्किणः—अर्कः मन्त्रः ईश्वरो वा अस्ति एषामित्यर्किणः परमेश्वरोपासकाः 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इति कृदन्तान् इनिठनौ यद्यपि प्रतिषिद्धौ तथाप्यत्र व्यत्ययादिनिः ।

३. अर्चन्ति—अर्कः देवो भवति यदेनमर्चन्ति (निरुक्तम् ५-४, 'अर्च पूजायाम्') अर्चन्ति एभिः इत्यर्काः मन्त्राः तैः अर्चनीयतया तदात्मकः इन्द्रोऽपि लक्षणयार्कः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति करणे घः । 'चजोः कुघिण्यतोः' इति चकारस्य कुत्वम् ।

४. वंशमिव—'इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च ।'

पूजन करते हैं और ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी वंशपरंपरागत परमात्माको ध्येय मानते हैं।

२२. रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥

हे भगवन्! (रुद्रादित्याः) एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, (वसवः) आठ वसु, (च ये साध्याः) और जो साध्य, (विश्वेऽश्विनौ) विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, (मरुतः) मरुद्‌गण, (च) और, (ऊष्मपाः) ऊष्मप नामके पितर, (गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः) गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध इन सबका समूह, (सर्वे एव विस्मिताः) ये सभी विस्मित हुए, (त्वां वीक्षन्ते) आपके विराट् स्वरूपको देखते हैं॥ २२॥

आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः॥

(ऋग्वेदः ७-३५-१४)

(आदित्याः) द्वादशादित्य, (रुद्राः) एकादश रुद्र, (वसवः) आठ वसु, (दिव्याः) अन्तरिक्षवासी साध्यादिक, (पार्थिवासः) पृथिवीपर वास करने-वाले असुर, यक्ष, गन्धर्व, (गोजाताः) वाणीमें निपुण या पृश्निपुत्र मरुद्‌गण, (यज्ञियासः) यज्ञमें दीक्षित हुए मनुष्य, ये सब, (नः) हमारे, (क्रिय-माणम्) विधीयमान अर्थात् प्रकट हुए, (नवीयः) नवीन अद्‌भुत, (इदं ब्रह्म) बढ़नेवाले इस विराट् रूपका, (जुषन्त) वीक्षण करें और सेवन करें।

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम्॥

(ऋग्वेदः १०-४८-११)

(देवः) सबका प्रकाशक ज्योतिःस्वरूप मैं परमात्मा, (आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणाम्) आदित्योंके, वसुओंके तथा रुद्र-सम्बन्धियोंके, (धाम) नाम अथवा स्थानको, (न मिनामि) अपनेसे दूर नहीं करता अर्थात् वे सदा मुझ विराट रूपमें ही वास करते हैं। (ते) वे आदित्य-वसु-रुद्रादिक, (अपराजितम्) किसीसे न पराजित, (अस्तृतम्) किसीसे न हिंसा किये हुए, तथा, (अषाळ्हम्) किसीसे न दबाए हुए, (भद्राय) कल्याणके लिये, तथा, (शवसे) बल-प्राप्ति-

के लिये, (मा) मुझ विराट्रूप परमात्माको, (ततक्षुः) पानेका यत्न करते हैं अर्थात् अपने आपको तैयार करते हैं।

तुलना—गीता और वेदमें भी कहा गया है कि भगवान्के विराट् रूपको आदित्य, रुद्र, वसु, साध्य, सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष और सब प्रकारके मनुष्य आश्चर्यसे देखते हैं और उसी विराट् स्वरूप द्वारा उनमें प्रवेश करना चाहते हैं।

२३. रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥

२४. नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥

(महाबाहो!) हे बड़ी भुजावाले श्रीकृष्ण! (ते) आपके, (बहुवक्त्र-नेत्रम्) बहुत मुख और बहुत नेत्रोंवाले, (बहुबाहूरुपादम्) बहुत भुजा, बहुत ऊरु तथा बहुत पाँवोंवाले, (बहूदरम्) बहुत उदरोंवाले, (बहुदंष्ट्राकरालम्) बहुत-सी दाढ़ोंसे भयानक, (महत्) बहुत परिमाणवाले, (रूपम्) स्वरूपको, (दृष्ट्वा) देखकर, (लोकाः) सब जीव, (प्रव्यथिताः) अत्यन्त दुखी हो रहे हैं, (तथा) और, (अहम्) मैं भी व्यथित हो रहा हूँ॥ २३॥

(विष्णो!) हे सर्वव्यापक परमात्मन्! (हि) निश्चय ही, (नभःस्पृशम्) आकाशको छूनेवाले अर्थात् बहुत ऊँचे अथवा आकाशके समान सबको स्पर्श करनेवाले यानी सर्वव्यापक, (दीप्तम्) विशेष प्रकाशसे प्रकाशमान, (अनेक-वर्णम्) बहुविध रूपवाले, (व्यात्ताननम्) फाड़े हुए मुखवाले, (दीप्तविशाल-नेत्रम्) प्रज्वलित बड़ी चौड़ी आँखोंवाले, (त्वाम्) आपको, (दृष्ट्वा) देखकर, (प्रव्यथितान्तरात्मा) बहुत दुखी मनवाला मैं, (धृतिम्) धैर्यको, (च शमम्) और शान्तिको, (न विन्दामि) नहीं पाता रहा॥ २४॥

त्वद्भियेन्द्र पार्थिवानि विश्वाच्युता चिच्च्यावयन्ते रजांसि।
द्यावाक्षामा पर्वतासो वनानि विश्वं दृळ्हं भयते अज्मन्ना ते॥

(ऋग्वेदः ६-३१-२)

(इन्द्र!) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वव्यापक परमात्मन्! (त्वत्) आपके ऐसे भयप्रद विराट् रूपके, (भिया) भयसे, (विश्वा पार्थिवानि रजांसि) सब पृथिव्यादिलोकवर्ती प्राणी तथा पृथिव्यादि लोक, (अच्युता चित्) किसीसे न

हिलानेयोग्य होते हुए भी, (च्यावयन्ते) भयसे पतित अर्थात् व्यथित हो रहे हैं, और, (ते) आपके, (अज्मन्) विराट् रूपके प्रकट होनेपर, (द्यावाक्षामा) आकाश और पृथिवी अर्थात् आकाश और पृथिवीके वासी, (पर्वतासः) पर्वत और पर्वतवत् दृढ चित्तवाले ऋक्ष और सिंहादि, (वनानि) वनवासी सब प्राणी, (भयते) अभयको भय मानकर विचरते हैं, (विश्वं दृळ्हम्) अत्यन्त दृढ मनवाले सब प्राणी, (भयते) विराट् स्वरूपको देखकर भय करते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अर्जुन विराट् स्वरूपको देखकर स्वयं घबरा गया था और पृथिवीके शेष जीव भी भयानक रूपको देखकर दुखी होने लगे थे। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्माके महान् विस्तृत विराट् रूपको देखकर भूमि, आकाश, पर्वत, वन और वनवासी प्राणी घबरा गए।

२५. दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

(जगन्निवास !) हे सारे जगत्को अपनेमें वास करानेवाले परमात्मन् ! (देवेश !) हे सब देवताओंके स्वामिन् ! हे प्रकाशके स्वामी प्रकाशक ! (ते) आपके, (दंष्ट्राकरालानि) डाढ़ोंसे भयानक रूपवाले, (कालानलसन्निभानि) प्रलयकालके अग्नि जैसे, (मुखानि) मुखोंको, (दृष्ट्वा एव) देखकर ही, (दिशो न जाने) प्राची-प्रतीची आदि दिशाएँ कौन-सी हैं यह मैं नहीं जानता अर्थात् 'कांदिशीक' हो गया हूँ, (च शर्म न लभे) और सुख-चैन भी नहीं पा रहा, (प्रसीद) अतः आप प्रसन्न हो जाइए॥ २५॥

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा।
(अथर्ववेदः २-१६-५)

(विश्वम्भर !) हे सारे विश्वका पालन करनेवाले परमात्मन् ! आप, (विश्वेन भरसा) विराट् स्वरूपको देखनेसे डरे हुए, (माम्) मुझ भक्तकी, सब प्रकारकी भीतिनिवारक, पालन और रक्षणशक्तिसे, (पाहि) रक्षा कीजिए, (इति [1]स्वाहा=सु आह) यह मैं भलीभाँति निवेदन करता हूँ।

२६. अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥

---

१. स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आह इति वा, स्वा वागाह इति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (निरुक्तम् ८-२०)।

२७. वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥

२८. यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

२९. यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

(अमी) ये दृष्टिगोचर होते हुए धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादि, (सर्वे) सबके सब, (अवनिपालसङ्घैः सह) अन्य राजाओंके समूहोंके साथ, (एव) ही, (त्वां विशन्ति) आपमें प्रवेश करते हैं, (च) और, (भीष्मः द्रोणः) भीष्म पितामह और गुरु द्रोणाचार्य, (तथा) वैसे ही, (असौ सूतपुत्रः) यह सूतपुत्र कर्ण, (अस्मदीयैः योधमुख्यैः सह अपि) हमारे योधाओंमें मुख्य द्रुपद-धृष्टद्युम्नादिके साथ भी, (त्वरमाणाः) 'मैं पहले, मैं पहले' इस प्रकार शीघ्रता करते हुए, (भयानकानि) भयङ्कर, (ते वक्त्राणि) आपके डाढ़ोंसे विकराल मुखोंमें, (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं। (केचित्) उनमें-से कई योधा, (चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः) चूर्ण हुए सिरोंसे, (दशनान्तरेषु) दाँतोंके छिद्रोंमें, (संलग्नाः दृश्यन्ते) भलीभाँति लगे हुए दिखाई पड़ते हैं ॥ २६-२७ ॥

(यथा) जैसे, (नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः) नदियोंका बहुत जल-प्रवाह, (समुद्रम् एव अभिमुखाः द्रवन्ति) समुद्रकी ओर ही दौड़ता है, (तथा) वैसे ही, (अमी) ये, (नरलोकवीराः) पृथिवीवासी वीर योधा भीष्मादि, (अभि-विज्वलन्ति) अग्निवत् जलते हुए, (ते वक्त्राणि विशन्ति) आपके मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥

(यथा) जिस प्रकार, (समृद्धवेगाः) तीव्र वेगवाले, (पतङ्गाः) शलभादि कीड़े, (नाशाय) नाशके लिये, (प्रदीप्तं ज्वलनम्) प्रदीप्त अग्निमें, (विशन्ति) प्रवेश करते हैं, (तथा एव) उसी प्रकार, (समृद्धवेगाः) अधिक वेगवाले, (लोकाः) भीष्म-द्रोण आदि, (तव) आपके, (वक्त्राणि) मुखोंमें, (नाशाय विशन्ति) मृत्युके लिये प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥

(ऋग्वेदः ८-६-४)

हे परमात्मन्! (विश्वाः कृष्टयः) पृथिवीलोक अथवा सारे ब्रह्माण्डकी सब

प्रजाएँ, (विशः) आपमें प्रवेश करती हुई, (अस्य) इस विराट्रूप परमात्माके, (मन्यवे) विराट् रूपके अति भयानक क्रुद्ध स्वरूपको, (संनमन्त) इस प्रकार भलीभाँति नमित होती हैं अर्थात् झुकती हैं, (सिन्धवः समुद्राय इव) जिस प्रकार वेगसे बहनेवाली नदियाँ समुद्रकी ओर झुकती हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करती हैं।

यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा॥

(अथर्ववेदः २०-९१-१०)

(यदा) जब बृहस्पति अर्थात् परमात्मा, (विश्वरूपं वाजम्) विश्वरूपवाले अर्थात् विराट् स्वरूपवाले बलको, (असनत्) प्राप्त हो गया, और, (द्याम् उत्तराणि सद्म) आकाशसम्बन्धी सबसे उत्तर स्थानको अर्थात् आकाशमें बहुत उच्च स्थानतक, (आ अरुक्षत्) प्राप्त हो गया, तो, (आसा ज्योतिः बिभ्रतः) मुखसे अग्निको धारण करते हुए विराट्रूप परमात्माके, (वृषणम्) दयाकी वर्षा करनेवाले, (बृहस्पतिम्) बड़ोंके पालक और पति स्वरूपको , (सन्तः) सज्जन पुरुष, (नाना वर्धयन्तः) नाना प्रकारकी स्तुतियोंसे बढ़ाते हैं अर्थात् उस विराट्रूप परमात्माका गुणानुवाद करते हैं।

सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियः प्रतिगृभ्णाति।

(ऋग्वेदः १-५५-२)

(अर्णवः) अन्तरिक्षवत् अनन्त और विस्तृत, (सः) वह विराट्रूप परमात्मा, (प्रतिगृभ्णाति) प्रत्येक प्राणीको अपनी ओर ऐसा ग्रहण करता है अर्थात् अपनी ओर खींचता है, (समुद्रियः नद्यः न) जैसे समुद्रमें जानेवाली नदियाँ समुद्रकी ओर जाती हैं या समुद्रसे ग्रहण की जाती हैं।[1]

तुलना—गीतामें कहा गया है कि विराट्रूप परमात्मामें संसारी जीव अपने कर्माधीन होकर प्रवेश कर रहे हैं और कई जीव विराट्रूपके दाँतोंके अन्तरालोंमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं अर्थात् जिस स्थानसे जिसके विस्फुलिङ्गरूप आए थे,

---

१. प्रश्नोपनिषद्में कहा गया है—

स यथेमाः नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चासां नामरूपे, पुरुष इत्येव प्रोच्यते; स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेव लोकः (६-५)।

उसके अंश उसीमें समा रहे हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि जैसे समुद्रगामी नदियाँ तीव्र प्रवाहसे समुद्रमें प्रवेश करती हैं वैसे सब प्राणी और अप्राणी भगवान्की क्रुद्धावस्थामें उन्हींके प्रज्वलित मुखमें प्रवेश करते हैं।

३०. लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥

हे भगवन्! आप, (ज्वलद्भिः वदनैः) अग्निके समान जलते हुए मुखोंसे, (समन्तात्) चारों ओर, (समग्रान् लोकान्) सब लोकों अर्थात् शत्रुजनोंको, (ग्रसमानः) ग्रास करते हुए, (लेलिह्यसे) चाटे डाल रहे हैं, (विष्णो!) हे सर्वव्यापक परमात्मन्! (तव उग्रा भासः) आपकी प्रचण्ड दीप्ति, (तेजोभिः) अपने तेजसे, (समग्रं जगत्) सारे जगत्को, (आपूर्य) भरकर अर्थात् सारे जगत्में व्याप्त होकर, (प्रतपन्ति) तप रही है॥ ३०॥

सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद्रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम्।
मोपाराम जिह्वयेयमानम्॥

(अथर्ववेदः ११-२-१७)

हे परमात्मन्! मैं जीवात्मा, (पुरस्तात्) अपने सामने, (सहस्राक्षम्) सहस्रों नेत्रोंवाले अर्थात् सहस्रों नेत्रोंसे प्रकाशमान, (रुद्रम्) दुःखके दूर करनेवाले [या रुत्=स्तुति—स्तुतिसे प्राप्तव्य, या रुद्र=भयानकस्वरूप], और, (विपश्चितम्) समग्र विश्वके ज्ञाता, (बहुधा अस्यन्तम्) बहुत प्रकारसे सब लोकोंको अपने तेजसे इधर-उधर फेंकते हुए अर्थात् सब लोकोंको अपने भीतर अन्तर्हित करते हुए, (जिह्वया) अपने मुखमें स्थित कराल जिह्वासे अर्थात् प्रलयकालीन जिह्वा शक्तिसे, (ईयमानम्) सब लोकोंको शीघ्रतासे चाटते हुए आपको, (अपश्यम्) देखता हूँ। (मा उपाराम) हम ऐसे भयानक स्वरूपको देखनेके लिये समर्थ नहीं हैं अर्थात् ऐसे भयानक स्वरूपको अब न दिखाइए।

तुलना—गीतामें और वेदमें प्रलयकालीन स्वरूपका चित्र खींचा गया है। परमात्मा प्रलयकालमें संसारको स्वयं ग्रास करता है। यह सारा चराचर जगत् उसकी ओर अपने आप खींचा जाता है, यही दिखाया गया है।

३१. आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥

(देववर!) हे देवताओंमें श्रेष्ठ! (ते नमः अस्तु) आपको प्रणाम हो, आपने उग्ररूप दिखाया है अतः, (प्रसीद) आप प्रसन्न हों, (उग्ररूप!) भयङ्कर

अथवा संहारक रुद्ररूपवाले ! (भवान् कः) आप कौन हैं ? प्रलयाग्नि महाकाल हैं या महापुरुष हैं ? (आख्याहि) यह बात बताइए। (आद्यम्) चारों ओर सबको खानेवाले अथवा सारे संसारके आदि, (भवन्तम्) आपको, (विज्ञातुम् इच्छामि) जाननेकी इच्छा करता हूँ। (हि) क्योंकि मैं साधारण मनुष्य, अर्जुन, (तव प्रवृत्तिम्) आपकी चेष्टाको, (न जानामि) नहीं जानता। मनुष्य अल्पज्ञ है, अतः आपकी प्रवृत्ति जान नहीं सकता। अपनी प्रवृत्तिको आप ही कहें ॥ ३१ ॥

कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः ।
अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात ॥

(ऋग्वेदः १०-५१-७)

(अग्ने !) हे प्रज्वलिताग्निस्वरूप अर्थात् ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (ते अजरम् आयुः कुर्मः) आपके जीर्ण न होनेवाले नमस्काररूप अन्नको नमन करते हैं अर्थात् प्रणाम करते हैं। (जातवेदः !) सब उत्पत्तिमान् पदार्थको जाननेवाले अथवा उत्पन्न हुए सभी प्राणियोंसे जाने हुए हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! हे देववर ! (यथा युक्तः) सहस्राक्ष, सहस्रपादादि स्वरूपवाले आप, (न रिष्याः) हमें हानि न पहुँचावें अर्थात् हमपर कुपित होकर हमें अपने पदोंसे दूर न हटावें, जिससे हमें हानि न पहुँचे। मैं आपको जानना चाहता हूँ कि आप क्या हैं। (सुमनस्यमानः) आप प्रसन्न हों। (सुजात !) हे दिव्यजन्मवाले ! अपनी दिव्यतासे प्रकट हुए परमात्मन् ! (अथ) अब, (हविषः भागम्) आप अपनी प्रवृत्तिरूपी हविके अंशको, (देवेभ्यः) देवतारूप अपने भक्तजनोंके लिये, (वहासि) धारण करें।

तुलना—गीतामें वर्णित है कि श्रीकृष्णके उग्र विराट् स्वरूपको देखकर अर्जुन डर गया। वह भूल गया कि यही श्रीकृष्ण हैं। अतः वह नमस्कार करके प्रश्न करता है कि आप कौन हैं? वेदमें भी परमात्माको अग्निस्वरूप और उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थको जाननेवाला अतः जातवेदस् कहा गया है। यहाँ भी यथायुक्त यह स्वरूप क्या है, यह पूछा गया है।

३२. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहने लगे—हे अर्जुन ! (लोकक्षयकृत्) लोकोंका क्षय करनेवाला, (प्रवृद्धः) प्रचण्ड, (कालोऽस्मि) काल अर्थात् मृत्युरूप पर-

मात्मा मैं, (लोकान् समाहर्तुम्) सब लोकोंका संहार करनेके लिये, (प्रवृत्तः अस्मि) लगा हुआ हूँ। (प्रत्यनीकेषु अवस्थिताः) प्रतिपक्ष अर्थात् शत्रुकी सेनामें स्थित हुए, (ये) जो, (योधाः) तुझसे कठिनतासे जीतनेयोग्य भीष्म, द्रोण, कर्णादि ठहरे हुए हैं, वे सब, (त्वाम् ऋतेऽपि) तेरे बिना अर्थात् युद्धमें तेरी प्रवृत्तिके न होनेपर भी, (न भविष्यन्ति) न रह जायँगे अर्थात् मुझ महामृत्युके उपस्थित होनेपर सभी मर जायँगे ॥ ३२ ॥

कालेयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वाँल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥

(अथर्ववेदः १९-५४-५)

(देवः अयम्) प्रकाशमान यह, (अङ्गिराः) अग्निके अंगारेके समान प्रकाशमान् सूर्य, (काले) [कालः कलयिता सर्वस्य जगतः] कालनामक परमात्मामें अर्थात् महामृत्युमें, (अधितिष्ठति) स्थित होता है। (अथर्वा) शीतल होनेसे किसीकी हिंसा न करनेवाला अर्थात् सबको शीतलता देनेवाला चन्द्रमा, (काले अधितिष्ठति) कालरूप परमात्मामें रहता है। (सः) लोकक्षयकारी वह काल, (ब्रह्मणा) अपनी महत्तासे, (इमं लोकम्) सामने दृश्यमान इस लोकको, अथवा सर्वकर्मार्जन-स्थान इस भूमिको, (परमं च लोकान्) उत्कृष्ट कर्मफलोंके भोगस्थल स्वर्गको, (पुण्यान् च लोकान्) पुण्यकर्मोंसे अर्जित किये हुए लोकोंको, वहाँके निवासी पुण्यात्मा जीवोंको, (पुण्याः विधृतीः) पुण्यस्वरूप अथवा पवित्रात्मा जीवोंके आधारस्वरूपोंको, तथा, (सर्वान् लोकान्) सब उक्त और अनुक्त जीवोंको, (अभिजित्य) जीतकर अर्थात् मृत्युद्वारा वशमें करके, (सः) वह, (परमः कालः) सर्वोत्कृष्ट काल, (देवः)प्रकाशमान परमात्मा, (नु ईयते) ही सारे जगत्में व्याप्त होकर रहता है।

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥

(अथर्ववेदः १९-५४-१)

(कालात् आपः समभवन्) कालसे जल उत्पन्न हुआ, (कालाद् ब्रह्म तपः दिशः) कालसे ब्रह्म, तप और दिशाएँ प्रकट हुईं, तथा, (कालेन सूर्यः उदेति) कालमें ही सूर्य उदित होता है, और, (पुनः काले निविशते) कालमें ही फिर समा जाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अर्जुनने जब श्रीकृष्णसे प्रश्न किया कि आप कौन हैं तो श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि मैं संसारका संहारकर्ता हूँ, काल हूँ, महामृत्यु हूँ, यहाँपर सब लोगोंके संहारके लिये लगा हूँ। तू युद्धमें प्रवृत्त हो या न हो, तेरे शत्रुपक्षके योधा जीवित न रहेंगे। तू जीवित रहेगा। वेदमें भी वताया गया है कि काल या महामृत्युरूप परमात्मा सूर्य-चन्द्रादि सारे जगत्को अपने वशमें रखता है और सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं। पवित्रात्मा-अपवित्रात्मा, योधा-भीरु सबको वह काल ही ग्रास करता है।

३३. तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

(तस्मात्) शत्रुओंको मरना ही है अतः, (त्वम् उत्तिष्ठ) तू युद्ध करनेके लिये खड़ा हो जा, और, (यशः लभस्व) अपनी युद्ध-कुशलता दिखाकर यश प्राप्त कर, (शत्रून् जित्वा) दुर्योधन-कर्णादि शत्रुओंको जीतकर, (समृद्धं राज्यम्) धन-धान्यादि-सम्पत्तिसे युक्त राज्यको, (भुङ्क्ष्व) भोग। (एते) ये तेरे शत्रु, (पूर्वं एव) पहले ही तेज-बलसे रहित होकर, (मया निहताः) मुझसे मारे जा चुके हैं, (सव्यसाचिन् !) हे अर्जुन ! (निमित्तमात्रं भव) तू निमित्तमात्र हो जा ॥ ३३ ॥

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः।
सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥

(यजुर्वेदः ८-३९)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! वीर पुरुष ! तू, (चमूसुतम्) सेनाओंमें उत्पन्न हुए युद्धके वेगको बढ़ानेवाले सोमरसको अथवा 'अपाम सोममृता अभूम' इस उक्तिसे भगवद्भक्तिरस अर्थात् ज्ञानको, (पीत्वी) पीकर, (ओजसा) क्षात्रबल और पराक्रमके वेगके साथ, (उत्तिष्ठन्) युद्ध करनेके लिये तैयार होकर, (शिप्रे) अपने दोनों हनू, भलीभाँति, (अवेपयः) शत्रुको मारनेके लिये हिला अर्थात् शत्रुको मारनेके लिये क्रोध उत्पन्न कर।

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥

(अथर्ववेदः २०-४३-१)

हे वीर पुरुष ! (विश्वा द्विषः) सब शत्रुओंको, (अपभिन्धि) दूरसे फाड़ दे, और, (बाधः मृधः) बाधा करनेवाले संग्रामकारी शत्रुओंको, (परि-

जहि) चारों ओरसे नाश कर दे। (स्पार्हं तत् वसु) चाहनेयोग्य उस धन-को, (आभर) ले ले।

यजस्व वीर प्र विहि मनायतो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये।
हविष्कृणुष्व सुभगो यथाससि ब्रह्मणस्पतेरव आ वृणीमहे ॥

(ऋग्वेदः २-२६-२)

(वीर !) हे वीर पुरुष ! (यजस्व) युद्धभूमिकी उपासना कर। (मनायतः) मनकी भाँति युद्धमें शीघ्र प्रवृत्त होते हुए शत्रुओंको या अपने आपको वीर शत्रु माननेवालोंको, (प्रविहि) युद्ध करनेके लिये प्राप्त हो। (वृत्रतूर्ये) शत्रुओंके हिंसाहेतुभूत संग्राममें, (भद्रं मनः) अच्छा मन अर्थात् युद्धमें प्राप्त होनेवाला मन जैसे हो वैसे, (कृणुष्व) कर, क्योंकि परमात्माके अनुग्रहसे तेरी ही जय होगी। (ब्रह्मणस्पते =ब्रह्मणस्पतये) परमात्माके निमित्त, (हविः कृणुष्व) नमस्काररूप हवि कर, (यथा सुभगः अससि) जिस युद्ध करनेसे और परमात्माको स्मरण करनेसे तू सुन्दर-ऐश्वर्य-सम्पन्न और सुन्दर यशवाला हो जायगा। इसलिये हम सब जीवात्मा भी, (ब्रह्मणस्पते) पर-मात्मासे, (अवः) रक्षाको, (आवृणीमहे) वरते या प्रार्थना करते हैं।

अनु त्वा रोदसी उभे ऋक्षमाणमकृपेताम्।
इन्द्र ! यद्दस्युहाभवः ॥

(ऋग्वेदः ८-७६-११)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (ऋक्षमाणम्) युद्धमें शत्रुओंको मारते हुए, (त्वा) तुझपर, (उभे रोदसी) दोनों आकाश और पृथिवी अर्थात् आकाश और पृथिवीपर वास करनेवाले लोग, (अनु अकृपेताम्) साथ-साथ ही कृपा करते हैं अर्थात् युद्धमें तेरी सहायता करते हैं, (यत्) तभी तू, (दस्युहा अभवः) दुष्टोंका नाशक होता है।

तुलना—गीतामें अर्जुनको युद्ध करनेके लिये उद्‌बोधित करते हुए कहा गया है कि युद्धमें शत्रुओंको मारनेसे तेरा यश होगा और विजय पाकर तू समुन्नत राज्यका सुख भोगेगा। जीव तो काल अर्थात् महामृत्युसे पहले ही मरे हुए हैं, मनुष्यका बल तो निमित्त मात्र होता है। वेदमें भी वीर पुरुषको युद्धमें लड़ने, यशस्वी होने तथा जीते हुए शत्रुका धन ग्रहण करनेकी आज्ञा देते हुए कहा गया है कि यदि तू वीरताके साथ सच्चे मनसे युद्ध करेगा तो आकाश और पृथिवी भी तेरी सहायता करेंगे।

३४. द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हताँस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

हे अर्जुन ! (त्वम्) तू, (द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं च) द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, जयद्रथ और सारथिपुत्र कर्णको, (तथा) और, (मया हतान्) तेज, बल, पौरुषके आकर्षण द्वारा मुझसे नष्ट किए हुए, (अन्यान् योधवीरान् अपि) दूसरे भगदत्त, सोमदत्तिआदि वीर योद्धाओंको भी, (जहि) मार, (मा व्यथिष्ठाः) द्रोण दिव्यास्त्रोंसे सम्पन्न है, भीष्म स्वच्छन्द मृत्युवाला है, सब प्रकारकी शक्तियोंसे मिला हुआ कर्ण कठिनतासे जीतने-योग्य है तथा जयद्रथ पिताके वरसे अवध्य है, इस प्रकारकी बातोंकी चित्तमें तनिक भी व्यथा मत कर। (रणे सपत्नान् जेतासि) युद्धमें मेरी कृपासे तू दुर्योधनादि शत्रुओंको जीतेगा, (युध्यस्व) अतः युद्ध कर॥ ३४॥

प्र सू त इन्द्र [1]प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः [2]प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
[3]जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विश्वं सत्यं[4] कृणुहि विष्टमस्तु॥
(ऋग्वेदः ३-३०-६)

(इन्द्र !) हे श्रेष्ठ जीवात्मन् ! (ते वज्रः) जयकी इच्छा करनेवाला तेरा अत्यन्त भयानक वज्रास्त्र, (हरिभ्याम्) शत्रुओंके प्राण हरनेवाली भुजा-ओंसे, (प्रसूतः) निकला यानी चलाया हुआ, (प्रवता) अच्छे मार्गसे, (प्रैतु) शत्रुओंपर प्रकर्षतासे गिरे, तथा तेरा वज्र, (शत्रून्) शत्रुओंको, (प्रमृणन्) नाश करता हुआ, (प्रैतु) प्राप्त हो, और तू, (प्रतीचः अनूचः) सामने आने-वाली और पार्श्वसे आनेवाली, (पराचः) तथा दूरसे आक्रमण करनेवाली या पीछे भागनेवाली सेनाओंको, (जहि) मार दे। (एषाम्) इन शत्रुओंके,

---

१. प्रवता—प्रशब्दात् 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे' इति वतिप्रत्ययः।

२. प्रमृणन्—'मृण हिंसायाम्'।

३. हन हिंसागत्योरित्यस्य लोटि सिपो हिरादेशः। तस्मिन् 'हन्तेर्जः' इति जादेशः। 'अतो हेः' इति लुकि प्राप्ते 'असिद्धवदत्राभात्' इति शास्त्रस्यासि-द्धत्वात् निवृत्तिः।

४. कृणुहि—'कृवि हिंसाकरणयोः'।

(चित्तम्) मनको, (विष्वक्) चारों ओरसे, (सत्यम्) तू ही सर्वथा जीतनेवाला है, इस बातकी सत्यतासे युक्त, (कृणुहि) कर दे ।

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥

(अथर्ववेदः ६-१३४-३)

(वज्र !) हे वज्रधारी वीर पुरुष ! (यः) जो शत्रु, (जिनाति) तेरी हानि करता है, (तम् अन्विच्छ) उसके अन्वेषणके लिए इच्छा कर अर्थात् उसे ढूँढ़ । (यः) जो शत्रु, (जिनाति) तुझे मारता है, (तम् इत् जहि) उसे ही मार दे । (त्वम्) तू वीर पुरुष, (जिनतः) नाशक शत्रुके, (सीमन्तम्) सिरको, (अन्वञ्चम्) जो सबके सामने प्रत्यक्ष है, (अनुपातय) काटकर पृथिवीपर गिरा दे ।

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

(ऋग्वेदः १०-१२५-५)

(यं कामये) मैं परमात्मा जिसको चाहता हूँ अर्थात् अपना बना लेता हूँ, (तं तम् उग्रं कृणोमि) उसे ही सबसे श्रेष्ठ अथवा उग्र स्वभाववाला बना देता हूँ, (तं ब्रह्माणम्, तम् ऋषिम्, तं सुमेधाम्) उसे ही ब्रह्मा, ऋषि अथवा सुन्दर बुद्धिवाला मनुष्य बना देता हूँ ।

तुलना—गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि तेरे शत्रुओंका पराक्रम मेरी शक्तिसे क्षीण हो चुका है, तू उन्हें मार दे, किसी प्रकारकी व्यथा मत कर, मुमुक्षु तू अपने क्षात्रधर्मका पालन कर । सदा भक्तिसे आराधना किया हुआ परमात्मा अपने भक्तोंके दुर्लभ कार्य भी सुलभ कर देता है । मेरी तुझपर पूरी कृपा हो चुकी है अतः शत्रुओंको पहले ही मृतप्राय जान । तू केवल निमित्तमात्र बन। वेदमें भी वीरपुरुषको शिक्षा दी गई है कि अपने पराक्रमसे सामने, पीछे, पार्श्वमें आक्रमणकारी शत्रुओंका नाश कर, युद्धक्षेत्रसे मत भाग अपितु जो शत्रु तुझे हानि पहुँचाता है उसका सिर काट दे क्योंकि विजय उसीकी होती है जिसे मैं चाहता हूँ ।

सञ्जय उवाच—

३५. एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

अर्जुन उवाच—

३६. स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥

संजयने कहा—हे राजन् धृतराष्ट्र ! (वेपमानः) भयानक विराट् स्वरूप देखनेके कारण भयसे काँपते हुए, (कृताञ्जलिः) हाथ जोड़कर, (केशवस्य) श्रीकृष्णके, (एतत् वचनं श्रुत्वा) इस प्रकारके वचन सुनकर, (नमः कृत्वा) पृथिवीपर साष्टाङ्ग नमस्कार करके, (सगद्गदम्) हर्षकी अधिकतासे उत्पन्न आनन्द श्रुओंके कारण रुके हुए कण्ठसे, (भीतभीतः) भयसे अत्यन्त डरे हुए, (किरीटी) मुकुटधारी अर्जुनने, (भूयः एव) पुनः, (कृष्णम्) श्रीकृष्णसे, (आह) कहा ॥ ३५ ॥

अर्जुनने कहा—(हृषीकेश !) हे इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले श्रीकृष्ण ! (तव प्रकीर्त्या) आपकी उत्कृष्ट कीर्तिसे अर्थात् आपकी कीर्तिके सुननेसे, (जगत्) सारा संसार, (प्रहृष्यति) अत्यन्त प्रसन्न होता है, (स्थाने) यह युक्त है, (च) और आपकी कीर्तिसे सारा संसार, (अनुरज्यते) अनुरागको प्राप्त होता है, यह भी युक्त है। (भीतानि रक्षांसि) आपकी कीर्तिको सुनकर डरे हुए राक्षस, (दिशः द्रवन्ति) चारों दिशाओंमें पलायन करते हैं, (स्थाने) यह भी युक्त है, (च) और, (सर्वे सिद्धसङ्घाः) सब देव-ऋषि-गन्धर्व-सिद्धोंके समूह, (नमस्यन्ति) आपको नमस्कार करते हैं अथवा 'पृथिवीके भारको दूर करनेके लिए आप आये हैं' ऐसी कीर्ति सुनकर साधुजन प्रसन्न होते हैं, 'आप भक्तवत्सल हैं' इस कीर्तिको सुनकर आपमें अनुराग करते हैं, 'दुष्टोंको संहार करनेके लिये आप आये हैं' ऐसा सुनकर राक्षस, असाधु या दुष्ट जन वनोंमें अथवा दूर दिशाओंमें भाग जाते हैं तथा आपकी कीर्ति सुनकर सिद्ध लोग आपको नमस्कार करते हैं ॥ ३६ ॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि॥

(अथर्ववेदः ११-२-७)

हे परमात्मन् ! (नीलशिखण्डेन) नील मुकुटवाले या नील केशवाले आपसे हम, (मा समरामहि) कभी न लड़ें अर्थात् आपसे कभी विमुख न हों। (वाजिना अस्त्रा) आपके वेगवान् सुदर्शन चक्रादि अस्त्रोंसे या 'अहं रुद्राय धनुरातनोमि' (ऋ. १०-१२५-४) इस प्रकार वर्णन किये हुए दुष्टघातक अस्त्रसे युद्ध न करें अर्थात् हम राक्षस न बनें तथा इस समृद्ध संसारको, (अर्धक-

घातिना) कालरूप होकर क्षणमात्रमें नाश करनेवाले, (रुद्रेण) भयानकरूप आपसे, (मा समरामहि) न लड़ें अर्थात् आपके भक्त बने रहें।

तुलना—गीतामें भगवान्के विराट् रूपको देखकर अर्जुनने कहा कि हे भगवन्! जगत्के साधुगण प्रसन्न होकर आपमें अनुराग रखने लगे। दुष्ट और राक्षस आपको जगत्का संहारक और दुष्टोंका नाशक सुनकर भाग गए, यही होना भी चाहिए। वेदमें भी कहा गया है कि सुदर्शन चक्रादि अस्त्रोंके धारक, ब्रह्मद्वेषियोंके मारनेवाले, धनुर्धारी और सर्वसंहारक रुद्ररूप परमात्मासे कभी द्वेष न करना चाहिए, प्रत्युत उनके चरणोंमें प्रेम करना चाहिए।

३७. कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥

(महात्मन्!) हे महात्मन्! सब सिद्ध-साध्य-ऋषि-ब्रह्मादि, (गरीयसे) सबसे बड़े और सबके गुरु ['सर्वेषां गुरुः कालानवच्छेदात्' यो. द., अर्थात् समयकी सीमामें न आनेके कारण परमात्मा सबका गुरु है], (ब्रह्मणः) ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भके भी, (आदिकर्त्रे) बीजरूप अर्थात् कारणरूप, (ते) आपको, (कस्मात्) किस कारण, (न नमेरन्) प्रणाम न करें। (अनन्त!) हे अन्तसे रहित अर्थात् अविनाशी! (देवेश!) हे देवताओंके स्वामी! (जगन्निवास!) हे जगत्के निवासस्थान अर्थात् सारे जगत्को अपने उदरमें रखनेवाले! (सदसत्परं यत्) जो सत्=कार्य, और असत्=कारण है वह भी आप हैं और, (परम्) कार्य और कारणसे परे अर्थात् भिन्न भी आप हैं। (अक्षरं यत् तत् त्वम्) अविनाशी ओंकाररूप जो है वह भी आप ही हैं॥ ३७॥

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः॥

(अथर्ववेदः १०-७-२५)

(नाम) यह बात प्रसिद्ध है कि, (बृहन्तः ते देवाः) पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि बड़े-बड़े देवता वे हैं, (ये असतः परिजज्ञिरे) जो असत्, कारणरूप प्रकृतिसे प्रकट हुए हैं। (तत् एकं स्कम्भस्य अङ्गम्) वह ब्रह्मका एक अङ्ग हैं, (जनाः असत् परः आहुः) जिसे मनुष्य परमश्रेष्ठ कारण कहते हैं वह कारण भी ब्रह्मका स्वरूप है।

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।
भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि ॥

(अथर्ववेदः १७-१-१९)

(असति) कारण प्रकृतिमें, (सत्) कार्य स्थित है, और, (सति) कार्यरूप जगत्में, (भूतम्) सम्पन्न हुआ अर्थात् वार्तमानिक कार्य स्थित है, और, (भूतम्) उत्पन्न हुआ कार्यरूप जगत् पुनः, (भव्ये) भविष्यमें स्थित है, क्योंकि ब्रह्म नित्य है, कार्य-कारण दोनों ब्रह्मरूप हैं। (भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्) भविष्य कार्य भूतकार्यमें स्थित है । (विष्णो!) हे सर्वव्यापक परमात्मा, (तव इत् बहुधा वीर्याणि) तेरे ही बहुत प्रकारके सब काम हैं। (नः त्वं पृणीहि) तू हमपर प्रसन्न हो ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो हि वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

(श्वे. उ. ६-१८)

जिस परमात्माने ब्रह्माको पहले प्रकट किया, फिर उसे वेदवाणी दी ।

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥

(म. स्मृ. १-११)

इस प्रकार जो सबका कारण, अव्यक्त, नित्य तथा सत् और असत् दोनोंकी आत्मा है उससे उत्पन्न हुआ वह पुरुष इस जगत्में ब्रह्माके नामसे विख्यात हुआ है ।

तुलना—गीता और वेद-उपनिषद्में भी कहा गया है कि सद्रूप और असद्रूप अर्थात् कार्य और कारणरूप स्वयं परमात्मा ही है क्योंकि कारणमें कार्य स्थित रहता है, वही कार्य किसीका कारण बनता है, किसीका कार्य होता है। कार्य-कारण अर्थात् सत् और असत्का नित्य संबन्ध रहता है अतः सर्वकार्यरूप जगत् ही ब्रह्मरूप है ।

३८. त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

(अनन्तरूप !) हे अन्तशून्य चिदात्मकस्वरूप भगवन् ! (त्वम्) तू, (पुराणः पुरुषः) पूर्ण होनेसे पुरुष, स्वयं निर्विकार होनेसे पुराण, इस प्रकार पुराणपुरुष अर्थात् सनातन है। तू ही, (आदिदेवः) जगत्का कारण होनेसे आदि और स्वयं प्रकाशमान होनेसे देव, इस प्रकार आदिदेव है। (त्वम्) तू, (अस्य विश्वस्य) घटोंका मृत्तिका और तरंगोंका जलकी भाँति इस संसार-का, (परं निधानम्) महदादि सारे विकारोंको धारण करनेवाला निधान अर्थात् बीजरूप है, (वेत्तासि) बुद्धि और उसके विकारोंको अर्थात् संसारके सारे तत्त्वको जाननेवाला तू ही है, तू ही सर्वसाक्षी है। (च वेद्यं त्वम्) और बुद्धि तथा उसके विकार दृश्यजात अर्थात् प्रमेय तू है। (परं धाम) अत्युत्कृष्ट परंज्योतिः परंब्रह्म तू ही है। (त्वया) तूने ही सद्रूपसे, (विश्वम्) यह सारा विश्व, (ततम्) व्याप्त किया है। जो व्याप्त होता है वह तन्मात्र होता है अतः सारे संसारका रूप तू ही है अतः तू अनन्तरूप है ॥ ३८ ॥

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव ।

(अथर्ववेदः १०-८-३०)

(एषा सनत्नी) यह ब्रह्मशक्ति अर्थात् ब्रह्म [क्योंकि 'शक्तिशक्तिमतोरभेदः' जहाँ शक्ति रहती है वहाँ शक्तिवाला भी रहता है] सनातन है, सदा रहनेवाला है, (सनम् एव जाता) यह शक्ति सदासे आ रही है, (एषा पुराणी) यह पुराण-पुरुषोत्तम शक्ति, (सर्वं परि बभूव) सारे संसारमें व्यापक है।

यह मन्त्र बता रहा है कि पुराणपुरुष, सारे विश्वके प्राणियोंमें व्यापक तथा आदिदेव परमात्मा ही है।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यञ्च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥

(अथर्ववेदः १०-७-२२)

जिस ब्रह्ममें सूर्य, रुद्र, वसु, भूत, भव्यसृष्टि और सारे लोक-लोकान्तर स्थित हैं। इससे परमात्माकी अनन्तरूपता और सर्वव्यापकता ज्ञात होती है।

ऊर्ध्वो नु सृष्टास्तिर्यङ नु सृष्टाः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूव ।

(अथर्ववेदः १०-२-२८)

ऊपरकी आकाश-तारागणादि सृष्टि टेढ़ी अथवा पश्वादि सृष्टि और सब दिशाएँ, यह सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है।

**त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता [1]जनुषा [2]पुरोहितः।
विश्वा विद्वाँ [3]आर्त्विज्या धीर पुष्यस्यग्ने सख्ये मा [4]रिषामा वयं तव॥**
(ऋग्वेदः १-९४-६)

(अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (त्वं पूर्व्यः) तू सबके पूर्व है अर्थात् सबका आदिदेव है। (त्वं जनुषा पुरोहितः) तू प्रकट होनेसे सब संसारका पुरोहित अर्थात् आगे हित करनेवाला या सबसे पुराना यानी पुराण-पुरुष है। (त्वं प्रशास्ता) तू सबपर शासन करनेवाला है क्योंकि तू साक्षी और चेता है, अतः तू वेत्तारूप या ज्ञातारूप होकर सबको सब कर्मोंका फल देता है। (त्वं होतासि) तू प्रलयकालमें सबका आह्वान कर लेता है अर्थात् सबको अपने भीतर समा लेता है,(उत पोता) सबको अपने ज्ञानसे पवित्र करनेवाला है, (त्वम् अध्वर्युः) तू विश्वरचनारूप यज्ञ करनेवाला है। (धीर !) हे वैदिक ज्ञानकी बुद्धिके दाता परमात्मा ! (विश्वा आर्त्विज्या विद्वान्) सब ऋत्विजों अर्थात् भगवद्भक्तोंको जानता हुआ तू, (पुष्यसि) अनन्तरूप न्यूना-धिक भावसे रहित होकर उनका पालन करता है। अतः, (वयम्) हम भक्त-जन, (तव सख्ये) तेरे सखित्वभावमें, (मा रिषाम) रहें अर्थात् अपने आपको तेरे सखित्वसे पृथक् न करें क्योंकि तूने ही विश्वको अपने रूपसे रचा है।

**उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।
उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे॥**
(ऋग्वेदः ५-८१-५)

(सवितः) हे जगदुत्पादक परमात्मन् ! (त्वम् एकः इत्) तू अकेला ही, (प्रसवस्य) उत्पन्न हुए इस विश्वके, (ईशिषे) स्वामित्वमें समर्थ है अर्थात् तू एक ही इस विश्वपर शासन करता है। (उत पूषा भवसि) तू सारे विश्वका पोषक है। (देव !) हे देवोंके देव परमात्मन् ! (यामभिः उत) अपनी गतियोंसे अर्थात् व्याप्त होनेसे, (इदं विश्वं भुवनं विराजसि) इस सारे भूतमात्रमें विराजता है अथवा सारे भुवनमात्रको तू प्रकाशित करता है। हे

---

१. जनुषा—जनेरुसिः।
२. पुरोहितः—दधातेः कर्मणि निष्ठा।
३. आर्त्विज्या—ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्।
४. 'रिष हिंसायाम्'। व्यत्ययेन शः।

परमात्मन् ! (श्यावाश्वः) तेरा परमभक्त, (ते स्तोमम् आनश) तेरी स्तुतिमें लगा रहता है अर्थात् तेरी स्तुति करता रहता है।

प्रश्नोपनिषद्में कहा गया है—

आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः।

(२-२)

आकाश निःसन्देह यह देव है तथा वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्रमें सभी देव हैं। अपने-अपने आधारपर ज्ञान-विज्ञान करके वे कहते हैं कि हम इस शरीरको आधार देकर धारण करते हैं। पृथिवीका धारक केवल एक परमात्मा ही है।

तुलना—गीतामें परमात्माको आदिदेव, पुराणपुरुष, सारे विश्वका बीजरूप, ज्ञाता, ज्ञेय, सर्वव्यापक और परमधाम कहा गया है। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्मा ऊपर, नीचे, सब स्थानमें व्यापक है। कोई स्थान उससे रिक्त नहीं है। सनातन और पुराणपुरुष, लोक-लोकान्तरोंका वास, प्रशास्ता, पुरोहितादि शब्दोंसे परमात्माकी व्यापकता स्पष्ट ज्ञात होती है।

३९. वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

हे भगवन् कृष्ण ! (त्वम्) तू ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा और तू ही विष्णु है।

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः।
तुभ्यं यज्ञो वितायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि[1] परमे व्योमन्॥

(अथर्ववेदः १७-१-१८)

हे परमात्मन् ! (त्वम् इन्द्रः त्वं महेन्द्रः) तू इन्द्र है, तू महेन्द्र अर्थात् इन्द्रका भी नियन्ता यम है। (त्वं लोकः) तू लोक है अथवा ['लोकृ दीप्तौ'] प्रकाशमान् अर्थात् चन्द्र है, या तू ही पुण्यात्मासे प्राप्त होनेयोग्य मुक्तिलोक है। (त्वं प्रजापतिः) तू ब्रह्मा है। (यज्ञः) [यज्ञो वै विष्णुः] विष्णु, (तुभ्यम्) तेरी प्रीतिके लिये, (वितायते) विस्तारित किया जाता है। (जुह्वतः) तेरा आह्वान करनेवाले, (तुभ्यम्) तेरे लिये, (जुह्वति)

१. धेहि—दधातेर्लोटि 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्येत्वाभ्यासलोपौ।

आवाहन करते हैं अर्थात् हर समय तेरा भजन करते हैं। (विष्णो !) हे सर्वत्र व्यापक परमात्मन् ! (तव इत् बहुधा वीर्याणि) तेरे बहुत प्रकारके बल हैं अर्थात् तू अनन्तवीर्य है। (त्वम्) तू परमात्मा, (नः) हम भक्तोंको, (विश्वरूपैः पशुभिः) बहुत रूपोंवाले पशुओंसे, (पृणीहि) पूर्ण कर, और, (माम्) मुझ दासको, (परमे व्योमन्) परममुक्तिके धाम, अमृतलोकमें, (धेहि) धारण कर।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(अथर्ववेदः ९-१०-२८)

एक सत्यवस्तु अर्थात् परमात्माको ज्ञानी लोग, इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और दिव्य गरुड, यम, वायु ऐसे बहुत रूपोंसे कहते हैं।

तुलना—गीताके विभूतियोगाध्यायमें 'पवनः पवतामस्मि' १०-३१, 'यमः संयमतामहम्' १०-२९, 'वसूनां पावकश्चास्मि' १०-२३, 'वरुणो यादसामहम्' १०-२९, 'नक्षत्राणामहं शशी' १०-२१, 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्' १०-३०, 'सर्गाणामादिः धाताऽहं विश्वतोमुखः' १०-३३, 'आदित्यानामहं विष्णुः' १०-२१ इत्यादि रूपसे भगवान्की विभूतियाँ कही गई हैं अर्थात् वायु, यम आदि सब परमात्माके ही स्वरूप हैं। वेदमें भी इन्द्र, महेन्द्र अर्थात् यम, प्रजापति, विष्णु, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुड, यम, वायु ये सब परमात्माके नाम और परमात्माके स्वरूप बताए गए हैं।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥
४०. नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्याऽमितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

वायु-यमादिस्वरूप हे परमात्मन् ! तुझे नमस्कार हो, तुझे नमस्कार हो, सहस्रों बार फिर-फिर तुझे नमस्कार हो ॥ ३९ ॥

(सर्व) हे सर्वात्मन् ! (ते पुरस्तात् अथ पृष्ठतः नमः) तुझे सम्मुख तथा पीछे नमस्कार हो, (सर्वतः एव ते नमः अस्तु) चारों ओर तुझे नमस्कार हो, (त्वम् अनन्तवीर्यामितविक्रमः) अनन्त वीर्य और अमित पराक्रमसे तू, (सर्वं समाप्नोषि) सारे जगत्को व्याप्त करता है, (ततः) इसलिये तू, (सर्वः असि) सर्वात्मस्वरूप है ॥ ४० ॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते ।

(अथर्ववेदः ११-२-९)

(पशुपते !) [पश्यन्तीति पशवो जीवाः] हे जीवाधिराज ! (भवाय) संसारोत्पत्ति-स्थानरूप, (ते) तुझ परमात्माको, (चतुर्नमः) चार बार नमस्कार हो, (अष्टकृत्वः नमः) आठ बार नमस्कार हो, (दशकृत्वः नमः) दश बार नमस्कार हो अर्थात् सैकड़ों बार नमस्कार हो ।

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत ।
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥

(अथर्ववेदः ११-२-४)

हे परमात्मन् ! (ते=तुभ्यम्) तुझे, (पुरस्तात् उत्तरात् अधरात्) सम्मुख, ऊपर और नीचे अर्थात् चारों ओर, (नमः कृण्मः) नमस्कार करते हैं, (अमीवर्गात्) चारों ओर वर्तमान अन्तरिक्षसे, (दिवः उत=अपि, परि) द्युलोकसे भी दूर विद्यमान, (अन्तरिक्षाय ते) 'खं ब्रह्म' इस उक्तिसे आकाश-स्वरूप तुझ ब्रह्मको, (नमः) नमस्कार हो ।

पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्तात् कविः काव्येन परि पाहि राजन् ।

(ऋग्वेदः १०-८७-२१)

(राजन् !) हे ज्योतिस्वरूप परमात्मन् ! (कविः) 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' इस यजुर्वेदोक्तिसे क्रान्तदर्शी तू, (काव्येन) अपने वैदिक ज्ञानसे, (पश्चात् पुरस्तात् अधरात् उदक्तात्) पीछे, आगे, नीचे, ऊपर, (परिपाहि) सब ओरसे रक्षा कर।

तुलना—गीतामें अर्जुनने अद्भुत विराट् स्वरूपको देखकर भय और प्रसन्नतासे बारबार नमस्कार किया और यही जाना कि परमात्मा अणु-अणुमें व्यापक है, अनन्तवीर्य और अमितपराक्रम है अतः सर्वात्मरूप है। वेदमें भी परमात्माको सब प्रकारसे प्रणाम करनेको कहते हुए बताया गया है कि ऊपर, नीचे, सामने, पीछे, चारों ओरसे नमस्कार करनेवाले भक्तको परमात्मा वैदिक ज्ञान देकर उसकी रक्षा करता है।

४१. सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥

४२. यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

(तव) अपरिमित बलवाले आपकी, (इदम्) दृश्यमान विश्वात्मरूप-वाली, (महिमानम्) महिमाको, (अजानता) न जानते हुए, (मया) मैंने, (सखा) 'मेरा यह साथ खेलनेवाला परम मित्र तथा मामाका पुत्र है', (इति मत्वा) यह मानकर हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे इत्यादि, (प्रमादात् प्रणयेन वा) प्रमादसे या प्रेमसे, (प्रसभम्) हठ करके, (यदुक्तम्) जो ऊँच-नीच वचन कहे हैं, (अच्युत !) हे सदैकरूप ! कभी भी न च्युत होनेवाले परमात्मन् ! (विहारशय्यासनभोजनेषु) खेलमें, शयनमें, सिंहासनपर विराजनेमें और भोजनमें, (एकः) एकान्तमें, अकेला, अथवा, (समक्षम्) सबके सामने 'यह मेरा मामाका पुत्र है' इस बुद्धिसे, (यत्) जो, (अवहासार्थम्) परिहासके लिये, (असत्कृतः असि) अनादृत किए गए हैं, (तत्) उस-उस अनौचित्यसे उत्पन्न हुए अपराध-समूहकी, (अहम्) मैं, (त्वाम् अप्रमेयम्) तुझ अप्रमेयसे, (क्षामये) क्षमा चाहता हूँ ।। ४१-४२ ।।

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ।।

(अथर्ववेदः ८-९-२२)

(समानजन्मा अस्ति) नर नारायणके लिये कहता है कि नारायण परमात्मा मेरे साथ उत्पन्न हुआ है। क्योंकि जीवके साथ ब्रह्मकी व्यापकता रहती है अतः जीवका समानजन्मा परमात्मा, (क्रतुः अस्ति) विहार, शयन, आसन, भोजनादि समयमें मेरे साथ ही साथ काम करता है क्योंकि जीव कर्ता है, परमात्मा साक्षी है । (सः वः) हमारा वही, (शिवः) कल्याणरूप है, (सः एव सर्वाः संचरति) वह नारायण ही हविरूप भोजनादि सब कर्मोंको करता है, (प्रजानन्) मनुष्य मेरा वयस्य है, सखा है, ऐसा जानता हुआ, (अहं शेवाऽस्मि) मैं सुखी हूँ, इस सारे विचारको, (इत्थं श्रेयः मन्यमानः) इस प्रकार कल्याणकारी मानता हुआ, (युष्माकं सख्ये) तुझ परमात्माके सखिभावमें, (आ अगमम्) चारों ओरसे प्राप्त हो गया हूँ ।

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः ।
सखा सखिभ्य ईड्यः ।।

(ऋग्वेदः १-७५-४)

(अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (त्वं जनानां जामिः) तू मनुष्योंका बन्धु है । 'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि

विश्वा' (ना. उ. ४) इस उक्तिसे परमात्मा बन्धु और पिता है] । (त्वं जनानां मित्रः असि) तू मनुष्योंका मित्र है । (त्वं प्रियः असि) तू मनुष्योंका प्रिय है । (सखा) तू सखा होता हुआ, (सखिभ्यः) सखाओंके लिये, (ईड्यः) स्तुतिके योग्य है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य परमात्माको सखा अर्थात् सदा साथ रहनेवाला जानकर खेल, भोजन, आसनादि उपस्थित अवस्थामें या हँसीमें उसका अनादर न करे । वेदमें भी कहा गया है कि परमात्माको समान-कर्मा, समानजन्मा जानते हुए उसे किसी अवस्थामें मत भूलो, हर समय उसके प्रेममें मस्त रहो ।

४३. पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

हे भगवन् ! (त्वम्) तू, (अस्य चराचरस्य लोकस्य) इस स्थावर-जंगम जगत्का, (पिता) बीजरूप होनेसे जनक तथा पालक, (च पूज्यः) और पूजनीय, (गरीयान् गुरुः) अतिशय बड़ा गुरु है । (अप्रतिमप्रभाव !) हे अतुल प्रभाववाले श्रीकृष्ण ! (लोकत्रये) तीनों लोकोंमें, (त्वत्समः नास्ति) जब तेरे बराबर कोई वस्तु नहीं है, (अन्यः अधिकः कुतः) तो फिर तुझसे अधिक अर्थात् बड़ा कौन कहाँ हो सकता है ! ॥ ४३ ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु [1]सुमनस्यमानः ।

(अथर्ववेदः ७-२०-१)

(प्रजापतिः) स्थावर-जङ्गम प्रजाका स्रष्टा अर्थात् जनक और पालक परमात्मा, (इमाः प्रजाः) इस स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टिको, (जनयति) उत्पन्न करता है । (धाता) बड़ा गुरु होनेसे सब संसारका धारक और पोषक परमात्मा, (सुमनस्यमानः) बड़े होनेसे प्रियता और द्वेषबुद्धिसे रहित होकर सबके साथ समान मन अर्थात् समता, (दधातु=दधाति) धारण करता है ।

न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन् ।
न क्येवं यथा त्वम् ॥

(सामवेदः पू. ३-१-१-१०)

---

१. सुमनस्यमानः—सुमना इवाचरन्, 'कर्तुः क्यङ सलोपश्च' इति क्यङ । सलोपो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ।

(इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (त्वदुत्तरम्) तुझसे उत्कृष्ट अर्थात् बड़ा, (न कि अस्ति) कोई नहीं है । (वृत्रहन् !) हे पापहारिन् ! (त्वत् ज्यायः न अस्ति) तुझसे श्रेष्ठ या बड़ा कोई भी नहीं है, (न कि एवं यथा त्वम्) तू जैसा है वैसा कोई नहीं है ।

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥
(अथर्ववेदः २०-१२१-२)

(मघवन् !) हे पूज्य ! (इन्द्र !) परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (त्वावान्) तेरे जैसा अर्थात् तेरी समता करनेवाला, (दिव्यः) अन्तरिक्षमें उत्पन्न हुआ, (अन्यः) और कोई, (न) नहीं है, तथा, (पार्थिवः) पृथिवीपर उत्पन्न हुआ, (अन्यः) और, (त्वावान्) तेरे जैसा, (न जातः न जनिष्यते) न हुआ है न कोई होगा अर्थात् तीनों लोकोंमें तेरे समान कोई नहीं है। (अश्वायन्तः वाजिनः गव्यन्तः त्वा हवामहे) हम बलवान् अश्वकी और गौओंकी इच्छा करते हुए तुझे बुलाते हैं ।

विश्वमाप्रा[1] अन्तरिक्षं [2]महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् ॥
(ऋग्वेदः १-५२-१३)

हे परमात्मन् ! (सत्यम् अद्धा) यह अत्यन्त सत्य है कि तू, (महित्वा) अपनी महिमा अर्थात् बड़ाईसे, (विश्वम् अन्तरिक्षम् आप्राः) आकाश और पृथिवीके मध्य रहनेवाले सारे विश्वमें व्यापक हो रहा है। ([3]त्वावान् अन्यः नकिः) त्रिलोकीमें तेरे जैसा कोई नहीं है ।

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम् ।
(ऋग्वेदः १०-७-३)

मैं, (अग्निम्) ज्योतिःस्वरूप परमात्माको, (पितरं मन्ये) पिता अर्थात् जगत्का उत्पादक बीज मानता हूँ, (अग्निम् आपिम्) परमात्माको सर्वव्यापक

---

१. अप्राः—'प्रा पूरणे' आदादिकः, लङ्यडागमः ।

२. महित्वा—सुपां सुलुगिति तृतीयाया डादेशः ।

३. त्वावान्—वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानमिति सादृश्यार्थे वतुप् । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति मपर्यन्तस्य त्वादेशः । 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वम् ।

और आप्तवक्ता मानता हूँ, (अग्नि सदमित् भ्रातरं सखायं मन्ये) मैं परमात्मा-को सदा ही भ्राता और सखा मानता हूँ अर्थात् परमात्मा ही मेरा धारक और पोषक तथा सदा ही हित करनेवाला मित्र है।

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥

(ऋग्वेदः ६-१-५)

(तरणे !) हे संसाररूपी दुःखसागरसे तारनेवाले परमात्मन् ! (त्वं चेत्यः त्राता) तू पूज्य और रक्षक, (भूः) है, (मानुषाणां सदमित्) तू मनुष्यों-का सदैव, (माता) मातृवत् पालक या मनुष्योंके ज्ञानका मापक, ज्ञाता है।

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम् ।
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः ॥

(ऋग्वेदः २-१-९)

(अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (नरः) मनुष्य अर्थात् भक्त-जन, (पितरम्) जनक या पालक, (त्वाम्) तुझे, (इष्टिभिः) पूजनके साधन यज्ञोंसे यजन करते हैं, और, (तनूरुचम्) शरीरको शोभित करनेवाला जठरमें प्रविष्ट वैश्वानररूप, (त्वाम्) तुझे, (भ्रात्राय) सौभ्रात्रके लिये, (शम्या) कर्म द्वारा यजन करते हैं। हे परमात्मन् ! (यः ते अविधत्) जो मनुष्य तुझे पूजता है, (त्वं पुत्रो भवसि) तू उस मनुष्यका पुत्र अर्थात् नरक-गमनसे रक्षा करनेवाला होता है, (त्वं सखा सुशेवः) तू उस मनुष्यके लिये उत्तम सुखकारक सखा होता है। (आधृषः पासि) तू पापका नाशक होकर अर्थात् पतितपावन होकर उस मनुष्यकी रक्षा करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा सारे चराचर जगत्का बीज-रूप होनेसे तथा पालक होनेसे पिता है। सबसे बड़ा और गुरु परमात्मा है। परमात्माकी तुलना करनेवाला त्रिलोकीमें न कोई उत्पन्न हुआ है, न उत्पन्न होगा, क्योंकि परमात्मा अतुल प्रभाववाला है। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्मा प्रजाका पिता, धाता, धारक और पालक है। वह इतना शुद्ध है कि उसका न कोई द्वेषी है, न कोई मित्र है। उससे अधिक पूज्य और अधिक बड़ा कोई नहीं है। वही सबसे उत्कृष्ट है। सखा, माता, पिता भी वही है।

४४. तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

क्योंकि तू महत्तर, पूज्य, सबका गुरु, संसारका बीजरूप पिता है, (तस्मात्) इसलिये, (कायम्) अपने शरीरको, (प्रणिधाय) पृथिवीपर दण्डवत् रख-कर, (प्रणम्य) नमस्कार करके, (ईड्यम्) सबसे स्तुतियोग्य, (ईशम्) सर्व-सामर्थ्योपेत, (त्वाम्) तुझ परमेश्वरको, (प्रसादये) प्रसन्न करता हूँ। (देव !) हे प्रकाशस्वरूप ! (पुत्रस्य पिता इव) पुत्रके अपराधको पिताकी भाँति, (सख्युः सखा इव) तू सखाके अपराधको सखाकी भाँति, (प्रियायाः प्रियः इव) स्त्रीके अपराधको पतिकी भाँति मेरे अपराध, (सोढुम् अर्हसि) सहने अर्थात् क्षमा करनेके लिये योग्य है ॥ ४४ ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

(ऋग्वेदः ७-३२-२६)

(इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (नः क्रतुम्) हमारे दुष्कर्मों-से किये अपराधको, (आ भर=हर) चारों ओरसे दूर कर अर्थात् हमारे अपराधोंको क्षमा कर। (यथा पिता पुत्रेभ्यः) जिस प्रकार पिता पुत्रोंके किये अपराधोको क्षमा कर देता है वैसे तू पितारूप है, भक्त पुत्ररूप हैं, अतः तू भी भक्तोंके अपराधोंको क्षमा कर। (पुरुहूत !) हे बहुतोंसे आह्वान किये हुए परमात्मन् ! (अस्मिन् यामनि) इस यम-नियमवाले ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें, (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे अर्थात् हमारे अपराधको क्षमा करते हुए हमें उप-देश दे। (जीवाः) तेरी शिक्षाकी कामना करते हुए हम मुमुक्षु जीव, (ज्योतिः) तेरे ज्ञानकी ज्योतिको, (अशीमहि) प्राप्त करें।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त होनेपर जब अर्जुनने यह समझा कि जिन्हें मैं साधारण नामोंसे पुकारता रहा और आहार-विहारमें जिनकी हँसी भी उड़ाता रहा वे तो साक्षात् विराट्रूप पुरुषोत्तम हैं तो वह पृथिवीपर दण्डवत् प्रणाम करके अपने अपराधको क्षमा कराने लगा और पुनः पुनः प्रार्थना करने लगा कि आप मुझपर प्रसन्न हों। वेदके अनुसार भी मुमुक्षु पुरुषने परमात्मासे यही प्रार्थना की है कि जैसे पिता अपने पुत्रोंके अप-राधोंको क्षमा करता है वैसे आप हमारे अपराधोंको क्षमा करें और हमें शिक्षा दें जिससे हम आपके ज्ञानकी ज्योतिको प्राप्त करें।

४५. अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

हे भगवन् ! (अदृष्टपूर्वम्) कभी भी दृष्टिपथमें न आए हुए विराट् रूपको, (दृष्ट्वा) देखकर, (हृषितोऽस्मि) प्रसन्न हो गया हूँ, (च) परन्तु, (मे मनः) मेरा मन, (भयेन) विराट् रूपको देखकर भयसे, (प्रव्यथितम्) पीड़ित है। (देव !) हे स्वामिन् ! हे प्रकाशस्वरूप ! (प्रसीद) तू प्रसन्न हो। (देवेश !) हे देवताओंके स्वामिन् ! (जगन्निवास !) हे जगत्के निवास-स्थान ! या जगत्में ब्रह्मरूपसे निवास करनेवाले ! (तदेव) वही पहला सौम्य और सुन्दर, (रूपम्) कृष्णरूप, (मे दर्शय) मुझे दिखा ॥ ४५ ॥

४६. किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

(सहस्रबाहो !) हे सहस्रों भुजाओंवाले ! (विश्वमूर्ते !) विराट्रूप-वाले कृष्ण ! (अहम्) मैं अर्जुन, (तथैव) पहलेकी भाँति, (किरीटिनम्) मुकुटवाले, (गदिनम्) गदा धारण किये हुए, (चक्रहस्तम्) हाथमें चक्र रखे हुए, (त्वाम्) तुझे, (द्रष्टुम् इच्छामि) देखना चाहता हूँ। अतः तू, (तेन एव) उसी, (चतुर्भुजेन रूपेण) चार भुजाओंवाले रूपसे, (भव) हो जा ॥४६॥

भगवानुवाच—

४७. मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (प्रसन्नेन मया) तुझपर प्रसन्न होकर मैंने, (तेजोमयम्) प्रकाशवाले, (विश्वम्) विराट्, अतएव, (अनन्तम्) अन्तसे रहित अर्थात् असंख्य रूपोंवाले, (इदं रूपम्) सामने दृष्टिगोचर होते हुए इस रूपको, (आत्मयोगात्) अपनी योगशक्तिसे, (दर्शितम्) दिखाया है। (यत् मे) जो मेरा, (आद्यम्) आदिरूप अर्थात् सारे विश्वका कारणरूप, (त्वत् अन्येन) तुझसे भिन्न किसी दूसरेने, (न दृष्टपूर्वम्) पहले कभी नहीं देखा था ॥ ४७ ॥

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ॥

(ऋग्वेदः १-१६३-७)

जीवात्मारूप भक्त कहता है कि हे परमात्मन् ! (ते) आपके, (उत्तमं रूपम्) सबसे सुन्दर बहुत उत्तम रूपको, (अत्र गोः पदे) इस पृथिवी भागपर या रश्मियोंके स्थान अन्तरिक्षमें, अथवा इस युद्धस्थलमें, (इषः=इष् गतौ, क्विप्)

सब कर्मोंको, (जिगीषमाणम्) जीतनेकी इच्छा करते हुए, (आ अपश्यम्) आपको देखता हूँ। (यदा) जिस समयमें, (मर्तः) मनुष्य, (ते) आपके, (भोगम्) सुन्दर देखनेयोग्य शरीरको, (अनु आनट्) क्रमसे प्राप्त होता है उस समय अर्थात् विराट्रूप देखनेके अनन्तर इस सुन्दर रूपको देखता है। (आत् इत्) इसके अनन्तर ही, (ग्रसिष्ठः) आपके वास्तविक स्वरूपमें ग्रसित हुआ, (ओषधीः) आपकी प्रसन्नतारूप औषधिको, (अजीगः) भक्षण कर लेता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा विराट् रूपमें भयानक रूपोंके देखनेसे भयभीत होकर प्रार्थना करते हुए भक्तको अपना मोहन रूप दिखाता है और भक्त प्रसन्न हो जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि विराट्रूप इस विश्वरूप ईश्वरके भयङ्कर रूप हैं अतः भक्तके सामने वे मनोहर रूपमें प्रकट होते हैं और भक्त ऐसे सुन्दर रूपको देखकर मुक्त हो जाता है।

४८. न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिः न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

(कुरुप्रवीर !) हे कौरवोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुन ! (नृलोके) मनुष्यलोकमें, (वेदयज्ञाध्ययनैः न) न ऋग्वेदादि चारों वेदोंके अर्थसहित अध्ययन करनेसे तथा बड़े-बड़े अग्निष्टोमादि यज्ञोंके अध्ययन अथवा करनेसे, (च दानैः न) और न गौ, पृथिवी, स्वर्णादिके दानसे, (च क्रियाभिः न) और न बड़े-बड़े श्रौत-स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानोंसे, (न उग्रैः तपैः) और न कठोर तपस्याओंसे, (एवं-रूपः अहम्) इस विराट् स्वरूपवाला मैं, (त्वत् अन्येन) तेरे सिवाय किसी अन्यके द्वारा, (द्रष्टुं शक्यः) देखनेके लिए शक्य हो सकता हूँ अर्थात् तूने ही मेरा ऐसा रूप देखा है, और किसीने नहीं देखा ॥ ४८ ॥

अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि।
त्वं ह यं चकृषे त्वं ववृषे इन्द्रं मदाय युज्याय सोमम् ॥
(सामवेदः उ. ६-३-१३-१)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (अयं सोमः) यह मैं परमात्मा अपने विराट् रूपको तुझे दिखाकर अब, (सोमम्) अपने शान्तिमय मनोहर रूपको, (सुन्वे) प्रकट करता हूँ। (अयम्) यह सुन्दर रूप, (तुभ्यं पवते) तुझ भक्तको पवित्र करता है अर्थात् इसके देखनेसे तुझे शान्ति प्राप्त होती है। (त्वम्) तू भक्त, (अस्य पाहि) इस सुन्दर स्वरूपको अपने हृदयाकाशमें रख अर्थात् धारण कर, (ह) निश्चय ही, (त्वम्) तू भक्तजन, (यम्) जिन भगवान्की कृपाके

दर्शनके विचारको, (चक्रुषे) अपने मनमें करता है, (त्वम्) तू, (यम्) जिस भगवदाकारको, (मदाय) अपने आनन्दकी प्राप्तिके लिए, (युज्याय) परमात्माके साथ संयुक्त होनेके लिए, (ववृषे) अपने समीप वरता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माके वास्तविक सुन्दर स्वरूपका दर्शन केवल वेदार्थज्ञानसे, बड़े-बड़े वैदिक यज्ञ करनेसे, श्रौत-स्मार्त-कर्मानुष्ठानोंसे, चान्द्रायणादि व्रतोंसे या गो-कन्यादानादि बड़े-बड़े दानोंसे किसीको नहीं हो सकता। परमात्माकी दयादृष्टि जिस भक्तपर होती है उसे ही ऐसे सुन्दर रूपका दर्शन होता है। वेदमें भी परमात्माने ऐसा आदेश दिया है कि हे भक्त ! तेरी शुभ इच्छाके अनुसार मैं अपना सुन्दर रूप तुझे दिखाता हूँ। तू इस स्वरूपको अपने आनन्दकी प्राप्तिके लिए हृदयाकाशमें स्थापित कर। तुझे मेरा सायुज्य प्राप्त हो जाएगा।

४९. मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥

हे अर्जुन ! (मम) मुझ श्रीकृष्णके, (ईदृक्) ऐसे, (घोरम्) भयंकर, (इदं रूपम्) इस विराट् स्वरूपको, (दृष्ट्वा) देखकर, (ते व्यथा मा) तुझे पीड़ा या कष्ट न हो, (च विमूढभावः मा) और तुझे किंकर्तव्यविमूढता भी न हो। अब, (व्यपेतभीः) भयसे रहित, (प्रीतमनाः) प्रसन्नचित्त होकर, (त्वम्) तू, (मम) मुझ कृष्णके, (इदं तत् एव रूपम्) उसी शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चारों भुजाओंवाले इस स्वरूपको, (पुनः प्रपश्य) फिर देख॥ ४९॥

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि॥

(अथर्ववेदः १४-१-३८)

हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! (अहम्) मैं परमात्मा, (रुषन्तम्) दुष्टोंकी हिंसा करनेवाले भक्तोंकी रक्षा करनेवाले या अत्यन्त प्रकाशमान, (तनूदूषिम्) दूसरेके शरीरोंको दूषित करनेवाले, दूसरोंको कँपानेवाले भयानक, (इदम्) सामने दृष्टिगोचर होते हुए इस, (ग्राभम्) सारे विश्वको अपने भीतर ले लेनेवाले विराट् रूपको, (अपोहामि) हरता हूँ अर्थात् दूर करता हूँ। (यः) जो, (भद्रः) कल्याणकारी, (रोचनः) सुन्दरतासे प्रकाशमान चतुर्भुज देह है, (तम्) उस देहको अर्थात् उस स्वरूपको, (उदचामि) उत्कृष्ट रूपमें प्रकट करता हूँ। हे भक्त ! इसलिए तू उस सुन्दर रूपको देख, अपनेसे भय और कँपकपीको दूर कर।

तुलना—गीतामें परमात्माने यही दर्शाया है कि भिन्न-भिन्न भयानक आकारवाले रूपोंके देखनेसे मनुष्यके हृदयमें भय उत्पन्न होता है और अभिमत सुन्दर स्वरूपमें ध्यान लगानेसे मनुष्य शान्ति और सुखको पाता है। वेदमें भी यही स्पष्ट किया गया है कि ईश्वरका स्वरूप संसारमें विभिन्न भयानक और सुन्दर रूपोंसे भरपूर है। मनुष्यजन परमात्माके विश्वरूपका पूर्ण दर्शन कर लेता है तब परमात्मा उस भक्तको अपना सुन्दर रूप दिखाता है जिससे मनुष्यको शान्ति और सुख प्राप्त होते हैं।

सञ्जय उवाच—

५०. इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

अर्जुन उवाच—

५१. दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—हे राजन्! (वासुदेवः) श्रीकृष्णने, (अर्जुनम्) अर्जुनको, (तथा इत्युक्त्वा) 'बहुत अच्छा' कह कर, (भूयः) फिर, (स्वकं रूपम्) अपने मानुषिक स्वरूपको, (दर्शयामास) दिखाया। (महात्मा) महात्मा भगवान् कृष्णने, (पुनः) फिर, (सौम्यवपुः भूत्वा) सुन्दर शान्त-स्वरूपवाले होकर, (भीतम् एनम्) डरे हुए इस अर्जुनको, (आश्वासयामास) आश्वासन दिया कि अर्जुन! तू मत डर। देख, मैं वही चतुर्भुज कृष्ण हूँ॥ ५०॥

अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा कि (जनार्दन!) हे भक्तोंके रक्षक! (तव) तेरे, (इदं सौम्यं मानुषं रूपम्) इस सुन्दर शान्तिदायक मनुष्य स्वरूपको, (दृष्ट्वा) देखकर, (इदानीम्) अब, (प्रकृतिं गतः) अपने सहज स्वभाव अर्थात् भयसे रहित स्वभावको प्राप्त हो गया हूँ, (सचेताः संवृत्तः) और सावधान हो गया हूँ॥ ५१॥

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः॥

(ऋग्वेदः १-१६३-७)

हे परमात्मन्! (ते) आपके, (उत्तमं रूपम्) सबसे सुन्दर उत्तम रूपको, (अत्र गोः पदे) इस पृथिवीपर या रश्मियोंके समान अर्थात् आकाशमें,

(आ अपश्यम्) भली भाँति देखता हूँ। अथवा, (अत्र) इस सुन्दर रूपमें, (इषः=इष गतौ) मेरे सब कर्मोंको, (जिगीषमाणम्) जीतनेकी इच्छा करते हुए [क्योंकि आप ही इस संसारमें सबसे बड़े, उत्कृष्ट हैं और आपके कर्म भी सर्वोत्कृष्ट हैं। अतः इस विराट् रूपके दर्शनके समयमें] आपको मैंने देखा। (यदा) जब, (मर्तः) मनुष्य, (ते) तेरे, (भोगम्) सुन्दर देखने-योग्य इस चतुर्भुज देहको, (अनु आनट्) क्रमसे प्राप्त होता है। (आत् इत्) तब विराट्रूप शरीरके अनन्तर इस सुन्दर रूपको देखता है। वही मनुष्य, (ग्रसिष्ठः) आपके वास्तविक सुन्दर स्वरूपमें ग्रसित होकर, (ओषधीः) आपकी प्रसन्नतारूप औषधिको, (अजीगः) भक्षण कर लेता है अर्थात् आपके सुन्दर रूपके दर्शनसे जागृत हो जाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि विराट् रूपके देखनेसे डरे हुए अर्जुनको भगवान्ने फिर वही सुन्दर मानुषी रूप दिखाया जिससे भक्तका भय दूर हो गया और उसका मन शान्त हो गया। वेदमें भी भक्तने परमात्मासे प्रार्थना की है कि समग्र विराट् रूपको देख लिया, परन्तु चित्त शान्त न हुआ, अब आपके वास्तविक सुन्दर स्वरूपके देखनेसे चित्तको शान्ति प्राप्त हुई है।

श्रीभगवानुवाच—

५२. सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥

श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन ! तूने, (मम) मेरे, (यत्) जिस, (सुदुर्दर्शम्) तेजोमय होनेसे बहुत दुःखसे देखे जानेवाले, (इदं रूपम्) इस विराट् रूपको, (दृष्टवान् असि) देखा है, (देवाः अपि) ब्रह्मादि देवता भी, (नित्यम्) सदा, (अस्य रूपस्य दर्शनकाङ्क्षिणः) इसी रूपको देखनेकी आकांक्षावाले रहते हैं॥ ५२॥

रूपेण वो रूपमभ्यागान्तुथो वो विश्ववेदा विभजतु।
ऋतस्य पथा प्रेत चंद्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं
यतस्व सदस्यैः॥

(यजुर्वेदः ७-४५)

हे जीवात्माओ ! (वः) तुम्हारे लिये अथवा तुम्हारे सामने, (रूपेण) प्रिय सुन्दर रूपसे, (रूपम्) अपने वास्तविक स्वरूपको, (अभि) सामने प्रत्यक्ष ही, (आ आगाम्) आ गया हूँ अर्थात् प्रकट हुआ हूँ। (विश्ववेदाः=विश्वं सर्वं

विद॑तीति विश्ववेदाः) सर्वज्ञ मैं परमात्मा, (वः) तुम भक्तजनोंको, (विभजतु) अपने स्वरूपके दर्शनके लिये यथायोग्य विभाग करता हूँ अर्थात् जो भक्त जिस रूपके दर्शनका अधिकारी होता है, परमात्मा उसे अपना वैसा रूप दिखाता है। (तुथः) सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ [तुम भक्तजन], (ऋतस्य पथा) सत्य मार्गसे अर्थात् भगवत्प्राप्तिके मार्गपर, (प्रेत) चलो। (चन्द्रदक्षिणाः) [चन्द्रमिति हिरण्यनामसु पाठः। निघंटु १-२] स्वर्णदानी या रजतदानी या चन्द्रके प्रकाशके समान दक्षिणा देनेवाले अर्थात् दान देनेसे याचकोंके चित्तको शीतल करनेवाले दानी पुरुष, (स्वः पश्य=पश्यन्ति, लकारव्यत्ययः) स्वर्गसुखको देखते हैं अर्थात् सदैव सुखी[1] रहते हैं। अतः, (सदस्यैः) सदा स्थित होनेयोग्य ज्ञानी पुरुषोंके साथ मिलकर, (अन्तरिक्षम्) शरीरके भीतर निवास करनेवाले परमात्माके सुन्दर स्वरूपके दर्शन करनेका, (यतस्व) प्रयत्न करो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माके विराट् रूपके दर्शनके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं। हे अर्जुन ! उसी स्वरूपको तूने देखा है। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा भक्तकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उसे पहले विराट् रूपमें अपनी सत्ता दिखाते हैं, तदनन्तर उसे अपना वास्तविक स्वरूप दर्शाते हैं, क्योंकि पुण्यात्मा स्वर्गलोकको जाते हैं।

५३. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
५४. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा, (न वेदैः) न केवल वेदोंके अध्ययन मात्रसे, (न तपसा) न ही पञ्चाग्निताप अथवा शीतर्तुमें जलवासादि तपस्याओंसे, (न दानेन) न ही भूदान-कन्यान्नदानादिसे, (च न इज्यया) और न ही श्रौत-स्मार्त यज्ञाद्यनुष्ठानोंसे, (एवंविधः) इस प्रकार विराट् स्वरूपमें, (द्रष्टुं शक्यः) देखनेके लिये योग्य हूँ अर्थात् मैं केवल यज्ञ, तप आदिसे ऐसा नहीं देखा जा सकता, (यथा) जिस प्रकार, (एवंविधं माम्) इस प्रकार विराट् स्वरूपवाले मुझको, (दृष्टवान् असि) तूने देखा है ॥ ५३ ॥

---

१. 'न वा अमुं लोकं जग्मुषे किं च नाकम्।' अस्यार्थः—
न वा अमुं लोकं गतवते किंचनासुखम्। पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति।
(निरुक्तम् २-१४)

(परन्तप !) शत्रुओंको ताप देनेवाले हे अर्जुन ! (अनन्यया तु भक्त्या) विषयान्तरशून्य यानी पराभक्तिसे अर्थात् श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट, भवन, विज्ञान यह सब कुछ ब्रह्म ही है, इस प्रकार सबको और अपनेको ब्रह्मस्वरूपावगाहित करनेवाले विज्ञानसे, (एवंविधः अहम्) ऐसे विराट् रूपवाला मैं, (द्रष्टुं शक्यः) देखनेके लिये योग्य हूँ यानी देखा जा सकता हूँ। (तत्त्वेन) यथार्थ स्वरूपसे, (ज्ञातुम्) यही परमार्थ वस्तु है, इस बातको जाननेके लिये अर्थात् निश्चय करनेके लिये, (द्रष्टुम्) ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, ब्रह्मसे रहित कोई वस्तु नहीं है और मैं भी ब्रह्मांश हूँ, इस बातको देखनेके लिये, और, (प्रवेष्टुम्) विदेह होकर जगत्को ब्रह्ममय जानकर मुझमें प्रवेश होनेके लिये, (शक्यः) योग्य हूँ ।।५४।।

न तमश्नोति कश्चन दिव इव सान्वारभम् ।
सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिव पप्रथे ।।

(ऋग्वेदः १०-६२-९)

हे जीवात्मन् ! (कश्चन) कोई भी मनुष्य केवल वेदाध्ययन मात्रसे अथवा केवल बड़े-बड़े दान देनेसे और केवल श्रौत-स्मार्त प्रोक्त यज्ञानुष्ठानोंसे, (तम्) उस परमात्माको अर्थात् मुझे, (न अश्नोति) नहीं पा सकता, न देख सकता है। (दिव इव सानु आरभम्) जिस प्रकार आकाशकी कन्दराके आरम्भ और अवसानको नहीं पा सकता, वैसे ही केवल दान-तप-वेदाध्ययनादिसे भगवत्तत्त्वको नहीं पा सकता। (सावर्ण्यस्य) सर्वत्र समानतया वर्तमान ['पुरुष एवेदं सर्वम्' सर्वत्र समानतासे व्यापक] परमात्माकी, (दक्षिणया) कृपारूपी दक्षिणासे, (सिन्धुः इव) समुद्रकी भाँति सर्वत्र अपने भक्तिके माहात्म्यसे, (वि पप्रथे) विशेषतासे विस्तृत हो जाता है अर्थात् भक्त परमात्माकी अनन्य भक्तिद्वारा परमात्मामें प्रवेश करके विस्तृत रूप पा लेता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।

(मु. उ. ३-२-३)

यह ब्रह्म केवल प्रवचन मात्रसे अर्थात् बड़े-बड़े व्याख्यानसे या वाद-विवादसे, बुद्धिसे अर्थात् अनुमान द्वारा सोची हुई बातोंसे अथवा बहुत वेदों और शास्त्रोंके सुनने अथवा अध्ययनसे नहीं प्राप्त होता। यह परमात्मा जिस भक्तको स्वयं वर लेता है अर्थात् जिस भक्तकी अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होकर उसका वरण कर लेता

है; उसी भक्तके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि परमात्मा उस भक्तके सम्मुख अपना स्वरूप प्रकट कर देता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा न वेदोंके अध्ययन मात्रसे, न बड़े-बड़े दान करनेसे, न श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठान करनेसे, न बड़े-बड़े पूजापाठादिसे ही प्राप्त होता है। परमात्माका दर्शन अनन्य भक्तिसे होता है। वेद और उपनिषद्में भी कहा गया है कि आकाश और समुद्रके अन्तकी भाँति परमात्माका अन्त वेदाध्ययन और केवल यज्ञादिके करनेसे नहीं प्राप्त होता। जब परमात्मा भक्तकी निष्काम सेवासे प्रसन्न होते हैं, तब उस भक्तको अपना लेते हैं और उसे दर्शन देते हैं।

५५. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः।

(यः) जो मनुष्य, (मत्कर्मकृत्) मेरे निमित्त अर्थात् परमेश्वरार्पण निष्काम कर्म करता है, (मत्परमः) परमात्मा ही जिसके लिए सर्वोत्तम है, (मद्भक्तः) मेरी अर्थात् परमात्माकी भक्ति करता है और उसीका परमभक्त है, (सङ्गवर्जितः) धन, पुत्र, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंके सङ्गसे रहित है अर्थात् निःसङ्ग है, (यः सर्वभूतेषु निर्वैरः) जो मनुष्य सब प्राणियोंमें वैरबुद्धि नहीं रखता, (पाण्डव!) हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! (सः) वह भक्त मनुष्य, (माम् एति) मुझे प्राप्त होता है अर्थात् मेरे स्वरूपका दर्शन कर सकता है॥ ५५॥

य आनयत् परावतः सुनीती [1]तुर्वशं [2]यदुम्।
इन्द्रः स नो युवा सखा॥

(ऋग्वेदः ६-४५-१)

(यः इन्द्रः) जो भक्त्यैश्वर्यसम्पन्न जीवात्मा, (सुनीती=सुनीत्या) शोभन साधननीतिकी रीतिसे, (तुर्वशम्) हिंसक स्वभावको या कामना अर्थात् काम-सङ्गको, (यदुम्) कुमार्गपर ले जानेवाली वृत्तिको या सब भूतोंमें वैरको, (परावतः) दूर फेंक देता है अर्थात् वैर-कुसङ्गादिको अपने पास नहीं आने देता, (सः इन्द्रः) वह भक्त्यैश्वर्यसम्पन्न भक्त मनुष्य, (युवा) परमात्मभक्ति-

---

१. तुर्वशम्—'तुर्वी हिंसायाम्' 'तूरी गतित्वरणहिंसयोः' वा। तुर्वशः कामः।
२. यदुम्—यमेर्दुक्, यम्यते नियम्यते इति यदुः।

में संलग्न होनेसे नित्य तरुण, (नः सखा) मुझ परमात्माका सखा, मित्र अर्थात् समान स्थानमें रहनेवाला हो जाता है। उसे मेरा दर्शन होता है और वही मुक्त होता है।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥

(अथर्ववेदः ३-८-६)

हे भक्तजनो ! (अहम्) मैं परमात्मा, (वः) तुम मत्परम और मद्-भक्तोंकी, (मनांसि) मननशक्तियोंको, (मनसा) अपने मनके साथ, (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ अर्थात् तुम्हारे मन मेरी भक्तिमें लग जावें। हे भक्त-जनो ! तुम, (चित्तेभिः) अपनी चेतनशक्तिके साथ, (मम चित्तम्) विराट् स्वरूपको खड़ा करनेकी चेतना शक्तिको, (आ इत) चारों ओर प्राप्त हो जाओ अर्थात् विश्वको मेरा चेतनरूप समझो और विश्वकी सेवा करना मेरी सेवा, उस विश्वरूपसेवा द्वारा मुक्तिधामको प्राप्त हो जाओगे। अतएव, (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों अर्थात् हार्दिक भावोंको, (मम वशे) अपने वशमें, (कृणोमि) करता हूँ अर्थात् तुम भक्तोंके हार्दिक विचार भी मुझ परमात्मामें लगे रहें, दूसरोंसे वैरताको न प्राप्त हों। (इतरात् बिभेति) भिन्न वस्तुसे प्राणी भय करता है। जब हृदयके विचार विराट् रूपके विचार हो जायेंगे, एकत्व ज्ञानसे भय न रहेगा तब मनुष्य 'मत्कर्मकृत्' हो जायँगे। अतः तुम भक्त-जन, (मम यातम् अनुवर्तमानः) मेरे चले हुए मार्गका अनुसरण करते हुए, (एत) मेरे धामको अर्थात् मुझे प्राप्त होओ।

उपनिषद्में कहा गया है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

(मु. उ. ३-१-३)

जब परमात्माके स्वरूपका द्रष्टा स्वर्णके समान शुद्ध और ज्योतिवर्ण हो संसारके निर्माता, उत्पन्न किये हुए विश्वके स्रष्टा, संसारके कल्याणके लिये वेद-ज्ञानके योनि अर्थात् बीज या ब्रह्मादि देवताओंके उत्पादक परमात्माको ज्ञान-ध्यान द्वारा देखता है, तब ज्ञानी श्रौत-स्मार्त-सकाम-कर्मजनित पुण्यको तथा कुसङ्ग-जनित राग-द्वेषोद्भूत पापोंको दूर करके अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सारे विश्वको ब्रह्मरूप जानता हुआ, सबको सम दष्टिसे देखता हुआ निष्कलङ्क अर्थात् शुद्ध

होकर परम समताको पा लेता है अर्थात् ईश्वरके साथ उसका परम साम्य हो जाता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माके निमित्त काम करनेवाला, परमात्माको ही परमोत्कृष्ट माननेवाला, परमात्माकी भक्ति करनेवाला तथा कुसङ्ग और द्वेषसे रहित मनुष्य भगवद्भक्तिसे परमात्माके चरणोंको प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है । वेद और उपनिषद्में भी यही कहा गया है कि जो मनुष्य हिंसा, कुमार्गगमन, दूसरेके साथ द्वेष रखना, इत्यादि बातोंसे रहित होकर सारे विश्वको ब्रह्मरूप समझकर विश्वकी निष्काम सेवा करते हुए प्रत्येक पदार्थको अपनेसे भिन्न नहीं समझता वह भेदबुद्धि दूर हो जानेसे ईश्वरके चरणोंमें लीन हो जाता है ।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका दशम अध्याय समाप्त ।

द्वादश अध्याय

अर्जुन उवाच—

१. एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

अर्जुन श्रीकृष्णसे प्रश्न करते हुए बोला—हे भगवन् कृष्ण! (ये) जो भक्त, (एवम्) ऐसे पूर्व बताए हुए कर्मोपासनादिमें तत्पर, (सततयुक्ताः) अनन्यभक्तिसे सदा आपमें मन लगाए, (त्वां पर्युपासते) आप परमेश्वरकी सर्व प्रकारकी उपासना करते हैं, (ये च) और जो आपके भक्त, (अव्यक्तम्) चक्षु आदि इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष न होनेवाले अर्थात् इन्द्रियातीत, (अक्षरम्) अविनाशी ब्रह्मकी, (पर्युपासते) उपासना करते हैं, (तेषाम्) उन दोनों उपासकोंमें-से, (के) कौन, (योगवित्तमाः) योगसमाधिके प्रकारके भलीभाँति जाननेवाले हैं अर्थात् 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इस वचनसे ब्रह्मको ज्ञेय माना गया है तथा 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन', 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः', 'महात्मानस्तु मां पार्थ', 'मद्भक्ता यान्ति मामपि' इत्यादि वचनोंसे परमात्माकी उपासना सफल कही गई है। इस प्रकार सगुण और निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके पक्षोंमें विशेष कौन-सा पक्ष है। मुमुक्षुको जिसमें सुकरता प्राप्त हो वह बताइये॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

२. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

अर्जुनका 'सगुणोपासक और निर्गुणोपासक भक्तोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है' ऐसा प्रश्न सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे—हे अर्जुन! (ये) जो मुमुक्षु भक्त, (मयि एव) मुक्तस्वरूप मुझमें या मेरे स्वरूपमें दृष्ट, श्रुत, अनुभूत और मननादि सर्व ब्रह्मस्वरूप हैं, अतः सब वस्तुमें मेरा स्वरूप ग्रहण करनेमें या मेरे ध्यानमें न कि सांसारिक विषयोंके ध्यानमें, (मनः आवेश्य) मनको लगाकर, (नित्ययुक्ताः) मेरे कर्मादिमें सदा लगे हुए, (परया श्रद्धया) परम शुद्ध श्रद्धासे अर्थात् भगवदुपासनासे मुक्ति होगी या नहीं इत्यादि संशयसे रहित होकर, (उपेताः) आस्तिकबुद्धियुक्त होकर, (माम्) विश्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वात्मक

मुझ परमेश्वरकी, (उपासते) उपासना करते हैं, (ते) वही, (मे) मुझसे, (युक्ततमाः मताः) श्रेष्ठ योगी माने गए हैं ॥ २ ॥

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥

(ऋग्वेदः १०-१५१-४)

(वायुगोपाः) प्राणापानादि वायुकी रक्षा करनेवाले अर्थात् प्राणायाममें प्रवीण या वायुरूप ईश्वरसे सुरक्षित, (देवाः) ब्रह्मज्ञानसे प्रकाशमान या ईश्वरभक्तिसे प्रकाशमान, (यजमानाः) सदैव मेरा यजन करते हुए अर्थात् मुझ परमात्मामें नित्य युक्त रहनेवाले, (श्रद्धाम् उपासते) मनमें भगवत्प्राप्ति-रूप सत्याभिलाषा या [श्रत्=सत्यम्, धा=धारण करना] सत्यधारक मुझ परमात्माकी उपासना करते हैं, (ये भक्ताः) मेरी उपासना करनेवाले मुमुक्षुजन, (हृदय्यया) हृदयमें उत्पन्न हुई अर्थात् मानसिक, (आकूत्या) सङ्कल्परूप क्रियासे, (श्रद्धाम्) श्रद्धापूर्वक सत्यस्वरूप ब्रह्मकी, (उपासते) उपासना करते हैं, जिस कारण, (श्रद्धया) सत्यसङ्कल्परूप श्रद्धासे, ([1]वसु विन्दते) ब्रह्म-ज्ञानको या सर्ववासरूप वसु अर्थात् परमात्माको, (विन्दते) प्राप्त होते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि यद्यपि भक्तजन मुझ परमात्मामें सांसारिक वृत्तियोंको छोड़कर एकाग्र मनसे मेरी उपासना करते हैं, किन्तु श्रद्धायुक्त अर्थात् परमात्मभजनमें पूर्ण विश्वास रखते हुए जो मेरा भजन करते हैं वही श्रेष्ठ योगी हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मुमुक्षुजन प्राणायाम-धारणापूर्वक श्रद्धा अर्थात् सत्यधारक सत्यस्वरूप परमात्माकी उपासना मानसिक सत्यसङ्कल्पमयी श्रद्धासे करते हैं वही परमात्माका ज्ञान अर्थात् जीव क्या है, ब्रह्म क्या है, संसार क्या है इत्यादि प्रश्नोंका समाधान प्राप्त करनेके अनन्तर मुक्तिधामको पाते हैं।

३. ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
४. संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

---

१. महाभारतीय विष्णुसहस्रनाम श्लोक २९ में 'वसु' नाम परमात्माका कहा गया है—'महेन्द्रो वसुदो वसुः'।

(ये तु) और जो भक्तजन, (इन्द्रियग्रामम्) वाणी-चक्षु आदि इन्द्रियोंके समूहको अर्थात् मनसहित छहों इन्द्रियोंको, (संनियम्य) भली-भाँति अपने वशमें करके, (सर्वभूतहिते रताः) कीटाणुसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सब जीवोंकी भलाईमें लगे हुए या ब्रह्मलोकसे लेकर सन्तपर्यन्त भूतोंके हितरूप अर्थात् परम-प्रेमास्पद प्रियतम परमात्मामें लगे हुए, (सर्वत्र समबुद्धयः) सब प्राणियोंमें समान बुद्धि रखते हुए, (सर्वत्रगम्) सब वस्तुओंमें व्याप्त, (अचिन्त्यम्) चिन्ताशक्तिसे अप्राप्य, (कूटस्थम्) कम्पनरहित, (अचलम्) स्थिर, (ध्रुवम्) नित्य वर्तमान, (अनिर्देश्यम्) 'ब्रह्म इतना मात्र है, यह है, वह है' इस निर्देशसे रहित, (अव्यक्तम्) इन्द्रियातीत अर्थात् अप्रत्यक्ष, (अक्षरम्) अविनाशिस्वरूप, (ब्रह्म) परमात्माकी, (पर्युपासते) पूर्णतया उपासना करते हैं, (ते) वे मुमुक्षुजन, (माम् एव) मुझ परमात्माको ही, (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त होते हैं ।। ३-४ ।।

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः ।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ।।

(ऋग्वेदः २-२६-३)

(यः) जो मुमुक्षु प्राणी, (श्रद्धामनाः) मनमें परमात्मा और उसकी उपासनाके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ, (देवानां पितरम्) भगवज्ज्ञानज्योतिसे प्रकाशमान योगियों और ज्ञानियोंके रक्षक, (ब्रह्मणस्पतिम्) इस विस्तृत ब्रह्माण्डके स्वामी परमात्माकी, (हविषा) नमस्काररूप हविसे अथवा नमस्कार-रूप आह्वानसे, (आ विवासति) ['विवासतिः परिचरणकर्मा' निघण्टु], भली-भाँति उपासना करता है, (स इत्) वही भक्तजन, (जनेन) उत्पन्न हुए सब प्राणियों या लोकों द्वारा, (वाजम्) अन्नादि पदार्थको, (भरते) धारण करता है, वही, (विशा) प्रजामात्रके साथ, (वाजम्) समत्वभावसे इन्द्रियोंके बलको, (भरते) धारण करता है, वही, (जन्मना) परमात्मभजनके बलको धारण करता है, (स इत्) वह भक्त ही, (नृभिः) इन्द्रियरूपी नेताओंसे, (धना = धनानि अर्थात् विषयान्) सर्वेन्द्रिय-विषयोंको अपने वशमें रखता है, न कि वह इन्द्रियाधीन होता है ।

उपनिषदोंमें कहा गया है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

(तै. उ. २-४)

मनके साथ वाणी ब्रह्मके पास न पहुँचकर लौटकर आ जाती है अर्थात् ब्रह्म वाणी और मनका गोचर नहीं है।

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्।

(यो. शि. ३-१९)

वह ब्रह्म स्थूल, अणु, ह्रस्व, दीर्घ नहीं है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

(कठ उ. १-२-२२)

यह परमात्मा न बड़े-बड़े शब्दजालके कथनसे, न बुद्धिसे और न बहुत प्रकारके श्रवणसे प्राप्त होता है। जिस भक्तपर परमात्माकी कृपादृष्टि होती है वही उसे पाता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

(मु. उ. ३-१-८)

वह परमात्मा न नेत्रेन्द्रियसे प्राप्त होता, न वागिन्द्रियसे, न किसी इन्द्रियसे, न केवल तपसे, न केवल कर्मकाण्डसे ही।

सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष ह्यात्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

(मु. उ. ३-१-५)

ब्रह्म ही सत्य है, इस सत्यभावसे तथा विश्वरूप परमात्माके सेवनमय तपसे, उत्तम ज्ञानसे, नित्य ब्रह्मचर्यसे यह परमात्मा प्राप्त हो सकता है, क्योंकि यह आत्मा शरीरमें शुद्धप्रकाशस्वरूप है, जिसे पुण्य-पापसे रहित योगी लोग ही देखते हैं।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्।

(पै. उ. ३-४)

महत्तत्त्वसे परे आदि-अन्तसे रहित स्थिररूप परमात्मा है।

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति।

(बृ. उ. ३-८-८)

हे गार्गि! जो इन्द्रियादिका गोचर नहीं है, ब्राह्मण उसे स्थूलता-अणुतादिसे रहित अक्षरब्रह्म अर्थात् अविनाशी ब्रह्म कहते हैं।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि परमात्मा अनिर्देश्य, सर्वव्यापक, सूक्ष्म चिन्ताओंसे भी दूर, कम्पनादिदोषरहित, स्थिर, सदा रहनेवाला अक्षरब्रह्म है। सबमें समान बुद्धि रखनेवाले तथा प्राणिमात्रकी भलाई करनेवाले भक्तजन इन्द्रियसमूहको अपने वश करके परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, उपायान्तरसे नहीं पा सकते। वेद और उपनिषदोंमें भी यही कहा गया है कि जो जीवात्मा मनमें समभावना रखता हुआ शुद्ध मनसे अपने भक्तोंके रक्षक परमात्माकी उपासना करता है वही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, क्योंकि परमात्मा वाण्यादि छहों इन्द्रियोंसे परे है, वह केवल तपमात्र या केवल शास्त्रोंको सुननेसे नहीं प्राप्त हो सकता।

५. **क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।**
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

हे अर्जुन! (अव्यक्तासक्तचेतसां तेषाम्) अव्यक्त अर्थात् सब इन्द्रियोंसे न प्राप्त होनेयोग्य, अदृश्यादि गुणवाले तथा अतर्क्य, अचिन्त्य, अप्रमेय, परब्रह्म परमात्मामें मन लगानेवाले, निराकार ब्रह्मका निदिध्यासन करनेवाले उन योगियोंको विषयत्याग, आश्रमधर्मानुसार बर्ताव, यम-नियमादिका अभ्यास, असद्बुद्धिका परित्याग तथा निराकार ब्रह्ममें मनके स्थापन करनेका क्लेश, (अधिकतरः) बहुत अधिक होता है। अतः, (देहवद्भिः) देहधारी योगिजनोंसे, (हि) निश्चय ही, (अव्यक्ता गतिः) अव्यक्तस्वरूप अर्थात् निराकाररूप भगवत्स्वरूपावगति, (दुःखम्) दुःखपूर्वक ही पाई जाती है अर्थात् निराकारोपासनामें अत्यन्त दुःख ही होता है॥ ५॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः॥

(**यजुर्वेदः ४०-८**)

इस मन्त्रमें परमात्माके अव्यक्त अर्थात् निराकार स्वरूपका वर्णन है। (सः पर्यगात्) वह परमात्मा सर्वव्यापक है, (शुक्रम्) वह ब्रह्म प्रकाशमान है। ([1]अकायम्) परमात्माका शरीर सञ्चित कर्माधारपर अर्थात् प्राकृतिक नहीं, अपितु दिव्य है अतः वह निराकार अर्थात् अव्यक्त है। (अव्रणम्) प्राकृतिक

---

१. 'चिञ् चयने' धातुसे 'चायो कः' पाणिनि नियमानुसार 'काय' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'पूर्वसञ्चित कर्मोंके आधारपर बना हुआ देह'।

देहमें व्रण होते हैं क्योंकि विकार प्रकृतिमें होता है न कि पुरुषमें, अतः ब्रह्मका देह व्रणादिसे रहित है। (अस्नाविरम्) नस-नाडियाँ प्राकृतिक शरीरमें होती हैं न कि स्वतःसिद्ध अर्थात् दिव्य देहमें, अतः उसका देह प्राकृतिक नस-नाडियोंसे रहित है। (शुद्धम्) सर्वदा शुद्ध है, कभी मलीन नहीं होता। (अपापविद्धम्) पापसे रहित है। अतः वह परमात्मा, (कविः) क्रान्तदर्शी, (मनीषी) मनका स्वामी, (परिभूः) चारों ओरसे सब पदार्थोंको घेरनेवाला, तथा, (स्वयम्भूः) कारणरहित है।

उपनिषद्का भी कथन है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥

(कठ उ. १-३-१४)

निराकार परमात्माकी उपासना ऐसी कठिन है जैसे छुरेकी तेज धार कठिनतासे पार की जा सकती है। छुरेकी धारपर चलकर पार होना जैसे महा कठिन है वैसे ही ज्ञानी लोग उस निराकारोपासनाके मार्गको कठिन कहते हैं।

इसी बातका वर्णन तैत्तिरीय भृगुवल्ली (१०–५) में भी किया गया है—

स य एवं वित्। अस्माल्लोकात् प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् एतत् साम गायन्नास्ते हा३वु हा३वु हा३वु ॥

जो यह जानता है वह जब इस लोकसे चलता है तो वह इस अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय आत्माको प्राप्त होकर कामनानुसार भोग और रूपवाला होकर इन सारे लोकोंमें घूमता हुआ यह साम गाता रहता है—अहो ! आश्चर्य है, आश्चर्य है, आश्चर्य है !

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि अव्यक्त अर्थात् निराकार स्वरूपका ध्यान करना दुःखमय होता है क्योंकि कई साधनोंके अनन्तर योगी निराकारोपासनामें सफल हो सकता है। अतः निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति दुःखसे ही होती है। वेद और उपनिषदोंमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा निराकार, शुद्ध, सर्वव्यापक, सबके मनका स्वामी और कारणरहित अर्थात् अनादि है, अतः उसकी प्राप्तिके लिये 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय' इन कोशोंको बड़े-बड़े साधनों द्वारा पार करके, आनन्दमय कोशको प्राप्त होकर पुनः निष्कामरूप होकर परमात्माका गान करते हुए विचरनेपर तब साधक निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिका

अधिकारी होता है। इसीलिये ज्ञानी लोग निराकारोपासनाके मार्गको महा कठिन बताते हैं।

६. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
७. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(ये तु) किन्तु जो मुमुक्षुजन, (मयि) मुझ परमेश्वरमें, (सर्वाणि कर्माणि) श्रौत-स्मार्त सब कर्मोंको, (संन्यस्य) समर्पित करके, (मत्पराः) मेरी भक्तिमें लीन या 'विश्वरूप परमात्मा ही अपनेसे भिन्न सुननेयोग्य, दर्शनयोग्य, स्पर्श करनेयोग्य, मननयोग्य और जाननेयोग्य है' ऐसे विचारमें तत्पर, (अनन्येन योगेन) विषयान्तरशून्य योगसमाधि अर्थात् पराभक्तिसे ही, (मां ध्यायन्तः) मुझ परमात्माका ध्यान करते हुए, (उपासते) उपासना करते हैं, (पार्थ!) हे पृथापुत्र अर्जुन! (अहम्) मैं परमात्मा, (मयि) 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' अर्थात् विश्वरूप मुझ परमात्मामें, (आवेशितचेतसाम्) 'सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है' इस भावनामय मनवाले, सत्त्वशुद्धमयी मानसिक वृत्तिवाले उन अपने भक्तोंको, (न चिरात्) शीघ्र ही ज्ञान प्रदान[1] करके, ब्रह्मनिष्ठा सम्पादन कराकर, (तेषाम्) उन भक्तोंका, (मृत्युसंसारसागरात्) जिसके कारण प्राणी इस संसारमें पुनः पुनः मरते हैं ऐसी मृत्यु अर्थात् अज्ञान और सर्वदा सब अनर्थोंके कारण अहंता-ममतारूप संसार-समुद्रसे, (समुद्धर्ता भवामि) सम्यक्तया उद्धार करनेवाला अर्थात् संसारसमुद्रसे पार करनेवाला होता हूँ॥ ६-७॥

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥

(अथर्ववेदः १०-२-२९)

(यः) जो मुमुक्षुजन, (वै) निश्चित रूपसे, (ब्रह्मणः) परमात्माकी, (अमृतेन आवृताम्) आनन्दमयी, (पुरम्) पुरी अर्थात् स्वरूपको, (वेद)

---

१. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गी. १०-१०-११)

जानता है, (तस्मै) उस अपने भक्तको, (ब्रह्म) परमात्मा, (ब्राह्माः च) और परमात्माकी दी हुई ज्ञान-शक्तियाँ, (चक्षुः) भगवत्प्राप्तिकारक ज्ञान-चक्षुको, (प्राणम्) प्राणायामद्वारा ब्रह्मको देखनेकी शक्ति, तथा, (प्रजाम्) पूर्ण उत्पन्न हुई ज्ञानशक्ति, (ददुः) प्रदान करती हैं अर्थात् वह परमात्माका अनन्य भक्त हो जाता है।

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त[1] मनसा चक्षुषा च।
[2]अग्निष्टानग्रे प्र [3]मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया [4]संरराणः॥

(अथर्ववेदः २-३४-३)

(ये) जो मुमुक्षु योगीजन, (अनुदीध्यानाः) अनन्य भक्तिसे परमात्माका ध्यान करते हुए, (बध्यमानम्) अहंता-ममतामय संसारसे जकड़े हुए स्वयंको, (मनसा) मननशक्तिसे या एकाग्र मनसे, तथा, (चक्षुषा) प्रेममय ज्ञानचक्षुसे, (अनु ऐक्षन्त) बार-बार परमात्माका दर्शन करते हैं अर्थात् अनन्यभक्ति द्वारा ज्ञानशक्तिसे[5] देखते हैं, (अग्निः) ज्योतिःस्वरूप परमात्मा, (देवः) अपनी ज्योतिसे आप प्रकाशमान, (विश्वकर्मा) समस्त विश्वका कर्ता, (प्रजया संरराणः) अपनी उत्पन्न की हुई सृष्टिके साथ भली-भाँति रमण करता हुआ, (अग्रे) सबसे पहले, (तान्) उन मुमुक्षु प्राणियोंको, (प्रमुमोक्तु) बार-बार होनेवाले देह-क्लेश और देहबन्धनसे छुड़ा देता है अर्थात् उन्हें मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि जो मुमुक्षुजन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको ब्रह्मार्पणभावसे करते हुए अपनी इन्द्रियोंको सांसारिक विषयोंसे हटाकर अनन्यभक्तिसे परमात्माका भजन करते हैं, उन्हें परमात्मा स्वयं संसारसमुद्रसे निकालकर मुक्ति प्राप्त करा देता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मुमुक्षु प्राणी आनन्दमय सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपको एकाग्र मन-द्वारा ज्ञानचक्षुसे देख लेता है उसे परमात्मा स्वयमेव ज्ञानचक्षु प्रदान करता है जिसके द्वारा वह संसारबन्धनको छोड़कर मुक्त हो जाता है।

---

१. ऐक्षन्त—'ईक्ष दर्शने', छान्दसो लङ।
२. अग्निष्टान्—युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम्' इति षत्वम्।
३. मुमोक्तु—मुञ्चतेः छान्दसः शपः श्लुः।
४. रराणः—रै धातोर्लिटि कानच्।
५. दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (कठउ. १-३-१२)।

८. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
९. अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥

(मयि एव) मुझ परमात्मामें ही, (मनः आधत्स्व) मनको धारण कर, (मयि) मुझ परमात्मामें, (बुद्धिम्) वस्तुतत्त्वका निश्चय करनेवाली विशेषरूप अन्तःकरण-वृत्तिको, (निवेशय) स्थिर कर अर्थात् सब कुछ ब्रह्मरूप है, इस बुद्धिसे मेरा अनुसन्धान कर। (अतः ऊर्ध्वम्) इसके पश्चात् अर्थात् देहसंबन्धका परित्याग करके विशेषान्तःकरणवृत्ति प्राप्त करनेके अनन्तर, (मयि) मुझ परमात्मामें ही, (निवसिष्यसि) निवास करेगा॥ ८॥

(धनञ्जय !) हे अर्जुन ! (अथ) यदि तू, (मयि) विश्वरूप मुझ परमात्मामें, (स्थिरम्) निश्चय रूपसे, (चित्तम्) मनको, (समाधातुम्) भलीभाँति स्थापित करनेके लिये, (न शक्नोषि) नहीं समर्थ होता, (ततः) तो फिर, (अभ्यासयोगेन) विपरीत भावनाको हटाकर पुनः-पुनः अभ्यासयोग अर्थात् प्रतीकोपासनासे योगदर्शनके 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (१-३९) इस सूत्रके अनुसार, (माम् आप्तुम्) मुझ परमात्माको पानेके लिये, (इच्छ) इच्छा कर॥ ९॥

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः।
दैवा होतारः [१]सनिषन् न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः॥

(अथर्ववेदः ५-३-५)

(देवाः) परमात्माकी दी हुई ज्ञानज्योतिसे प्रकाशमान ज्ञानी लोग, (मयि) मुझ विश्वरूप परमात्माके निमित्त, (द्रविणम्) सर्वत्र द्रवणशील मनरूपी धनको या सर्वविषयग्राहक मनके बलको, (आयजन्ताम्) सब प्रकारसे यजन करें अर्थात् मुझे अर्पण करें या मुझमें धारण करें। (आशीः) [आशीराश्रयणात्···आशीराशास्तेः। निरुक्त ६-८] आशासमूह या सर्वाश्रयमात्र वस्तुजात, (मयि) मुझ विश्वरूप परमात्मामें, (अस्तु) अर्पण हो। (देवहूतिः) देवताओंका आह्वान या देवपूजन अर्थात् परमात्मपूजन, (मयि) मन्निमित्त, (अस्तु) होवे अर्थात् निष्कामभावसे मुझे अर्पित करनेके निमित्त देवपूजन किया जावे। (होतारः देवाः) सर्वदा ॐकार द्वारा मुझे आह्वान करनेवाले, मुझसे दिये हुए मेरे ज्ञानसे प्रकाशमान ज्ञानी लोग, (मयि) मुझ

१. सनिषन्—मूर्धन्यषकारः आदिमः सकारश्च निपातितः।

विश्वरूप परमात्मामें, (सनिषन्) प्राप्त हों । या, (होतारः देवाः) अपने विषयोंको बुलानेवाली इन्द्रियाँ मुझ परमात्मामें ही, (अस्तु) अर्पित हों। (नः) हमारा अर्थात् मेरे परमप्रिय ज्ञानीजनोंका, (एतत्) यह अन्तःकरण-चतुष्टय, (मयि) मुझ परमात्मामें, (अस्तु) अर्पित हो । अतः, (तन्वा) मेरे भजनके अभ्यासमें तत्पर शरीरसे सुखी, (अरिष्टाः) पीड़ासे रहित, (सुवीराः) मुझसे दिये हुए ज्ञानबलसे वीर बने हुए अथवा सब ज्ञानियोंसे वरणीय, (स्याम=सन्तु, लकारव्यत्ययः) हों ।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि जो ज्ञानी मुझमें मनको धारण करे और सदसद्विवेचनात्मक बुद्धि भी मुझमें लगावे वह अवश्यमेव परमधाम अर्थात् मुक्तिको पाता है । यदि भक्त अपने मनको मुझमें स्थिर नहीं कर सकता तो अभ्यासयोग अर्थात् जिस वस्तुपर उसका मन स्थिर हो सकता है, उस वस्तु-पर मनको लगानेसे अर्थात् प्रतीकोपासनासे मुझे प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। वेदमें भी परमात्माने यही कहा है कि मुमुक्षु योगीजन अपने सब ओर द्रवण-शील अर्थात् चञ्चल मनको मुझमें लगावे, मेरा ही अवलम्बन करे और देव-पूजनादि सब कर्मोंको मुझे अर्पण करते हुए सब इन्द्रियोंकी वृत्ति अन्तर्मुख अर्थात् मुझ परमात्मामें लीन कर दे । ऐसा करनेपर मुझ परमात्माके प्रभावसे उनका शरीर परमानन्द सुखका उपभोक्ता होता है ।

१०. अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

हे अर्जुन ! यदि तू, (अभ्यासे अपि) मेरे प्रतीक ओङ्कारादिकी उपासनाके अभ्यासमें भी, (असमर्थः असि) अशक्त है, तो फिर, (मत्कर्मपरमः) लौकिक और वैदिक सब कर्म मेरे अर्पण करनेवाला अर्थात् निष्कामकर्मकर्ता, (भव) हो जा, या मेरे लिये पूजन-हवन आदिकी सामग्री, पुष्प-धूप, स्थाननिर्माणादि कर्मोंके करनेमें तत्पर रह, क्योंकि तू, (मदर्थम्) मेरे निमित्त, (कर्माणि कुर्वन्) लौकिक-वैदिक कर्मोंको करता हुआ, (अपि) भी, (सिद्धिम्) मोक्षसिद्धिको, (अवाप्स्यसि) पा लेगा । यदि परमात्मनिमित्तक कर्म भी न करेगा तो परमात्मा-को न पा सकेगा और संसारमें पुनः-पुनः जन्म-मरण प्राप्त करता रहेगा ॥१०॥

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा[१] न एहि ॥
(अथर्ववेदः ४-३२-५)

---

१. बलदावा—'डुदाञ् दाने', 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' इति वनिप् ।

(प्रचेतः !) हे प्रकृष्ट ज्ञानी ! हे परमात्मन् ! (मन्यो !) ['मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः' निरुक्त १०-२९], हे प्रकाशात्मन् ज्योतिःस्वरूप ! (तविषः तव) महान्से महान् तुझ परमात्माके, (क्त्वा) सेवन-पूजनादि कर्मसे, (अभागः) शून्य अर्थात् भगवान्के निमित्त किसी भी कर्ममें भाग न लेता हुआ, तेरा यजन न करता हुआ, (अपपरेतः अस्मि) तुझ परमात्मासे बहुत दूर रहता हूँ। भावार्थ यह है कि जो मनुष्य परमात्मपूजन-सेवनादि कर्म नहीं करता वह ३६ का अङ्क बनकर परमात्मासे विमुख रहता है। (अक्रतुः) तेरे चरणोंकी प्राप्तिके निमित्त प्रतीकोपासना तथा सेवनादि कर्म न करता हुआ मैं, सब शरणोंको छोड़कर, (तं त्वाम्) उस महान्, (जिहीड) आपकी शरण प्राप्त हुआ हूँ। अब, (स्वा तनूः) अपना शरीररूप होकर तू परमात्मा, (नः) हम यजमानोंको, (बलदावा) बल देनेवाला होकर, (एहि) हमारे पास आकर हमारी रक्षा कर।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि यदि मनुष्य ज्ञान द्वारा अव्यक्तस्वरूप परमात्माको उपलब्ध नहीं कर सकता तो अभ्यास (प्रतीकोपासना) द्वारा उसका पूजन करे। यदि अभ्यास करनेमें भी मन स्थिर नहीं होता तो सब लौकिक-वैदिक कर्मोंको सद्भावसे करता रहे, कभी भी उनका परित्याग न करे तो वह अवश्य ही परमपद पा लेता है। वेदमें भी कहा गया है कि जो मनुष्य भगवत्कर्मोंसे दूर भागता है, परमात्मा उससे दूर रहता है। यदि मनुष्य अहंताममताका परित्याग करके भगवत्की शरण प्राप्त कर ले तो वह अवश्य ही भगवान्को पा लेता है।

११. अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

हे अर्जुन ! (अथ) यदि तू, (एतत् अपि कर्तुम्) मन्निमित्तक कर्म करनेके लिये भी, (अशक्तः असि) असमर्थ है अर्थात् मत्समर्पणात्मक कर्म नहीं कर सकता, तो, (यतात्मवान्) मनको अपने वशमें करके, (मद्योगम् आश्रितः) मुझे अर्पित कर्मयोगका आश्रय करता हुआ या इस कर्मसे भगवान् प्रसन्न हों ऐसे योगका आश्रय करता हुआ, (सर्वकर्मफलत्यागम्) सब किये हुए और क्रियमाण कर्मोंके फलका त्याग अर्थात् सब कर्मोंके फलका संन्यास, (कुरु) कर ॥११॥

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन्।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः॥

(अथर्ववेदः ४-३२-६)

हे परमात्मन् ! मैं तेरा दास नित्य-नैमित्तिक कर्म भी नहीं कर सकता अतः, (अयम्) यह मैं दास, (ते अस्मि) तुझ परमात्माके योगको आश्रित हुआ हूँ अर्थात् तेरी शरण प्राप्त हुआ हूँ। (प्रतीचीनः) तेरे पूजनादि कर्मोंसे पश्चिममुख अर्थात् विमुख हुए, (नः) हम दासोंके, (अर्वाक्) सामने, (उप एहि) उपस्थित हो अर्थात् हम दासोंको अपना दर्शन दे। (सहुरे !) हे बलवन् ! या अपने भक्तोंके पापोंको सहन करनेवाले अर्थात् पापोंकी उपेक्षा करनेवाले परमात्मन् ! (विश्वदावन् !) हे संसारभरके पालन-पोषणादि पदार्थोंके दाता ! (मन्यो !) हे प्रकाशस्वरूप ! (वज्रिन् !) हे वज्रवत् संहारकारिन् ! क्रूर जीवोंको दण्ड देनेके लिए वज्रधारी परमात्मन् ! (नः अभि आववृत्स्व) हमारे अर्थात् हम भक्तोंके सम्मुख आकर हमें दर्शन दे। (दस्यून्) तेरे चरणोंमें हमारी आसक्तिके चुरानेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओंको, (हनाव=जहि—पुरुषवचनव्यत्ययौ) नाश कर, (उत) और, (आपेः=आपिम्, विभक्ति-व्यत्ययः) बन्धुरूप हम भक्तोंको, (बोधि) जान अर्थात् हम तेरे बन्धु हैं, तू दीनबन्धु है।

तुलना—भगवद्गीतामें कहा गया है कि कर्मके फलोंमें कामनाको बिल्कुल छोड़कर ईश्वरार्पण बुद्धिसे यथाविधि कर्म करना अत्यन्त मूढ पुरुषकी भी मुक्तिका साधन होता है। वेदमें भी कहा गया है कि यदि मनुष्य सब नित्य-नैमित्तिक कर्म भगवान्के निमित्त करता हुआ उसकी शरणमें चला जाता है तो परमात्मा उसे अपना लेता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।

१२. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

हे अर्जुन ! (अभ्यासात्) प्रतीकोपासनाके अभ्यास मात्रसे या भगवत्कथा या नाममात्रके कीर्तनाभ्याससे, (ज्ञानम्) श्रवण, मनन, यम-नियमादि-संभावित श्रुति-स्मृतिजन्य ब्रह्मका विश्वरूप जतानेवाला ज्ञान, (हि) निश्चयसे, (श्रेयः) श्रेष्ठ है। (ज्ञानात्) ब्रह्म ही सर्वत्र व्यापक है, केवल इस ज्ञानमात्रसे, (ध्यानम्) प्रतिबन्ध-निवृत्तिका कारण भगवत्स्वरूपका ध्यान, (विशिष्यते) जन्मादि-प्राप्तिका निवर्तक होनेसे विशेष श्रेष्ठ कहा गया है। (ध्यानात्) भगवत्स्वरूपके ध्यानसे, (कर्मफलत्यागः) लौकिक-वैदिक कर्मोंके फलका त्याग मोक्षसाधनके लिए श्रेष्ठ है, (त्यागात्) कर्मफलके त्यागसे ही अर्थात् निष्काम कर्म करनेके, (अनन्तरम्) पश्चात्, (शान्तिः) शान्ति अर्थात् मोक्षप्राप्ति होती है॥ १२॥

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः ।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद्यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ।।

(अथर्ववेदः ४-११-३)

(इन्द्रः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा, (मनुष्येषु) मुमुक्षु योगी पुरुषोंके, (अन्तः) हृदयमें, (जातः) ज्ञानरूपसे प्रकट होता है अतः प्रतीकोपासना ही, सदसद्विवेकात्मक ज्ञान-मुक्ति-साधनके लिए श्रेष्ठ है । (तप्तः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा प्रकाशित हुआ, (घर्मः) सूर्य व तेजस्वी हुआ, (शोशुचानः) देदीप्यमान, (चरति) विचरता है। ऐसे प्रकाशमान परमात्माका ध्यान करनेवाला मुमुक्षु जानता है कि परमात्माके केवल ज्ञानमात्रसे तेजस्वी स्वरूपका ध्यान ही श्रेष्ठ है । जो मुमुक्षु पुरुष, (अनडुहः) परमात्माके, (वि जानन्) माहात्म्यको जानता हुआ, (न अश्नीयात्) कर्मफलको नहीं चाहता अर्थात् न प्राप्त करता है न भोगता है, (सः) वही मुमुक्षु पुरुष, (सुप्रजाः सन्) उत्तम पुत्र-पौत्रादिसे युक्त अर्थात् मोह-बन्धन-विहीन सन्तानवाला होकर, (उदारे) देह-त्यागानन्तर, (उत्) इस शरीरसे निकलकर, (न सर्षत्) पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता, अपितु मुक्त हो जाता है ।

येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।

(अथर्ववेदः ४-११-६)

(येन) जिस फलत्यागरूप कर्मयोगसे, (देवाः शरीरं हित्वा) ज्ञानी पुरुष इस प्राकृतिक शरीरको छोड़कर, (अमृतस्य नाभिं स्वः) अमृतके केन्द्र-रूप मुक्तिधामको, (आरुरुहुः) प्राप्त होते हैं ।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि सदसद्विवेकात्मक ज्ञानसे ध्यान अर्थात् भगवत्स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे सर्वकर्मफलत्याग अर्थात् संन्यास श्रेष्ठ है। कर्मफलके त्यागसे ही जन्म-मरणसे मुक्ति प्राप्त होती है। वेदमें भी कहा गया है कि मुमुक्षु पुरुषके मनमें परमात्मा पहले सदसद्विवेकात्मक ज्ञान उत्पन्न करता है फिर उसे ज्योतिःस्वरूपका दर्शन कराकर अपने स्वरूपध्यानमें लगाता है । तब मुमुक्षु पुरुष कर्मफलका त्याग करके नित्य शान्तिको पाता है ।

१३. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।।

१४. सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ।।

(सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा) सब जीवोंके साथ मन, वचन, शरीर और कर्मसे द्वेष न करनेवाला, (मैत्रः) सब प्राणियोंमें मित्रभावसे रहनेवाला, (करुणः एव च) सब जीवोंपर करुणा रखनेवाला, (निर्ममः) जैसे दूसरेकी देहमें आस्था नहीं रखता ऐसे अपनी देहमें भी ममता भावसे रहित, (निरहङ्कारः) देहमें अहंभावसे शून्य अर्थात् आत्मभावमें स्थित होनेवाला, (समदुःखसुखः) सब अवस्थाओंमें सुख-दुःखको समान समझनेवाला अर्थात् दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी न होनेवाला, (क्षमी) शीतोष्णको सहन करनेवाला, (सततं सन्तुष्टः) सदा सन्तुष्ट रहनेवाला, (यतात्मा) मन तथा देहको वशमें रखनेवाला या देह और मनमें स्थित सब वासनाओंको वशमें रखवेवाला अर्थात् निष्कामी, (दृढ़-निश्चयः) स्थिर निश्चयवाला, (योगी) ब्रह्मानन्दसे युक्त, (यः मद्भक्तः) जो मेरा भक्त, (मयि अर्पितमनोबुद्धिः) अहंवृत्ति बुद्धिको तथा इदंवृत्ति मनको मुझ परमात्मामें अर्पित कर देता है, (सः) वही भक्त, (मे प्रियः) मेरा प्रिय है ॥ १३-१४ ॥

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥

(ऋग्वेदः १०-७१-१०)

(सखायः) सब जीवोंमें द्वेष, मित्रता, करुणादिको समानभावसे वर्तते हुए, (सभासाहेन) भासादि अर्थात् उष्ण-शीतत्वके सहनशील, (सख्या) समान वर्तावसे, (यशसा आगतेन) ज्ञानमयी हुई अर्थात् प्राप्त हुई कीर्तिसे, (सर्वे) सुख-दुःखादिमें समानभावसे वर्तनेवाले सब मुमुक्षुजन, (नन्दन्ति) सन्तुष्ट अर्थात् प्रसन्न होते हैं । (किल्बिषस्पृत्) ज्ञानयज्ञोंमें ज्ञानियोंके कथन अर्थात् उपदेशको न सुननेसे उत्पन्न हुए पापोंको न छूनेवाला अर्थात् अहङ्कार-ममकारादि पापोंसे रहित, (पितुषणिः) [पितु इत्यन्ननाम दक्षिणा वा] सबको अन्न वा दक्षिणा देनेवाले, (हि) निश्चय ही, (एषाम्) इन अन्नदाता वा दक्षिणादाता भक्तोंके, (हितः) हितकर्ता, (वाजिनाय) इन्द्रियदमनके लिए अर्थात् इन्द्रियोंको वश करनेके लिए, (अरम्=अलं भवति) समर्थ होता है ।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

इस मुमुक्षु प्राणीके हृदयमें स्थित सब कामनाएँ जब छूट जाती हैं तब मनुष्य

अमर अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे रहित होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् संसारमें कामनाएँ ही बन्धन हैं। कामनारहित होनेपर ही सुख होता है ।

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ।
(मु. उ. ३-२-१)

जो निष्काम भावसे उस आत्मज्ञ पुरुषकी उपासना करते हैं वे बुद्धिमान् लोग शरीरके बीजभूत इस वीर्यका अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् इसके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि सब जीवोंमें समान दृष्टिवाला, द्वेषसे रहित, दूसरों पर दया, समान मित्रताका भाव, और सदा ब्रह्मानन्दमें सन्तोष करनेवाला, देहेन्द्रिय और मनको वश रखते हुए विदेह कैवल्यको प्राप्त करनेकी इच्छावाला, समत्व धर्मको पालते हुए ब्रह्मनिष्ठामें रहनेवाला ही मेरा प्रिय भक्त है। वेद और उपनिषदोंमें भी यही कहा गया है कि जो मुमुक्षु प्राणी सबका सखा, मित्रता-करुणादिसे संपन्न यशवाला तथा सब प्रकारकी सांसारिक कामनाओंसे रहित हो जाता है वही ब्रह्मानन्दके रसास्वादको ग्रहण करता है, वही मेरा प्रिय भक्त है।

१५. **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।**
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

(लोकः) संसारी जीव, (यस्मात्) जिस ब्रह्मज्ञानीके आनेको सुनकर, (न उद्विजते) नहीं घबराते अर्थात् जिसके दर्शन या मिलनेसे कोई विक्षिप्त नहीं होता, और, (यः) जो ब्रह्मज्ञानी, (लोकात्) उपद्रवकारी चोर, सर्प, सिंह, व्याघ्रादिसे, (न उद्विजते) नहीं घबराता, (यः) जो मुमुक्षु योगी, (हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः) इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें प्रसन्नता, रोगादि उपद्रव आनेपर सहनशक्तिके अभाव तथा चोर-सर्पादि क्रूर जन्तुओंके देखनेसे प्राण जानेके भयादि उद्वेगोंसे मुक्त है, (स च मे प्रियः) वही मेरा प्रिय भक्त है ॥ १५ ॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥

(ऋग्वेदः १-१५४-५)

(देवयवः) मुझसे कोई न डरे, मैं किसी चोर-सर्पादिको देखकर विक्षिप्त न होऊँ, ऐसी इच्छा करते हुए योगीजन, या देव अर्थात् ज्योतिःस्वरूप परमात्मा-

को प्राप्त होनेकी इच्छा करते हुए, (नरः) ज्ञानी लोग, (यत्र) जिस अवस्थामें, (मदन्ति) ब्रह्मानन्द रससे तृप्त हो जाते हैं, (अस्य) इस मुमुक्षु योगीके, (तत् प्रियं पाथः) उस प्रिय मार्गको, (अभि अश्याम) हम संसा ी जीव भी प्राप्त हो जावें, इस भावसे ज्ञानीजनसे नहीं घबराते प्रत्युत ऐसी इच्छावाले लोग उन ज्ञानयोगियोंका सत्कार करते हैं। (उरुक्रमस्य विष्णोः) महान् पराक्रमवाले सर्वव्यापक परमात्माके, (परमे पदे) अत्युत्तम श्रेष्ठपद अर्थात् मुक्तिधाममें, (मध्वः उत्सः) ब्रह्मानन्द मधुररसका स्रोत रहता है अर्थात् जिस स्थानमें भूख-प्यास, तृष्णा, जरा, मृत्यु आदिका भय नहीं रहता। (स हि) जो योगी हर्ष-शोकामर्षादिसे रहित है, निश्चय ही वही भक्त, (इत्था) इस प्रकार, (बन्धुः) परमात्माका बन्धु अर्थात् प्रिय भक्त है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जिस पुरुषको देखकर संसारी जीवोंका मन विक्षिप्त नहीं होता और जो दूसरोंको देखकर विक्षिप्त नहीं होता, हर्ष-शोकादिमें समरस रहता है, वही परमात्माका प्रिय भक्त है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मुमुक्षु लोग परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, दूसरे लोग भी उसके व्यवहारको देखकर प्रसन्न होते हैं और यही चाहते हैं कि हम भी ऐसी पदवीको पावें। जो ज्ञानी भगवान्के चरणकमलोंमें बैठकर ब्रह्मानन्दके मधुररसका आस्वाद लेते हैं, वही परमात्माके परमप्रिय भक्त हैं।

१६. अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(यः अनपेक्षः) जो मुमुक्षु पुरुष दृष्ट अथवा श्रुत सब वस्तुओं तथा जीवनादिमें अपेक्षासे रहित अर्थात् निष्काम जीवनवाला, (शुचिः) [कर्मसु असङ्गः शौचम्] लौकिक-वैदिक कर्मोंके फलमें सङ्गरहित, (दक्षः) श्रुति-स्मृतीतिहास-धर्मशास्त्रादिके अध्ययन-अध्यापन, उनके अर्थोंको यथासङ्गति लगाने और शास्त्रानुसार कर्म करने-करानेमें निपुण, (उदासीनः) युक्तायुक्त प्रवृत्तियोंसे तटस्थ, (सर्वारम्भपरित्यागी) सब कर्मोंके फलका त्याग करनेवाला, अतएव, (गतव्यथः) आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक पीड़ाओंसे रहित है, (सः मद्भक्तः) वह मेरा भक्त, (मे प्रियः) मुझे प्रिय है॥ १६॥

प्रियास इत्ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः।
नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्॥

(ऋग्वेदः ७-१९-८)

(मघवन् !) हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन् ! (ते अभिष्टौ इत्) तेरी ही इच्छाके अनुसार, (नरः) हम मुमुक्षु मनुष्य, (सखायः) आकांक्षा-अनाकांक्षा-शत्रुमित्र-शीतोष्णजन्य सुख-दुःखादिमें समान रूपसे रहते हुए, (प्रियासः) सब जीवोंके प्रिय अतएव तेरे भी प्रियतम बने हुए, (शरणे) तेरे चरणोंके, (मदेम) ब्रह्मानन्दरसमें लीन होकर प्रसन्न रहें। हे परमात्मन् ! तू, (अतिथिग्वाय शंस्यम्) अतिथिमात्र तक सत्कार करनेवाले पुरुषके लिये भी प्रशंसनीय, (तुर्वशम्) काम-क्रोधादि हिंस्र शत्रुओंको वशमें करनेवाले, तथा, (याद्वम्) तेरी प्राप्तिमें यत्न करनेवाले अपने प्रिय भक्तको पार करते हुए, (शिशीमहि) स्वकर्तव्य-पालनके लिये तीक्ष्ण कर।

तुलना—गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि कोई इच्छा न रखता हुआ, मन-वाणी-शरीरकी शुद्धि रखनेवाला, शास्त्रविज्ञानमें निपुण, प्रिय-अप्रिय वस्तुमें उदासीन तथा किसी प्रकारकी पीड़ाका अनुभव न करनेवाला मुमुक्षु पुरुष मुझे प्रिय है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो पुरुष परस्पर प्रेम करते हैं, किसीको द्वेषी नहीं समझते, सबके साथ समानतासे बर्ताव करते हैं, परमात्माकी शरण प्राप्त होते हैं और सर्वदा यही प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मा ! हमें सन्मार्गमें चलाकर अपनी शरणमें ले ले वही भगवान्‌को प्रिय हैं।

१७. यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥

(यः) जो मुमुक्षु पुरुष इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर, (न हृष्यति) प्रसन्न नहीं होता, और, (न द्वेष्टि) अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर उससे द्वेष नहीं करता अर्थात् उसे बुरा नहीं समझता और उससे भय नहीं खाता, (न शोचति) अपनी धीरतासे अश्रुमोक्ष और विलाप नहीं करता, (न काङ्क्षति) किसी वस्तुकी आकांक्षा नहीं रखता, और, (शुभाशुभपरित्यागी) पाप-पुण्य दोनोंका त्याग करते हुए, (यः भक्तिमान्) जो भगवद्भक्ति करता है, (स मे प्रियः) वही मेरा प्रिय भक्त है॥ १७॥

प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः।
प्रियाः स्वग्नयो वयम्॥

(ऋग्वेदः १-२६-७)

(विश्पतिः) प्रजापालक, प्रजारक्षक, प्रजास्वामी, (होता) सब प्राणियोंके कर्मोंके फलका दाता, (मन्द्रः) सदा प्रसन्न, (वरेण्यः) सबसे वरण करनेयोग्य परमात्मा, (नः) हर्ष-शोक, सुख-दुःख, राग-द्वेष, हानि-लाभादि द्वन्द्वोंसे

रहित हम भक्तोंका, (प्रियः) प्रिय हो। (स्वग्नयः वयम्) सुन्दर एवं शुभ ज्ञानाग्नियुक्त हम मुमुक्षु प्राणी, (प्रियाः) भगवान्‌को प्रिय हों।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शोक, मोह, द्वेष, निष्कामता, सबके प्रति समान दृष्टिवाला जो पुरुष परमात्माकी भक्ति करता है वही परमात्माका प्रिय भक्त होता है। वेदमें भी कहा गया है कि हम भक्तोंको प्रजारक्षक, विश्वम्भर, सबका पालक एवं रक्षक परमात्मा प्रिय हो। अपने शुभ कर्मोंसे हम भी परमात्माके प्रिय हो जावें।

१८. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
१९. तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥

(शत्रौ) जो मुमुक्षु देहके अपकारी शत्रुमें, (मित्रे) देहके हितकर्ता मित्रमें, (समः) समान रहता है, (तथा च) और वैसे ही, (मानापमानयोः) देहके मान करनेवाले अर्थात् पूजकमें, और देहके अपमानकर्ता अर्थात् निन्दकमें भी जो, (समः) समान रूपसे वर्तता है, और, (शीतोष्णसुख-दुःखेषु) शीत वायुसे ग्रीष्म ऋतुमें सुख, शीतऋतुमें शीतवायुजन्य दुःख, ग्रीष्मऋतुमें उष्णवायुस्पर्शजन्य दुःख और शीतऋतुमें उष्णवायुस्पर्शजन्य सुखमें, (समः) समानभावसे रहता है, (तुल्यनिन्दास्तुतिः) निन्दा अथवा स्तुतिमें हर्ष-शोकसे रहित होकर समान-भावसे रहता है, (येनकेनचित् सन्तुष्टः) प्रारब्धयोगसे प्राप्त हुई जिस किसी वस्तुसे सन्तोषी बना रहता है, (सङ्गविवर्जितः) अहङ्काराध्यास अर्थात् यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस सङ्गसे रहित है, (मौनी) वाणीको अपने वशमें रखता है, ब्रह्मज्ञानी होनेपर भी 'मैं ब्रह्मको जानता हूँ' इस विषयमें निरभिमान होनेसे जो मुमुक्षु मौन रखता है ['विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी' मु. उ. ३-१-४, ब्रह्मको जानकर विद्वान् अतिवादी नहीं होता], (अनिकेतः) नियतनिवाससे रहित, (स्थिरमतिः) निश्चलबुद्धि अर्थात् दृढनिश्चयवाला, (भक्तिमान् नरः) ऐसा भक्त मनुष्य, (मे प्रियः) मुझे प्रिय है॥ १८-१९॥

यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामं छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत।
आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः॥

(अथर्ववेदः २०-६७-४)

(यज्ञैः संमिश्लाः=संमिश्राः) देव-परमात्मपूजा, सत्सङ्गति, स्वाध्याय, ज्ञानयज्ञोंसे संयुक्त या शत्रु-मित्र, मानापमान, रागद्वेषादिसे रहित होकर समदृष्टि-

रूपी यज्ञोंसे संयुक्त, (पृषतीभिः ऋष्टिभिः) सबको समक्षरूपसे प्रकाशमान होनेवाली शीतोष्ण-सुखदुःख-सहनकारी शक्तियोंसे, (यामन्=यामनि) प्राप्त परमात्मज्ञानके प्रवाहमें स्थित हुए, (शुभ्रासः) पापोंसे रहित होनेसे शुक्लस्वरूप सत्त्वगुण धारण किये हुए या समभावसे शोभायमान, (उत) और, (अञ्जिषु प्रियाः) परमात्मज्ञानके प्रकट करनेमें प्रिय अर्थात् प्रेम रखते हुए अथवा परमात्मस्तुतिमय भूषणोंमें प्रेम रखनेवाले, (भरतस्य सूनवः) जगत्का पालन-पोषण करनेवाले परमात्माके पुत्र अर्थात् परमप्रिय भक्त लोग, (बर्हिः आसद्य) भगवद्भजन करनेके लिए कुशाके आसनपर पद्मासन लगाकर बैठे हुए, (दिवः) ज्योतिःस्वरूप परमात्माके, (नरः) प्रिय जन, (पोत्रात्) पवित्रकारक परमात्मासे, (सोमम्) परमात्मभक्तिरूप सुधारसको, (आ पिबत) सब प्रकारसे पान करते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञानरस द्वारा परमात्माके प्रिय भक्त होते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मुमुक्षु पुरुष शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, मानापमान, शीतोष्णमें समान वर्तता हुआ, स्तुति और निन्दामें हर्ष-शोकसे रहित और पर्याप्त-अपर्याप्त भोजनादिमें सन्तुष्ट रहता है वही ईश्वरका प्रिय-भक्त है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मुमुक्षु प्राणी परमात्मपूजन-सत्सङ्गत्यादि यज्ञोंसे संयुक्त और यथार्थ ज्ञान-शक्ति या परमात्मभक्तिके प्रवाह परमात्मज्ञानमें प्रेम रखते हुए जगत्-पोषक परमात्माका भजन करते हैं वही परमात्माके प्रिय हैं।

२०. ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।

(ये तु) जो परमात्मभक्त मुमुक्षु जन, (मत्परमाः) मुझ परमेश्वरको ही श्रेष्ठ और मुक्तिदाता समझते हुए परमात्मध्यानमें मग्न, और, (श्रद्दधानाः) [श्रत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. उ. २-१-१)] सत्यस्वरूपमें श्रद्धा रखते हुए तथा सत्यस्वरूप परमात्माका आश्रय लिए हुए, (धर्म्यामृतम्) धर्मानुकूल प्रतिपादित अमृतस्वरूप, (यथोक्तम्) यथार्थ स्वरूपमें मुझसे प्रतिपादन किये हुए, (इदम्) इस ज्ञानको, (पर्युपासते) नित्य सेवन करते हैं, (ते भक्ताः) मेरी भावनामें स्थित वे भक्त, (मे अतीव प्रियाः) मेरे बहुत ही प्रिय हैं॥ २०॥

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥

(अथर्ववेदः २-९-२)

पूर्व-प्रतिपादित सिद्धिको परमात्मा कहते हैं। (अयम्) धर्मवाले अमृत-मय उपदेशको सेवन करता हुआ यह मुमुक्षु जीवात्मा, (आगात्) लौकिक बन्धनसे निर्मुक्त होकर मेरे प्रियत्वको प्राप्त होता है, तथा, (उदगात्) सर्वदा सर्वत्र सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित होकर ऊपर उठ जाता है अर्थात् मोक्षाधिकार-को प्राप्त कर लेता है। (अयम्) यही परमात्माका भक्त, (जीवानाम्) संसारके जीवित प्राणियोंके, (व्रातम्) समूहको अर्थात् प्राणिमात्रको, (अगात्) प्राप्त होता है, शत्रु-मित्रको समभावसे देखता हुआ न किसीके साथ विशेष प्रेम करता है, न किसीसे भय खाता है अर्थात् सब जीवोंके साथ पुष्कर-पलाशवत् निर्लेप व्यवहार करता है। (अयम्) यह परमात्मभक्त, (पुत्राणां पिता अभूत्) पुत्रोंका पिता, रक्षक और पालक होता है या पुन्नामक नरकसे रक्षा करनेवाले विचारोंका पालक अर्थात् रक्षक होता है, (च नृणाम्) और सांसारिक मनुष्योंमें, (अयम्) यह भक्त, (भगवत्तमः) श्रेष्ठ भक्त अर्थात् परमात्माका परमप्रिय भक्त होता है।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि जो मुमुक्षु पुरुष अमृतवत् रसीले धार्मिक उपदेशका सम्यक्तया सेवन करते हुए परमात्माको ही परमप्रिय समझ-कर परमात्मभक्तिमें निमग्न रहते हैं वही मेरे परमप्रिय भक्त हैं। वेदमें भी कहा गया है कि जो मुमुक्षु प्राणी लौकिक बन्धनसे निर्मुक्त होकर परमात्मभजन करते हैं, परमात्माके चरणोंमें पहुँचना अपना अभ्युदय समझते हैं और नारकीय विचारोंसे बचे रहते हैं वही भगवान्के प्रिय हैं।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका एकादश अध्य.य समाप्त।

त्रयोदश अध्याय

अर्जुन उवाच—

[क्षेपक] प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥

श्रीभगवानुवाच—

१. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

अर्जुनने कहा—(केशव !) हे श्रीकृष्ण ! (प्रकृतिम्) परमात्मशक्ति, (पुरुषम्) देहमें व्यापक रहनेवाला आत्मा, (क्षेत्रम्) देह, (क्षेत्रज्ञम्) देहका वास्तविक तत्त्व जाननेवाला, (ज्ञानम्) सदसद्विवेचनात्मक ज्ञान, और, (ज्ञेयम्) संसार में जाननेयोग्य तत्त्व, (एतत् वेदितुम् इच्छामि) इन सब वातोंको जानने-की इच्छा करता हूँ।

इस क्षेपक श्लोकका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण वोले—

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (इदं शरीर क्षेत्रम्) यह क्षीण होनेवाला देह क्षेत्र कहा जाता है, (यः एतत् वेत्ति) जो जीवात्मा वास्तविक स्वरूपसे इसको जानता है, (तद्विदः) वास्तविक रूपसे देहके स्वरूपको जानने-वाले, (तम्) उसको, (क्षेत्रज्ञः) देहज्ञाता अर्थात् आत्मा, (इति आहुः) ऐसा कहते हैं॥ १॥

अक्षेत्रवत् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्॥

(ऋग्वेदः १०-३२-७)

(अक्षेत्रवित्) ['क्षि निवासगत्योः', क्षीयते गम्यते अनेनेति] जिसके द्वारा गति होती रहती है, या जिसमें आत्मा निवास करता है या जिसमें आत्मा निवास करता है या क्षितेः=संसारात्मक अनर्थसे शमादिसम्पन्न आत्माकी रक्षा करता है या सदा दीपशिखावत् स्वयं ही क्षीण होता रहता है या जैसे खेत फलादिको उत्पन्न करता है वैसे जो सुख-दुःखादि फलोंको उत्पन्न करता है, ऐसे क्षेत्र अर्थात् देहको जो जानता है उसे क्षेत्रवित् कहते हैं। जो देहके वास्त-

विक स्वरूपको नहीं जानता वह अक्षेत्रवित् अर्थात् देहके वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी मनुष्य, (क्षेत्रविदम्) देहके वास्तविक स्वरूपके जानने-वाले ज्ञानी पुरुषसे, (हि अप्राट्) निश्चयपूर्वक पूछता है। (सः) वह अज्ञानी पुरुष, (क्षेत्रविदा) क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मतत्त्व के ज्ञातासे, (अनुशिष्टः) देह क्षेत्र है और उसमें रहनेवाला आत्मा क्षेत्रज्ञ है, ऐसी शिक्षाको प्राप्त करके, (प्रैति) स्वाभिलषित पद अर्थात् आत्मज्ञानको प्राप्त कर लेता है। (अनुशासनस्य) क्षेत्र नाशवान् है और क्षेत्रज्ञ आत्मा अविनश्वर है, इस उपदेशका, (वै एतत्) निश्चयसे यहाँ कथन, (भद्रम्) कल्याणरूप, (उत) और, (अञ्जसीनाम्) इसके अनुसार जीव सुपथपर चलनेवाले प्राणियोंके, (स्रुतिम्) मार्गको, (विन्दति) पाता है। या 'अञ्जसीनाम्' में द्वितीया विभक्तिके व्यत्ययसे यह अर्थ होगा कि क्षेत्रज्ञ पुरुष ऋजु अर्थात् अकुटिल, (स्रुतिम्) मार्गको, (विन्दति) पा लेता है।

तुलना—भगवद्गीतामें क्षेत्रको देह और देहके वास्तविक स्वरूपके ज्ञाताको आत्मा कहा गया है। वेदमें भी यही बताया गया है कि क्षेत्र देह है, क्षेत्रज्ञ आत्मा है, क्षेत्र अर्थात् देहके वास्तविक रूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष क्षेत्रज्ञसे, आत्मतत्त्वज्ञानीसे प्रश्न करता है कि क्षेत्र क्या है और क्षेत्रज्ञ कौन है ? इसपर तत्त्वज्ञानी उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपको बताता है जिससे अज्ञानीके लिये ज्ञानका मार्ग खुल जाता है।

२. क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(भारत !) हे ज्ञानप्रकाशमें रति रखनेवाले अर्जुन ! (सर्वक्षेत्रेषु) ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त समग्र देहोंमें, (क्षेत्रज्ञम् अपि) क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा भी, (मां विद्धि) मुझे जान, क्योंकि सब देहोंमें परमात्माका प्रकाश विद्यमान है। (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः) देह और आत्माका, (यत् ज्ञानम्) जो ज्ञान है, (तत् मम मतम्) वही मेरा अभिमत है ॥ २ ॥

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥

(ऋग्वेदः १०-१३५-१)

(यस्मिन्) जिस, (सुपलाशे) सुख-दुःख, राग-द्वेष, हानि-लाभादिमय पत्तोंवाले, (वृक्षे) नाश होनेवाले शरीररूपी पिण्डमें वास करता हुआ, (यमः) शरीरनियन्ता आत्मा, (देवैः) अन्तःकरणादि एकादश इन्द्रियों द्वारा, (सं पिबते)

कर्मफलका उपभोग करता है, (पिता) सर्वोत्पादक होनेसे और वेदज्ञानके प्रदानसे सबका पालक, (विश्पतिः) प्रजापति परमात्मा, (अत्र) इस क्षेत्र अर्थात् शरीरमें स्थित, (नः पुराणान्) हम नित्य आत्माओंको, (अनुवेनति) प्रकाशित करता है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

(ऋग्वेदः १-१६४-२०)

(सुपर्णा) सुन्दर पंख या गतिवाले, (सयुजा) समान योगवाले या युग्म, (द्वा सखाया) दो सखा, मित्ररूप पक्षी, (समानं वृक्षम्) एक ही वृक्षको, (परिषस्वजाते) सब ओरसे आश्रय कर बैठे हैं ।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि सब देहोंमें जो आत्मा प्रकाशित हो रहा है या चेतनसत्ता जाग्रत हो रही है वह मैं ही आत्मा हूँ । देह तथा आत्माका ज्ञान ही अभीष्ट है । वेदमें भी कहा गया है कि सुख-दुःखादि पत्तोंवाले नाशवान् शरीरमें यह आत्मा ही भौतिक इन्द्रियों द्वारा सुख-दुःखादिका अनुभव करता है । इसी देहमें स्थित आत्माओंको परमात्मा अपनी सत्तासे प्रकाशित करता है ।

३. तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥

४. ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

(तत् क्षेत्रम्) वह शरीर, (यत् च) जो है, (यादृक्) जिस स्वरूपवाला है, (यत् विकारि) जिन अपने परिणामोंसे विकृत होता है, (यत् च यतः) और जो जिस कारणसे कार्य होता है, (च सः) और वह क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा, (यः) जिस स्वरूपवाला, (यत्प्रभावः) जिस स्वभाववाला है, (तत्) उस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपको, (समासेन मे शृणु) संक्षिप्त रूपसे मुझसे सुन ॥३॥

(ऋषिभिः) तत्त्ववेत्ता ऋषियोंने, (विविधैः छन्दोभिः) नाना प्रकारके ऋग्यजुःसामादि मन्त्रोसे, (पृथक्) भिन्न-भिन्न, (च) और, (हेतुमद्भिः) अर्थ-साधक युक्तिवाले, (विनिश्चितैः) विशेष करके निश्चित अर्थवाले, (ब्रह्मसूत्रपदैः) वैदिक सूत्ररूप मन्त्रोंके पदोंसे या वेदान्तसूत्र अर्थात् उत्तरमीमांसाके पदों द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप, (गीतम्) वर्णन किया है ॥ ४ ॥

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते ।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥

(ऋग्वेदः १०-११४-३)

(चतुष्कपर्दा) ऋग्यजुःसामाथर्व चार वेदमयी, (युवतिः) तरुणी अर्थात् नित्य ही एक स्वरूपवाली, (सुपेशा) सुन्दर अलङ्कारोंसे प्रकाशमान, (घृत-प्रतीका) दीप्यमान प्रतीक अर्थात् वर्णोंवाली वेदवाणी, (वयुनानि वस्ते) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानको पहुँची हुई है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान और ज्ञेयके ज्ञानवाली है। (तस्याम्) उस वेदवाणीमें, (वृषणा) अपने-अपने महत्त्व-की वर्षा करनेवाले, (सुपर्णा) सुन्दर पतनशील दम्पती अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ या प्रकृति-पुरुषका ज्ञान, (निषेदतुः) स्थित है। (यत्र=यया) ['इतरेभ्योऽपि दृश्यते' इस पाणिनि नियमसे तृतीया समझनी चाहिए]। जिस वेदवाणी द्वारा, (देवाः) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञानवेत्ता महात्मा, (भागधेयम्, स्वार्थिको धेयप्रत्ययः) अपने-अपने भागको अर्थात् 'देह क्या है और कितना है, जीवात्मा क्या है' इस विभागको, (दधिरे) पृथक्-पृथक् धारण करते हैं, यह क्षेत्रका विभाग है और यह क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्माका है, ऐसा निश्चय कर लेते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि तत्त्वज्ञानी ऋषियोंने वेदमन्त्रों तथा ब्रह्म-सूत्रके आधारपर शरीर (क्षेत्र) और आत्मा (क्षेत्रज्ञ) के संबन्धमें बहुत विस्तारके साथ कहा है। वेदमें भी कहा गया है कि ऋग्वेदादि चारों वेदोंके मन्त्रोंमें अर्थात् वेदवाणी द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान बताया गया है जिसे तत्त्वज्ञानी बुद्धिमानोंने दोनोंके पृथक्-पृथक् भाग बताए हैं।

५. महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
६. इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(महाभूतानि ५) पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, (अहङ्कारः) अहं-कार जो कि महाभूतोंका कारण है क्योंकि अहंकारसे पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं, (बुद्धिः) अहंकारका कारण महत्तत्त्व, (अव्यक्तम् एव च) मल प्रकृति जो कि अप्रकट रूपमें रहती है, अतः उसे अव्यक्त कहते हैं, अव्याकृत जगद्बीज त्रिगु-णात्मक परमेश्वर शक्ति जिसे अपराशक्ति कहते हैं। (दशैकम् इन्द्रियाणि) चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र, वाक्, पाणि-पाद, वायु, उपस्थ और मन, (पञ्च इन्द्रियगोचराः) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, पाँच इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होनेवाले पाँच विषय, (इच्छा) राग, (द्वेषः) मोहके कारण उत्पन्न होनेवाली शत्रुता, (सुखं दुःखम्) स्वानुकूल वस्तुके दर्शनसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द तथा स्व-प्रतिकूल वस्तुके देखनेसे उत्पन्न होनेवाला खेद, (सङ्घातः) कर-चरणादिसंहति-

रूप देह, (चेतना) बुद्धिवृत्ति, (धृतिः) धारणशक्ति, (एतत् क्षेत्रम्) यह क्षेत्र, (सविकारम्) विकृतिशील महदादिके साथ, (समासेन) संक्षेपसे, (उदाहृतम्) तुझे अच्छी तरह बताया है ॥ ५-६ ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥

(अथर्ववेदः ११-८-२६)

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः ।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥

(अथर्ववेदः ११-८-२७)

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥

(अथर्ववेदः ११-८-३०)

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥

(अथर्ववेदः ११-८-३१)

(क्षितिः आपः सूर्यः प्राणापानौ व्यानोदानौ अक्षितिः च) पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँच महाभूत, (विशिषः) विशेषान्तरिक आज्ञा अर्थात् अहङ्कार, (यः विराट्) विशेष करके प्रकाशित होनेवाला ज्ञान अर्थात् बुद्धि, (ब्रह्मणा सह ब्रह्म) अपनी बृहत् शक्तिके साथ महत्तत्व अर्थात् अव्यक्त, (चक्षुः श्रोत्रं वातः) [स्पर्शः वाङ् मनः, आपः रसः देवताः वा] चक्षुः, श्रोत्र, वात शब्दसे स्पर्श, वाणी, मन, और आप शब्दसे रस, अन्य इन्द्रियाँ और उनके गुण, (आशिषः सर्वे सङ्कल्पाः) आशा=इच्छा, सब प्रकारकी शुभ अथवा अशुभ कामनाएँ अर्थात् सदिच्छा और द्वेषात्मक इच्छा, (प्रशिषः) आज्ञात्मक विचार अर्थात् आज्ञाजन्य सुख, (संशिषः) सम्यक्तया मानसिक वृत्तिपर विपरीत आज्ञाकारक अर्थात् दुःख, (सूर्यः चक्षुः वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे) सूर्यने चक्षुमें प्रवेश किया, वायुने पुरुषके प्राणको प्राप्त किया अर्थात् सूर्य-वाय्वादि देवताओंके समूहका संघर्ष देह है, (चित्तानि) चेतना शक्ति [इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो, ययेदं धार्यते जगत् ॥ गी. ७-५], (शरीरम् अनु प्राविशन्) ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, महत्तत्त्वादि अपने-अपने स्वरूपसे शरीरमें रहते हैं, इसे क्षेत्र कहते हैं । (शरीरे

अधि प्रजापतिः) इसी क्षेत्रमें प्रजोत्पादक जीवात्मा वास करता है। (अथ) फिर, (देवाः) पृथिव्यादि स्थूल देवता, (अस्य) इस देहके, (इतरम्) अतिरिक्त, (आत्मानम्) षाट्कौशिक स्थूल शरीरको, (अग्नये प्रायच्छन्) मृत्युके अनन्तर अग्नि-देवताको समर्पण कर देते हैं। अग्नि केवल स्थूल शरीरको जलाता है न कि सूक्ष्म शरीरको। सूक्ष्म शरीरका परित्याग मुक्ति होनेपर होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच वायु, बुद्धि और मन इन सत्रह उपादानोंसे युक्त लिङ्ग[1]शरीर कहा गया है। स्थूल शरीर इस स्थूलाग्निमें यहीं जल जाता है। लिङ्गशरीर मुक्तितक जीवात्माके साथ रहता है।

चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्र णयन्ति सप्त।
आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येनं पथा प्रपिबन्ते सुतस्य ॥

(ऋग्वेदः १०-११४-७)

(अस्य) क्षेत्र अर्थात् देहके, (चतुर्दश) भिन्न-भिन्न रूपमें स्थित १. पृथिवी-जल-तेज-वाय्वाकाश महाभूत, २. अहङ्कार, ३. बुद्धि, ४. अव्यक्त, ५. वाक्पाणि-पादादि पञ्च कर्मेन्द्रिय, चक्षुर्घ्राणादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय, ६. मन, ७. रूप-रसादि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके विषय, ८. इच्छा, ९. द्वेष. १०. सुख, ११. दुःख, १२. संघात, १३. चेतना, १४. धृति, ये चौदह, (महिमानः) देवविभूति अर्थात् देहमहिमाको बतानेवाले हैं। (धीराः) बुद्धिमान् ज्ञानीजन, (तम्) उस देहको, (वाचा) वाणीसे, (सप्त) १. इच्छा, २. द्वेष, ३. सुख, ४. दुःख, ५. संघात, ६. चेतना, ७. धृति, इस प्रकारके सात स्वरूपवाला, (प्र णयन्ति) प्राप्त करते हैं अर्थात् कहते हैं। परन्तु, (इह) इस देहमें, (आप्नानम्) सर्व-व्यापक, (तीर्थम्) संसार-दुःखसे तारनेवाले परमात्माको, (कः) ज्ञानसे प्राप्त सुखवाला ज्ञानी पुरुष, (प्रवोचत्) कहता है, (येन पथा) जिस ज्ञान-मार्गसे या जिस मानुषी देह मार्गसे, (सुतस्य) संसारोत्पादक परमात्माके ज्ञान-रसको, (प्रपिबन्ते) भलीभाँति पान करते हैं।

तुलना—गीतामें क्षेत्र अर्थात् देहका संक्षिप्त वर्णन ऐसा किया गया है—महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, रूप-रसादि इन्द्रियोंके विषय, दस इन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, इन सबका एक ही स्थान संघात, चेतना, धृति, यह क्षेत्र है और इसमें साक्षीरूप आत्मा तबतक रहता है जबतक वह मुक्त नहीं होता। वेदमें भी यही कहा गया है कि पृथिव्याकाश तेज, वायु, जल

---

१. ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाण्यपि।
वायवः पञ्च बुद्धिश्च मनः सप्तदश विदुः॥

तथा चक्षुश्रोत्रादीन्द्रिय, वाण्यादि कर्मेन्द्रिय, ब्रह्म (अव्यक्त), सङ्कल्पादिका संघात क्षेत्र या देह है। इस क्षेत्रमें परमात्माका अंशरूप जीवात्मा स्वकृत शुभाशुभ कर्मफल भोगनेके लिए वास करता है। यह स्थूल देह इस लोकमें अग्निमें भस्म हो जाता है और लिङ्गशरीर मुक्तिपर्यन्त रहता है।

७. अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
८. इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
९. असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
१०. मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
११. अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

(१. अमानित्वम्) मानकी इच्छाका न होना अर्थात् अपनी प्रतिष्ठाकी इच्छा न करना, (२. अदम्भित्वम्) दुर्गुणको छिपाकर अपना महत्त्व न दिखाना, (३. अहिंसा) मन, वाणी, शरीरसे किसी भी प्राणीका बुरा न करना, (४. क्षान्तिः) आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उपद्रवोंका सहना, (५. आर्जवम्) कुटिलताका परित्याग करके सरलताका ग्रहण करना, (६. आचार्योपासनम्) अध्यापक तथा परमात्ममार्गके प्रदर्शक गुरुकी शुश्रूषा करना, (७. शौचम्) कायिक, वाचिक, मानसिक शुद्धि रखना, (८. स्थैर्यम्) निगृहीत मनकी स्थिरता रखना, (९. आत्मविनिग्रहः) अन्तःकरणके विषय ध्यान-श्रवणादिमें नित्य प्रवृत्तिका रोकना, (१०. इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्) इन्द्रियोंके गुण रूप-रस-शब्दादिमें विरागता अर्थात् अनिच्छा रखना, (११. अनहङ्कार एव च) वर्णाश्रमादिके अभिमानका परित्याग और अहंता-ममताका नाश, (१२. जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा एवं व्याधिमें पुनः-पुनः दुःखका अनुभव करना, (१३. असक्तिः) भोग्यपदार्थोंमें अनुराग न रखना, (१४. पुत्रदारगृहादिषु अनभिष्वङ्गः) पुत्र, स्त्री, घर, धनादि पदार्थोंमें संग अर्थात् ममत्वका परित्याग, (१५. इष्टानिष्टोपपत्तिषु समचित्तत्वम्) सुख और सुखसाधनकी प्राप्तिमें और दुःख तथा दुःखसाधनकी प्राप्तिमें

नित्य समानचित्त रहना, (१६. च मयि अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः) और मुझमें अर्थात् सर्वेश्वर परमात्मामें नित्यस्थित संबन्धान्तररहित होनेसे व्यभिचरित न होनेवाली अर्थात् अदूषित भक्ति, (१७. विविक्तदेशसेवित्वम्) एकान्त देशमें वास, (१८. जनसंसदि अरतिः) जनसभामें राग या प्रेम न होना, (१९. अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्) अध्यात्मज्ञानमें नित्य ही प्रवृत्ति रखना, (२०. तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्) तत्त्वज्ञानके फलस्वरूप मोक्षकी सिद्धिके मार्गका दर्शन करना, (एतत् ज्ञानम् इति प्रोक्तम्) यह ज्ञान है ऐसा कहा गया है। (अतो यत् अन्यथा अज्ञानम्) इससे विपरीत अर्थात् मान रखना, दम्भ, हिंसा, क्षोभ, वक्रता, गुरुकी अवज्ञा, अशुद्धता, चञ्चलता, मनोऽनिग्रह, रूप-रसादिमें रति, अहङ्कार, जन्म जरा मृत्यु आदिमें अर्थात् देहसुखमें सुख, आसक्ति, पुत्रदारगृहादिमें सङ्ग, भेददृष्टि, इष्टप्राप्तिमें प्रसन्नता, अनिष्टप्राप्तिमें दुःख अनुभव करना, परमात्मभक्तिमें चित्त न लगाना, जन-समुदायमें प्रेम, देहमें आत्मबुद्धि, तत्त्वज्ञानको मिथ्याज्ञान कहना, यह अज्ञान कहा गया है ॥ ७–११ ॥

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

(अथर्ववेदः २०-१२६-२३)

(मानवी पर्शुः) मनुष्यत्ववाले दोनों पार्श्व अर्थात् ज्ञान और अज्ञान, (साकम्) साथ-साथ, (विंशतिं ससूव) १. अमानित्व, २. अदम्भ, ३. अहिंसा, ४. क्षान्ति, ५. ऋजुता, ६. आचार्योपासना, ७. शुद्धता, ८. स्थिरता, ९. आत्मनिग्रह, १०. विषयोंमें वैराग्य, ११. अहङ्काराभाव, १२. जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषदर्शन, १३. असक्ति, १४. पुत्र-दार-गृहादिमें अलेपता, १५. इष्टानिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें समचित्त रहना, १६. परमात्मामें नित्य अनन्यभक्ति, १७. एकान्तवास, १८. जनसमूहमें अलग्नता, १९. अध्यात्मज्ञानमें प्रवृत्ति, २०. तत्त्वज्ञानका दर्शन, इन बीसों गुणों और इनसे विपरीत दुर्गुणोंको अपने आपसे प्रकट करते हैं। इन बीस ज्ञानोंके होनेपर मनुष्यका मनुष्यत्व रहता है नहीं तो स्वरूपसे मनुष्य होता हुआ भी पशु ही है। दूसरा पार्श्व अर्थात् मानित्व, दम्भादि बीस अज्ञान स्वरूपोंको अपने आपसे प्रकट करनेके कारण मनुष्य मनुष्यतासे पतित हो जाता है। वह सदा संसारबन्धनमें जकड़ा रहता है। (भल !) हे ज्ञानको ग्रहण करनेवाले सज्जन पुरुष ! (त्यस्याः) उस शुभ पार्श्वग्राहक व्यक्तिका, (भद्रम् अभूत्) कल्याण होता है, (यस्याः) जिस विचारशील ज्ञानग्राहक व्यक्तिके, (उदरम्) उदरमें अर्थात् अन्तःकरणमें,

(आमयत्) देवासुर-संग्राम सदा क्षोभ करता है अर्थात् ज्ञान अपनी ओर खींचता है, अज्ञान अपनी ओर, उसके भीतर यह युद्ध होता है। देव पक्ष जीता तो ज्ञानी बना, असुर पक्ष जीता तो अज्ञानी बना। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) सदसद्विवेकी जीवात्मा सब प्राणियोंमें परमश्रेष्ठ माना गया है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्', 'ज्ञानी विशिष्यते' इत्यादिसे स्पष्ट है कि ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ होता है।

तुलना—गीतामें मान-दम्भ-हिंसादि बीस अज्ञानोंका निषेध किया गया है और अमानित्वादि शब्दोंसे बीस प्रकारके ज्ञान बताए गए हैं। वेदमें पर्शु शब्दसे ज्ञान और अज्ञान दो पार्श्व बताए गए हैं। ज्ञान भी बीस प्रकारका और अज्ञान भी बीस प्रकारका बताते हुए ज्ञानी पुरुषको सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ कहा गया है।

१२. ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(यत् ज्ञेयम्) मुमुक्षु पुरुषके लिए जो जाननेयोग्य परमतत्त्व वस्तु है, (तत् प्रवक्ष्यामि) मैं उसे कहता हूँ। (यत् ज्ञात्वा) जिस परमतत्त्व वस्तुको जानकर, (अमृतम् अश्नुते) मुमुक्षु मनुष्य अमरपदको प्राप्त करता है। वह क्या वस्तु है ? (अनादिमत्) जिसका आदि या जन्म नहीं है, अर्थात् जिसका कोई कारण यानी निर्माता नहीं, (परं ब्रह्म) वह परब्रह्म है (न सत्) जो सत् नहीं है ['यह यह है' 'यह वह है' ऐसा नाम-रूपात्मक महदादि कार्यसमूह सब सत् कहा जाता है], (न तत् असत् उच्यते) तथा सत् अर्थात् कार्यसे विलक्षण जगत्का कारण अव्यक्त है अतः ब्रह्म असत् भी नहीं है॥ १२॥

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः॥

(ऋग्वेदः १०-८२-२)

(विश्वकर्मा) सारा ब्रह्माण्ड ही जिसका कार्य है या बहुकर्मकर्ता परमात्मा जो स्वयं कार्य नहीं है अर्थात् अनादिमत् है, (विमनाः) विविध मनोंवाला, जैसे 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' अर्थात् सहस्रों सिर-पैरवाला कहा जाता है वैसे यहाँ भी विराट् मन होनेसे विविध मनोंवाला कहा गया है, (आत् विहायः) सबसे महान् अर्थात् परं ब्रह्म है, (धाता) सृष्टिधारक है, सृष्टिमें सत्रूप अर्थात् कार्यरूप होकर किसीसे धारण करनेयोग्य नहीं है, (विधर्ता) अव्यक्तका भी धारक है अर्थात् असत् भी नहीं है, (परमः) वह परमात्मा सर्वोत्कृष्ट, तथा, (संदृक्) समान द्रष्टा है अथवा परिपूर्णतया सबका साक्षी

है। (तेषाम्) उन इन्द्रियोंके, (इष्टानि) प्रियस्वरूप, (इषा) उन इन्द्रियोंके अपने-अपने रूप-रसादि अन्नसे, (सं मदन्ति) प्रसन्न होते हैं। (यत्र) जिस ज्ञेय, (तम्) उस परमात्माको तत्त्ववेत्ताजन, (सप्त ऋषीन्) सर्पणशील इन्द्रियोंसे, (परः) उत्कृष्ट अर्थात् इन्द्रियातीत, (एकम् आहुः) एक परब्रह्म कहते हैं।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
ह्यप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥

(मु. उ. २-१-२)

(दिव्यः) ज्योतिःस्वरूप अथवा बहुत शक्तियोंवाला, (अमूर्तः) सब कार्योंका कारण, [मूर्त पदार्थ कार्यरूप होता है], (सः पुरुषः) वह आत्मा, जो, (बाह्याभ्यन्तरः) बाहर और भीतर रहता है अर्थात् सर्वव्यापक, (अजः) अजन्मा, और, (अप्राणः) सबका प्राणदाता है, स्वयं किसीसे प्राण नहीं लेता, (अमनाः) मनके बिना ही मनन करता है, (शुभ्रः) शुद्ध अर्थात् निर्मल है, (अक्षरात् परतः परः) और इन्द्रियादियोंसे परे जो अक्षर है उससे भी परे है।

तुलना—गीतामें ज्ञेयका अर्थ अनादिमत् (अजन्मा), सदसत्से परे, सबसे महान् परं ब्रह्म कहा गया है। वेद और उपनिषद्में भी विश्वकर्मा, धाता, विधाता, समद्रष्टा, इन्द्रियोंका सञ्चालक, स्वयमिन्द्रियातीत मुख्य परब्रह्मको ज्ञेयतत्त्व कहा गया है।

१३. **सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।**
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

१४. **सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।**
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

ज्ञेय परं ब्रह्म कैसा है? (सर्वतः पाणिपादं तत्) वह ब्रह्म चारों ओर अर्थात् असंख्य हाथ-पैरोंवाला है। प्राकृत मनुष्यादिके हाथ-पैर निश्चित स्थानपर होते हैं, किन्तु दिव्यपुरुषके विराट् स्वरूप होनेसे निश्चित स्थानपर चक्षुआदि इन्द्रियाँ नहीं होतीं प्रत्युत सब अङ्ग सब इन्द्रियोंका कार्य कर सकते हैं, अतः, (सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्) सब ओर नेत्र, शिर और मुखवाला है। (सर्वतः श्रुतिमत्) उसके चारों ओर कान हैं। (लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति) वह ब्रह्म प्राणि-अप्राणिमात्रमें सब वस्तुओंको घेरकर अर्थात् अपने चैतन्यरूपसे व्यापक होकर रहता है॥ १३—१४॥

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥

(अथर्ववेदः १३-२-२६)

परब्रह्म, (विश्वतोमुखः यः विश्वतः पाणिः) चारों ओर मुखोंवाला, चारों ओर हाथवाला, (उत विश्वतः पृथः) और चारों ओर पैरोंवाला है। (विश्वतः चर्षणिः) यह परमात्मा चारों ओर देखता है अर्थात् सर्वद्रष्टा या विश्वको वशमें रखनेवाला है, (बाहुभ्यां पतत्रैः द्यावापृथिवी) अपनी मायाशक्तिसे और सर्वत्र पतनशील व्याप्तिसे आकाश और पृथिवीको अपनी चेतनाशक्तिसे, (सं भरति) पूर्ण कर देता है। (एकः देवः जनयन्) एक ही परमात्मा सारे विश्वका उत्पादक है।

उपनिषद्में भी आया है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

(कठ उ. २-२-११)

(यथा सूर्यः सर्वलोकस्य चक्षुः) जैसे सूर्य सबका नेत्र है, (चाक्षुषैः बाह्य-दोषैः न लिप्यते) किन्तु प्राणियोंके नेत्र विकृत होनेसे सूर्य विकृत नहीं होता, (तथा सर्वभूतान्तरात्मा एकः) वैसे सब प्राणि-अप्राणिके भीतर वास करनेवाला परमात्मा लोगोंके दुखी होनेसे दुखी नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियाँ उसकी शक्तिसे कार्य करती हैं, वह स्वयं इन्द्रियोंसे कार्य नहीं लेता।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।

(कठ उ. १-३-२१)

जो परमात्मा शरीरोंमें स्थित होकर भी शरीररहित है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

(कठ उ. १-३-१५)

जो ब्रह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे रहित है अर्थात् सब इन्द्रियोंसे रहित है परन्तु सब इन्द्रियोंके गुणोंमें उसका आभास है, वह परब्रह्म अव्यय अर्थात् विकारसे रहित है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

(मु. उ. २-२-११)

अमृतरूप ब्रह्म सामने, पीछे, दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर अर्थात् सब ओर फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व है और यह ब्रह्म श्रेष्ठ है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा चारों ओर मुख, चक्षु, पाणि, पाद और कानोंवाला है, सारे संसारमें व्यापक है, सर्वद्रष्टा है और इन्द्रियातीत है। वेद और उपनिषदोंमें भी कहा गया है कि वह परब्रह्म सहस्रों अर्थात् चारों ओर चक्षु, कान, पाणि, पादवाला है। मनुष्यादि जीवोंकी इन्द्रियोंकी भाँति नियत स्थानपर स्थित नहीं हैं, उसका प्रत्येक अङ्ग प्रत्येक इन्द्रियका कार्य कर सकता है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है, शरीरोंमें स्थित भी शारीरिक दोषोंसे रहित है, हाथ-पैरोंके न रखनेपर भी पूरी पकड़वाला और वेगवान् है, चक्षुः-कर्णसे रहित होता हुआ भी सबको देखता है और सबकी बातें सुनता है, अतः परमात्मा सर्वश्रेष्ठ है।

१५. बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

हे अर्जुन! वह ब्रह्म, (भूतानाम्) चराचर वस्तुमात्रके, (बहिः अन्तः च) बाहर और भीतर भी है, (अचरं चरम् एव च) वह ब्रह्म न चलनेवाला अर्थात् स्थित भी है और चलनेवाला भी है। (तत् सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयम्) अव्यक्तसे भी अति सूक्ष्म होनेसे आत्मानुभवशून्य प्राणियों द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। (तत् दूरस्थम्) वह अज्ञानी पुरुषोंसे दूर रहता है, (तत् अन्तिके) और वही ब्रह्म ज्ञानियोंके निकट रहता है॥ १५॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(यजुर्वेदः ४०-५)

(तत् एजति) वह ब्रह्म मूढ़ दृष्टिवालोंको चलता प्रतीत होता है, (तत् न एजति) ज्ञानियोंकी दृष्टिसे वह नहीं चलता, सर्वव्यापक होता हुआ एकरस रहता है अर्थात् ब्रह्म चर और अचर रूप है। (तत् दूरे) वह ब्रह्म अविवेकी पुरुषोंसे दूर रहता है क्योंकि अज्ञानियोंका मुख संसारकी ओर होता है न कि परमात्माकी ओर। जैसे ३६ के दोनों अंक आपसमें पीठ किये रहते हैं वैसे अज्ञानी परमात्मासे पीठ मोड़े रहता है। (तत् उ अन्तिके) वही ब्रह्म ज्ञानियोंके निकट रहता है। जैसे ६३ का अङ्क आपसमें मुख मिलाए हुए है, ऐसे ज्ञानी पुरुष परमात्मासे मुख मिलाए रखता है। (तत् सर्वस्य अन्तः) वह ब्रह्म सारे चराचर

जगत्के भीतर रहता है, (तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः) वही ब्रह्म इस सारे संसारके बाहर रहता है अर्थात् वह सर्वव्यापक है।

उपनिषदोंमें भी कहा गया है—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ···॥

(मु. उ. २-२-५)

जिस ब्रह्ममें द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी और सब प्राणोंके साथ मन ओत-प्रोत हुए हैं उसी एक आत्माको जानो।

स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

(मु. उ. २-१-२)

वह अजन्मा परं ब्रह्म बाहर और भीतर विद्यमान अर्थात् सर्वव्यापक है।

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च-महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानि इमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्ड-जानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्।

(ऐ. उ. ३-३)

ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, सब देवता, पञ्चमहाभूत, पृथिव्याकाशादि तथा चक्षुरादि इन्द्रिय, क्षुद्रसे क्षुद्र बीज, अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, अश्व, गौएँ, पुरुष, हाथी आदि सब प्राणिवर्ग, स्थावर और जङ्गम, सब ब्रह्म ही है।

दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च।

(मु. उ. ३-१-७)

वह दूरसे दूर और निकटसे निकट है।

तुलना—गीता, वेद और उपनिषदोंमें एक ही प्रकारसे यह बात कही गई है कि वह ब्रह्म सबके बाहर और भीतर अर्थात् सर्वव्यापक है। वही सांसारिकों-के लिए दूर और ज्ञानियोंके लिये निकट, वही ज्ञेय ब्रह्म सर्वं प्रपञ्चका उत्पादक, पालक, संहर्ता और सर्वरूप है।

१६. **अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।**
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

(भूतेषु अविभक्तम् च) वह ब्रह्म ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त आकाशादि भूतोंमें विभक्त न होते हुए भी, सबमें समानरूपसे व्यापक होते हुए भी, (विभक्तम् इव स्थितम्) मानो विभक्त होकर स्थित है, क्योंकि यद्यपि पिपीलिकामें सूक्ष्म रूपसे, हस्ती, गौ आदिमें स्थूलरूपसे प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः सबमें समान-रूपसे रहता है। वह ज्ञेय ब्रह्म, (भूतभर्तृ) भूतोंका पालक और धारक है, (ग्रसिष्णु) सबको अपने भीतर ग्रास करनेवाला, और, (प्रभविष्णु) सबका उत्पादक है ॥ १६ ॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥
(यजुर्वेदः ३२-८)

(वेनः) वेदान्तरहस्यका ज्ञाता मेधावी मनुष्य ['गृत्सः धीरः वेनः' इति मेधाविनामसु पाठः, निघण्टु ३-१५] सद्भावनासे, (तत् पश्यत्) उस ज्ञेय ब्रह्मको सूक्ष्म-ज्ञानदृष्टिसे देखता है। वह ब्रह्म भूतोंमें अविभक्तरूपसे स्थित है, (यत्र) जिस ज्ञेय ब्रह्ममें, (विश्वम्) सारा स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्, (एक-नीडम्) एकस्थानस्थित अविभक्तरूपसे स्थित है। (गुहायाम्) वह ब्रह्म हृदयाकाशात्मक गुहामें अर्थात् बुद्धिमें, (सत्) नित्य ही सत्यरूप, (निहितम्) स्थित है अर्थात् प्रत्येक हृदयमें वास करनेसे भिन्न-भिन्न-सा ज्ञात होता है। (तस्मिन्) उस परब्रह्म परमात्मामें, (इदं सर्वम्) दृश्यमान यह चराचर जगत्, (सम् एति) संहारकालमें ग्रासमात्र होकर समा जाता है, इसीलिए वह ग्रसिष्णु है। (सं चावि एति) सृष्टिकालमें सारा जगत् विशेषरूपसे प्राप्त होकर उससे प्रकट हो जाता है, अतः वह प्रभविष्णु है। (सः विभुः) विविध प्रकारसे व्याप्त अर्थात् सर्वसमर्थ वह परमात्मा, (प्रजासु) सृष्टिमें, (ओतः प्रोतः च) ओतप्रोत है। इससे ब्रह्म भूतभर्तृ भी है।

उपनिषद्में कहा गया है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ उ. २-५-९)

जैसे सारे जगत्‌में प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूपवान् वस्तुमें तद्रूप हो जाता है, वैसे ही सब भूतोंमें बाहर और भीतर भी प्रविष्ट परमात्मा तत्तद्रूप प्रतीत होता है।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा
कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।

(प्रश्न उ. ४-९)

वह आत्मा सर्वद्रष्टा, सर्वस्प्रष्टा, सबकी सुननेवाला, सब कुछ सूँघनेवाला, सबका स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला, सबका कर्ता-धर्ता और विशिष्ट ज्ञानमय आत्मावाला है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञेयतत्त्व सब पदार्थोंमें विभक्त होकर वास न करनेवाला होते हुए भी भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भिन्न-भिन्नरूप रहनेसे विभक्त-के समान प्रतीत होता है। वह ब्रह्म सबका पालक, सबका उत्पादक तथा सबका सहारक है। वेद और उपनिषदोंमें भी कहा गया है कि तत्त्ववेत्ता मेधावी मनुष्य उस परब्रह्मको सारे विश्वमें व्यापक और अविभक्त रूपसे सबमें तद्रूपसे परिपूर्ण, सबका ग्रासक, सबका उत्पादक अर्थात् भूतभर्तृ, ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु रूपमें देखते हैं।

१७. ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(तत् ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः) वह ब्रह्म प्रकाश करनेवाले सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदिका भी प्रकाशक, (तमसः परम् उच्यते) अन्धकार यानी अज्ञानसे दूर अर्थात् ज्योतिःस्वरूप होनेसे अन्धकारके अभाववाला, (ज्ञानम्) ज्ञानरूप, (ज्ञान-गम्यं ज्ञेयम्) ज्ञेय, सदसद्विवेकसे प्राप्त होनेयोग्य, (सर्वस्य हृदि विष्ठितम्) और सब चराचर जगत्‌के मध्य स्थित अर्थात् व्याप्य-व्यापकभावसे सब वस्तुओंमें विराजमान है॥ १७॥

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत्।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम्॥

(सामवेदः उ. ६-३-५-३)

(इदम्) यह ज्ञेय ब्रह्म, (श्रेष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ, (ज्योतिषां ज्योतिः) सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि प्रकाशकोंका भी प्रकाशक, अतएव, (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्ट है। (विश्वजित्) वह सारे विश्वका विजेता अर्थात् सारे विश्वको वशमें रखने-

वाला है। (धनजित्) धन जीतनेवाला वह ब्रह्म धनसे उत्पन्न होनेवाली कामनाओंको जीतनेवाला या धनका पर्यायवाचक शब्द 'अर्थ' है अतः रूपरसादि विषयोंका विजेता, जितेन्द्रिय या परिपूर्णकाम है। (बृहत् उच्यते) वह ब्रह्म सबसे महान् कहा जाता है, (विश्वभ्राड्) सारे विश्वका प्रकाशक अर्थात् ज्ञान-रूप है, (भ्राजः) प्रकाशस्वरूप, (महि) सबसे महान्, और, (सूर्यः) [सरति सर्वत्र व्याप्नोतीति सूर्यः] सर्वत्र व्यापक या [सुवति प्रेरयति सर्वं जगत् इति सूर्यः] सारे जगत्को अपने-अपने कार्यमें प्रेरित करनेवाला है। वह ब्रह्म, (दृशे) देखनेके लिये, (उरु) सबसे विस्तृत, (अच्युतम्) च्युतिसे रहित अर्थात् एकरस रहनेवाला, (ओजः) [ओजोऽसि ओजो मयि धेहि इत्युक्तेः] बल-स्वरूप, (पप्रथे) प्रसिद्ध है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च ॥

(ऋग्वेदः १०-९०-१३)

उस परमात्माके मनसे चन्द्रमा, चक्षुसे सूर्य तथा मुखसे इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुए। जब सूर्यादि ब्रह्मसे प्रगट हुए हैं तो ब्रह्म ही उन्हें प्रकाशित करता है न कि वे ब्रह्मको प्रकाशित करते हैं।

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित्।

(यजुर्वेदः ५-३५)

हे परमात्मन्! तू सारे संसारकी विश्वरूप ज्योति है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

(यजुर्वेदः ३१-१८)

(अहम् एतं महान्तं पुरुषम्) मैं इस महान् परमपुरुष ब्रह्मको, (आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् वेद) आदित्यरूप अर्थात् अन्धकारसे परे प्रकाशस्वरूप जानता हूँ।

उपनिषद्में भी आया है—

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः।

(मु. उ. २-२-९)

आत्मतत्त्वके ज्ञाता ज्ञानीजन, उस परब्रह्मको शुद्ध और सूर्यादि प्रकाशकोंके प्रकाशक रूपमें जानते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(मु. उ. २-२-१०)

उस परमप्रकाशक ब्रह्मके सम्मुख सूर्य प्रकाश नहीं कर सकता, चन्द्र और तारे भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकते अर्थात् उनका प्रकाश परमात्माके सम्मुख मन्द पड़ जाता है। उसके सामने बिजलियाँ भी प्रकाशित नहीं हो सकतीं। तब वहाँ यह अग्नि कैसे प्रकाश कर सकता है! उस ब्रह्मके प्रकाशित रहते ही सब प्रकाशित होते हैं अर्थात् उसके प्रकाशसे ही यह सारा जगत् प्रकाशित होता है।

यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः
शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

(बृ. उ. ३-७-१४)

जो ब्रह्म सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंमें रहता है परन्तु सूर्यादि उसे नहीं जानते, जिसका शरीर ज्योतिःस्वरूप है, जो तेजस्वी पदार्थोंको अपने अधीन रखता है, हे जिज्ञासु पुरुष! वही परमात्मा तेरे भीतर अमृतरूपसे वास करता है।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्य
आदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मा-
न्तर्याम्यमृतः।

(बृ. उ. ३-७-९)

जो आदित्यके भीतर-बाहर स्थित रहता है, जिसको आदित्य नहीं जानता है, जो आदित्यको जानता है, जिसका शरीर आदित्य है, जो आदित्यके भीतर-बाहर रहकर आदित्यपर शासन करता है और जो अविनाशी तेरा आत्मा है वही यह अन्तर्यामी है।

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः।

(बृ. उ. ४-४-१६)

ज्योतियोंकी ज्योति उस आत्माकी विद्वान् लोग उपासना करते हैं।

तुलना—गीतामें ब्रह्मका स्वरूप ज्योतियोंकी ज्योति, अन्धकारसे दूर, ज्ञान-स्वरूप, सदसद्विवेकसे प्राप्त होनेयोग्य तथा ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुमें वास करने-वाला बताया गया है। वेद और उपनिषदोंमें भी ब्रह्मका स्वरूप प्रकाशकोंका प्रकाशक, सबसे श्रेष्ठ, अत्युत्कृष्ट, विश्वनिर्माता, विश्वपालक, विश्वसंहर्ता,

आदित्यवर्ण अर्थात् ज्योतिःस्वरूप, धन अर्थात् (अर्थों) रूपरसादि विषयोंसे अतीत, सबसे बड़ा, विश्वका प्रकाशक, जगदुत्पादक, ओजःस्वरूप, अच्युत अर्थात् अविनाशी, सूर्य-चन्द्रादिका प्रकाशक तथा सर्वान्तर्यामी बताया गया है।

१८. इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

हे अर्जुन! (क्षेत्रम्) शरीर, (तथा ज्ञानम्) श्रवण और मनन करनेसे अमानित्व-अदम्भित्वादि ज्ञान, (ज्ञेयम्) जाननेयोग्य परमतत्त्व परंब्रह्म, (इति) इस प्रकार, (समासतः उक्तम्) संक्षेपसे कहा है। (मद्भक्तः) मेरा भक्त मुमुक्षुजन, (एतत् विज्ञाय) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञानके स्वरूपको भलीभाँति जानकर, (मद्भावाय उपपद्यते) मेरे अर्थात् परमात्माके भाववाला होकर मुक्तिपदको प्राप्त हो जाता है॥ १८॥

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥

(अथर्ववेदः ११-८-३२)

(तस्मात्) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानसे मुमुक्षु पुरुष, (इदम्) इस सारे क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेयको, (विद्वान्) अच्छी तरह जानता हुआ, (इदम्) इस अपरोक्ष विराट् रूप शरीरको, (ब्रह्म इति) ब्रह्म है अर्थात् सबमें ब्रह्म व्यापक है ऐसा, (मन्यते) मानता है, (हि) जिस कारणसे, (सर्वाः देवताः) प्राणापानादि वायु, चक्षु आदि सब इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठाता सूर्यादि देवता, (अस्मिन्) इस ब्रह्मशरीरमें अर्थात् ब्रह्ममें, (आसते) रहते हैं। जैसे, (गोष्ठे गावः आसते) गोशालामें गौएँ रहती हैं।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि जो मुमुक्षु पुरुष शरीर और सदसद्विवेकात्मक ज्ञान तथा परब्रह्मके स्वरूपको पूर्णतया जान लेता है वह भक्त मुक्तिका अधिकारी बनकर मेरे स्वरूपको पा लेता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि इस देहमें प्राणापानादि वायु, चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठाता सूर्यादि उस ब्रह्मके विराट् रूप देहमें ऐसे वास करते हैं जैसे गोशालामें गौएँ रहती हैं। अतः इस विराट्की प्रत्येक वस्तुमें ब्रह्मका वास है।

१९. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

हे अर्जुन ! (प्रकृतिम्) त्रिगुणात्मक ईश्वरशक्ति अर्थात् ईश्वरके स्वभाव-को, (पुरुषं च एव) और पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ यानी परमात्मा, (उभौ अपि) इन दोनोंको, (अनादी विद्धि) कारणरहित अर्थात् अजन्मा जान, (विकारान् च) और देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि, (गुणान् च) और सुख-दुःखादिको, (प्रकृतिसम्भवान्) प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले, (विद्धि) जान ॥ १९ ॥

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥

(अथर्ववेदः १०-८-२३)

(एनम्) इस परब्रह्म परमात्माको, (सनातनम्) सनातन अर्थात् सदासे रहनेवाला, नित्य, (आहुः) तत्त्ववेत्ता ज्ञानी कहते हैं। (अद्य उत) आज भी वह ब्रह्म, (पुनः नवः) फिर नया ही, (स्यात्) है। जैसे, (अहोरात्रे प्रजायेते) दिन और रात पुराने होते हुए भी नित्य नये होते हैं। या, (अहोरात्रे) प्रकाश-मय दिनरूपी पुरुष और अन्धकारमय रात्रिरूपी प्रकृति, (प्र जायेते) प्रकट होते हैं। (अन्यः अन्यस्य) एक दूसरेके, (रूपयोः) रूपोंमें सदृश हैं। इसी प्रकार पुरुष-प्रकृति भी नित्य हैं।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥

(अथर्ववेदः १०-८-२५)

(एकम्) एक वस्तु, जो, (बालात्) केशसे भी, (अणीयसी) अतीव सूक्ष्म है, (उत) और, (एकं न एव दृश्यते) न होती हुई-सी प्रतीत होती है अर्थात् जो कार्यरूपमें परिणत होती हुई भी नहीं होती वह प्रकृति है। (ततः) उससे भी सूक्ष्मतर वस्तु, (परिष्वजीयसी) प्रकृतिके मध्यमें व्याप्तरूपसे स्थिर, (देवता) जो देवत्व अर्थात् प्रकाशमान है, (सा मम प्रिया) वह मुझे प्रिय है अर्थात् मेरे हृदयको प्रेम देनेवाली है। वह सर्वव्यापक परमात्मा है।

उपनिषदोंमें भी आया है—

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एतद्वैतत् ।

(कठ उ. २-४-१३)

जो भूत और भव्य पदार्थोंका स्वामी है वह आज अर्थात् वर्तमानमें भी है और कल अर्थात् भविष्यमें भी रहेगा। निश्चय ही यह वही ब्रह्म है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

(श्वे. उ. ५-९)

एक केशकी नोकके सौवें भागका सौवाँ भाग जीवका परिमाण जाना जाता है अर्थात् एक बालको सौ हिस्सोंमें बाँटा जाय, उस सौवें भागका भी सौवाँ भाग जीवका परिमाण जानो । वह अनन्त होता है ।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः ।

(श्वे. उ. ५-८)

चाबुकके सिरेके अग्रभागके समान अर्थात् बिन्दुमात्र आकारवाला वह बुद्धि या आत्माके गुण ज्ञानसे देख लिया गया है ।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

(कठ उ. १-३-१२)

वह आत्मा सूक्ष्मदर्शियों द्वारा परम तीक्ष्ण सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धिसे देखा जाता है ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

(कठ उ. २-६-९)

परमात्माका रूप दिखाई नहीं देता, उसे चर्मचक्षुसे कोई भी नहीं देख सकता ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलक्ष्यते ॥

(कठ उ. २-६-१२)

वह वाणीसे नहीं कहा जा सकता, चक्षुसे देखा नहीं जा सकता और मानसिक तपसे भी प्राप्त नहीं किया जा सकता । 'वह परमात्मा है' केवल ऐसा कहनेके अतिरिक्त कुछ भी जाना नहीं जा सकता ।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

(श्वे. उ. ४-५)

एक अजन्मा जीवात्मा अजन्मा स्वभाववाली [स्वभाव स्वभावीसे भिन्न नहीं रह सकता, जैसे शक्ति और शक्तिमान्में भेद नहीं होता], सत्त्वरजस्तमो-

गुणवाली, समानरूप अर्थात् कार्यरूपसे बहुत पदार्थोंको रचती हुई प्रकृतिको भोग-कर फिर इस प्रकृतिको छोड़कर मुक्त हो जाता है और दूसरा अजन्मा जीवात्मा उसका सेवन करता रहता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि प्रकृति अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करनेवाला परमात्माका स्वभाव अथवा परमात्माकी शक्ति और पुरुष अर्थात् परमात्मा दोनों नित्य हैं। साधक जब ऐसा जान लेता है, तब वह मुक्तिका अधिकारी होता है अर्थात् परमात्माके चरणोंमें प्राप्त हो जाता है। वेद और उपनिषदोंमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा नित्य है और 'अहोरात्र' अर्थात् प्रकाश-स्वरूप पुरुष और अन्धकार प्रकृति दोनों नित्य हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरेमें समन्वयरूपसे रहते हैं। जीवात्माका स्वरूप केशका दशसहस्रतम भाग अर्थात् अणुरूप है और उसमें परमात्मशक्ति विद्यमान रहती है। परमात्मा इतना सूक्ष्म और दिव्यरूप है कि उसे चर्मचक्षु नहीं देख सकते। वह श्रेष्ठ सूक्ष्मतम बुद्धिसे ही देखा जा सकता है।

२०. कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

(कार्यकारणकर्तृत्वे) कार्य=शरीर, कारण=इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, इनके कर्तृत्वमें, (हेतुः) उपादान कारण, (प्रकृतिः उच्यते) प्रकृति कही जाती है, और, (पुरुषः=पुरि शयनात् पुरुषः, पुरा सदैकरूपेण आस्ते वा स्वकृतकर्मफलोपभुक्तये पुरमुषतीति वा) जीवात्मा, (सुखदुःखानाम्) स्वकृत-कर्मफलजनित सुख-दुःखके, (भोक्तृत्वे) भोक्तृत्वमें, (हेतुः) सुखदुःख-प्रत्ययानुभवका कारण, (उच्यते) कहा जाता है॥ २०॥

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥

(ऋग्वेदः १०-१३५-१)

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, सामग्री-रूपी पत्तोंवाले शरीर अथवा संसारमें, (यमः) जीवात्मा, (देवैः) चक्षुआदि इन्द्रियोंसे, (सं-पिबते) सुख-दुःखादि विषयोंको भोगता है, (अत्र) इस देहमें अथवा ब्रह्माण्डमें वास करनेवाले, (पुराणान् नः) हम जीवात्माओंको, (अनु-वेनति) अनुकूल मार्गपर चलाता है।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ।।

(ऋग्वेदः १०-१३५-७)

(इदम्) यह क्षेत्र यानी शरीर, (यमस्य सादनम्) ['भोगायतनं शरीरम्' न्यायदर्शन] जीवात्माका घर है, (यत्) जो देह अथवा ब्रह्माण्ड, (देवमानम् उच्यते) ज्योतिःस्वरूप परमात्माका मापस्थान, ज्ञानस्थान कहा जाता है। परमात्मा सर्वव्यापक है अतः इसी देहमें परमात्मज्ञान परिपूर्णतया प्राप्त हो सकता है। (अयं गीर्भिः परिष्कृतः) यह जीवात्मा इस देहमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके शान्त होनेपर भी वाणीसे परिष्कृत अर्थात् स्पष्ट रूपसे देहमें विद्यमान प्रतीत होता है। जब वाणी भी कुछ कहनेमें असमर्थ हो जाती है तब, (अस्य) इस जीवात्माके देहमें, (इयं नाडीः धमते) यह प्राणनाडी फूंकती रहती है। प्राणनाडी बताती है कि इस देहमें जीवात्मा विद्यमान है। जब नाडी भी बन्द हो जाती है तब जीवात्मा देहमें वास नहीं करता, अतः प्रतीत होता है कि प्रकृतिका कार्य देह है और उसमें जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता है।

तुलना—गीताके अनुसार प्रकृति ही देह, इन्द्रियादिका उपादानकारण है और जीवात्मा उस देहमें वास करके सुख-दुःखका भोक्ता है। वेदमें भी कहा गया है कि देहेन्द्रिय-मन-चित्तरूपी पत्तोंसे युक्त वृक्षरूपी देहमें जीवात्मा सुखदुःख-भोक्ता है और परमात्मा उसे मनुष्यदेहसे ही मुक्तिधामकी ओर ले जाता है। यह देह जीवात्माका घर है। इसी देहमें सर्वव्यापक परमात्माका ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मरणके समय प्रायः सब इन्द्रियोंके मूक हो जानेपर मुमूर्षुकी वाणीसे ही ज्ञात होता है कि अभीतक इस देहमें जीवात्मा है। वाणीके मूक होनेपर प्राणनाडी बताती है कि जीवात्मा अभी है। प्राणनाडीकी समाप्तिपर आत्मा चला जाता है।

२१. **पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।**
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।

(पुरुषः) जीवात्मा, (प्रकृतिस्थः हि) कार्यकारण-संघात अर्थात् देहमें स्थित हुआ ही, (प्रकृतिजान् गुणान्) सूक्ष्म-स्थूल-कारण देहधर्मोंको, (भुङ्क्ते) भोगता है। (अस्य) इस जीवात्माका, (सदसद्योनिजन्मसु) उच्च-नीच अर्थात् हस्त्यादि या विष्ठाकीटादि योनियोंमें जन्मप्राप्तिमें, (गुणसङ्गः कारणम्) प्रकृतिके गुण सत्त्व, रज, तम इनमें सङ्गप्राप्ति ही कारण है।। २१ ।।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ।।

(ऋग्वेदः १-१६४-३८)

(अमर्त्यः) मरणधर्मरहित जीवात्मा, (मर्त्येन) विकारवती प्रकृति अर्थात् प्रकृतिके कार्य देहके साथ, (सयोनिः) समानस्थानत्रयपरिच्छेदक इस देहको अपना घर बनाकर रहता है अतः अमर्त्य मर्त्यके साथ रहता है। अथवा, (सयोनिः) समानोत्पत्ति-सहवास होनेसे जीवात्मा अपनेमें उत्पत्तिका उपचार मानता है। ऐसा देहस्थ जीवात्मा, (स्वधया गृभीतः=गृहीतः) देहको धारण करनेवाले अन्नादि खाद्य पदार्थोंसे गृहीत होकर, (अपाङ एति) नीच योनिको प्राप्त होता है। (प्राङ एति) उत्तम कर्म करनेसे अर्थात् सात्त्विक कर्म और सात्त्विक भोजन करनेसे स्वर्गादि सुखकारक उच्च योनिको प्राप्त होता है अर्थात् जीवात्मा सूक्ष्मशरीरी होकर नानाविध कर्मोंको करके उस-उस भोगकी प्राप्तिके लिये उस-उस जन्मको पाकर स्थूल-सूक्ष्म-कारण विविध शरीरसे सम्बद्ध होकर लोक-लोकान्तरोंमें विचरता है। सत्त्वरजस्तमोगुणोंके आधारपर भिन्न कर्म करके भिन्न-भिन्न उच्च-नीच योनियोंमें जन्म लेता[1] है। (ता=तौ, शश्वन्ता=शश्वन्तौ) वे पुरुष-प्रकृति[2] नित्य अविभागसे सदा वर्तते हुए, (विषूचीना=विषूचीनौ) लोक-लोकान्तरोंमें गमन करते हुए, (वियन्ता=वियन्तौ) भिन्न-भिन्न कृत-कर्मोंके फल भोगनेके लिये भिन्न-भिन्न उच्च-नीच योनियोंमें जाते रहते हैं। (अन्यं निचिक्युः) विवेकी पुरुष भूतात्मा अर्थात् प्रकृतिको विशेष करके विकृति-वाली जानते हैं। मूढ पुरुष, (अन्यम्) देहसे भिन्न अन्य आत्माको, (न निचिक्युः) नहीं जानते अर्थात् मूढ यह जानते हैं कि कर्ता-भोक्ता देह ही है, देहसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, परन्तु ज्ञानी यह जानते हैं कि जीवात्मा विनश्वर-देहसे भिन्न और नित्य है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जीवात्मा प्रकृति अर्थात् देहमें रहकर देहके गुणोंमें सम्पर्क करके सात्त्विक, राजस, तामस कर्म करता हुआ, उन कर्मों-

---

१. गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ।।
(श्वे. उ. ५-७)

२. द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ।। (म. स्मृ. १-३२)

के फल भोगनेके लिये उच्च-नीच योनियोंमें जन्म लेता है। देहके गुण जीवके नहीं और जीवके गुण देहके नहीं हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि अमरण-धर्मा अर्थात् नित्य अविनश्वर जीवात्मा विनश्वर देहके सम्बन्धसे उसके गुण-सम्पर्कसे उच्च-नीच कर्म करता है और उन कर्मोंके आधारसे उच्च-नीच योनियों-में जन्म लेता है। अज्ञानी पुरुष देहको ही सर्वस्व मानता है परन्तु ज्ञानी पुरुष देहसे भिन्न आत्माको नित्य और देहसम्बन्धसे आत्माको बद्ध मानता है।

२२. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

(अस्मिन् देहे) इस कार्यकारणसंघातमक देहमें, (पुरुषः) जीवात्मा या परमात्मा, (परः) देहेन्द्रियादियोंसे भिन्न है। द्रष्टा द्रष्टव्य पदार्थोंसे भिन्न है, जैसे कहा है—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च', इससे वेदान्तदर्शनका सिद्धान्त स्पष्ट होता है। (उपद्रष्टा) वह आत्मा साक्षिभावसे देखनेवाला है, (च अनुमन्ता) और बुद्धि आदिकी प्रवृत्ति, निवृत्ति और उनके उस-उस फलका ज्ञाता, और यथार्थ सम्मति देनेसे अनुमन्ता है। इससे सांख्यसिद्धान्त प्रतीत होता है। (भर्ता) महदादि सब विकारोंको सत्तास्फूर्ति देनेसे भर्ता है। यह कर्मफलसंग्रहकारक न्याय-दर्शनका सिद्धान्त है। (भोक्ता) जीवरूपसे कर्मफलको भोगनेवाला है अर्थात् अव्यक्तसे लेकर स्थूलपर्यन्त सबको अपनी शक्तिसे भोगता है, भुक्त पदार्थका सन्निवेश अपने आपमें करता है। भोक्तृशब्दसे 'शरीर ही आत्मा है' यह चार्वाक-सिद्धान्त प्रतीत होता है। (महेश्वरः) सबसे बड़ोंका भी स्वामी है अर्थात् अव्यक्तादिसे भी महान् है या ब्रह्मादि देवताओंका स्वामी होनेसे महेश्वर है। यह ईश्वरजीवैकता-सम्पादक सिद्धान्त है। (परमात्मा) वह यह आत्मा देहादिसे भिन्न आत्मा है या सच्चिदानन्दघन होनेसे ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं, यह ब्रह्मात्मैकत्व-सिद्धान्त है॥ २२॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥
(यजुर्वेदः १०-२४)

(हंसः) वह आत्मा हंस है अर्थात् हन् धातुके गत्यर्थक होनेसे 'सर्वदा सर्वत्र गन्ता' यानी सब प्राणियोंके हृदयमें चिद्रूप है या 'संहन्ति सर्वान् पदार्थान्'—देहस्थ सब पदार्थोंको अपने-अपने विषयमें मिलानेवाला है, अतः उपद्रष्टारूप है। (शुचिषद्) बुद्ध्यहङ्कारादि शुद्ध वस्तुओंमें रहनेवाला अर्थात् बुद्ध्यादियोंकी

प्रवृत्ति-निवृत्तिसे कर्मजन्य फलोंका अनुमन्ता है। (वसुः) सबको बसानेवाला या सबका वासस्थान है। (अन्तरिक्षसद्) हृदयाकाशमें रहनेसे सर्वान्तर्यामी है। (होता) सब पदार्थोंमें तत्तत्पदार्थोंकी शक्तिका दाता या सारे जगत्को अपनेमें बुलानेवाला या अपनेमें हवन करनेवाला है। (अतिथिः) तिथिसे रहित अर्थात् अजन्मा या अतिथिवत् पूज्य है। (दुरोणसत्) घर-घर अर्थात् प्रत्येक पिण्डमें रहनेवाला है। (नृसद्) मनुष्यमात्रमें चैतन्यरूपसे रहता है। (वरसद्) वरनेयोग्य अर्थात् पूज्य, सब श्रेष्ठ विभूतियोंमें रहनेवाला है। (ऋतसद्) प्रकृत्यादि पदार्थोंमें वास करनेवाला है। (व्योमसद्) आकाशके समान सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तुओंमें भी वास करता है। (अब्जा) जलका उत्पादक है। (गोजा) पृथिव्यादियोंका उत्पादक है। (ऋतजाः) सत्योत्पादक होनेसे सत्यस्वरूप है। (अद्रिजाः) मेघ-पर्वत-वृक्षादिकोंका उत्पादक या आदरसे प्रकट होनेवाला है। (ऋतं बृहत्) सत्यरूप और सबसे बड़ा है। अतः परमात्मा देहादिसंघातसे भिन्न है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मा देहमें साक्षीरूप तथा बुद्धिद्वारा उत्पन्न होनेवाले विचारोंका अनुमन्ता, देहादिका पालक और धारक, स्वकृतकर्मफलभोक्ता तथा महेश्वर होता हुआ, आत्मैकत्व होनेसे परमात्मा है। वेद और उपनिषद्में भी आत्माको सर्वत्र गमनशील होनेसे हंस, बुद्ध्यादि पदार्थोंमें प्रवृत्ति-निवृत्त्युत्पादक सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेसे सब पिण्डोंमें वासकर्ता, घटघटवासी, ऋतरूप और सबसे बृहत् कहा गया है।

२३. य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

(यः) जो मुमुक्षु मनुष्य, (पुरुषम्) क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्माको, (प्रकृतिम्) क्षेत्रको, (गुणैः सह) महदादि स्थूलान्त गुणोंके कार्योंके साथ, (एवम्) कार्यकारणकर्तृत्वहेतु प्रकृति है और सुखदुःखभोक्तृत्वहेतु पुरुष है, इस प्रकारसे, (वेत्ति) जानता है, (सः) वह विवेकी पुरुष, (सर्वथा वर्तमानः अपि) संसारमें सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी, (भूयः न अभिजायते) फिर-फिर कर्मफल भोगनेके लिये जन्म नहीं लेता ॥ २३ ॥

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव।
नन्वेतदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः॥

(अथर्ववेदः १३-२-१३)

हे मुमुक्षु पुरुष! (वत्सः) शिशु, (मातरौ इव) माता-पिताको जैसे, (सम्) समानतासे जानता है, वैसे तू भी, (अन्तौ) जगत्के सिद्धान्तस्वरूप, (उभौ) दोनों प्रकृति-पुरुषोंको, (सम् अर्षसि) प्राप्त होकर दोनोंको सम्यक्तया जान। (ननु) निश्चय है कि, (अमी देवाः) यह दिव्य पुरुष अर्थात् ज्ञानी पुरुष, (एतत् ब्रह्म) इस ध्येयस्वरूप ब्रह्मको, (इतः) इस प्रकृति-पुरुषके ज्ञानसे अर्थात् कार्य-कारणकर्तृत्वहेतु प्रकृति है और सुखदुःखभोक्तृत्वहेतु पुरुष है, इस ज्ञान से, (पुरा) प्रथम भी अर्थात् पूर्वजन्मकृताभ्यासके आधारसे आरम्भसे ही, (ब्रह्म विदुः) पर-मात्मरूपमें जानते हैं।

उपनिषदोंमें कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मु. उ. २-२-८)

उस परब्रह्म और अवरब्रह्म अर्थात् प्रकृतिके दर्शन कर लेनेपर हृदयकी मोह-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है अर्थात् सांसारिक मोह दूर हो जाता है, देह आत्मा है या आत्मा देहसे भिन्न है इस प्रकारके सभी संशय दूर हो जाते हैं और इसके सब सञ्चित कर्म क्षीण हो जाते हैं अर्थात् इसे कर्मोंका दोष नहीं लगता, यह कर्म करता हुआ भी निर्लेप रहता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(मु. उ. ३-१-३)

जब जीवात्मा ज्योतिःस्वरूप, जगत्-कर्ता, सबके स्वामी पुरुषको तथा (ब्रह्म-योनि) प्रकृतिको ज्ञानदृष्टिसे देख लेता है तब तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुण्य और पाप धोकर अर्थात् दूर करके निष्कलङ्क होकर परम समताको पाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।

(छा. उ. ६-१४-२)

आचार्यसे शिक्षा पाया हुआ मुमुक्षु पुरुष जब प्रकृति-पुरुषके तत्त्वको जान लेता है तो प्रारब्ध-कर्मोपभोगाधारतक संसारमें रहता है, फिर मुक्त हो जाता है।

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।

(छा. उ. ५-२४-३)

जैसे सरकण्डेके ऊपरकी रुई अग्निमें डालनेपर जल जाती है ऐसे ही उसके सारे पाप जल जाते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि प्रकृति-पुरुषके तत्त्वज्ञानका वेत्ता प्रारब्ध-कर्मोपभोगतक संसारमें वास करता हुआ मृत्युके अनन्तर फिर जन्म ग्रहण नहीं करता। वेद और उपनिषद्में भी कहा गया है कि जैसे पुत्र माता-पिताका वास्तविक ज्ञान पा लेनेपर अपनी वास्तविक उन्नतिको प्राप्त होता है ऐसे जिज्ञासु पुरुष भी प्रकृति-पुरुषका वास्तविक तत्त्वज्ञान पानेके अनन्तर पुण्य-पाप धोकर निष्कलङ्क होकर मुक्तिधामको पाते हैं।

२४. ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
२५. अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(केचित्) कई मुमुक्षुजन, (ध्यानेन) एकाग्र मनसे, (आत्मनि) बुद्धिमें, (आत्मानम्) परमात्माको, (आत्मना) स्वस्वरूपसे, (पश्यन्ति) देखते हैं। (अन्ये) और कई मुमुक्षु, (साङ्ख्येन योगेन) प्रकृति और है, पुरुष और है, इस संसारसे मोक्षके उपायरूप साङ्ख्ययोगसे बुद्धिमें परमात्माको देखते हैं। (अन्ये) सांख्ययोगके अनधिकारी दूसरे मुमुक्षु पुरुष, (कर्मयोगेन) नित्य-नैमित्तिक-कर्मानुष्ठानसे चित्तशुद्धि-सम्पादनके लिये आत्माको देखते हैं क्योंकि वे भगवदर्पण निष्काम कर्म करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति जानते हैं॥ २४॥

(अन्ये तु) इनसे भिन्न साधारणजन शूद्रादि लोग तो, (अजानन्तः) ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इन तीनोंमें-से किसीको न जानते हुए, (अन्येभ्यः) ब्राह्मणों तथा सदसद्विवेकी गुरुओंसे 'परमात्मा ऐसा है, ऐसा काम करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होगी' इत्यादि बातें, (श्रुत्वा) सुनकर, (आत्मानम् उपासते) परमात्माकी उपासना करते हैं। (तेऽपि) केवल गुरुओं द्वारा परमात्माका नाम सुननेवाले वे लोग भी, (मृत्युम्) मृत्यु-दुःखप्रधान संसार-सागरको, (अतितरन्ति एव) पार ही कर जाते हैं॥ २५॥

त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥

(ऋग्वेदः ३-२६-८)

([1]पवित्रैः त्रिभिः) मनको पवित्र करनेवाले ध्यान-योग, सांख्ययोग, कर्म-योग इन तीन रीतियोंसे, ([2]अर्कम्) अर्चनीय निरतिशयानन्द-लक्षणवाले, ([3]हृदा) अन्तःकरण वृत्तिसे, ([4]मतिम्) सबसे माननेयोग्य, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप परब्रह्मके तेजको, (अनु—प्रजानन्) श्रवण-मननादि क्रमसे प्रकर्षतासे संशय-विपर्यय-भावना-बुद्धिका निरास हो जानेसे स्वस्वरूप अर्थात् आत्मा रूपको जानता हुआ मुमुक्षु पुरुष, (हि) निश्चय ही, ([5]अपुपोत्) अवश्यमेव पवित्र अर्थात् निर्लेप कर लेता है। (स्वधाभिः) ऐसा जाननेवाला मुमुक्षु पुरुष अपने आत्मासे ब्रह्मस्वरूपधारक बुद्धि-वृत्तियोंसे, (वर्षिष्ठम्) सब श्रेष्ठोंसे भी श्रेष्ठ अपने आत्मा-को, (रत्नम्) रमण करनेयोग्य अर्थात् सबसे सुन्दर, ([6]अक्रत) कर लेता है। (आत् इत्) इसके अनन्तर अर्थात् आत्मस्वरूपके जान लेनेपर, (द्यावापृथिवी) सब जगत्‌के वासी सब आत्माओंको, (परि अपश्यत्) चारों ओर अपना स्वरूप देखता है।

शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम्।
मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम्॥

(ऋग्वेदः ३-२६-९)

(रोदसी !) हे पृथिव्याकाशवासी प्राणियो ! तुम स्त्री-पुरुष दोनों ही, (शतधारम्) सैकड़ों प्रकारसे ज्ञानोपदेश-क्षमताके धारण करनेवाले या सैकड़ों ज्ञानोपदेश-क्षमतारूपी धाराओंसे युक्त, (अक्षीयमाणम्) कभी भी उपदेश देनेमें क्षीण न होनेवाले अर्थात् सदा शिष्योंको उपदेशके, ([7]उत्सम्—लुप्तोपमा, उत्सम्

---

१. पवित्रैः—'पूञ् पवने', 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' इति देवतायामभिधेयायां कर्तरि इत्रप्रत्ययः। पुनन्तीति पवित्राः।

२. अर्कम्—'अर्च् पूजायाम्', 'कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः' इति कप्रत्ययः। जगत्-स्रष्टा प्राणः—'सोर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपो अजायन्त अर्चतेवैमेकमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्।

३. हृदा—हृदयशब्दस्य 'पद्दन्नो' इत्यादिना हृदादेशः।

४. मतिम्—'मन-ज्ञाने' इत्यस्मात् 'मन्त्रेवृषे' इत्यादिना कर्मणि क्तिन्प्रत्ययः।

५. अपुपोत्—'पूञ् पवने' इत्यस्य यङलुगन्तस्य रूपम्। संज्ञापूर्वकस्य विधेः अनित्यत्वात् अभ्यासस्य गुणाभावः।

६. अक्रत—करोतेर्लुङि सिच्, तस्य ह्रस्वादङ्गादिति लोपः।

७. उत्सम्—उनत्तीति उत्सः। 'उन्दी क्लेदने', उन्द्यमिगुधिकुषिभ्यः किदिति सप्रत्ययः, कित्त्वान्नकारलोपः।

इव) सतत प्रवाहवाले अर्थात् नदीके प्रवाहके समान अविच्छिन्न वाक्-सरणिवाले, ([1]विपश्चितम्) पूर्ण ज्ञानवाले अर्थात् सकलशास्त्र-निष्णात, (पितरम्) शिष्यों-को विद्योपदेश द्वारा पिताकी भाँति पालनेवाले, ([2]वक्त्वानां=वाक्यानाम्) वेदान्त-वाक्योंका अर्थात् 'जगत्-स्वरूप, ब्रह्म-स्वरूप और कर्तृत्वभोक्तृत्वादि-विचारक वाक्योंका, ([3]मेळिम्) मिलान करनेवाले अर्थात् वेद और उपनिषदोंकी नाना शाखाओंमें आए हुए वाक्योंको ब्रह्मात्मैकत्वकी सङ्गति जोड़कर बतानेवाले, (पित्रोः उपस्थे=द्यौ पिता, पृथिवी माता) पिता और माता अर्थात् आकाश और पृथिवीकी गोदमें रहकर, (मदन्तम्) ज्ञानातिशयसे अत्यन्त प्रसन्न मनवाले, अतएव, (सत्यवाचम्) सत्यस्वरूप परब्रह्मको वाणीमें 'ॐ तत्सद्ब्रह्म' ऐसा कहने-वाले या सत्य बोलनेवाले, (तम्) वेदान्त-वाक्योंका उपदेश देनेवाले उस गुरुको, ([4]पिपृतम्) अपेक्षित सेवाभावसे पूर्ण कर दो या उस गुरुकी आज्ञा पालन करो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जिज्ञासु मनुष्य प्रायः आत्माको ध्यानयोग, सांख्ययोग अथवा कर्मयोगसे जानते हैं किन्तु कई जिज्ञासु इन तीनों बातोंमें असमर्थ होकर ज्ञानी गुरुसे ब्रह्मपरक बातें सुनकर पुनर्जन्म तथा पुनर्मृत्युसे पार हो जाते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इन तीनोंसे मनुष्यका मन पवित्र हो जाता है और वह एकाग्र मनसे ज्योतिः-स्वरूप परमात्माका ध्यान करके जन्म-मरणके बन्धनसे रहित हो जाता है। जिसकी शक्ति ध्यानयोगादि तीनोंमें नहीं चल सकती वह प्राणी सत्योपदेश, ब्रह्म-निष्ठ वक्ता अर्थात् गुरुसे ब्रह्मज्ञानको सुनकर उस उपदेशके आधारसे अपने मन-को पवित्र करके प्राप्त शिक्षा द्वारा सदाचारी रहकर परमात्माराधन करता हुआ अपने गुरुको आनन्दित कर देता है। गुरु भी यही समझता है कि मेरा उपदेश सफल हो गया है।

२६. यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

---

१. विपश्चितम्—विशेषेण पातीति विपा=वाक्, विपो वाचश्चिनोतीति क्विप्। 'ह्रस्वस्य पिति' इति तुक्। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलवचनात् द्वितीयाया अप्यलुक्।

२. वक्त्वानाम्—'वच् परिभाषणे', अस्मात् 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इति त्वन्प्रत्यय, 'चोः कुः' इति कुत्वम्।

३. मेळिम्—मिलिः सम्पर्कार्थः, औणादिकः इप्रत्ययः।

४. पिपृतम्—'पॄ पालनपूरणयोः'।

(भरतर्षभ !) हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (स्थावरजङ्गमम्) स्थावर अर्थात् न चलनेवाले और जङ्गम अर्थात् चलनेवाले प्राणिस्वरूप, (सत्त्वम्) पदार्थ, (यावत्किञ्चित्) जितना जो कुछ ब्रह्मसे लेकर स्तम्बपर्यन्त, (सञ्जायते) उत्पन्न होता है, (तत् हि) निश्चय ही वह सब पदार्थ, (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्) प्रकृति और पुरुषके संबन्धसे उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥

(अथर्ववेदः ११-८-३३)

(त्रेधा विष्वङ) सत्त्वरजस्तमोगुण इन तीन प्रकारके गुणोंवाली सारे ब्रह्माण्डमें चलती हुई प्रकृति, (प्रथमेन) अनादि अर्थात् अजन्मा, (प्रमारेण) मारक क्षेत्रज्ञके साथ अर्थात् आत्माके संयोगसे [आत्मा क्षेत्र अर्थात् देहसे निकल जाता है तब क्षेत्र अर्थात् देह मृत कहा जाता है अतः इस मन्त्रमें आत्मशब्दके स्थानपर 'प्रमार' पदका प्रयोग किया गया है अथवा जब परमात्मा संसार-जिहीर्षावश विराट् रूप देहसे पृथक् होता है अर्थात् प्रलय करता है तो भी प्रमार शब्दका प्रयोग हो सकता है], (गच्छति) अपनी गति करता है । क्योंकि प्रकृति जड है अतः स्वयं गति नहीं कर सकती । (एकेन अदः गच्छति) अतएव आत्मा भी रजोगुणके आधारपर उस सुखमय स्वर्गलोकको जाता है । (एकेन अदः गच्छति) एक तमोगुणसे दुःखमय नरकलोकको जाता है । (एकेन इह एव नि षेवते) एक सत्त्वगुणसे सुकृत कर्मोंके उपभोगके लिये इस मनुष्य लोकमें ही स्वपुण्य-पाप कर्मोंके फलोंको भोगता है ।

उपनिषद्में कहा गया है—

पुण्येन पुण्यलोकं नयति, पापेन पापम् ।
उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥

(प्रश्न उ. ३-७)

पुण्यसे पुण्यलोकको ले जाता है, पापसे पापलोकको, पाप-पुण्य दोनोंसे मनुष्यलोकको ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि उत्पन्न हुआ जितना जो कुछ चराचर जगत् दृष्टिगोचर होता है वह समग्र प्रकृति-पुरुषके संबन्धसे ही होता है । वेद और उपनिषद्में भी यही कहा गया है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति प्रमार अर्थात् क्षेत्रज्ञके साथ चल रही है । यदि आत्माका संबन्ध इसके साथ न हो तो प्रकृति

एक क्षण भी नहीं रह सकती, विराट् देहमें परमात्मसत्ता स्थिर है इसीलिये विराट् देह चल रही है। परन्तु यही आत्मा प्रकृतिके रजोगुण-सेवनसे स्वर्गादि सुख, तमोगुण-सेवनसे नरकादि दुःख और सत्त्वगुण-सेवनसे इस मनुष्यलोकमें कर्मफलको भोगता है।

२७. समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

(यः) जो मनुष्य, (सर्वेषु भूतेषु) ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त सबमें, (समम्) समानरूप अर्थात् एकरस, (तिष्ठन्तम्) भेद-भावसे रहित होकर स्थित, (परमेश्वरम्) परमेश्वरको, (विनश्यत्सु अविनश्यन्तम्) विनाशवान् पदार्थोंमें अविनाशी रूपसे देखता है, (सः पश्यति) वही आत्माके वास्तविक स्वरूपको देखता है ॥ २७ ॥

धीरासः पदं कवयो नयन्ति नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम्।
सिषासन्तः पर्यपश्यन्त सिन्धुमाविरेभ्यो अभवत्सूर्यो नॄन् ॥

(ऋग्वेदः १-१४६-४)

(धीरासः) बुद्धिमान्, (कवयः) ज्ञानीजन, (हृदा) शुद्धान्तःकरणसे, (नाना रक्षमाणा) नाना प्रकारसे अथवा नाना प्रकारवाले रूप-रसादि प्राकृतिक पदार्थोंसे मानसिक वृत्ति द्वारा अपनी रक्षा करते हुए अर्थात् विषयोंसे उपराम हुए, (जुर्यम्) पदार्थोंके जीर्ण हो जानेपर भी जराहीनताके, (सिषासन्तः) सेवनके लिए इच्छा करते हुए, (पदं नयन्ति) अपने आपको ब्रह्मपद अर्थात् मुक्तिको प्राप्त कराते हैं। (सिन्धुम्) अतएव सर्वत्र स्यन्दनशील परमात्माको, (पर्यपश्यन्त) चारों ओर सब पदार्थोंमें समानभावसे देखते हैं। (सूर्यः) सबका उत्पादक परमात्मा, (एभ्यः नॄन्) इन मनुष्योंके सम्मुख, (आविरभवत्) प्रकट अर्थात् प्रत्यक्ष हो जाता है।

उपनिषद्में कहा गया है—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

(कठ उ. १-२-२१)

ज्ञानी पुरुष शरीरधारियोंमें शरीरसे रहित, मर्त्योंमें अमर्त्य, सबसे महान् आत्माको सर्वसमर्थ मानकर शोक नहीं करता।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
(मु. उ. ३-१-५)

शरीरके भीतर ज्योतिःस्वरूप वह शुद्ध आत्मा है, पाप-पुण्यसे रहित यति-लोग जिसे देखते हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
(कठ उ. १-३-१२)

यह सब भूतोंमें गूढ अर्थात् छिपा हुआ आत्मा देखा नहीं जाता परन्तु सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचारात्मक बुद्धि रखनेवाले पुरुषोंसे तीक्ष्ण अर्थात् श्रेष्ठ परम-सूक्ष्म बुद्धिसे देखा जाता है।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।
(मु. उ. ३-१-८)

तत्त्वज्ञानकी कृपासे साधक शुद्ध मनवाला होकर फिर आत्माका ध्यान करता हुआ उस शुद्ध ब्रह्मको देखता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो सब विनाशी पदार्थोंमें समान रूपसे स्थित परमात्माको अविनाशी रूपमें देखता है वही मनुष्य परमात्माका दर्शन करता है। वेद और उपनिषदोंमें भी यही कहा गया है कि बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष सच्चे मनसे सांसारिक पदार्थोंके मोहसे अपने आपको बचाते हुए सर्वत्र उस परब्रह्मको देखते हैं, परमात्मा उनके ·म्मुख प्रकट होता है। जो आत्मा शरीरोंमें शरीरसे रहित और विनश्वरोंमें अविनश्वर परमात्माको हृदयमें विराज-मान जानता है वही सूक्ष्म बुद्धिसे उसका दर्शन करता है।

२८. समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

जो मुमुक्षु पुरुष, (सर्वत्र समवस्थितम्) सर्वत्र समान रूप अर्थात् एक-रससे स्थित हुए, (समम् ईश्वरम्) समानरूप ईश्वरको, (पश्यन्) देखता हुआ, (आत्मना आत्मानं न हिनस्ति) अपने आप अपना हनन नहीं करता अर्थात् देहके नाश होनेपर आत्माका नाश नहीं मानता, (ततः) देह अनित्य है, आत्मा नित्य है, इस तत्त्वको जान लेनेके अनन्तर, (परां गतिं याति) परमपद अर्थात् मुक्तिपदको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम् ।
अनुष्टुभमनु [1]चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि [2]चिक्युः कवयो [3]मनीषा ॥

(ऋग्वेदः १०-१२४-९)

(कवयः) क्रान्तदर्शी, ब्रह्मवेत्ता, ज्ञानी, (बीभत्सूनाम्) परमात्माके भयसे डरनेवाले, 'यद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्' इत्यादि उक्तिसे ईश्वरके भयसे काँपनेवाले वाय्वादि-पञ्चभूतोंके, (सयुजम्) संयोगवाले अर्थात् पञ्च-भूतोंमें व्याप्त, (दिव्यानाम्) दिव्य-गुणविशिष्ट, (अपाम्) सर्वत्र व्याप्ति-वाले, घटमठादि-आकाशकी, (सख्ये) समानतामें अर्थात् आकाशके समान सर्वत्र, (चरन्तम्) गतिमान् अर्थात् व्याप्त होनेवाले, (हंसम्) 'हन्ति सर्वत्र गच्छतीति हंसः' उस सर्वव्यापक परमेश्वरको, (आहुः) कहते हैं। अतएव (कवयः) ज्ञानीजन, (मनीषा = मनीषया) सर्वत्र समबुद्धिसे, (अनुष्टुभम्) स्तुतिके योग्य, (चर्चूर्यमाणम्) सर्वत्र पुनः पुनः विचरनेवाले, (इन्द्रम्) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वरको, (नि चिक्युः) जानते हैं।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(यजुर्वेदः ४०-३)

(ये के च आत्महनः जनाः) जो काम्य कर्म करनेवाले अतः आत्मघाती लोग हैं, (ते) वे, (प्रेत्य) मरकर, (अन्धेन तमसावृताः) अज्ञानान्धकारसे आच्छादित, (असुर्या नाम लोकाः) असुर्यनामक जो आसुरी लोक हैं, (तान्) उन लोकोंको, (अपिगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो पुरुष केवल देहको आत्मा मानकर वास्तविक आत्मचिन्तन नहीं करते वे आत्मघाती हैं परन्तु जो सब वस्तुओंमें ईश्वरको समानरूपसे स्थित मानते हैं तथा जो आत्माको देहसे भिन्न मानकर आत्मचिन्तन करते हैं वे परमगति (मोक्ष) को पाते हैं। वेद और उपनिषद्-

---

१. चर्चूर्यमाणम्—चरतेर्यङि 'उत्परस्यातः' इत्यभ्यासादुत्तरस्य अकारस्य उत्त्वम्। 'चरफलोश्च' इति नुकि प्राप्ते व्यत्ययेन अभ्यासस्य रुगागमः।

२. चिक्युः—'चायृ पूजानिशामनयोः' इत्यस्मात् छान्दसे लिटि, 'चायः की' इति प्रकृतेः कीभावः, 'एरनेकाचः' -इति यण्।

३. मनीषा—मनीषाशब्दात् तृतीयायाः सुपां सुलुगिति लुक्।

में भी कहा गया है कि जो तत्त्ववेत्ता ज्ञानी वाय्वादि पञ्चभूतोंमें तथा सर्वत्र ब्रह्मको व्याप्त रूपसे देखते हैं वही ब्रह्मको जानते हैं ।

२९. प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

(यः) जो मनुष्य, (प्रकृत्या एव) कार्यकारणकर्तृत्वहेतुभूत प्रकृतिसे ही, (सर्वशः) सब प्रकारसे, (क्रियमाणानि) किये जाए हुए, (कर्माणि) नित्य-नैमित्तिक विधि-निषेधात्मक कर्मोंको, (पश्यति) देखता है, (तथा) उसी प्रकार अपनी विवेकात्मक शक्तिसे, (आत्मानम्) आत्माको, (अकर्तारम्) कर्तृत्वभोक्तृत्वरहित देखता है, (सः पश्यति) वह पुरुष आत्माको सर्वदा एक-रस देखता है ॥ २९ ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥
(अथर्ववेदः ४-३०-४)

इस मन्त्रकी व्याख्या गीताके श्लोक ३-२७ के नीचे देखें ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सात्त्विक, राजस, तामस, नित्य-नैमित्तिक, विधि-निषेधात्मक सब कर्म प्रकृतिके गुण करते रहते हैं । जो पुरुष उनमें आसक्त होकर उन्हें अपना किया समझता है वह संसारी जीव है । जो प्रकृतिके कर्म प्रकृति अर्थात् देहके साथ समझता है, वस्तुतः वही आत्माको जानता है । वेदमें भी कहा गया है कि देखना, सुनना, श्वासोच्छ्वासादि प्रकृतिके गुणोंके कार्य हैं न कि आत्माके । ऐसा जो जानता है वही ब्रह्मको पाता है ।

३०. यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

मनुष्य, (यदा) जिस समय, (भूतपृथग्भावम्) पृथिव्यादि भूतोंकी पृथक्ताको, (एकस्थम्) एक परमात्मामें स्थित अर्थात् ये सब भूत परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं और उसीमें स्थित हैं, ऐसा, (अनुपश्यति) देखता है, (तत एव च विस्तारम्) और उसी ब्रह्मसे इन भूतोंके विस्तारको देखता है तब यह पुरुष, (ब्रह्म सम्पद्यते) ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य[1][2] मिमते द्वादश ।।

(ऋग्वेदः १०-११४-५)

(विप्राः कवयः) बुद्धिमान् तत्त्वज्ञानी पुरुष, (सुपर्णम्) सर्वत्र प्राप्त होनेवाले अर्थात् सर्वव्यापक, (एकं सन्तम्) एकरस विद्यमान परमात्माको, (वचोभिः) स्तुतिस्वरूप वचनोंसे, (बहुधा) बहुत प्रकारसे अथवा पञ्चभूतादि बहुत प्रकारके रूपोंसे, (कल्पयन्ति) कहते हैं। वे ही तत्त्वज्ञानी मुनि, (अध्वरेषु) ज्ञानयज्ञोंमें, (छन्दांसि दधतः) वेदवाक्योंको धारण करते हुए, (सोमस्य) परमात्माके, (द्वादश ग्रहान्) बहुत प्रकारके स्वरूपोंकी या बहुत प्रकारके मुक्तिप्राप्तिके साधनोंकी, (मिमते) माप करते हैं।

उपनिषदोंमें कहा गया है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।

(कठ उ. २-५-१२)

सर्वभूतोंमें वास करनेवाला, सारे प्रपञ्चको अपने वशमें रखनेवाला परमात्मा एकरस है, जो अपने रूपको विश्वमें बहुत प्रकारका कर देता है। जो ज्ञानी लोग सबमें रहनेवाले आत्माको सर्वत्र एकरस देखते हैं वे ही नित्य सुख अर्थात् मोक्षको पाते हैं।

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां
सर्वं ह पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वशः ।।

(छा. उ. ७-२६-२)

जो यह देखता है कि यह सब कुछ आत्मासे ही है वह न मृत्युको देखता, न रोगको, न ही दुःखको देखता है। ऐसा देखनेवाला प्रत्येक वस्तुको देखता है तथा सब प्रकारसे प्रत्येक वस्तुको प्राप्त होता है।

स एकधा भवति त्रिधा भवति, पञ्चधा, सप्तधा, नवधा, चैव
पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः ।

(छा. उ. ७-२६-२)

---

१. ग्रहान्—गृह्यते एभिरिति ग्रहाः। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इति अप्प्रत्ययः।

२. सोमस्य—कर्मणि षष्ठी।

वह एक, तीन, पाँच, सात, नौ प्रकारोंसे होता है। फिर वह ग्यारह प्रकारका बताया गया है तथा सौ और दस तथा एक और बीस सहस्र है।

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेजः, आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति।

(छा. उ. ७-२६-१)

जो इस प्रकार देखता है, मानता है, समझता है, उसके लिए आत्मासे प्राण, आत्मासे आशा, आत्मासे स्मृति, आत्मासे आकाश, आत्मासे तेज, आत्मासे जल, आत्मासे आविर्भाव-तिरोभाव, आत्मासे अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म, सब कुछ आत्मासे ही उत्पन्न हुआ है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश उ. ६)

फिर जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है उससे वह नहीं छिपता।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो पुरुष पृथिवी-जलादि पञ्चभूतोंको पृथक्-पृथक् देखकर भी उनको ब्रह्मका विस्तार तथा उनमें ब्रह्मकी व्यापकताको देखता है वही ज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है। वेद और उपनिषदोंमें भी यही कहा गया है कि एक ही परमात्मा सर्वदा एकरसरूप होते हुए भी सब संसारमें व्यापक होकर रहता है। सब पदार्थोंमें आत्मसत्ता स्थित है। कोई पदार्थ परमात्माकी व्यापकताके बिना सम्भव नहीं है। ऐसा देखनेवाला पुरुष ही ज्ञानी और मुक्त है।

३१. अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(कौन्तेय!) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन! (अयम् अनादित्वात्) यह सर्वदा एक रस-रूपवाला अनादि होनेसे, (निर्गुणत्वात्) त्रिगुणातीत अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणोंसे रहित होनेके कारण, (अव्ययः परमात्मा) अविकारी

परमात्मा, (शरीरस्थः अपि) शरीरमें रहता हुआ भी, (न करोति) प्राकृतिक पदार्थोंकी सहायतासे कुछ नहीं करता, (न लिप्यते) अतः वह आत्मा प्राकृतिक गुणोंके कार्योंमें लिप्त भी नहीं होता ॥ ३१ ॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥
(ऋग्वेदः १-१६४-१५)

(साकंजानां सप्तथम् एकजम् आहुः) देह-संघातमें घ्राण, नेत्र, त्वक्, जिह्वा, श्रोत्र, मन, इन छह इन्द्रियोंके साथ उत्पन्न हुए, सातवें आत्माको ज्ञानी प्रकट हुआ कहते हैं। वह आत्मा एकज अर्थात् सर्वप्रथम एक ही हुआ ऐसा कहते हैं। अब वह देह-इन्द्रियोंके साथ प्रकट हुआ है। (षट् इत् यमाः) चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, त्वक्, रसना, मन, ये छह सर्वदा रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श, रस और मनके साथ समन्वित रहनेसे, (यमाः) जोड़ा कहे गए हैं क्योंकि इन्द्रिय और विषयोंका अन्वय-व्यतिरेक रहता है। (देवजाः ऋषयः इति) ये पृथिव्यादि देवताओंसे उत्पन्न हुए हैं तथा गतिशील रहते हैं अतः इन्हें ऋषि भी कहते हैं। (तेषाम्) उन छह इन्द्रियोंके, (धामशः इष्टानि विहितानि) स्थानपर-से रूप-रसादि इष्ट बातें नियत की गई हैं। परन्तु ये भूत भी, (स्थात्रे) सर्वदा स्थिर रहनेवाले या भूतोंके स्थापित करनेवाले अव्ययरूप परमात्मासे, (रूपशः विकृतानि रेजन्ते) अपने-अपने रूपसे विकृत होकर काँपते रहते हैं अर्थात् परमात्मासे भय खाते हैं। परमात्मा शरीरमें वास करता हुआ भी शरीरके गुणोंसे न विकृत होता है और न उनमें लिप्त होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अनादि, निर्गुण, अव्यय परमात्मा देहमें वास करता हुआ भी प्राकृतिक गुणाधारपर न कुछ करता है और न कर्म-बन्धनमें लिप्त होता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि महाभूतादि-संघातात्मक देहमें इन्द्रियोंके साथ प्रकट हुआ भी परमात्मा गुणोंमें अथवा गुणजन्य कार्योंमें लिप्त नहीं होता, प्रत्युत पञ्चभूत ही अपने उत्पादक परमात्मासे सर्वदा भयभीत होकर स्वकार्यको नियमतया करते रहते हैं, ईश्वरके भयसे अपने कार्यमें शिथिलता नहीं करते।

३२. यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥

(यथा) जिस प्रकार, (सौक्ष्म्यात्) स्वव्याप्त द्रव्यकी अपेक्षा अपने

आप अतिसूक्ष्म होनेसे, (सर्वगतम्) सबमें व्यापक, (आकाशम्) आकाश, (न उपलिप्यते) मूर्त पदार्थोंके सङ्गसे नहीं लिप्त होता अर्थात् घट या मठके ध्वंस हो जानेपर ध्वस्त नहीं होता, (तथा) उसी प्रकार, (आत्मा) आत्मा भी, (देहे) देहमें, (सर्वत्र अवस्थितः) सर्वत्र रहता हुआ भी, (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता अर्थात् नेत्रविकार या किसी अङ्गकी विकृतिमें देहसङ्गसे पृथक् रहता है अर्थात् आत्मा न अन्धा होता; न लँगड़ा इत्यादि होता ।। ३२ ।।

ऊर्ध्वो नु सृष्टास्तिर्यङ नु सृष्टाः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ।।

(अथर्ववेदः १०-२-२८)

(पुरुषः) पुर् अर्थात् देहमें वास करनेवाला आत्मा, (ऊर्ध्वः) देहके ऊर्ध्व भागमें, (नु सृष्टाः) निश्चय ही फैला हुआ है । (तिर्यक् नु सृष्टाः) आत्मा देहके तिर्यक् भागमें निश्चय ही फैला हुआ है । (सर्वाः दिशः आ बभूव) आत्मा देहकी सब दिशाओंमें व्याप्त है । (यः) जो पुरुष, (ब्रह्मणः पुरं वेद) शरीरव्यापी आत्माके देहको जानता है, (यस्याः) जिस पुर् अर्थात् देहके कारण, (पुरुषः उच्यते) यह पुरुष अर्थात् जीवात्मा कहा जाता है।

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।

(ऋग्वेदः १-११-१)

(विश्वाः) सब ज्ञानी जीव, (इन्द्रम्) परमात्माको, (समुद्रव्यचसम्), [समुद्रस्य अन्तरिक्षनामसु पाठः, निघण्टु १-३] आकाशके समान, (गिरः अवीवृधन्) वाणी द्वारा बढ़ाते हैं अर्थात् वर्णन करते हैं ।

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे ।
द्यौर्न प्रथिना शवः ।।

(अथर्ववेदः २०-७१-१)

(इन्द्रः) परमात्मा, (प्रथिना द्यौः न) विस्तृत विस्तारवाले आकाशके समान, (महान्) महान्, (च परः) और सबसे उत्कृष्ट है । (वज्रिणे महित्वम् अस्तु) उस दण्डधारी नियामक परमात्माकी महिमा है, (शवः) उसीका बड़ा बल है ।

नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते ।

(छा. उ. ८-१-५)

इस शरीरके वृद्ध होनेसे वह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म वृद्ध नहीं होता और न इसकी मृत्युसे वह मरता है ।

तुलना—गीतामें आकाशकी व्यापकताके दृष्टान्तसे शरीरस्थ आत्माका भी शारीरिक दोषोंसे दूषित न होना कहा गया है । वेद और उपनिषदोंमें भी कहा गया है कि आत्मा देहके ऊपरके भाग, निचले भाग तथा सर्वांगमें व्यापक होनेसे और पुर् अर्थात् देहमें वास करनेसे पुरुष अर्थात् जीवात्मा कहा जाता है । जैसे आकाश सब मूर्त द्रव्योंमें व्यापक होता हुआ उन मूर्त द्रव्योंके दूषित होनेसे दोषी नहीं होता, ऐसे आत्मा भी देहके दूषित होनेपर दूषित नहीं होता ।

३३. यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (यथा) जिस प्रकार, (रविः) सूर्य, (इमं कृत्स्नं लोकम्) इस सारे लोकको, (एकः) अकेला ही, (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है, (तथा) उसी प्रकार, (क्षेत्री) आत्मा, (कृत्स्नं क्षेत्रम्) सारे देहको, (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

अग्निर्नेता[1] भग इव क्षितीनां[2] दैवीनां[3] देव ऋतुपा[4] ऋतावा ।
स [5]वृत्रहा सनयो विश्ववेदाः [6]पर्षद्विश्वाति दुरिता [7]गृणन्तम् ॥

(ऋग्वेदः ३-२०-४)

(ऋतुपा देवः भग इव) समयानुसार वसन्तादि छह ऋतुओंका पालक प्रकाशमान सूर्य जैसे, (दैवीनां क्षितीनाम्) आकाश-पृथिव्यादि दैवी शक्तियोंका,

---

१. नेता—'णीञ् प्रापणे', तृचि रूपम् ।

२. क्षितीनाम्—'क्षि निवासगत्योः', 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' इति क्तिच्प्रत्ययः ।

३. दैवीनाम्—देवशब्दात् सम्बन्धार्थे 'देवाद् यञञौ' इति अञ्, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् ।

४. ऋतुपाः—'पा रक्षणे', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति विच् । ऋतून् पाति इति उपपदमतिङिति समासः ।

५. वृत्रहा—'हन् हिंसागत्योः' । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु' इति क्विप् ।

६. पर्षत्—'पॄ पालनपूरणयोः', लेटि 'सिब् बहुलम्' इति सिप्, अडागमश्च । 'इतश्च लोपः' इतीकारलोपः ।

७. गृणन्तम्—'गॄ शब्दे', लटः शतृ, क्र्यादित्वात् श्ना, प्वादित्वात् ह्रस्वः, नुमि 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपः ।

(देवः) प्रकाशक है, वैसे, (नेता) सारे संसारका संचालक या सब इन्द्रियोंका नेता, नियामक जीवात्मा, (ऋतावाः) सत्यकर्मा, (सनयः) सनातन, (वृत्रहा) अज्ञानान्धकार या पापका नाशक, (विश्ववेदाः) सब विषयोंका ज्ञाता, (क्षितीनाम्) आत्मनिवास देहोंका, (दैवीनाम्) इन्द्रियोंका, (देवः) प्रकाशक, (अग्निः) सर्वाग्रणी परमात्मा, (गृणन्तम्) स्तुति करनेवाले भक्तके, (विश्वा दुरितानि) सब पापोंको, (अतिपर्षत) पार कर देता है अर्थात् पापोंका नाश कर देता है।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥

(अथर्ववेदः १३-४-२)

(रश्मिभिः नभः आभृतम्) जैसे सूर्यकी किरणोंसे आकाशादि समग्र जगत् आवृत अर्थात् प्रकाशित होता है, वैसे ही, (महेन्द्रः) परमात्मा, (आभृतः एति) प्रकाशमयी ज्योतिसे मिला हुआ सारे हृदयाकाशको प्रकाशित करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जैसे सूर्य सारे जगत्को अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है वैसे यह आत्मा भी सारे देहको अपने आलोकसे प्रकाशित करता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जैसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा अन्तरिक्ष आदि समस्त लोकोंको प्रकाशित करता है वैसे परमात्मा भी अपने विराट्रूप देहको तथा आत्मा समस्त देहको प्रकाशित करता है।

३४. क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

(ये) जो मुमुक्षु पुरुष, (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः) प्रकृति-पुरुष अर्थात् देह और आत्माके, (एवम्) इस प्रकार, (अन्तरम्) भेदको, (ज्ञानचक्षुषा) विकारवान् देह है, अविकारी, अव्यय आत्मा है, ऐसे ज्ञानात्मक नेत्रोंसे, (विदुः) जानते हैं, (भूतप्रकृतिमोक्षं च) और भूत अर्थात् कार्य-कारणात्मक व्यक्तस्वरूप और मूल कारण अव्यक्तस्वरूप इन दोनोंके स्वाभाविक कर्मसे मोक्षको, (विदुः) जानते हैं, (ते) वे ही ज्ञानी पुरुष, (परं यान्ति) परमब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं सुमद्यूथं न पुरु शोभमानम् ।
न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि षः पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति ॥

(ऋग्वेदः ५-२-४)

(क्षेत्रात्=क्षेत्रे, सनुतः) मैं देहमें संबन्धित अर्थात् अन्तर्भूत होकर, (चरन्तम्) विचरते हुए, (यूथं न) यूथ अर्थात् देहेन्द्रिय-संघातके समान, (पुरु शोभमानम्) अत्यन्त प्रकाशमान, (सुमत्) सर्वदा प्रसन्न अर्थात् हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत आत्माको, (अपश्यम्) देखता हूँ। (ताः न अगृभ्रन्) जो ज्ञानी पुरुष देहकी उन त्रिगुणात्मक प्रकृतियोंको नहीं ग्रहण करते, (सः हि अजनिष्ट) निश्चय ही वह परमात्मा उनके लिये प्रकट होता है अर्थात् उन मुमुक्षु पुरुषोंको भगवान्का दर्शन होता है। (पलिक्नीः इत् युवतयः भवन्ति) अतएव भगवत्प्रकाश ही परमपदकी प्राप्तिके लिये मिश्रीभूत हो जाता है अर्थात् उसे भगवद्दर्शन शीघ्र होता है।

तुलना—गीतामें प्रकृति-पुरुषके भेदको जानकर परमपदका अधिकारी होना कहा गया है। वेद के अनुसार भी जो देहके स्वभावको पूर्णतया जान लेता है उसे शीघ्र भगवद्दर्शन हो जाता है।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका द्वादश अध्याय समाप्त ।

चतुर्दश अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

१. परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥

२. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे—हे अर्जुन ! (ज्ञानानाम्) सांख्ययोग, कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें, (उत्तमं ज्ञानम्) परम श्रेष्ठ ज्ञान, (भूयः) फिर, (प्रवक्ष्यामि) कहता हूँ, (सर्वे मुनयः) सब मुनि, (यत् ज्ञात्वा) जिस ज्ञानको जानकर, (इतः) इस संसारसे पार होकर, (परां सिद्धिं गताः) परमसिद्धिको प्राप्त हुए अर्थात् विदेहमुक्त हो गए ॥ १ ॥

(इदम्) मुक्तिके साधक इस ज्ञानको अर्थात् प्रकृति-पुरुषके विवेकको, (उप आश्रित्य) आश्रय करके, (मम) मुझ परमात्माकी, (साधर्म्यम्) समानधर्मता अर्थात् गुणातीतत्वको, (आगताः) प्राप्त हुए मुनिजन, (सर्गे अपि न उपजायन्ते) सृष्टिके आरम्भमें पुनर्जन्म लेनेके लिये विवश नहीं होते, (च प्रलये) और महाप्रलय अर्थात् हिरण्यगर्भादिका नाश होनेपर भी, (न व्यथन्ति) नहीं व्यथित होते ॥ २ ॥

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम् ।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥

(अथर्ववेदः ८-१-१३)

हे मुमुक्षुजन ! (बोधः) प्रकृति-पुरुषका ज्ञान, (प्रतिबोधः च) और प्रकृति-पुरुषका ज्ञानानुभव अर्थात् प्रकृति जड़ विकारवती है और पुरुष चेतन साक्षी है ऐसे ज्ञानका अनुभव, (त्वा) तुझ तत्त्वज्ञानीकी, (रक्षन्ताम्) रक्षा करे अर्थात् यह तेरा ज्ञान और विज्ञान सर्वदा तेरे साथ रहे और संसारमें तुझे जन्म-मरणसे बचावे । (अस्वप्नः) स्वप्न मिथ्या सृष्टिका द्वितीय नाम है, उस मिथ्या सृष्टिमें तेरा विश्वास न रहे, और, (अनवद्राणः) निद्राशून्य अर्थात् सावधानता, (त्वा रक्षताम्) तुझ ज्ञानीकी रक्षा करे अर्थात् मिथ्या वस्तु

यानी देहासक्ति तथा प्रमाद तुझसे दूर रहें, (गोपायन् च) और सर्वदा सांसारिक विषयोंसे तेरी रक्षा करते हुए, (जागृविः) सर्वदा परमात्माके ज्ञान-ध्यानमें जागरणशीलता, (त्वा रक्षताम्) संसार-बंधनसे तेरी रक्षा करती रहे।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य प्रकृति-पुरुषके विवेकको भलीभाँति जान लेता है वह महाप्रलयमें दुखी नहीं होता और उसका संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता। वेदमें कहा गया है कि ज्ञान और विज्ञान अर्थात् प्रकृति-पुरुषका तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वज्ञानानुभव रखनेसे स्वप्नादिवत् मिथ्याज्ञान तथा प्रमादसे रहित होनेसे और परमात्माके ज्ञान-ध्यानमें सर्वदा जागरणशील रहनेसे संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता और प्राणीकी मुक्ति हो जाती है।

३. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (मम) मेरी, (महद्ब्रह्म) गुणसाम्यावस्थावाली प्रकृति, (योनिः) सर्वभूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, क्योंकि सब कार्योंसे महान् होनेसे 'महत्' तथा अपने कार्योंके बृहत् होनेसे 'ब्रह्म' कही गयी है। (तस्मिन्) जगत्के बीजरूप उस महद्ब्रह्ममें, (अहम्) मैं परमात्मा, (गर्भं दधामि) अपने आभास अर्थात् चेतनतारूप बीजको धारण करता हूँ। (ततः) उस महत्ताभासके सामर्थ्यसे युक्त महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति-से, (सर्वभूतानाम्) सकल भूतकार्य चतुर्विध प्राणि-शरीरोंकी, (सम्भवः) उत्पत्ति, (भवति) होती है॥ ३॥

यत्प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते॥

(अथर्ववेदः ११-४-३)

(यत्) जिस समय, (प्राणः=प्रकर्षेण अनिति सर्वं चराचरम्) चराचरको अपनी चेतन सत्तासे प्राण देनेवाला परमात्मा, (स्तनयित्नुना) अपनी प्रेरणा-ध्वनिसे, (ओषधीः) स्थूल द्रुमवल्लरीको अर्थात् प्रकृतिको, (अभिक्रन्दति) सृष्ट्युत्पत्तिको अभिलक्ष्य करके अपनी चेतनसत्ताके प्रदानके लिए शब्द करता है, 'बहु स्यां प्रजायेय' ऐसी ध्वनि करता है, तब प्रकृति, (गर्भान्) परमात्माके चेतना सत्तारूप बीजको, (प्रवीयन्ते) परमात्माकी अभिक्रन्दनता अर्थात् इच्छारूप ध्वनिमात्रसे ही, (दधते) संसारोत्पत्तिके बीजको धारण करती है।

(अथो) गर्भधारणानन्तर, (बह्वीः विजायन्ते) बहुत प्रकारवाली सकल भूतकार्य चतुर्विध सृष्टि विविध प्रकारसे उत्पन्न हो जाती है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माकी सत्ता ही प्राकृतिक जगत्को उत्पन्न करनेके लिए त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें अपने चेतन सत्तारूप बीजको धारण करती है, जिस सत्तासे प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। वेदमें भी यही कहा गया है कि प्राणरूप परमात्मा अपने इच्छारूप क्रन्दनसे त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें चेतन सत्तारूप गर्भको धारण करता है, जिससे समग्र चराचर जगत् प्रकट होता है।

४. सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तिपुत्र अर्जुन ! (सर्वयोनिषु) स्थावर-जङ्गम-देव-मनुष्यादि योनियोंमें, (याः) जो, (मूर्तयः) मूर्तियाँ अर्थात् देह, (सम्भवन्ति) उत्पन्न होती हैं, (तासाम्) उन देहोंकी, (महद् ब्रह्म) प्रकृति, (योनिः) उत्पत्तिस्थान होती है। (अहम्) मैं परमात्मा, (बीजप्रदः पिता) गर्भदाता अर्थात् चेतनसत्ता देनेवाला पिता होता हूँ॥ ४॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु[1]।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥
(ऋग्वेदः १०-१८४-१)

(विष्णुः) सर्वव्यापक परमात्मा, (योनिम्) गर्भाधान-स्थान प्रकृतिको, (कल्पयतु) प्रकट करता है। (त्वष्टा) तनुकर्त्री प्रकृति, (रूपाणि) रूप-युक्त स्थावर-जङ्गमादि शरीरोंको, (पिंशतु) अवयवोंवाला बनाती है। (प्रजा-पतिः) प्रजास्वामी परमात्मा, (आ सिञ्चतु=आ सिञ्चति) इस प्रकार प्रक्लृप्त हुई प्रकृतिरूप योनिमें चेतनारूप बीजको सींचता है। (धाता) गर्भ-धारक परमात्मा, (ते=तम्) उस, (गर्भम्) बीजको अर्थात् प्रकृति द्वारा उत्पन्न की हुई मूर्तियोंमें चेतनसत्तारूप बीजको, (दधातु=दधाति) धारण करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि संसारमें जो मूर्तिमान् पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उन मूर्तियोंका उत्पत्तिस्थान प्रकृति है और बीज अर्थात् चेतनसत्ता-प्रदाता परमात्मा है। वेदमें भी कहा गया है कि परमात्मा अपनी इच्छाशक्ति द्वारा

---

१. पिंशतु—'पिश अवयवे'। मुचादित्वान्नुम्।

प्रकृतिको प्रकट करता है और वह प्रकृति रूपवान् पदार्थोंको उत्पन्न करती है। परमात्मा अपनी सत्तासे उसे सींचता है और उन पदार्थोंमें अपनी बीजरूप सत्ताको स्थापित करता है। तब यह सारा ब्रह्माण्ड अपना कार्य नियमित रूपसे करता है। यदि परमात्मसत्ता इनमें न हो तो यह सारा ब्रह्माण्ड शवरूप हो जाय।

५. **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।**
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥

(महाबाहो !) हे बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन ! (सत्त्वं रजः तमः) सत्त्व, रज, तम, (इति गुणाः) ये गुण, (प्रकृतिसम्भवाः) प्रकृतिसे उत्पन्न हुए, (देहे) प्रकृतिसे उत्पन्न देहमें, (अव्ययं देहिनम्) विकाररहित आत्माको, (निबध्नन्ति) अहंता-ममतामयी अभिमानरूपी रज्जुसे बाँध देते हैं॥ ५॥

त्रयः पवयो [1]मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः[2]।
त्रयः [3]स्कम्भासः [4]स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा॥

(ऋग्वेदः १-३४-२)

(मधुवाहने) जीवनरूप माधुर्यके धारण करनेवाले देहमें अर्थात् जो देह आत्मा और मनको प्रिय लगता है उसमें, (पवयः) मुक्तिके विनाशक वज्ररूप, (त्रयः) सत्त्व, रज, तम ये प्रकृतिके तीन गुण रहते हैं। (इत्) इस प्रकार, (विश्वे) सब ज्ञानी मनुष्य, (सोमस्य वेनाम्) आत्माके प्रकाश अर्थात् शुद्धताको जानते हैं। (स्कम्भासः त्रयः) स्कम्भमय सत्त्व, रज, तम, ये तीनों गुण उस शरीरमें, (आरभे) शरीरके अवलम्बनार्थ, (स्कभितासः) स्थापित किये हुए हैं। (अश्विना) हे आत्मा और मन, तुम दोनों, (रथे) त्रिगुणात्मक शरीररूपी रथसे, (नक्ते) रात्रि अर्थात् अज्ञानावस्थामें, (त्रिर्याथः) बहुत बार चलते हो, तथा, (दिवा) दिनमें अर्थात् ये गुण बाँधनेवाले हैं ऐसा

---

१. मधुवाहने—मधु वाह्यतेऽनेनेति मधुवाहनः, करणे ल्युट्।

२. विदुः—वेत्तेर्लटि 'विदो लटो वा' इति झेः उसादेशः।

३. स्कम्भासः—'ष्टभि स्कभि गतिप्रतिबन्धे', स्कम्भन्ते प्रतिबद्धा भवन्ति इति स्कम्भाः। पचाद्यच्।

४. स्कभितासः—स्कंभुः सौत्रो धातुः। अस्मान्निष्ठायां 'यस्य विभाषा' इतीट्-प्रतिषेधे प्राप्ते, 'ग्रसितस्कभित' इत्यादिना इडागमो निपातितः।

ज्ञान हो जानेपर भी, (त्रियर्थः) बारंबार चलते रहते हो अर्थात् दिन-रात शरीररूपी रथपर चढ़कर सांसारिक क्रीडासक्तिमें लगे रहते हो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सत्त्व, रज, तम, ये तीनों गुण प्राकृतिक हैं। यही गुण शुद्धात्माका बन्धन देहमें तदाभास रूपसे करा देते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि आत्मा मन द्वारा जीवनमाधुर्यमय देहके तीनों गुणोंमें बँध जाता है, फिर उस देहसे पृथक् होना नहीं चाहता, दिन-रात उन गुणोंमें फँसकर सांसारिक क्रीडासक्तिमें लगा रहता है।

६. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

७. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥

(अनघ!) हे पापरहित अर्जुन! (तत्र) उन तीनों गुणोंमें, (सत्त्वम्) सत्त्वगुण, (निर्मलत्वात्) रजोगुण और तमोगुणके मैलसे रहित होनेसे, (प्रकाशकम्) सब वस्तुओंके ज्ञानको प्रकाशित करनेवाला, (अनामयम्) रजस्तमोगुणरूपी रोगसे रहित अर्थात् सुखमय, (सुखसङ्गेन) पारलौकिक सुखके सङ्गसे, तथा, (ज्ञानसङ्गेन) प्रकृति-पुरुषके प्रतिपादक शास्त्रज्ञान द्वारा, (बध्नाति) मनुष्यको बाँध लेता है॥ ६॥

(कौन्तेय!) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन! (रजः) रजोगुणको, (तृष्णासङ्गसमुद्भवम्) अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा तृष्णा तथा प्राप्त वस्तुओंके ग्रहण करनेकी इच्छा संग, इन दोनों अर्थात् इच्छा और संगसे उत्पन्न या तृष्णा अर्थात् कामनाके संगसे उत्पन्न, (रागात्मकम्) स्नेहस्वरूप, (विद्धि) जान। (तत्) वह रजोगुण, (देहिनम्) आत्माको, (कर्मसङ्गेन) लौकिक-वैदिक नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके संयोगसे, (बध्नाति) बाँध लेता है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुरुषको भी कर्मठ अर्थात् कर्मकर्ता बना देता है॥ ७॥

यस्येदमा 'रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः।
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत्॥

(अथर्ववेदः ६-३३-१)

---

१. रजः—'रञ्ज् रागे', असुनि, 'रजकरजनरजःसूपसंख्यानम्' इत्युपधालोपः।

([1]युजः) ब्रह्मज्ञानमें युक्त, (यस्य) जिस प्राणीका, (इदं रजः) आत्मा रजोगुणी है अर्थात् जिस आत्माका रजोगुणके साथ सम्बन्ध है, (जने) उस रजोगुणी मनुष्यमें, (वनम्) सेवनयोग्य, ([2]रन्त्यम्) अत्यन्त रमणीय, (बृहत्) बहुत बड़े, ([3]स्वः) अपने किये हुए शुभ कर्मके फलस्वरूप प्राणी सुख प्राप्त करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सत्त्वगुण निर्मल मनको प्रसन्न तथा शान्त रखते हुए सुख और ज्ञानके साथ जोड़ देता है और कामनासे उत्पन्न हुआ रजोगुण स्नेह अर्थात् रागके साथ जोड़ता है और ज्ञानीजनको भी पूरा कर्मठ बना देता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि सत्त्वगुण ब्रह्मज्ञानका प्रदाता है क्योंकि 'सत्' का अर्थ है ब्रह्म (ॐ तत् सद् ब्रह्म) और सत्का भाव है सत्त्व [सतो भावः सत्त्वम्]। रजोगुण जीवात्माको सांसारिक सुखोंमें भलीभाँति संलग्न कर देता है जिससे मनुष्यको रजोगुण अत्यन्त प्रिय लगता है।

८. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (अज्ञानजं तमः) अज्ञान सत्तासे उत्पन्न तमोगुणको, (सर्वदेहिनाम्) सब प्राणियोंका, (मोहनं विद्धि) मोहन करनेवाला जान। (तत्) वह तमोगुण, (प्रमादालस्यनिद्राभिः) प्रयत्नसे करनेयोग्य कार्यमें विस्मृति प्रमाद, कर्तव्य कार्यमें श्रद्धा और उत्साहका अभाव आलस्य और मोहबुद्धिसे कर्तव्य छोड़कर शयन निद्रा, इन तीनोंसे मनुष्यको बाँध लेता है ॥ ८ ॥

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥

(अथर्ववेदः १०-१-३०)

हे मनुष्यो ! (यदि) यदि तुम, (जालेन अभिहिताः इव) जालसे बँधे हुओंके समान, (तमसा) तमोगुणसे, (आवृताः) लपेटे हुए, (स्थ) हो, तो तुम्हारे, (सर्वाः कृत्याः) सब काम, (इतः) इस लोकसे, (संलुप्य) लुप्त

---

१. युजः—'युजिर् योगे', छान्दसे लुङि, च्लेः अङ् आदेशः।

२. रन्त्यम्—'रमु क्रीडायाम्', 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्', इति क्तिच्। 'न क्तिचि दीर्घश्च' इत्यनुनासिकलोपदीर्घयोरभावः।

३. स्वः—सुपूर्वादिर्चेर्विच्।

होकर, (पुनः) फिर, (कर्त्रे) कर्म करनेवाले पुरुषको, (प्र हिण्मसि, पुरुष-वचनव्यत्ययः) नष्ट कर देते हैं।

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।
तम एतत्पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्॥

(अथर्ववेदः ८-१-१०)

(पुरुष !) हे मुमुक्षु जन ! तू, (एतं पन्थाम्) इस तमोगुणवाले मार्गको, (मा अनुगाः) मत प्राप्त हो अर्थात् तू तमोगुणका अनुसरण मत कर। (एषः भीमः) यह तमोगुणका मार्ग भयानक है, (येन) जिससे, (पूर्वं न इयथ) ज्ञानी लोग पहले भी नहीं चलते थे। (तं ब्रवीमि) उस तमोगुणके मार्गपर मत चल, यह मैं स्वयं परमात्मा कहता हूँ। हे पुरुष ! (एतत् तमः) यह तमोगुण अन्धकार अर्थात् अज्ञानमें फेंकनेवाला है, (तमः मा प्र पत्थ) अतः तमोगुणको मत प्राप्त कर। (परस्तात् भयम्) इस तमोगुणके सामने उपस्थित होनेपर भय अर्थात् गिरावटका भय उपस्थित हो जाता है। (अर्वाक् ते अभयम्) तमोगुणसे पहिले सत्त्वगुणमें तुझे कोई भय नहीं है क्योंकि उन दोनोंमें कर्म या ज्ञानका संयोग रहता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रासे मनुष्यको बाँध लेता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि मनुष्य जालसे बाँधे हुए प्राणीकी भाँति तमोगुणमें फँस जाता है तो उसके सब शुभ कार्य लुप्त हो जाते हैं और वह नरकगामी होता है। तमोगुणका मार्ग बड़ा भयानक है, मनुष्यको चाहिए कि वह इसे न अपनावे।

९. **सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।**
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥

१०. **रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।**
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (सत्त्वम्) सत्त्वगुण, (सुखे सञ्जयति) इन्द्रियजन्य सुखमें लगा देता है, (रजः) रजोगुण, (कर्मणि संयोजयति) लौकिक-वैदिक, नित्य-नैमित्तिक, विधि-निषेधात्मक कर्मोंमें लगा देता है, (उत) और, (तमः) तमोगुण, (ज्ञानम् आवृत्य) ज्ञानको दूर कर अज्ञानमें धकेलकर या ज्ञानको ढककर, (प्रमादे) उन प्रसाद, आलस्य और निद्रामें, (सञ्जयति) जोड़ देता है॥ ९॥

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! (सत्त्वम्) सत्त्वगुण, (रजः तमः च अभिभूय) रजोगुण और तमोगुणको दबाकर, (भवति) प्रकट होता है। (रजः) रजोगुण, (सत्त्वं च एव तमः) सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर प्रकट होता है, और, (तमः) तमोगुण, (सत्त्वं तथा रजः) सत्त्व तथा रजोगुणको दबाकर प्रकट होता है ॥ १० ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥

(अथर्ववेदः ८-२-१)

हे मुमुक्षु पुरुष! (इमाम्) तत्त्वज्ञानियोंसे आदेश दी हुई, (अमृतस्य श्नुष्टिम्) अमृतके अर्थात् मुक्तिके रसपानात्मक प्रस्तावको, (आ रभस्व) अनुभव करनेके लिये उपक्रम कर। तू, (रजः मा उपगाः) सत्त्व गुणके प्रतिवन्धक रजोगुणको मत प्राप्त हो, एवं, (तमः मा उपगाः) हिताहित-विवेकके प्रतिरोधक ज्ञानका आच्छादन करनेवाले तमोगुणको भी न प्राप्त हो। (मा प्र मेष्ठाः) इस सारी बातको जानकर संसारमें पुनः-पुनः मृत्युको मत प्राप्त हो क्योंकि तमोगुणके आश्रयसे अनर्थ करेगा, जिससे संसारमें पुनः-पुनः जन्म-मरण भोगेगा। (ते अच्छिद्यमाना) रजोगुण-तमोगुणका परित्याग करनेसे तेरा दूसरोंसे न काटनेयोग्य अर्थात्, (जरदष्टिः) जरावस्थापर्यन्त भोजन, (अस्तु) बना रहे। (ते असुम् आयुः) अतः तेरे प्राण और आयुको, (पुनः आ भरामि) पुनः-पुनः पालन करता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सत्त्वगुण सुखावस्थामें, रजोगुण कर्म करनेकी अवस्थामें और तमोगुण प्रमादालस्यादि दुष्कृतियोंमें युक्त करता है। रजोगुण और तमोगुणके न्यून होनेपर सत्त्वगुणकी वृद्धि, तमोगुण और सत्त्वगुणके न्यून होनेपर रजोगुणकी वृद्धि तथा सत्त्व और रजोगुणके न्यून होनेपर तमोगुणकी वृद्धि हो जाती है। वेदमें भी यही कहा गया है कि सत्त्वगुणसे ज्ञान और सुख उत्पन्न होता है, रजोगुण तथा तमोगुणके अपनानेसे सांसारिक दुष्प्रवृत्तियाँ सदा साथ रहती हैं। तमोगुणका सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि वह बड़ा भयानक होता है, उससे संसारमें पुनर्जन्म तथा पुनर्मृत्युका चक्र चलता रहता है।

११. सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

(यदा) जिस समय, (अस्मिन् देहे) इस शरीरमें, (सर्वद्वारेषु) चक्षु-घ्राणादि सब इन्द्रियोंमें, (ज्ञानम्) ज्ञानप्रसूति लक्षणवाला, (प्रकाशः) स्फुरण, (उपजायते) उत्पन्न होता है, (तदा) तब, (सत्त्वं विवृद्धं विद्यात्) रजोगुण-तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणको बढ़ा हुआ जाने ॥ ११ ॥

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिञ्ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥

(अथर्ववेदः १०-७-४०)

(तस्य) उस पुरुषका, (तमः) तमोगुण, (अपहतम्) नष्ट हो गया । (सः) तमोगुणसे दूर रहनेवाला वह पुरुष, (पाप्मना व्यावृत्तः) पापकर्म-प्रवर्तक रजोगुण द्वारा भी हटाया हुआ है अर्थात् वह रजोगुणसे भी दूर रहता है । (तस्मिन्) रजोगुण और तमोगुणसे रहित उस पुरुषमें, (सर्वाणि ज्योतींषि) सब इन्द्रियोंमें शुद्ध ज्ञानका या परमात्म-साक्षात्कार-जन्य प्रकाश हो जाता है । (यानि त्रीणि प्रजापतौ) सब प्रजारूप अपत्यवाले सत्त्वगुणात्मक पुरुषमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों ज्योतियाँ प्रकट हो जाती हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जब सब इन्द्रियोंमें शुद्ध ज्ञानका प्रकाश उत्पन्न हो जाता है तब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है । वेदमें भी यही कहा गया है कि जब मनुष्य रजोगुण और पापमें प्रवृत्त करनेवाले तमोगुणसे दूर रहता है, जब सब इन्द्रियोंमें कर्म, उपासना, ज्ञान ये तीनों ज्योतियाँ जाग उठती हैं तब इस मनुष्यमें सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है ।

१२. लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥

(भरतर्षभ !) हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (लोभः) लालच अर्थात् सब प्राप्त होनेपर भी पानेकी इच्छा करना, (प्रवृत्तिः) सब इन्द्रियोंके विषयोंमें चेष्टा रखना, (कर्मणाम् अशमः) लौकिक और वैदिक कर्मोंके आरम्भ अर्थात् उपक्रममें शान्ति न रखना, (स्पृहा) विषयोंकी इच्छा, ये सब बातें रजोगुणके बढ़नेपर, (जायन्ते) उत्पन्न होती हैं ॥ १२ ॥

न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः ।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति ॥

(ऋग्वेदः ३-५३-२३)

(जनासः !) हे मनुष्यो ! (सायकस्य) बाणके समान नाशक लोभ अर्थात् इन्द्रिय-प्रवृत्ति या स्पृहाके तत्त्वको, (न चिकिते) मनुष्य नहीं जानता। (लोधम्) लोभोपहत पुरुषको, (पशु मन्यमानः) पशुवत् मानते हुए, (नयन्ति) ले जाते हैं। (वाजिनाः) वाग्वेत्ता ज्ञानी लोग, (अवाजिनम्) मूर्खपर, (न हासयन्ति) क्या हँसी नहीं कराते ? अर्थात् सात्त्विक जन राजसी जनपर क्या नहीं हँसते ? (अश्वात् पुरः गर्दभं न नयन्ति) विज्ञ पुरुष घोड़ेके सामने गधेको नहीं ले जाते।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जब मनुष्यमें लोभ, कामना तथा इन्द्रिय-प्रवृत्ति अधिक हो जाती है तब रजोगुणकी वृद्धि होती है। वेदमें भी यही कहा गया है कि ज्ञानीजन लोभ, इन्द्रिय-प्रवृत्ति और कामचेष्टाको नहीं जानता। यह भी निश्चित है कि ज्ञानीजन लालची पुरुषको पशुके समान देखते हैं। जैसे घोड़ेके सामने गधेका और ज्ञानीके सामने अज्ञानीका कोई मूल्य नहीं, वैसे सात्त्विक पुरुषके सामने राजसी और तामसी पुरुषका कोई मूल्य नहीं है।

१३. अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥
१४. यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥

(कुरुनन्दन !) कुरुवंशको आनंदित करनेवाले हे अर्जुन ! (तमसि विवृद्धे) तमोगुणके बढ़नेपर, (अप्रकाशः) प्रकाशहीनता अर्थात् अज्ञान, (प्रमादः) प्रमाद, (च मोहः एव) और मोह, (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं॥ १३॥

(यदा) जिस समय, (सत्त्वे प्रवृद्धे) सत्त्वगुणके अधिक होनेपर, (देहभृत्) जीवात्मा, (प्रलयं याति) मृत्युको प्राप्त होता है, (तदा) तब, सात्त्विक जीवात्मा, (उत्तमविदाम्) ब्रह्मोपासकोंके, (अमलान् लोकान्) विक्षेपावरणरहित लोकोंको, (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है॥ १४॥

उत्केतुना बृहता देव आगन्नपावृक्तमोभि ज्योतिरश्रैत्।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा॥

(अथर्ववेदः १३-२-९)

(देवः) सत्त्वगुणप्रधान ज्ञानसे प्रकाशमान मनुष्य, (बृहता केतुना) बहुत बड़े, अत्युत्तम ज्ञानसे, (उद् अगात्) उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है। (तमोभिः) तमोगुण और उनकी वृत्तियोंसे, (अपावृक्) पृथक् रहता है अर्थात् तमोगुणसे

मुक्त रहता है, और, (ज्योतिः अश्रैत्) परमात्मज्योतिका आश्रय करता है अर्थात् परमेश्वरकी शरणको प्राप्त होता है। (सः) सत्त्वगुणविशिष्ट वह मुमुक्षु पुरुष, (अदितेः पुत्रः) अखण्ड परमेश्वरका पालनेयोग्य पुत्र, (दिव्यः) दिव्य अर्थात् सत्त्वगुणवाला, (सुपर्णः) अच्छा ज्ञानवान्, (वीरः) सबसे वरनेयोग्य अथवा ज्ञानवीर, (विश्वा भुवनानि) सब लोक-लोकान्तरोंको, (व्यख्यत्) विविध प्रकारसे अपने ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित करनेवाला होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष सत्त्वगुणके आधारपर उत्तम लोक अर्थात् उत्तम योनियोंको प्राप्त होता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष सात्त्विक ज्ञानके आधारपर उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है। वह तमोगुणकी वृत्तियोंसे पृथक् रहता है, सर्वदा परमात्माकी शरणमें रहता है और लोक-लोकान्तरोंमें उत्तम जन्म पाता है।

१५. रजसि प्रलयं गत्वा कर्मयोनिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

(रजसि) रजोगुणी मनुष्य रजोगुणकी अधिकता होनेपर, (प्रलयं गत्वा) मृत्युको पाकर, (कर्मयोनिषु) कर्मयोनियोंमें, (जायते) उत्पन्न होता है, (तथा) और, (तमसि प्रलीनः) तमोगुणके बढ़ जानेपर तमोगुणी मनुष्य मरकर, (मूढयोनिषु) पशु अथवा स्थावर योनियोंमें, (जायते) उत्पन्न होता है॥ १५॥

यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्।
पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि॥
(अथर्ववेदः ८-२-१०)

(मृत्यो!) हे मरणशील संसारी मनुष्य! (यत् ते) जब तेरा, (अनवधर्ष्यम्) किसी भी सत्त्वगुण और तमोगुणसे न दबानेयोग्य, (रजसं नियानम्) रजोगुणसम्बधी मार्ग होता है, (तस्मात्) तब उस, (पथः) रजोगुणके मार्गसे, (इमम्) इस तुझ रजोगुणी संसारी जीवकी, (रक्षन्तः) रक्षा करते हुए तत्त्वज्ञानी पुरुष, (अस्मै) रजोगुणमें लीन हुए पुरुषको, (ब्रह्म) सबसे बढ़े-चढ़े शान्तिदायक वैदिक-कर्मप्रतिपादक मन्त्ररूप, (वर्म) कवच, (कृण्मसि) कर देते हैं अर्थात् उस रजोगुणी मनुष्यको कर्मठ अर्थात् कर्म करनेमें चतुर बना देते हैं।

तुलना—गीताके अनुसार रजोगुणी मनुष्य मृत्युके अनन्तर कर्मयोगियोंमें तथा तमोगुणी मनुष्य तिर्यग्योनियोंमें, स्थावर योनियोंमें जन्म लेता है। वेदमें

कहा गया है कि रजोगुणी मार्गपर चलनेवाला मनुष्य कर्म करता है और ज्ञानी-जन भी उसे वैदिककर्मके प्रतिपादक उपदेश देकर दृढ करते हैं।

१६. कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥

विज्ञ पुरुषोंने, (सुकृतस्य कर्मणः) पुण्यकर्म करनेका फल निर्मल और सात्त्विक, (आहुः) बताया है, (रजसः फलं तु दुःखम्) रजोगुणका फल दुःख, और, (तमसः फलम्) तमोगुणका फल, (अज्ञानम्) अज्ञान अर्थात् मूढता ॥१६॥

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥
(ऋग्वेदः १-१६४-१९)

हे जीवात्माओ ! (ये अर्वाञ्चः) जो जीवात्मा तमोगुण अथवा नीचेवाले रजोगुणमें स्थित हैं, (तान् उ) उन तमोगुणी वृत्तिवाले जीवोंको, (पराचः) सत्त्वगुणसे दूर स्थित, (आहुः) कहते हैं। (ये पराञ्चः) जो जीवात्मा तमो-गुण और रजोगुण योनियोंसे दूर स्थित, हैं, (तान् उ) रजोगुण-तमोगुणसे दूर रहनेवाले उन सात्त्विक पुरुषोंको ही, (अर्वाञ्चः) परमात्माके समीप स्थित हुआ, (आहुः) कहते हैं। (सोम !) हे सत्त्वगुणविशिष्ट शान्तात्मन् ! तू, (इन्द्रः च) और ऐश्वर्यवान् रजोगुण वृत्तिवाला मनुष्य, (या=यानि) जिन-जिन शुभ कर्मों-को करते हैं, (तानि) वे-वे शुभ कर्म, (धुरा न युक्ताः) जुड़े हुए धुरोंके समान, (रजसो वहन्ति) अपने-अपने लोकोंको प्राप्त करते हैं अर्थात् तमोगुणी लोग तिर्यक् अथवा स्थावर लोकको, राजस सांसारिक दुःखोंको और सात्त्विक पुण्य-कर्मजन्य सुखात्मक लोकोंको प्राप्त होते हैं।

तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम् ।
अपाजैत्कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ॥
(अथर्ववेदः १२-३-५४)

(आत्मन्=आत्मनि) जीवात्मामें, (स्वर्गः) सुख देनेवाला सत्त्वगुण, (अन्य-वर्णां तन्वम्) अपनेसे भिन्न स्वरूपवाले अपने देहको, (विद) जान लेता है। (यथा) जैसे, (बहुधा वि चक्रे) सत्त्वगुण अपने प्रभावसे बहुत प्रकारके सुखमय लोकोंमें धारण करता है। (रुशतीम्) सत्त्वगुणजन्य प्रकाशसे प्रकाशित, (तन्वम्) अपने शरीरको, (पुनानः) पवित्र करता हुआ, (कृष्णम् अपाजैत्) कृष्णवर्ण

अर्थात् अज्ञानान्धकारात्मक तमोगुणको दूर कर देता है। (या लोहिनी) जो रक्त अर्थात् रागात्मक रजोगुण है, हे परमात्मन्! (ताम्) उस तमोगुणात्मक स्वरूपको, (ते) तुझ परमात्माकी, (अग्नौ) ज्ञानरूपी अग्निमें, (जुहोमि) हवन करता हूँ।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि सात्त्विक कर्मका फल पुण्यलोक और सुखप्राप्ति है। रजोगुणसे सांसारिक सुख-दुःख मिलता है और तमोगुणसे तिर्यग्योनि अथवा स्थावर योनि प्राप्त होती है। वेदके अनुसार सत्त्वगुण स्वर्गादि लोकोंके सुखका दाता है और सात्त्विक जन दुःखात्मक लोहित और कृष्णरूप रजोगुण और तमोगुणसे दूर रहते हैं।

१७. सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥
१८. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(सत्त्वात्) सत्त्वगुणमें रहनेसे, (ज्ञानम्) सदसद्वस्तुका ज्ञान, (सञ्जायते) उत्पन्न होता है, (च रजसः) और रजोगुणका सेवन करनेसे, (लोभः एव) लोभ ही उत्पन्न होता है। (तमसः) तमोगुणके सेवनसे, (प्रमादमोहौ भवतः) विस्मृति और सदसद्विवेकाभाव उत्पन्न होते हैं, (च) तथा, (अज्ञानम् एव जायते) अज्ञान ही उत्पन्न होता है॥ १७॥

(सत्त्वस्थाः) सात्त्विक मनुष्य, (ऊर्ध्वं गच्छन्ति) ब्रह्मा, विष्णु आदिके लोकोंको अथवा उत्तम योनियोंको अथवा पूर्ण ज्ञानोन्नतिको पाते हैं, (राजसाः) रजोगुणी पुरुष, (मध्ये तिष्ठन्ति) स्वर्गलोकमें अथवा नृपादि क्षत्रिय योनियोंमें रहते हैं, (जघन्यगुणवृत्तिस्थाः) निकृष्ट गुण अर्थात् तमोगुणके व्यवहारमें स्थित तामसी जन, (अधो गच्छन्ति) नीचे यानी नरक अथवा तिर्यग्योनि अथवा स्थावर योनियोंमें जाते हैं॥ १८॥

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः॥
(अथर्ववेदः १०-३-९)

हे परमात्मन्! (वरणेन) सब मनुष्योंसे वरनेयोग्य, अत्यन्त श्रेष्ठ सत्त्वगुणसे, (मे) परमात्माकी जिज्ञासा करनेवाले मुझ मुमुक्षुके, (सबन्धवः भ्रातृव्याः)

रजोगुण-तमोगुणरूपी बन्धुओंके साथ परमात्मासे विमुख करनेवाले लोभ-मोहादि शत्रु, (प्रव्यथिताः) दुखी होवें अर्थात् नष्ट हो जावें। (रजः) रजोगुणवाले मनुष्य भी, (असूर्तम्) अन्धकारात्मक जगत्‌को, (अगुः) प्राप्त होते हैं। (तमः) तमोगुणवाले, (ते) वे तमोगुणी मनुष्य, (अधमं तमः) निकृष्टसे निकृष्ट अन्धकारको अर्थात् नारकीय तिर्यग्योनियोंको, (यन्तु=यन्ति) प्राप्त होते हैं।

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन्न्यन्या अर्कमभितोऽविशन्त।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥

(अथर्ववेदः १०-८-३)

(तिस्र इति ह) निश्चय ही संसारमें, (तिस्रः) सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, तीन प्रकारकी, (प्रजाः) प्रजाएँ, (अत्यायम् आयन्) अत्यन्त अतिक्रमण अर्थात् आवागमनको प्राप्त होती हैं। (अन्याः) एक सत्त्वगुणविशिष्ट जन, (अर्कम्) सूर्यवत् प्रकाशमान ऊर्ध्वलोकमें या सबसे पूज्य परमात्माके, (अभितः) समीप, (न्यविशन्त) प्रवेश करते हैं। रजोगुणविशिष्ट जन, (विमानः) विशेष मानवाले अर्थात् अधिक धन-पात्र, (बृहत्) बड़े राजस लोकमें, (तस्थौ) रहता है। (हरिणीः) सब शुभ गुणों और शुभ कर्मोंको हरनेवाली तमोगुणी प्रजा, (हरितः) नीच वर्णवाले अर्थात् बीच गतिवाले, (आविवेश) संसारमें प्रवेश करती है।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें कहा गया है कि सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे प्रमाद, मोह, अज्ञान उत्पन्न होते हैं। सत्त्वगुणी ज्ञान-बलसे ऊर्ध्वगति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त होता है, रजोगुणी मध्यलोक और तामसी जन नीच गतिको पाता है।

१९. नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

हे अर्जुन ! (यदा) जिस समय, (द्रष्टा) देहेन्द्रिय-संघातमें समष्टि-भावसे स्थित साक्षी पुरुष, (गुणेभ्यः) गुण-कार्यभूत देहेन्द्रियादिसे, (अन्यम्) भिन्न अर्थात् तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको, (कर्तारम्) कर्ता, (न अनुपश्यति) नहीं देखता अर्थात् जब यह समझ जाता है कि गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं यानी त्रिगुणात्मक मायासे उत्पन्न मनके साथ इन्द्रियाँ अपने-अपने

विषयोंमें स्वाभाविक रूपसे विचरती हैं, (गुणेभ्यः च परं वेत्ति) और उस आत्माको तीनों गुणोंसे परे जानता है, (सः मद्भावम् अधि गच्छति) तब वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।। १९ ।।

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम् ।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे गिराशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे ।।
(ऋग्वेदः ५-४४-१)

जो जिज्ञासु यति, (तम्) उस आत्माको, (प्रत्नथा) सबसे पुरानेकी भाँति, (पूर्वथा) सब कारण-कार्योंसे पूर्वकी भाँति, (विश्वथेमथा) विश्व-स्वरूप, (ज्येष्ठतातिम्) ['ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः' इत्युक्तेः] सब पदार्थोंसे ज्येष्ठ, (बर्हिषदम्) ['बर्हिषद्' निघण्टुमें महत् शब्दके पर्यायोंमें लिखा है] सबसे महान्, (स्वर्विदम्) सूर्यविद्युदग्न्यादि ज्योतियोंके भी ज्ञाता, (प्रतीचीनम्) सबसे प्राचीन, (वृजनम्) सबसे बलवान् [निघण्टुमें वृजन शब्द बलके नामोंमें गिनाया गया है], (गिरा) ऐसी स्तुतिसे, (वर्धसे= वर्धते, पुरुष-व्यत्ययः) बढ़ाता है, वही त्रिगुणात्मक मायाके तीनों गुणोंसे आत्माको पृथक् मानता है। वही, (यासु) जिन स्तुतियोंमें, (आशुम्) देहमें प्रकाशरूपसे व्यापक, (जयन्तम्) प्रकृतिसे जय करनेवाले अर्थात् प्रकृतिके विजेता आत्माको, (वर्धसे=वर्धते) बढ़ाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्मा देहेन्द्रिय-संघातसे भिन्न है तथा देखना-सुनना आदि कार्य प्रकृतिके हैं। वेदमें भी यही वर्णित है कि आत्मा प्राकृतिक गुणोंसे भिन्न, साक्षी, द्रष्टा, निर्गुण, सब पदार्थोंसे पूर्व, सबसे प्राचीन, सबसे ज्येष्ठ और सर्वगत है।

२०. गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।

हे अर्जुन ! (देही) जीवात्मा, जब, (देहसमुद्भवान्) देहके उत्पादक अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न, (एतान्) इन, (त्रीन्) तीन, (गुणान्) सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणोंको, (अतीत्य) पार करके, (जन्ममृत्युजरादुःखैः) जन्म-मरण-बुढापादिके दुःखोंसे, (विमुक्तः) विमुक्त हो जाता है, तब, (अमृतम् अश्नुते) मुक्तिको पाता है ।। २० ।।

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥

(अथर्ववेदः ५-२८-८)

हे जीवात्मन् ! (त्रयः) सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण, (सुपर्णाः) अपने-अपने विषयपर सम्यक्तया प्राप्त होनेवाले, (त्रिवृताः) ज्ञान, लोभ, मोह इन तीनोंसे मिले हुए, (शक्राः) सब पदार्थोंको दबानेमें समर्थ, (आयन्) सारे संसारमें व्याप्त हैं। (यत्) जिस समय दैहिक गुणोंको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष यह जान लेते हैं, तब, (एकाक्षरम्) सबसे मुख्य एक अविनाशी परमात्माको, (अभिसम्भूय) सम्यक्तया प्राप्त होकर अर्थात् जानकर, (अमृतेन) अमरणशील आत्मा द्वारा, (विश्वा दुरितानि) जन्म-मरण-जराजन्य सकल दुःखोंका, (साकम्) एक साथ, (अन्तर्दधानाः) विनाश करते हुए, (मृत्युम्) मृत्युको, (प्रत्यौहन्) अपने वशमें कर लेते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जब जीवात्मा सत्त्व-रज-तमोगुणोंके बंधनमें नहीं पड़ता, तब जन्म-मरण-जरादिके दुःखोंसे छूटकर अमृतपदको प्राप्त कर लेता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण ज्ञान, लोभ, मोहसे युक्त होकर सारे संसारको अपने बन्धनमें ले लेते हैं। ऐसा जो ज्ञानी पुरुष जानता है वह आत्मतत्त्वको गुणोंसे परे जानता हुआ जन्म-मरण-जराजन्य दुःखोंका इकट्ठा ही नाश करके स्वच्छन्द मृत्युको प्राप्त करता है।

अर्जुन उवाच—

२१. कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥

श्रीभगवानुवाच—

२२. प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

२३. उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

२४. समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

२५. मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

अर्जुनने कहा—(प्रभो !) हे स्वामिन् ! यह जीवात्मा, (कैः लिङ्गैः) किन चिह्नोंसे, (एतान् त्रीन् गुणान्) इन तीन सत्त्व-रज-तमोगुणोंको, (अतीतः भवति) पार करता है अर्थात् त्रिगुणातीत होता है ? (किमाचारः) लौकिक-वैदिक कर्मोंमें क्या करता हुआ, (एतान् त्रीन् गुणान्) इन तीन सत्त्व-रज-तमोगुणोंको, (कथम्) कैसे अर्थात् किस उपायसे, (अतिवर्तते) पार करता है ? ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—(पाण्डव !) हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! जो आत्मज्ञानी, (प्रकाशम्) सत्त्वगुणोत्पन्न विषयजन्य सुखको, (च प्रवृत्तिम्) और रजोगुणजन्य प्रवृत्तिको अर्थात् 'इस पुरुषने मेरा उपकार किया या मुझे दुःख दिया था' इस प्रवृत्तिको, (च मोहम् एव) और तमोगुणजन्य सब विकारोंको, (सम्प्रवृत्तानि) सम्यक्तया चलते हुए सत्त्वरजस्तमोगुणोंके कार्योंके साथ, (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता, (च निवृत्तानि) और दूर हुए कार्योंकी प्राप्तिके फलकी, (न काङ्क्षति) इच्छा नहीं करता ॥ २२ ॥

(उदासीनवदासीनः) तटस्थ पुरुषके समान प्रवृत्ति और निवृत्तिके कार्योंसे दूर रहता हुआ जो जिज्ञासु पुरुष, (गुणैः) सत्त्वरजस्तमोगुणोंके कार्य प्रकाश, राग और मोहसे, (न विचाल्यते) परमात्माकी वृत्तिसे हटाया नहीं जाता, (गुणाः) सत्त्व, रज और तमोगुण तीनों ही देहके कार्यके लिये, (वर्तन्ते) समयानुसार बर्तते हैं, (इत्येव) ऐसा समझकर, (यः अवतिष्ठति) जो रहता है, (न इङ्गते) परमात्मगुणोंके चिन्तनसे जो चलायमान नहीं होता ॥ २३ ॥

(समदुःखसुखः) इन्द्रिय-वृत्तिको दुष्ट करनेवाले दुःख और इन्द्रियोंको सुखी करनेवाले सुखमें एकरस रहनेवाला, (स्वस्थः) आत्मज्ञानमें स्थित, (समलोष्टाश्मकाञ्चनः) मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समानतासे रहनेवाला अर्थात् निर्लोभी, (तुल्यप्रियाप्रियः) प्रिय और अप्रियमें समान रहनेवाला, (धीरः) धैर्यवान् अथवा बुद्धिमान्, (तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः) निन्दा और स्तुतिमें एक समान रहनेवाला ॥ २४ ॥

(मानापमानयोः तुल्यः) आदर और अनादरमें एक-जैसा रहनेवाला, (मित्रारिपक्षयोः तुल्यः) मित्र और शत्रुमें तुल्य भाव रखनेवाला, (सर्वारम्भपरित्यागी) शुभ और अशुभ कर्मोंका त्याग करनेवाला, (सः) वह पुरुष, (गुणातीतः उच्यते) गुणातीत कहा जाता है ॥ २५ ॥

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।।

(यजुर्वेदः ३६-१८)

हे परमात्मन् ! (दृते) जरासे विदीर्ण भी देहमें, (मां दृंह) मुझ दासको अपने चरणकमलकी भक्तिकी प्राप्तिके लिये दृढ कर । (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी-अप्राणी, (मा=माम्) द्वेषरहित मुझको, (मित्रस्य चक्षुषा) मित्रकी दृष्टिसे, (समीक्षन्ताम्) देखें । (अहम्) तीनों गुणोंके बन्धनसे रहित होकर मैं, (सर्वाणि भूतानि) सब भूतोंको, (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र-दृष्टिसे, (समीक्षे) देखूं । (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे) [शान्तं हि मित्रस्य चक्षुः । न वै मित्रं कञ्चन हिनस्ति । नामित्रं कञ्चन हिनस्ति] किसीको न मारते तथा किसीसे न मारे जाते हुए हम आपसमें सबको अद्रोह-बुद्धिसे सर्वथा मित्रकी दृष्टिसे देखें ।

प्र तुविद्युम्नस्य स्थविरस्य घृष्वेर्दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः ।
नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः ।।

(ऋग्वेदः ६-१८-१२)

(तु विद्युम्नस्य) गुणातीत होनेसे बहुत यशवाले, (स्थविरस्य) गुणातीत होनेसे पूज्य, (घृष्वेः) काम-क्रोध-लोभ-मोहादि शत्रुओंको दूर रखनेवाले गुणातीतका, (महिमा) महत्त्व अर्थात् यश, (दिवः पृथिव्याः) आकाशसे लेकर पृथिवीतक अर्थात् सारे ब्रह्माण्डमें, (प्र ररप्शे) अत्यधिक फल जाता है । (पुरुमायस्य) बहुत प्रज्ञाशक्तिवाले, (सह्योः) सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंके प्रभावको सहन करनेवाले अर्थात् गुणातीत, (अस्य) इस उदासीन पुरुषका, (शत्रुः न) शत्रु नहीं है । (अस्य प्रतिमानं न) इसके तुल्य कोई भी नहीं है । (अस्य प्रतिष्ठिः न) इसे सत्त्व, रज, तम, कोई गुण स्थापित रखनेवाला नहीं है और न इसे प्रतिष्ठाकी आवश्यकता रहती है ।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः ।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ।।

(ऋग्वेदः ५-५९-६)

(ते) दुःख-सुख, मित्र-शत्रु, निन्दा-स्तुति और मानापमानमें समान रहनेवाले वे स्थितप्रज्ञ जीव, (अज्येष्ठाः अकनिष्ठासः) अपने आपको किसीसे बड़ा

या छोटा न माननेवाले, (उद्भिदः) उच्च-नीच-भावको दूर रखनेवाले, (अमध्यमाः) मध्यमतासे रहित अर्थात् सबको अपनें समान जाननेवाले, (महसा वि वावृधुः) समानताके तेजसे संसारमें महान् जाने जाते हैं। (मर्याः !) हे मनुष्यो ! (सुजातासः) मित्र-शत्रु-शून्यतासे सुन्दर जन्मवाले, तथा, (जनुषा) जन्मसे ही, (पृश्निमातराः) जिनका पालक ज्ञानदाता परमात्मा है उनको, (अच्छ) भलीभाँति, (दिवः) स्वर्गादि सुखमय लोकसे आया हुआ दैवी जीव, (आजिगातन) जानो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणोंके प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहमें नहीं फँसता, अनिष्ट वस्तुसे घृणा नहीं करता, प्रिय वस्तुको नहीं चाहता एवं सुख-दुःख, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है वही त्रिगुणातीत होकर परमात्माके चरणोंको प्राप्त होता है अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है। वेदमें परमात्मासे इसी आशयकी प्रार्थनाका उल्लेख है कि हम सबको मित्रदृष्टिसे देखें, सब प्राणी हमें भी मित्रदृष्टिसे देखें, हम किसीके शत्रु न हों, हमारा कोई शत्रु न हो, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें हमारी दृष्टि तुल्य रहे, हममें उच्च-नीच और छोटे-बड़ेका भेद न रहे, हम सब एक-दूसरेको समान जानें।

२६. मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

हे अर्जुन ! (यः) जो मुमुक्षु यति, (माम्) मुझ परमात्माका, (अव्यभिचारेण) व्यभिचारसे रहित अर्थात् अनन्यचित्त, एकरसवाले, (भक्तियोगेन) भक्तियोगसे, (सेवते) ध्यान करता है, (सः) वह पुरुष, (एतान् गुणान्) इन सत्त्व-रजस्तमोगुणोंको, (सम् अतीत्य) सम्यक् रीतिसे पार करके अर्थात् इन गुणोंके बन्धनसे रहित होकर, (ब्रह्मभूयाय कल्पते) ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी हो जाता है॥ २६॥

इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि संतु मायाः।
ये मे धियं पनयन्त प्रशस्ताम्॥

(ऋग्वेदः ७-१-१०)

हे जीवात्मन् ! (ये) जो मुमुक्षुजन, (मे) मेरी अर्थात् मुझ परमात्माकी, (प्रशस्तां धियम्) सबसे श्रेष्ठ अनन्य बुद्धि या ध्यान अर्थात् अनन्य भक्तिको, (पनयन्त) अपनाते हैं, (ते इमे) वे ये, (नरः) मनुष्य, (वृत्रहत्येषु)

पाप-विनाशक कर्मोंमें, (शूराः) प्रवीण होकर, (विश्वा अदेवीः मायाः) सारी दैवी मायासे भिन्न अर्थात् त्रिगुणात्मक संसारमें बाँधनेवाली विचारशक्तियोंको, (अभिसन्तु=अभिसन्ति) दबा लेते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य केवल सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी जानता है तथा स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर श्रद्धा, भक्ति और परम प्रेमसे निरन्तर उसका चिन्तन करता है वही त्रिगुणातीत होकर मुक्तिका अधिकारी होता है। वेदमें भी यही भगवद्वाणी है कि जो मनुष्य शुद्ध बुद्धिसे मेरा ध्यान और भजन करते हैं वही त्रिगुणात्मक मायासे दूर रहकर सब पापोंसे रहित होकर मुक्तिके अधिकारी होते हैं।

२७. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

(अहम्) मैं परमात्मा, (अमृतस्य) मरणधर्मसे रहित अर्थात् नित्य, (च अव्ययस्य)और वृद्धिक्षय-रहित, (ब्रह्मणः) निर्विषयक ब्रह्मस्वरूपका या वेदका, (शाश्वतस्य च धर्मस्य) और नित्य जन्म-मृत्यु प्रभृति दुःख-प्रवाहमें पड़े हुए पुरुषको उठानेवाले धर्मका, (च ऐकान्तिकस्य सुखस्य) और दोषरहित, निरन्तर दुःखाभावमय सुख अर्थात् परमानन्द या ब्रह्मसुखका, (प्रतिष्ठा) स्थितिस्थान अर्थात् आश्रय हूँ॥ २७॥

स इत् तन्तुं स वि जानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुथा वदाति।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन् परो अन्येन पश्यन्॥

(ऋग्वेदः ६-९-३)

(सः) वह परमात्मा, (इत्) ही, (तन्तुम्) तन्तु-स्थानीय सूक्ष्म भूतोंको, (वि जानाति) जानता है, क्योंकि स्वयं उसका आश्रयस्थान है, तथा, (स इत् ओतुं वि जानाति) वह परमात्मा ही उन सूक्ष्म भूतोंको स्थूलरूपमें बुननेका विशेष ज्ञान रखता है क्योंकि वह स्थूल भूतोंका भी आश्रयस्थान है। (स इत् वक्त्वानि) वह परमात्मा ही उपदेश देनेयोग्य चारों वेदोंको, (ऋतुथा) सृष्ट्यादिके उपदेशकालमें, (वदाति) कहता है अतएव वह परमात्मा ही वेदोंका आश्रयस्थान है। (यः) जो परमात्मा, (ईम्) ऐसे, (अमृतस्य) विनाशरहित धर्मका तथा ऐकान्तिक आनन्दमय सुखका,

(गोपाः) रक्षक अर्थात् आश्रयस्थान है, (यः अवः) जो आत्मा संसारावस्थामें, (चरन्) सर्व-व्यापकतासे विचरता हुआ, (परः) अविद्यास्मितादिसे परे, (अन्येन) सच्चिदानन्द-लक्षणवाले स्वरूपसे, (पश्यन्) सारे संसारको देखता हुआ या प्रकाशित करता हुआ, (ईं चिकेतत्) इस धर्म और सुखके स्थितिस्थानको स्वयं जानता है।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें ही कहा गया है कि अविनाशी ब्रह्म, आनन्दमय सुख, धर्म, स्थूल-सूक्ष्म भूत और सृष्टिके आदिमें उपदेष्टव्य वेदोंका आश्रयस्थान स्वयं परमात्मा ही है।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका त्रयोदश अध्याय समाप्त।
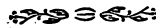
पञ्चदश अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

१. **ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।**
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहने लगे—हे अर्जुन ! (ऊर्ध्वमूलम्) सबसे उत्कृष्ट होनेसे परमात्माको ऊर्ध्व कहा है अतएव उपरिस्थ परमात्मा ही जिसका मूल बीजरूप कारण है, और, (अधःशाखम्) अव्यक्तसे यथाक्रम महदादि प्रकट होते हैं, सब जन्य पदार्थ प्रकृतिसे नीचे रहते हैं अतएव नीचे स्थित महदादि शाखाओंवाले, (अश्वत्थम्) जो कल न रहे अर्थात् क्षणभंगुर संसाररूपी वृक्षको, (अव्ययं प्राहुः) परमात्मरूप होनेसे, नित्य अथवा अनादि-प्रवाह होनेसे नित्य कहते हैं; (यस्य) जिस संसारमय वृक्षके, (छन्दांसि पर्णानि) ऋग्यजुःसामाथर्ववेद पत्ते हैं। (यः) जो मुमुक्षु पुरुष, (तम्) ब्रह्मबीज, प्रकृतिके कार्य, शाखारूप और वेदमय पत्तोंवाले उस वृक्षको जानता है, (सः) वही, (वेदवित्) वेदार्थज्ञाता या सदसद्विवेकी है ॥ १ ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ॥

(अथर्ववेदः १९-३९-६)

(इतः) इस दृश्यमान सृष्टिसे, (तृतीयस्यां दिवि) अहङ्कार-महत्तत्त्वादि कार्यजगत्से परे तीसरे स्वयंप्रकाशमान लोकमें, (देवसदनः) ज्योतिःस्वरूप परमात्माका स्थान है अर्थात् वह परमात्मा इस अव्यक्तादिसे उच्चतर ऊर्ध्व है [यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त । यजुर्वेद ३२-१०] । (अश्वत्थः) मूलरूप परमात्मामें जो संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष है, (तत्र) उस संसाररूप अश्वत्थ वृक्षमें, (अमृतस्य चक्षणम्) परमात्माका दर्शन अर्थात् प्रकाश विद्यमान है । (ततः) उस संसाररूप वृक्षमें वास करनेसे, (कुष्ठः—कवते व्याप्नोति इति कः, कौ सर्वव्यापके ब्रह्मणि तिष्ठतीति कुष्ठः ब्रह्मस्थः) ब्रह्म-में वास करनेवाला ज्ञानी, (अजायत) उत्पन्न होता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि संसारका मूल बीज परमात्मा सर्वोच्च है और संसाररूप वृक्षकी प्रकृतिके कार्यरूप महादादिकी शाखाएँ क्रमशः नीचे

फैली हुई हैं। ऐसे ऋग्वेदादिरूप पत्तोंवाले अश्वत्थ वृक्षको जाननेवाला ही ब्रह्मज्ञानी है। वेदमें भी यही कहा गया है कि इस दृश्यमान् जगत्से ऊपर अपनी ज्योतिसे प्रकाशमान तीसरे स्थानमें ईश्वर है। उस ईश्वरका वास अश्वत्थ वृक्ष संसारमें व्यापक है। ऐसा जो जानता है वह ब्रह्मवेत्ता है।

२. अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥

(तस्य) उस संसाररूपी वृक्षकी, (शाखाः) पाप-पुण्यस्वरूप देहरूपी शाखाएँ, (गुणप्रवृद्धाः) सत्त्व-रजस्तमोगुणोंसे बढ़ी हुई, (विषयप्रवालाः) रूप-रसादि विषयोंके अंकुरवाली, (अधः च ऊर्ध्वम्) मनुष्यलोकसे लेकर ब्रह्म-लोकपर्यन्त, (प्रसृताः) फैली हुई हैं। (मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि) मनुष्य लोकमें बहुत प्रकारकी योनियोंमें जन्म देनेवाले कर्मोंसे अनुबन्धित, (मूलानि) मूल, (अधः) स्थूल और लिङ्गशरीरोंमें, (अनुसन्ततानि) प्राणियोंके कर्मानुसार व्याप्त हैं॥ २॥

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान्॥

(अथर्ववेदः ८-८-८)

हे जीवात्मन्! (शक्रस्य—कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थस्य) करने, न करने तथा विपरीत करनेके लिये भी समर्थ, (महतः) सबसे पूज्य और सर्वोत्कृष्ट मुझ परमात्माका, (अयं लोकः) यह संसारवृक्ष, (महान्) फैला हुआ, (जालम् आसीत्) सत्त्वरजस्तमोगुणोंसे ऊपर-नीचे जाल या पाशरज्जुके समान बुना हुआ है अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड उत्पत्तिकालसे ही अपने-अपने कर्मके वश चारों ओर फैला हुआ है। (अहम्) सबको उनके कर्मोंके फलोंका प्रदाता मैं परमात्मा, (तेन इन्द्रजालेन) कर्मफलानुबन्धित उस इन्द्रजाल अर्थात् कर्मबन्धनमय पाशसे, (सर्वान् अमून्) सारे स्थावर-जङ्गमको, (तमसा) अपने-अपने कर्मके मोहसे, (अभिदधामि) संयुक्त करता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि संसारवृक्षकी सत्त्वरजस्तमोगुणोंसे बढ़ी हुई शाखाएँ चारों ओर फैली हैं। सब अपने-अपने कर्मानुसार अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त हैं और कर्मफल भोग रहे हैं। वेदमें भी कहा गया है कि सर्वसमर्थ पर-मात्माका प्रकट किया हुआ यह ब्रह्माण्ड महदादि पञ्चभूतोंके संबन्धसे जालवत् बुना हुआ है। परमात्मा इन सबको कर्मफल देता है और वे अपने कर्मफल भोगनेके लिए अपना-अपना कर्म कर रहे हैं।

३. न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
४. ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

(इह) इस लोकमें, (अस्य) इस संसारवृक्षका 'ध्रुवा द्यौः ध्रुवा पृथिवी' इस प्रकार प्रतिपादित जो रूप है, (तथा) वैसी, (रूपम्) आकृति, (नोपलभ्यते) नहीं प्राप्त होती। (अस्य न अन्तः न च आदिः) और इस संसारवृक्षका अन्त और आदि भी सूक्ष्म बुद्धिवाले पण्डितोंसे नहीं पाया जाता। (न च सम्प्रतिष्ठा) और मध्यकालीन स्थिति भी नहीं मिलती। (सुविरूढमूलम्) पूरे दृढ मूलवाले, (एनम् अश्वत्थम्) इस संसाररूपी वृक्षको, (असङ्गशस्त्रेण) दृढ विरामरूपी शस्त्रसे, (छित्त्वा) काटकर, (ततः) इसके अनन्तर, (तत्पदम्) उस ब्रह्मपदको, (परिमार्गितव्यम्) ढूँढना चाहिये, (यस्मिन् गताः) जिस पदमें गये हुए मुमुक्षु प्राणी, (भूयः न निवर्तन्ति) फिर इस संसारमें, जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं लौटते। (यतः) जिस परमात्मासे, (पुराणी) पुरातन संसारवृक्षकी, (प्रवृत्तिः प्रसृता) प्रवृत्ति फैली है, (अहम्) मैं मुमुक्षु, (तम् एव आद्यं पुरुषम्) उस आदिपुरुषकी शरणको, (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ। ऐसा दृढ निश्चय करे ॥ ३-४ ॥

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥

(ऋग्वेदः १०-१३५-३)

(कुमार!) हे कामरहित ब्रह्मयोगी ऋषि! तूने, (अचक्रम्) उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयात्मक चक्रसे रहित या आदि-अन्त-मध्य-स्थितिसे रहित, (एकेषम्) एक अर्थात् मुख्य परमात्माके अधीन, (विश्वतः प्राञ्चम्) सबसे अधिक प्रकर्षतासे चलते हुए अर्थात् फिर-फिर आनेसे, (नवम्) नूतनके समान, (रथम्) संसारात्मक, शरीरात्मक या रथके समान चलते हुए संसार-रथको, (मनसा) अन्तःकरणसे, (अकृणोः=अकरोः) किया अर्थात् संकल्पात्मक मनसे ही कामना उत्पन्न होती है, कामनाके उत्पन्न होनेपर पुण्य-पापात्मक कर्म किये जाते हैं, उन कर्मोंके फल भोगनेके लिये इस शरीरका आरम्भ होता है। इस परम्परासे संसारके निष्पादक उस संसारात्मक रथको, (अपश्यन्) न देखता हुआ अर्थात् सत्यस्वरूपको न जाननेके कारण, (अधितिष्ठसि) भोगायतन होनेसे तू उसे स्वीकार करता है अर्थात् उस देहमें तू वास करता है।

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन्
ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य ।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन
न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु ।।

(यजुर्वेदः १७-१४)

(ये देवाः) जो ज्ञानीजन, (देवेषु अधि देवत्वम्) देवताओंके स्वामी परमात्माको, (आयन्) संसारवृक्षका ज्ञान द्वारा नाश करके प्राप्त होते हैं, (ये) जो ज्ञानी पुरुष, (अस्य ब्रह्मणः पुरः) इस सर्वव्यापक परमात्माके सम्मुख अर्थात् परमात्माकी शरणको, (एतारः) प्राप्त होनेवाले होते हैं, (येभ्यः ऋते) जिन ज्ञानियोंके बिना, (किञ्चन धाम न पवते) कोई प्रदेश पवित्र नहीं होता, (ते) वे पुरुष अर्थात् ज्ञानीजन, (दिवः न पृथिव्या न) न सूर्यलोकमें, न मनुष्यलोकमें, और, (न अधि स्नुषु) न प्रस्रवणशील चक्षु आदि इन्द्रिय-भोगाधारोंमें ही रहते ! वे ब्रह्मध्यानमें या परमात्मचरणोंमें रहते हैं।

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ।।

(अथर्ववेदः २-१२-७)

हे संसारी जीवात्मन् ! मैं परमात्मा, (ब्रह्मणा) वेदज्ञानसे, (ते) तुझ जिज्ञासुके, ('सप्त प्राणान्) सात प्राणों अथवा नेत्र २, कान २, नासिका २, मुख १ इन सात इन्द्रियों या कर्ण, त्वक्, नेत्र, रसना, घ्राण, वायु, उपस्थ, इन सात इन्द्रियों और इनके विषयोंको और, (अष्टौ मन्यः) गुदा, नाभि, उदर, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, मस्तिष्क इन भागोंमें अवस्थित आठ प्रधान मज्जा-ग्रन्थियोंको या योगशास्त्रमें कहे हुए मुख्य ग्रन्थि-भेदोंको, (वृश्चामि) काट देता हूँ। (अरं कृतः) तू जिज्ञासु ब्रह्मज्ञानसे शोभित, तथा, (अग्निदूतः) परमात्मा ही जिसका दूत है अर्थात् परमात्मा जिसे अपने चरणोंमें ले जानेवाला है या ज्ञानाग्नि जिसका दूत है या परमात्माका सेवक तू, (यमस्य सादनम्) परमात्माके स्थान मुक्तिधामको, (अयाः) प्राप्त हो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि इस संसारवृक्षका न कोई स्थिर रूप है न स्थितिकाल है, न इसका आदि-मध्य-अन्त कुछ ज्ञात होता। ऐसे संसारवृक्ष-

---

१. 'प्राणा इन्द्रियाणि' ता. ब्रा. २-१४-२, 'सप्त शिरसि प्राणाः' ता. ब्रा. २२-४-३, 'सप्त वै शीर्षन् प्राणाः' ऐ. ब्रा. १-१७।

का ज्ञानसे नाश करके अव्यय सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये, जिससे मनुष्य जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो जिज्ञासु संसार-बन्धनका नाश करके परमात्माकी शरण जाता है वही मुक्त होता है।

५. निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(निर्मानमोहाः) मान और मोहसे रहित, (जितसङ्गदोषाः) रूप-रसादि विषयोंके ध्यानसे विषयसङ्ग, उस सङ्गसे जन्य काम, कामजन्य क्रोध तथा क्रोध-जन्य मोहादि दोषोंके वशमें न पड़नेवाले अर्थात् जितेन्द्रिय, (अध्यात्मनित्याः) नित्य ही आत्मज्ञानमें लगे हुए, (विनिवृत्तकामाः) सब प्रकारकी कामना अर्थात् लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा इनसे रहित, (सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः) सुख-दुःख, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे पृथक् रहनेवाले, (अमूढाः) सद-सद्विवेकी जीव, (तत् अव्ययं पदम्) उस अविकारी अविनाशी पद अर्थात् मोक्षको, (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

[1]मर्मृजानासः आयवो वृथा समुद्रमिन्दवः।
अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥

(ऋग्वेदः ९-६४-१७)

(मर्मृजानासः) सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित हो जानेपर अपने आत्माको आत्मज्ञानसे अत्यन्त शुद्ध करते हुए, (आयवः) अध्यात्मविचारमें गतिशील, (इन्दवः) योगसमाधि द्वारा चन्द्रसमान शीतल और प्रकाशमान, तथा, (वृथा) संसारके सब विषयोंको मिथ्या जानते हुए युक्त योगीजन, (ऋतस्य) चराचर प्रपंचके, (योनिम्) मूल कारण अर्थात् बीजरूप, (समुद्रम्) सब प्रपञ्चके मुद्रण-कारण या सब प्रपञ्चके संग्राहक परमात्माको, (अग्मन्) प्राप्त होते हैं।

ऋषिर्विप्र पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्विवेद निहितं यदा सामपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम् ॥

(सामवेदः उ. १-१-१०-३)

(ऋषिः) अतीन्द्रिय-द्रष्टा, (विप्रः) मेधावी, (पुरः एता) सर्वसाधा-रण पुरुषोंका अग्रणी अर्थात् नेता, (ऋभुः) अपनी योग-समाधिसे अत्यन्त

---

१. मर्मृजानासः—'मृजू शौचालङ्कारयोः'।

प्रकाशमान, (धीरः) सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें धैर्यवाला, (उशनाः) परमात्म-भक्तिकी कामना करता हुआ या परमात्माकी अनन्यभक्तिसे प्रकाशमान, (सः) वह भक्त ही, (काव्येन) स्तुतिसे, (विवेद) परमात्माको जानता है, और भक्तवत्सल परमात्मपदको पा लेता है, (यत्) जो पद, (आसां गोनाम्) इन इन्द्रियोंके सम्बन्धसे अथवा सूर्यकिरणोंके सम्बन्धसे भी, (अपीच्यं निहितम्) दृष्टिसे भी दूर स्थित, और, (गुह्यम्) गुह्यसे गुह्य स्थान अर्थात् मुक्तिपदको जानता है।

तं त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम्।
सं त्वा मृजन्त्यायवः ॥

(सामवेदः उ. ४-१-११-२)

(विप्राः) बुद्धिमान् अर्थात् सदसद्विवेकी, (वचोविदः) वेदवाणीके ज्ञाता अथवा परमात्माकी स्तुति करनेवाले भक्त, (तम्) उस जगत्प्रसिद्ध, (धर्णसिम्) सारे संसारके धारण अथवा पालन करनेवाले, (त्वा) तुझ परमात्माको, (परिष्कृण्वन्ति) अपनी भक्तिसे सुशोभित करते हैं। (आयवः) मान-मोह-सङ्ग दोषोंसे रहित मनुष्य, (त्वा) तुझ परमात्माको, (मृजन्ति) सर्वत्र शोधते हैं अर्थात् तुझ परमात्माको सर्वत्र देखते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो प्राणी मान-मोह और सङ्गदोपसे रहित होकर निष्काम तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहते हैं वही ब्रह्मपद अर्थात् मुक्तिमें ब्रह्मानन्दरसका पान करते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मेधावी, सदसद्विवेकी, अतीन्द्रियद्रष्टा अपने आत्मज्ञानसे आत्माको शोधते हुए अनन्यभाव अर्थात् अनन्यभक्तिसे आत्मचिन्तनमें तत्पर रहते हैं वही भक्तजन परमात्माके चरणोंमें वास करते हुए ब्रह्मानन्दरस अर्थात् मुक्तिके आनन्दको भोगते हैं।

६. **न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।**
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

हे अर्जुन! (सूर्यः) सूर्य, (तत् न भासयते) उस परमात्मधामको प्रकाशित नहीं करता, (न शशाङ्कः) न चन्द्रमा ही प्रकाशित करता है, (च न पावकः) और अग्नि भी नहीं प्रकाशित करता क्योंकि वह स्वयंप्रकाशमान है। (यत् गत्वा न निवर्तन्ते) मुक्तात्मा जिस स्थानको जाकर फिर लौटकर संसारमें नहीं आते, (मम) मेरा, (तत् परमं धाम) वही परमधाम है ॥६॥

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥

(अथर्ववेदः २-१-२)

([1]अमृतस्य विद्वान्) अविनाशी परमतत्त्वका ज्ञाता, ([2]गन्धर्वः—गां वेदवाणीं धारयतीति गन्धर्वः) वेदमार्गानुसार चलनेवाला योगीजन, (तत्) उस ब्रह्मपदको, ([3]प्रवोचेत्) बताता है, (यत् परमम्) जो कृत पुण्यकर्म-फलस्वरूप स्वर्गलोकादिसे परमोत्कृष्ट, (धाम) पुनरावृत्ति-रहित स्थान, (गुहा=गुहायाम्) तथा हृदयरूप कन्दरामें स्थित तत्त्व है, (अस्य) इस परमात्माके, (त्रीणि पदानि) तीन पद अथवा तीन [4]स्थान [पद्यन्ते गम्यन्ते मुमुक्षुभिः प्राणो मे इति] अंशभूत, विराड्, हिरण्यगर्भादि कहे जाते हैं, ऐसे तीन स्थान, (गुहा=गुहायाम्) हृदयमें, ([5]निहिता=निहितानि) स्थित हैं [या 'गूहयति संवृणोति परिच्छिनत्ति परमात्मानम् इति गुहा, माया'—उस मायामें समष्टि रूपसे रखे हुए हैं]। जो शम-दमादि छह प्रकारकी सम्पत्तिवाला अधिकारी उन तीन पदोंको अथवा उन तीन पदोंसे उपलक्षित निष्कल ब्रह्मको, ([6]वेद) जानता है अर्थात् जीव-ईश्वर उपाधिके त्यागसे साक्षात्कार करता है, उन विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वरके तत्त्वोंको जानता है और ओङ्कारके अवयव अकार-उकार-मकारोंसे व्यष्टिरूप विश्व, तैजस, और प्राज्ञ इनको और समष्टि-

---

१. अमृतस्य विद्वान्—'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वात् 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इति षष्ठी। नत्वत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति षष्ठी। 'न लोका—' इति तस्याः प्रतिषेधविधानात्। स्वरूपपदाध्याहारेण वा सम्बन्धः।

२. गन्धर्वः—'गवि गन् धृञो वः' इति गोशब्दोपपदात् धृञो वप्रत्ययः, गोशब्द-स्य गनादेशः।

३. प्र वोचेत्—'व्यवहिताश्चेति प्रोपसर्गस्य व्यवहितक्रियया सम्बन्धः। ब्रूञ आशीर्लिङि वच्यादेशे 'लिङ्याशिष्यङ' इति अङ्प्रत्ययः, 'वच उम्' इत्युमागमः।

४. त्रिपादस्यामृतं दिवि (त्रि. वि. म. ना. उ. ४-४)।

५. निहिता—निपूर्वाद् धाञः कर्मणि निष्ठा। 'दधातेर्हिः' इति हिरादेशः। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः।

६. वेद—'विद् ज्ञाने', 'विदो लटो वा' इति तिपो णलादेशः।

रूप विराडादि-तादात्म्य-सम्बन्ध-पुरःसर तुर्यावस्थाको जानता है, (सः) वह, (पितुः पिता असत्=अस्ति) कार्यकारणभूत महदादिका भी पिता, उत्पादक अर्थात् कारणभूत है।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः॥
(अथर्ववेदः ७-१५-२)

(यस्य) जिस परमात्माका, (अमतिः) तौल-मापसे रहित अर्थात् अपरिमाण, (भाः) ज्योति अर्थात् तेज है। जो तेज, (सवीमनि) परमात्मा-की आज्ञामें रहता हुआ, (ऊर्ध्वा) सब तेजस्वियोंके ऊपर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रहकर, (अदिद्युतत्) अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है, (सुक्रतुः) सुन्दर शुभ कर्मोंवाला, (हिरण्यपाणिः) तेजस्वी परमात्मा, (कृपात्) अपनी शक्तिसे अथवा अपनी कृपासे सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रकाशवाले पदार्थोंका, (अमिमीत) निर्माण करता है।

तुलना—गीतामें परमात्माका स्वरूप अथवा धाम परमतेजस्वी तथा स्वयं-प्रकाशमान कहा गया है, जिस धाममें मुक्तात्मा ब्रह्मानन्दरसका पान करते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा ज्योतिःस्वरूप है और वह ज्योति स्वयंप्रकाशमान है। उसी ज्योतिसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि तेजस्वी पदार्थ उत्पन्न हुए हैं।

७. **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(जीवलोके) किये हुए कर्मोंकी उपभोग-भूमि अर्थात् मनुष्य लोकमें या जीवसे देखने या अनुभवकी भूमि देहमें, (ममैव) मुझ परमात्माका ही, (अंशः) भाग, (सनातनः) सदा रहनेवाला अर्थात् नित्य, (जीवभूतः) नामरूप, विकृतिरूप जीव नाम धारण करके, (प्रकृतिस्थानि) प्रकृति अर्थात् अपने-अपने स्वभावमें रहनेवाले, (मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि) घ्राण, नेत्र, त्वक्, श्रोत्र, जिह्वा, पाँच इन्द्रिय और छठे मनको, (कर्षति) जन्म-मरणमें साथ ले जाता है॥ ७॥

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः।
(अथर्ववेदः १९-५१-१)

(अहम्) मैं परमात्मा, (अयुतः) किसी प्राकृत वस्तुसे मिश्रित नहीं हूँ अतः स्वयं परिपूर्ण और सनातन हूँ। (मे) मुझ परमात्माका, (आत्मा)

स्वरूप अंश जीवात्मा अर्थात् पुत्र, (अयुतः) जीवभूत होता हुआ भी नित्य है ['आत्मा वै पुत्रनामासि' कौ. उ. २-११–जीव परमात्माका पुत्र है, पुत्र भी पितृस्वरूप होता है], (मे चक्षुः, श्रोत्रं, प्राणः, अपानः, व्यानः अयुतः) मुझ परमात्माकी दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति, श्वासोच्छ्वासशक्ति परिपूर्ण है, (अहं सर्वः अयुतः) मैं सब प्रकारसे शुद्ध, प्राकृत मिश्रणसे रहित अतः परिपूर्ण हूँ।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥

(अथर्ववेदः १९-९-५)

(मे हृदि) मुझ जीवात्माके हृदयभागमें, (मनःषष्ठानि यानि पञ्च इन्द्रियाणि) छठे मनके साथ ये जो पाँच घ्राण, त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, रसना ज्ञानेन्द्रियाँ रहती हैं, वे, (ब्रह्मणा संशितानि) ब्रह्मकी चेतन सत्तारूप जीवात्मासे बँधी हुई अपने-अपने व्यापारमें लग्न रहती हैं। (यैः एव) जिन इन्द्रियोंसे, (घोरम्) घोर कर्म अर्थात् पापकर्म, (संसृजे) उत्पन्न होते हैं, (तैः एव) उन इन्द्रियोंसे ही उत्पन्न किये हुए घोरकर्मोंकी, (नः शान्तिः अस्तु) हम जीवात्माओंके लिये शान्ति हो।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥

(अथर्ववेदः ४-१४-१)

(अजः) अजन्मा अर्थात् परमात्माका अंशरूप जीवात्मा, (हि) निश्चय ही, (अग्नेः) सर्वप्रकाशक ज्योतिस्वरूप परमात्माके, (शोकात्) ज्ञानमय तेजसे, (अजनिष्ट) प्रकट हुआ। (सः) उस जीवात्माने, (अग्रे) सबसे पहले, (जनितारम्) अपने प्रकट करनेवाले, उत्पादक परमात्माको, (अपश्यत्) देखा। (तेन) इस कारणसे, (मेध्यासः) ज्ञानबुद्धि रखनेवाले योगीजन, (रोहान्) उच्च पदवी अर्थात् परमात्माके परमधाम मुक्तिस्थानको, (रुरुहुः) प्राप्त होते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं, (देवाः) क्योंकि उनकी मनसहित ज्ञानइन्द्रियाँ, (अग्रे) पहले ही, (देवताम्) देवभाव अर्थात् ज्ञानात्मक प्रकाशको, (आयन्) प्राप्त हो जाती हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माका अंशरूप नित्य जीवात्मा मनसहित ज्ञानेन्द्रियोंको अपनी ओर खींचता है, अर्थात् उन इन्द्रियों द्वारा रूप-रस-गंधादिका अनुभव करता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा किसी

प्राकृतिक पदार्थसे मिश्रित नहीं है। उसके पुत्ररूप जीव भी नित्य, ज्ञानगुणवाले होकर मनसहित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा रूप-रसादिका अनुभव करते हैं। इसी जीवात्मा-की ज्ञानेन्द्रियोंमें जब परमात्मज्ञान प्राप्त होता है तब वे वैषयिक ज्ञानसे पृथक् हो जाती हैं जिससे ज्ञानी मुक्तिधामको प्राप्त होते हैं।

८. **शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।**
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

(ईश्वरः) परमात्माका अंशरूप जीवात्मा, (यत् शरीरम् अवाप्नोति) जब शरीरको कर्मफलोपभोगके लिये ग्रहण करता है अर्थात् जन्म लेता है, (च यत् अपि) और जब भी, (उत् क्रामति) शरीरसे बाहर निकलता है अर्थात् शरीरको छोड़ता है, तो, (वायुः आशयात् गन्धान् इव) जैसे वायु फुलवाड़ीके फूलोंसे गन्धको ले जाती है, वैसे जीवात्मा, (एतानि गृहीत्वा) सूक्ष्म मनसहित ज्ञानेन्द्रियोंको साथ लेकर, (संयाति) दूसरे लोकोंमें अर्थात् प्रथम देहको छोड़-कर दूसरे देहको जाता है॥ ८॥

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु॥

(ऋग्वेदः ६-९-५)

(पतयत्सु) चलने-फिरनेवाले प्राणियोंके, (अन्तः) भीतर अर्थात् हृदय-देशमें, (ध्रुवम्) स्थिर, 'तन्नैजति' इस भावसे स्थिर, (मनोजविष्ठम्) मनसे भी अधिक वेगवाला, 'तदेजति' इस आशयवाला, (ज्योतिः) स्वय प्रकाशमान ज्योति, स्वयं जीवात्मा, (कं दृशये) सुखस्वरूप आनन्दमय ब्रह्मको साक्षात्कार करनेके लिये, (निहितम्) स्थित है। (विश्वे देवाः समनसः) मनसहित सारी इन्द्रियाँ, (सकेताः) अपने-अपने विषयग्राहक ज्ञानके साथ अर्थात् रूप-रसादिके ग्राहक बने हुए, (एकं क्रतुम्) मुख्य सत्तारूप जीवात्माकी ओर, (साधु) अच्छी रीतिसे, (अभि वि यन्ति) जाते हैं अर्थात् जन्म लेनेमें अथवा शरीर छोड़नेपर जीवात्माके साथ सूक्ष्मरूपसे आते-जाते रहते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जब जीवात्मा जन्म ग्रहण करता है अथवा शरीर छोड़कर परलोकको जाता है तो मन और इन्द्रियाँ सूक्ष्मरूपसे उसके साथ आती-जाती रहती हैं। वेदमें भी कहा गया है कि सब जङ्गम प्राणियोके हृदयमें जीवात्माका वास रहता है जिसका मुख्य कर्म परमात्मदर्शन है। मनके साथ सब इन्द्रियाँ सूक्ष्मरूपसे पूर्ण विषयग्राहक शक्तिके साथ जीवात्माके साथ आती-जाती रहती हैं।

९. श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

हे अर्जुन ! (अयम्) यह जीवात्मा शरीरमें स्थित होकर, (श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च घ्राणम् एव च मनः च अधिष्ठाय) श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राणेन्द्रिय और मनको आश्रय करके, (विषयान् उपसेवते) रूप-रसादि विषयोंका सेवन करता है ॥ ९ ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥

(अथर्ववेदः ११-८-२६)

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥

(ऋग्वेदः ११-८-३०)

(शरीरे) प्राणियों और अप्राणियोंके पिण्डमें, (क्षितिः) पृथिवी, (या आपः) जो जल है, (चक्षुः) तेज, (प्राणापानौ व्यानोदानौ) प्राण, अपान, व्यान और उदान अर्थात् वायु, (श्रोत्रम्) आकाश, (या च अक्षितिः देवता) और जो इन पाँच भूतोंके साथ सदा रहनेवाले गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दरूप देवता हैं, (वाक्) वाणी, वाणीपदसे वाक्पायुपादोपस्थपाणि आदि कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण साथ है अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, (मनः) मन, (शरीरेण ते ईयन्ते) वे सब शरीरके साथ प्राप्त होते हैं, और जो, (विराट्) विराट् शरीर अर्थात् विश्वशरीर है वह भी, (ब्रह्मणा सह) ब्रह्मके साथ रहता है अर्थात् ब्रह्माण्डरूपी शरीरमें परमात्मशक्ति व्यापक रूपसे रहती है। (शरीरम्) शरीरमें, (ब्रह्म प्राविशत्) परमात्माका अंशरूप जीवात्मा वास करता है, और, (शरीरेऽधि प्रजापतिः) शरीरमें सब प्रजाओंका पति परमात्मा व्यापक रूपसे वास करता है।

तुलना—गीता और वेदमें समानरूपसे कहा गया है कि देह पञ्च-महाभूतोंका बना हुआ है और उनके साथ ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन रहते हैं। जीवात्मा भोगायतन देहमें रहकर उन इन्द्रियों द्वारा सब काम करता है और इनका अधिष्ठाता है तथा परमात्मा व्यापकरूपसे सारे ब्रह्माण्डरूप देहमें वास करता है।

१०. उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

हे अर्जुन ! (विमूढाः) विवेकशून्य मनुष्य, (उत्क्रामन्तम्) शरीरको छोड़कर जाते हुए, (वा अपि) और, (स्थितम्) शरीरमें स्थित, तथा,(गुणान्वितं भुञ्जानम्) सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणवाले अपने किये हुए कर्मोंके फलको भोगते हुए जीवात्माको, (न अनुपश्यन्ति) नहीं देखते अर्थात् उन्हें प्रकृति-पुरुषका ज्ञान नहीं होता, परन्तु, (ज्ञानचक्षुषः) ज्ञानदृष्टिवाले विवेकी पुरुष उस देह और आत्माके ज्ञानको जानते हुए उस आत्माको देहसे पृथक् देखते हैं ॥१०॥

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् ।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥
(अथर्ववेदः १०-८-१४)

(सर्वे) शुद्ध मनवाले ज्ञानीलोग, (ऊर्ध्वं भरन्तम्) प्राणापानादि वायुको योगाभ्यास अथवा प्राणायाम द्वारा ब्रह्मरन्ध्रके ऊर्ध्वभागमें ले जाते हुए जीवात्माको, (कुम्भेन उदहार्यम् इव) कुएँसे घट द्वारा ऊपर ले आते हुए जलके समान, (चक्षुषा पश्यन्ति) ज्ञानचक्षुसे देखते हैं अर्थात् जैसे घट कुएँसे पृथक् होकर जल लेकर ऊपर जाता है ऐसे जीवात्मा भी ज्ञानरूपी जल लेकर ऊपर जाते हुए देहसे पृथक् हो रहा है, ज्ञानी लोग ऐसा जानते हैं, (सर्वे) सब साधारण मनुष्य तो, (मनसा) स्थूल मनसे, (न विदुः) नहीं जानते ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥
(ऋग्वेदः १-१६४-३८)

(अमर्त्यः) मरणधर्मरहित अजन्मा जीवात्मा, (मर्त्येन) नाश होनेवाले देहके साथ, (सयोनिः) समान स्थान अर्थात् देहमें वास करता हुआ, अथवा, (सयोनिः) समान उत्पत्तिवाली देहके संबन्धसे जीवात्मा अपनी उत्पत्ति अर्थात् जन्म और देहसे पृथक् होनेसे अपनी मृत्यु समझता है । वस्तुतः ऐसा नहीं है, जीवात्मा नित्य है । (स्वधया गृभीतः) अपनेमें सात्त्विक, राजस, तामस गुणोंके आधारपर कृत कर्मोंके फलकी धारणा द्वारा जन्म-मृत्युके बन्धनमें पकड़ा हुआ या अन्नमय कोष द्वारा पकड़ा हुआ यह जीवात्मा, (अपाङ् एति) नीच योनियोंमें जाता है, (प्राङ् एति) और उच्च योनियों अथवा ज्ञानियोंमें जन्म लेता है। (ता शश्वन्ता=तौ शश्वन्तौ)देह और आत्मा दोनों संसारावस्थामें नित्य संबन्ध-

वाले हैं या जीवात्मा और परमात्मा नित्य हैं, (विषूचीना) इस लोकमें सर्वत्र देह और आत्मा इकट्ठे चलनेवाले हैं या जीवात्मा देहसे दूसरे देहमें गमनशील है और परमात्मा सारे ब्रह्माण्डमें गमनशील है। (वियन्ता) देह और जीवात्मा स्वकृत कर्मफलके भोगनेके लिये सब लोक-लोकान्तरोंमें चलते रहते हैं, क्योंकि जीवात्माके कर्मफल भोगनेका स्थान देह है अतः दोनों इकट्ठे रहते हैं। (नि चिक्युः) ज्ञानी मनुष्य देहको नाशवान् और आत्माको देहसे भिन्न और नित्य जानते हैं। (अन्यं न नि चिक्युः) कई लोग देहसे भिन्न, (अन्यम्) आत्माको नहीं जानते अर्थात् ज्ञानीजन आत्माको देहसे भिन्न जानते हैं और अज्ञानी लोग देह और देहकी छायाके समान देहसे भिन्न नहीं जानते।

उपनिषद्में कहा गया है—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः॥

(श्वे. उ. ५-७)

वासनाओंसे युक्त, फलार्थ कर्मोंका करनेवाला, किए हुए उन कर्मोंका ही फल भोगनेवाला, सारे रूपोंवाला, तीन गुणोंवाला, तीन मार्गोंवाला तथा प्राणों-का स्वामी वह (अपर, जीवात्मा) अपने कर्मोंके प्रभावसे घूमता रहता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मूर्खजन जीवा माको देहसे पृथक् नहीं देखते। वे कहते हैं कि देह ही आत्मा है परन्तु ज्ञानीजन आत्माको देहसे भिन्न और नित्य देखते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि जीवात्मा प्राणायामादि द्वारा जब ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमें आता है, तब देह मृतककी भाँति पृथिवीपर निश्चेष्ट पड़ा रहता है अतः ज्ञानीजन आत्माको देहसे भिन्न और नित्य देखते हैं। दूसरे मूर्ख-जन देहको ही आत्मा मानते हैं, उसे देहसे भिन्न नहीं देखते।

११. यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

हे अर्जुन ! (च योगिनः) और योगी लोग. (यतन्तः) शम-दमादि साधनोंसे आत्माका साक्षात्कार करनेके लिये यत्न करते हुए, (आत्मनि अव-स्थितम्) अपने देह अर्थात् हृदयमें स्थित इस आत्माको, (पश्यन्ति) देखते हैं। (अकृतात्मानः) मलिन अन्तःकरणवाले, (अचेतसः) विवेकरहित अर्थात् परमात्मासे बहिर्मुख पुरुष, (यतन्तः अपि) बहुत प्रकारसे प्रयत्न करते हुए भी, (एनं न पश्यन्ति) इस आत्माका साक्षात्कार नहीं कर पाते॥ ११॥

अपक्रामन्पौरुषेयाद्वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥

(अथर्ववेदः ७-११०-१)

हे योगिन् ! हे जीवात्मन् ! तू, (पौरुषेयात्) पुरुषोंके हितके लिये वर्तमान कामवाद-कामभक्षणादि विविध लौकिक कर्मोंसे, (अपक्रामन्) दूर रहता हुआ, (दैव्यं वचः) परमात्म-संबन्धी वचन अर्थात् वेदाज्ञाको, (वृणानः) अपना आश्रय मानता हुआ, (विश्वेभिः सखिभिः सह) स्वाध्यायाधारसे सद-सद्विवेक-वृद्धिके लिये समान धर्मवाले सब योगियोंके साथ, (प्रणीतीः) अत्यन्त आत्मज्ञानकी प्राप्तिको, (अभ्यावर्तस्व) पा ले ।

अभि वेना अनूषतेयक्षन्ति प्रचेतसः ।
मज्जन्त्यविचेतसः ॥

(ऋग्वेदः ९-६४-२१)

(वेनाः) ज्योतिस्वरूप परमात्माकी स्तुति करनेवाले, (प्रचेतसः अभ्यनूषते) सम्मुख स्थितके समान परमात्माकी स्तुति करते हैं । (प्रचेतसः) शम-दमादि षट् सम्पत्तिवाले परिपक्व मन अर्थात् स्थिर चित्तवाले होकर, (यक्षन्ति) परमात्माका सेवन करते हैं । (अचेतसः) मलिन अन्तःकरणवाले प्रमादी लोग भगवद्दर्शनप्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हुए भी, (मज्जन्ति) संसारमें जन्म-मरणके समुद्रमें डूबते रहते हैं ।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ ।
तान्वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥

(अथर्ववेदः १२-२-२४)

हे मनुष्यो ! (जरसं वृणानाः) तुम वृद्धावस्थाको पाते हुए भी अर्थात् वृद्ध होते हुए भी, (आयुः) परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिये दीर्घायुको, (आरोहत) प्राप्त होओ । (अनुपूर्वं यतमानाः) पहलेकी भाँति अर्थात् यथा-रीति शम-दमादि षट्-सम्पत्ति-प्राप्तिपूर्वक भगवद्दर्शनके लिये प्रयत्न करते हुए, (यति स्थ) ब्रह्मचर्य-प्राप्तिसे युक्त होओ । (त्वष्टा) परमात्मा, (सजोषाः) प्राणिमात्रकी सेवा करते हुए, (सुजनिमा) शुद्ध गृहमें जन्मे हुए, (तान् वः) षट्-साधन-सम्पन्न तुम परमात्मभक्तोंको, (जीवनाय) जीवनदान देनेके लिये, (सर्वम् आयुः नयतु) सारी आयु अर्थात् १२५ वर्षतक ले जावे ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञानीजन परमात्म-दर्शनका यत्न कर अपने भीतर स्थित आत्माको देखते हैं । किन्तु मूर्खजन यत्न करते हुए भी देहको ही

आत्मा जानते रहते हैं। उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। वेदमें भी कहा गया है कि प्रचेता अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानीजन यत्न द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर लेते हैं और परमात्माके चरणोंको प्राप्त हो जाते हैं किन्तु मूर्ख-जन संसारमें आवागमनके चक्रमें ही डूबते रहते हैं।

१२. यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

हे अर्जुन! (आदित्यगतम्) सूर्यके भीतर और बाहर वर्तमान, (यत् तेजः) जो तेज अर्थात् प्रकाश, (अखिलं जगत्) सारे संसारको, (भासयते) प्रकाशित करता है, (यत् चन्द्रमसि) जो तेज चन्द्रमामें वर्तमान है, और, (यत् अग्नौ) जो तेज अग्निमें रहकर प्रकाश करता है, (तत् तेजः मामकं विद्धि) उस तेजको मेरा तेज जान। वे मेरे प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं॥१२॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

(अथर्ववेदः ७-९२-१)

(यः रुद्रः) जो परमात्मा रुत् अर्थात् दुःखका नाशक या रुत्=स्तुति, उससे प्राप्त होनेयोग्य, पापियोंको रोदन करानेवाला परमात्मा, (अग्नौ) अग्निमें, (आविवेश) तेजरूपसे प्रवेश करता है अर्थात् अग्निमें तेज परमात्माका दिया हुआ अपना तेज है, (यः अप्सु अन्तः) जो परमात्मा जलरूप चन्द्रमाके भीतर, (आविवेश) तेजरूपसे प्रवेश करता है, (यः) जो परमात्मा, (ओषधीः वीरुधः आविवेश) विशेष करके विविध प्रकारसे उत्पन्न होनेवाली और फल-पाकवाली औषधियोंमें पाकाग्निरूपसे प्रविष्ट हुआ है, (यः) जो परमात्मा, (इमा=इमानि, विश्वा भुवनानि) इन दृश्यमान सब लोक-लोकान्तरोंको रचनेके लिये, (चाक्लृपे) समर्थ होता है, (तस्मै रुद्राय अग्नये नमः अस्तु) उस ज्योतिस्वरूप परमात्माको नमस्कार हो।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें जो तेज अर्थात् प्रकाश विद्यमान है वह परमात्माका दिया हुआ अपना तेजोभाग है। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्माका तेजोभाग अग्नि और जलस्वरूप चन्द्रमा हैं। वृक्ष-लतादिमें पाकाग्नि परमात्माकी तैजस सत्तासे विद्यमान है।

१३. गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा, (ओजसा) निजशक्तिसे, (गाम् आविश्य) पृथिवीमें प्रवेश करके, (भूतानि) सब स्थावर-जङ्गम पदार्थोंको, (धारयामि) धारण करता हूँ अर्थात् प्रत्येक पदार्थको अपने-अपने स्थानपर स्थापित करता हूँ, (च) और, (सोमः भूत्वा) चन्द्रमारूप हो रसमय अर्थात् जलस्वरूप होकर, (सर्वाः औषधीः) सब औषधियोंको, (पुष्णामि) अमृतरससे पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः ।
अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ॥

(ऋग्वेदः ६-४७-४)

(यः अयम्) जिस इस परमात्माने, (पृथिव्याः वरिमाणम्) पृथिवीके विस्तारको अथवा वासके लिये श्रेष्ठताको, (अकृणोत्) किया। (अयम्) इस परमात्माने, (दिवः) द्युलोकको, (वर्ष्माणम्) श्रेष्ठतापूर्वक दृढ किया [येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' ऋग्वेद], (सः अयम्) वह यह परमात्मा, (सोमः) रसात्मक चन्द्ररूप होकर, (तिसृषु प्रवत्सु) अत्यन्त प्रकृष्टताको प्राप्त वनस्पतियोंमें, औषधियोंमें और किरणोंमें, (पीयूषम्) अमृतमय रसको, (दाधार) धारण करता है, और, (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तृत आकाशको, (दाधार) धारण करता है ।

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥

(ऋग्वेदः १-९१-२२)

(सोम !) हे परमात्मन् ! (त्वम्) तूने चन्द्रमारूप होकर, (इमाः ओषधीः) इन ओषधियोंको, (अजनयः) उत्पन्न किया, और, (विश्वाः अपः) सब प्रकारके जलोंको जलरूप होकर प्रकट किया । (त्वम्) तुझ परमात्माने, (गाः) प्राणियोंके वासके लिये भूमियोंको अथवा अमृतरूप दुग्ध देनेवाली गौओंको अथवा सूर्यमें उष्ण किरणोंको, चन्द्रमामें रसमय जलीय किरणोंको, (अजनयः) उत्पन्न किया है । हे परमात्मन् ! (त्वम्) तूने, (उरु अन्तरिक्षम्) बहुत विस्तृत आकाशको प्रकट किया । (त्वम्) हे परमात्मन् ! तूने, (ज्योतिषा) प्रकाशसे, (तमः) अन्धकार अथवा अज्ञानको, (वि ववर्थ) अत्यन्त दूर कर दिया ।

स एव सं भुवनान्याभरत्स एव सं भुवनानि पर्यैत् ।
पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः ।।

(अथर्ववेदः १९-५३-४)

(सः एव) वह परमात्मा ही, (भुवनानि) भूतजातका अर्थात् चराचर पदार्थोंका, (सम् आ अभरत्) सम्यक्तया पालन करता है । (सः एव) वह परमात्मा ही, (भुवनानि सं परिऐत्) सारे चराचर जगत्को प्राप्त होता है अर्थात् वह परमात्मा ही सारे संसारमें व्यापक रूपसे रहता है । (सः एव) वह परमात्मा ही, (एषां पिता सन्) इन चराचर पदार्थोंका पिता या उत्पादक होता हुआ, (पुत्रः अभवत्) नरकादि दुःखसे बचानेवाला होता है । (तस्मात्) उस सर्वव्यापक परमात्मासे, (अन्यत् परं तेजः नास्ति) भिन्न दूसरा कोई उत्कृष्ट तेज नहीं है ।

तुलना—परमात्मा व्यापक होकर सबका पालन करता है और चन्द्र-रूप होकर अपनी अमृतमयी किरणोंसे वनस्पतियों और ओषधियोंमें अमृतरस प्रदान करता है, ऐसा गीतामें कहा गया है । वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा ही सब पदार्थोंका उत्पादक, रक्षक और संहारक है । उस परमात्मासे बढ़कर तेजस्वी वस्तु कोई नहीं है । वह परमात्मा ही पृथिवी-आकाशादि पदार्थोंको बनाकर उनमें व्यापक रूपसे वास करता है । परमात्माका ही तेज सूर्य-चन्द्रादि तैजस पदार्थोंमें विद्यमान है । वही उष्ण तेज होकर सूर्यमें और जलरूप होकर चन्द्रमाकी अमृतमय किरणोंमें वास करता है ।

१४. अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।

हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा, (वैश्वानरः भूत्वा) सब प्राणियोंके भीतर वैश्वानर अर्थात् जठराग्निरूप होकर, (प्राणिनाम्) जीवधारियोंके, (देहम् आश्रितः) शरीरोंमें रहता हुआ, (प्राणापानसमायुक्तः) प्राण और अपान वायुसे मिला हुआ अर्थात् प्राण और अपान वायुको साथ लेकर, (चतुर्विधम् अन्नम्) भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य इस चार प्रकारके अन्नको या रस्य, स्निग्ध, स्थिर, मनको प्रसन्न करनेवाले—इन चार प्रकारके सात्त्विक भोजनको या अति कटु आदि, अति तीक्ष्ण, अति रूखे, जलानेवाले, इन चार प्रकारके राजस अन्नको या थोड़े पके हुए, अधिक पके हुए, दुर्गन्धवाले और बहुत पुराने इन चार प्रकारके तामस अन्नको, (पचामि) पकाता हूँ ।।१४।।

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥

(अथर्ववेद: ३-२१-३)

(यः देवः वैश्वानरः) जो सब प्राणियोंके भीतर वास करनेवाला ज्योतिस्वरूप वैश्वानर अर्थात् जाठराग्नि होकर, (इन्द्रेण) जीवात्माके साथ, (सरथम्) देहमें साथ-साथ, (याति) चलता-फिरता है, (यः विश्वदाव्यः) जो जाठराग्निरूप परमात्मा सारे विश्वके भक्ष्य-भोज्यको पकानेवाला है, (यम्) जो परमात्मा हमें, (पृतनासु) सांसारिक युद्धमें सहायता देनेवाला है, अतः मैं उसकी, (जोहवीमि) स्तुति करता हूँ या उसे बुलाता हूँ। (तेभ्यः अग्निभ्यः) उस अग्निरूप परमात्माको, (एतत् हुतम् अस्तु) यह प्रार्थना प्राप्त हो।

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥

(अथर्ववेद: ३-२१-२)

(यः) जो परमात्मा वैश्वानररूप होकर, (सोमे अन्तः) देहमें आत्माके होनेपर या सोमलतामें सोमरसका पकानेवाला होकर, (आविष्टः) प्रविष्ट हुआ है। (यः गोषु) जो वैश्वानररूप अग्नि गौ-महिष्यादिमें, (वयःसु) पक्षियोंमें, (मृगेषु) पशुओंमें जाठराग्निरूप होकर, (आविष्टः) प्रविष्ट हुआ है। (यः) जो वैश्वानर अग्नि, (द्विपदः चतुष्पदः) दो पाँववाले और चार पाँववाले सब प्राणियोंमें, (आविवेश) प्रवेश किये हुए है, (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् एतत् अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह आह्वान अर्थात् स्तुति हो।

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः॥

(ऋग्वेद: ६-९-४)

(मर्त्येषु) मरण-धर्मवाले देहोंमें, (अमृतम् इदं ज्योतिः) यह अमर ज्योति परमात्मा रहता है। (इमं पश्यत) इस ज्योतिको एकाग्रचित्तसे देखो। (अयं प्रथमः होता) यह परमात्मा सबका आदि, वैश्वानररूप अर्थात् जाठराग्निरूप होकर भक्षित अन्नको हवन करनेवाला यानी पचानेवाला है। (इमं पश्यत) इस जाठराग्निको वैश्वानररूप देखो। (सः अयम्)

वह यह अग्नि, (ध्रुवः) उदरमें स्थिर रहनेवाला, (अनिषत्तः) सब प्राणियों-में रहनेवाला, (अमर्त्यः) मरणरहित भी, (तन्वा वर्धमानः) शरीरके साथ बढ़ता है अर्थात् जैसे-जैसे शरीर बढ़ेगा वैसे-वैसे जाठराग्नि भी बढ़ता जाता है, और, (जज्ञे) प्रकट होता है ।

मथीद् यदीं विष्टो मातरिश्वा होतारं विश्वाप्सुं विश्वदेव्यम् ।
नि यं दधुर्मनुष्यासु विक्षु स्वर्ण चित्रं वपुषे विभावम् ॥

(ऋग्वेदः १-१४८-१)

(होतारम्) चार प्रकारके भोजनको भक्षण करनेवाले या देवताओंको भी प्रलयकालमें अपने पास बुलानेवाले, (विश्वाप्सुम्) नानारूपधारी अर्थात् पार्थिव, वैद्युत, जाठराग्निरूपवाले, (विश्वदेव्यम्) सब देवोंसे युक्त अर्थात् सब इन्द्रियोंके हितकर्ता [जाठराग्नि ठीक रहेगा तो वाणी-नेत्रादि सब इन्द्रियाँ अपना-अपना पूरा कार्य करेंगी], (यत् ईम्) जिस इस जाठराग्निको, (मातरिश्वा) प्राणापान वायु, (विष्टः) शरीरमें रहनेवाला वायु, (मथीत) भक्षित पदार्थोंका मन्थन करता है, (यम्) जिस जाठराग्निको, (मनुष्यासु विक्षु) कर्म करनेवाली प्रजाओंमें अर्थात् कार्यमें संलग्न प्राणियोंमें, (वपुषे) शरीर-स्थितिके लिये जाठराग्नि रूपसे, (चित्रम्) विचित्र, (विभावम्) प्रभावशाली, (स्वर्णम्–सु ई रणम्) अपने आप चलनेवाले स्वरूपको, (नि दधुः) सर्वदा धारण करते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि वैश्वानररूप परमात्मा प्राणियोंमें वास करता हुआ उन प्राणियों द्वारा भोजन किये हुए चार प्रकारके पदार्थोंको पचाता है । वेदमें भी यही कहा गया है कि जैसे विश्वमें वनमें रहती हुई वनकी आग वनको जला देती है वैसे ही सब प्राणियोंके शरीरोंमें वास करता हुआ जाठ-राग्नि खाये हुए भोजनको वायुकी सहायतासे पचा देता है ।

१५. सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा क्षेत्रज्ञरूप होकर, (सर्वस्य हृदि) सब प्राणि-अप्राणियोंके हृदय अर्थात् मध्यमें, (सन्निविष्टः) प्रवेश किये हुए हूँ । (मत्तः) मुझ परमात्मासे अर्थात् मेरी उपासना करनेसे, (स्मृतिः) पूर्व-संस्कारजन्य स्मृतिशक्ति, तथा, (ज्ञानम्) प्रकृति-पुरुष-ज्ञान, और, (अपोहनम्) परमात्मोपासनासे विमुख होनेसे स्मृति और ज्ञानका अभाव अथवा संशय-

विपर्ययादि दोषोंका नाश होता है। (अहम्) मैं परमात्मा, (सर्वैः वेदैः) सब वेदोंसे अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदसे, (वेद्यः) जानने-योग्य हूँ। (अहम्) मैं परमात्मा, (वेदान्तकृत्) वेद-सिद्धान्तोंका निर्माण करनेवाला हूँ [वेदमें आया है—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै'–जो पहले ब्रह्माको बनाता है और वेदोंको उनके लिये भेजता है।—इस उक्तिसे ब्रह्मा द्वारा वेदान्तशास्त्रप्रवर्तक मैं ही हूँ], (वेदवित् च अहम्) और मैं वेदवेत्ता हूँ, क्योंकि संसारोद्धारके लिये वेदज्ञान ही मेरा पूर्ण ज्ञान है ॥ १५ ॥

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥
(ऋग्वेदः ४-२७-१)

हे जीवात्मन्! (अहम्) मैं परमात्मा, (नु) निश्चय ही, (एषां देवानाम्) अपने-अपने किये हुए कर्मफलसे प्रकाशमान इन जीवोंके, (गर्भे वसन्) हृदयमें वास करता हुआ, (विश्वा जनिमानि) सब जन्मों और उनके कर्मोंको, (अनु अवेदिषम्) सब कुछ जानता हूँ क्योंकि मेरी सेवाजन्य प्रसन्नतासे उन्हें स्मृति और ज्ञान उत्पन्न होता है। (शतम् आयसीः पुरः) लोहेके समान अत्यन्त दृढ सैकड़ों शरीर अर्थात् सारे ब्रह्माण्डसे सब देह, (मा) मुझ परमात्माको, (अरक्षन्) अपने मध्य अर्थात् हृदयमें धारण करते हैं। (अद्य) फिर मैं परमात्मांश जीवात्मा, (श्येनः) प्रशंसनीय गतिवाला होकर, (जरसा) वेगसे, (निरदीयम्) शरीरसे निकल जाता हूँ अर्थात् आवरणरहित होकर मुक्त हो जाता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा सारे ब्रह्माण्डके मध्यमें वास करता है और सबके कर्मोंके फलका दाता है। उसीकी कृपासे स्मृति, ज्ञान, संशय, विपर्ययका निरास होता है। वही वेद और वेदान्त-ज्ञानका प्रदाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा सब जीवोंके हृदयमें वास करता है और सबके जन्म और कर्मोंको जानता है। मूर्खजन उसे हृदयमें वास करता नहीं जानते। ज्ञानी लोग जानते हैं।

१६. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

हे अर्जुन! (लोके) संसारमें, (क्षरः च अक्षरः एव इमौ द्वौ पुरुषौ) क्षर या नाश होनेवाला या अव्यक्त अर्थात् प्रधान, प्रकृति और अक्षर या नाश

न होनेवाला अर्थात् जीवात्मा ये दो प्रकृति और पुरुष हैं। (सर्वाणि भूतानि क्षरः) ब्रह्मलोकसे लेकर तृणपर्यन्त सब पदार्थ कार्य-कारणभावसे क्षररूप हैं, (कूटस्थः अक्षरः उच्यते) नित्य स्थित जीवात्मा अक्षर कहा जाता है ॥१६॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

(ऋग्वेदः १-१६४-२०)

(सुपर्णा) सुन्दर गतिवाले, (सयुजा) समान स्थानमें रहनेवाले, (सखायौ) प्रकृति-पुरुष नामवाले, (द्वा=द्वौ) दो पुरुष, (समानं वृक्षम्) समान अर्थात् वृक्षरूप देहको, (परिषस्वजाते) गले लगाते हैं अर्थात् एक ही शरीरको निवासस्थान बनाते हैं। (तयोः अन्यः) उन दोनोंमें-से एक अर्थात् जीवात्मा, (पिप्पलम्) पके हुए अपने कर्मोंके फलको, (स्वादु अत्ति) बड़े स्वादसे भोगता है अर्थात् पापात्मा अपने पापके बुरे फलको अच्छा मानता हुआ भोगता रहता है और पुण्यात्मा पुण्यके फलको बड़े स्वादसे भोगता रहता है। (अन्यः) दूसरा पुरुष अर्थात् परमात्मा, (अनश्नन्) कर्मफलके उपभोगसे रहित हुआ, (अभिचाकशीति) प्रकाशित होता है।

उपनिषद्में कहा गया है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

उसी वृक्षपर पुरुष निमग्न हुआ असमर्थताके कारण मोहमें पड़ा शोक करता है। जब उस प्रियतम दूसरे (साथी) ईशको और उसकी महिमाको देखता है तब शोकसे पार हो जाता है।

तुलना—भगवद्गीतामें प्रपञ्चभरमें विस्तृतरूप क्षर और अक्षर दो पुरुषोंका वर्णन किया गया है। पञ्चमहाभूत पदार्थोंको क्षररूप अर्थात् विकारी होनेवाला और अक्षरको एकरस रहनेसे कूटस्थ अर्थात् नित्य, अविनश्वर बताया गया है। वेद और उपनिषद्में भी कहा गया है कि संसाररूपी वृक्ष है, जो विराट्का देह है। जीवात्माका कर्मफल-भोगाश्रय शरीर है। उसपर दो पक्षी अर्थात् चेतनस्वरूप जीवात्मा और परमात्मा वास करते हैं। जीवात्मा तो अपने कृत-कर्मोंके फलको खाता है और परमात्मा उसमें साक्षीरूपसे वास करता है। जब जीवात्मा परमात्माका दर्शन कर लेता है तब वह शोक-मोहसे रहित शुद्ध-स्वरूप हो जाता है, तभी कृतार्थ अर्थात् मुक्त कहा जाता है।

१७. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

हे अर्जुन! (अन्यः उत्तमः पुरुषः) इन क्षर और अक्षर पुरुषोंसे भिन्न सबसे उत्कृष्ट अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष, (परमात्मा इति उदाहृतः) परमात्मा इस शब्दसे पुकारा जाता है, (यः) जो परमात्मा, (लोकत्रयम् आविश्य) स्थूल, सूक्ष्म और कारणदेह या भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोकमें व्यापकरूप होकर, (बिभर्ति) धारण और पोषण करता है। वह स्वयं, (अव्ययः) सब विकारोंसे रहित है, अतएव, (ईश्वरः) सबका स्वामी है॥ १७॥

इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान्विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥
(अथर्ववेदः १९-५४-५)

हे जीवात्मन्! (इमं लोकम्) सर्व-कर्मार्जन-स्थान या सर्व-कर्मफलोप-भोग-स्थान सूक्ष्म-स्थूल-कारण-देहात्मक लोकको, (च) और, (परमं लोकम्) सुकृत कर्मफलके उपभोग-स्थान स्वर्गलोकको, (च) और, (पुण्यान् लोकान्) पुण्यकर्मोंसे अर्जित शुभ जन्मोंको, (च) और, (पुण्याः विधृतीः) दुःखके लेशमात्रको भी न स्पर्श करनेवाले लोकों अर्थात् जन्मोंके धारण करनेवाले सब लोकोंको, (अभिजित्य) जीतकर अर्थात् सबमें व्यापकरूप होकर, (ब्रह्मणा) बृहद्भाव अर्थात् सर्वव्यापक भावसे, (सः परमः) वह सर्वोत्कृष्ट परमात्मा, (कालः) जगत्का उत्पादक कालस्वरूप, (देवः) ज्योतिस्वरूप अर्थात् स्वयंप्रकाश, (ईयते) स्थावर-जंगमात्मक जगत्में व्यापकरूप होकर वास करता है।

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥
(अथर्ववेदः ९-१०-२६)

(त्रयः) प्रकृति, जीव, परमात्मा या क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम, ये तीन, (केशिनः) अपने-अपने प्रकाशसे प्रकाशित पदार्थ हैं। (ऋतुथा) ये तीनों यथाधिकार अर्थात् अपने-अपने समयानुसार, (वि चक्षते) प्रकाशित होते हैं। (एषाम् एकः) इन तीनों में-से एक, (संवत्सरे) सम्यक् वासस्थान अर्थात् क्षेत्र-में, (वपते) बीज बोता है अर्थात् प्राकृतिक पदार्थ उत्पन्न करता है। (अन्यः) दूसरा अर्थात् जीवात्मा, (विश्वम्) स्थूल-सूक्ष्म-कारण जगत्को, (शचीभिः)

अपनी विवेचनात्मक ज्ञानशक्तियोंसे, (अभिचष्टे) देखता है अर्थात् प्रकट करता है। (एकस्य) एक तीसरे सर्वोत्तम पुरुष अर्थात् परमात्माका, (ध्राजिः) धारक वेग या धारण करनेवाली शक्ति, (ददृशे) दृष्टिगोचर होती है। (रूपं न) उस परमात्माका रूप इन चर्मचक्षुओंसे दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि वह परमात्मा इन्द्रियातीत है [दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः]।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि क्षर और अक्षरसे उत्तम पुरुषोत्तम अन्य पुरुष है जो अविकारी तथा सर्वस्वामी होकर जगत्‌का पालन-पोषण करता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि सारे ब्रह्माण्डमें व्यापक होकर वास करनेवाले प्रकाशमान तीन पदार्थ हैं। उनमें-से एक क्षर अर्थात् अपने-से प्राकृतिक पदार्थोंको उत्पन्न करता है। दूसरा अक्षर अर्थात् जीवात्मा परमात्माकी दी हुई वेदज्ञान-शक्तिसे स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप संसारको देखता है। तीसरा सर्वोत्तम परमात्मा धारणशक्तियोंसे जगत्‌को धारण करता है, जिसकी शक्ति प्रतीत होती है, रूप नहीं प्रतीत होता।

१८. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

हे अर्जुन! (अहम्) मैं परमात्मा, (यस्मात्) जिस कारणसे, (क्षरम् अतीतः) विनश्वर संसारसे भी पार रहनेवाला अर्थात् न नाश होनेवाला हूँ, और, (अक्षरात्) जीवात्मासे भी, (उत्तमः) उत्कृष्ट हूँ, (अतः) इस कारण, (लोके च वेदे) लोक और वेदमें, (पुरुषोत्तमः) पुरुषोत्तम अर्थात् परमात्मा, (इति प्रथितः) इस नामसे प्रसिद्ध हूँ॥ १८॥

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

(यजुर्वेदः ८-३६)

(यस्मात्) जिस पुरुषोत्तम अर्थात् परमात्मासे, (अन्यः) कोई दूसरा, (परः) श्रेष्ठ, सर्वोत्तम, (न जातः अस्ति) प्रकट नहीं हुआ अर्थात् प्रकृति और पुरुष या क्षर और अक्षर जिससे नीचे हैं। सर्वोच्च पुरुषोत्तम परमात्मा ही है। (यः) जो परमात्मा, (विश्वा भुवनानि आविवेश) सारे भुवनोंमें अर्थात् भूर्भुवःस्वरादि लोकोंमें व्यापक रूपसे प्रविष्ट है। (प्रजापतिः) सारी प्रपञ्चमयी प्रजाका स्वामी परमात्मा, (प्रजया) अपनी प्रकट की हुई प्राकृतिक

प्रजासे, (संरराणः) सम्यक्तया रमण करता हुआ, (त्रीणि ज्योतींषि)अग्नि, विद्युत् और सूर्यस्वरूप तीनों ज्योतियोंको, (सचते) प्रकाशित करता है, (सः च षोडशी) और वह परमात्मा सोलह—१ इच्छा, २ प्राण, ३ श्रद्धा, ४ पृथिवी, ५ जल, ६ अग्नि, ७ वायु, ८ आकाश, ९ चक्षुर्घ्राणादि दश इन्द्रियाँ, १० मन, ११ अन्न, १२ वीर्य, १३ तप, १४ मन्त्र, १५ लोक, १६ नाम—इन सोलहोंको (सचते) सेवन करता है अर्थात् इनमें भी व्यापक रूपसे रहता है।

तस्माद्वै विद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥

(अथर्ववेदः ११-८-३२)

(तस्मात्) क्षर और अक्षर उन दोनों पुरुषोंसे उत्तम होनेके कारण, (विद्वान्) सदसद्विवेकी पुरुष, (वै) निश्चयपूर्वक, (पुरुषम्) दोनोंसे उत्तम पुरुषको, (इदं ब्रह्म) क्षराक्षरसे उत्कृष्ट यह ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा ही है, (मन्यते) ऐसा मानता है, (हि) क्योंकि, (सर्वाः देवताः) प्राणापानादि सब वायु, सब इन्द्रियाँ और उनके अधिपति अग्नि आदि देवता, (अस्मिन्) इस पुरुषोत्तम परब्रह्म परमात्मामें, (आसते) इस प्रकार वास करते हैं, (गावः गोष्ठे इव) जैसे सब गौएँ गोष्ठ अर्थात् गोशालामें वास करती हैं।

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥

(अथर्ववेदः ५-२-१)

(तत् इत्) वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही, (भुवनेषु) सब उत्पन्न हुए चराचर लोकोंमें, (ज्येष्ठम् आस) सबसे उत्कृष्ट यानी श्रेष्ठ है। (यतः) जिस परब्रह्म परमात्मासे, (उग्रः) तीव्र अथवा बलवान्, (त्वेषनृम्णः) तेजस्वी सूर्य, (जज्ञे) प्रकट हुआ है। (सद्यः जज्ञानः) तत्काल प्रकट होकर ही वह, (शत्रून् नि रिणाति) अपने शत्रुस्वरूप शीत और अन्धकारका नाश करता है। (विश्वे ऊमाः यत् एनम् अनुमदन्ति) समस्त सांसारिक प्रजा इस कारण इस सूर्यको पाकर प्रसन्न होती है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि क्षर और अक्षर अर्थात् प्रकृति और पुरुषसे उत्कृष्ट और सर्वोत्तम परमात्मा है जिसे पुरुषोत्तम कहते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि जो परमात्मा सारे संसारमें व्यापक रूपसे विराजता है

वही प्रजापति रूप होकर अपनी प्रकट की हुई प्रजामें रमण करता हुआ सारी प्रजाको साक्षीरूपसे देखता है। सदसद्विवेकी विद्वान् उस पुरुषोत्तमको ब्रह्मरूप मानता है। गोशालामें गौओंके समान सब पदार्थ उस ब्रह्ममें वास करते हैं। जिससे सूर्यादि ज्योति उत्पन्न हुई है वही परमात्मा सबसे बड़ा और श्रेष्ठ है।

१९. यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(यः असम्मूढः) सांसारिक पदार्थोंके मोहमें न बँधा हुआ जो ज्ञानी मनुष्य, (मां पुरुषोत्तमम् एव) क्षराक्षरसे भिन्न पुरुषोत्तमस्वरूप मुझ परमात्माको ही, (जानाति) जानता है, आत्मज्ञानसे पूर्ण हो जाता है, (भारत!) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन! (सः) वह ज्ञानी मनुष्य,(सर्ववित्) सांसारिक सब पदार्थोंके तत्त्वको जानता हुआ, (सर्वभावेन) सर्वात्मस्वरूपसे अर्थात् विश्वरूप-से या अनन्यभक्तिसे, (मां भजति) मेरा भजन और पूजन करता है। १९॥

ये च देवा अयजन्ताथो ये च परादृदिः।
सूर्यो दिवमिव गत्वाय मघवा नो वि रप्शते॥

(अथर्ववेदः २०-१२८-५)

(ये देवाः) क्षराक्षरसे भिन्न पुरुषोत्तमका ज्ञान रखनेवाले जो ज्ञानी मनुष्य, (देवान्) दिव्यगुणयुक्त देव अर्थात् पुरुषोत्तमका, (अयजन्त) पूजन करते हैं, (च ये) और जो ज्ञानी मनुष्य, (परादृदिः) ब्रह्मज्ञानोपदेशात्मक दान देते हैं, (सूर्यः दिवम् इव गत्वाय विरप्शते) परमात्माके पूजक ज्ञानी मध्याह्नके समय आकाशके मध्यमें पहुँचकर प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान, (मघवानः) तेजस्वी और ज्ञान-धनवाले पूज्य बने हुए, (दिवं विरप्शते) ज्योतिःस्वरूप परमात्माको प्राप्त होकर शोभित होते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य सद्विचारपूर्वक शुद्ध मनसे पुरुषोत्तम अर्थात् परमात्माका भजन करते हैं वही मुझे प्राप्त होते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मनुष्य बुद्धिमानों और विद्वानोंकी सङ्गतिमें प्राप्त होते हैं और अन्य पुरुषोंको ब्रह्मज्ञानका दान देते हैं वे परमात्मपूजक परमात्माको पाकर मध्याह्नमें पूर्ण प्रकाश करनेवाले सूर्यके समान शोभित होते हैं।

२०. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

(अनघ !) हे पापसे रहित, शुद्धात्मा अर्जुन ! (इदं शास्त्रम्) ज्ञानकी शिक्षा देनेवाला यह शास्त्र अर्थात् शिक्षा, (गुह्यतमम्) मेरे भीतर गुप्त है, वह, (मया) मैंने, (उक्तम्) कहा है, (भारत !) हे ज्ञानमें प्रेम रखनेवाले अर्जुन ! मनुष्य, (एतद् बुद्ध्वा) इस शास्त्र अर्थात् शिक्षाको जानकर, (बुद्धिमान्) यथार्थ ज्ञानका जाननेवाला, (च) और, (कृतकृत्यः) सफल अर्थात् मुक्त हो जाता है ।। २० ।।

[1]गूहता गुह्यं तमो वि [2]यात विश्वमत्रिणम्[3] ।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि[4] ।।

(ऋग्वेदः १-८६-१०)

हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! (यत्) यदि, (ज्योतिः उष्मसि) तू ज्योतिःस्वरूप परमात्माकी ज्योतिको प्राप्त करनेकी कामना करता है तो, (गुह्यं कर्त) तू गुह्यसे गुह्य वैदिक ज्ञानको प्राप्त कर । (गूहत) पुनः उस गुह्य ब्रह्मज्ञानको अपने हृदयमें सुरक्षित रख । उस ब्रह्मज्ञानसे, (विश्वम्) सारे प्रपंचको अर्थात् सारी सृष्टिको, (अत्रिणम्) भक्षण करनेवाले अर्थात् परमात्मासे विमुख करनेवाले, (तमः) काम-क्रोध-लोभादि-जनित अज्ञानान्धकारको, (वि यात) दूर कर ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माने गुह्यसे गुह्य ब्रह्मज्ञान जीवात्माको गीताशास्त्रसे बताया है । मनुष्य इस गुह्यज्ञानको जानकर कृतकृत्य अर्थात् मुक्त हो जाता है । वेदमें भी यही कहा गया है कि हे जीव ! यदि तू उस परमात्म-ज्योतिको पाना चाहता है तो परमात्मा द्वारा उपदेश किया हुआ वैदिक ज्ञान हृदयमें रख । उसी ज्ञानसे तू कृतकृत्य और मुक्त हो जायगा ।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका चतुर्दश अध्याय समाप्त ।

---

१. गूहत—'गुहू संवरणे', शपि लघूपधगुणः, 'ऊदुपधाया गोहः' इत्युपधाया ऊकारः ।

२. यात—'या प्रापणे' ।

३. अत्रिणम्—'अदेस्त्रिनि च' इति त्रिनिप्रत्ययः, इकारः नकारपरित्राणार्थः ।

४. उश्मसि—'वश् कान्तौ', इदन्तो मसिः । अदादित्वाच्छपो लुक् । 'ग्रहिज्या' इत्यादिना सम्प्रसारणम् ।

षोडश अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

१. अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

२. अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

३. तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! या ज्ञानज्योतिमें प्रेम रखनेवाले अर्जुन ! (अभयम्) किसीसे भय न करना अथवा जिससे कोई भय नहीं करता [क्योंकि नियम यह है कि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' बृ. उ. १-४-२—दूसरे-से ही डर लगता है। 'इतरं पश्यति स इतराद्‌बभेति' जो अपनेसे भिन्न किसीको देखता है वह दूसरेसे डरता है। जो प्राणी सारे संसारको आत्मरूप देखता है वह किसीसे नहीं डरता], (सत्त्वसंशुद्धिः) मनकी शुद्धता अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंका संयमन करना, मनको सब बाह्यविषयोंसे रोककर ब्रह्माकार वृत्तिमें लगाना, क्योंकि कहा गया है—'ध्यानं निर्विषयं मनः' मै. उ. २-२—विषयोंसे रहित मन ही ध्यान है। (ज्ञानयोगव्यवस्थितिः) ज्ञानकी मर्यादाको स्थिर रखना अर्थात् सत्यासत्य-विचारकी मर्यादा स्थिर रखना, (योगव्यवस्थितिः) 'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः' यो. द. १-२, चित्तकी वृत्तियोंको वशमें रखनेवाले योगाभ्यासकी मर्यादाको स्थिर रखना अथवा 'योगक्षेम' यानी वैदिककर्मानुष्ठानकी मर्यादा स्थिर रखना, (दानम्) अतिथियोंको यथाशक्ति अन्नादि देना अथवा दूसरोंको ब्रह्मज्ञान देना अथवा 'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्' इस वचनानुसार सात्त्विक दान देना, (दमः) दसों इन्द्रियोंका दमन करना अर्थात् इन्द्रियाधीन न होना, (यज्ञः) सत्सङ्गति, गुरुसेवा और श्रौताग्नि-स्थापन अर्थात् प्रतिदिन दोनों समय अग्निमें हवन, (च, चकारात् स्मार्ताग्न्याधानम्) तथा स्मृत्यनुसार स्थालीपाकादि करना, (स्वाध्यायः) ब्रह्मयज्ञादिका अनुष्ठान करना, (तपः) शीतोष्णसहनशीलता अथवा ब्रह्मचर्य

और मौन आदि व्रतोंकी इन्द्रियोंमें क्षमता धारण करना, (आर्जवम्) मन, वचन और कर्ममें एकरस रहना अर्थात् मन, वचन और कर्मद्वारा कुटिलता न करना ।। १ ।।

(अहिंसा) शरीर, वचन और मनसे किसी प्राणीको पीड़ा न देना, 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस उक्तिके अनुसार चलना, (सत्यम्) यथार्थ भाषण करना अर्थात् किसीके साथ असत्य संभाषण न करना, (अक्रोधः) क्रोधका परित्याग करना—'कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्'—काम, क्रोध और लोभ, इन तीनोंको छोड़ देना चाहिए। (त्यागः) 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूः' इस उक्तिके अनुसार प्रतिदिन किये हुए श्रौत-स्मार्त कर्मोंके फलका त्याग करना अर्थात् कृत कर्मोंके फलकी इच्छा न रखना, (शान्तिः) प्राप्त वस्तुओंमें शान्त रहना अर्थात् दूसरोंकी उन्नति देखकर चित्तमें विकलता न उत्पन्न होने देना, (अपैशुनम्) किसी प्राणीकी अनुपस्थितिमें सत्यासत्य बातको ईर्ष्याके भावसे न कहना, (भूतेषु दया) धन अथवा शरीरसे दीन-दुखी जीवोंपर दया करना, (अलोलुप्त्वम्) अच्छे-से-अच्छे पदार्थोंके सम्मुख उपस्थित होनेपर भी इन्द्रियोंमें विकार न होने देना, (मार्दवम्) कोमलता रखना अर्थात् कठोर वचन न बोलना और क्रोधका परित्याग करना, (ह्रीः) दुष्कर्म करनेमें लज्जा करना, (अचापलम्) इन्द्रियों और मनको बिना कारण किसी विषयके लिए चञ्चल न होने देना ।। २ ।।

(तेजः) गुणोंके गौरवसे अपनेमें तेज रखना ताकि दूसरा प्राणी गुणोंको देखकर तेजस्वी जाने, (क्षमा) दूसरोंसे किये गये उपद्रवों अर्थात् गाली-गलौजको सुनकर सहन करनेकी शक्ति रखना, (धृतिः) कार्यके बिगड़ जानेपर भी अर्थात् धनादि पदार्थका नाश हो जानेपर भी धैर्य रखना—'त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले दैवात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात् सः' इस उक्तिके अनुसार रहना, (शौचम्) शरीर, मन और वाणीसे पवित्र रहना, (अद्रोहः) किसी प्राणीके साथ द्रोह न करना अर्थात् धोखा न देना, यहाँ तक कि अपनी बुराई करनेवाले प्राणियोंके भी विरुद्ध आचरण न करना, (न अतिमानिता) अतिमानका धारण न करना अर्थात् पूर्वोक्त गुणोंके होनेपर भी चित्तमें अभिमान न रखना, 'अमानी मानदो मान्यः' इस उक्तिको आदर्श मानना, (दवीं सम्पदम् अभिजातस्य भवन्ति) सत्त्वगुणविशिष्ट सम्पत्तिमें उत्पन्न हुए प्राणीके ये कल्याणकारी सात्त्विक गुण होते हैं ।। ३ ।।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥

(अथर्ववेदः १९-८-२)

मुमुक्षु प्राणी परमात्मासे प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! ([1]अष्टाविंशानि) अभयता, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानव्यवस्था, योगव्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, श्रौत, स्मार्तयज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन्य, भूतोंपर दया, अलोलुपता अर्थात् लोभ न होना, मृदुता, ह्री अर्थात् लज्जा, अचापलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, द्रोहाभाव, अतिमानराहित्य, ये सात्त्विक धर्म, (शिवानि) कल्याणरूप, (शग्मानि) सुखकारी, (मे) मुझ सात्त्विक प्राणीको सात्त्विक फल देनेके लिये, (सहयोगं भजन्तु) सहयोग अर्थात् सहायताको प्राप्त हों। (योगं प्रपद्ये) मैं सात्त्विक पुरुष इन सात्त्विक धर्मोंके प्रभावसे अलभ्य वस्तु अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके योगको प्राप्त होऊँ। (क्षेमं प्रपद्ये) लब्धवस्तुकी रक्षाकी योग्यताको पाऊँ। मुझसे ऐसा कोई दुष्कर्म न हो जिससे मैं अपवर्गको खो बैठूँ। इस मन्त्रमें योग और क्षेमकी प्रधानताकी सिद्धिके लिये द्विरावृत्ति हुई है। ([2]अहोरात्राभ्यां नमः अस्तु) दिन और रात्रि मुझे दैवीसम्पत्तिरूप सात्त्विक धर्मोंमें चलाती रहें, अतः उन दोनों दिन-रात्रिको भी नमस्कार हो अर्थात् उनका मैं आदर करता हूँ, जो मुझे दैवी सम्पत्तिमें रहनेका समय देते हैं।

तुलना—गीता और वेद दोनोंमें अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञान और योगकी स्थिति आदि कल्याणकारी सुखकारी सात्त्विक धर्म एक ही स्वरूपमें बताए गए हैं। जिस पुरुषमें ये सात्त्विक धर्म रहते हैं वह संसारमें सुख भोगकर ब्रह्मयोग अर्थात् मुक्तिको प्राप्त कर लेता है।

४. दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥

हे अर्जुन ! (दम्भः) अपनी स्वार्थ-सिद्धि अथवा अपनी महत्त्वसिद्धिके लिये अपने दोषोंको छिपाकर बगुलाभक्त जैसा दिखावा दिखाना, (दर्पः) अपनी सम्पत्ति अथवा अपने परिवार अथवा अपने धनके घमण्डसे सज्जनोंका अपमान

---

१. अष्टाविंशानि—पूरणार्थे डट्प्रत्यये कृते 'तिविंशतेर्डिति' इति तिलोपः। 'द्व्यष्टनः संख्यायाम्' इत्यष्टशब्दस्य आत्वम्।

२. अहोरात्राभ्याम्—अहश्च रात्रिश्च। 'अहःसर्वैकदेश—' इत्यच् समासान्तः।

करना, (अभिमानः) अपनेमें ही उत्कृष्टताकी बुद्धि रखनी, (च, चकारात् लोभः) लोभ, अर्थात् धनकी प्राप्ति के हेतु प्रबल आग्रह रखना, (क्रोधः) चित्तको विक्षिप्त करना, (पारुष्यम्) कठोरतासे वार्तालाप करना, (अज्ञानं च) और अज्ञान अर्थात् सदसद्विवेकाभाव या सत्‌में असत् और असत्‌में सत् ऐसी विपरीत बुद्धिका होना, ये सात दोष, (आसुरीं सम्पदम् अभिजातस्य) प्राणियोंको कष्ट देनेवाली सम्पत्तिमें हुए पुरुषके होते हैं ॥ ४ ॥

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

(ऋग्वेदः १०-५-६)

(कवयः) सदसद्विवेकी अर्थात् ज्ञानी पुरुष, (सप्त मर्यादाः) दम्भ, दर्प, अभिमान, लोभ, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, ये सात, या मद्यपान, दुर्भक्ष्य, परस्त्री, गमन, मृगया, दण्ड, पारुष्य, दूषण, ये सात, या स्तेय, गुरुस्त्रीतल्पारोहण, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, पुनः पुनः दुष्कर्म करना, पाप करनेपर असत्य भाषण करना, निरुक्तकारके द्वारा बताई गई इन सप्त मर्यादाओंको, (ततक्षुः) त्याग करते हैं अर्थात् अपनेसे दूर रखते हैं। (तासाम् एकाम्) उन सात मर्यादाओंमें-से एक मर्यादाको ही, (अंहुरः) पापी अर्थात् आसुरी जीव, (अभिगात्) प्राप्त होता है अर्थात् करता है, (यः) जो मनुष्य ऐसी पापमयी मर्यादाओंको अपनाता है, (आयोः) उस आसुरी मनुष्यका, (स्कम्भः) पापियोंको पापका दण्ड देनेवाला परमात्मा, (उपमस्य) समीप आ जानेवाले दैवी पुरुषके, (नीडे) उत्सङ्गरूप आत्मामें, (पथाम्) सुन्दर मार्गके, (विसर्गे) विसर्जन-स्थान स्वर्गमें, (धरुणेषु) और धर्मके धारण करनेवाले मनुष्योंमें, (तस्थौ) ठहरता है अर्थात् परमात्मा धर्मात्मा पुरुषोंके मनमें विराजता है।

तुलना—गीतामें बताया गया है कि दम्भ, दर्प, अभिमान, लोभ, क्रोध, कठोरभाषण और अज्ञान, ये सात दोष आसुरी जीव अर्थात् पापी जीवमें रहते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि धर्मात्मा मनुष्य दम्भ, दर्प, अभिमान, लोभ, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान इन सात दुष्ट मर्यादाओं, या मद्यपान, दुर्भक्ष्य, परस्त्री-सेवन, शिकार, दण्ड, पारुष्य, अन्य दूषित कर्म, इन सात दूषित मर्यादाओं, या स्तेय, गुरुस्त्रीतल्पारोहण, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, फिर-फिर दुष्कर्म करना, पाप करनेपर भी असत्य बोलना, इन सात दूषित मर्यादाओंका परित्याग करते हैं। जो मनुष्य इनमें-से एक भी दूषित कर्म करता है वह आसुरी जीव

कहलाता है। जो धर्मात्मा पुरुष इनका परित्याग कर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं उनके आत्मामें परमात्मा स्वयं वास करता है।

५. दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

(पाण्डव !) हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! (दैवी सम्पत्) अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि अट्ठाईस दैवी सम्पत्तियाँ, (विमोक्षाय) पुरुषको संसारसे छुड़ानेके लिये, (मता) कही गई हैं, (आसुरी सम्पत्) काम-क्रोधादि सात आसुरी सम्पत्तियाँ, (निबन्धाय) संसारमें बार-बार जन्म-मृत्यु दिलानेके लिये, (मता) कही गई हैं। (दैवीं सम्पदम्) तू दैवी सम्पत्तिमें, (अभिजातः असि) उत्पन्न हुआ है अर्थात् तुझमें सब दैवी सम्पत्तियाँ विद्यमान हैं, (मा शुचः) अतः तू किसी प्रकारका शोक मत कर। तू युद्ध करता हुआ भी पापसे लिप्त न होगा, प्रत्युत मुक्त हो जायगा ॥ ५ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत्।

(अथर्ववेदः ३-८-४)

हे जीवात्माओ ! (इह) अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि अट्ठाईस दैवी सम्पत्तिमें, (इत्) ही, (असाथ) सर्वदा स्थिर रहो अर्थात् दैवी सम्पत्तिमें वास करो। (परः न गमाथ) इस दैवी सम्पत्तिसे दूर मत जाओ। (इर्यः) सद्व्यवहारसे उपार्जन किये हुए अन्नादि पदार्थोंसे युक्त, (गोपाः) इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, (पुष्टपतिः) दैवी सम्पत्तिका पोषण करते हुए, (आजत्) इस लोकमें रहो।

तुलना—गीतामें श्रीकृष्णने कहा है कि अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि दैवी सम्पत्ति संसार-बन्धनसे मुक्त करती है और आसुरी सम्पत्ति संसारमें जन्म-मृत्युके बन्धनमें लाती है। वेदमें भी यही कहा गया है कि हे जीवात्माओ ! वस्तुतः तुम सब दैवी सम्पत्तिमें उत्पन्न हुए हो अतः अपनेमें उसी दैवी सम्पत्तिको पुष्ट करते हुए सब मिलकर इस सम्पत्तिमें वास करो।

६. द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (अस्मिन् लोके) इस संसारमें, (दैवः आसुरः एव च) दैवी और आसुरी अर्थात् राक्षसी सृष्टि ही, (द्वौ) दो प्रकारवाली, (भूतसर्गौ) पाञ्चभौतिक सृष्टि मानी हुई है। (दैवः) दैवी सृष्टिका वर्णन, (विस्तरशः) विस्तारसे, (प्रोक्तः) कहा है। (पार्थ !) हे अर्जुन ! (मे) मुझसे, (आसुरम्) आसुरी सृष्टिको, (शृणु) सुन ॥ ६ ॥

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥

(यजुर्वेदः ३३-५)

(द्वे) दो भूतसृष्टियाँ अर्थात् दैवी सृष्टि और आसुरी सृष्टि, (विरूपे) विरुद्ध स्वरूपवाली अर्थात् एक रक्षक और दूसरी घातक, (स्वर्थे[1]) अपने-अपने विचारमें गमन करनेवाली अथवा अपने-अपने प्रयोजनवाली, (चरतः) संसारमें चलती रहती हैं। (अन्यान्या[2]) अन्य-अन्य अर्थात् पृथक्-पृथक् स्वरूपवाली, (वत्सम् [3]उपधापयेते) दैवी सम्पत्ति अपने दैवी पुत्रको और आसुरी सम्पत्ति अपने आसुरी पुत्रको अपने-अपने रसस्वरूप कर्मफलको पान कराती रहती हैं। (अन्यस्याम्) एक आसुरी सृष्टिमें, (हरिः[4]) सब शुभ कर्मोंके फलोंको हर लेनेवाला आसुरी जीव, (भवति) उत्पन्न होता है। (अन्यस्याम्) दूसरी दैवी सृष्टिमें, (स्वधावान्) प्रशस्त शान्ति, अभयादि अमृत गुणोंवाला, (सुवर्चाः) तेजस्वी, (शुक्रः) निर्मल ज्ञानवाला अर्थात् सत्त्वगुणविशिष्ट दैवी जीव, ([5]ददृशे) दृष्टिगोचर होता है।

तुलना—गीतामें भूतसृष्टि दो प्रकारकी कही गई है—एक दैवी सृष्टि और दूसरी आसुरी सृष्टि। वेदमें भी यही कहा गया है कि संसारमें परस्पर विरुद्ध रूपवाली दो भूत-सृष्टियाँ चल रही हैं, एक दैवी दूसरी आसुरी। दैवी सृष्टिमें

---

१. स्वर्थे—'ऋ गतौ' 'उषिकुषिगार्तिभ्यः स्थन्' इति भावे कर्मणि वा स्थन्-प्रत्ययः।

२. अन्यान्या—कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः, 'समासवच्च बहुलम्' इति द्वित्वम्।

३. धापयेते—'धेट्, पाने' 'आदेच उपदेशे' इत्यात्त्वम्, 'हेतुमति' इति णिच्, 'अर्त्तिह्री' इति पुगागमः। तत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नास्तीति ज्ञापितम्। 'शाच्छासा०' इति कृतात्वनिर्देशः पुक्प्राप्तिख्यापनार्थः। यदि तत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया पुक् न प्राप्नोति सोऽनर्थकः स्यात् तस्मात् अध्यापयतीत्यादाविव 'धापयेते' इत्यत्रापि पुगागमः सिद्धः। 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति प्राप्तस्य परस्मैपदस्य न पाद इत्यत्र 'धेट उपसंख्यानम्' इति प्रतिषेधादात्मनेपदम्।

४. हरिः—'हृञ् हरणे'। औणादिक इन्प्रत्ययः।

५. ददृशे—दृशेश्छन्दसि वर्तमाने लिट्।

दैवी जीव उत्पन्न होते हैं और आसुरी सृष्टिमें आसुरी जीव। दैवी सम्पत्ति दैवी जीवोंको दैवी सम्पत्तिका रस पिलाकर उन्हें दैवी कर्मोंमें परिपुष्ट करती है और आसुरी सम्पत्ति आसुरी जीवोंको आसुरी कर्मोंके रससे पुष्ट करती है।

७. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥

(आसुराः जनाः) आसुरी सम्पत्ति अर्थात् दम्भ, दर्प, अभिमानादि आसुरी सम्पत्तिमें वास करनेवाले तामसी मनुष्य, (प्रवृत्तिम्) शास्त्रानुसार सन्ध्या-देवोपासनादि धार्मिक कर्मोंमें प्रवृत्तिको, और, (निवृत्तिं च) छल-कपटादि पापवृत्तियोंसे निवृत्ति अर्थात् पापकर्मोंसे दूर रहना, (न विदुः) नहीं जानते, (तेषु) उन आसुरी जीवोंमें, (न शौचम्) न देह और वस्त्रादिकी शुद्धि, (न चापि आचारः) न सद्व्यवहार, (न सत्यम्) और न सत्यभाषण ही, (विद्यते) रहता है॥ ७॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥

(अथर्ववेदः २-३-३)

([1]असुराः) असु अर्थात् छल-कपटादिसे जो दूसरोंके प्राणोंको ग्रहण करते अर्थात् हड़प कर जाते हैं या जो अपने शरीरोंको काम-क्रोधादि दुष्कर्मोंसे नरकमें, (क्षिपन्ति) डालते हैं, वे तमोगुणकी प्रधानतावाले आसुरी मनुष्य, (इदम्) सामने स्पष्ट प्रतीत होते हुए इस, (महत्) सबसे उच्च, ([2]अरुस्राणम्) स्व-प्रकाशसे परिपक्व अर्थात् मुक्तिधामको, (नीचैः खनन्ति) नीचे ही खोदते हैं अर्थात् अपने दुष्कर्मोंके प्रभावसे उच्च पदका परित्याग करके नरकादि नीच योनियोंको प्राप्त करते हैं, वही आसुरी जीव जन्म-मृत्यु द्वारा नीचसे नीच गतिको पाते हैं। (तत्) सर्वव्यापक ब्रह्म ही, ([3]आस्रावस्य)चारों ओर स्रव करनेवाले अर्थात् चलनेवाले जन्म-मरणात्मक रोग अर्थात् पुनः पुनः जन्म-मरणात्मक रोगका, (भेषजम्) औषधरूप है। दैवी जीवोंके लिये 'औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो

---

१. असुराः—'असेरुरन्' इति उरन्प्रत्ययः।

२. अरुःस्राणम्—'स्रै पाके', अधिकरणे ल्युट्, अरुः स्रायति, पक्वं भवति, उपशमनोन्मुखं भवति अनेनेति अरुस्राणम्।

३. आस्रावस्य—आङ्पूर्वात् स्रवतेः 'श्याद्व्यधास्रु' इत्यादिना णः। 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः।

नारायणो हरिः' यह वचन सत्य हो जाता है। (तत् उ) वह परब्रह्म ही, ([1]रोगम्) मनुष्यको दुखी करनेवाले जन्म-मरणात्मक आसुरीभावरूपी रोगको, ([2]अनीनशत्) नाश करता है अर्थात् शुभ कर्मोंके करनेसे आसुरी रोगका नाश हो जाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आसुरी सम्पत्तिवाले जीव धर्ममर्यादाकी प्रवृत्ति और धर्मविरुद्ध कर्मोंसे निवृत्तिको नहीं जानते, उनमें शुद्धाशुद्ध वस्तुका विचार और सद्व्यवहारकी प्रवृत्ति तथा सत्यभाषण भी नहीं होता। वेदमें भी यही कहा गया है कि आसुरी जीव ब्रह्मप्राप्तिके मार्गको छोड़कर, बुरे कर्मोंके करनेसे जन्म-मरणात्मक नीच योनियोंको बार-बार प्राप्त होते हैं। वे ब्रह्मोपासनासे दूर रहते हैं। जो जीव सत्कर्मों द्वारा ब्रह्मोपासना करते हैं उनके जन्म-मरणात्मक रोगका नाश परमात्मा ही कर देता है अर्थात् वे दैवी जीव मुक्त हो जाते हैं।

८. असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

(ते) वे आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य, (जगत्) इस संसारको, (असत्यम्) स्वाप्निक पदार्थकी भाँति मिथ्या, (अप्रतिष्ठम्) धर्म अथवा अधर्मके कारण संसार चलता है इस स्थिति अर्थात् मर्यादासे रहित, (अनीश्वरम्) स्वामी, नियन्ता अथवा ईश्वरकी सत्तासे रहित, तथा, (अपरस्परसम्भूतम्) प्रकृति और पुरुष अर्थात् स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न, (आहुः) कहते हैं। (कामहैतुकम्) स्त्री-पुरुषकी कामचेष्टा ही संसारोत्पत्तिका कारण है, ऐसा मानते हैं। (किम् अन्यत्) और कुछ भी संसारका कारण नहीं अर्थात् जिसको किसीने देखा नहीं वह कारण कैसे हो सकता है, अतः अन्यत् या अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म संसारकी प्रतिष्ठाका कारण नहीं है॥ ८॥

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम॥

(ऋग्वेदः ८-१००-३)

---

१. रोगम्—रुज्यते भज्यते शरीरम् अनेनेति रोगः, 'हलश्च' इति करणे घञ्-प्रत्ययः, 'चजोः कु०' इति कुत्वम्।

२. अनीनशत्—णशेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम्।

हे मनुष्यो ! (वाजयन्तः) अपने उदरके पालनके लिये केवल अन्न और बलकी कामना करते हुए तुम सब, अथवा 'वाजि इति संग्रामनाम' वाजि शब्द संग्राम का पर्याय है, अतः संसार-संग्रामको चाहते हुए भी तुम सब, (इन्द्राय) परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्माके लिये ही, (सत्यं स्तोमम्) सच्ची स्तुतिको, (सु प्र भरत) अच्छी रीतिसे पूर्णतया करो। परन्तु आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य ऐसा कहते हैं कि, (यदि) यदि, (सत्यम् अस्ति) सत्य ही सत्यरूप ईश्वर है तो उसकी स्तुति करें, परन्तु, (नेमः इन्द्रः) प्रसिद्ध यशवाला परमात्मा, (त्वः) कोई, (न अस्ति) नहीं है, क्योंकि, (कः ईं ददर्श) किसने इस परमात्माको प्रत्यक्ष रूपसे देखा अर्थात् किसीने नहीं देखा। अतः स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न और स्त्री-पुरुषकी कामचेष्टाके कारणरूप, ईश्वर-सत्तासे रहित इस जगत्को मिथ्या मानते हुए हम, (कम् अभिस्तवाम) किस परमेश्वरकी स्तुति करें। अतः जगत्का स्वामी कोई है जिसे परमात्मा कहते हैं यह वादमात्र है, न कि सत्य। यह आसुरी सम्पत्तिवालोंका विचार है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आसुरी सम्पत्तिवाले जीव जगत्को ईश्वर-सत्तासे रहित, मिथ्या, धर्माधर्म-मर्यादासे शून्य और केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न ईश्वरसत्तारूप कारणसे रहित मानते हैं। वेदमें भी प्रश्नरूप मन्त्र देकर कहा गया है कि हे जीवात्माओ ! सत्यस्वरूप, जगदुत्पादक, धर्माधर्म-मर्यादा-स्थापक परमेश्वरकी स्तुति करो। परन्तु आसुरी जीवोंका यह कहना है कि इस संसारमें ईश्वरको प्रत्यक्ष रूपसे किसीने नहीं देखा अतः हम किसकी स्तुति करें ? कोई परमेश्वर नहीं है। स्त्री-पुरुषके संयोगसे जगत् चल रहा है। इसको चलानेवाली और कोई सत्ता नहीं है।

९. **एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।**
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥

(एतां दृष्टिम्) संसारका कर्ता और स्वामी कोई नहीं है, यह केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होता है, इस विचारदृष्टिका, (अवष्टभ्य) आश्रय लेकर, (नष्टात्मानः) काम-क्रोध-लोभादिसे गिरे हुए मनवाले, (अल्प-बुद्धयः) तथा अनात्मक तुच्छ देहमें आत्मबुद्धि रखते हुए जीव, (उग्रकर्माणः) हिंसा, छल, कपटादि बुरे कर्मोंको करते हुए, (अहिताः) परोपकार, पर-पोषणादि भलाईसे शून्य होकर, (जगतः क्षयाय) जगत्के नाशके लिये अर्थात् प्राणिमात्रकी अधोगतिके कारणरूप होकर, (प्रभवन्ति) जगत्में उत्पन्न होते हैं॥ ९॥

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥

(अथर्ववेदः ५-३०-१७)

हे जीवात्मन्! (अयं लोकः) यह समक्ष दृष्टिगोचर होता हुआ संसार अर्थात् देह, (प्रियतमः) प्राणिमात्रको परमप्रिय लगता है, परन्तु आसुरी जीवोंका तो परम प्रिय यह देह ही है। (देवानाम् अपराजितः) यह ज्ञानी लोगोंसे भी जीता नहीं जा सकता अथवा इन्द्रियोंसे भी अर्थात् इन्द्रियोंके वश करनेपर भी पूरा जीता नहीं जा सकता। (यस्मै) जिस देहके कारण, (इह) इस देहमें स्थित होकर, (मृत्यवे दिष्टः) मृत्युके लिये जतलाया हुआ, (त्वं पुरुषः) देहमें शयन करनेवाला तू नित्य भी, (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है अर्थात् जन्म लेता है। देहके नाश होनेपर जीवात्माकी मृत्यु भी औपचारिक कही जाती है, वस्तुतः मृत्यु तो देहकी ही है, आत्माकी नहीं। (स च) और वह तू जीवात्मा उस देहसे पृथक् है। (त्वा) तुझ जीवात्माका, (अनु ह्वयामसि) फिर-फिर आह्वान करता हूँ अर्थात् तुझे सम्बोधित करता हूँ। (जरसः पुरा) वृद्धावस्थासे पहले, (मा मृथाः) तू मृत्युको न प्राप्त हो। यदि तू दैवी सम्पत्तिमें वास करेगा तो शुभ कर्मोंके करनेसे पूर्णायु भोगेगा। यदि आसुरी सम्पत्तिको अपनाएगा तो अभोग्य भोग भोगनेसे युवावस्थामें ही मर जाएगा।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आसुरी सम्पत्तिवाले जीव मानसिक सदुपयोगसे रहित होकर बुरे कर्मोंको करते हुए, परहितसे शून्य होकर जगत्के नाशके लिये ही जन्म लेते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि यह संसार अर्थात् देह सबको प्रिय है। देवता भी इसीके अधीन हो जाते हैं। यह नित्य आत्मा देहको ही अपना समझता है और उसके अधीन होकर आसुरी सम्पत्तिको अपनाता है, जिससे यौवन कालमें ही मृत्यु हो जाती है। परमात्मा उपदेश देता है कि यदि पूर्णायु भोगनेकी तेरी इच्छा है तो दैवी सम्पत्तिको अपना।

१०. कामभाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

(दम्भमानमदान्विताः) दम्भ—दिखावेके लिये धार्मिक चिह्न रखना, मान—अपने आपको सबसे उत्तम दिखानेका प्रयत्न करना, मद—धन, बल,

परिवारकी अधिकता जतलानेकी मस्ती, इनसे युक्त आसुरी जीव, (दुष्पूरं कामम्) विषयोपभोगसे न पूरी हो सकनेवाली अथवा कठिनतासे पूरी होनेवाली कामना अर्थात् इच्छाको, (आश्रित्य) आश्रय करके, (मोहात्) आसुरी सम्पत्तिके मोहवश, (असद्ग्राहान्) न ग्रहण करनेयोग्य भी अनर्थोत्पादक वस्तुओंको, (गृहीत्वा) लेकर, (अशुचिव्रताः) अपवित्र नियमवाले होकर, (प्रवर्तन्ते) जगत्के विनाशके लिये प्रवृत्त होते रहते हैं ॥ १० ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना सङ्गृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥

(अथर्ववेदः ८-४-८)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (यः) दम्भमान-मदसे युक्त होकर अशुद्ध नियमोंपर चलता हुआ आसुरी सम्पत्तिवाला जो नास्तिक, (पाकेन मनसा) अन्यायाचरणसे परिपक्व मनसे, (चरन्तं मा=माम्) सर्वत्र गतिशील होनेसे व्यापक स्वरूपवाले मुझ परमात्माको, (अनृतेभिः वचोभिः) जगत्का कर्ता-धर्ता ईश्वर नहीं है, न परलोक है, न कर्मफल है, इत्यादि असत्य वचनोंसे, (अभिचष्टे) वर्णन करता है, (असतः वक्ता) विनश्वर देह और उसकी इन्द्रियाँ ही संसारमें सत्य हैं, इससे भिन्न आत्मा कोई नहीं है, यही सब कुछ है, इसका ही वर्णन करता हुआ, (असन्) मुक्तिपदमें अविद्यमान अर्थात् मुक्तिसे भ्रष्ट, (अस्तु) होता है, (काशिना सङ्गृभीता आपः इव) जैसे मुष्टिमें पकड़ा हुआ जल अँगुलियोंके छेदोंसे निकलकर मुष्टिमें विद्यमान नहीं रहता ऐसे आसुरी जीव भी मुष्टिसे जलकी भाँति मुक्तिपदसे भ्रष्ट हो जाता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जब मनुष्य दम्भी, मदमस्ती और मान्यावस्थाको प्राप्त होता है तब कठिन कामनाओंका सहारा लेकर अग्राह्य वस्तुओंको ग्रहण कर लेता है, फिर अशुद्ध नियमोंमें प्रवृत्त हो जाता है जिससे उसकी असद्गति होती है और वह जन्म-मरणके बन्धनमें फँसा रहता है । वेदमें भी कहा गया है कि जो प्राणी अशुद्धाचरणों द्वारा परिपक्व मनसे सर्वव्यापक परमात्माको 'कोई ईश्वर नहीं और परलोक नहीं' इत्यादि असत्य वचनोंसे वर्णन करता है और देहको ही आत्मा मानता है, वह प्राणी मुक्ति पदसे बहुत दूर रहता है, वह आसुरी जीव कहा जाता है ।

११. **चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।**
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

१२. आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।।

(अपरिमेयाम्) तौल और मापके परिमाणोंसे बाहर अर्थात् बहुत, (प्रलयान्ताम्) मृत्यु पर्यन्त जानेवाली, (चिन्ताम्) चिन्ताको, (उपाश्रिताः) आश्रित किये हुए, (कामोपभोगपरमाः) कामनाओंके उपभोगको परम उद्देश्य माननेवाले, (एतावत् इति निश्चिताः) विषयजन्य सुख ही सुख है, इससे भिन्न और कोई सुख नहीं है, ऐसे निश्चयवाले होकर, (आशापाशशतैः बद्धाः) सैकड़ों ही अप्राप्त वस्तुओंकी प्राप्तिके आशारूपी जालसे बँधे हुए, (कामक्रोधपरायणाः) काम और क्रोधमें तत्पर, (कामभोगार्थम्) अपनी कामनाओंके उपभोगके लिए, (अन्यायेन) अनीति अथवा अनर्थसे, (अर्थसञ्चयान्) धनोपार्जन करनेका, (ईहन्ते) प्रयत्न करते हैं ।। ११-१२ ।।

तेऽधराञ्चः[1] प्र[2]प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बंधनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां[3] पुनरस्ति निवर्तनम् ।।

(अथर्ववेदः ३-६-७)

(ते) जन्मसे लेकर मृत्युतक बहुत प्रकारकी चिन्ता रखनेवाले, कामी, क्रोधी, दम्भी, लोभी बने हुए, दिन-रात विषय-वासनामें लम्पट आसुरी जीव, (अधराञ्चः) अधोगतिको ले जानेवाले काम-क्रोध-लोभ-दम्भादि विषयोंकी ओर जाते हुए अर्थात् परमात्मासे विमुख होकर, (प्रप्लवन्ताम्) संसार-समुद्रके प्रवाहमें उछलते-कूदते रहते हैं अर्थात् पुनः पुनः नीच योनियोंमें जन्म लेते रहते हैं। (बन्धनात् छिन्ना नौः इव) रस्सी द्वारा वृक्षादिसे बँधी हुई नौका बन्धन काट देनेपर जैसे नदीके प्रवाहसे दूर बहा ले जाई जाती है, फिर अपने स्थानपर नहीं आती, ऐसे मनुष्य भी परमात्माके नियम-बन्धनोंसे छूटा हुआ संसारसमुद्रमें जन्म-मरणके प्रवाहमें बहता रहता है। (वैबाधप्रणुत्तानाम्) विशेष-विशेष प्रकारकी काम-क्रोधादि बाधाओंसे प्रेरित हुए आसुरी जीवोंका, (पुनः निवर्तनं न अस्ति) फिर संसार-समुद्रसे पार होनेका कोई मार्ग नहीं है अर्थात् वे मुक्तिपथपर वापस नहीं आते।

---

१. अधराञ्चः—अधरशब्दोपपदात् अञ्चतेः क्विन्।

२. प्लवन्ताम्—'च्युङ प्लुङ गतौ' भ्वादिः।

३. प्रणुत्तानाम्—'नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पनात् निष्ठानत्वाभावः।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सांसारिक विषयोंका अधिक चिन्तन करनेवाले, सांसारिक विषयोंके उपभोगमें ग्रस्त आसुरी जीव अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिए अन्यायसे धनोपार्जन करनेका प्रयत्न करते हैं; इसी कारण सदा नीच योनियोंमें जन्म लेते रहते हैं और परमात्मासे दूर रहते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि कामी, क्रोधी, लोभी, आसुरी जीव संसार-समुद्रमें डूबे रहते हैं, जैसे बन्धनसे कटी हुई नौका नदी-प्रवाहमें बहकर फिर वापस नहीं आती ऐसे आसुरी जीव भी परमात्मासे विमुख होकर परमात्मासे दूर ही रहते हैं।

१३. इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

१४. असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

१५. आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

१६. अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

(मया अद्य इदं लब्धम्) मैंने आज यह वस्तु पा ली है, (इमं मनोरथं प्राप्स्ये) इस वस्तुके पानेसे मैं इस मनोरथको पा लूँगा, (इदम् अस्ति इदम् अपि मे) यह घर आदि मेरा है और यह दृश्यमान वस्तु भी मेरी है, (पुनः इदं धनम् अपि मे भविष्यति) इसकी मृत्युके अनन्तर इसका धन भी मेरा धन होगा। (मया असौ शत्रुः हतः) इस शत्रुको तो मैंने मार डाला, (च अपरान् अपि हनिष्ये) अब दूसरे शत्रुओंको भी मार डालूँगा, (अहम् ईश्वरः) मैं धन, जन, घरका स्वामी हूँ अथवा मैं देशका राजा हूँ, (अहं भोगी) मैं सांसारिक पदार्थोंका भोक्ता अर्थात् विषय-वासनाका आनन्द लेनेवाला हूँ, (अहं सिद्धः) मैं सब कार्य करनेमें निपुण हूँ अथवा योग-समाधिद्वारा सिद्ध हो चुका हूँ, (अहं बलवान्) मैं बली हूँ, (अहं सुखी) मैं सब प्रकारसे सुखी हूँ, (आढ्यः अस्मि) मैं परिपूर्ण धन होनेसे सेठ हूँ, (अभिजनवान् अस्मि) मैं बहुत परिवारवाला हूँ, (मया सदृशः अन्यः कः अस्ति) इस संसारमें मेरे समान और कौन है। (यक्ष्ये) अपने मनकी वृद्धिके लिए यज्ञ करता हूँ और यज्ञ करूँगा, (दास्यामि) यज्ञमें अपने नामकी प्रसिद्धिके लिए नट और गाने-बजानेवालोंको धन दूँगा, (मोदिष्ये) नटादियोंको धन देकर और स्वयं भी भोजन करके

प्रसन्न होऊँगा, (इति अज्ञानविमोहिताः) इत्यादि अज्ञानसे मोहित, (अनेकचित्तविभ्रान्ताः) यह पा लिया, यह पा लूँगा, इत्यादि अनेक प्रकारके चित्त-विकारोंसे भ्रान्त, (मोहजालसमावृताः) सदसद्विवेकशून्यतामय मोहजालोंसे घिरे. (कामभोगेषु प्रसक्ताः) तथा इच्छित सांसारिक विषयोंके उपभोगोंमें लगे हुए, (अशुचौ नरके) रौरवादि परम अशुद्ध नरकोंमें अर्थात् नीचसे नीच योनियोंमें, (पतन्ति) गिरते हैं अर्थात् अत्यन्त अधोगतिको पाते हैं ॥१३-१६॥

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षञ्चन प्रति ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥

(ऋग्वेदः १०-११९-७)

(उभे=उभयोः, रोदसी=रोदस्योः) आकाश और पृथिवी दोनोंके मध्यमें, (मे अन्यं प्रतिपक्षम्) मेरा प्रतिपक्ष अर्थात् मेरे-जैसा और, (न हि) कोई नहीं है। (इति) इसलिए, (कुवित् [1]सोमस्य=सोमम् [2]अपाम्) निश्चय ही बहुत बार अमृतमय औषधियोंका अनुपान करता हूँ।

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥

(ऋग्वेदः १०-११९-९)

(हन्त !) यह मैं सम्भावना करता हूँ अथवा मैं जानता हूँ कि, (अहम्) मैं बलवान् राजा होकर, (इमां पृथिवीम्) इस सारी पृथिवीको अर्थात् पृथिवी-पर वास करनेवाले लोगोंको, (इह वा इह वा निदधानि) इस अपने हाथ-पर या जहाँ चाहूँ वहाँ धारण कर सकता हूँ अर्थात् इस पृथिवीलोकके सब मनुष्य मेरे वशमें हैं क्योंकि मैंने बहुत बार बलवर्द्धक औषध पान किया है।

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते ।
तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥

(अथर्ववेदः ३-२२-५)

(चतस्रः प्रदिशः) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ये चारों दिशाएँ और चारों दिशाओंके कोण, (यावत्) जहाँतक फैले हुए हैं, (यावत् चक्षुः समश्नुते) जहाँ-

---

१. सोमस्य—क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्, इति सोमस्य सम्प्रदानसंज्ञा—'चतुर्थ्यर्थे बहुलम्' इति षष्ठी।

२. अपाम्—'पा पाने', लुङि 'गातिस्था०' इति सिचो लुक्।

तक मेरा नेत्र व्याप्त होता है अर्थात् देखता है, (तावत्) उतनेतक अर्थात् उतना ही, (इन्द्रियम्) इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त धनाढ्यका चिह्नरूप धन, (समैतु) सम्यक्तया प्राप्त होता है । (तत्) उस धन और जनसे उत्पन्न हुआ, (हस्तिवर्चसम्) हाथीके बलके समान बल, (मयि) मुझ धनीमें विद्यमान है, अतः मेरे समान इस संसारमें और कौन हो सकता है !

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन्करुणेऽधि जाया ।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रो अन्वारभेथां वय उत्तरावत् ।।

(अथर्ववेदः १२-३-४७)

(अहं पचामि) धनबल और जनबलके होनेसे मैं दूसरे निर्धन लोगोंकी उदरपूर्तिके लिये अन्न पकवाता हूँ अर्थात् अन्न पकवाकर उन्हें खिलाता हूँ । (अहं ददामि यक्ष्ये दास्यामि) मैं यज्ञ करनेके अनन्तर दीनोंको धन-वस्त्रादिका दान देता हूँ । (मम जाया इत् उ) निश्चय ही मेरी धर्मपत्नी भी, (करुणे कर्मन् अधि) करुणा अर्थात् दयाके कर्ममें अधिक प्रयत्न करती है । (मम कौमारः पुत्रः) मेरा सुकुमार पुत्र, (लोकः) लोकरूप अर्थात् लोकोंके कल्याणके लिये, (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। (उत्तरावत् वयः) मेरी उत्तरावस्था अर्थात् वृद्धावस्था, (अनु आरभेथाम्) उच्च कोटिसे व्यतीत हो ।

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः ।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय ।।

(ऋग्वेदः १०-२२-८)

(अकर्मा) सन्ध्योपासन, यज्ञ-अनुष्ठानादि शुभ कर्मोंको न करनेवाला, (दस्युः) दूसरेके धन-जनपर डाका डालनेवाला, (अभि नः अमन्तुः) सबके सामने हम साधुजनोंका तिरस्कार करनेवाला, (अन्यव्रतः) श्रुति-स्मृतिप्रोक्त विधिसे रहित अर्थात् शास्त्रविधिहीन कार्यकर्ता अथवा देहको ही आत्मा मानकर देहकी पुष्टिमें लगा रहनेवाला, काम-क्रोधादि आसुरी व्रतका धारण करनेवाला, (अमानुषः) मनुष्य-व्यवहारसे रहित अर्थात् पशु प्रकृतिवाला, ऐसा जो नीच पुरुष है, (अमित्रहन् !) हे शत्रुरूप पापोंके नाश करनेवाले परमात्मन् ! (त्वम्) तू, (तस्य) उस, (दासस्य) नाश करनेयोग्य नीच पुरुषका, (वधः) नाशक होकर, (दम्भय) उसे नष्ट कर दे ।

इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ।।

(ऋग्वेदः १०-७१-९)

(इमे ये) दैवी कर्म छोड़कर स्वेच्छासे आसुरी कर्म करनेवाले ये जो मनुष्य, (ब्राह्मणासः न चरन्ति) ब्रह्मज्ञानवृत्तिवाले न होकर संसारमें विचरते हैं अर्थात् परमात्मासे विमुख रहते हैं, (सुतेकरासः न) सोमयागादि यज्ञोंके करनेवाले नहीं हैं अर्थात् ऋत्विज् नहीं हैं, (अप्रजज्ञयः) अनेक चिन्ताओंके कारण सदसद्विवेकात्मक बुद्धिसे रहित जो मनुष्य, (वाचम् अभिपद्य) अपनी लौकिक भाषाका सहारा लेकर, (पापया) पापात्मक वाणीसे युक्त होकर, (सिरीः) स्वतन्त्रगामी होकर, (तन्त्रं तन्वते) स्वाधीन कर्मको फैलाते हैं अर्थात् शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छासे सब काम करते हैं, (ते एते) वे ये पापात्मक वृत्तिवाले मन्द आसुरी जीव, (न अर्वाक् चरन्ति) न इस संसारमें सुख पाते, (न परः चरन्ति) न परलोकमें सुख पाते हैं अर्थात् दोनों लोकोंमें वे सुखी नहीं रहते ।

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥

(ऋग्वेदः ८-७०-११)

(सखा) सबमें समान विचरनेवाला, सबका मित्र, (पर्वतः) पर्व-पर्वमें अथवा अणु-अणुमें वर्तमान परमात्मा, (अन्यव्रतम्) देहादि जड़ पदार्थमें आत्म-बुद्धि रखनेवाले, (अमानुषम्) मनुष्य-मर्यादासे रहित अर्थात् पाशविक काम करनेवाले, (अयज्वानम्) सन्ध्योपासन-हवन-यज्ञादिके न करनेवाले, और, (अदेवयुम्) देवकर्मसे रहित अर्थात् सत्सङ्गियोंकी सङ्गतिसे दूर रहनेवाले, (दस्युम्) परिपन्थी डाकूको, (सुघ्नाय) अच्छी रीतिसे नाश करनेवाले यमराज यानी मृत्युको अर्थात् पुनः-पुनः जन्म लेनेके लिये, (पर्वतः स्वः) शुभकर्मग्रन्थिवाले स्वर्गसुखसे, (अवदुधुवीत) नीचे गिराता है अर्थात् नीच-योनिमें धकेल देता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आसुरी जीव इस प्रकार चिन्तन करते हैं—आज मैंने यह वस्तु पा ली, इस इस मनोरथको सिद्ध करूँगा, यह मेरा घर है, और भी बहुत-सा धन पा लूंगा, समीपस्थ शत्रुका नाश किया है, दूरस्थ शत्रुओंको भी मार दूंगा, मैं सांसारिक पदार्थोंका उपभोक्ता और धन-जनका स्वामी हूँ, मैं ही बलवान् हूँ, याज्ञिक और दानी मैं ही हूँ, अतः सुखी भी हूँ, संसारमें मेरे समान और कोई नहीं है, इत्यादि । इस प्रकारके अज्ञानसे युक्त आसुरी जीव मोहजालमें पड़े हुए बुरेसे बुरे नरकोंमें अर्थात् नीच योनियोंमें जन्म लेते हैं । वेदमें भी आसुरी जीवके विचार यही बताये गये हैं कि पृथिवी

आकाशमें मेरे समान कोई जीव नहीं है, मैं ही सदा सांसारिक उपभोग करता हूँ, मैं ही इस पृथिवीका स्वामी हूँ, चारों दिशाओंमें जहाँतक मेरी दृष्टि जाती है उतनेतक मेरा ऐश्वर्य फैला हुआ है। सन्ध्योपासना, परमात्मभजनसे विमुख, शास्त्रविधिको छोड़कर मनमानी करनेवाले, सत्सङ्गसे विमुख रहनेवाले, डाकू, कामक्रोधयुक्त ऐसे आसुरी जीवोंको परमात्मा नारकीय नीच योनियोंमें फेंक देता है जिससे वे सदा जन्म-मरणके बन्धनमें फँसे रहते हैं।

१७. आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

१८. अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

(आत्मसम्भाविताः) बड़े-बड़े मठोंके महन्तोंकी भाँति अपने आपको बहुत पूज्य और मानधारी मानते हुए, (स्तब्धाः) अत एव नम्रतासे रहित अर्थात् अकड़ू बने हुए, (धनमानमदान्विताः) धन और मानकी मस्तीसे युक्त, (ते) वे आसुरी जीव, (नामयज्ञैः) अपने धनोपार्जनके लिये चढ़ावेका मेला बनाकर सत्सङ्ग इत्यादि केवल नाममात्रके यज्ञोंसे, न कि वैदिक स्वरूपवाले यज्ञोंसे, (दम्भेन) अपने महत्त्वको सिद्ध करनेके लिये छल-कपटात्मक दिखावेसे, (अविधिपूर्वकम्) शास्त्रविधिको छोड़कर अपनी मनमानी विधिसे, (यजन्ते) यज्ञ करते हैं॥ १७॥

(अहङ्कारम्) सब शास्त्रोंका ज्ञाता अथवा सबका कर्ता-धर्ता मैं ही हूँ, ऐसे अहङ्कारवाले, और, (बलम्) धनबल, जनबल आदिका, (दर्पम्) घमण्डका, (कामम्) कामका, और, (क्रोधम्) क्रोधका, (संश्रिताः) आश्रय करते हुए अर्थात् अहङ्कारी, कामी, क्रोधी मनुष्य, (आत्मपरदेहेषु) अपने और दूसरोंके देहोंमें, (माम्) व्यापकरूप मुझ परमात्मासे, (प्रद्विषन्तः) विशेषकर द्वेष करते हुए, (अभ्यसूयकाः) सत्पुरुषोंके गुणोंकी निन्दा करते हैं॥ १८॥

अति वा यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यः क्रियमाणं निनित्सात्।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषमभि तं शोचतु द्यौः॥

(ऋग्वेदः ६-५२-२)

(मरुतः) हे मरणधर्मवाले मनुष्यो! (यः) जो मनुष्य अपने आपको बड़ा माननेवाला, धन और मानकी मस्तीसे मस्त है, जो, (अति वा मन्यते)

वड़प्पन न होनेपर भी अपने आपको बड़ा और पूज्य मानता है, (यः वा नः क्रियमाणं ब्रह्म निनित्सात्) और जो मनुष्य मुझ परमात्माके ज्ञानस्वरूप वेदकी अथवा मुझ परमात्माकी निन्दा करता है अथवा ऋषियोंसे, (क्रियमाणं ब्रह्म) उपदेश किये हुए ज्ञानकी निन्दा करता है, (तस्मै) उस आसुरी जीवके लिये, (तपूंषि) तपस्यादि कर्म, (वृजिनानि सन्तु) पापस्वरूप हो जाते हैं। (द्यौः) आकाश अथवा सूर्य, (तं ब्रह्मद्विषम्) परमात्माकी आज्ञाके विरुद्ध अथवा वेदवादद्वेषी उस आसुरी जीवको, (अभिशोचतु) ताप देता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आत्माभिमानी, धनमद और जनमदसे मत्त जो मनुष्य वेदविरुद्ध कर्मको यज्ञका नाम देकर दम्भमात्रसे ही यजन करते हैं और कहते हैं कि हम बड़े याज्ञिक हैं, वे ही आसुरी जीव हैं। वेदमें भी कहा गया है कि जो आसुरी प्रकृतिवाले हैं, वे संसारमें अपने आपको बड़ा कहते हैं, शास्त्राज्ञाके विरुद्ध कर्म करते हैं तथा वेद और परमात्माकी निन्दा करते हैं। उनका तपस्यादि कर्म भी पापरूप होकर उनसे चिपट जाता है और ईश्वरीय कोप उन्हें दण्ड देता है।

१९. तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

(अहम्) मैं परमात्मा, (द्विषतः) सर्वत्र मेरी सत्ता और व्यापकतासे द्वेष करनेवाले, (क्रूरान्) क्रूर स्वभाववाले, (संसारेषु नराधमान्) जन्म-मरणात्मक संसारस्वरूप सब जन्मोंमें नीचता करनेवाले, तथा, (अशुभान् तान्) संसारमात्रके लिये अशुभ उन आसुरी जीवोंको, (आसुरीषु एव योनिषु) आसुरी योनियोंमें ही, (अजस्रम्) फिर-फिर अर्थात् लगातार, (क्षिपामि) डालता हूँ। वे सदा नीच योनियोंमें ही जन्म लेते रहते हैं ॥ १९ ॥

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन् मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः ॥

(ऋग्वेदः १-१२५-७)

(सूरयः) सदसद्विवेकद्वारा परमात्मसत्ता और उससे दिये हुए वैदिक ज्ञानके रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुष, और, (सुव्रतासः) शुद्ध व्रत अर्थात् शुद्ध नियमोंको धारण करके दीनोंपर दया करनेवाले, सत्य व्रतको धारण करनेवाले, (पृणन्तः) हवि द्वारा अग्निको प्रसन्न करनेवाले अथवा शुभकर्मों और परोपकार द्वारा संसारी जीवोंको तृप्त करनेवाले दैवी जीव, (दुरितम्) किसी प्रकारके कष्ट अथवा दुःखको, तथा, (एनः) दुःखजन्य पापको, (मा आ अरन्) नहीं प्राप्त

होते, क्योंकि परमात्माके भक्त तो मुक्त ही हो जाते हैं, (मा जारिषुः) और जीर्ण अर्थात् जन्म-मरणरूपी बन्धनके जीर्ण होनेसे छूट जाते हैं। (तेषाम् अन्यः) उन भगवद्भक्त ज्ञानी पुरुषोंसे भिन्न आसुरी जीव, (परिधिः अस्तु=अस्ति) पापोंका धारण करनेवाला है, अथवा, (अन्यः कश्चित् परिधिः) और कोई स्वरूपधारी पाप ही है जो उन पापियोंका व्यवधायक होता है, क्योंकि, (शोकाः) नीचयोनिप्राप्तिरूप शोक, (अपृणन्तम्) दीनोंको न प्रसन्न करनेवाले अर्थात् दीनोंके घातक आसुरी जीवको, (अभि-संयन्तु) भलीभाँति प्राप्त हो जाते हैं।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

(अथर्ववेदः ४-३-३०)

(अहम्) मैं परमेश्वर, (एव) ही, (देवानां जुष्टम्) दैवी जीवोंके हितकर और उनसे सेवन करनेयोग्य एवं प्रिय लगनेयोग्य, (उत) और, (मानुषाणां जुष्टम्) मनुष्यों अर्थात् मननशील दैवी जीवोंके हितकारी, (इदम्) इस अनुभवयोग्य साक्षात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक ज्ञानका वेदरूपमें, (स्वयम्) अपने आप, (वदामि) उपदेश करता हूँ, और, (यं कामये) जिस-जिसको मैं उस-उसके कर्मानुसार उचित समझता हूँ, (तं तम्) उस-उसको, (उग्रम्) सबसे अधिक बलवान्, कठोर अथवा ऐश्वर्यवान्, और, (तम्) उसे, (ब्रह्माणम्) ब्रह्मज्ञानी, (तम् ऋषिम्) उस-उसको ऋषि, और, (तम्) उस-उसको, (सुमेधाम्) उत्तम धारणावती बुद्धिसे सम्पन्न, (कृणोमि) कर देता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आसुरी जीव अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोधादिका आश्रय लेकर परमात्मद्वेषी और निन्दक होकर नारकीय योनियोंमें जन्म लेते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि ज्ञानी, सदाचारी, धर्मात्मा, दैवी जीव मुक्त होकर परमात्माके चरणोंमें वास करते हैं और पापी, आसुरी जीव बुरे कर्म करनेके कारण नारकीय अर्थात् नीच योनियोंमें जन्म लेकर संसार-बन्धनमें फँसे रहते हैं।

२०. आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (मूढाः) सदसद्विवेकसे रहित, काम, क्रोध, लोभ, मोह और दम्भके प्रभावसे मोहित होकर अज्ञानी जीव, (जन्मनि

जन्मनि) प्रत्येक जन्ममें, (आसुरीं योनिम् आपन्नाः) दम्भादि दुर्गुणयुक्त आसुरी प्रकृतिवाली योनिमें उत्पन्न होते हुए, (माम्) मेरी प्राप्तिके साधन दैवी देहको, (अप्राप्य) न पाकर, (एव) ही, (ततः) उस आसुरी योनिवाले देहसे भी, (अधमां गतिम्) विष्ठा, कीट अथवा वृक्ष-पाषाणादि योनियोंको, (यान्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं ॥ २० ॥

येना निचक्र आसुरीन्द्रं[1] देवेभ्यस्परि[2]।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि[3] सुप्रिया ॥

(अथर्ववेदः ७-३९-२)

(आसुरी) असुर-प्रकृति अर्थात् दम्भादि दोषवाली राक्षसी सम्पत्ति, (देवेभ्यः परि) सदसद्विवेकी, ज्ञानी, परमात्माकी भक्ति करनेवाले दैवी जीवोंको छोड़कर, (इन्द्रम्) धनादि-ऐश्वर्यसम्पन्न, धनमदसे मस्त मनुष्यको, (येन) जिस अपने आसुरी सम्बन्धसे, (निचक्रे) स्वाधीन करके नीचे गिरा देती है अर्थात् नीच योनियोंमें जन्म दिलाती है, (अहम्) हे असुर-प्रकृति जीवात्मन् ! हे आसुरी जीव ! मैं परमात्मा, (तेन) उस आसुरी संबन्धके कारण, (त्वाम्) तुझ आसुरी प्रकृतिवाले जीवात्माको, (नि कुर्वे) नीच योनियोंमें डालता हूँ अर्थात् तेरा जन्म नीच योनियोंमें हो, ऐसा करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार अर्थात् जिस कारण वह आसुरी प्रकृति, (ते) तुझ आसुरी जीवकी, (सुप्रिया) प्रति जन्ममें परम प्रिया, (असानि) हो ।

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अहये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥

(ऋग्वेदः ७-१०४-९)

(ये) आसुरी प्रकृतिवाले जो जीव, (पाकशंसम्) परिपक्व प्रशंसावाले मुझ परमात्माको, (एवैः) प्राप्त होनेयोग्य कामनाओंसे, (विहरन्ते) विशेषतासे विहार करते हैं अर्थात् सांसारिक दुष्कामनाओंसे विहार करनेके लिये दम्भरूपसे मेरी पूजा करते हैं, (ये वा) और जो आसुरी जीव, (स्वधाभिः) अपनेमें धारण किये हुए अथवा अपने आपको धारण करनेवाले धन-धान्यादि

---

१. आसुरी—'असुरस्य स्वम्', 'मायायाम् अण्' इति अण्प्रत्ययः ।

२. देवेभ्यस्परि—'अपपरी वर्जने' इति परिः कर्मप्रवचनीयः । 'पञ्चम्यपाङ०' इति पञ्चमी ।

३. असानि—'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमः, 'मेर्निः' इति निः ।

लौकिक पदार्थोंसे, (भद्रं दूषयन्ति) सज्जनोंको कई प्रकारके कलङ्कोंसे दूषित करते हैं, (तान्) उन सब आसुरी जीवोंको, (सोमः) परमात्मा, (अहये) सर्प योनिके लिये अर्थात् सर्प योनिमें अथवा पाप योनिमें, (प्रददातु) डालता है, (वा) अथवा, (निर्ऋतेः उपस्थे) मृत्युकी गोदमें अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्रमें (दधातु) धारण करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि आसुरी जीव निरन्तर आसुरी सम्पत्तिसे ही लिपटे रहते हैं, मुक्त नहीं होते। प्रत्युत नीचसे नीच विष्ठा-कीटादि योनियों-में जाते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि आसुरी सम्पत्ति दैवी जीवोंके पास नहीं आती, वह आसुरी जीवोंको ही प्राप्त होती है और वही आसुरी जीव परमात्मा और सज्जनोंकी निन्दा द्वारा अपनी धनसम्पत्ति दूषित करते हैं। परमात्मा ऐसे आसुरी जीवोंको सर्पादि नीच योनियोंमें या विष्ठा-कीटादि नीचसे नीच योनियोंमें डालता है अर्थात् उनका नीच-योनियोंमें ही जन्म होता है।

२१. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(आत्मनः) दैवी सम्पत्तिवाले मुमुक्षु जीवात्माका, (नाशनम्) नाश करने-वाला अर्थात् दैवी सम्पत्तिसे गिरानेवाला और नीच योनियोंमें जन्म देनेवाला, (नरकस्य द्वारम्) मनुष्योंको दुःख देनेवाली नारकीय योनियोंका द्वार अर्थात् मार्ग, (कामः क्रोधः तथा लोभः) काम, क्रोध और लोभ, (इदं त्रिविधम्) यह तीन प्रकारका है। (तस्मात्) इस कारण, (एतत् त्रयम्) काम, क्रोध, लोभ, इन तीनोंको, (त्यजेत्) दैवी जीव छोड़ देवे ॥ २१ ॥

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥
(अथर्ववेदः ६-११३-१)

(देवाः) दैवी सम्पत्तिवाले ब्रह्मज्ञानी मुमुक्षु मनुष्योंने, (एनः एनत् त्रिते) पापस्वरूप नरकके द्वार काम, क्रोध, लोभ, इन तीनोंको, (अमृजत) अपने देह और मनसे मार्जन करके दूर रख दिया अर्थात् काम, क्रोध, लोभको अपनेसे हटाकर पापी दम्भी जीवोंमें रख दिया। (त्रितः) काम, क्रोध, लोभ, इन तीनोंसे युक्त आसुरी जीवने, (एनत्) अपनेमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभमय सब पापोंके मूल रूप इन तीनोंको, (मनुष्येषु) सब सांसारिक मनुष्योंमें, (ममृजे) रख दिया अर्थात् पामर मनुष्योंको इन तीनोंसे रगड़ दिया। (ततः) हे दैवी

सम्पत्तिवाले जीवात्मन् ! उन आसुरी प्रकृतिवाले जीवोंसे, (यदि) जो, (ग्राहि) ग्रास करनेवाली काम, क्रोध, लोभमयी पापमूर्ति, (त्वा) तुझ दैवी सम्पत्ति-वाले जीवको, (आनशे) प्राप्त होती है, (देवः) परमात्मा अथवा ब्रह्मज्ञानी विद्वान्, (ते) तेरी अर्थात् तुझमें व्यापक हुई, (ताम्) ग्रास करनेवाली काम-क्रोध-लोभात्मक उस पापमूर्तिको, (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानसे और ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके साधन द्वारा, (नाशयन्तु) नाश कर देंगे अर्थात् कामादि तीनोंसे रहित होकर तू मुक्त हो जाएगा।

त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

(ऋग्वेदः १-१०५-१७)

(त्रितः) काम, क्रोध, लोभ इन तीनोंसे युक्त अर्थात् कामी, क्रोधी और लोभी मनुष्य, (कूपे—कुधातोः पक्, उ. सू. ३-३७) क्रोधात्मक घने संसाररूपी कूपमें, (अवहितः) पड़ा हुआ, (ऊतये) काम, क्रोध, लोभसे अपनी रक्षाके लिये अर्थात् काम-क्रोध-लोभात्मक पापसे बचनेके लिये, (देवान् हवते) सद-सद्विवेचनकर्ता ज्ञानी मनुष्यों अथवा परमात्माको बुलाता है अथवा उन पापोंसे बचनेके लिये प्रार्थना करता है। (बृहस्पतिः) बृहस्पति जैसा महाज्ञानी योगी अथवा परमात्मा, (तत् उरु कृण्वन्) उस प्रार्थनाको विस्तृत, शोभन करते हुए, (शुश्राव) सुन लेता है[1]। (अंहूरणात्) काम-क्रोध-लोभात्मक पापसे छूटकर संसार-सागरसे पार होनेके लिये ज्ञान और पराभक्त्यात्मक बड़ा जहाज उस दैवी जीवके लिये परमात्माने बना दिया है। (रोदसी !) हे द्युलोक अर्थात् स्वर्गलोक और भूलोकमें रहनेवाले जीवात्माओ ! (मे अस्य) मेरे अर्थात् मेरे द्वारा प्रतिपादित संसारसागरसे पार होनेके विचारको, (वित्तम्) जानो।

यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥

(ऋग्वेदः १-१८७-१)

(त्रितः=त्रिस्थान इन्द्रः)काम, क्रोध, लोभ इन तीन स्थानोंवाला जीवात्मा, (यस्य)जिस परमात्माके बलसे अर्थात् परमात्मभक्तिके बलसे, (वृत्रम्) काम-क्रोध-लोभात्मक पापको, (विपर्वम्) बिना ग्रन्थि अर्थात् बिना किसी रुकावटके, (अर्दयत्) नष्ट कर देता है।

---

१. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥ (गीता ९-३०)

तुलना—गीतामें कहा गया है कि काम, क्रोध, लोभ तीनों ही नरकके मार्ग हैं और ये ही तीन मनुष्यकी अधोगतिके कारण माने गए हैं। वेदमें कहा गया है कि कामी, क्रोधी, लोभी मनुष्य महापापी होता है। वह सदा संसारात्मक गहरे कूएँमें पड़ा रहता है और सदा जन्म-मरणके दुःखको भोगता रहता है। यदि वह इन पापोंसे छूटनेके लिए परमात्माकी अनन्य भक्ति करे तो परमात्मा संसार-सागरसे उसका उद्धार कर देता है क्योंकि काम, क्रोध, लोभ ये तीनों आसुरी जीवोंमें वास करते हैं अतः उनकी संगतिसे दैवी जीवोंमें आये हुए काम, क्रोध, लोभको ज्ञानी लोग ब्रह्मज्ञानोपदेशसे दूर कर देते हैं।

२२. एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (नरः) मुमुक्षु मनुष्य, (तमोद्वारैः) नरक-गतिके द्वाररूप, (एतैः त्रिभिः) काम, क्रोध, लोभ इन तीनोंसे, (विमुक्तः) पृथक् होकर छूटा हुआ, (आत्मनः) जब अपने, (श्रेयः) मुक्तिके साधन कल्याण अर्थात् परोपकारादि शुभ कर्मोंको, (आचरति) करता है, (ततः) तब परोपकारादि शुभ कर्म करनेके अनन्तर, (परां गतिम्) परमगति अर्थात् मुक्तिको, (याति) प्राप्त होता है॥ २२॥

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः॥

(अथर्ववेदः ८-८-१६)

हे जीवात्मन् ! (इमे) काम, क्रोध, लोभ ये तीनों, (मृत्युपाशाः) पुनः-पुनः जन्म-मरणके जाल, (उप्ताः) फैले हुए हैं अर्थात् आसुरी जीवके बन्धनके लिये सामने उपस्थित हैं, (यान्) जिन काम-क्रोध-लोभ तीनोंको, (आक्रम्य) दबाकर अर्थात् नष्ट करके, (न मुच्यसे) संसारमें जन्म-मरणके बन्धनसे नहीं छूट सकता अर्थात् काम, क्रोध, लोभ इन्हें छोड़े बिना मुक्त नहीं हो सकता। (अमुष्याः सेनायाः) इस काम-क्रोध-लोभस्वरूप सेनाके, (इदं कूटम्) इस कठोर दुर्गको, (सहस्रशः) सहस्रों प्रकारसे सहस्रों टुकड़े करके, (हन्तु=जहि) नाश कर दे क्योंकि इन तीनों काम, क्रोध, लोभके नाशके बिना तू मुक्तिको प्राप्त न हो सकेगा।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य नरकके द्वाररूप काम, क्रोध, लोभके छोड़नेसे सद्विचारवान् होकर ही मुक्तिके साधन परमात्मज्ञान और पर-

मोपासनाद्वारा मुक्तिको पा सकता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि मनुष्य-के बन्धनकारक ये काम, क्रोध, लोभ ही जालरूप हैं। मनुष्य इनके विनाशके बिना मुक्त नहीं हो सकता। जब मनुष्य इन तीनोंका नाश कर देता है तभी परमगति पाता है।

२३. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(यः) जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभके वशमें होकर धन और जनमदके कारण, (शास्त्रविधिम्) वेद, स्मृति तथा धर्मशास्त्रकी मर्यादाको, (उत्सृज्य) छोड़कर, (कामकारतः) अपनी इच्छाके अनुसार, (वर्तते) स्वकर्तव्य कार्य-को करता है, (सः) शास्त्रविधिको छोड़कर काम करनेवाला स्वेच्छाचारी वह मनुष्य, (सिद्धिम्) अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिको, (न अवाप्नोति) नहीं पाता। (न सुखम् अवाप्नोति) न सांसारिक सुखको पाता है, (न परां गतिम्) और न ही मुक्तिको पाता है॥ २३॥

परः सो अस्तु तन्वा तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम्॥

(ऋग्वेदः ७-१०४-११)

(देवाः!) हे दैवी सम्पत्तिवाले मुमुक्षु पुरुषो! (यः) जो शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छाचारी आसुरी सम्पत्तिवाला मनुष्य, (दिवा नक्तम्) दिन-रात अर्थात् सदा, (नः दिप्सति) मुझ परमात्माका खण्डन करता है अथवा मेरी वेदवाणीका खण्डन करता है और वेद-स्मृति-विधिको नहीं मानता, (सः) वह स्वेच्छाचारी आसुरी जीव, (तना तन्वा) अपने पुष्ट किये विस्तृत शरीरसे, (परः अस्तु) दूर रहता है अर्थात् उस आसुरी जीवको शारीरिक सुख नहीं होता, अतः वह उसे भी छोड़ना चाहता है। वह सदा संसार-समुद्रमें जन्म-मरणके चक्रमें घूमता रहता है। (विश्वाः तिस्रः पृथिवीः= पृथिव्यः) वह स्वेच्छाचारी आसुरी जीव भूर्भुवः स्वः इन तीन लोकोंके वासी जीवोंसे अर्थात् उत्तम, मध्यम, अधम जीवोंसे भी, (अधः अस्तु=अस्ति) नीच योनियोंमें अर्थात् विष्ठा, कीट या वृक्ष-पाषाणादि नीच स्थावर योनियोंमें जन्म लेता है। (अस्य) इस आसुरी जीवका, (यशः) संसारमें प्रकाशित करनेवाला यश भी, (प्रति शुष्यतु) सूख जाता है अर्थात् इस आसुरी जीवका यश भी नष्ट हो जाता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो दम्भादि-दुर्गुणयुक्त आसुरी जीव शास्त्रमर्यादाका त्याग करके स्वेच्छया कार्य करता है वह इस संसारमें सुखी

नहीं रहता और न मुक्तिको पाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो आसुरी जीव परमात्माके उपदेश अर्थात् वैदिकज्ञान और उसकी मर्यादाका उल्लंघन करता है, वह संसारमें मनुष्ययोनिसे नीच विष्ठा, कीट अथवा वृक्ष-पाषाणादि योनियोंमें जन्म लेता है। इस लोकमें उसे शारीरिक सुख नहीं प्राप्त होता। इस लोकमें उसका यश भी नष्ट हो जाता है और वह परलोकमें शुभगति अर्थात् मुक्ति भी नहीं पाता।

२४. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।

हे अर्जुन! (तस्मात्) शास्त्रमर्यादाके विरुद्ध आचरण करनेवाले आसुरी जीवोंकी अधोगति होती है, इस कारण, (ते) तेरे सामने, (कार्याकार्यव्यवस्थितौ) क्षत्रियके लिये यह कार्य करनेयोग्य है, यह कार्य करनेयोग्य नहीं है, इस व्यवस्था अर्थात् मर्यादामें, (शास्त्रं प्रमाणम्) वेद और धर्मशास्त्रका कथन ही प्रमाणरूप है अर्थात् वेदशास्त्रकी मर्यादाका मानना ठीक है। (शास्त्र-विधानोक्तं ज्ञात्वा) शास्त्रविधिसे कही हुई बातको जानकर, (इह) इस संसारमें अथवा इस युद्धस्थलमें, (कर्म कर्तुम् अर्हसि) काम करनेके लिये तू योग्य है॥ २४॥

इन्द्रो यज्वने पृणते च [1]शिक्षत्युपेद् ददाति न स्वं मुषायति।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति [2]देवयुम्॥

(ऋग्वेदः ६-२८-२)

हे मुमुक्षु जीवात्मन्! (इन्द्रः) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न सर्वस्वामी परमात्मा, (यज्वने) शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञादि कर्म करनेवाले, (च) और, (गृणते) स्तुति करनेवाले अथवा सत्संगको अच्छा माननेवाले दैवी जीवको, (शिक्षति) वेदशास्त्र-मर्यादाकी शिक्षा देता है अर्थात् वेदका उपदेश देता है। (इत् उप ददाति) परमात्मा स्वयमेव शास्त्रमर्यादाके अनुकूल आचरण करनेवाले दैवी जीवके पास उसके हृदयमें शुद्ध वैदिक ज्ञान देता है। (स्वं न

---

१. शिक्षति—'शिक्ष विद्योपादाने'।

२. देवयुम्—देवशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्। 'न छन्दस्यपुत्रस्य' इतीत्त्वदीर्घयोः प्रतिषेधः, 'क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययः।

मुषायति=मुष्णाति) परमात्मा अपने आपको उस दैवी जीवसे नहीं छिपाता अथवा उसके ज्ञानमय धनको नहीं हरता। (अस्य) इस दैवी जीवके, (रयिम्) ज्ञान-धनको, (भूयः भूयः) फिर-फिर, (वर्धयन् इत्) बढ़ाता ही रहता है। यह सांसारिक सुख है। पारलौकिक सुख भी परमात्मा देता है। (देवयुम्) परमात्माको पानेकी इच्छावाले दैवी जीवको, (अग्निन्नि खिल्ये) दुःखादि दोषोंसे न नष्ट होनेवाले अथवा अपनेसे यानी परमात्मासे अभिन्न अपने धाम अर्थात् मुक्तिधाममें, (निदधाति) धारण करता है अर्थात् मुक्तिधाममें रखता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शास्त्रविध्यनुसार 'यह कार्य करनेयोग्य है, यह कार्य करनेयोग्य नहीं है' इसमें वेद-शास्त्र प्रमाण माने जाते हैं। मनुष्य इस शास्त्रविधिको मानकर कर्तव्याकर्तव्य कर्ममें प्रवृत्त हो सकता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा परोपकार-सत्संगेत्यादि शुभ-कर्मोंको करनेवाले दैवीजीवको वेदशास्त्रकी कही हुई विधि और निषेधका उपदेश देता है, पराभक्तिके प्रभावसे उस दैवी जीवको परमात्मा स्वयं दर्शन देता है और उन दैवी जीवोंको संसारयात्राके अनन्तर अपने धाम अर्थात् मुक्तिधाममें भेजता है।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका पञ्चदश अध्याय समाप्त।

सप्तदश अध्याय

अर्जुन उवाच—

१. ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

श्रीभगवानुवाच—

२. त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

३. सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

४. यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—(कृष्ण !) हे भगवान् कृष्ण ! (ये) जो मनुष्य, (शास्त्रविधिम् उत्सृज्य) शास्त्रमर्यादा, शास्त्राज्ञाको छोड़कर, (श्रद्धयान्विताः) अत्यन्त विश्वासयुक्त होकर अर्थात् आस्तिक भावनावाले होकर, (यजन्ते) यज्ञ, दान, देवपूजा करते हैं, (तेषाम्) उन श्रद्धालु जीवोंकी, (का निष्ठा) क्या स्थिति होती है, (सत्त्वम्) सात्त्विकी निष्ठा, (आहो) या, (रजः) राजसी श्रद्धा, अथवा, (तमः) तामसी श्रद्धा, इनमें-से कौन-सी श्रद्धा उसकी होती है ? ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन ! (देहिनाम्) देहधारी जीवोंकी, (त्रिविधा श्रद्धा भवति) तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है। (सा) वह श्रद्धा, (देहिनां स्वभावजा) देहकी उत्पत्तिके साथ ही सात्त्विकी, राजसी या तामसी उत्पन्न होती है अथवा देहधारीकी सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुणवाली प्रकृति देहोत्पत्तिके साथ ही उत्पन्न होती है, (तां शृणु) उस सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धाके विषयमें सुन ॥ २ ॥

(भारत !) हे भरत-कुलोत्पन्न अर्जुन ! (श्रद्धा) विश्वास, (सर्वस्य) सब देहधारियोंका, (सत्त्वानुरूपा) अपने अन्तःकरणके अनुकूल, (भवति) होता है। (अयं पुरुषः) यह देहधारी पुरुष अर्थात् प्राणी, (श्रद्धामयः)

श्रद्धास्वरूप या विश्वासरूप है। (यः यत्श्रद्धः) जो प्राणी जिस श्रद्धामें अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुणके साथ उत्पन्न होता है, (सः एव सः) वह प्राणी उसी श्रद्धावाला कहलाता है ॥ ३ ॥

(सात्त्विकाः) सत्त्व गुणमें श्रद्धा रखनेवाले प्राणी, (देवान्) देवताओंका अथवा सत्सङ्गियों और ज्ञानियोंका, (यजन्ते) पूजन करते हैं। (राजसाः यक्षरक्षांसि यजन्ते) रजोगुणी यक्षों अर्थात् धनियोंका और राक्षसों अर्थात् रक्षक पुरुषोंका [क्योंकि वेद और वाल्मीकिरामायणमें रक्षकसे राक्षस नाम पड़ना बताया गया है] यजन करते हैं अर्थात् यक्ष-राक्षसोंका सङ्ग करते हैं। (तामसाः जनाः) तमोगुणी प्राणी, (प्रेतान् च अन्ये भूतगणान्) प्रेतोंको तथा कई दूसरे तमोगुणी प्राणी भूतोंको पूजते हैं अर्थात् नीचोंके संगी होते हैं ॥ ४ ॥

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥

(ऋग्वेदः ५-५८-३)

हे जीवात्मन् ! (अस्य) इस देहधारी प्राणीके, (चत्वारि शृङ्गाः) पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये चार सींगरूप हैं अर्थात् ये चार तत्त्व देहके शिखर-रूप हैं, क्योंकि देह इनके बिना स्थिर नहीं रह सकती। (अस्य त्रयः पादाः) इस देहधारीके काम, क्रोध, लोभ ये तीन पाँव हैं अर्थात् संसारमें जन्म और मरणके मार्गपर ले जानेवाले पाँव रूप हैं। (अस्य द्वे शीर्षे) इस देहधारीके ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दो सिर हैं, जैसे सिरके विना देहको देह नहीं कहते, बल्कि लोथ कहते हैं वैसे ही ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके बिना देहको देह नहीं कहा जा सकता। (अस्य सप्त हस्तासः) इस देहधारी प्राणीके शरीरको धारण करनेवाले रक्त, मज्जा, मांसादि सात धातुएँ हाथरूप अर्थात् शरीरको स्थिर रखनेवाली हैं। (वृषभः) सांसारिक वासनाओंको अपने मनमें बरसानेवाला अर्थात् संसारमें वास करनेवाला देहधारी प्राणी, (त्रिधा बद्धः) सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन तीनोंसे स्वभावसे अर्थात् जन्मसे बाँधा हुआ, (रोरवीति) संसारमें सात्त्विक, राजस अथवा तामस कर्मोंका शोर मचाता रहता है। (महो = महान्, देवो) महादेव परमात्मा, (मर्त्यान् आविवेश) मनुष्योंमें व्यापकरूपसे प्रवेश करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य अपने कर्मानुसार जन्म लेता है। मनुष्यजन्मके साथ ही उस मनुष्यके कर्मानुसार तीनों गुण अर्थात् सत्त्व, रज

और तमोगुण साथ ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य उसी गुणमें पूर्ण श्रद्धावाला होता है। वेदमें कहा गया है कि मनुष्यके जन्मके साथ भूमि, जल, तेज, वायु, ये चारों शिखररूप, काम, क्रोध, लोभ ये तीनों जन्म-मृत्यु ग्रहण करनेके लिये पाँवरूप, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय शिररूप और रक्त-मज्जा-मांसादि शरीर-धारक सात धातुएँ हाथरूप उत्पन्न होते हैं। प्राणी सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन तीनोंसे बँधा हुआ उत्पन्न होता है और परमात्मा उसमें व्यापकरूपसे वास करता है।

५. अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥

६. कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

(दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः) दम्भ अर्थात् दिखावा मात्र और अहङ्कारसे युक्त अर्थात् मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ, ऐसे दम्भ और अहङ्कारवाले, (कामरागबलान्विताः) सांसारिक विषयोंकी कामना तथा सांसारिक विषयोंके उपभोगके बलवाले, (अचेतसः) काम-रागादिके कारण मूढ चित्तवाले अर्थात् सदसद्विवेकशून्य, (शरीरस्थम्) देहमें विद्यमान, (भूतग्रामम्) पृथिवी, जल, तेज, वायु इनके समूहको अथवा इन्द्रियसमूहको, तथा, (अन्तःशरीरस्थम्) शरीरके भीतर व्यापक रूपसे विद्यमान, (मां च एव) मुझ परमात्मरूप जीवात्माको, (कर्शयन्तः) आहारादि न देकर निर्बल अवस्थामें लाते हुए, (ये) जो प्राणी, (अशास्त्रविहितम्) शास्त्रमर्यादासे न बताए हुए अर्थात् शास्त्रमर्यादाके विरुद्ध, (घोरं तपः) शरीरको अति पीड़ा देनेवाले घोरसे घोर कृच्छ्र, चान्द्रायण अथवा पञ्चाग्नितापात्मक तपस्या और उपवासादिसे, (तप्यन्ते) ताप देते हैं अर्थात् सुखाते हैं, (तान्) दम्भादि दुर्गुणोंसे युक्त उन जीवोंको, (आसुरनिश्चयान्) असुर स्वभावके निश्चयवाले अर्थात् तामसी प्रकृतिवाले आसुरी जीव, (विद्धि) जान॥ ५–६॥

अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघांसति।
बृहस्पते मा प्रणक् तस्य नो वधो नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः॥

(ऋग्वेदः २-२३-१२)

(बृहस्पते !) हे बुद्धिमान् ! तत्त्वज्ञानी जीवात्मन् ! (यः) दम्भाहंकार-युक्त और अनेक इच्छाओंवाला तामसी जीव, (अदेवेन मनसा) दैवी सम्पत्ति-

से शून्य मनसे अथवा सत्त्वगुणके प्रकाशसे रहित मनसे अथवा शास्त्रमर्यादाके विरुद्ध मनसे अथवा आसुरी वृत्तिवाले मनसे, (रिषण्यति) दैवी वृत्तिका हनन करता है, (यः) और जो आसुरी जीव, (उग्रः) तमोगुणकी प्रधानतासे उग्र अर्थात् कठोर, अथवा, (उग्रः—उग्रं मन्यमानः) तमोगुणी वृत्तिके कारण अपने आपको उग्र मानता हुआ, 'मैं ही संसारमें कुलीन हूँ, मैं ही धनवान् हूँ' ऐसा अभिमान रखता हुआ, (शासाम्) वेदशास्त्रकी शाखा अर्थात् शिक्षाका, (जिघांसति) नाश करना चाहता है अर्थात् स्वेच्छाचारी बनता है, (तस्य) उस आसुरी प्राकृतिवाले मनुष्यका, (वधः) शास्त्रमर्यादा-नाशक विचाररूपी अस्त्र, (नः) परमात्मोपासक दैवी वृत्तिवाले हमें, (मा पृणक्) न स्पर्श करे अर्थात् उनकी सङ्गति दैवी जीवोंको न प्राप्त हो । हम, (दुरेवस्य) दुष्ट गतिवाले अर्थात् दुष्टाचारी मनुष्यके, (मन्युम्) क्रोधादि दुष्ट कर्मको, (नि कर्म) अपने आपसे दूर करें ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य शास्त्र-मर्यादाको छोड़कर दम्भ अथवा काम-रागादिके बलसे निराहारादि तपस्या द्वारा देहके निर्बल होनेसे आत्माको निर्बल बनाता है वह आसुरी जीव मनुष्य होते हुए भी राक्षस है। वेदमें भी यही कहा गया है कि दुष्कर्मोंके करनेसे दुष्ट मन द्वारा जो मनुष्य दुराचार करते हैं, ऐसे आसुरी जीवोंकी संगति भी न करनी चाहिए ।

७. आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥

८. आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

हे अर्जुन ! (सर्वस्य) देहधारी सब प्राणियोंमें, (आहारः अपि तु त्रिविधः प्रियः भवति) सात्त्विक प्राणीको सात्त्विक भोजन, राजस वृत्तिवाले जीवको राजस भोजन और तामस जीवको तामस भोजन प्रिय होता है । (यज्ञः तपः तथा दानम्) सात्त्विक, राजस, तामस, तीन प्रकार का यज्ञ, तीन प्रकारका तप तथा तीन प्रकारका दान होता है, (तेषाम् इमं भेदं शृणु) आहार, यज्ञ, तप, दान इन सबके आगे कहे जानेवाले भेदको सुन ॥ ७ ॥

(आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः) आयुके बढ़ानेवाले, बलके वर्द्धक, अन्तःकरणको उन्नत करनेवाले, स्वास्थ्यवर्द्धक तथा सुख और प्रेमके बढ़ानेवाले, (रस्याः) रसवाले पदार्थ जैसे द्राक्षादि, (स्निग्धाः) स्नेहवाले पदार्थ यथा घृतादि, (स्थिराः) चिरकालतक प्रभाव रखनेवाले, (हृद्याः) दुर्गन्धसे रहित

और मनको प्रसन्न रखनेवाले सुगन्धित पदार्थोंसे युक्त, (आहाराः) भोजन, (सात्त्विकप्रियाः) सात्त्विक जीवोंको प्रिय लगता है ॥ ८ ॥

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम् ।

(अथर्ववेदः १९-८-५)

हे मनुष्यो ! (पुण्यं क्षवम्) पवित्र, पूरा पका हुआ, रसवाला, स्निग्धतासे युक्त, मनको रुचि देनेवाला और चिरकालतक स्थिर प्रभाव रखनेवाला भक्षणीय अन्न, (भक्षीमहि) हम सब खावें। (परिक्षवम्) अशुद्ध, अभक्ष्य, तथा, (पापम्) दुर्व्यवहारसे उत्पन्न दूषित अन्नका, (परि) परित्याग करें।

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुश्रृतं मन्ये तदृतं नवीयः ।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः ॥

(अथर्ववेदः ७-७२-३)

(पुरुकृत् ! वज्रिन् ! इन्द्र !) हे बहुत बड़े-बड़े कार्योंके करनेवाले जीवात्मन् ! हे तीक्ष्ण आयुधधारी क्षत्रिय ! हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न जीवात्मन् ! मैं, (ऊधनि श्रातम्) गौके दुग्धाशयमें स्थित परिपक्व दूधको स्वास्थ्यदायक भोज्य पदार्थ, (मन्ये) मानता हूँ अर्थात् सब सज्जनोंसे माना हुआ है । (अग्नौ श्रातं मन्ये) अग्निमें पका हुआ पदार्थ स्वास्थ्यवर्द्धक माना जाता है। (तत् ऋतं नवीयः सुश्रृतं मन्ये) उस पके हुए दूध और अन्नादिका सत्यरूपसे स्वास्थ्य-दायक सात्त्विक आहार नवीन रूप धारण करके अच्छा पका हुआ माना जाता है। (जुषाणः) ऐसे सात्त्विक भोजनका सेवन करता हुआ, (माध्यन्दिनस्य सवनस्य) मध्याह्न कालके भोजनके समय, (दध्नः पिब) दहीका पान कर।

तद् वां महित्वं घृतान्नावस्तु ।

(ऋग्वेदः ६-६७-८)

(वाम्) तुम दोनों सात्त्विक स्त्री-पुरुषोंके लिये, (घृतान्नौ) दूध और अन्न, (तद् महित्वम्) महिमावाले स्वास्थ्यप्रद महिमावाले, (अस्तु) हों।

....सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ....अमर्त्यौ ॥

(अथर्ववेदः ८-७-२०)

सोमवल्ली सात्त्विक गुणका प्रकाश करनेवाली, अमृतरूप तथा स्वास्थ्य-वर्द्धक है। चावल और यव अमर होनेकी औषधियाँ हैं। ये सब अत्यन्त सात्त्विक भोजन हैं।

मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥

(अथर्ववेदः ८-७-१२)

मधु (शहद) अथवा शर्करादि मीठे पदार्थसे मिश्रित अमृतान्न, घीसे मिश्रित अन्न और गोरस अर्थात् गौका दूध सात्त्विक भोजन है। इनके भक्षणसे स्वास्थ्य-वृद्धि होती है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि घृतादि स्निग्ध पदार्थ तथा आम्र-द्राक्षादि रसीले पदार्थ हृदयको प्रसन्न रखनेवाले और सात्त्विक आहारोंमें गिने जाते हैं। वेदमें भी कहा गया है कि गौका ताजा दूध, अग्निपर पका हुआ अन्नादि पदार्थ और दूध-दही स्वास्थ्यवर्द्धक तथा बलवर्द्धक माने जाते हैं अतः वे सात्त्विक भोजन हैं।

९. **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।**
आहारा राजसस्येष्टाः दुःखशोकामयप्रदाः ॥

(कट्वम्लविदाहिनः) अधिक कटु, अत्यन्त खट्टा, अति नमकीन, बहुत तीक्ष्ण, बहुत गरम, रूखा अर्थात् स्निग्धतारहित, हृदयको दाह पहुँचानेवाला, ये सब, (आहाराः) भोजन अर्थात् भक्ष्य पदार्थ, (राजसस्य) रजोगुणी जीवको, (इष्टाः) प्रिय लगते हैं। (दुःखशोकामयप्रदाः) ये सब पदार्थ भोजनके अनन्तर कण्ठ और छातीको दुःख देनेवाले, शोक और मूर्च्छा उत्पन्न करनेवाले और राजयक्ष्मादि रोगोंके देनेवाले होते हैं ॥ ९ ॥

उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥

(अथर्ववेदः ७-७५-१)

हे मनुष्यो ! (उत् तिष्ठत) नींदसे उठो और अपने-अपने कार्य करनेके लिये खड़े हो जाओ, (इन्द्रस्य) परमात्माके द्वारा दिये हुए, (ऋत्वियं भागम्) ऋतुके अनुसार उत्पन्न होनेवाले भोजन करनेयोग्य अन्नभागको, (पश्यत) देखो कि वह अन्न कैसा है। (यदि श्रातम्) सूर्य-चन्द्र द्वारा वृक्षोंपर या पार्थिव गेहूँ, जौ आदि, और वह भी अग्नि द्वारा यदि पका हुआ है, (जुहोतन) तो उसे भक्षण करो, (यदि अश्रातम्) यदि पका हुआ नहीं है अर्थात् कच्चा है, (ममत्तन) तो अपने घरमें आनन्दसे रहो, उसे मत ग्रहण करो, क्योंकि कच्चा होनेसे कटु, खट्टा अथवा तीक्ष्ण होगा। उसे खानेसे दुःख, शोक और रोग होंगे क्योंकि वह राजस भोजन होगा।

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे ॥

(अथर्ववेदः १४-१-२९)

(एतत् तृष्टम्) यह भक्ष्य पदार्थ दाह उत्पन्न करनेवाला है। (एतत् कटुकम्) यह मिर्चादि भक्ष्य पदार्थ कटु है। (अपाष्ठवत्) जिस पदार्थके देखनेसे ही घृणा उत्पन्न हो, ऐसा घृणित पदार्थ और, (विषवत्) अफीम, पोस्तादि विषैला पदार्थ, (एतत् अत्तवे न) भोजन करनेयोग्य नहीं होता। प्रायः ऐसे पदार्थ रजोगुणी मनुष्यको प्रिय लगते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि कड़ुआ, खट्टा, मिर्चादि तीक्ष्ण और अति गरम, घृतादिकी स्निग्धतासे रहित, दाह और तृषा-उत्पादक भोजन राजसी पुरुषको प्रिय है। वेदमें भी कहा गया है कि हे मनुष्यो ! पके हुए पदार्थका भोजन करो, कच्चे पदार्थ या अन्नको मत खाओ। कच्चे पदार्थके खानेसे दुःख, उदररोग और शोक उत्पन्न होते हैं। अतः तृषा-उत्पादक, सड़े पदार्थ और विषैले पदार्थका भोजन मत करो, अन्यथा रोगी हो जाओगे। मांस, मद्य, प्याज आदि सेवन करनेवाला मनुष्य राजसी गुणोंवाला होता है।

१०. यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(यातयामम्) जिस पदार्थके तैयार होनेके अनन्तर कई प्रहर अर्थात् कमसे-कम तीन घण्टे बीत गए हों, (गतरसम्) जिस पदार्थका रस सूख गया हो, (पूति) जिसमें दुर्गन्ध उत्पन्न हो गई हो, (यत् च पर्युषितम्) जो भोजन सारी रातके व्यतीत होनेपर बच जावे अर्थात् बासी हो जावे, (उच्छिष्टम्) जो किसी मनुष्य, कुत्ता या बिल्लीसे खाया हुआ अर्थात् जूठा अन्न हो, (अमेध्यम् अपि) तथा अपवित्र हो अथवा यज्ञशेष न हो, (भोजनम्) ऐसा भोजन, (तामसप्रियम्) तमोगुणी जीवको प्रिय लगता है ॥ १० ॥

अपपापं परिक्षवम् ।

(अथर्ववेदः १९-८-५)

हे मनुष्यो ! (पापम् अपक्षवम्) बुरा, दुर्गन्धित, दूसरे प्राणीसे जूठे किये हुए, अपवित्र, पाप द्वारा उत्पन्न हुए दूषित अन्नको, (परि) दूर करो अर्थात् मत खाओ। क्योंकि वह अन्न तमोगुणी होता है अतः सात्त्विक पुरुषके लिये त्याज्य है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि बहुत देरका पका हुआ और रससे रहित, दुर्गन्धित, सारी रात्रिके बीत जानेपर बासी तथा अपवित्र भोजन तमो-

गुणी भोजन होता है और वह तमोगुणी जीवोंको प्रिय लगता है। वेदमें भी कहा गया है कि पाप द्वारा उत्पन्न किया हुआ और दुर्गन्धसे दूषित अन्नका त्याग करना चाहिये अर्थात् उसका भोजन न करना चाहिये।

११. अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥

(यष्टव्यम्) परमात्माकी प्रसन्नताके लिये अवश्यमेव देवपूजा, सत्सङ्गति तथा यज्ञादि शुभकर्म करने चाहिये, (इति) इस प्रकार, (मनः) मनमें, (समाधाय) भली प्रकार निश्चय करके, (अफलाकांङ्क्षिभिः) फलकी इच्छासे रहित निष्काम कर्मयोगियों द्वारा, (विधिदृष्टः) वेदशास्त्रकी विधिवाला, (यः यज्ञः) जो देवपूजा, हवनादि, (इज्यते) किया जाता है, (सः सात्त्विकः) वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है॥ ११॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(ऋग्वेदः १-१६४-५०)

(देवाः) दैवी सम्पत्तिवाले सात्त्विक मनुष्य, (यज्ञेन) देवपूजा, सत्संगति और सात्त्विक पदार्थों द्वारा निष्काम भावसे, (यज्ञम् अयजन्त) यज्ञ-पुरुषकी पूजा करते हैं। (तानि धर्माणि) वे यज्ञात्मक धर्म, (प्रथमानि आसन्) सबसे श्रेष्ठ सात्त्विक गुणवाले होनेसे सबसे उत्कृष्ट हैं। (ते) सात्त्विक यज्ञ करनेवाले वे पुरुष, (महिमानः) इस जन्ममें महत्त्वको प्राप्त होकर, (नाकं सचन्ते) सुखपूर्ण लोकको प्राप्त होते हैं, (यत्र) जिस सुख-पूर्ण मुक्तिपदमें, (पूर्वे साध्याः) पहलेसे ही साधनसम्पन्न सात्त्विक आत्मायें, (सन्ति) रहती आई हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि यज्ञका करना अपना कर्तव्य समझते हुए मनको स्थिर करके निष्काम भाववाले मनुष्य जो यज्ञ करते हैं वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि देवता अर्थात् सात्त्विक मनुष्य याज्ञिक पदार्थोंसे शास्त्रकी विधिके अनुसार जो यज्ञ करते हैं वह यज्ञ सात्त्विक कहा जाता है और उसी सात्त्विक यज्ञसे मनुष्य मुक्तिका सुख पाते हैं।

१२. अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥

(भरतश्रेष्ठ!) हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! (फलम्) अपने किये जानेवाले अथवा अपने किये हुए यज्ञ-दानादिसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्गादि सुखके

फलको, (अभिसन्धाय) जोड़कर अर्थात् इस यज्ञके करनेसे मुझे स्वर्गसुख मिलेगा, यह निश्चय करके, (इज्यते) जो यज्ञ किया जाता है, (अपि च) और, (दम्भार्थम् एव) दम्भ अर्थात् लोगोंमें मान-प्राप्तिके निमित्त, दिखावेके लिये, (यत् इज्यते) जो यज्ञ किया जाता है, (तं यज्ञम्) उस यज्ञको, (राजसं विद्धि) रजोगुणवाला जान ॥ १२ ॥

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥

(अथर्ववेदः ७-५-४)

(देवाः) सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले मनुष्य, (पुरुषेण हविषा) अन्य पुरुषके द्वारा दिये हुए दानादि पदार्थों द्वारा या स्वकृत कर्म द्वारा स्वर्गादि-फल-प्राप्तिके लिये या दिखावेके लिये, (यत्) जो, (यज्ञम् अतन्वत) यज्ञ करते हैं, वह राजस यज्ञ कहा जाता है । परन्तु, (वि हव्येन ईजिरे) निष्काम भाव-से स्वर्गादि फलकी कामनाको छोड़कर विशेष पदार्थोंसे परोपकारार्थ जो यज्ञ किया जाता है, (तस्मात्) उस फलकी इच्छासे युक्त राजस यज्ञसे, (नु) निश्चय ही, (ओजीयः) वह सात्त्विक यज्ञ बलवान् अर्थात् श्रेष्ठ होता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सांसारिक सुख और पारलौकिक स्वर्ग-सुखकी प्राप्तिके लिये मनुष्य जो यज्ञ करते हैं वह राजस यज्ञ कहा जाता है । वेदमें भी कहा गया है कि मनुष्य धनादिकी सहायतासे इस संसारमें अपनी महत्ता दिखानेके लिये और परलोकमें स्वर्गसुख प्राप्त करनेके लिये जो यज्ञ करते हैं वह राजस यज्ञ कहा जाता है ।

१३. विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

(विधिहीनम्) शास्त्रविधिसे रहित अर्थात् शास्त्र-प्रोक्त यथार्थ विधिके विरुद्ध, (असृष्टान्नम्) अनधिकारियोंको दिये हुए अन्न अर्थात् दानके अधि-कारियोंका अनादर करके अनधिकारियोंको दान दिये हुए अन्न अथवा भलीभाँति न पके हुए अन्नसे सम्पन्न होनेवाला, (मन्त्रहीनम्) श्रौत-स्मार्त-मन्त्रोच्चारणसे रहित, (अदक्षिणम्) समाप्तिपर आचार्य और ऋत्विजादिको दक्षिणा देनेसे रहित, (श्रद्धाविरहितम्) पूर्ण श्रद्धा अर्थात् पूर्ण विश्वाससे रहित, (यज्ञम्) यज्ञको, (तामसं परिचक्षते) तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥

(अथर्ववेदः ७-५-५)

(देवाः) साक्षर विद्वान्, दैवी गुणवाले मनुष्य, (उत) भी, (मुग्धाः) कुसङ्गतिके कारण सांसारिक विषयोंपर मोहित होकर तामसी वृत्ति धारण करके, (शुना) कुत्तेके मांससे या कुत्तेके जूठे पदार्थसे, (उत) और, (गोः अङ्गैः) अवध्य गौके अंगोंसे अथवा नेत्रादि पाँचों इन्द्रियोंके अङ्ग अर्थात् रूप-रस आदि विषयोंसे, (पुरुधा) बहुत प्रकारसे, (अयजन्त) दम्भपूर्वक तमोगुणी होकर यज्ञ करते हैं। (यः) जो मनुष्य, (इमं यज्ञम्) इस तामसी यज्ञको, (मनसा चिकेत) शुद्ध मनसे जान लेता है अर्थात् यह तामसी यज्ञ संसारी जीवोंकी अधोगतिका कारण है, ऐसा जान लेता है, (इह नः प्रवोचः) वह पुरुष इस लोकमें हम सब दैवी जीवोंको बताता है कि ऐसा तामसी यज्ञ मत करो। (ह इह तं ब्रवः) वह निश्चयपूर्वक इस संसारमें उस तामसी यज्ञको बतावे कि ऐसा तामसी यज्ञ मत करो।

सरस्वती यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।

(ऋग्वेदः १०-१७-९)

हे मनुष्यो ! (पितरः) पितृस्थानीय आचार्य अथवा यज्ञधर्मकी रक्षा करनेवाले याज्ञिक जन, (यज्ञम् अभि) यज्ञको लक्ष्य रखकर, (दक्षिणा= दक्षिणया) दक्षिणा द्वारा, (नक्षमाणाः) यज्ञमें शोभा पाते हुए, (यां सरस्वतीम्) यज्ञ-सम्बन्धी जिस वेदवाणीका अर्थात् वेदमन्त्रोंका, (हवन्ते) उच्चारण करते हैं [इस मन्त्रसे मन्त्रों द्वारा यज्ञ करना और यज्ञकी दक्षिणा देना सिद्ध होता है, मन्त्रोच्चारणरहित और दक्षिणारहित[1] यज्ञ तामसी यज्ञ कहा जाता है]।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो यज्ञ विधिहीन हो, अनधिकारियोंको दिए हुए अन्नसे सम्पादित हुआ हो, मन्त्रोच्चारण और श्रद्धासे रहित और दक्षिणाविहीन हो, वह तामस यज्ञ कहा जाता है। वेद और ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी

---

१. यथा ह इदमनोऽपुरोगवं रिष्यति। एवं हैव यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति। तस्मादाहुः दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा भवत्यत्यल्पिकापि॥

(ऐ. ब्रा. ६.५-९)

यही कहा गया है कि तमोगुणसे मोहित बाह्याडम्बरसे अपने आपको सात्त्विक गुणवाला कहते हुए, अपवित्र पदार्थोंसे हवन और दान आदि करते हुए तथा रूप-रसादि विषयोंमें फँसे हुए मूढ याज्ञिक तामसी याज्ञिक कहे जाते हैं।

१४. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

हे अर्जुन ! (देवद्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्) अग्निहोत्र द्वारा ईश्वरपूजा और वेदशास्त्रके ज्ञाता, कर्मठ, धार्मिक एवं सात्त्विक ब्राह्मणकी पूजा, विद्यागुरु तथा दीक्षागुरुकी पूजा और बुद्धिमानों या ब्रह्मवेत्ताओंकी पूजा करना, (शौचम्) बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता रखना, (आर्जवम्) सरल प्रकृतिका होना, (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य द्वारा वीर्यरक्षा, (अहिंसा) और शरीर, मन और वाणीसे किसीको दुःख न देना, (शारीरं तपः उच्यते) यह सब शारीरिक तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥
(अथर्ववेदः ७-६३-१)

(अग्ने !) हे परमात्मन् ! अथवा हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! (तपसा) अपने आपसे संबन्धित पर्युक्षण, परिसमूहन, समिधादानादि रूप कर्मसे, (तत् तपः) जो शारीरिक तप सिद्ध होता है, (तत् तपः) उस शारीरिक तपको, (उप) आपको सर्वत्र व्यापक मानकर सात्त्विक भावसे आपके समीप, (तप्यामहे) करते हैं, अथवा, (तपसा) कृच्छ्र-चान्द्रायणादिरूप तपसे जो शरीर-क्लेदन-रूप तप करते हैं [तपका अर्थ है शारीरिक-क्लेश-सहिष्णुता । कृच्छ्र-चान्द्राय-णादि व्रतोंसे शरीर सूखता है], (श्रुतस्य प्रियाः भूयास्म) उस शारीरिक तप-के कारण हम वेद और शास्त्रके प्रिय हो जावें, तथा, (आयुष्मन्तः) शारीरिक तपके प्रभावसे दीर्घायुवाले, तथा, (सुमेधसः) सुन्दर धारणाशक्ति रखनेवाली बुद्धिसे युक्त होवें ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सदाचारी, वेदशास्त्रवेत्ता ब्राह्मण, पर-मात्मा, गुरु और ज्ञानीकी सेवा करना, बाह्याभ्यन्तर शरीरशुद्धि, मनमें सरलता, वीर्यरक्षा, किसीको कष्ट न देना आदि शारीरिक तप है । वेदमें भी शरीरसे तपश्चर्या करना, वेदशास्त्र-विधिकी अनुकूलता रखना आदि दीर्घायु-प्राप्ति और शुद्ध बुद्धिका कारण कहा गया है ।

१५. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

(अनुद्वेगकरम्) जिस वचनसे सुननेवालेको घबराहट अथवा क्रोध उत्पन्न न हो अर्थात् कठोरतासे रहित, (सत्यम्) यथार्थ रूप, (प्रियहितम्) प्रिय और हितकारी, (वाक्यम्) वचन, (स्वाध्यायाभ्यसनं चैव) और प्रतिदिन प्रातःकाल वेदशास्त्र तथा उपनिषदोंका अध्ययन तथा उनका बार-बार अभ्यास करना, (वाङ्मयं तपः उच्यते) वाणीका तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो [1]हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् [2]बिभीतन ॥
(अथर्ववेदः ७-६२-६)

(गृहाः !) हे गृहस्थाश्रमी मनुष्यो ! (सूनृतावन्तः स्त) तुम सब दूसरोंको घबराहट न करनेवाली, सत्य, मीठी और दूसरोंका हित करनेवाली वाणीके बोलनेवाले होओ । (सुभगाः स्त) ऐसी मीठी वाणी बोलनेके कारण अच्छे भाग्यवाले होओ । (इरावन्तः स्त) अतिथिको अन्न देनेवाले और अतिथिका स्वागत करनेवाली वाणीके बोलनेवाले होओ । (हसामुदाः स्त) बोलते समय हँसमुख अर्थात् प्रसन्न मुखवाले होओ । (अतृष्याः स्त) संसारमें फँसानेवाली सांसारिक तृष्णाओंसे रहित अथवा कोई अतिथि तुम्हारे घरसे प्यासा न जाय ऐसे बनो । (अक्षुध्याः स्त) न तुम अपने घरमें भूखे रहो, न ही कोई अतिथि तुम्हारे घरसे भूखा जाय । घरमें रहते हुए तुम्हारा वाणीमय तप ऐसा होना चाहिये । (अस्मत् मा बिभीतन) प्रत्येक प्राणी जब तुम्हारे घरमें आवे तो तुम उससे मीठी वाणीसे कहो कि हमसे तुम भय मत करो, यह तुम्हारा अपना ही घर है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि प्रत्येक प्राणीके साथ क्रोधसे रहित, दूसरेको घबराहट न उत्पन्न करनेवाले, मीठे प्रिय वाक्य बोलना और प्रतिदिन स्वाध्याय करते रहना वाणीका तप है । वेदमें भी यही कहा गया है कि प्रत्येक गृहस्थ मीठी, प्रिय तथा दूसरोंको मोहित करनेवाली वाणी बोले, अतिथिका

---

१. हसामुदाः—'हसे हसने' । भावे क्विप् । तदन्तात् तृतीया—हसेति । मोदतेः इगुपधलक्षणः कः, छन्दस्यलुक्, बहुवचने रूपम् ।

२. बिभीतन—'ञिभी भये', लेटि तस्य तनादेशः ।

स्वागत मीठे प्रिय वचनोंसे करे, अतिथि घरसे भूखा-प्यासा न जाय तथा किसी प्राणीको अपने घरसे भय न दिखावे। यही वाणीका तप है।

१६. **मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।**
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥

हे अर्जुन ! (मनःप्रसादः) मनकी प्रसन्नता अर्थात् किसी भी विषय-रसको देखकर मनका विचलित न होना, (सौम्यत्वम्) सबका हित करना अर्थात् क्रूर न बनना, (मौनम्) एकाग्रवृत्तिसे परमात्मभजन करना अथवा समयानुसार बहुत अर्थवाला अल्प भाषण करना, (आत्मविनिग्रहः) परमात्माके ध्यानमें मनको लगाना और सांसारिक पदार्थोंसे मनको हटाना, (भावसंशुद्धिः) अपने अन्तःकरणमें राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंका समावेश न करना अथवा व्यावहारिक अवस्थामें कपट न रखना और सद्विचार रखना, (इति एतत् मानसं तपः उच्यते) यह मानस तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥

(अथर्ववेदः ७-७३-२)

(अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (तपः तप्यामहे) मानसिक तप करनेवाले हम मनकी प्रसन्नता, ऋजुता और परहित करनेवाले मौनात्मक तपको नियमपूर्वक करें, (उप तप्यामहे) उस मानसिक तप द्वारा हम आपके चरणोंमें आनेके लिये फिर तप करें अर्थात् हमारे मानसिक भाव शुद्ध हों, (श्रुतानि शृण्वन्तः) उस मानसिक तप द्वारा स्वाध्यायकी सहायतासे वेदशास्त्रोंके वचनोंको सुनते हुए, (वयम्) हम सब, (आयुष्मन्तः) दीर्घायुवाले, और, (सुमेधसः) सुन्दर धारणावती बुद्धिवाले होवें।

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥

(अथर्ववेदः ६-१२२-४)

(तपसा) किसीको न दुखानेवाले, सरल-प्रियवचनादिरूप तपसे युक्त, (मनसा) मनसे, (यन्तम्) सत्य मार्गपर चलते हुए, (बृहन्तं यज्ञम्) सबसे महान् मानसिक तपरूपी यज्ञको करनेसे, (सयोनिः) समानरूप हुआ, (अन्वारोहामि) मैं यथाक्रम ऊपर उठता जाता हूँ अर्थात् मेरा मन परमात्माके चरणोंमें पहुँचनेके लिये उन्नति करता जाता है। (अग्ने !) हे ज्योतिः-

स्वरूप परमात्मन्! (जरसः परस्तात्) बुढ़ापा आनेसे पूर्व ही, (उपहूताः) आपसे बुलाये हुए हम, (तृतीये नाके) सबसे उत्तर लोक अर्थात् मुक्तिधाममें, (सधमादं मदेम) आपके साथ आनन्दित होवें।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मानसिक तपसे ऋजुता, क्रोधादि दुर्गुणोंकी निवृत्ति, दूसरोंका हित करना, मीठी वाणीसे वार्तालाप करना तथा मनकी चञ्चलताको दूर करना, ये बातें सिद्ध होती हैं। वेदमें भी मानसिक तपकी सिद्धि तथा भगवत्प्राप्तिके लिये वेद-शास्त्रोंका पढ़ना-सुनना, बहुत वाचाल न होना और समय तथा देशके अनुसार यथार्थ अल्प भाषण करना मुख्य कारण कहे गए हैं।

१७. श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

(युक्तैः) परमात्माके चरणोंमें योग द्वारा मनको जोड़नेवाले, तथा, (अफलाकांक्षिभिः नरैः) अपने किये हुए शुभ कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको प्राप्त करनेकी इच्छा न रखनेवाले मनुष्योंके द्वारा, (परया श्रद्धया) सर्वोत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ श्रद्धा अर्थात् विश्वाससे, (तप्तम्) तपस्या रूपमें किये हुए, (त्रिविधम्) मन, वचन और शरीरसे होनेवाले तीन प्रकारके, (तत् तपः) उस तपको, (सात्त्विकं परिचक्षते) सात्त्विक कहते हैं॥ १७॥

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियञ्च॥

(अथर्ववेदः ६-१३३-४)

(श्रद्धायाः) श्रुतिस्मृत्यादिप्रोक्त शुभ कर्मोंमें आस्तिक बुद्धि रखनेका नाम श्रद्धा है, उस श्रद्धा अर्थात् विश्वासकी, (दुहिता) पुत्री सात्त्विक तपश्चर्या है और वही सात्त्विक तपश्चर्या, (तपसः अधिजाता) आदि-सृष्टिमें ब्रह्माके तपसे उत्पन्न हुई है अथवा अत्यन्त श्रेष्ठ श्रद्धाके कारण तपसे उत्पन्न हुई है। (भूतकृताम् ऋषीणाम्) पञ्चमहाभूतों और उनके रूप-रसादि विषयोंको वशमें करनेवाले और धर्मको साक्षात् करनेवाले मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी, (स्वसा) साथ उत्पन्न होनेसे भगिनीरूप, (बभूव) है, (मेखले!) हे मेखले! तपश्चर्यामें मन, वाणी और शरीरको एक रूपमें बाँधनेवाली रज्जुरूप मति! (सा) चित्तको एकाग्र करनेवाली रस्सीरूप वह तू, (नः) हमारी, (मतिम्) आगे आनेवाली बुद्धिको सात्त्विक तपश्चर्यावाली, (आधेहि) कर, (अथो) और, (तपः) सात्त्विक गुणकी विशेषतावाले कायिक, वाचिक, मानसिक तपको,

(नः इन्द्रियं च) और हमारी इन्द्रियोंके लिंग अर्थात् चिह्नरूप आत्माको सत्त्व-स्वरूप, (आधेहि) कर दे, और, (नः मेधाम्) हमारी बुद्धिको वेद-शास्त्रके पढ़ने-सुनने-मात्रसे धारणाशक्तिवाली, (आधेहि) कर दे।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सात्त्विक तपस्वी जनोंके द्वारा परमात्मामें मनको लगाकर अपने शुभकृत्यपर हितादि फलकी इच्छा न रखते हुए परम श्रद्धालु होकर किए गए कायिक, वाचिक, मानसिक तपको सात्त्विक तप कहते हैं। वेदमें भी यही प्रार्थना की गई है कि सात्त्विक वृत्ति, सात्त्विक बुद्धि और पूर्ण श्रद्धासे वेद-शास्त्रमें विश्वास रखकर जो जो शुभ कर्म शरीर, मन, और वाणीसे किये जाते हैं, वही सात्त्विक तप कहा जाता है।

१८. सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

हे अर्जुन! (सत्कारमानपूजार्थम्) 'आप बड़ा काम करते हैं, आप बहुत ही अच्छे मनुष्य हैं' इस प्रकारकी अपनी स्तुतिके लिये तथा 'जिस सभामें जाऊँ वहाँ मेरा पूरा मान हो' ऐसे मानकी प्राप्तिके लिये तथा 'लोग मेरी पूजा करें' इसलिये अर्थात् अपने देहकी सेवाके लिए, (दम्भेन) वेष-भूषादिके दिखावेके भावसे अर्थात् बगुलाभक्त बनकर, (यत् तपः क्रियते) जो तप किया जाता है, (तत्) वह तप, (इह) इस लोकमें सत्कार, मान और पूजाके लिये होता है, न कि परलोकमें। (तत्) वह तप, (अध्रुवम्) दृढ होकर सदा नहीं रहता, और, (चलम्) समयकी अवधितक फल देता है, न कि सदा रहता है। ऐसा तप, (राजसं प्रोक्तम्) रजोगुणी तप कहा गया है॥ १८॥

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते स्वाहा॥

(यजुर्वेदः ३-५०)

(स्वाहा=सु+आह) हे मित्र! तू अच्छी प्रकारसे कहता है, (मे देहि) मेरे सत्कारके लिये पहले तू मुझे आसन दे, (ते नि ददामि) फिर मैं तेरे सत्कारके लिये आसन दूँगा। (मे धेहि) हे मित्र! मेरे मानके लिये तू अपने विचारको मेरे आगे रख अर्थात् तू पहले मेरे मानके लिये विचार बता, (ते नि दधे) फिर मैं तेरे मानके लिये अपने विचारोंको तेरे आगे रखूँगा। (च मे निहारं हरासि) और तू मुझसे सदा मूल्य देकर वस्तु लेता है, (ते निहारं निहराणि) मैं भी तुझे सदा मूल्य लेकर वस्तु देता हूँ।

इस मन्त्रमें लेन-देनकी प्रतीति होनेसे राजस तप प्रकट होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो तप अपने सत्कार, मान और अपनी पूजा या प्रशंसाके लिये दम्भ द्वारा किया जाता है वह राजस है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो पहले दूसरोंके विचारको सुने और फिर अपना विचार बतावे, पहले वस्तु लेवे फिर देवे, एक दूसरेसे वस्तुका मूल्य ले और दे, वह रजोगुणी कहलाता है।

१९. मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

(मूढग्राहेण) सदसद्विवेकसे शून्य और बहुत अधिक तमोगुणके ग्रहण कर लेने अर्थात् अत्यन्त अविवेकात्मक बुद्धिसे, (आत्मनः) अपने देहको, (पीडया) पीडा देकर, (यत् तपः) कायिक-वाचिक-मानसिक त्रिविध जो तप, (क्रियते) किया जाता है, (वा) अथवा, (परस्य उत्सादनार्थम्) दूसरे जीवके मारनेके लिये, (यत् तपः क्रियते) जो तप किया जाता है, (तत् तामसम् उदाहृतम्) वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥

(ऋग्वेदः १-१५८-६)

(दीर्घतमाः) गहराईतक अर्थात् बहुत अधिक तमोगुणको धारण करनेवाला, सदसद्विवेकसे शून्य बुद्धिवाला, (मामतेयः) 'मैं सबसे बड़ा हूँ, वह मुझसे हीन है' इत्यादि अभिमानवाला, 'यह मैं हूँ, यह मेरी है' ऐसी ममताका पुतला, (जुजुर्वान्) इन्द्रियोंके रूप-रसादि विषयोंके सेवनसे अत्यन्त जीर्ण, (अर्थम्) मूढ पुरुषोंसे याचना की हुई लौकिक सम्पत्ति, और, (यतीनाम् अपाम्) प्राप्त होनेवाले सांसारिक कर्मोंका, (सारथिः) वाहक अर्थात् चलानेवाला तामसी मनुष्य, (दशमे युगे) दसवें युगतक अर्थात् बहुत समयतक, (ब्रह्मा भवति) उस तमोगुणी वृत्तिमें बढ़ा-चढ़ा और दृढ होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य जो तमोगुणसे लिप्त होकर अपने शरीरको पीडित करता है अथवा दूसरे मनुष्योंको मारनेके लिये तप करता है, वह तामसी तप कहा जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जिस मनुष्यमें तमोगुणका अत्यधिक समावेश होता है वह अहंता-ममतारूपी अहंकारका पुतला है और तमोगुणकी प्रधानतासे दिन-रात विषयोपभोगमें लगा रहनेसे युवा होता

हुआ भी जीर्ण अर्थात् वृद्ध दिखाई देता है। वही तामसी मनुष्य सांसारिक कुकर्मोंका सारथि अर्थात् चलानेवाला है और तमोगुणमें ही दृढ़तासे वास करता है।

२०. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

(दातव्यम् इति यत् दानम्) दूसरोंको देनेयोग्य जो वस्तु अच्छी हो, या 'मुझे यह वस्तु दान देनी है' इस भावनासे दिया जानेवाला जो दान है, (अनुपकारिणे) उस दानके बदलेमें कोई वस्तु दानीको न देनेवाले अर्थात् दान देनेके अनन्तर जिससे उस दानके बदलेमें किसी वस्तुके लेनेकी आशा न रखी जावे ऐसे अनुपकारी मनुष्यको, (देशे) गङ्गादि तीर्थ देशोंमें या अपने शुद्ध गृहमें, (काले) पर्वकालमें अथवा मध्याह्नसे पूर्व समयमें, (च) और, (पात्रे) दान लेनेयोग्य अधिकारीमें जो दान,(दीयते) दिया जाता है, (तत् दानम्) वह दान, (सात्त्विकं स्मृतम्) सात्त्विक कहा गया है॥ २०॥

आर्षेयेषु निदध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र।
अग्निर्मे [1]गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभिरक्षन्तु [2]पक्वम्॥
(अथर्ववेदः ११-१-३३)

(ओदन !) हे अधिकारी पात्रको देनेयोग्य अन्न ! (त्वा) दान देनेयोग्य तुझको, (आर्षेयेषु) ऋषियोंके गुणोंवाले अर्थात् सात्त्विक, शुद्ध दानाधिकारी ब्राह्मण पात्रोंमें, (निदधे) धारण करता हूँ अर्थात् दान देता हूँ, क्योंकि दान शुद्ध देश, शुद्ध काल और शुद्ध पात्रमें दिया हुआ ही सफल होता है। तुझ अन्नको भी अन्न देनेयोग्य अधिकारी ब्राह्मणोंको देता हूँ। (अत्र) इस समयमें, (अनार्षेयाणाम्) ऋषिगुणोंसे रहित अर्थात् सात्त्विकगुणशून्य कुपात्र ब्राह्मण अथवा अनधिकारी याचकोंको देनेकी, (न अस्ति) सम्भावना भी नहीं है। (अग्निः) ज्योतिःस्वरूप परमात्मा, (मे गोप्ता) मेरा रक्षक है। (च सर्वे मरुतः) और सब अर्थात् प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय नामक वायु अथवा सब प्रकारके मरण धर्मवाले मनुष्य, और, (विश्वे देवाः) सब देवता, (अभिरक्षन्तु) अधिकारी पात्रको

---

१. गोप्ता—'गुपू रक्षणे,' तृचि 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्ययाभावः।
२. पक्वम्—पचेः कर्मणि निष्ठा, 'पचो वः' इति निष्ठातकारस्य वकारः।

दान देनेवाले मुझ जैसे दानीकी रक्षा करें और सब देवता, (पक्वम्) दान देने-योग्य पके हुए अन्नकी रक्षा करें।

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ॥

(ऋग्वेदः १०-१०७-८)

(भोजाः न मम्रुः) अधिकारी जीवोंको अन्नदान द्वारा भोजन करानेवाले दानी नहीं मरते अर्थात् दानी पुरुषोंका पांचभौतिक देह तो जल जाता है, परन्तु उनका नाम सदा जीवित रहता है अतः उनकी मृत्यु होनेपर भी मृत्यु नहीं कही जाती अथवा वे देवयोनियोंको प्राप्त होते हैं, ([1]न्यर्थं न [2]ईयुः) कुक्कुरादि निकृष्ट योनियोंमें जन्म नहीं पाते, (न [3]रिष्यन्ति) किसीसे अपमृत्यु द्वारा नष्ट नहीं होते, (भोजाः न व्यथन्ते) अतएव दूसरोंको अन्नदान देनेवाले दानी जीव पीडित नहीं होते। (इदम्) सामने दष्टिगोचर होता हुआ, (विश्वं भुवनम्) सारा दृश्यमान जगत्, (च स्वः) और स्वर्गलोक और मुक्तिधाम, (एतत् सर्वम्) इन सारी वस्तुओंको, (दक्षिणा) सत्पात्रमें दूसरोंको दान देनेके लिए उपयुक्त, (एभ्यः) इन दानी जीवोंको, (ददाति) दे देता है अर्थात् दानी जीवको सब प्रकारका सुख और मुक्तिधाम प्राप्त होता है।

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातु दक्षिणम्।
अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमा विशत ॥

(यजुर्वेदः ७-४६)

(अद्य) आज, मैं, (पितृमन्तम्) उत्तम माता-पिताके पुत्र, (पैतृमत्यम्) पैतृक अर्थात् पिता-मातावाले शुभ संस्कारसे युक्त, (सुधातुदक्षिणम्) स्वर्णादि-धातुकी दक्षिणा लेनेयोग्य या सुधातु अर्थात् वीर्यकी रक्षा या ब्रह्मचर्यमें निपुण, (आर्षेयम् ऋषिम्) ऋषिसमूहवाले ऋषिरूप, (ब्राह्मणम्) तपस्वी, वेदज्ञ, ब्राह्मणपुत्रको, (विदेयम्) दान देनेके लिए पाऊँ। सत्पात्रको दान देनेसे मेरा लक्ष्य पूरा हो जावे। (अस्मद्राताः) हमें शुद्ध दान देनेवाले हे दाताओं! (देवत्रा प्रदातारम्) देवताओंमें शुद्ध सात्त्विक दानीकी ओर, (गच्छत) जाओ, और, (आविशत) सात्त्विक दानके प्रभावसे ब्रह्ममें प्रवेश कर जाओ।

---

१. न्यर्थम्—'ऋ गतौ', 'उषिकुषिगार्तिभ्यः स्थन्' इति स्थन्।
२. ईयुः—'इण् गतौ', लिटि 'दीर्घ इणः किति' इति दीर्घः।
३. रिष्यन्ति—कर्मणि व्यत्ययेन परस्मैपदम्।

[1]पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् [2]द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते [3]रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्त[4] रायः ।।
(ऋग्वेदः १०-११७-५)

हे जीवात्मन् ! (तव्यान् तवीयान्) धन और अन्नसे समृद्धिशाली मनुष्य, (नाधमानाय) धन और अन्नकी याचना करनेवाले भिक्षुको अथवा याचना करनेवाले अतिथिको, (इत्) ही, (पृणीयात्) धन और अन्नसे तृप्त कर देवे, (द्राघीयांसं पन्थाम्) अपने सुकृत मार्गको बहुत विस्तृत, (अनुपश्येत) देखे और समझे कि इस मार्गका कारण दान ही है । (रायः) धनसम्पत्ति, (हि) निश्चय ही, (ओ=आ+उ, वर्तन्ते) एक स्थानपर नहीं रहते । (रथ्या चक्रा इव) जैसे रथके पहिये सर्वदा एक स्थानपर नहीं रहते, ऊपर-नीचे आते-जाते रहते हैं वैसे, (रायः अन्यम् अन्यम् उपतिष्ठन्ते) धन भी एक-एक मनुष्यको छोड़कर दूसरे दूसरे मनुष्योंको प्राप्त होते जाते हैं । अतः अपना धन और अन्नादि शुभ पदार्थ अधिकारी याचकोंको दान करना चाहिये ।

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः ।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ।।
(ऋग्वेदः १-३१-१५)

(अग्ने !) हे परमैश्वर्यसम्पन्न ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (त्वम्) तू, (प्रयतदक्षिणं नरम्) धन और अन्नादि शुभ पदार्थोंके दान देनेवाले मनुष्योंकी, (स्यूतं वर्म इव) वस्त्रमें तन्तुओंके समान ओतप्रोत कवचकी भाँति, (विश्वतः) चारों ओरसे, (परिपासि) भली-भाँति रक्षा करता है । (स्वादुक्षद्मा यः) उत्तम अन्नवाला जो दानी मनुष्य, (वसतौ) अपने निवासस्थान अर्थात् अपने घरमें, (स्योनकृत्) सबको सुख देनेवाला होकर, (जीवयाजं यजते) जीवन-यात्राका यजन करता है अर्थात् अपने निवासस्थानवाले जीवोंको जीवनदान देता है, (सा दिवः उपमा) वह निवासस्थान स्वर्गके समान होता है अर्थात् जैसे स्वर्गमें किसीको दुःख नहीं होता वैसे दानी पुरुषके निवासस्थानमें भी किसी प्राणीको दुःख नहीं होता, सब जीव सुखी रहते हैं ।

---

१. पृणीयात्— 'पॄ पालनपूरणयोः' क्र्यादिः । 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः ।
२. द्राघीयांसम्—'दीर्घशब्दादीयसुनि 'प्रियस्थिर' इत्यादिना द्राघीत्यादेशः ।
३. रथ्या—रथाद् यत् ।
४. उपतिष्ठन्ते—'उपाद्देवपूजासंगतिकरण' इत्यात्मनेपदम् ।

त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः।
विप्राय स्तुवते वसुनि दूरश्रवसे वह॥

(अथर्ववेदः २०-१३५-११)

(इन्द्र!) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न जीवात्मन्! (त्वम्) तू, (पारावतेभ्यः) परब्रह्म परमात्माकी शरणको प्राप्त ज्ञानी भक्तों और अधिकारी सज्जन पुरुषोंको, (शर्म हव्यम्) सुख देनेवाले दानके योग्य अन्न, धन अथवा स्वर्णादिको, (रिणाः=ऋणाः) प्रदान कर। (दूरश्रवसे) अपनी भगवद्भक्ति, सदाचार अथवा वेदशास्त्रोंके अभ्याससे बहुत प्रसिद्ध विद्वान्, (स्तुवते विप्राय) तथा परमात्माकी स्तुति करनेवाले बुद्धिमान् ब्राह्मणको, (वसु नि वह) अन्न और धन दे अर्थात् दान कर।

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव॥

(अथर्ववेदः ६-१२२-२)

(एके) कई एक दानी मनुष्य, (ततम्) विस्तृत अर्थात् बढ़े-चढ़े हुए, (तन्तुम्) दातव्य दानमय सूत्रोंको, (अनुतरन्ति) अधिकारी याचकोंको अनुकूल रूपसे दान देकर संसारसमुद्रको पार कर जाते हैं, (येषाम् आयनेन) जिन याचकोंके प्राप्त होनेसे, (पित्र्यं दत्तम्) पिता-पितामहादिके निमित्त दिया हुआ अन्न-धनादिदान सफल होता है। (एके) कई एक मनुष्य, (अबन्धु ददतः) अपने संबन्धियोंको छोड़कर अर्थात् सम्बन्धियोंको दातव्य दान न देकर भिन्न याचक मनुष्योंको अर्थात् जहाँ प्रत्युपकारकी इच्छा नहीं रहती, उन्हें दान देते हैं, (प्रयच्छन्तः च) और इस प्रकार दानबुद्धिसे अधिकारियोंको दान देते हुए, (इत्) ही, (दातुं शिक्षात्) दान देनेके लिए समर्थ हो, तो, (सः स्वर्गः एव) वह स्वर्ग ही है अर्थात् उन्हें मोक्षधामका सुख प्राप्त होता है।

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम्।

(अथर्ववेदः ६-१२३-४)

(सः पचामि) गृहस्थधर्मकी पालना करनेवाला वह मैं अन्नको पकाता हूँ। (सः ददामि) वह मैं अपने लिये पकाए हुए अन्नमें-से अधिकारी याचकोंको अन्न देता हूँ। (सः यजे) वह मैं दातव्यदानात्मक यज्ञ करता हूँ। (सः) इस प्रकार दान देनेवाला मैं, (दत्तात्) अपने दिये जानेवाले दानसे, (मा यषम्) पृथक् न होऊँ अर्थात् मैं सदा अधिकारियोंको दान देता रहूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि दातव्य दान अधिकारीको दो। दान देनेसे पहले यह सोचो कि जो वस्तु मैं दान करता हूँ वह ठीक है या नहीं। सड़ी या जली-भुनी तो नहीं है। दान लेनेवालेके काम आएगी या नहीं। पुनः अधिकारीको देखो कि श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, सदाचारी और गृहस्थधर्मका पूरा पालक है या नहीं। फिर काल और देशपर भी विचार करना चाहिये। दान देनेके अनन्तर उस पुरुषसे प्रत्युपकारकी इच्छा भी न रखनी चाहिए। ऐसा दान सात्त्विक दान कहा जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि अन्न और धन आदिका दान ऋषि, गुणी अर्थात् सात्त्विक पुरुषोंको देना चाहिए, अनाड़ी या कुपात्रको नहीं। सात्त्विक दानीका नाम संसारमें सदा रहता है अर्थात् दानी सदा जीवित रहता है। दानी मुक्तिके सुखको पाता है। परमात्मा दानी पुरुषकी रक्षा करता है। दानी दुखी पुरुषोंका सहायक होता है। सद्गुणोंसे प्रसिद्ध पुरुषोंको दान देना और प्रत्युपकारकी आशा न रखना बहुत अच्छा है। मनुष्य घरमें जो कुछ भी पकाता है और स्वयं खाता है, उसमें-से भी प्रत्युपकारकी आशा न रखकर दूसरोंको दानरूपसे देना स्वर्गसुख अथवा मुक्तिसुखकी प्राप्तिका हेतु बनता है।

२१.   यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

हे अर्जुन! (यत् तु) और जो दान, (प्रत्युपकारार्थम्) मैं उस मनुष्यको दान दूंगा जो मेरे घरका काम करेगा अथवा मैं उससे अमुक वस्तु लूंगा, अपने मनमें ऐसे प्रत्युपकारकी सम्भावनाको लिए, (वा) या, (फलम् उद्दिश्य) किसी लाभका उद्देश्य रखकर, (च पुनः) और फिर दान देनेके पश्चात्, (परिक्लिष्टम्) अपने हृदयमें 'यह वस्तु मैं दान न करता तो अच्छा था, इस वस्तुसे मेरा अमुक काम हो जाता' ऐसा क्लेश मानकर, (दीयते) दिया जाता है, (तत्) वह दान, (राजसम् उदाहृतम्) राजस कहा गया है॥ २१॥

देवा ददत्वासुरं तद्वो अस्तु सुचेतनम्।
युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत॥

(अथर्ववेदः २०-१३५-१०)

(देवाः—दानात् देवः ददातीति वा देवः) दूसरोंको दान देनेवाले मनुष्य, (आ) सब प्रकारसे, (वरम्) उत्तम धन अर्थात् दान देनेयोग्य धनको,

(ददतु) देते हैं अथवा देवें। (तत्) दान दिया हुआ वह धन, (वः) तुम सब मनुष्योंको, (सुचेतनम् अस्तु) भली-भाँति ज्ञात हो कि दूसरेके काममें आनेवाली श्रेष्ठ वस्तु देनी चाहिये। यह तुम्हें ज्ञान होना चाहिये कि ऐसी वस्तुका दान जिसमें प्रत्युपकारकी आशा हो, राजस दान हो जायगा। वह दान, (युष्मान्) तुम दानी पुरुषोंके लिए, (दिवे दिवे) प्रतिदिन, (अस्तु) हो। (प्रति-गृभायत एव) तुम भी दान ग्रहण करनेवाले पुरुषोंसे प्रत्युपकार रूपमें दिये हुए धनादिको ग्रहण करोगे तो वह प्रतिदान अर्थात् राजस दान कहा जायगा।

स इद्भोजो यो [1]गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति [2]यामहूता उतापरीषु[3] कृणुते सखायम्॥

(ऋग्वेदः १०-११७-३)

हे जीवात्मन्! (स इत् भोजः) वही दानी राजस दानी है, (यः) जो, (गृहवे) अतिथिरूपसे घरमें आए हुए, (अन्नकामाय) अन्नकी कामनाके लिये, (चरते) फिरते हुए, (कृशाय) दरिद्रतासे क्षीण पुरुषको, (ददाति) अन्न देता है। (यामहूतौ) जिसमें कुछ पहर पहले याचक बुलाया जाय ऐसे अन्नयज्ञमें अर्थात् भण्डार या लंगरमें, (अस्मै) इस रजोगुणी दानीको दानका फल, (अरम्=अलम्) पर्याप्त होता है, (उत) और, (अपरीषु) वह दूसरी प्रजाओं अर्थात् अन्य मनुष्योंमें, (सखायं कृणुते) मित्रता करता है, क्योंकि राजस दान देनेसे सब लोग उस राजस दानीके मित्र हो जाते हैं, कोई शत्रु नहीं बनना चाहता।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो दान प्रत्युपकारको लक्ष्य रखकर अर्थात् 'मैं उसे यह वस्तु दूँगा, वह मुझे अमुक वस्तु देगा' ऐसा विचार करके अथवा 'इस वस्तुके देनेसे मुझे यह फल मिलेगा' ऐसा ध्यान रखकर दिया जाता है वह राजस दान कहा जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जिसको दान दिया जावे, उसे दानके प्रभावसे मित्र बनाकर लाभ उठावे अथवा अपने घरमें अचानक आए हुए दुखी, दरिद्री, भूखेको केवल अन्न दिया जाय, दूर रहनेवाले

---

१. गृहवे—ग्रहेर्मृगय्वादित्वात् कुप्रत्ययः।
२. यामहूतौ—'यातेः अर्तिस्तुसुहुसृ' इत्यादिना मन्प्रत्ययः।
३. अपरीषु—'केवलमामक' इत्यादिना ङीप्।

सत्पात्रोंका ध्यान न रखकर अपनी महत्ता दिखानेके लिये कुपात्रोंको दान दिया जाय तो वह राजस दान कहा गया है।

२२. अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

(अदेशकाले) स्वच्छ स्थानको छोड़कर अपवित्र स्थानमें, पर्वकालको छोड़कर कुसमय अर्थात् सायंकाल अथवा अर्धरात्रिके समयमें, (यत् दानम्) जो दान, (अपात्रेभ्यः च) मद्य-मांसादि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाले और दुराचारी ब्राह्मणों और अतिथियोंको, (असत्कृतम्) सत्कारादि पूजासे रहित, (अवज्ञातम्) अपमानके साथ या कुछ देकर पीछा छुड़ानेके लिये, (दीयते) दिया जाता है, (तत्) वह दान, (तामसम् उदाहृतम्) तमोगुणवाला दान कहा जाता है॥ २२॥

[1]बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्योऽब्राह्मणा [2]यतमे त्वोपसीदान्।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा [3]रिषन् प्राशितारः॥

(अथर्ववेदः ११-१-३२)

(बभ्रे !) हे प्रजाका पालन-पोषण करनेवाले अन्न ! (यतमे अब्राह्मणाः) जितने ब्रह्मज्ञानसे रहित तामसी मनुष्य, दानके अनधिकारी नीच मनुष्य, (त्वा उपसीदान्) तुझसे दान लेनेके लिये और दान लेकर भोजन करनेके लिये तेरे पास प्राप्त हों, (एभ्यः) इन तामसी कुपात्रोंको, (रक्षः समदम्) तमोगुणमें प्रसन्न रहनेवाले राक्षसी मनुष्योंमें, (आवप) बो दे अर्थात् इन्हें राक्षसी संज्ञामें गिन ताकि तामसी दानके खानेसे वे भी राक्षसोंके समान तामसी स्वभाववाले बने रहें। समद शब्दका युद्ध अर्थ माननेपर यह भावार्थ होगा कि वे तामसी जीव सदा दुष्टोंसे कलह और युद्ध करते रहें अर्थात् कुपात्र जीव राक्षसोंसे पीडित होते रहें। (आर्षेयाः) जो मनुष्य ऋषियोंके गुणोंवाले अर्थात् सत्त्वगुणी होनेसे सत्पात्र हैं, और, (पुरीषिणः) जो प्रजा और पशु आदिके

---

१. बभ्रे—'डुभृञ् धारणपोषणयोः', 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' इति किप्रत्ययः।

२. यतमे—'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने' इति यच्छब्दात् डतमच्, तदन्तस्य सर्वनामसंज्ञायां जसः शीभावः।

३. रिषन्—'रिष हिंसायाम्'।

पालक[1] हैं अतएव, (प्रथमानाः) संसारमें सात्त्विक दान देनेके प्रभावसे सबमें श्रेष्ठ, (ते प्राशितारः) तेरे सात्त्विक भावसे दिये हुए अन्नके भोजन करनेवाले हैं, (ते) वे, (मा रिषन्) मृत्युको न प्राप्त हों अर्थात् उनका नाम सदा जीवित रहे। मन्त्रके पूर्वार्द्धमें कुपात्रनिन्दा दिखाकर उत्तरार्द्धमें सुपात्रकी स्तुति दिखाई गई है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शुद्धदेश और शुद्धकालका विचार न करके कुपात्रको जो दान दिया जाता है और जो दान अनादरसे दिया जाता है उसे तामस दान कहते हैं। वेद और धर्मशास्त्रकी भी यही आज्ञा है कि दानका अन्न स्वयं भी कुपात्रके पास जाना नहीं चाहता। यदि जाता है तो दाता और ग्रहीता दोनोंकी अधोगतिका कारण होता है अतः कुसमयमें कुपात्रको दान देना अच्छा नहीं है।

२३. ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(ॐ तत् सत् इति) ॐ तत् सत् यह, (ब्रह्मणः) परमात्माका, (निर्देशः) नाम, (त्रिविधः स्मृतः) तीन प्रकारवाला कहा गया है। (तेन) उस त्रिविध नामवाले परमात्माने, (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णोंको, (च) और, (वेदाः) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व इन चारों वेदोंको, (च) और, (यज्ञाः) श्रौत-स्मार्त यज्ञोंको, (पुरा) सृष्टिके आदिमें, (विहिताः) रचा है॥ २३॥

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः॥
(ऋग्वेदः ४-१-७)

(देवस्य) स्वप्रकाशसे प्रकाशमान, (अग्नेः) ज्योतिःस्वरूप, (अस्य) इस परब्रह्म परमात्माके, (त्रिः) तीन, (ता=तानि) ओं, तत्, सत् तीनों नाम, (परमा) परमोत्कृष्ट तथा प्रसिद्ध, (सत्या) सत्यस्वरूप अर्थात् सदा स्थिर रहनेवाले, (जनिमानि) जगदुत्पादक, और, (स्पार्हाः सन्ति) चाहनेयोग्य हैं। (अनन्ते) हृदयाकाशके भीतर, (परिवीतः) अपने तेजसे परिवेष्टित, (शुचिः) स्वयं शुद्धस्वरूप तथा 'ॐ तत् सद् ब्रह्म' इतना उच्चारण करनेसे

---

1. यथा च यास्कः—पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा, निरुक्त २-२२, प्रजा वै पशवः पुरीषं प्रजया एवैनं पशुभिः पुरीषवन्तं करोति, तै. सं. २-६-४-३।

मनुष्योंके शरीर, मन, वाणीका शोधक, (शुक्रः) बलस्वरूप, (रोरुचानः) अतएव स्वयं प्रकाशित होता हुआ, (अर्यः—'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' अमरकोषः) सारे ब्रह्माण्डका स्वामी परमात्मा, (आ आगात्) हमारे हृदयाकाशमें विराजे।

त्रिभिष्ट्वं देव सवितर्वर्षिष्ठैः सोम धामभिः।
अग्ने दक्षैः पुनीहि नः ॥

(ऋग्वेदः ९-६७-२६)

(देव !) हे प्रकाशमान परमात्मन् ! (सवितः !) हे जगत्के उत्पन्न करनेवाले ! (सोम !) हे पवित्र करनेवाले परमात्मन् ! (अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप ! (त्वम्) तू, (वर्षिष्ठैः) सबसे श्रेष्ठ अथवा सबसे वृद्ध, (दक्षैः) सर्वसामर्थ्ययुक्त, (त्रिभिः धामभिः) ॐ तत्, सत्, इन तीन नामोंसे, (नः) हम संसारी जीवोंको, (पुनीहि) पवित्र कर। यास्काचार्यने कहा है—धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि, नामानि, जन्मानि। निरुक्त ९-२८।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्माके तीन पवित्र नाम हैं—ॐ, तत्, सत्। इन तीनोंसे चारों वर्ण और ऋग्यजुःसामाथर्व चार वेद और यज्ञ प्रकट हुए हैं। वेदमें भी 'त्रिभिः त्वं देव पुनीहि नः' से सिद्ध होता है कि ॐ तत् सत्, परमात्माके ये तीन नाम परमपवित्र हैं जिनका उच्चारण करनेसे मनुष्य इस संसारमें सुख भोगकर अन्तमें मोक्ष पाता है।

२४. **तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।**
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

हे अर्जुन ! (तस्मात्) क्योंकि 'ॐ तत् सत्' परमात्माके ये तीन नाम पवित्र हैं, इसलिये, (ॐ इति उदाहृत्य) सब कर्मोंके आरम्भमें ॐ यह नाम उच्चारण करके ही, (ब्रह्मवादिनाम्) वेद और उसके अर्थको जाननेवाले ब्राह्मणोंके, (विधानोक्ताः) वेदशास्त्रोंकी विधिसे बताए हुए, (यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः) यज्ञ-दान और तपके कर्म, (सततं प्रवर्त्तन्ते) सदा होते हैं ॥ २४ ॥

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥

(अथर्ववेदः १९-७२-१)

(यस्मात् कोशात्) जिस सब वर्णों या मन्त्रोंके संचयरूप महत्स्वरूप ओंकाररूप कोश अर्थात् भण्डारसे [यथा यास्कः—कोशः कृष्णातेः विकुण्ठितो भवति, अयमपीतरः कोशः एतस्मादेव संचयः आचितमात्रो महान् भवति। निरुक्त

५-२६], (वेदम्) श्रौतस्मार्त-सकलकर्म-प्रतिपादक मन्त्र-ब्राह्मणरूप ज्ञानको, तथा, (उद्-अभराम) यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंके अनुष्ठानके लिए सबसे प्रथम ओंकार शब्दको उठाते हैं अर्थात् सब शुभ कर्मोंके आरम्भमें ओंकारका उच्चारण करते हैं, (तस्मिन्) ओंकारोच्चारणपूर्वक कर्मानुष्ठान करनेवाले उस मनुष्यमें, (एनम्) इस ओंकारको, (अन्तः) हृदयमें अथवा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें, (अव दध्मः) स्थापित करते हैं। (ब्रह्मणः) देश-काल-वस्तु-परिच्छेदसे रहित ओंकारस्वरूप परमात्माके, (वीर्येण) ओंकारोच्चारणके सामर्थ्यसे, (कृतम्) ब्रह्मयज्ञ, दान, तपादिरूप किया हुआ कर्म, (इष्टम्) स्वाहा, स्वधा, वौषट्, तव इदं न मम इत्यादि शब्दोंसे किया हुआ दान तथा कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रतों द्वारा किया हुआ कर्म प्रिय, श्रेष्ठ और अभीष्ट होता है। (देवाः !) हे परमात्मन् ! (तेन) ओंकारोच्चारणपूर्वक कर्मानुष्ठानजन्य उस, (तपसा) कर्मफलसे, (मा) ओंकारोच्चारणपूर्वक यज्ञ, दान, तपस्यादि कर्मोंके करनेवाले मुझ दासकी, (अवत) रक्षा कीजिए।

प्रश्नोपनिषद्में कहा गया है—

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वैतद् भगवन् ! मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत, कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते। स सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

यः पुनरेतत् त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज्जीवनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥ ५ ॥

तब शैब्य सत्यकामने इससे पूछा—भगवन् ! मनुष्योंमें-से यदि कोई मरणपर्यन्त ओंकारका ध्यान करे तो वह उससे किस लोकको जीतता है ? ॥१॥ उसे

उसने उत्तर दिया—हे सत्यकाम ! यह है परब्रह्म और अपर ब्रह्म, जो यह ॐ अक्षर है । इसलिये विद्वान् इसी आलम्बनसे दोनोंमें-से एकको पा लेता है ।।२।। यदि वह एक मात्रा (अ) वाले (ओम्) का ध्यान करे तब वह उसीसे प्रकाशित किया हुआ शीघ्र ही पृथ्वीकी ओर जाता है, उसको ऋचाएँ मनुष्यलोकमें ले जाती हैं । वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर महिमाका अनुभव करता है ।। ३ ।। यदि वह दो मात्रा (अ+उ) वाले (ओम्) का ध्यान करे तो मनमें पहुँचता है और उसे यजुर्मन्त्र ऊपर अन्तरिक्षमें चन्द्रलोकको ले जाते हैं । चन्द्रलोकमें ऐश्वर्य भोगकर वह फिर लौट आता है ।। ४ ।। यदि वह तीन मात्रा (अ+उ+म्) वाले (ओम्) इस अक्षरसे परमपुरुषका ध्यान करे तो तेजमें, सूर्यमें पहुँचकर पापसे इस प्रकार छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे छूट जाता है । तब साममन्त्र उसे ब्रह्मलोककी ओर ले जाते हैं । वहाँ वह सबसे परे जो जीवघन है उससे भी परे सारे ब्रह्माण्डमें स्थित परमपुरुषको देखता है ।।५।।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानी, महात्मा, विद्वान् लोग यज्ञ, दान, तपस्यादि शुभ कर्मोंके आरम्भमें तथा वेदमन्त्रोच्चारण करनेसे पूर्व ओंकारका प्रयोग करते हैं क्योंकि ओंकारके उच्चारणमात्रसे कार्य सफल हो जाते हैं । वेद और उपनिषद्में भी कहा गया है कि जैसे कोशसे धनराशि बाहर निकालते हैं, ऐसे ही ओंकाररूप कोशसे सब मन्त्रोंका उच्चारण होता है । शुभ कर्मोंके आरम्भमें ओंकारका प्रयोग कार्यकी सफलताका कारण होता है । शुद्धभावसे त्रैमात्रिक ओंकारका उच्चारण करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

२५. तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।

हे अर्जुन ! (मोक्षकाङ्क्षिभिः) मोक्षकी इच्छा करनेवाले योगियोंके द्वारा, (फलम् अनभिसन्धाय) अपने किये हुए कर्मजन्य फलको लक्ष्य न रखकर अर्थात् कृतकर्मोंके फलकी अभिलाषाको छोड़कर, (यज्ञतपःक्रियाः) श्रौतस्मार्तादि यज्ञ और शारीरिक कष्ट देनेवाले तपस्यादि कर्म, (च) और, (विविधाः दानक्रियाः) नाना प्रकारके कन्यादान और गोदानादि कर्म, (तत्) हरिः ॐ तत्सद्ब्रह्म इस तत् पदके प्रयोगसे, (क्रियन्ते) किये जाते हैं ।। २५ ।।

तत् सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् ।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ।।

(ऋग्वेदः ५-८२-१)

हे परमात्मन् ! (वयम्) यज्ञ, दान, तप इत्यादि शुभ कर्मोंके करनेवाले हम सब दासजन, (भगस्य) सबसे परम सेवनीय अर्थात् यजन करनेयोग्य, (देवस्य) अपने प्रकाशसे प्रकाशमान, (सवितुः) जगत्‌के उत्पन्न करनेवाले आपके, (भोजनम्) सब यज्ञ, तप, दानादि शुभ कर्म करनेवाले सात्त्विक श्रद्धालुओंसे लेनेयोग्य अर्थात् अपने-अपने कर्मके आरम्भमें व्यवहार करनेयोग्य, (श्रेष्ठम्) सबसे उत्तम, (सर्वधातमम्) सारे संसारके सूर्यादि पदार्थोंको अपने-अपने स्थानपर अपने-अपने कर्मोंमें भलीभाँति धारण करनेवाले, (तुरम्) नाम लेने मात्रसे पापके नाशक, (तत्) तत्पदसे 'ॐ तत्सद्ब्रह्म' इस नामसे पुकारे जानेवाले ब्रह्मको, (वृणीमहे) वरते हैं अर्थात् हम उसे अपने हृदयमें निमन्त्रण देते हैं, (तत् धीमहि) और तत् नामसे पुकारे जानेवाले परमात्माका ध्यान करते हैं ।

तदूचुषे[1] मानुषेमा युगानि [2]कीर्तेन्यं [3]मघवा नाम [4]बिभ्रत् ।
उपप्रयन् दस्युहत्याय वज्री यद्ध सूनुः श्रवसे नाम दधे ॥

(ऋग्वेदः १-१०३-४)

(तत् ऊचुषे) परब्रह्म परमात्माके ॐ, तत्, सत् इन तीन नामोंमें-से तत् नामको सब कर्मोंके आरम्भमें कहनेवाले यजमानके लिये, (कीर्तेन्यम्) कीर्तन करनेयोग्य यशको, और, (नाम) नामको, (बिभ्रत्) धारण करता हुआ, (मघवा) महनीय पूजनीय परमात्मा, (मानुषा) मनुष्य-संबन्धी, (इमाः) इन, (युगानि) दिन-रात अर्थात् सदा करनेयोग्य नित्य-नैमित्तिक, श्रौत-स्मार्त कर्म 'ॐ, तत्, सत्' से आरम्भ करनेयोग्य हैं, ऐसा उपदेश देता है । (वज्री) दुर्जनोंको दण्ड देनेके लिये वज्र धारण करनेवाला, (सूनुः) और सारे संसारका उत्पादक, (ह) निश्चयसे, (यत् नाम) जिस तत् नामको, (दस्युहत्याय) पापरूप डाकुओंके मारनेके लिये, (उप प्रयन्) यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके

---

१. ऊचुषे—'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि', 'ब्रुवो वचिः' 'लिटः क्वसुः' 'वचिस्वपियजा—' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । चतुर्थ्येकवचने भसंज्ञायां 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणम् । 'शासिवसिघसीनाञ्च' इति षत्वम् ।

२. कीर्तेन्यम्—'कृत संशब्दने', 'कृत्यार्थे तवैकेन्—' इति केन्प्रत्ययः ।

३. मघवा—मघशब्दात् 'छन्दसीवनिपौ' इति मत्वर्थीयो वनिप् ।

४. बिभ्रत्—'डुभृञ् धारणपोषणयोः', शतरि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । 'भृञामित्' इत्यभ्यासस्य इत्वम्, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुम् न ।

समीप अर्थात् हृदयमें प्राप्त होता हुआ, (श्रवसे) कल्याणके लिये, (दधे) धारण करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मायास्वरूप शय्यापर सोया हुआ यह मनुष्य यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंके आरम्भमें 'तत्' नामक ब्रह्मका जब उच्चारण करता है तब उसके सब शुभकाम निर्विघ्नतासे समाप्त होते हैं। वेद और उपनिषद्में भी यही कहा गया है कि परमात्माका सर्वोत्तम नाम तत् शब्दसे पुकारा जाता है। सब कर्मोंके आरम्भमें 'ॐ तत् सत्' ऐसा उच्चारण करनेसे सब शुभकाम पूरी सफलतासे सिद्ध हो जाते हैं और मनुष्य यशस्वी होता है।

२६. सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
२७. यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (सद्भावे) सत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मभावमें, (साधुभावे) और सत्यतामें अथवा अच्छे विचारमें अथवा यह मनुष्य बहुत सज्जन और साधु है इस भावमें, (सत् इति एतत् प्रयुज्यते) परमात्माके तीन नामोंमें-से सत् इस नामका प्रयोग किया जाता है। (तथा) वैसे ही, (प्रशस्ते कर्मणि) श्रेष्ठ अर्थात् मङ्गलात्मक कर्ममें, (सत् शब्दः प्रयुज्यते) सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है॥ २६॥

(च) और, (यज्ञे) यज्ञ-विधानमें, (तपसि) तपस्यामें, (दाने) कन्यादान, गोदानादि दानोंमें, (स्थितिः) अवस्था, (सत् इति उच्यते) सत् अर्थात् श्रेष्ठ है, ऐसा कहा जाता है। (च) और, (तदर्थीयं कर्म एव) उस परमात्माके निमित्त अर्थात् निष्काम-भावसे किया हुआ यज्ञ, दान, तप आदि कर्म, (सत् इति एव अभिधीयते) सत् अर्थात् श्रेष्ठ है, ऐसा ही कहा जाता है॥ २७॥

सदस्य मदे सद्वस्य पीताविन्द्रः सदस्य सख्ये चकार।
रणा वा ये निषदि सत् ते अस्य पुरा विविद्रे सदु नूतनासः॥

(ऋग्वेदः ६-२७-२)

(इन्द्रः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा, (अस्य) इस दैवी मनुष्यकी, (मदे) प्रसन्नताके लिए, (सत्) सत्स्वरूप अर्थात् सद्भावरूप है। (अस्य पीतौ) इस दैवी मनुष्यकी परमात्माके रसात्मक स्वरूपको पान करनेकी अवस्था [रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' इस वचनानुसार], (सत्) सत्रूप है। (अस्य) इस दैवी जीवके, (सख्ये) नर-नारायणात्मक सखाभावमें भी, (सत्

चकार) सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है। (ये रणाः) संसार-संग्राममें रहनेवाले अथवा संसाररूपी सभामें वास करनेवाले, 'ॐ तत् सद् ब्रह्म' परमात्माके इस नामकी स्तुति करनेवाले जो दैवी जीव हैं, (ते) उन दैवी जीवोंने, (पुरा) आदिकालमें ही, (निषदि) यज्ञ, दान, तप करनेयोग्य शुद्धदेशमें, (विविदे) इस सत् शब्दको पाया। (नूतनासः) दैवी जीवोंको देखकर अन्य दूसरे राजसी और तामसी जीव भी, (सत् उ) सत् शब्दका ही व्यवहार करते हैं जिससे उनकी बुद्धि भी दैवी कर्मोंकी ओर झुकती है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मामें और शुभ विचारोंमें सत् शब्दका प्रयोग शुभ कहा गया है। शुभकर्म, यज्ञ, दान, तपस्याके कर्मोंमें सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है। परमात्माके निमित्त अर्थात् निष्कामभाववाले कर्मोंमें भी सत् शब्द शोभा देता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्माने अपने दैवी भक्तोंकी प्रसन्नताके लिये तथा नर-नारायणात्मक सखाभावमें भी सत् शब्दका प्रयोग कहा है। सृष्टिके आदिमें दैवी जीवोंने यज्ञ, तप, दानादि शुभकर्मोंके लिए सत् शब्दको पाया। राजसी और तामसी दूसरे जीव भी दैवी जीवोंका अनुकरण करते हुए सत् शब्दकी ओर झुकते हैं जिसके प्रभावसे वे सात्त्विक जीव बन जाते हैं।

२८. **अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।**
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।

(पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (अश्रद्धया) श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्यबुद्धिकी विचारशून्यतासे, (हुतम्) अग्निमें चरुरूपसे डाली हुई हवि अर्थात् यज्ञ, (दत्तम्) दान दिया हुआ अन्न या धन, (तपः तप्तम्) शरीरसे किया हुआ तप, (यत् कृतं च) और जो किया हुआ उपकारादि कर्म है, वह कर्म श्रद्धासे रहित होनेके कारण, (असत् इति उच्यते) असत्-रूप है ऐसा कहा जाता है, (सत्) श्रद्धासे रहित किया हुआ यज्ञ, दान, तप आदि कर्म, (प्रेत्य) मरनेपर परलोकमें सुख देनेवाले नहीं होते, (च न इह) और न इस लोकमें सुख देनेवाले होते हैं ॥ २८ ॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

(ऋग्वेदः १०-१५१-१)

(अग्निः श्रद्धया समिध्यते) श्रद्धा यानी आस्तिकबुद्धिसे अग्नि समिधा-द्वारा मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञके लिए जलाई जाती है। (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा द्वारा अग्निमें हवि अर्थात् सुगन्धित सामग्री डाली जाती है जिस सामग्रीके हवनसे सारे जगत्का कल्याण होता है। (भगस्य) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा-की, (मूर्धनि) मुख्य श्रेष्ठतामें अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार होनेके लिए, (वचसा) वेदमन्त्रोच्चारणरूप वाणी द्वारा, (श्रद्धां वेदयामसि) श्रद्धाको समझते हैं अर्थात् श्रद्धासे किया हुआ सब काम सफल होता है और अश्रद्धासे किया हुआ सब कार्य निष्फल होता है।

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।

(यजुर्वेदः १९-७७)

(प्रजापतिः) परमात्माने अश्रद्धाको, (अनृते) असत् यानी असत्यमें, और, (श्रद्धां सत्ये) श्रद्धाको सत्यमें, (अदधात्) स्थापित किया।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि यज्ञ, दान, तप आदि शुभकर्म जो अश्रद्धासे करते हैं ऐसे अश्रद्धालु मनुष्योंको न इस लोकमें सुख होता, न परलोकमें। वेद और धर्मशास्त्रमें भी यही कहा गया है कि यदि श्रद्धापूर्वक समिधा द्वारा अग्नि जलाकर वेदमन्त्रोच्चारण द्वारा हवन-सामग्री डाली जाती है तो उस कर्मका फल दोनों लोकोंमें सुखरूप मिलता है। देवता और सज्जन पुरुष उग्रसे उग्र राक्षसोंमें भी शुभकर्म करनेकी श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। परमात्माने सृष्टि-के आरम्भमें श्रद्धाको सत्यमें और अश्रद्धाको असत्यमें स्थापित किया है।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीताका षोडश अध्याय समाप्त।

अष्टादश अध्याय

अर्जुन उवाच—

१. संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

श्रीभगवानुवाच—

२. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

३. त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

अर्जुनने कहा—(महाबाहो !) हे बड़ी भुजाओंवाले श्रीकृष्ण ! (हृषीकेश !) हे सब इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाले भगवन् ! (केशि-निषूदन !) केशी राक्षसके नाश करनेवाले स्वामी ! अथवा स्वप्रकाशसे सूर्य,चन्द्र आदिके प्रकाशक पदार्थोंके भी प्रकाशका नाश करनेवाले भगवन् ! (संन्यासस्य तत्त्वम्) संन्यास शब्दके वास्तविक अर्थको, (त्यागस्य च तत्त्वम्) और त्याग शब्दके वास्तविक अर्थको, (पृथक्) भिन्न-भिन्न भावसे, (वेदितुम्) जाननेके लिए, (इच्छामि) मेरी इच्छा है ॥ १ ॥

संन्यास और त्यागभेदवाला प्रश्न सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे—अर्जुन ! (काम्यानां कर्मणाम्) स्वर्गप्राप्ति तथा इस लोकमें पुत्र-धनादिकी प्राप्तिके कारण यज्ञ-दान-तपादि नैमित्तिक कर्मोंके, (न्यासम्) त्यागको, (कवयः) संन्यासतत्त्ववेत्ता विद्वान् जन, (संन्यासम्) संन्यास, (विदुः) कहते हैं। (विचक्षणाः) विशेषतासे सदसद्विवेकी विद्वान्, (सर्वकर्मफलत्यागम्) काम्य अथवा अकाम्य नित्य-नैमित्तिक श्रौत-स्मार्त यज्ञ, दान, तप, इन सब कर्मोंके फलके त्याग अर्थात् फलकी प्राप्तिकी इच्छाके त्यागको, (त्यागं प्राहुः) त्याग कहते हैं, न कि सन्ध्योपासनादि कर्मोंके न करनेको ॥ २ ॥

(मनीषिणः एके) मनको अपने वशमें रखनेवाले कई एक विद्वान्, (दोषवत् कर्म) दूषित कर्म अर्थात् मद्य-मांस-सेवन, पर-हननादि पापवाले कर्मको, (त्याज्यम्) त्याग करनेयोग्य, (आहुः) कहते हैं, (अपरे च) और अन्य कई

एक विद्वान्, (यज्ञदानतपःकर्म) यज्ञकर्म, दानकर्म, तपकर्म, (न त्याज्यम्) त्याग करनेयोग्य नहीं हैं, (इति आहुः) ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे ।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥

(अथर्ववेदः १२-२-३७)

(क्रव्यात्) कच्चे मांस और मद्यादि दूषित पदार्थोंका सेवन करनेवाला तामसी मनुष्य, (यम्) यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके न करनेवाले जिस तामसी मनुष्यका, (अनुवर्तते) अनुकरण करता है और कहता है कि यह मांसभक्षक मनुष्य दिन-रात मद्य-मांसका सेवन करता है, यह धनी और मानी है, मैं इसका अनुकरण क्यों न करूँ, ऐसा माननेवाला मनुष्य, (अयज्ञियः) यज्ञ अर्थात् ईश्वरोपासना, सत्सङ्गति आदि शुभकर्मोंसे, (हतवर्चाः भवति) तथा तेज और मानसे रहित होता है। (एनेन) ऐसे पापी पुरुष द्वारा, (हविः) दानरूपसे दिया हुआ अन्न और धनादि पदार्थ, (अत्तवे न भवति) लेने और खानेयोग्य नहीं होते । वह पापी मनुष्य, (कृष्याः) भूमि आदि खेतीके कामसे, (गोः) गौ आदि पशुओंसे, और, (धनात् छिनत्ति) धनसे काट दिया जाता है अर्थात् ऐसे मनुष्यकी सारी धन-सम्पत्ति अन्तमें नष्ट हो जाती है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि काम्यकर्मोंका परित्याग संन्यास है और सब शुभकर्मोंके फलका परित्याग त्याग है। परन्तु दूषित कर्मोंका परित्याग उत्तम बताते हुए कहा गया है कि यज्ञ, तपका निष्काम रूपसे करना सर्वोत्तम है। वेदमें भी कहा गया है कि जो मनुष्य मांसाहार-मद्यपानादि दुष्कर्म करनेवाले मनुष्यका अनुकरण करके यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंको नहीं करता वह इस लोकमें प्रभावहीन और मानहीन होकर अपमानित होता है और अन्तमें दुर्व्यसनोंके कारण अन्न, धन, पशु आदि सम्पत्तियोंसे हीन होकर दुखी और लज्जित होता है ।

४. **निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।**
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥

५. **यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।**
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

(भरतसत्तम !) हे भरतकुलमें उत्पन्न हुए मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (तत्र त्यागे) उस काम्य कर्मोंके और सब कर्मोंके फलके त्यागमें, (मे निश्चयं

शृणु) मेरा निश्चय सुन। (पुरुषव्याघ्र !) हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! अथवा महाबलवान् अर्जुन ! (हि) निश्चय ही, (त्यागः) काम्यकर्मोंका त्याग तथा कृतकर्मोंके फलका परित्याग, (त्रिविधः) सात्त्विक, राजस, तामस, इन तीन प्रकारोंवाला, (सम्प्रकीर्तितः) भली प्रकार कहा गया है ॥ ४ ॥

(यज्ञः दानं तपः कर्म) श्रौत-स्मार्तादि यज्ञ, सत्पात्रमें अन्न और धनका दान, स्वाध्यायादि तप, ये कर्म, (न त्याज्यम्) त्यागने नहीं चाहिये। (तत् कार्यम् एव) यज्ञ, दान, तप तीनों कर्म करने ही चाहिये। (यज्ञः दानं च तपः एव) यज्ञ, दान और तप ही, (मनीषिणाम्) सदसद्विवेकी मुमुक्षु पुरुषोंको, (पावनानि) पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

यज्ञो हि त इन्द्र [1]वर्धनो भूदुत प्रियः सुतसोमो मियेधः ।
यज्ञेन यज्ञमव[2] यज्ञियः [3]सन् यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य[4] आवत्[5] ॥

(ऋग्वेदः ३-३२-१२)

(इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (यज्ञः) यज्ञ कर्म अर्थात् देवपूजा, सत्सङ्गति और वेद-मन्त्रों द्वारा श्रौत-स्मार्त यज्ञ, (हि) निश्चय ही, (ते) तुझे, (वर्धनः) बढ़ानेवाला अर्थात् परमात्माके चरणोंकी ओर ले जानेवाला, (भूत्=भवति) होता है, (उत) और, (सुतसोमः) अमृतपद अर्थात् अमरपदके निचोड़को देनेवाला, (मियेधः) सब शुभ कर्मोंका तत्त्वभूत यह यज्ञ, (प्रियः) तेरी भलाई करनेवाला है। (यज्ञियः सन्) नित्य ही निष्काम यज्ञ करनेके योग्य हुआ तू, (यज्ञम्) यज्ञ करनेवाले अन्य मुमुक्षुको, (यज्ञेन) किये जाते हुए यज्ञोत्पन्न कर्मके फलकी प्राप्तिसे, (अव) बचा अर्थात् वह याज्ञिक भी निष्काम भावसे यज्ञ करता रहे। (यज्ञः) यह यज्ञ, (ते) तुझ मुमुक्षु मनुष्यका, (वज्रम्) वज्ररूप होकर, (अहिहत्ये) तेरे पापोंके नाशात्मक कर्ममें, (आ+अवत्=अवतु) चारों ओरसे रक्षा करे।

---

१. वर्धनः—'वृधु वर्धने', ण्यन्तस्य 'नन्दिग्रहि' इत्यादिना ल्युट्प्रत्ययः ।
२. अव—अवतेर्लोटि रूपम् ।
३. सन्—'अस् भुवि', शतरि रूपम् ।
४. अहिहत्ये—'हन् हिंसागत्योः' इत्यस्य भावे 'हनस्त च' इति क्यप् तकारश्चान्तादेशः ।
५. आवत्—'अव रक्षणे', छन्दसि लङि रूपम् ।

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन् मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः ।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः ॥

(ऋग्वेदः १-१२५-७)

(पृणन्तः) निष्कामभावसे अधिकारी प्राणियोंको अन्न और धन आदिका दान देनेवाले दानी मनुष्य, (दुरितम्) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखको, तथा, (एनः) दुष्कर्मजन्य पापको, (मा आरन्) प्राप्त नहीं होते । (सूरयः) दानके महत्त्वको जाननेवाले विद्वान्, (सुव्रतासः) तथा भलीभाँति शुभ नियमोंका पालन करनेवाले या चान्द्रायणादि व्रतोंके करनेवाले मनुष्य, (मा जारिषुः) अन्न-धनकी न्यूनतासे कभी भी जीर्ण नहीं होते अर्थात् अन्न और धनके थोड़ा होनेपर भी नित्य तरुण ही रहते हैं । (तेषाम् अन्यः) उन दानियोंसे भिन्न अर्थात् अधिकारियोंको दान न देनेवाला, (कश्चित्) कोई मनुष्य, (परिधिः अस्तु) सब प्रकारसे पापका धारक अर्थात् पापी होता है, अथवा, (तेषाम्) उन दानी पुरुषोंका, (कश्चित् परिधिः अस्तु) कोई न कोई हर प्रकारसे कवचरूप रक्षक हो जाता है । (अपृणन्तम्) यज्ञ, दान, तप न करनेवाले मनुष्यको, (शोकाः) दुःख और शोक, (अभि-संयन्तु) भलीभाँति चारों ओरसे घेर लेते हैं ।

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः ।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः [1]प्रतिरन्त आयुः ॥

(ऋग्वेदः १-१२५-६)

(दक्षिणावताम्) बहुत प्रकारके अन्न, धन, स्वर्ण, वस्त्रादि दान देनेवालोंके लिए, (इत्) ही, (इमानि) भूमिपर दृष्टिगोचर होनेवाले ये, (चित्रा= चित्राणि) भिन्न-भिन्न प्रकारके एकत्र करनेयोग्य मणिमुद्रादि पदार्थ होते हैं । (दक्षिणावताम्) दान देनेवालोंके लिए, (दिवि सूर्यासः) आकाशमें प्रकाशमान सूर्यकी भाँति सूर्यादि लोक अथवा सूर्यके समान प्रकाशमान अति सुन्दर भोग्य पदार्थ होते हैं । (दक्षिणावन्तः) दानी मनुष्य, (अमृतं भजन्ते) अमर पद अर्थात् अपवर्गको प्राप्त होते हैं क्योंकि यज्ञ और दान करनेसे अमरपद प्राप्त होता है । (दक्षिणावन्तः) दानी मनुष्य, (आयुः) दीर्घायुको, (प्रतिरन्ते) प्राप्त होते हैं ।

---

१. प्रतिरन्ते—प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः ।

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं[1] सामगामुक्थशासम्[2] ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया [3]रराध ॥
(ऋग्वेदः १०-१०७-६)

(तम् एव) उस दानी पुरुषको ही, (ऋषिम्) अतीन्द्रिय विषयोंको देखनेवाला अथवा दैवी सम्पत्तिवाला अथवा शुभ कर्म करनेसे ऋषि संज्ञावाला, (आहुः) सब ज्ञानी जन कहते हैं, (तम् उ) उसी दानी पुरुषको, (ब्रह्माणम्) ब्रह्मको पहचाननेवाला पूर्ण ब्रह्मज्ञानी, (आहुः) कहते हैं। (तं यज्ञन्यम्) उसी दानीको यज्ञ करनेवाले दानियोंका नेता कहते हैं। (तम्) उसी दानी मनुष्यको, (सामगाम् उक्थशासम्) सामवेदका गानेवाला अर्थात् सामवेदका पूर्ण स्वाध्याय करनेवाला तथा सच्छास्त्रोंकी प्रशंसा करनेवाला, (आहुः) कहते हैं, (सः) शुभकर्मोंके ग्रहण करनेसे और सात्त्विक दान देनेसे वह दानी मनुष्य, (शुक्रस्य) स्वप्रकाशसे प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप परमात्माके, (तिस्रः तन्वः वेद) अग्नि-वायु-आदित्यात्मक तीनों स्वरूपोंको जान लेता है, या, (शुक्रस्य) परमात्माके, (तिस्रः तन्वः) आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीनों स्वरूपोंको अर्थात् परमात्माके विराट् रूपको, (वेद) जानता है। (यः प्रथमः) दानी मनुष्योंमें मुख्य जो दानी मनुष्य, (दक्षिणया) ऋत्विगादि याजकोंकी दक्षिणादान द्वारा, (रराध) आराधना करता है, वही मुख्य दानी है।

तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥
(ऋग्वेदः ९-८३-२)

(तपोः) पापोंके तपाने अर्थात् सुखानेवाले तपस्वी मनुष्यका, (पवित्रम्) परमपवित्र अङ्ग अर्थात् आत्मा, (दिवस्पदे) द्युलोकके सबसे ऊँचे स्थानमें, (विततम्) विस्तृत है अर्थात् तपस्वी मनुष्य द्युलोकमें वास करता है। (अस्य) इस तपके, (तन्तवः) तेजरूपी तन्तु, (शोचन्तः) स्वयं प्रकाश करते हुए, (व्यस्थिरन्) विविध प्रकारसे ठहरते हैं। (अस्य) इस तपके कर्मके, (आशवः) शीघ्रगमन करनेवाले रस, (पवीतारम्) दूसरोंको पवित्र

---

१. यज्ञन्यम्—'णीञ् प्रापणे', क्विप् ।
२. उक्थशासम्—'शंसु स्तुतौ', क्विप् । संहितायां दीर्घः छान्दसः ।
३. रराध—'राध संसिद्धौ', लिटि रूपम् ।

करनेवाले यजमानोंकी, (अवन्ति) रक्षा करते हैं। (चेतसा दिवः पृष्ठम् अधितिष्ठन्ति) वे तपस्वी दैवी मनुष्य आत्मस्वरूप चेतनताके साथ द्युलोकके उन्नतभागमें अर्थात् मुक्तिधाममें रहते हैं।

त्रिभिष्ट्वं देव सवितर्वर्षिष्ठैः सोम धामभिः ।
अग्ने दक्षैः पुनीहि नः ॥

(ऋग्वेदः ९-६७-२६)

(देव !) हे स्वयं प्रकाशमान ! (सवितः !) हे जगत्के उत्पादक ! (सोम !) हे अमृतस्वरूप ! (अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (त्वम्) तू, (वर्षिष्ठैः) सबको पवित्र करनेमें परमश्रेष्ठ, (त्रिभिः धामभिः) अपने वासस्थान यज्ञ, दान, तप, इन तीन कर्मोंसे, (नः) हम दास जनोंको, (पुनीहि) पवित्र कर।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्योंको पवित्र करनेवाले और मुक्तिधाममें ले जानेवाले यज्ञ, दान, तप, ये तीनों कर्म सदा करनेयोग्य हैं। इनका परित्याग श्रेष्ठ नहीं है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जीवात्माकी उन्नति करनेवाला यज्ञ सदा करना चाहिये और यज्ञके करनेमें श्रद्धा और प्रीति रखनी-चाहिये। यह यज्ञ वज्ररूप होकर पापरूपी शत्रुओंका नाश करता है। दान करनेसे दानीके पास दुःख नहीं आते, उल्टे, सब पाप नष्ट हो जाते हैं। दानी मनुष्यके निकट शोक नहीं आता, किन्तु दान न करनेवालेको सदा दुःख घेरे रहते हैं। यज्ञोंमें दान देना परमावश्यक है। दक्षिणाके बिना यज्ञ निष्फल हो जाता है। दानी मनुष्य धर्मको साक्षात् करके अर्थात् धार्मिक अवस्थाको पाकर मान्य और मुक्तिके अधिकारी होते हैं।

६. **एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।**
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
७. **नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।**
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥
८. **दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।**
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥
९. **कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।**
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (एतानि) यज्ञ, दान, तप ये तीनों, (अपि) भी, (कर्माणि) कर्म, (सङ्गं च फलं त्यक्त्वा) सङ्ग अर्थात् मैं कर्ता-धर्ता हूँ इस

सम्बन्धको और कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलकी आशाको छोड़कर अर्थात् निष्काम भावसे, (कर्तव्यानि) करने चाहिये। (इति मे) यह मेरा, (मतम् उत्तमं निश्चितम्) मत निश्चयसे उत्तम माना गया है ॥ ६ ॥

(नियतस्य कर्मणः) श्रुति-स्मृति-प्रोक्त सन्ध्योपासनादि और भोजनादि नियत कर्मका, (तु) तो, (न्यासः) परित्याग, (न उपपद्यते) योग्य सिद्ध नहीं होता। (मोहात्) मोह अर्थात् अविचारसे, (तस्य) उस नियत कर्म-का, (त्यागः) छोड़ना, (तामसः) तमोगुणवाला, (परिकीर्तितः) कहा गया है ॥ ७ ॥

(कायक्लेशभयात्) देह-इन्द्रियादि-संघातके क्लेशके भयसे अर्थात् शरीर शिथिल हो जायगा, हस्त-पादादि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य न कर सकेंगी, दिलमें धड़कनें उत्पन्न हो जाएँगी, इत्यादि भयसे, (दुःखम् इति) यह कर्म दुःख उत्पन्न करनेवाला है, इस भावसे, जो मनुष्य, (कर्म) श्रुति-स्मृति-प्रोक्त नियत कर्मको, (त्यजेत्) छोड़ देता है, (सः) वह मनुष्य, (राजसं त्यागम्) रजोगुण-संबन्धी त्याग, (कृत्वा) करके, (त्यागफलम्) त्यागके वास्तविक फलको, (न एव लभेत्) नहीं ही पाता ॥ ८ ॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (कार्यम् इति एव) यह कार्य करनेयोग्य है इस भावसे ही, (यत् कर्म) जो श्रौत-स्मार्तादि कर्म, (नियतम्) नियमपूर्वक, (सङ्गं च फलम् एव) मैं कर्ता-धर्ता हूँ, इस भाववाले संबन्धको और कर्म-जन्य फलको ही, (त्यक्त्वा) छोड़कर, (क्रियते) किया जाता है, (सः त्यागः) वह त्याग, (सात्त्विकः मतः) सात्त्विक कहा गया है ॥ ९ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुर्वेदः ४०-२)

हे जीवात्मन् ! (इह) इस संसारमें अथवा इस मनुष्य जन्ममें, (कर्माणि) श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको अहंता-ममता छोड़कर और कृतकर्मोंके फलकी इच्छासे रहित होकर, (कुर्वन् एव) करता हुआ ही, (शतं समाः) सौ वर्षपर्यन्त, (जिजीविषेत्) जीनेकी इच्छा करे अर्थात् अपनी आयुपर्यन्त राजस-तामस भावको छोड़कर सात्त्विक भावसे सात्त्विक कर्मोंको करता रहे। (एवम्) इस पूर्वोक्त प्रकार कहे हुए भावसे अर्थात् सात्त्विक त्यागसे यज्ञ, दान, तप आदि शुभकर्मोंको करते हुए, (त्वयि नरे) सात्त्विक त्यागवाले तुझ सात्त्विक मनुष्यमें, (कर्म) यज्ञ, दान तप आदिका किया हुआ

काम, (न लिप्यते) तेरे बन्धन अर्थात् पुनर्जन्म-मरणका हेतु नहीं बनता। (इतः) इस उक्त प्रकारसे भिन्न, (अन्यथा) अन्य कोई प्रकार कर्ममें लिप्त होनेके लिये, (न) नहीं है अर्थात् लौकिक फल-भोगकी आकांक्षासे कर्मको करता हुआ तो पुनः जन्म-मरण-बन्धनको प्राप्त होता ही है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि यज्ञ, दान, तप ये तीनों कर्म मनुष्यके मनको पवित्र करते हैं। फल-प्राप्तिकी इच्छा छोड़कर कर्म करना सात्त्विक त्याग कहा गया है। शरीर-क्लेशकी भावनाके कारण कर्म दुःखमय है, इस भावसे जो मनुष्य कर्मका त्याग करता है वह त्यागके फलको नहीं पाता। फलेच्छा रखकर किया हुआ कर्म राजस त्याग कहा गया है तथा आवश्यक और नियत कर्मोंका त्याग तामस कहा गया है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मनुष्य अपनी आयुपर्यन्त यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म अहंता और ममतासे रहित होकर और कृतकर्मके फलकी इच्छा छोड़कर करता है, वह मनुष्य कृतकर्मोंके फलके बन्धनमें या जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं पड़ता।

१०. न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी च्छिन्नसंशयः॥
११. न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

हे अर्जुन! (त्यागी) सात्त्विक त्याग करनेवाला, (सत्त्वसमाविष्टः) सत्त्वगुणमें अच्छी रीतिसे मिला हुआ, (मेधावी) ब्रह्मज्ञानात्मक धारणाशक्ति-वाली बुद्धिसे युक्त, (छिन्नसंशयः) अनात्म-प्रतिपादक-बुद्धिजन्य संशयोंसे रहित अर्थात् सब संशयोंसे रहित त्यागी मुमुक्षु, (अकुशलम्) अशुभ कर्मोंसे, (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता, और, (कुशले) कुशलके साधन यज्ञ, दानादि कर्मोंमें, (न अनुषज्यते) आसक्त नहीं होता॥ १०॥

(देहभृता) देहधारी प्राणीसे, (अशेषतः कर्माणि) नित्य-नैमित्तिक सब कर्म, (त्यक्तुं न हि शक्यम्) निश्चयसे नहीं छोड़े जा सकते। (यः तु) जो मनुष्य, (कर्म-फलत्यागी) यज्ञ, दान, तप इन कर्मोंके फलकी प्राप्तिका परि-त्याग करनेवाला है, (सः त्यागी इति अभिधीयते) वह त्यागी है, ऐसा योगि-जनोंसे कहा जाता है॥ ११॥

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः॥

(ऋग्वेदः १-६-८)

(सहस्वत्) निष्काम कर्म करनेमें साहस रखनेवाला, (मखः) नियत रूपसे यज्ञ करनेवाला मनुष्य, (अभिद्युभिः) जगत्‌में प्रकाश करनेवाले अर्थात् परम प्रसिद्धि पाए हुए, (अनवद्यैः) अहंता-ममता और राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित, (काम्यैः) अवश्य करनेयोग्य अर्थात् अति प्रिय, (गणैः) यज्ञ, दान, तपके समूहोंसे, (इन्द्रस्य=इन्द्रम्) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्माकी, (अर्चति) पूजा करता है अर्थात् सात्त्विकभावपूर्वक सात्त्विक त्यागसे सेवा करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सात्त्विक त्यागी सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण निकृष्ट कर्मोंसे घृणा नहीं करता और शुभ कर्मको लम्पटतासे नहीं करता, क्योंकि कोई भी देहधारी जीव कर्मको नहीं छोड़ सकता। वह कोई न कोई कर्म करता ही रहता है। अतः कर्मफलका त्याग करनेवालेको ही त्यागी कहते हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो सात्त्विक मनुष्य सात्त्विक त्यागसें यज्ञ, दान और तप द्वारा शुद्ध भावसे परमात्माकी सेवा करते हैं वही सात्त्विक त्यागी कहे जाते हैं।

१२. अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

१३. पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥

१४. अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

(अत्यागिनाम्) कर्मकी संगति और कर्म-फलकी प्राप्तिका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके, (कर्मणः) किये हुए यज्ञ, दान, तप इन कर्मोंके, (अनिष्टम्) बुरे, (इष्टम्) इच्छित अर्थात् प्रिय, (च मिश्रम्) और अच्छे-बुरे दोनों अर्थात् कभी सुख, कभी दुःख, ऐसे मिश्रित, (त्रिविधं फलम्) तीनों प्रकारके फल, (प्रेत्य भवति) मृत्युके अनन्तर होते हैं, (न तु) न कि, (क्वचित्) कभी, (संन्यासिनां भवति) कर्म-फलका त्याग करनेवाले मनुष्योंका यह त्रिविध कर्म-फल होता है॥ १२॥

(महाबाहो !) हे बड़ी भुजाओंवाले बलवान् अर्जुन ! (अधिष्ठानम्) सुख-दुःख भोगनेका स्थान अर्थात् देह, (तथा) और, (कर्ता) कर्ता-भोक्ता मैं ही हूँ, ऐसा अभिमान करनेवाला अर्थात् जीवात्मा, (च पृथग्विधं करणम्) और भिन्न-भिन्न प्रकारवाला बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका साधन

अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय और मन एवं बुद्धि ये कर्म-साधन, (च विविधाः पृथक् चेष्टाः) और नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न प्राण-अपानादि चेष्टाएँ अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकारसे भिन्न-भिन्न प्रयत्न, (अत्र च एव) और इसीमें, (दैवं पञ्चमम्) पूर्वजन्ममें किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मको दैव कहा गया है, यह पाँचवाँ दैव, (एतानि पञ्च कारणानि) ये पाँच साधन, (सर्वकर्मणां सिद्धये) सब शुभाशुभ कर्मोंकी सिद्धिके लिए, (साङ्ख्ये) सम्यक्तया आत्मा-नात्मतत्त्व-प्रतिपादक ज्ञान-साधन वेदान्त-शास्त्रमें, (कृतान्ते) आत्म-अनात्म-तत्त्वका निर्णय करनेवाले अथवा श्रौत-स्मार्त कृत कर्मोंके फलकी समाप्ति बतानेवाले शास्त्रमें या सुनने और मनन करनेका फल बतानेवाले सिद्धान्तमें, (प्रोक्तानि) कहे हुए इन पाँचोंको, (मे निबोध) मुझसे भलीभाँति जान ॥ १३-१४ ॥

पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन ।
अक्षरेण प्रतिमिम एतामृतस्य नाभावधि संपुनामि ॥

(ऋग्वेदः १०-१३-३)

(रुपः) पूर्वजन्मकृत कर्मरूप बीजसे संसारमें उत्पन्न हुआ मैं जीवात्मा, (पञ्च पदानि) पाँच पादों, अधिष्ठानों यानी देह, कर्तृत्व, करण—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, चेष्टा, दैव, इन पाँचों स्थानोंपर, (अनु आरोहम्) प्राप्त होता हूँ, (व्रतेन) यज्ञ, दान और तपरूप व्रतद्वारा या यम, नियम, दान, नियम, तप द्वारा, (चतुष्पदीम्) कर्तृत्व, करणत्व, चेष्टात्व और दैवत्व इन चार पदोंको, (अन्वेमि) बार-बार प्राप्त होता हूँ। (अक्षरेण) फिर अविनाशी ब्रह्मकी उपासनासे, (एताम्) ओंकारोपासनात्मक इस पद्धतिको, (प्रतिमिमे) पूर्णतया माप लेता हूँ अर्थात् जान लेता हूँ। (ऋतस्य नाभौ) फिर सत्यस्वरूप त्रिकालाबाध्य परमात्माके मुक्तिधाममें अथवा सत्यके भीतर अथवा सांसारिक यशमें, (सं-पुनामि) अपने आपको भलीभाँति पवित्र करता हूँ। पवित्र होकर परमात्माके चरणोंमें प्राप्त होता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि विषयासक्त मनुष्य अपने किये हुए सकाम कर्मोंके दुःखात्मक तथा सुखात्मक अथवा सुख और दुःख-मिश्रित अर्थात् सुख-दुःख दोनों फल भोगता है, परन्तु सात्त्विक परित्यागी जन कृतकर्मोंके फलको नहीं भोगते, क्योंकि वे मुक्त हो जाते हैं। सांसारिक और पारमार्थिक कर्मोपभोगके लिये देह, कर्ता, करण, भिन्न-भिन्न प्रयत्न और दैव, ये पाँच मुख्य कारण माने

गये हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि प्रत्येक प्राणीके लिये पाँच स्थान सांसारिक-पदार्थोपभोगके लिए अथवा मुक्तिप्राप्तिके लिए शरीर, कर्तृत्व, आभ्यन्तर-बाह्य साधन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टायें और दैव, ये पाँचों मुख्य साधन हैं। इनसे छूटकर मनुष्य मुक्ति पाता है।

१५. शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

१६. तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

१७. यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

हे अर्जुन ! (नरः) मनुष्य, (शरीरवाङ्मनोभिः) शरीर, वाणी और मनसे, (न्याय्यम्) न्यायवाले अर्थात् विधिशास्त्रसे बताए हुए, (यत् कर्म) जिस कर्मको, (वा) या, (विपरीतम्) नीति-विरुद्ध अर्थात् शास्त्रसे निषिद्ध किये हुए, (यत्कर्म) जिस कर्मको, (प्रारभते) करता है, (तस्य) शास्त्र-सिद्ध उस शुभ कर्मके अथवा शास्त्रविरुद्ध उस दुष्कर्मके, अथवा निमेष, चेष्टा आदिके, (एते पञ्च) अधिष्ठान यानी देह, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव, ये पाँच, (हेतवः) कारण होते हैं॥ १५॥

(तत्र) उस शुभ वा अशुभ कर्मकर्तृत्वमें, (एवं सति) अधिष्ठानादि पाँचों कारणोंके होनेपर, (यः) जो मनुष्य, (तु) तो, (केवलम् आत्मानम्) एकमात्र जीवात्माको निश्चयसे, (कर्तारम्) उस-उस शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका करनेवाला, (अकृतबुद्धित्वात्) धर्माधर्मविवेकशून्य होनेसे अथवा आत्मतत्त्वज्ञान-शून्य होनेसे, (पश्यति) देखता है अथवा जानता है, (सः दुर्मतिः) वह मन्दबुद्धि पुरुष, (न पश्यति) भलीभाँति नहीं देखता अथवा नहीं जानता॥ १६॥

(यस्य) जिस आत्मतत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषका, (अहङ्कृतः भावः न) मैं ही कर्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, ऐसा अहंकारात्मक विचार नहीं है, (यस्य) अहंकारसे रहित जिस ज्ञानी पुरुषकी, (बुद्धिः) कर्म-कर्तृत्वकी वृत्तिवाली बुद्धि अर्थात् मैंने ही यह शुभ वा अशुभ काम किया है, इस विचारवाली बुद्धि, (न लिप्यते) लिपटी हुई नहीं होती, (सः) ऐसा वह ज्ञानी मनुष्य, (इमान् लोकान् हत्वा अपि) युद्धमें सम्मुखस्थ गुरु, ब्राह्मण, पितामह, भाई-बन्धु आदिको मारकर

भी अथवा अपने हाथसे इन सबका संहार करके भी, (न हन्ति) न किसीको मारता है, (न निबध्यते) और न ही उस कार्यके शुभ वा अशुभ फलसे बाँधा जाता है अर्थात् वह शुभ और अशुभ फलसे रहित होता है ॥ १७ ॥

नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम् ।
नकिर्वक्ता न दादिति ॥

(ऋग्वेदः ८-३२-१५)

(अस्य) मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, इस अहंकारभावसे रहित आत्मतत्त्ववेत्ताके, (सूनृतानाम्=असूनृतानां वा) शुभ अथवा अशुभ, (शचीनाम्—धीः शचीति कर्मनामसु पाठः—निघण्टु) कर्मोंका, (नियन्ता) नियामक अर्थात् शुभ वा अशुभ फल देनेवाला, (न किः) कोई नहीं है, क्योंकि ज्ञानी सबको विश्वरूपका स्वरूप समझता है, अतः वह रागद्वेष-बुद्धिसे रहित होता है। (अस्य न किः वक्ता) तू ऐसा कर, ऐसा न कर, ऐसा भी कहनेवाला उपदेष्टा कोई नहीं है। (न दात् इति) इसलिए इसका शुभ वा अशुभ फलदाता कोई नहीं है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शरीर, मन और वाणीसे शुभ वा अशुभ जो कर्म किया जाता है, देहादि पाँच उसके साधन हैं। जो मनुष्य केवल जीवात्माको कर्ता-भोक्ता मानता है, वह ज्ञानशून्य है, जो मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' इत्यादि अहंकारसे रहित होकर कर्म करता है, जिसके मन और बुद्धि मोहमें नहीं फँसते, वह धर्मयुद्धमें पूज्य गुरु-भ्रातादि संबन्धियोंको मारकर भी शुभाशुभ कर्मके फल-संबन्धमें नहीं आता। वेदमें भी यही कहा गया है कि तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषको शुभ वा अशुभ कर्मका फल नहीं मिलता, क्योंकि वह सारे संसारको विश्वरूप देखता है। अतः उसे कोई भी 'तू ऐसा कर, ऐसा न कर' ऐसा उपदेश नहीं देता और न कोई उसे शुभ वा अशुभ कर्मका फल देता है।

१८. ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥

१९. ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

हे अर्जुन ! (ज्ञानम्) इच्छित अर्थात् प्रिय, अनिच्छित अर्थात् अप्रिय रूप-रसादि विषयोंका तथा ईप्सित-अनीप्सित द्रव्य-गुणादिका बोध ज्ञान कहा गया है। (ज्ञेयम्) जाननेयोग्य अर्थात् द्रव्य-गुणादिका विषय, (परिज्ञाता) ज्ञान और ज्ञेय दोनोंका ज्ञाता आत्मा, (त्रिविधा) तीन प्रकारकी, (कर्मचोदना)

कर्म-प्रवृत्ति है, जब मनुष्य किसी कर्मको करना चाहता है, तब इन बातोंकी आवश्यकता होती है। (करणम्) बाह्य और आभ्यन्तर वागादि इन्द्रिय साधन, (कर्म) अत्यन्त अभीष्ट क्रियमाण कर्म, (कर्ता) स्वतन्त्र करनेवाला अर्थात् आत्मा, (त्रिविधः) यह तीन प्रकारवाला, (कर्मसङ्ग्रहः) कर्म-संग्रह परमावश्यक है ।। १८ ।।

(गुणसङ्ख्याने) सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणका वर्णन करनेवाले सांख्य-शास्त्रमें, (ज्ञानम्) पदार्थके तत्त्वका जानना, (च कर्म) और श्रौत-स्मार्तादि कर्म, (च कर्ता) और काम करनेवाला अर्थात् जीवात्मा, (गुणभेदतः) सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणोंके भेदसे ये तीनों अर्थात् ज्ञान, ज्ञेय, कर्ता, (त्रिधा एव) तीन प्रकारके ही, (प्रोच्यते) कहे जाते हैं। (तानि अपि) गुणभेदवाले ज्ञान, ज्ञेय, कर्ता इन तीनोंको भी, (यथावत्) यथार्थरूपमें, (शृणु) सुन ।। १९ ।।

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ।।

(ऋग्वेदः ९-९७-३४)

(वह्निः) संसारको धारण करनेवाला ज्योतिःस्वरूप परमात्मा, (तिस्रः वाचः) तीन वचनोंको अर्थात् यज्ञ, दान, तपको अथवा कर्मकी प्रवृत्तिके लिये ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता और कर्मसंग्रहके लिए अर्थात् कर्म करनेके लिये करण, कर्म, कर्ता, इन तीनोंको, (प्र ईरयति) भली प्रकार प्रेरित करता है। संसारमें जीवनयात्रा-निर्वाह करनेके लिये यज्ञ, दान, तप, इन तीनोंका, कर्ममें प्रवृत्त होनेके लिये ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाताका तथा कर्मसंग्रहके लिये कर्म करनेका साधन क्या हो, कौनसा कर्म किस-किस साधनसे किया जाय और कर्ता कर्मको किस प्रकार करे, ईश्वरने इसका उपदेश दिया है। हे मनुष्यो ! (ऋतस्य) सर्वव्यापक सत्यस्वरूप परमात्माकी, (धीतिम्) धारण की हुई ज्ञानस्वरूप, (ब्रह्मणः) वेदकी, (मनीषाम्) मनको वश करनेवाली शुद्ध बुद्धि अर्थात् वेदवाणीके ज्ञानको प्राप्त होओ। (गावः) जीवात्माकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, (गोपतिम्) इन्द्रियोंके स्वामी मनको, (यन्ति) प्राप्त होती हैं, क्योंकि करणरूप होकर विषयोंको मनतक पहुँचाती हैं, (मतयः) परमात्मासे शुभ कर्मके लिये मानी हुई यज्ञ, दान, तप, कर्म अथवा ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता तथा करण, कर्म, कर्ता इस बातको माननेवाले बुद्धिमान् मनुष्य, (वावशानाः) यज्ञ, दान, तप करनेकी

कामना करते हुए, (पृच्छमानाः) मन और आत्मासे ज्ञान, कर्म, तप आदि पूछते हुए अर्थात् करते हुए, (सोमम्) अमृतरूप और शान्तस्वरूप परमात्माको, (यन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्ता ये भी तीन-तीन प्रकारके हो जाते हैं—सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान, तामस ज्ञान; ऐसे ही सात्त्विक कर्म, राजस कर्म, तामस कर्म तथा सात्त्विक कर्ता, राजस कर्ता, तामस कर्ता। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्माने वेदवाणी द्वारा तीन-तीन त्रिक अर्थात् यज्ञ, दान, तप और ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता तथा करण, कर्म और कर्ता बताये हैं। जो मनुष्य यज्ञ-दानादि कर्मोंको ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय भावसे तथा कर्म, करण और कर्तृत्वके विचारसे करता है, वह परमात्माके चरणोंमें प्राप्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

२०. सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(सर्वभूतेषु) हे अर्जुन ! जो मनुष्य अव्यक्त पदार्थसे लेकर स्थूल स्थावर और जङ्गम पदार्थोंमें, (येन) जिस ज्ञानसे, (एकम्) भेदभावसे रहित एक रूप, और, (अव्ययम्) न खर्च होनेवाले अर्थात् न्यून न होनेवाले, (विभक्तेषु) विभागवाले अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें, (अविभक्तम्) विभागरहित अर्थात् सबमें व्यापकरूप, (भावम्) प्रत्यगात्मस्वरूप अर्थात् सब एकरूप, (ईक्षते) देखता है, (तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि) उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान जान॥२०॥

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥

(ऋग्वेदः २-१२-९)

(जनासः) राजस ज्ञानी वा तामस ज्ञानी मनुष्य, (यस्मात्) जिस सात्त्विक ज्ञानके, (ऋते) विना, (न विजयन्ते) सांसारिक युद्धपर विजय नहीं पाते अर्थात् संसारसे विमुक्त नहीं होते [क्योंकि सात्त्विक ज्ञानी ही मुक्ति पाते हैं], (युध्यमानाः) परमात्मासे विमुख करनेवाली संसारोन्मुखी इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके साथ युद्ध करते हुए अथवा सात्त्विक ज्ञान और सत्त्व-गुणकी प्राप्तिके लिये रजोगुण और तमोगुणोंसे युद्ध करते हुए सात्त्विक ज्ञानी, (अवसे) रजोगुण और तमोगुणसे अपनी रक्षा करनेके लिये, (यम्) जिस सत्त्वगुणको

अथवा जिस परमात्माको अथवा प्रत्यगात्मस्वरूप वृत्तिको, (हवन्ते) बुलाते हैं अर्थात् ध्यान करते हैं, (यः) जो सत्त्वगुण वा प्रत्यगात्मस्वरूप, (विश्वस्य) सारे जगत्का, (प्रतिमानं बभूव) प्रतिनिधि अर्थात् प्रतिरूप होता है, (यः) जो सत्त्वज्ञानी मनुष्य, (अच्युतच्युत्) रजोगुण और तमोगुणसे न गिरनेवाले अर्थात् रजोगुण और तमोगुणमें स्थिर वृत्तिवाले मनुष्योंको रजोगुण और तमोगुणसे गिरानेवाला है अर्थात् रजोगुणी और तमोगुणी मनुष्योंको भी सत्त्वगुणी बना देनेवाला है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः इन्द्रः) वह सत्त्वगुणसे प्रकाशमान सात्त्विक ज्ञानी है।

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति ॥

(ऋग्वेदः १-१८-७)

(यस्मात् ऋते) जिन सत्त्वज्ञानके बिना, (विपश्चितश्चन) रजोगुणी अथवा तमोगुणी या राजसी ज्ञानी या तामसी ज्ञानी पुरुषको, (यज्ञः) [यज्ञो वै विष्णुः] विष्णूपलब्धि अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति, (न सिध्यति) सिद्ध नहीं होती [राजसी और तामसी ज्ञानी मुक्ति नहीं पाते], (सः) वह सात्त्विक ज्ञानी मनुष्य, (धीनां योगम्) सात्त्विक ज्ञानवाली बुद्धियोंके योगको, (इन्वति) प्राप्त होता है।

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्में कहा गया है—

शुद्धसुवर्णस्य कटकमुकुटाङ्गदभेदाः। यथा वा समुद्रसलिलस्य स्थूलसूक्ष्मतरङ्गफेनबुद्बुदकरकलवणभेदाः। यथा भूमेः पर्वतवृक्षतृणगुल्मलताद्यनन्ताः वस्तुभेदाः तथाद्वैतपरमानन्द-लक्षणपरब्रह्मणो मम सर्वाद्वैतसम्पन्नं भवत्येव। (८-१)

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य सूक्ष्म-स्थूल सब पदार्थोंमें विश्वरूप ब्रह्माको देखता है वह सात्त्विक ज्ञानी है। वेद और उपनिषद्में भी यही कहा गया है कि राजस या तामस ज्ञानी परमात्माके चरणोंमें नहीं जा सकते। उनका कोई कार्य पूरा सिद्ध नहीं होता। सात्त्विक ज्ञानी ही संसार-को विश्वरूप देखता है और विश्वरूप देखनेसे मुक्तिपदको पाता है।

२१. **पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।**
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तत् ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

२२. यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

हे अर्जुन ! (सर्वेषु भूतेषु) नाना प्रकारकी वासनाओंसे युक्त देव, ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृपादि सब देहोंमें, (यत् ज्ञानम्) जिस ज्ञानको, (पृथक्त्वेन) प्रति देहकी भिन्नतासे, (पृथग्विधान्) सुख-दुःखादिसे परस्पर भिन्न-भिन्न, (नानाभावान्) अनेक भाव या लक्षणोंवाले जीवोंको भिन्न-भिन्न, (वेत्ति) जानता है, (तत् ज्ञानम्) प्राणियोंके उस ज्ञानको, (राजसं विद्धि) रजोगुणी जान ॥ २१ ॥

(एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत्) एक ही भूतकार्यमें परिपूर्णकी भाँति, (सक्तम्) जितना यह देहमात्र है इतना ही आत्मा अथवा परमात्मा है, इस लगनवाला अर्थात् इस निश्चयसे युक्त, (अहेतुकम्) युक्तिसे रहित, (अल्पम्) थोड़ा अर्थात् निकृष्ट, (अतत्त्वार्थवत्) मिथ्या विषयवाला, (यत् तु ज्ञानम्) जो ज्ञान है, (तत्) वह, (तामसम् उदाहृतम्) तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

पूर्णतः समन्वित होनेवाला मन्त्र कोई नहीं मिला। परन्तु **'यस्मान्न ऋते'** (**अथर्ववेदः** २०-३४-९) में सत्त्वगुणका प्रतिपादन तथा रजोज्ञानका लक्षण प्राप्त होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब देहोंमें प्रतिदेहकी भिन्नतासे कोई सुखी, कोई दुखी, इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेक भाववाले जीवोंको भिन्न-भिन्न जाननेवाला ज्ञान राजस ज्ञान है तथा एक ही भूतकार्यमें परिपूर्ण माननेवाला, मिथ्या पदार्थमें सत्यता माननेवाला मनुष्य तामस ज्ञानवाला है। वेदमें भी सात्त्विक ज्ञानके लक्षणोंसे भिन्न सांसारिक मायामें फँसानेवाले ज्ञानको राजस और तामस ज्ञान कहा गया है।

२३. नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥

२४. यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥

२५. अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम्॥

(नियतम्) श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित सन्ध्योपासनादि आवश्यक कर्म, (सङ्गरहितम्) मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ, इस संबन्धसे रहित, (अरागद्वेषतः कृतम्) राग

ओर द्वेषसे रहित होकर किया हुआ, (अफलप्रेप्सुना) फलकी इच्छासे रहित होनेसे, (यत् कर्म कृतम्) जो कर्म किया जाता है, (तत् सात्त्विकम् उच्यते) वह सात्त्विक कर्म कहा जाता है ।। २३ ।।

(कामेप्सुना) किये हुए कर्मके फलकी इच्छासे, (वा) अथवा, (साहङ्कारेण) मैं इस कामको करता हूँ इस अभिमानके साथ, (पुनः) फिर, (बहुलायासे) बहुत परिश्रमवाला, (यत् कर्म क्रियते) जो काम किया जाता है, (तत्) वह कर्म, (राजसम् उदाहृतम्) राजस कहा गया है ।।२४।।

(अनुबन्धम्) भविष्यत्कालमें अनिष्ट फल देनेवाला, (क्षयम्) किये जानेवाले काममें धनका नाश, बलका नाश और पुण्यका नाश, (हिंसाम्) प्राणियोंका नाश, (च पौरुषम्) और अपना सामर्थ्य, (अनवेक्ष्य) न देखकर अर्थात् अपने सामर्थ्यका विचार न करके, (यत् कर्म) जो काम, (मोहात्) मोहात्मक अज्ञान अथवा अविचारसे, (आरभ्यते) आरम्भ कर दिया जाता है, (तत्) वह कर्म, (तामसम् उदाहृतम्) तामस कहा गया है ।। २५ ।।

कोई स्पष्ट मन्त्र नहीं मिला ।

२६. मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।

२७. रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।

२८. अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।

हे अर्जुन ! (मुक्तसङ्गः) जो मनुष्य किये हुए कर्मोंके फलके संगको नहीं रखता अर्थात् ब्रह्मार्पण कर्म करता है, (अनहंवादी) मैं ही इस कर्मका कर्ता-धर्ता हूँ, इस कथनसे रहित है, (धृत्युत्साहसमन्वितः) धन और बलके खर्च होनेपर धैर्य रखनेवाला, कर्म करनेकी इच्छामें उत्साह रखनेवाला अर्थात् धैर्य और उत्साहवाला है, (सिद्ध्यसिद्ध्योः) अपने कार्यकी सफलता अथवा असफलतामें, (निर्विकारः) विकारसे रहित अर्थात् हर्ष और शोकसे रहित है, ऐसा, (कर्ता) काम करनेवाला मनुष्य, (सात्त्विकः उच्यते) सात्त्विक कहा गया है ।। २६ ।।

(रागी) किये कर्मके फलमें राग रखनेवाला अर्थात् विषयोपभोगमें प्रेम रखनेवाला, (कर्मफलप्रेप्सुः) कर्मके फलरूप पुत्र-धनादि पानेकी इच्छावाला,

(लुब्धः) दूसरोंके धनको पानेका लालची, (हिंसात्मकः) दूसरोंका घातक, (अशुचिः) शरीर और मनको शास्त्र-विधिके अनुसार शुद्ध न रखनेवाला, (हर्षशोकान्वितः) कार्यकी सिद्धिमें हर्ष और कार्यकी असिद्धिमें शोक करनेवाला, (कर्ता) कार्य करनेवाला, (राजसः परिकीर्तितः) राजस कर्ता कहा गया है ।। २७ ।।

(अयुक्तः) इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होनेसे सब शुभ कर्मोंके करनेमें योग न देनेवाला, (प्राकृतः) शास्त्रके ज्ञानसे शून्य होनेसे कार्याकार्य-विवेक-रहित अर्थात् प्राकृतिक पदार्थोंमें प्रेम रखनेवाला, (स्तब्धः) नम्रतासे रहित अर्थात् अकड़ा हुआ, (शठः) हठमें आकर बहुत आग्रह रखनेवाला, धूर्त, (नैष्कृतिकः) दूसरोंको ठगनेवाला, (अलसः) अवश्य कर्तव्य कार्योंमें भी प्रवृत्ति न करनेवाला, (विषादी) दुखी अर्थात् चित्तमें क्लेश रहनेसे सदा व्याकुल रहनेवाला, (च) और, (दीर्घसूत्री) शीघ्र करनेयोग्य काममें भी विलम्ब करनेवाला, ऐसा, (कर्ता) काम करनेवाला मनुष्य,(तामसः उच्यते) तामस कहा जाता है ।। २८ ।।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ।।

(अथर्ववेदः ६-४५-१)

(मनस्पाप !) तमोगुण और रजोगुणसे मिले हुए राजस ज्ञान और तामस ज्ञानद्वारा उत्पन्न हुए हे मानसिक पाप ! तू, (परः अपेहि) मेरे मनसे दूर हो, मैं शुद्ध मनद्वारा सात्त्विक ज्ञानको प्राप्त करके सात्त्विक कर्मकर्ता बनूं । (अश-स्तानि किं शंससि) तू मुझे 'इस बूरे कामको कर और अमुक जीवका हनन कर' ऐसी बुरी बातोंकी शिक्षा क्यों देता है ? (परेहि) दूर हट, मुझे राजस-तामस ज्ञानमें फँसाकर मुझसे बुरे कर्म मत करा जिससे मैं राजस और तामस कर्ता न बनूँ, (त्वा न कामये) इसलिये पापकर्ममें फँसानेवाले तुझको मैं नहीं चाहता। (वृक्षान् वनानि संचर) हे तम-अज्ञानरूपी पाप ! तू वृक्षों अर्थात् पुनः-पुनः काटे जानेवाले अर्थात् वृक्षोंकी भाँति जन्म-मरणमें वास करने-वाले स्थावर-रूप तामसी जीवोंमें तथा सदसद्विवेकहीन केवल वनस्वरूप तामस-राजस ज्ञानवाले पुरुषोंमें विचर । (मे मनः) मुझ सात्त्विक कर्ताका मन, (गृहेषु) अपने देहरूपी सात्त्विक घरमें, (गोषु) सात्त्विक वृत्तिवाली इन्द्रियोंमें रहे ।

तुलना—गीतामें सात्त्विक कर्ता, राजस कर्ता, तामस कर्ताके स्वरूपका स्पष्टतया वर्णन किया गया है। वेदमें भी कहा गया है कि मानसिक पापसे

बहुत प्रकारके अनिष्ट उत्पन्न होते हैं। तामसी वृत्तिको दूर करनेका उपदेश देते हुए बताया गया है कि सात्त्विक वृत्तिवाला सात्त्विक कर्ता, राजसी वृत्तिवाला राजस कर्ता और तामसी वृत्तिवाला तामस कर्ता होता है।

२९. बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥

३०. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(धनञ्जय!) हे अर्जुन! (बुद्धेः) बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण-वृत्ति, विशेषके, (भेदम्) भेदको, (च एव धृतेः भेदम्) और धैर्यके भेदको ही, (अशेषेण) पूर्णतासे, (पृथक्त्वेन) भिन्न-भिन्न प्रकारसे, (प्रोच्यमानम्) मुझसे पूर्ण रीतिसे कहे गए, (गुणतः) सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण स्वरूपसे, (त्रिविधं शृणु) तीन प्रकारका सुन॥ २९॥

(पार्थ!) हे पृथाके पुत्र अर्जुन! (या बुद्धिः) जो बुद्धि, (प्रवृत्तिम्) कौनसे विषयमें कैसे प्रवृत्त होना चाहिये, इस प्रकारके विचारपूर्वक विषयोंमें प्रवेशको, (च निवृत्तिम्) और किन-किन विषयोंसे दूर रहना चाहिये इस विचारपूर्वक विषयोंसे निवृत्तिको, (कार्याकार्ये) कर्तव्य कार्य और अकर्तव्य कार्यको, (भयाभये) अनर्थ करनेवाले भयको तथा कल्याण करनेवाले अभयको, (बन्धम्) सांसारिक पदार्थोंसे बन्धनको, (च मोक्षम्) और बन्धन करनेवाले सांसारिक पदार्थोंसे मोक्ष अर्थात् छूटनेको या मुक्तिको, (वेत्ति) जानती है, (सा बुद्धिः सात्त्विकी) वह सत्त्वगुणवाली बुद्धि है॥ ३०॥

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ धियमत्नत[1]।
तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र[2] उक्था[3] समग्मतार्चन्ननु[4] स्वराज्यम्[5]॥
(ऋग्वेदः १-८०-१६)

---

१. अत्नत—'तनु विस्तारे', 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणलुक्, 'तनिपत्योश्छन्दसि' इत्युपधालोपः।

२. पूर्वथा—'प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि' इति इवार्थे पूर्वशब्दात् थाल्प्रत्ययः।

३. उक्था—'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः।

४. समग्मत—'समो गम्यृच्छिभ्याम्' इत्यात्मनेपदम्, लुङि 'मन्त्रेघस—'इति च्लेर्लुक्, 'गमहन' इत्युपधालोपः।

५. स्वराज्यम्—राज्ञः भावः कर्म वा राज्यम्, 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इति यक्।

(अथर्वा) कायिक, वाचिक, मानसिक हिंसासे रहित, (मनुः) शास्त्र-प्रतिपादित विधि और निषेध-वाक्योंको माननेवाला, (पिता) इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका पालन करनेवाला, (दध्यङ)हृदयमें वन्धन और संसार-से मुक्तिके नियमोंको धारण करनेवाला मनुष्य अर्थात् सात्त्विकी बुद्धिवाला मनुष्य, (यां धियम्) जिस सात्त्विकी बुद्धिको, (अत्नत) विस्तारित करता है, (तस्मिन्) उस सात्त्विक बुद्धिवाले, (इन्द्रे) जीवात्मा (ब्रह्माणि उक्था =उक्थानि) ब्रह्म-प्रतिपादक स्तुतिशास्त्र, (पूर्वथा) पूर्वजन्मकी भाँति, (सम्-अग्मत) सम्यक्तया प्राप्त होते हैं। (स्वराज्यम्) सात्त्विकी बुद्धिके धारण करनेसे जीवात्मा अपने प्रकाश अर्थात् मोक्षको, (अनु+अर्चन्) प्रकाशित करता हुआ संसारमें बर्तता है।

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्ववंती।
यदीमुशन्तमुशतामनु ऋतुमग्नि होतारं विदथाय जीजनन् ॥

(अथर्ववेदः १८-१-२०)

(सा उ) हे जीवात्मन् ! वह सात्त्विकी बुद्धि ही, (चित् नु)निश्चय ही, (भद्रा) शुभ अर्थात् मनुष्यका कल्याण करनेवाली, (क्षुमती) शुभ क्षमात्मक गुणवाली, (यशस्वती) दूसरोंमें यशको देनेवाली, (उषा) हिंसक प्राणियों-को भी अपने सात्त्विक गुणसे वशमें करनेवाली अथवा सब पदार्थोंके गुण-दोषोंको उषाके समान प्रकाशित करनेवाली, (स्ववंती) सुखस्वरूप होकर, (मनवे) मनुष्यमात्रके लिये, (उवास) संसारमें वास करती है। (यत्)जो,(उशताम्) संसारमें बहुत प्रकारकी कामनाओंकी इच्छा करनेवालोंमें-से, (उशन्तम्) वेद-ज्ञान द्वारा सात्त्विकी बुद्धिकी इच्छा करनेवाले, (क्रतुम्) वेद-प्रतिपादित सात्त्विकी बुद्धि द्वारा निष्काम कर्म करनेवाले, (ईम्) इस सात्त्विकी बुद्धिवाले, (होतारम्) सात्त्विकी बुद्धिसे यज्ञ करनेवाले और दान देनेवाले परमात्म-पूजक, (अग्निम्) स्वज्ञानाग्निसे प्रकाशमान अर्थात् सात्त्विकी बुद्धिसे प्रकाशित जीवात्माको, (विदथाय) शुभमार्ग जतलानेके लिये, (जीजनन्) प्रकट हुई है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो बुद्धि शुभ कार्यमें प्रवृत्ति, अशुभ कार्य-से निवृत्ति, करनेयोग्य कर्म और न करनेयोग्य कर्म तथा इस वस्तुसे भय होगा, इससे अभय मिलेगा, इन बातोंको तथा संसार-बन्धन और संसारसे मुक्तिको जानती है, वह सात्त्विकी बुद्धि है। वेदमें कहा गया है कि निश्चय ही वह सात्त्विकी बुद्धि है जिसके द्वारा शारीरिक, वाचिक, मानसिक सुख प्राप्त हो

और क्षमता गुणका मनमें प्रवेश हो, संसारमें यश और दूसरोंको सद्विचारोंसे प्रकाशित करे। वह संसारमें मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये प्रकट हुई है।

३१. यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

३२. अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (यया) जिस बुद्धिसे, (धर्मम्) शास्त्रसे बनाया हुआ और मनुष्यमात्रको अपने-अपने विचारसे धारण करनेवाले धर्मको, (च अधर्मम्) और जीवको अधोगतिमें ले जानेवाले अधर्मको, (कार्यम्) देश-कालके अनुसार कर्तव्य कर्मको, (च अकार्यम् एव) और न करनेयोग्य कर्मको ही, (अयथावत् प्रजानाति) यथार्थ भावसे मनुष्य नहीं जानता, (सा राजसी बुद्धिः) वह राजसी बुद्धि कही जाती है ॥ ३१ ॥

(या) जो बुद्धि, (तमसावृता) अज्ञानान्धकारसे घिरी हुई, (अधर्मं धर्मम् इति मन्यते) अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म अर्थात् विनश्वर देहको आत्मा मानती है, (सर्वार्थान्) सब विषयोंको, (विपरीतान्) उलट-पुलट मानती है, (पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (सा तामसी) वह तामसी बुद्धि कही जाती है ॥ ३२ ॥

स्पष्टतया कोई मन्त्र नहीं मिला।

३३. धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

३४. यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

३५. यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (योगेन) चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योगसे, (अव्यभिचारिण्या) न दूषित होनेवाली, लगातार एक स्वरूपमें रहनेवाली, (यया धृत्या) जिस धारणाशक्तिसे, (मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः) मन योग-समाधिको छोड़कर दूसरे विषयकी ओर न जाय एतदर्थं मनकी चेष्टाको, प्राण-अपानादि वायुकी चेष्टाको और ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियोंकी चेष्टाको, (धारयते) धारण करती है, (सा सात्त्विकी धृतिः) वह सात्त्विकी धृति कही गई है ॥ ३३ ॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (प्रसङ्गेन) धर्मके प्रसङ्गसे अर्थात् इस कार्यके करनेसे धर्म होता है, मनुष्य मुझे धर्मात्मा कहेंगे, इस प्रसङ्गसे, (फलाकाङ्क्षी) धैर्यसे उत्पन्न होनेवाले फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य, (यया तु) जिस धृतिसे तो, (धर्मकामार्थान्) धर्म, कामना और धन अर्थात् त्रिवर्गको, (धारयते) धारण करता है, (पार्थ !) हे अर्जुन ! (सा राजसी धृतिः) वह राजसी धृति है ॥ ३४ ॥

(पार्थ !) हे अर्जुन ! (दुर्मेधाः) दुष्टबुद्धि अर्थात् तामसी बुद्धिवाला मनुष्य, (यया धृत्या) जिस धारणा-शक्तिसे, (स्वप्नं भयं शोकम्) बुरे-बुरे स्वप्नोंको, भय और शोकको, (विषादम्) तापत्रयसे जन्य व्याकुलताको, (च मदम्) और विषयोंके प्रमादसे उत्पन्न मस्तीको, (न एव विमुञ्चति) नहीं ही छोड़ता अर्थात् सदा शोक और दुःखोंमें पड़ा रहता है, (सा तामसी धृतिः) वह तामसी धृति अर्थात् तमोगुणवाली धृति कही गई है ॥ ३५ ॥

इन तीनों श्लोकोंके वेदमन्त्र प्राप्त नहीं हुए ।

३६. सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥

३७. यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

३८. विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

३९. यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

(भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (इदानीं तु) अब तो, (त्रिविधम्) सात्त्विक, राजस, तामस, तीन प्रकारके, (सुखम्) सुखको, (शृणु) सुन, (यत्र) जिस सुखमें, (अभ्यासात्) यम-नियमादि और आसनादिके अभ्याससे मनुष्य, (रमते) रमण करता है, (च) और, (दुःखान्तं निगच्छति) दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

(यत्) जो सुख, (अग्रे) कार्यके आरम्भकालमें, (विषम् इव) विषकी भाँति मारनेवाला अर्थात् कठोर प्रतीत होता है, (च) और, (परिणामे) अन्तमें अर्थात् ज्ञानकी परिपक्वावस्थामें, (अमृतोपमम्) अमृत जैसा सुख देनेवाला होता है, (आत्मबुद्धिप्रसादजम्) आत्मज्ञान-संबन्धिनी बुद्धि अर्थात् आत्म-

ज्ञानकी प्रसन्नतासे और शुद्धतासे अथवा मन और बुद्धिकी निर्मलतासे उत्पन्न, (तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्) वह सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

(यत्) जो सुख, (अग्रे) कार्यके आरम्भकालमें, (विषयेन्द्रियसंयोगात्) रूप-रसादि विषयोंका चक्षुरादि इन्द्रियोंके संयोगसे, (अमृतोपमम्) अमृत जैसा सुखदायक प्रतीत होता है, (परिणामे) अन्तिम अवस्था अर्थात् फल-प्राप्ति-के समयमें, (विषम् इव) विष जैसा मारक होता है, (तत् सुखं राजसं स्मृतम्) वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

(यत्) जो सुख, (अग्रे) आरम्भकालमें, (च) और, (अनुबन्धे) परि-णाममें, (आत्मनः) सदसद्विवेकात्मक विचार-शक्ति अथवा मनको, (मोहनम्) मोहित करनेवाला, (निद्रालस्यप्रमादोत्थम्) नींद और आलस्य अर्थात् प्रत्येक कर्तव्य कार्यमें विलम्ब और प्रमादसे उत्पन्न है, (तत् तामसम् उदाहृतम्) वह तामस सुख कहा गया है ॥ ३९ ॥

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन्नन्यान्या अर्कमभितोविशन्त ।
वृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीराविवेश ॥

(अथर्ववेदः १०-८-३)

(ह) निश्चितरूपसे द्युलोक और पृथिवी लोकमें अर्थात् समग्र चराचर जगत्में, (तिस्रः प्रजाः) सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणवाली तीन प्रकारकी सृष्टि, (अत्यायम्) पूर्वदेहको छोड़कर दूसरे देहमें जन्म पाकर, (आयन्) संसारमें आ जाती हैं, (अन्याः) सत्त्वगुणवाली सृष्टि अर्थात् प्रजा, (अर्कम् अभितः) पूजनीय परब्रह्मके समीप, (अविशन्त) प्रवेश करती हैं अर्थात् मुक्त हो जाती हैं। (ह) निश्चय ही रजोगुणात्मिका प्रजा, (वृहन् रजसः विमानः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न लोकविशेषको मापता हुआ, (तस्थौ) ठहरता है अर्थात् सब प्रकारके सुखवाले घरमें वास करता है। (हरिणीः) सांसारिक विषयोंको अपनी ओर आहरण करती हुई तमोगुणी तीसरी सृष्टि, (हरितः) दूसरोंकी सम्पत्तिको हरने अर्थात् पराये द्रव्यको हड़पनेवाली, (आविवेश) संसारमें पुनः पुनः जन्म लेकर प्रवेश करती है। भावार्थ यह है कि संसारमें सत्त्व-गुणवाली, रजोगुणवाली और तमोगुणवाली तीन प्रकारकी सृष्टि है।

तुलना—गीतामें जैसे सात्त्विक, राजस, तामस, तीन प्रकारके सुखका वर्णन किया गया है वैसे वेदमें भी इन्हीं तीन प्रकारकी सृष्टिका वर्णन किया गया है। तीन प्रकारकी सृष्टिके तीन प्रकारके सुख भी अर्थात् सिद्ध हैं।

४०. न तदस्ति पृथिव्यां या दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

हे अर्जुन ! (पृथिव्याम्) इस भूमण्डलमें, (वा) या, (दिवि) स्वर्ग अथवा आकाशमें, (देवेषु) ब्रह्मेन्द्र-वरुणादि देवताओंमें और सूर्य-चन्द्रादि देवोंमें, (तत् द्रव्यम्) वह पदार्थ अर्थात् कोई स्थावर-जङ्गम पदार्थ, (न अस्ति) नहीं है अर्थात् भूमिसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, (यत्) जो पदार्थ, (प्रकृतिजैः) प्रकृतिसे उत्पन्न अर्थात् प्राकृतिक, (एभिः त्रिभिः गुणैः) सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन गुणोंसे, (मुक्तम्) छूटा हुआ अर्थात् रहित, (स्यात्) हो। कोई पदार्थ इन प्राकृतिक तीन गुणोंसे रहित नहीं है। किसीमें सत्त्वगुण अधिक, रजोगुण और तमोगुण थोड़ा, किसीमें रजोगुण अधिक, सत्त्वगुण और तमोगुण थोड़ा और किसी पदार्थमें तमोगुण अधिक और सत्त्वगुण और रजोगुण थोड़ा होता है ॥ ४० ॥

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥

(ऋग्वेदः ४-५८-३)

(अस्य) इस विराट्रूप ब्रह्मके अथवा भूमिपर वास करनेवाले इस मानव-वंशके, (चत्वारि शृङ्गा) १ आर्त, २ जिज्ञासु, ३ अर्थार्थी, ४ ज्ञानी, ये चार मनुष्य सींगरूप हैं। जैसे पशुके सिरपर ऊपर उठे हुए सींग सामने दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही परमात्माको पानेकी इच्छावाली मानव जातिमें ये चार सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। अतः ये चार शृङ्गरूप हैं। (त्रयः पादाः) इस मानव-जातिके लिये १ कर्मयोग, २ भक्तियोग, ३ ज्ञानयोग, ये परमात्माके चरणोंमें जानेके लिये तीन पाँव हैं। (द्वे शीर्षे) १ इन्द्रिय-निग्रह और सन्तोष या राग-द्वेष अथवा हानि-लाभादि द्वन्द्व दोषोंका परित्याग इस मानवजातिके सिर हैं। (अस्य) इस मानवजातिके, (सप्तहस्तासः) १ काम, २ क्रोध, ३ मद, ४ लोभ, ५ अहङ्कार, ६ स्पर्धा, ७ असूया, ये सात हाथ हैं। या १ दम्भ, २ दर्प, ३ अभि-मान, ४ क्रोध, ५ पारुष्य (कठोरता), ६ सदसद्विवेकाभाव अर्थात् अज्ञान, और ७. अज्ञानजन्य कार्य, ये सात हाथ हैं, अथवा १ चोरी, २ व्यभिचार (परस्त्रीगमन), ३ ब्रह्महत्या, ४ गर्भहत्या, ५ दुष्कर्म, ६ पातकके विषयमें झूठ बोलना, और ७ किसीपर झूठा पातक लगाना, ये सात हाथ हैं। ऋग्वेदमें आया है—सप्तः मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् (१०-५-६)। इस मन्त्रकी व्याख्यामें यास्क मुनिने स्तेय, परदारगमनादि ७ पातक आसुरी

जीवोंके लिये दिखाये हैं। परन्तु दैवी जीवोंकी सात मर्यादायें इनसे विपरीत समझनी चाहिए, जैसे—अस्तेय, पातिव्रत्य, पत्नीव्रत धर्म, ब्राह्मणसेवा, गर्भरक्षा, सत्कर्ममें प्रवृत्ति, मद्य न पीना, किसीपर झूठा पातक न लगाना, ऐसे दम्भादि सात दोषोंके विपरीत होनेसे दैवी जीवोंकी मर्यादा कही गई है। प्रकारान्तर-से दैवीजीवोंकी ७ मर्यादाएँ महर्षियोंने इस प्रकार कही हैं—यज्ञ, दान, तप, सत्त्वशुद्धि, स्वाध्याय, सत्यभाषण और जीवोंपर दया। श्रीमद्भगवद्गीतामें जो दैव तथा आसुर भूतसृष्टि बताई गई है उसमें-से वेदमें दैवी जीवका नाम आर्य और आसुरी जीवका नाम दस्यु है। अतः आसुरी जीवोंके काम करनेके लिये ७ हाथ और हैं और दैवी जीवोंके काम करनेके लिये और ७ हाथ हैं। (वृषभः) प्राणी और अप्राणी सब, (त्रिधा बद्धः) सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन गुणोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे बँधे हुए, (रोरवीति) उन गुणोंसे छूटनेके लिये अर्थात् त्रिगुणात्मक होनेके लिये परमात्मासे पुकार करते हैं अर्थात् सांसारिक कोई भी पदार्थ इन तीन गुणोंसे रहित नहीं है। (महो देवः) ज्योतिःस्वरूप परमात्मा, (मर्त्यान् आविवेश) मनुष्यों और अमनुष्योंमें व्यापकरूपसे रहता है। परमात्मा सारे विराट् रूपमें वास करता हुआ भी त्रिगुणबद्ध नहीं है अर्थात् वह त्रिगुणातीत है।

दूसरी व्याख्या—(अस्य) इस मनुष्यके, (चत्वारि शृङ्गा) १ चित्त, २ बुद्धि, ३ अहङ्कार और ४ मन, ये चार सींग हैं, (त्रयः पादाः) १ ज्ञान, २ कर्म, ३ उपासना, ये तीन चरण हैं, (द्वे शीर्षे) अनन्त और सान्त ये दो सिर हैं, (अस्य सप्त हस्तासः) इसके हाथ सात प्राण हैं, (त्रिधा बद्धः) सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणोंसे बँधा हुआ, (वृषभः) जीवात्मा, (रोरवीति) सांसारिक पाशोंसे बँधा हुआ अत्यन्त ऊँचे स्वरसे परमात्माको पुकारता है। (महो देवः) परमात्मा, (मर्त्यान् आविवेश) मरण धर्मवाले सब पदार्थोंमें व्यापक रूपसे वास करता है। निरुक्तकार यास्कने इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार यज्ञपरक लिखा है—(अस्य) इस यज्ञके, (चत्वारि शृङ्गा) ऋक्, साम, यजुः, अथर्व ये चार वेद सींग है। (त्रयः पादाः) मध्याह्न, प्रातः, सायं, ये तीन इस यज्ञके पाँव हैं। (द्वे शीर्षे) प्रायणीय और उदनीय ये दो सिर हैं। (अस्य सप्त हस्तासः) अनुष्टुप् आदि सात छन्द इस यज्ञके सात हाथ हैं। (त्रिधा बद्धः) मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प इन तीनोंसे बँधा हुआ, (वृषभः) काम-नाओंको बरसानेवाला अर्थात् कामनाओंको देनेवाला यह यज्ञ, (रोरवीति) ऋग्, यजुः, साम और अथर्वके मन्त्रोंसे ऊँचा शब्द करता है। (महो देवः मर्त्यान् आविवेश) यही बड़ा देवतारूप यज्ञ सबमें प्रवेश करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि पृथिवी, आकाश और स्वर्गमें, प्राणी और अप्राणी अर्थात् सब पदार्थोंमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणोंमें-से कोई गुण न हो अर्थात् प्रत्येक पदार्थमें कोई न कोई गुण रहता ही है। वेदमें भी यही कहा गया है कि प्रत्येक पदार्थ सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, इनसे अवश्य बँधा हुआ है। अतः जीवात्मा त्रिगुणात्मक मायिक संसारसे छूटनेके लिये परमात्मासे प्रत्येक समय पुकार करता है, क्योंकि परमात्मा त्रिगुणातीत होनेसे सबमें व्यापक रूप-से वास करता है।

४१. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
४२. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(परन्तप !) हे शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन ! (ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके, (च) और, (शूद्राणाम्) शूद्रोंके, (स्वभाव-प्रभवैः) अपने-अपने जन्मके साथ पूर्वजन्मकृत कर्मोंसे उत्पन्न, (गुणैः) गुणोंसे, (कर्माणि) अपने कर्म, (प्रविभक्तानि) विभक्त हुए हैं॥ ४१॥

(शमः) अन्तःकरणमें शान्ति रखना, (दमः) चक्षुरादि इन्द्रियोंका दमन अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना, (तपः) ब्रह्मचर्यादि द्वारा कायिक, वाचिक, मानसिक तपश्चर्या, (शौचम्) बाह्य और आभ्यन्तर शारीरिक शुद्धि, (क्षान्तिः) धन, जन और बलकी शक्ति होनेपर भी सहनशीलता, (च) और, (आर्जवम्) मनकी सरलता अर्थात् किसीके साथ कुटिलताका बर्ताव न करना, (ज्ञानम्) सदसद्विवेक रखना, (विज्ञानम्) ईश्वर-साक्षात्कारका बोध अर्थात् परमात्माके दर्शनका अनुभवात्मक ज्ञान, (आस्तिक्यम्) वेद-शास्त्रके वचनोंपर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास, (ब्रह्मकर्म) ब्राह्मणका कर्म, (स्वभावजम्) पूर्वकर्मानुसार जन्मके साथ ही स्वयं उत्पन्न होता है॥ ४२॥

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥

(ऋग्वेदः १०-७१-८)

(यत्=यदा) जो, (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण वर्णवाले मनुष्य, (हृदा) चित्त-वृत्तिसे, (तष्टेषु) सूक्ष्मसे सूक्ष्म आत्मसम्बन्धी विचारमें लाए हुए, (मनसः जवेषु) मनकी दौड़-धूपसे बचकर शान्ति, संयम, इन्द्रिय-निग्रहके वेगोंमें,

(सखायः) समान-रूप होकर अर्थात् समदृष्टिवाले होकर, (संयजन्ते) संसारमें भली प्रकारसे यजन करते हैं अर्थात् अपनी जीवन-यात्रा चलाते हैं, (अत्र) इस ब्राह्मण-समुदायमें, (वेद्याभिः) जाननेयोग्य शम-दमादि प्रवृत्तियोंमें-से, (त्वम्) एकको अर्थात् केवल जन्ममात्रसे ब्राह्मणको, (वि जहुः) शम-दम-शान्ति-ज्ञान-विज्ञानोंने छोड़ दिया अर्थात् वह जन्मका ब्राह्मण रहा। (त्वे) कई एक दूसरे, (ओह=आ+ऊह) सब प्रकारसे तर्क द्वारा, (ब्राह्मणः) ब्रह्म अर्थात् वेद-शास्त्रके जाननेवाले ब्राह्मण अर्थात् श्रुति, स्मृति और बुद्धिद्वारा, (विचरन्ति) संसारमें विचरते हैं।

शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः ॥
(ऋग्वेदः ७-५६-८)

हे ब्राह्मणो ! (वः) तुम्हारा, (शुष्मः) शम, दम, तप, शौच, ज्ञान, विज्ञानादि बल, (शुभ्रः) शुभ्र अर्थात् निष्कलङ्क है। (वः मनांसि) तुम्हारे मन, (क्रुध्मी) अशान्ति, अज्ञान, अक्षमता आदि दुर्गुणोंपर सदा क्रुद्ध रहते हैं अर्थात् अशान्ति आदि दुर्गुणोंको पासतक नहीं फटकने देते। तब, (धृष्णोः शर्धस्य) शम, दम आदिसे विरुद्ध क्रोधकी शक्तिका, (धुनिः) वेग, (मुनिः इव) मुनिकी भाँति मननपूर्वक कार्य करने लगता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शान्ति, इन्द्रिय-वृत्ति-दमन, क्षान्ति, ऋजुता, ज्ञान और विज्ञान ये ब्राह्मण वर्णके स्वाभाविक कर्म हैं। वेदमें भी यही कहा गया है कि ब्राह्मण हृदयद्वारा चित्तवृत्तियोंको सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर शम-दमादि द्वारा परमात्माके ध्यानमें मग्न रहते हैं, क्रोध, अशान्ति आदि शत्रुओंका भलीभाँति दमन करते हैं और प्रत्येक शुभ कार्यको शुभ मनसे मननपूर्वक करते हैं।

४३. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

हे अर्जुन ! (शौर्यम्) युद्धमें शूरता, (तेजः) दूसरोंपर अपना प्रभाव डालनेका सामर्थ्य, (धृतिः) कठिनसे कठिन कार्य पड़ जानेपर अथवा आपत्ति आ जानेपर धैर्य रखना, (दाक्ष्यम्) शतशः विघ्नोंके उपस्थित होनेपर भी कार्य करनेमें निपुणता, (च) और, (युद्धे अपि अपलायनम्) युद्धमें भी पीठ दिखाकर शत्रुके डरसे न भागना, (दानम्) अधिकारियोंको धन, अन्न, वस्त्रादिका दान देना, (च) और (ईश्वरभावः) प्रजाका स्वामी होना अर्थात्

न्यायानुसार प्रजास्वामी होकर प्रजाका पालन और रक्षा करना, (स्वभावजं क्षात्रं कर्म) क्षत्रियोंका पूर्वजन्मके कर्मानुसार स्वाभाविक कर्म है ॥ ४३ ॥

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाढः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥

(सामवेदः उ. ६-२-११-२)

हे क्षत्रिय ! (शूरग्रामः) शूर-वीरों के समूहवाला, (सर्ववीरः) सब शूर-वीर सहायकोंवाला, (सहावान्) कठिनसे कठिन समयमें भी सहनशीलता रखनेवाला अर्थात् सहन करनेवाला, (जेता) युद्धमें शत्रुओंपर विजय पानेवाला अर्थात् युद्धसे न भागनेवाला, (धनानि सनिता) अधिकारी जनोंको धन-दान देनेवाला, (तिग्मायुधा) तीक्ष्ण शस्त्र और अस्त्र रखनेवाला, (क्षिप्रधन्वा) तेजीसे चलनेवाले धनुषोंको रखनेवाला, (समत्सु) युद्धावस्थामें, (अषाढः) दूसरे शत्रुके आक्रमणको न सहन करनेवाला अर्थात् प्रत्याक्रमण करनेवाला और डटकर युद्ध करनेवाला, (पृतनासु) शत्रुसेनाओंमें, (शत्रून्) शत्रुओंको, (साह्वान्) दबाता हुआ तू, (पवस्व) क्षत्रिय जातिको पवित्र कर अर्थात् क्षात्रधर्मका पालन करनेसे अपने आपको पवित्र कर ।

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः ।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥

(ऋग्वेदः ७-२०-३)

(युध्मः) योधा, (अनर्वा) युद्धमें पीठ दिखाकर मृत्युके भयसे युद्ध-स्थलसे न भागनेवाला, (खजकृत्) युद्ध करनेवाला, (शूरः) शूरतासे युक्त, (जनुषा सत्राषाड्) जन्मसे ही क्षत्रिय-जन्म होनेसे युद्धमें अधिकसे अधिक शत्रुओंको दबानेवाला, (अषाळ्हः) स्वयं किसीसे न पराजित होनेवाला अर्थात् विजेता, (स्वोजाः) अपने बल और पराक्रमवाला, (इन्द्रः) ऐसे सर्वैश्वर्यवाला क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न जीवात्मा, (पृतनाः) शत्रुओंकी सेनाओंको, (व्यासे) अस्त-व्यस्त अर्थात् तितर-बितर कर देता है, (अध) और, (विश्वं शत्रूयन्तम्) शत्रुओंके समान आचरण करनेवाले सब मनुष्योंको, (जघान) नष्ट कर देता है ।

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥

(यजुर्वेदः १-७-७)

(अग्ने !) हे अति तेजस्वी स्वरूपवाले क्षत्रिय जीवात्मन् ! (त्वम्) तू, (यातुधानान्) प्रजाको पीडित करनेवाले राक्षस स्वभाववाले शत्रुओंको, (उपबद्धान्) दृढतासे लोह-शृंखलासे बाँधकर, (इह) दण्डनीय मनुष्योंवाले इस कारागारमें, (वह)धारण कर अर्थात् इसमें बन्दी कर दे । (अथ) फिर, (एषाम्) प्रजाको पीड़ा देनेवाले इन शत्रुओंके, (शीर्षाणि) सिरोंको, (इन्द्रः) सब ऐश्वर्यवाला तू क्षत्रिय राजा, (वज्रेण) कठोर अस्त्रसे, (वृश्चतु) काट डाल ।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे
राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधी महारथो जायताम्‌ · · ॥

(यजुर्वेदः २२-२२)

(ब्रह्मन् !) हे परमात्मन् ! (राष्ट्रे) हमारे देशमें, (ब्राह्मणः) ब्राह्मण वर्ण, (ब्रह्मवर्चसी) वेदवेत्ता, वेदवक्ता तथा पूर्ण ब्रह्मचर्यसे तेजस्वी, (आजायताम्) उत्पन्न होवे । (राजन्यः) क्षत्रिय, (शूरः) निर्भय और शौर्ययुक्त, (अतिव्याधी) व्याधियोंसे दूर रहनेवाला अर्थात् स्वास्थ्ययुक्त अथवा शत्रुओंको व्याधिरूप प्रतीत होनेवाला, (इषव्यः) बाण चलानेमें अति निपुण अर्थात् बाण द्वारा लक्ष्यका वेध करनेवाला, (महारथः) और महारथी होकर सेनाओंको चलानेवाला, (आजायताम्) उत्पन्न हो ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि क्षात्रधर्मके गुण शूरता, तेजस्वी होना, शत्रुओंके आक्रमणसे न घबराना अर्थात् धैर्य रखना, युद्धमें निपुणता दिखाना, युद्धस्थलसे शत्रुके भयसे न भागना, दान देना और राज करनेकी शक्ति रखना हैं । वेदमें भी यही कहा गया है और प्रभुसे प्रार्थना भी यही की गई है कि ब्राह्मण वेद और शास्त्रोंका ज्ञाता होकर सदुपदेशक बने। क्षत्रिय, शूर और तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रोंका चलानेवाला, युद्धस्थलसे शत्रुके भयसे न भागनेवाला, प्रजापीडक राक्षसी स्वभाववाले मनुष्योंको बन्दी बनाकर उन्हें मृत्युदण्ड देनेवाला, प्रजाके सुखके लिए देशमें शान्ति-स्थापन करनेवाला तथा शुद्ध भावसे प्रजाका पालन करनेवाला बने ।

४४. कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

हे अर्जुन ! (कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम्) खेती, गोरक्षा और व्यापार करना, (स्वभावजम्) स्वभावसे उत्पन्न हुआ, (वैश्यकर्म) वैश्य वर्णका काम है ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ॥

(ऋग्वेदः १०-३४-१३)

हे वैश्य ! (अक्षैः मा दीव्यः) तू पासोंसे द्यूतक्रीडा मत कर अर्थात् जुआ या सट्टा द्वारा धन कमानेका प्रयत्न मत कर। (कृषिम् इत् कृषस्व) हल चला अर्थात् खेती कर, जिससे अन्न उत्पन्न होगा, अन्न-विक्रय द्वारा तुझे बहुत धन मिल जायगा। (बहु मन्यमानः) इस कामसे अपने आपको धन्य अर्थात् अच्छा मानता हुआ, (वित्ते रमस्व) अन्न द्वारा उत्पन्न हुए धनसे रमण कर।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह [1]पोषयिष्णुः ।
[2]रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः [3]सदेम ॥

(अथर्ववेदः ३-१४-६)

(गावः) हे गौओ ! (मया गोपतिना) गोपालक अथवा गौओंके रखवाले गोसेवक मुझ वैश्यसे, (सचध्वम्) मिल जाओ अर्थात् मेरी सेवाको स्वीकार करो। (इह) इस लोक अथवा इस मेरे घरमें, (अयं गोष्ठः वः) यह तुम्हारे रहनेका स्थान अर्थात् गोशाला, (पोषयिष्णुः) मुझसे पुष्ट करनेयोग्य हो अर्थात् मैं तुम्हारे रहनेके स्थानको शुद्ध रखूँ। (रायस्पोषेण) धनकी समृद्धिसे, (बहुला भवन्तीः) बहुत होकर, (जीवन्तीः) चिरकाल तक जीवन धारण करती हुई, (वः) तुम गौओंको, (जीवाः) जीते हुए हम वैश्य जीव, (उपसदेम) अपने पास रखें अर्थात् चिरकालतक तुम्हारी सेवा करते रहें।

इन्द्रमहं वणिजं [4]चोदयामि स न ऐतु पुर एता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं [5]परिपन्थिनं मृगं स [6]ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥

(अथर्ववेदः ३-१५-१)

(अहम्) व्यापार करनेवाला मैं वैश्य, (इन्द्रम्) सर्वैश्वर्यसम्पन्न, (वणिजम्) व्यापारीको, (चोदयामि) व्यापार करनेके लिए प्रेरणा देता हूँ। (सः) व्यापारके लिए प्रेरित हुआ वह धनी व्यापारी, (नः आ एतु) हममें

---

१. पोषयिष्णुः—पोषयतेः 'णेश्छन्दसि' इति इष्णुच् प्रत्ययः ।

२. रायस्पोषेण—'षष्ठ्याः पतिपुत्र—' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम् ।

३. सदेम—सदेराशीर्लिङि, 'लिङ्याशिषि' इति अङ्प्रत्ययः ।

४. चोदयामि—'चुद प्रेरणे' ।

५. परिपन्थिनम्—'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि' इति इनिप्रत्ययान्तो निपातितः ।

६. ईशानः—'ईश ऐश्वर्ये' ।

आ मिले अर्थात् हम व्यापारी अपना यूथ बना लें और वह हमारे साथ मिलकर व्यापार करे। (ईशानः सः) धनी व्यापारियोंका प्रधान बनकर महाश्रेष्ठी वह, (मह्यम्) मुझ साधारण व्यापारीके लिये, (धनदाः) विशेष व्यापारके हेतु धनदाता, (अस्तु) हो। (सः) वह प्रधान सेठ, (परिपन्थिनं मृगम् अरतिम्) व्यापारियोंको लूटनेवाले सिंहकी भाँति हिंसक वृत्ति रखनेवाले डाकू शत्रुको, (नुदन्) दूर करता हुआ हमारी रक्षा करे।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी सञ्चरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ।।

(अथर्ववेदः ३-१५-२)

(ये) जो, (बहवः) बहुत, (देवयानाः पन्थानः) देवताओं अथवा आर्य पुरुषोंके चलनेयोग्य मार्ग यानी राजमार्ग, (द्यावापृथिवी अन्तरा) आकाश और पृथिवीके मध्यमें, (सञ्चरन्ति) प्रत्येक नगरमें विचरते हैं अर्थात् प्रत्येक नगरके समीपसे जाते हैं, (ते) वे राजमार्ग, (माम्) मुझ व्यापारी वैश्यको, (पयसा) जल अथवा दूध, (घृतेन) तथा घृतादि पुष्टिकारक पदार्थके साथ, (जुषन्ताम्) प्राप्त हों, (यथा) ताकि मैं दूर देशोंमें जाकर, (क्रीत्वा) दुग्ध-घृत-मेवादि पदार्थ क्रय करके, (धनानि आहराणि) बहुत-सा धन कमाकर ले आऊँ।

सा विट् सुवीरा मरुद्भिरस्तु सनात् सहन्ती पुष्यन्ती नृम्णम्।
यामं येष्ठाः शुभा शोभिष्ठाः श्रिया संमिश्ला ओजोभिरुग्राः ।।

(ऋग्वेदः ७-५६-३)

(सा विट्) कृषक, गोरक्षक तथा व्यापार करनेवाली वह वैश्य जाति, (मरुद्भिः) मनुष्योंके साथ, (सुवीरा) व्यापारके निमित्त देश-विदेशमें जानेके लिए वीरता रखनेवाली अर्थात् व्यापार-वीर बनी हुई, (सनात्) आरम्भसे ही, (सहन्ती) गृहवियोग, दैहिक कष्ट और व्यापारके निमित्त धनका खर्च सहन करती हुई, (नृम्णं पुष्यन्ती=पुष्णन्ती) सब मनुष्योंका धन-सम्पत्ति द्वारा पालन-पोषण करनेवाली, (अस्तु) हो अर्थात् होती है। (यामं येष्ठाः) व्यापारके लिए गन्तव्य मार्गपर चलनेवाले ये सब वैश्य, तथा, (शुभाः) शुभ व्यापारिक वृत्तिवाले अर्थात् कपट द्वारा धन न कमानेवाले, (शोभिष्ठाः) धन-सम्पत्ति और स्वर्णादिकी अधिकतासे अत्यन्त शोभायमान, (श्रिया संमिश्लाः=संमिश्राः) लक्ष्मी और शोभा अर्थात् पूर्ण प्रभावसे युक्त होकर, (ओजोभिः) ओज अर्थात् पराक्रमसे, (उग्राः) उग्ररूप अर्थात् धनोपार्जन करनेमें कठोर हों।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि खेती, गोपालन और गोरक्षा करना तथा व्यापारी वृत्ति रखना, यह वैश्य जातिका स्वाभाविक धर्म है। वेदमें भी यही कहा गया है कि द्यूत-व्यापार द्वारा धन कमानेके लिए सट्टेबाजी न करना, खेती-बाड़ी करना, खेती द्वारा शुभ धन कमाना, उत्पन्न किये अन्न द्वारा दूसरे जीवोंका पालन करना, गौओंकी रक्षा और पालन करना, दुग्धादिकी वृद्धि द्वारा अपनी और गौओंकी पुष्टि करना, जिस पुष्टि द्वारा बैल हलको भलीभाँति खींच सकें, गौ-बैल आदि पशुओंकी रक्षा और वासके लिए शुद्ध स्थान बनाना, दूर-दूरके देशोंमें व्यापार द्वारा पदार्थोंका क्रय-विक्रय करना, व्यापारी संस्था बनाकर एक बड़े धनीको प्रधान चुनना और उसकी आज्ञाका पालन करना, व्यापार-से उत्पन्न हुए लाभको दूसरे सदस्योंमें विभक्त कर देना और व्यापार द्वारा राजकोषकी वृद्धि करना, यह सब वैश्योंका स्वाभाविक धर्म है।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

हे अर्जुन ! (शूद्रस्यापि) शूद्रका भी, (परिचर्यात्मकम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा देशवासी सब जीवोंकी शिल्प कर्म द्वारा सेवा करना, (स्व-भावजं कर्म) स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥

(अथर्ववेदः ३-८-४)

(इह इत् असाथ) परमात्मा राजा द्वारा शूद्र जातिको उपदेश देता है कि हे शूद्रो ! तुम इसी नगर और इसी देशमें रहो। क्षत्रियोंके समान युद्ध-भूमिमें युद्ध करनेके लिये मत जाओ, प्रत्युत युद्धके समय तुम यहाँ रहकर अस्त्र-शस्त्रादि तथा विस्फोट पदार्थ तैयार करो। इसी प्रकार वैश्योंके समान व्यापार करनेके लिये बाहर मत जाओ। यहाँ उनकी यात्राके लिये शकटादि वाहन तैयार करो। अतः, (परः न गमाथ) इस देशको छोड़कर दूर देश-देशान्तरोंमें मत जाओ। (ईर्यः गोपाः) खेती करनेसे अन्नादि पदार्थोंका उपजानेवाला, तुम्हारी जीवनयात्राको शुभ रूपसे चलानेवाला गो-सेवक वैश्य, (पुष्टपतिः) तुम्हारे पुष्टिकारक अर्थात् पालन-पोषण करनेवालोंका स्वामी, क्षत्रियराज अथवा राजा, (वः आजत्) तुम सबको अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सेवकोंको ठीक मार्गपर चलाता है। (विश्वे देवाः) सब देवता अथवा दैवी गुणवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब विद्वान्, (अस्मै कामाय) शिल्पी जन

अपनी शिल्पकलामें पूरे रहें, इसी इच्छासे, (कामिनीः) उनकी इच्छा-शक्तियाँ, (वः) तुम शिल्पियोंकी ओर, (उपसंयन्तु) प्राप्त हों अर्थात् शिल्प-कलाकी वृद्धिके लिये धनादि पदार्थोंकी विशेष आवश्यकता होनेपर वे सहायक बने रहें।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी सेवा करना शूद्र जातिका स्वाभाविक कर्म है। वेदमें भी यही कहा गया है कि राजा शूद्र जाति अर्थात् शिल्पियोंको उपदेश देता है कि तुम अपने-अपने नगर और अपने देशमें रहो। क्षत्रियोंके समान युद्धभूमिमें और व्यापारियोंके समान धन कमानेके लिये विदेश मत जाओ। वैश्य और क्षत्रिय इसी देशमें तुम्हारा साथ देंगे अर्थात् तुम्हारी सहायता करेंगे। तुम उनके लिये अस्त्र-शस्त्रादि तथा रथ-शकटादि वाहन तैयार करो। वे धनादिसे तुम्हारे सहायक बने रहेंगे।

४५. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

४६. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

हे अर्जुन! (नरः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णोंका प्रत्येक मनुष्य, (स्वे स्वे कर्मणि) शम-दमादि, धृति-शौर्यादि, कृषि-व्यापारादि सेवा-धर्मोंमें अर्थात् अपने-अपने अधिकारवाले कर्ममें, (अभिरतः) लगन रखता हुआ, (संसिद्धि लभते) अपने-अपने धर्मपर आरूढ होकर कर्म करनेके अनुसार ब्रह्म-प्राप्ति-रूप सिद्धिको पा लेता है। (यथा) जिस प्रकार, (स्वकर्मनिरतः) अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य, (सिद्धि विन्दति) मनःशुद्धिपूर्वक ज्ञान-सिद्धिको पा लेता है, (तत् शृणु) उसे सुन॥ ४५॥

([1]यतः) जिस परब्रह्म परमात्मासे, (भूतानाम्) पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतोंकी आविर्भूतावस्थासे ही, (प्रवृत्तिः) अपने-कपने कार्य करनेमें प्रवृत्ति होती है, (येन) जिस परब्रह्म परमात्मासे, (इदं सर्वम्) यह दृश्यमान सारा जगत्, (ततम्) विस्तृत किया हुआ है, (मानवः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णोंका प्रत्येक मनुष्य, (स्वकर्मणा) श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मानुसार कर्म करनेसे, (तम् अभ्यर्च्य) उस परमात्माकी

---

१. 'जन्माद्यस्य यतः' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि।

अर्चना अर्थात् ओंकार नाम द्वारा उसका पूजन और जप करके, (सिद्धिम्) सिद्धिको अर्थात् मुक्तिपदको, (विदन्ति) पा लेता है ॥ ४६ ॥

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

(ऋग्वेदः ९-९६-५)

(मतीनां जनिता) सब प्राणियोंके मनन-शक्त्यात्मक ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला, (दिवः जनिता) द्युलोकको उत्पन्न करनेवाला [तस्मादेतस्माद्वा आत्मनः आकाशः सम्भूतः], (पृथिव्याः जनिता) भूमिका उत्पादक, (अग्नेः जनिता) अग्निको उत्पन्न करनेवाला, (सूर्यस्य जनिता) सूर्यका जन्मदाता, (इन्द्रस्य जनिता) पृथिव्यादि-संघातके साथ सबके आत्माओं अर्थात् प्राणिमात्र-को अपने-अपने कर्मानुसार जन्म देनेवाला, (उत) और, (विष्णोः जनिता) यज्ञोंका उत्पादक [यज्ञो वै विष्णुः; यज्ञः वेनः अध्वरः विष्णुः···पञ्चदश यज्ञनामानि, निघण्टु ३-१७] अथवा अपनी व्यापकताका उत्पादक [एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् एकोऽहं वहु स्याम्, बृ. उ. १-४-३ । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तै. उ. २-६] अतः अपनी सर्वव्यापकताको स्वयं प्रकट करनेवाला, (सोमः) परमात्मा, (पवते) अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मानुसार पूजनेवाले मनुष्योंको पवित्र कर देता है अर्थात् उन्हें मुक्तिपद देता है ।

यो विश्वस्य [1]जगतः [2]प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत् ।
इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन् मरुत्वन्तं [3]सख्याय [4]हवामहे ॥

(यः) जो परब्रह्म परमात्मा, (विश्वस्य जगतः) सारे स्थावर-जंगमात्मक जगत्का, (प्राणतस्पतिः) प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास ग्रहण करनेवाले प्राणिमात्रका रक्षक और स्वामी है, (प्रथमः यः) सारे जगत्के आदिभूत अर्थात् जगत्के आविर्भावसे प्रथम रहनेवाले जिस परमात्माने, (ब्रह्मणे) ब्रह्माको अथवा ब्रह्मज्ञानी ऋषिको, (गाः) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व

---

१. जगत्—'गम्लृ गतौ', 'वर्तमाने पृषद्वृहन्महज्जगच्छतृवच्च' इत्यतिप्रत्ययान्तो निपातितः ।

२. प्राणतस्पतिः—षष्ठ्याः पतिपुत्रेति विसर्जनीयस्य सत्वम् ।

३. सख्याय—सख्युः कर्म सख्यम् । 'सख्युर्यः' इति यप्रत्ययः ।

४. हवामहे—ह्वेञो लटि 'बहुलं छन्दसि' इति सम्प्रसारणम् ।

चार वेदोंकी वाणीको, (अविन्दत्) प्रदान किया, (इन्द्रः यः) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न जो परमात्मा, (दस्यून्) काम, क्रोध, लोभादिसे उत्पन्न हुए पापरूपी डाकुओंको, (अधरान्) नीचे करके अर्थात् निकृष्ट बनाकर, (अवातिरन्) अत्यन्त नष्ट कर देता है अर्थात् मनुष्य पापोंसे रहित होकर शुभ मनवाला हो जाता है, (मरुत्वन्तम्) उस परमात्माका, (सख्याय) समान स्वरूप होनेके लिये अर्थात् मुक्ति-प्राप्तिके लिये, (हवामहे) हम आह्वान करते हैं अर्थात् हम सखारूप होकर समीप रहें ।

यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः।
बीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥

(यः) जो मनुष्य, (अश्वानां वशी) घोड़ोंको वशमें रखनेवाला अर्थात् क्षत्रिय है, (यः गवां वशी) जो मनुष्य गौओंको वशमें रखनेवाला अर्थात् वैश्य है, (यः गोपतिः) और जो सब इन्द्रियोंका स्वामी अर्थात् शम-दम रखनेवाला यानी ब्राह्मण है, (यः कर्मणिकर्मणि आरितः स्थिरः) अपने-अपने वर्ण-धर्मानुसार अपने-अपने वर्णके कर्ममें स्थिर रहनेवाला ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य स्तुति पाता है । (यः इन्द्रः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनमेंसे जो-जो जीवात्मा अर्थात् प्राणी, (वीळोः चित्) बड़े प्रयत्नसे, (असुन्वतः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिके अपने-अपने कर्मके विरोधी अर्थात् अपने वर्णवाले कर्मको छोड़कर अन्य वर्णके कर्मको करता है, उसको, (वधः) मारना वा दण्ड देना योग्य है । (मरुत्वन्तम्) अपने-अपने वर्ण-धर्म और वर्ण-कर्मानुसार कर्म करनेवाले मनुष्यको, (सख्याय) सखा होनेके लिये, (हवामहे) बुलाते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म और कर्मानुसार अपने-अपने धर्म-कर्ममें स्थिर होकर परमात्माका ध्यान और सेवन पूर्णसमाधियोगसे करता है वह शुद्ध मनवाला होकर मुक्तिकी सिद्धि पाता है । वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मनुष्य अपने वर्णाश्रम-धर्म-कर्मानुसार अपने-अपने कर्ममें स्थिर होकर कर्म करता है उसे सब स्तुत्य कहते हैं और वह अपने वर्ण-धर्म-कर्मानुसार परमात्माका पूजन करता हुआ मुक्त हो जाता है ।

४७. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

हे अर्जुन ! (सु-अनुष्ठिताद्) भलीभाँति आचरण किये हुए, (परधर्मात्) अपनी जाति, वर्ण और आश्रमसे भिन्न अर्थात् अपने वर्णाश्रमसे भिन्न वर्णा-

श्रमवाले धर्मसे, (विगुणः) उस वर्णाश्रमके गुणसे हीन भी, (स्वधर्मः) अपनी जाति, अपने वर्ण और अपने आश्रमके अनुकूल अपना धर्म, (श्रेयान्) श्रेष्ठ है। (स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्) प्रत्येक मनुष्य अपनी जाति और वर्णके अनुसार धर्मशास्त्र-प्रतिपादित नियत कर्मको करता हुआ, (किल्बिषं न आप्नोति) चित्तशुद्धिके प्रतिकूल पापको नहीं पाता ॥ ४७ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥

(अथर्ववेदः ३-८-४)

(इह इत् असाथ) इस अपने वर्ण-धर्म और वर्ण-कर्ममें रहो। (परः न गमाथ) अपने वर्ण-धर्मसे हटकर दूसरे वर्ण-धर्म और कर्ममें मत जाओ अर्थात् ब्राह्मण होकर क्षत्रिय, वैश्य या शूद्रके धर्म-कर्म मत करो, शूद्र होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके कर्मका आश्रय मत लो, क्योंकि अपने वर्ण-धर्मसे भिन्न दूसरे वर्णका धर्म तुम्हारे लिये लाभदायक न होगा। (अस्मै कामाय) इस अपने जाति-धर्मकी कामनापूर्तिके लिये, (कामिनीः) तुम्हारी इच्छाओंको, (विश्वे देवाः) विश्वेदेव अर्थात् सब ज्ञानीजन, (संयन्तु=संयोजयन्तु) अपने उपदेशों द्वारा तुम्हारी बुद्धिके साथ जोड़ देवें। (ईर्यः) सारे संसारका प्रेरक अर्थात् संचालक, (गोपाः) सबका रक्षक, (पुष्टपतिः) पालकोंका पालक परमात्मा, (वः) अपने-अपने धर्मके पालक तुम सबको, (आजत्) मुक्ति-प्राप्तिके लिये अपने समीप स्थापित करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि अपने वर्णसे भिन्न वर्णके बहुत गुणोंवाले धर्मकी अपेक्षा थोड़े गुणवाला अपना वर्ण-धर्म श्रेष्ठ है। मनुष्य अपने वर्णधर्मका पालन करता हुआ मुक्तिकी सिद्धितक पहुँच जाता है। वेदने भी यही उपदेश दिया है कि हे मनुष्य! तू अपने वर्ण-धर्ममें स्थिर रह। दूसरे वर्णके धर्म-कर्मकी ओर मत जा। विद्वान् जन तुझे इस अपने धर्ममें रहनेका उपदेश देकर उसी अपने वर्ण-धर्ममें रहनेकी सम्मति देंगे। मनुष्य अपने वर्ण-धर्मानुसार चलता हुआ मुक्तिके द्वारपर पहुँच जाता है और मुक्त भी हो जाता है।

४८. सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

४९. असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (सदोषम् अपि) दोषयुक्त भी, (सहजं कर्म) स्वाभाविक कर्मको अर्थात् प्रकृतिके अनुसार, शास्त्र-विधिसे नियत किया हुआ जो वर्णाश्रमका धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक या सहज कर्म होता है उसीको इस श्लोकमें स्वधर्म, सहज कर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म कहा गया है। उस नियत कर्मको, (न त्यजेत्) नहीं त्यागना चाहिये। (हि) निश्चय ही, (सर्वारम्भाः) शरीरके लिये किये जानेवाले सब काम, (दोषेण) किसी न किसी दोषसे युक्त होते हैं। जैसे वृक्षादिका काटना, अन्न और फलादिका भक्षण करना भी स्थावर जीवको दुःख देना है, क्योंकि खाना-पीना सहज कर्म है अतः दोष होता हुआ भी दोष नहीं माना जाता और उस पापसे मनुष्य पापी नहीं कहा जाता। (धूमेन आवृतः अग्निः इव) जैसे कि प्रकाशमान भी अग्नि धूमकी कालिमासे आच्छादित रहता है ॥ ४८ ॥

(सर्वत्र) शम, दम, शौर्य, धृति, कृषि, व्यापार आदि कर्मोंकी फल-प्राप्तिमें, (असक्तबुद्धिः) आसक्तिरहित अर्थात् इन कार्योंका कर्ता-धर्ता मैं ही हूँ, इस विचारवाली बुद्धि न रखनेवाला, (जितात्मा) मनको अपने वशमें रखनेवाला, (विगतस्पृहः) इच्छासे रहित मनुष्य, (परमाम्) सबसे उत्तम, (नैष्कर्म्यसिद्धिम्) निष्कर्मता अर्थात् कृतकर्मोंकी फलेच्छासे रहित सिद्धि अर्थात् मुक्तिको, (संन्यासेन) उत्तम साधनोंसे युक्त सब कर्मोंके फलके त्यागसे, (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है ॥ ४९ ॥

न तमंहो न दुरितानि मर्त्यमिन्द्रावरुणा न तपः कुतश्चन।
यस्य देवा गच्छथो वीथो अध्वरं न तं मर्तस्य नशते परिह्वृतिः ॥

(ऋग्वेदः ७-८२-७)

(इन्द्रावरुणा=इन्द्रावरुणौ !) हे इन्द्र ! भक्त्यात्मक ऐश्वर्यसे सम्पन्न जीवात्मन् ! हे वरुण ! हे श्रेष्ठ पते ! (तम्) सांसारिक सब इच्छाओंसे रहित, स्वकृत कर्मोंमें आसक्ति तथा अपने किए हुए कर्मके फलकी इच्छा न रखनेवाले उस, (मर्त्यम्) मनुष्यको, (अंहः न नशते) सहज-दोषयुक्त कर्मसे उत्पन्न हुआ पाप नहीं प्राप्त होता, (न दुरितानि) और पापजन्य दुःख प्राप्त नहीं होते। (कुतश्चन) किसी कारणसे भी, (न तपः) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापोंमें-से उसे कोई ताप नहीं प्राप्त होता। (देवा= देवौ !) हे अपने निष्काम कर्मों द्वारा प्रकाशमान ज्ञानियो ! हे ज्ञान-दानादिगुणयुक्त मनुष्यो ! (यस्य मर्तस्य) तुम जिस मनुष्यके, (अध्वरम्) हिंसारहित

यज्ञको अथवा सत्सङ्गतिमय यज्ञको, (गच्छथः) प्राप्त होते हो, (वीथः) जिस मनुष्यकी नैष्कर्म्य सिद्धिकी कामना करते हो, (तम्) उस मनुष्यको, (परिह्वृतिः) बाधा अथवा कुटिलता, (न) नहीं प्राप्त होती।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि दूषित भी सहजकर्म त्यागयोग्य नहीं है क्योंकि सब कार्योंके आरम्भमें कोई न कोई दोष अवश्य रहता है जैसे अग्नि स्वयं प्रकाशमान है, परन्तु दोषरूप धूम उसमें भी उपस्थित रहता है। विषय-वासनामें बुद्धि न रखनेवाला, निष्कामभावसे कर्म करनेवाला कर्मयोगी मनुष्य अनासक्त होकर कर्मफलके त्यागसे जितेन्द्रिय होकर मुक्तिका अधिकारी हो जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि संसारकी सब इच्छाओंसे रहित और स्वकृत कर्मोंमें फलकी अनासक्ति रखनेवाले मनुष्यको स्वकृत-कर्मजन्य पाप नहीं लगता और न ही उसे पापजन्य दुःखात्मक फल उपस्थित होता है। उसे सांसारिक ताप भी तप्त नहीं करते। वह सदा सत्सङ्गति-रूप यज्ञमें उपस्थित रहकर अपना जीवन बिताता है और अन्तमें मुक्त हो जाता है।

५०. सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥

५१. बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

५२. विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

५३. अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (सिद्धि प्राप्तः) नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त हुआ मनुष्य अर्थात् मुमुक्षु योगी, (यथा) जिस प्रकार, (ब्रह्म) परमात्माको, (आप्नोति) प्राप्त होता है अर्थात् मुक्त हो जाता है, (तथा) वह सब, (मे निबोध) मुझसे जान। (ज्ञानस्य) आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त-स्वभाववाला है, इस प्रकारके ज्ञानकी, (या परा निष्ठा) जो अत्युत्तम स्थिति है, उस स्थितिको, (समासेन) संक्षेपसे, (एव) ही, मुझसे सुन। (विविक्तसेवी) एकान्त देशमें वास करनेवाला, (लघ्वाशी) हल्का हितकारी परिमित अर्थात् अपनी क्षुधाके अनुसार यथायोग्य और पवित्र अन्न खानेवाला, (यतवाक्काय-मानसः) वाणी, शरीर और मनको अपने वशमें रखनेवाला, (विशुद्धया)

मल और विक्षेपसे रहित अर्थात् कुटिलतासे रहित, (बुद्ध्या) निश्चयात्मिका बुद्धिसे, (युक्तः) संयुक्त, (धृत्या) सात्त्विकी धृतिसे, (आत्मानम्) मनको, (नियम्य) सब विषयोंसे हटाकर अर्थात् सात्त्विकी धृतिद्वारा मनको वश करके, (शब्दादीन् विषयान्) शब्द-स्पर्श-रूप-रस आदि विषयोंको, (त्यक्त्वा) छोड़कर, (रागद्वेषौ) प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको, (व्युदस्य) छोड़कर अर्थात् राग और द्वेषसे उदास होकर, (अहङ्कारम्) मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ, इस अभिमानको, (बलम्) मेरे सामने कौन ठहर सकता है, मैं बड़ा बली हूँ, ऐसी शक्तिको, (दर्पम्) घमण्डको, (कामम्) मैं इन वस्तुओंको लूँगा, ऐसी इच्छा-को, (क्रोधम्) सम्मोहित करनेवाले क्रोधको, (परिग्रहम्) गृहस्थके वस्तु-संग्रहको, (विमुच्य) छोड़कर, (नित्यम्) सदा, (वैराग्यम्) वैषयिक इच्छाओंसे वैराग्यको अर्थात् विरागको, (समुपाश्रितः) भलीभाँति आश्रय करता हुआ, (ध्यानयोगपरः) परमात्माके ध्यानद्वारा चितवृत्तिके योग अर्थात् चित्तवृत्तिके निरोध और परमात्माके ध्यानमें लगा हुआ, (निर्ममः) देहमें ममतासे रहित अर्थात् मनुष्य जैसे दूसरेकी देहको अपनी देहसे भिन्न मानता है, उसमें ममता नहीं रखता, ऐसे अपनी देहमें भी ममतासे रहित होकर, 'मैं-मेरी' का त्याग करता हुआ, (शान्तः) शान्तिको प्राप्त होकर, सत्त्वगुणप्रधान होकर, (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्मभाव यानी सच्चिदानन्दैकरससे ब्रह्मात्मभाव-स्थितिके लिये, (कल्पते) कल्पना किया जाता है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिमें स्थिर हो जाता है ॥ ५०-५३ ॥

देवो न यः सविता [1]सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति [2]वृजनानि विश्वा ।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो [3]दिधिषाय्यो भूत् ॥

(ऋग्वेदः १-७३-२)

(यः) विशुद्धबुद्धि और मन तथा इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, (देवः सविता न) ब्रह्मज्योतिसे प्रकाशमान स्थावर-जंगम पदार्थोंके प्राणदाता सूर्यके समान, (सत्यमन्मा) और यथार्थज्ञानी अथवा सत्यस्वरूप ब्रह्ममें मन लगाने-वाला जो मनुष्य, (क्रत्वा) अपने निष्काम कर्मद्वारा अर्थात् फलाकांक्षासे

---

१. सत्यमन्मा—मननं मन्म, 'मन ज्ञाने', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन्-प्रत्ययः ।

२. वृजनानि—'वृजी वर्जने' 'कॄपॄवृजि—' इत्यादिना क्युप्रत्ययः ।

३. दिधिषाय्यः—'दधातेर्दिधिषाय्य' (उ. सू. ३७७) इति साय्यप्रत्ययान्तो निपातितः ।

रहित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंद्वारा, (विश्वा वृजनानि) अहंकार-बल-दर्प-क्रोध-काम-परिग्रह-स्वरूप सब पापोंको, (निपाति) दूर कर देता है [अथवा—विश्वा= विश्वेभ्यः, वृजनानि=वृजिनेभ्यः, अत्र द्वितीयास्थाने पञ्चमी विभक्तिः, अर्थात् ज्ञानी मनुष्य काम-क्रोधादि सब पापोंसे, (निपाति) अपने आपको भलीभाँति सुरक्षित रखता है] और, (पुरुप्रशस्तः) बहुत मनुष्योंमेंसे श्रेष्ठ अथवा बहुत मनुष्योंसे प्रशंसा किया हुआ, बहुत मनुष्योंसे प्रशंसनीय, (अमतिः न सत्यः) मानो मूर्तिमान् सत्यका स्वरूप, (शेवः) सबका सुखदाता अर्थात् सुखस्वरूप, (आत्मा इव) परमप्रेमास्पद भावसे अत्यन्त आनन्दस्वरूप समान आत्मावाला यह ज्ञानी मनुष्य, (दिधिषाय्यः) शुभकर्म द्वारा शुभस्थान अर्थात् मुक्तिधाममें धारण करनेयोग्य, (अभूत्) होता है अर्थात् निष्काम कर्म करनेवाला ज्ञानी मनुष्य मुक्त हो जाता है।

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त[1] मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र[2]मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया [3]संरराणः॥

(अथर्ववेदः २-३४-३)

(ये) शुद्धबुद्धि, वाणी, शरीर और मनको वशमें रखनेवाले, परमात्माका स्मरण और उसमें योगसमाधि लगानेवाले और सर्वत्र विश्वरूप परमात्माको देखनेवाले जो ज्ञानी मनुष्य, (बध्यमानम्) काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, दर्पादि दुर्गुणोंसे बाँधे गए प्राणीको, (अनु दीध्यानाः) दयादृष्टिसे ध्यान करते हुए, (मनसा) शुद्ध मनसे, (च) और, (चक्षुषा) दयादृष्टिसे, (अनु+ ऐक्षन्त)पूर्णतया देखते हैं अर्थात् काम-क्रोधादिसे बँधे हुए संसारी जीवोंके ऊपर उनके उद्धारके लिये ज्ञानी जनोंकी स्नेहदृष्टि पड़ती है। ज्ञानी मनुष्योंका विचार रहता है कि ये बद्ध मनुष्य भी किसी प्रकारसे मुक्त हो जावें तो उत्तम हो, (विश्वकर्मा) सारे संसारको प्रकट करनेवाला अर्थात् विश्वका कर्ता, (देवः) सबका प्रकाशक दिव्यगुणोंवाला, (अग्निः) सारी सृष्टिका अग्रणी अर्थात् नेता परमात्मा, (प्रजया संरराणः) अपनी सृष्टिके साथ रमण करता हुआ अर्थात् सृष्टिमें व्यापकरूप होकर, (तान्) काम, क्रोध, लोभादि दुर्गुणोंसे रहित इन्द्रियों और मनको वशमें रखनेवाले उन ज्ञानियोंको और अपने भक्तोंको,

---

१. ऐक्षन्त—'ईक्ष दर्शने', छान्दसो लङ्।

२. मुमोक्तु—मुञ्चतेः छान्दसः शपः श्लुः।

३. संरराणः—'रै शब्दे' इत्यस्माल्लिटः कानच्।

(अग्रे) मुख्यतामें अथवा सबसे प्रथम, (प्रमुमोक्तु) संसारबन्धनसे छुड़ाकर मुक्ति प्रदान करे।

गूहता गुह्यं तमो वियात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥

(ऋग्वेदः १-८६-१०)

हे मुमुक्षु जीवात्मन्! (यत्) यदि, (उश्मसि) परमात्माके चरणोंमें जाना चाहता है अर्थात् मुक्त होना चाहता है, तो, (विश्वम् अत्रिणम्) सारे संसारके प्राणी और अप्राणियोंको भक्षण करनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्काररूप परिपन्थियों या डाकुओंको, (वियात) अपने मनसे निकाल दे अर्थात् दूर कर दे, फिर, (ज्योतिष्कर्ता) अपने अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी ज्योतिका करनेवाला अर्थात् सत्त्वगुणके प्रधान होनेसे ज्ञानसे प्रकाशित मनवाला, अन्तराराम और अन्तर्ज्योति होकर, (गुह्यं तमः) गुह्यसे गुह्य हृदयान्धकार अर्थात् अज्ञानको हृदयसे, (गूहत) छिपा दे। नियम यह है कि प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञानका परस्पर पूर्ण विरोध है। जहाँ प्रकाश होगा वहाँ अन्धकार न होगा, जहाँ ज्ञान होगा वहाँ अज्ञानान्धकार विनष्ट हो जायगा अतः ज्ञानरूपी दीपकसे अज्ञानरूपी अन्धकार जब दूर हो जायगा तब मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाएगा।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जब मनुष्य रूप-रसादि विषयोंके त्यागसे शुद्धबुद्धि होकर सात्त्विकवृत्ति या धैर्यसे मनको वशमें कर लेता है, वाणी, शरीर और मनपर पूर्ण अधिकार कर लेता है और काम, क्रोध, लोभादिको छोड़कर सब प्रकारसे शान्त हो जाता है, तब वह मनुष्य ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी हो जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मनुष्य सत्यज्ञानका आश्रय लेकर काम, क्रोध, लोभादि दुष्कर्मोंको त्यागकर सत्यस्वरूप सुखदायी आत्मज्ञानको पा लेते हैं, वे आकाशमें स्थित सूर्य देवताके समान इस लोकमें ज्ञानसे प्रकाशित होकर मुक्तिका सुख भोगते हैं और जो मनुष्य ज्ञानद्वारा संसारके बन्धनमें फँसे हुए मनुष्योंको संसार-बन्धनसे छुड़ाते हैं उन्हें परमात्मा सबसे प्रथम संसारसे मुक्त करता है।

५४. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

हे अर्जुन! (प्रसन्नात्मा) काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कारादि शत्रुओंका परित्याग करनेसे प्रसन्न और शान्त मनवाला अर्थात् मनके प्रसन्न होनेसे स्थिर

बुद्धिवाला, (ब्रह्मभूतः) [अब्रह्म जीवः ब्रह्म भवतीति ब्रह्मभूतः] ब्रह्मस्वरूप अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिवाला ब्रह्मज्ञानी, (न शोचति) किसी नष्ट हुई वस्तुका शोक नहीं करता, और, (न काङ्क्षति) किसी भी अप्राप्त वस्तुके प्राप्त होनेकी इच्छा नहीं रखता। (सर्वेषु भूतेषु) सब प्राणियों और स्वर्ण आदि सब पदार्थोंमें, (समः) समान दृष्टि रखनेवाला, (परां मद्भक्तिम्) जो तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना शेष नहीं रहता, उसे ही पराभक्ति, ज्ञानकी पराकाष्ठा, परम नैष्कर्म्य-सिद्धि और परमसिद्धि इत्यादि नामोंसे कहा गया है। ऐसी ज्ञानलक्षण पराभक्तिको, (लभते) पाता है ॥ ५४ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ब्रह्मणे स्वाहा ॥

(अथर्ववेदः १९-४३-८)

(यत्र) जिस मुक्तिपदमें, (ब्रह्मविदः) वेद और परब्रह्म परमात्माके जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी, (दीक्षया) ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके लिये दृढ नियमपालनकी दीक्षा अर्थात् ब्रह्मज्ञान-व्रतके पालन, (तपसा सह) और तपश्चर्याके साथ, (यान्ति) प्राप्त होते हैं, (तत्र) उस मुक्तिपदमें, (ब्रह्मा) सबसे बृहत् परमात्मा, (मा) मुझे, (नयतुं) ले जाय। (ब्रह्मा) परमेश्वर अथवा ब्रह्मज्ञान-प्रदाता आचार्य, (ब्रह्म) ब्रह्मपदको, (मे दधातु) मुझे प्रदान करे। (ब्रह्मणे स्वाहा) मेरा सब ब्रह्मज्ञान और ध्यान ब्रह्मार्पण हो, मैं उसी परमात्माकी स्तुति करता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि शुद्ध मनवाला मनुष्य जीवन्मुक्त होकर न नष्ट वस्तुका शोक करता, न अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति चाहता। वह सबमें समान दृष्टि रखता है। ऐसा ही मनुष्य मुक्तिका अधिकारी होता है। वेदमें कहा गया है कि परमात्माका भक्त सब कर्म ब्रह्मार्पण करके यही प्रर्थना करता है कि ब्रह्मज्ञानी मनुष्य दीक्षा और तपश्चर्यासे जिस मुक्तिपदको प्राप्त होते हैं, मुझे भी परमात्मा वही मुक्तिपद प्राप्त करावे।

५५. **भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।**
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

हे अर्जुन ! (यः) जो मुमुक्षु मनुष्य, (भक्त्या) विज्ञानात्मक पराभक्तिसे अर्थात् निर्विकल्प समाधिद्वारा, (यावान्) जितना मात्र अर्थात् जैसे

स्वरूपवाला, (च) और, (तत्त्वतः) जिस वास्तविक भावसे, (अस्मि) मैं हूँ, (माम् अभिजानाति) वैसा मुझ परमात्माको जानता है, वह, (ततः) मेरा अर्थात् परमात्माका स्वरूप जाननेके अनन्तर, (माम्) मुझ परमात्माको, (तत्त्वतः) वास्तविक स्वरूपसे, (ज्ञात्वा) जानकर, (तदनन्तरम्) ऐसे परमात्माके स्वरूपके जाननेके अनन्तर, (विशते) अखण्ड परब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है ॥ ५५ ॥

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः ।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ॥

(ऋग्वेदः १०-१७७-१)

(विपश्चितः) विशेषतया वेद-वेदाङ्ग-सिद्धान्तके जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी यति जन, (असु-र-स्य) सकल प्राणियोंके प्राणदाता, सर्वोपाधिरहित परब्रह्म परमात्माकी, (मायया) शक्तिसे, (अक्तम्) जीवरूपसे प्रकट हुए, (पतङ्गम्) सर्वव्यापक परमात्माको, (हृदा) अन्तर्मुखवाले, (मनसा) मनसे अर्थात् अन्तर्ज्योति अवस्थाद्वारा, (पश्यन्ति) ध्यान करते हैं अर्थात् देखते हैं। (कवयः) कविजन अर्थात् ज्ञानीजन, (समुद्रे अन्तः) [समुद्रवन्ति अस्मात् अस्मिन् वा भूतानि इति समुद्रः—परमात्मा] उस अधिष्ठानरूप परमात्माके भीतर, (विचक्षते) सारे दृश्यमान जगत्को अध्यासरूपसे स्थित देखते हैं। (वेधसः) अतः ज्ञानी लोग, (मरीचीनां पदम्) महाज्योतिके अधिष्ठान सच्चिदानन्दस्वरूप परमधाम अर्थात् मुक्तिपदको, (इच्छन्ति) चाहते हैं।

महत् तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग् येन भूतं जनयो येन भव्यम् ।
प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पञ्च ॥

(ऋग्वेदः १०-५५-२)

हे मुमुक्षु योगिन् ! (तत्) उस परब्रह्म परमात्माका, (गुह्यम्) गुह्य अर्थात् सर्वसाधारण मनुष्योंसे अज्ञात, (पुरुस्पृक्) बहुत भक्तजनोंकी जिह्वापर स्पर्श करनेयोग्य अथवा चाहनेयोग्य, (नाम) ॐ यह नाम वा स्वरूप, (महत्) सबसे अधिक बड़ा और श्रेष्ठ है, (येन) जिस नाम द्वारा, (भूतम्) पूर्व उत्पन्न हुआ पदार्थमात्र, (भव्यम्) और आगे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ मात्र, (जनयः) प्रगट हुआ अर्थात् उत्पन्न हुआ। आगे उत्पन्न होनेवाले सारा जगत् तो परब्रह्म परमात्मासे उत्पन्न होता ही है। (अस्य) इस परमात्माका, (प्रत्नम्) सबसे पुराना अर्थात् पूर्वकालीन, (यत् ज्योतिः) जो आकाशमें

प्रकाशमान सूर्यमण्डलात्मक ज्योति पदार्थ, (प्रियम्) प्रियभूत तत्त्व, (जातम्) उत्पन्न हुआ उसमें, (प्रियाः) पराभक्तिके कारण 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इस उक्तिके अनुसार परमात्माके प्रिय ज्ञानी, (पञ्च=पञ्चजनाः) ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद ये पाँचों जन, (प्रियम्) अपने परम प्रिय परमात्मामें, (समविशन्त) समावेश कर जाते हैं अर्थात् पराभक्ति द्वारा मुक्त हो जाते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि मनुष्य मोक्षका अभिलाषी होकर पराभक्ति अर्थात् ज्ञानपूर्वक विज्ञान द्वारा वास्तविक भावसे परमात्माको जानकर 'मैं क्या हूँ, कैसा हूँ' ऐसा जानकर मुक्तिमें प्रवेश कर जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि ज्ञानीजन परमात्माकी भक्तिद्वारा उत्पन्न हुए जगत्को ज्ञान द्वारा पूरा समझकर शुद्ध मनसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपको जान लेते हैं। जिस परमात्मासे पहले सब सूर्यादि ज्योतिर्मण्डल प्रकट हुआ है और जो आगे भी प्रकट हो रहा है उस परब्रह्म परमात्माको जब ज्ञानी जन पराभक्तिद्वारा जान लेता है तब उसमें समावेश कर जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

५६. सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

हे अर्जुन ! (मद्व्यपाश्रयः) मुझ परमात्माका आश्रय या अवलम्बन रखनेवाला अर्थात् मेरी शरणमें आया हुआ मुमुक्षु मनुष्य, (सर्वकर्माणि अपि) नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य और सब श्रौत-स्मार्त कर्मोंको भी, (सदा कुर्वाणः) नित्य करता हुआ, (मत्प्रसादात्) मुझ परमात्माके अनुग्रहसे, (शाश्वतम्) नित्य, (अव्ययम्) वृद्धि और क्षयादि विकारोंसे रहित, (पदम् अवाप्नोति) पदको अर्थात् मुक्तिधामको प्राप्त होता है॥ ५६॥

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा।
यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(अथर्ववेदः ६-७५-२)

(वृत्रहा) पापापहारी, (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा, (तम्) पराभक्ति अर्थात् ज्ञान-विज्ञान द्वारा सेवा करनेवाले उस योगीजनको, (परमाम्) सबसे उत्कृष्ट, (परावतम्) संसारसे अत्यन्त दूर वर्तमान स्थानको अर्थात् मुक्तिपदको, (नुदतु) प्रेरणा देता है अर्थात् मुक्तिपद देता है, (यतः) जिस स्थानसे वह योगीजन, (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त कालतक अर्थात् सदाके

लिये, (न पुनः आयति) संसारमें फिर वापस नहीं आता अर्थात् सदाके लिये मुक्ति-स्थानमें रहने लगता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मुमुक्षु पुरुष नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको मेरे अर्पण करता है तथा कर्मके फलकी इच्छा नहीं रखता, वह योगीजन मेरे कृपासे मुक्तिधामको पाता है। वेदमें भी यही उपदेश है कि परमात्मा परा-भक्तिमें मस्त रहनेवाले मनुष्यको संसारसागरसे परम पार मुक्तिपदको देता है, जिससे वह संसारमें पुनः जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं पड़ता।

५७. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

हे अर्जुन ! मनुष्य मात्रके निष्काम कर्म करनेसे प्रसन्न हुए परमात्माकी कृपासे मुक्ति प्राप्त होती है, इस ज्ञानसे युक्त तू चित्तसे अर्थात् विवेकात्मक बुद्धिसे, (सर्वकर्माणि) श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको, (मयि) मुझ परमात्माको, (संन्यस्य) समर्पण करके, (मत्परः) मुझ परमात्मामें संल्लग्न रहता हुआ, (बुद्धियोगम् उपाश्रित्य) ब्रह्म सर्वव्यापक है और वह विश्वरूप है, ऐसे ज्ञानयोगका सहारा लेकर अर्थात् सदा ब्रह्मविचारमें तत्पर होकर, (सततम्) नित्य, (मच्चित्तः भव) मुझ परमात्मामें मन लगानेवाला हो जा ॥ ५७ ॥

पारस्करगृह्यसूत्रमें आया है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥
(२-२-१८)

योगदर्शनके आधारपर 'गुरु' परमात्माका नाम है [सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। १-१-२६]। इस मन्त्रमें भी परमात्मा गुरुरूप होकर जीवरूप शिष्यको उपदेश देता है—हे मुमुक्षु ! (ते हृदयम्) तेरे मनको, (मम व्रते) अपने समाधिरूपी नियममें अर्थात् तेरे हृदयको परमात्माकी समाधिमें, (दधामि) धारण करता हूँ अर्थात् तेरा मन सदा परमात्माकी समाधिमें लगा रहे। (ते चित्तम्) तेरे मनका सदसद्विवेचनात्मक विचार, (मम) मुझ परमात्माके, (अनुचित्तम् अस्तु) अनुकूल हो अर्थात् बुद्धियोगका आश्रय लेकर लगातार मुझ परमात्मामें अपने चित्तको धारण करनेवाला हो जा। (मम) मुझ परमात्माकी, (वाचम्) सर्वकर्मफल-त्यागवाली उपदेशमयी

वाणीको, (एकमनाः) मुझ परमात्मामें मनको धारण करके एकाग्रमन होकर, (जुषस्व) सेवन कर । (बृहस्पतिः) ज्ञानयोगात्मक बुद्धिका स्वामी आचार्य अर्थात् उपदेष्टा परमात्मा, (त्वा) तुझ मुमुक्षु पुरुषको, (मह्यं नियुनक्तु) मुझ परमात्मामें जोड़ देवे ।

तुलना—गीतामें भगवान्ने कहा है कि जो मनुष्य शुद्ध एकाग्र मनसे ही सब कर्तव्य कर्मोंको मुझ परमात्मामें अर्पण करके, ज्ञानयोगका आश्रय लेकर नित्य ही अपने मनको मुझमें धारण करके कर्म करता है वह जीवन्मुक्त हो जाता है । गृह्यसूत्रमें भी यही कहा गया है । गुरु शिष्यसे कहता है—तुझ मुमुक्षुका मन मेरी समाधिके नियममें स्थित हो और तेरा चित्त परमात्माके ध्यानमें निश्चितरूपसे लगा रहे । गुरु अर्थात् परमात्माकी वाणीको एकाग्रमन होकर सुन और तदनुसार आचरण कर । परमात्माकी कृपासे मुमुक्षुजन भगवद्ध्यानमें लग जाता है ।

५८. मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

५९. यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

हे अर्जुन ! (मच्चित्तः) मुझ परमात्मामें मनको धारण करता हुआ तू, (मत्प्रसादात्) मेरी प्रसन्नता अर्थात् कृपासे, (सर्वदुर्गाणि) कठिन अविद्याजनित मोहादि सब बुराइयोंको, (तरिष्यसि) पार कर जायगा अर्थात् तेरे मनका मोहजाल दूर हो जाएगा और कोई बुराई तेरे समीप न आएगी । (अथ चेत्) अब यदि मेरे वचनको न मानकर, (अहङ्कारात्) मैं ही सब शास्त्रोंका, धर्माधर्मका ज्ञाता हूँ, मेरे अतिरिक्त और कोई विद्वान् नहीं है, इस अभिमानसे, (न श्रोष्यसि) मेरे वचनको सुनता हुआ भी न सुनेगा, मेरे वचनको मनमें स्थान न देगा अर्थात् मेरे वचनको सुनकर भी यदि तू आचरण न करेगा, (त्वं विनङ्क्ष्यसि) तो तू विनष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

(यत्) यदि, (अहङ्कारम् आश्रित्य) मैं ही पण्डित हूँ और मैं ही ज्ञानी हूँ, इस अभिमानका आश्रय लेकर, (न योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करता, (इति मन्यसे) ऐसा मानता है, (ते) तो तेरा, (एषः व्यवसायः) यह निश्चय, (मिथ्या) निरर्थक अर्थात् असत्य है । (प्रकृतिः) क्षात्रधर्मका स्वभाव, (त्वाम्) प्रकृतिके अधीन चलनेवाले तुझको, (नियोक्ष्यति) युद्ध करनेमें नियुक्त कर देगी अर्थात् तू अवश्य ही युद्ध करेगा ॥ ५९ ॥

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥

(ऋग्वेदः ७-८६-६)

(वरुण !) हे श्रेष्ठ जीवात्मन् अर्थात् हे मुमुक्षु मनुष्य ! (सुरा) मदके समान प्रमाद करानेवाला अहङ्कार, (मन्युः) क्रोध, तथा, (विभीदकः) भय उत्पन्न करानेवाली, (अचित्तिः) अज्ञानस्वरूप, मोहात्मक, (सा ध्रुतिः) जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त एकरूपमें धारण करनेवाली प्रकृति ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रके स्वभावका कारण है, (न स स्वो दक्षः) मैं शूर हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं पण्डित हूँ, इस प्रकारका वह अहङ्कार ही अपनी अर्थात् मनुष्यकी चतुरताका कारण यानी कार्यमें प्रवृत्ति अथवा कार्यसे निवृत्तिका कारण नहीं है। (कनीयसः उपारे) आनन्दहीन अर्थात् तुच्छके समीप, (ज्यायान् अस्ति) नियन्ता होनेसे स्वभाव ही अधिक बलवान् होता है, क्योंकि वह स्वभाव ही उस तुच्छ पुरुषको अपने-अपने वर्ण-धर्ममें प्रवृत्त कराता है। (स्वप्नश्चन) स्वप्न भी, (अनृतस्य) मिथ्याव्यवसायी अहङ्कारी मनुष्यको, (प्रयोता) अपने-अपने वर्णधर्ममें लगानेवाला होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि यदि मनुष्य अहङ्कारका आश्रय लेकर अपने-अपने वर्णधर्म अथवा मनुष्य-धर्मका त्याग भी करे, तो उसकी प्रकृति उसे उस अहङ्कारसे हटाकर अपने-अपने वर्णधर्ममें प्रवृत्त करा देगी। वेदमें भी कहा गया है कि यदि मनुष्य क्रोध, भय, अज्ञान या अहङ्कारका आश्रय लेकर अपने वर्णाश्रम-धर्मको त्यागेगा तो भी जन्मसे लेकर धारण की हुई प्रकृति उससे वर्णका धर्म अवश्य कराएगी। वहाँ उस मनुष्यकी चतुराई अर्थात् अहङ्कारकी चतुरता न चल सकेगी। प्रकृति तुच्छ अहङ्कारसे बड़ी बलवती है। वह उसे मिथ्या-व्यवसायात्मक अहङ्कारसे हटाकर वर्णधर्ममें अवश्य ही लगा देगी।

६०. स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

(कौन्तेय !) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (मोहात्) मोहवश असत्को सत् समझने या भ्रातृ-पुत्र-पौत्रादिके अनुरागके कारण, (यत्) जिस युद्धात्मक कर्मको, (कर्तुम्) करनेके लिये, (न इच्छसि) तू इच्छा नहीं करता, (स्व-भावजेन) अपने पूर्वजन्ममें किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मसे उत्पन्न हुए संस्कारस्वरूप प्रवृत्ति और निवृत्तिका कारण स्वभाव अर्थात् प्रकृतिका गुण-

विशेष, उस स्वभावसे उत्पन्न हुए, (स्वेन कर्मणा) अपने-अपने कर्मसे, (निबद्धः) बाँधा हुआ अर्थात् पूर्वजन्म-कृत कर्मके फलद्वारा उत्पन्न हुआ तू, (अवशः अपि) पराधीन अर्थात् अपनी प्रकृतिके अधीन हुआ भी, (तत्) उस युद्धात्मक कर्मको, (करिष्यसि) करेगा ॥ ६० ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

(ऋग्वेदः १०-१२५-५)

(अहम् एव) हे जीवात्माओ ! मैं नारायण अर्थात् परमात्मा, (स्वयम् एव) अपने आप ही, (देवेभिः उत मानुषेभिः) देवताओं अर्थात् ज्ञानियोंसे और सर्वसाधारण मनुष्योंसे, (जुष्टम्) सेवित अर्थात् माना हुआ, (इदं वदामि) यह स्वाभाविक वचन कहता हूँ अर्थात् उपदेश देता हूँ । (यम्) जिस प्राणीको उसके पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मानुकूल फलस्वरूप कर्मको करानेके लिये, (कामये) इच्छा करता हूँ, (तं तम्) उस-उस मनुष्यको उसके शुभ-कर्मानुसार अथवा अशुभ कर्मोंके फलानुसार, (उग्रं कृणोमि) उग्र कर्म करनेके लिये प्रवृत्त करता हूँ, (ब्रह्माणं तम् ऋषिम्) उस-उस मनुष्यको उसके पूर्वजन्ममें किये हुए शुभकर्मानुसार ब्रह्मज्ञानी अथवा ऋषि उत्पन्न करता हूँ, और, (तं सुमेधां कृणोमि) उसे शुद्धबुद्धिवाला कर देता हूँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य मोहवश अर्थात् अज्ञानके कारण अपने वर्ण-धर्मको छोड़कर संसार-यात्रा करना चाहता है, वह अपने पूर्वजन्मके कृतकर्म-फलानुसार अपनी स्वाभाविक प्रकृतिके वशमें होकर अपने वर्णधर्मको स्वप्रकृत्यधीन होकर करता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि परमात्मा मनुष्यों-को स्वयं उपदेश देता है—हे मनुष्यो ! पूर्वजन्ममें किये हुए जिन कर्मोंका फल प्राणीको देना होता है, उनके अनुसार मैं उन्हें उग्र प्रकृतिवाला अथवा साधु प्रकृतिवाला उत्पन्न करता हूँ। वे अपने कर्मफलानुसार उग्र अथवा शुभ कर्म करते हैं।

६१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (ईश्वरः) सर्वलोकनियन्ता परमात्मा, (यन्त्रा-रूढानि) यन्त्रपर चढ़े हुए अर्थात् किसी यन्त्रके आधारपर रहनेवाले, (सर्व-भूतानि) प्राणी-अप्राणी सब पदार्थोंको, (मायया भ्रामयन्) अपनी शक्तिसे

अपने-अपने किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मोंके फलके अनुसार संसारके जन्म-मरणके चक्रमें घुमाता हुआ, (सर्वभूतानाम्) सब पदार्थोंके, (हृद्देशे) हृदय-देशमें, (तिष्ठति) ठहरता है अर्थात् परमात्मा ही अपनी शक्ति द्वारा सबको अपने-अपने कर्मोंका फल देता है ।। ६१ ।।

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ।।

(ऋग्वेदः १०-४३-६)

(वृषा) भक्तजनोंके कामनामय फलोंकी वर्षा करनेवाला अर्थात् प्राणी और प्राणहीन पदार्थोंपर स्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके फलोंकी वर्षा करनेवाला, (मघवा) सबसे पूजनीय परमात्मा, (विशं विशं पर्यशायत) प्रत्येक प्राणी और अप्राणी पदार्थके मध्यमें शयन अर्थात् निवास करता है । (जनानां धेनाः अवचाकशत्) सब प्राणियोंके कर्म देखता है, सबकी स्तुति-निन्दात्मक वाणी सुनता है, और, (शक्रः) सर्वशक्ति-सम्पन्न परमात्मा, (यस्य अह) जिस मनुष्यके ही, (सवनेषु) सायं, मध्याह्न और प्रातःकालके यज्ञात्मक कर्मोंमें, (रण्यति) रमण करता है अर्थात् परमात्मा मनुष्योंके त्रैकालिक कर्मोंको देखता है। (सः) वह कर्मकर्ता मुमुक्षुजन, (तीव्रैः सोमैः) अपने अति शुभ कर्मोंसे, (पृतन्यतः) काम-क्रोध-लोभात्मक शत्रुसेनाओंके, (सहते) प्रहारको सहन करता है अर्थात् काम-क्रोध-लोभादिके प्रभावको दबा देता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि परमात्मा सब चराचर जगत्के पदार्थोंके मध्यमें वास करता है और वह अपनी शक्ति द्वारा सब पदार्थोंको अपनी-अपनी कर्मगतिके अनुसार जन्म-मरणके चक्करमें घुमाता रहता है। वेद और उपनिषद्-में भी यही कहा गया है कि परमात्मा सब पदार्थोंके मध्यमें वास करता है, सबकी कर्मगति देखता है और सबकी बातें सुनता है। वही सबको अपने-अपने कृत कर्मोंका फल देता है । जो भक्त अपने हृदयमें परमात्माके वासको जानकर शुभ कर्म करता है वह काम-क्रोधादि शत्रुसेनाके प्रहारको सह लेता है और काम-क्रोधादि-नाशक शत्रुओंको जीतकर परमात्माके चरणोंमें प्राप्त हो जाता है ।

६२. तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।

(भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! अथवा ज्ञानके प्रकाशमें लगे हुए अर्जुन ! (सर्वभावेन) सब स्थानोंमें परमात्मा ही वास करता है, इस भावसे,

(तम् एव) सर्वव्यापक उस परमात्माकी ही, (शरणं गच्छ) शरणको प्राप्त हो। (तत्प्रसादात्) उस परमात्माकी कृपासे, (परां शान्तिम्) सर्वश्रेष्ठ शान्तिको, (प्राप्स्यसि) पाएगा, और, (शाश्वतं स्थानं प्राप्स्यसि) नित्यस्थान अर्थात् मुक्तिस्थानको पावेगा ।। ६२ ।।

तवाहमग्न [1]ऊतिभिर्मित्रस्य च [2]प्रशस्तिभिः ।
[3]द्वेषोयुतो न दुरिता [4]तुर्याम मर्त्यानाम् ।।

(ऋग्वेदः ५-९-६)

(अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (अहम्) तेरी शरणमें प्राप्त हुआ मैं दासजन, (मित्रस्य) सबके मित्ररूप अर्थात् सबके समानरूप, (तव) तुझ परमात्माकी, (ऊतिभिः) हमपर की हुई रक्षाओंसे, (च) और, (प्रशस्तिभिः) हमसे की हुई तेरी स्तुतियोंसे, (मर्त्यानाम्) शरणमें आए हुए मनुष्योंके, (दुरिता=दुरितानि) पाप और उनके साधन कर्मोंको, (द्वेषोयुतः न) द्वेष करनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओंकी भाँति, (तुर्याम) पार कर जाऊँ अर्थात् तेरी रक्षाओंसे तथा उस रक्षाके लिये की हुई स्तुतियोंसे बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओंको तर जाऊँ।

तव क्रत्वा सनेयं तव रातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः ।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममाग्ने हर्षस्व दातवे ।।

(ऋग्वेदः ८-१९-२९)

(अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (तव क्रत्वा) आपकी शरणगति अर्थात् शरणप्राप्तिमय कर्मसे, (सनेयम्) आपकी शरणको प्राप्त होऊँ। (तव) आपके आगे, (रातिभिः) अपने आपको समर्पण करके, (त्वां सनेयम्)

---

१. ऊतिभिः—'अव रक्षणे', क्तिन्, 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' इत्यूठ्, 'ऊतियूतिजूति'–इत्यादिना निपात्यते।

२. प्रशस्तिभिः='शंसु स्तुतौ', क्तिन्प्रत्ययः।

३. द्वेषोयुतः—'द्विष् अप्रीतौ', भावे असुन्प्रत्ययः। 'यु मिश्रणे', कर्तरि क्विप्, तुक्।

४. तुर्याम—'तॄ प्लवनतरणयोः', प्रार्थनायां लिङ्, यासुट्, 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सकारलोपः। 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य', 'बहुलं छन्दसि' इत्युत्वम्।

आपका भजन करूँ, और, (तव) आपकी, (प्रशस्तिभिः) श्रेष्ठ स्तुतियोंसे, (त्वां सनेयम्) आपको भजूँ । (वसो !) सबके वासस्थान अथवा सब पदार्थोंको बसानेवाले परमात्मन् ! (मम) शरणमें प्राप्त हुए मुझ दासकी, (प्रमतिम्) अत्यन्त श्रेष्ठ बुद्धिको शुद्ध करनेवाला, (त्वाम् इत् आहुः) तत्त्व-वेत्ता ज्ञानी आपको ही बताते हैं । (अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (दातवे) अपने भक्तजनको अपनी शरण देनेके लिए, (हर्षस्व) प्रसन्न होइए, भक्तको अपनी कृपादृष्टिसे प्रसन्न कीजिए ।

य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः ।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥

(ऋग्वेदः ६-४५-१६)

हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! (यः) जो परमात्मा, (एक इत्) केवल एक मात्र अथवा अद्वितीय है, (तम् उ ष्टुहि) तू उस परमात्माकी स्तुति कर अर्थात् उसकी शरणको प्राप्त हो, (कृष्टीनां विचर्षणिः) वह सारे चराचर जगत्का द्रष्टा, (वृषक्रतुः पतिः जज्ञे) और धर्म-कर्मात्मक अर्थात् धर्म और कर्मका स्वरूप है । इसी रूपमें वह स्वामी जाना जाता है ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि हे मनुष्य ! तू सब प्रकारसे अनन्यभाव होकर परमात्माकी शरणको प्राप्त हो । उसकी कृपासे तू पराभक्तिको और मुक्तिस्थानको प्राप्त करेगा । वेदमें भी भगवान्से प्रार्थना की गई है कि हे पर-मात्मन् ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ । अपनी कृपा द्वारा आप इस संसार-रूपी बन्धनसे मेरी रक्षा करें और अपनी प्रसन्नतापूर्वक मुझे अपनी शरणका दान दें । वहींपर जीवसे कहा गया है कि संसारमें एक अद्वितीय परमात्मा ही स्तुति करनेयोग्य है । तू उसीकी शरण जा, क्योंकि वही परमात्मा धर्म और कर्मका साक्षात् स्वरूप है तथा संसारका स्वामी है ।

६३. इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥

हे अर्जुन ! (इति) मैं भी पहले था, तू भी पहले था, आगे भी हमारा आत्मा रहेगा, यहाँसे लेकर तू नित्य मुक्तिस्थानको प्राप्त करेगा, इतने तक, (गुह्यात् गुह्यतरम्) गुह्यसे भी अत्यन्त गुह्य अर्थात् छिपा हुआ, (ज्ञानम्) ज्ञान, (मया) मैंने, (ते) शरणमें आये हुए तुझे, (आख्यातम्) कहा है । तू मेरे बतलाए हुए इस ज्ञानको, (अशेषेण विमृश्य) पूर्णरूपसे सोच-विचार

कर, (यथा इच्छसि) जैसी तेरी इच्छा हो, (तथा कुरु) वही कर ! तू मेरे प्रभावमें आकर अपने स्वतन्त्र विचारको मत दबा, क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है ।। ६३ ।।

गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्स्वपीवृतं मायिनं क्षियन्तम् ।
उतो अपो द्यां तस्तभ्वांसमहन्नहिं शूर वीर्येण ।।

(ऋग्वेदः २-११-५)

(शूर !) हे ज्ञान ग्रहण करनेमें वीरतायुक्त मनुष्य ! (गुहाहितम्) हृदयाकाशमें धारण किये हुए अर्थात् छिपे हुए, (गुह्यम्) सर्व-साधारणके सामने न प्रकाशित करनेयोग्य, (गूढम्) अत्यन्त गुह्य रहस्यमय, (अप्सु अपीवृतम्) सब कर्मोंमें तिरोहित हुआ जो ज्ञान है, जिसे, (मायिनम्) ब्रह्मशक्तिको प्राप्त हुआ अर्थात् ब्रह्मशक्तिवाला, (क्षियन्तम्) सर्व-शक्तिसम्पन्न, सबका मुक्तिस्थान कहा जाता है, (उतः) और भी, (द्याम्) ज्ञानसे विकसित हुए हृदयाकाशको, (तस्तभ्वांसम्) स्तम्भरूप अर्थात् ज्ञानको रोकनेवाले अज्ञानसे, (अपः) दूर रख । (वीर्येण) अपने नाम-स्मरणात्मक सामर्थ्यसे, (अहिम्) काम, क्रोध, लोभादि पापको, (अहन्) नाश कर ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि हे मनुष्य ! कर्म, उपासना और ज्ञानात्मक गुह्यसे गुह्य ज्ञान तुझे कहा गया है । भलीभाँति तू अपने मनमें सोच-विचार करके जिस ओर जाना है अथवा जो काम करना है, उसे अपनी इच्छासे कर अर्थात् कर्मयोग करेगा तो तेरे लिये उत्तमता होगी और कर्मयोगसे दूर रहेगा तो तेरा नाश होगा । ऐसा सोच ले । वेदमें भी यही कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान अर्थात् वैदिकज्ञान गुह्यसे गुह्य यानी अत्यन्त गूढ, परमात्माकी शक्तिसे युक्त और मुक्तिका साधन है । ऐसा सोचकर अपने शुद्ध हृदयसे अज्ञानमय सर्प अथवा पापको दूर कर और परमात्माकी शरणको प्राप्त हो जा ।

६४. सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।

हे अर्जुन ! (सर्वगुह्यतमम्) सब रहस्यमय सिद्धान्तोंमें-से अत्यन्त रहस्यमय, (मे) मुझ परमात्माके, (परमं वचः) अत्युत्तम कथनको, (भूयः) फिर, (शृणु) सुन । (मे इष्टः असि) तू मेरा परमप्रिय है, (ततः) इस कारण अर्थात् तुझे परमप्रिय जानकर, (दृढम्) अत्यन्त अर्थात् परिपूर्ण, (हितम्) तेरा कल्याण करनेवाले वचन, (वक्ष्यामि) कहता हूँ ।। ६४ ।।

तमिद् वोचेमा[1] विदथेषु[2] शं भुवं[3] मन्त्रं देवा अनेहसम् ।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा[4] नरो विश्वेद् वामा वो अश्नवत्[5] ॥
(ऋग्वेदः १-४०-६)

(देवाः !) हे दिव्य ज्ञान रखनेवाले यति जनो ! अथवा मुमुक्षु देवताओ ! (शंभुवम्) सुख उत्पन्न करनेवाले अर्थात् नित्यसुखकारक, (अनेहसम्) किसीसे भी नष्ट न करनेयोग्य अर्थात् स्वकृत और परकृत दोषसे रहित, (मन्त्रम्) भगवन्नाम-प्रतिपादक और मननात्मक, (तम् इत्) उसी विवेक-को, (विदथेषु) परस्पर जाननेयोग्य ज्ञानयज्ञोंमें, (वोचेम) एक दूसरेसे कहें । (नरः !) हे मुमुक्षुजनो ! (च इमां वाचम्) मुझ परमात्मासे उच्चा-रण की हुई इस ज्ञानमयी वेदवाणीको, (प्रतिहर्यथ) तुम पूर्णरूपसे प्राप्त करो । यदि तुम इसे पूर्णरूपसे अपनाओगे, तो, (विश्वा इत्) सारी ही, (वामा) भजन करनेयोग्य श्रेष्ठ ज्ञानमयी वेदवाणी, (वः) तुम मुमुक्षु मनुष्योंको, (अश्नवत्) प्राप्त होगी ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ज्ञान-साधना और कर्मयोगके लिये मेरे अत्यन्त रहस्यमय वचन फिर सुन, क्योंकि तू मेरा अंश नररूप होकर जगत्में आया है । मनुष्य मुझे परमप्रिय है । इसे इसी जन्ममें मुझसे मिलना है अर्थात् मनुष्य जन्म प्राप्त करनेपर मुक्ति प्राप्त हो सकती है, अतः मनुष्यके लिये हित-कारी वचन कहता हूँ । वेदमें भी यही कहा गया है कि हे मुमुक्षु मनुष्यो ! मैं तुम्हें तुम्हारे कल्याण करनेवाले और मनन करनेयोग्य वेदवाणीका उपदेश देता हूँ । तुम भी उन्हीं ज्ञानात्मक मन्त्रोंको परस्पर ज्ञानगोष्ठी द्वारा कहो । ऐसा होनेपर तुम मुक्तिधामको प्राप्त होओगे ।

---

१. वोचेम—'वच् परिभाषणे', आशीर्लिङि, 'लिङ्याशिष्यङ्' इति अङ, 'वच उम्' इत्युमागमः, 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वात् 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति यासुटः सकारस्य लोपः, 'अतो येयः' इतीयादेशः । 'आद्गुणः' इति गुणः ।
२. विदथेषु—'विद ज्ञाने', विद्यते फलसाधनत्वेन ज्ञायते इति विदथो यज्ञो ज्ञानं वा । 'रुविदिभ्यां कित्' (उ. सू. ३.३९५) इत्यथप्रत्ययः ।
३. शंभुवम्—भवतेरन्तर्भावितण्यर्थात् 'क्विप् च' इति क्विन्प्रत्ययः, 'ओः सुपि' इति यणादेशे प्राप्ते, 'न भूसुधियोः' इति निषेधः ।
४. प्रतिहर्यथ—'हर्य गतिकान्त्योः' ।
५. अश्नवत्—'अशू व्याप्तौ', लेटि अडागमः, व्यत्ययेन परस्मैपदम् ।

६५. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

हे अर्जुन! (मन्मना भव) मुझ परमात्मामें मन लगानेवाला हो, (मद्-भक्तः भव) मुझ परमात्माका भक्त हो। (मद्याजी) मेरा ही यजन अर्थात् पूजन करनेवाला हो। (माम्) मुझ परमात्माको, (नमः कुरु) प्रणाम कर। (माम् एव एष्यसि) ऐसा करनेसे मुझ सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा-को ही प्राप्त होगा। (ते सत्यं प्रतिजाने) तेरे लिये इस निमित्त सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि, (मे प्रियः असि) तू मेरा प्रिय भक्त है॥ ६५॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥
(अथर्ववेदः ६-९४-२)

हे मुमुक्षु मनुष्यो! जो मनुष्य अविकल भावसे अपने मनको मेरे अर्थात् परमात्माके चरणोंमें लगाता है, (अहम्) मैं परमात्मा, (मनांसि) अपने मनको लगानेवाले अपने भक्तोंके मनको अर्थात् मननशक्तियोंको, (मनसा) अपने मनसे, (गृभ्णामि) ग्रहण कर लेता हूँ अर्थात् उसे अपना परमप्रिय बना लेता हूँ। (अनुचित्तेभिः) हे भक्तजनो! तुम अपनी सदसद्विवेचनात्मक शक्तियों द्वारा, (मम चित्तम्) मेरी चेतना शक्तियोंके अनुकूल अर्थात् जैसे मैं सदा एकरस और सम होकर सबको देखता हूँ, वैसे तुम भी प्राणिमात्रको अपना आत्मरूप देखते हुए, (अनु-आ-इत्) सबमें अनुकूल होकर प्राप्त होओ। हे भक्तजनो! (वः) इसलिये तुम भक्तजनोंके, (हृदयानि) हृदयोंको, (मम वशेषु) अपनी अर्थात् परमात्माकी अधीनतामें, (कृणोमि) करता हूँ अर्थात् तुम सदा भगवद्भक्त होकर परमात्मामें मन लगानेवाले, परमात्माकी भक्ति करनेवाले, परमात्माका पूजन और परमात्माको ही नमस्कार करनेवाले बने रहो। (मम यातम् अनुवर्त्मानः) मेरे अर्थात् परमात्माके पूजनादि-मार्गपर चलते हुए, (आ इत्) सम्यक्तया मुझे प्राप्त होओ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मुमुक्षु मनुष्य परमात्मामें मनको लगाता है, परमात्माका भक्त और उसका पूजक होता है और परमात्माको सर्वत्र व्यापक मानकर सबको परमात्माका रूप समझता हुआ नम्र भावसे नमस्कार करता है वह परमात्माका परमप्रिय भक्त होता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि मनुष्य अपना मन परमात्माके ध्यानमें तथा अपनी चित्तशक्तिको

परमात्माकी चेतन सत्तामें लगावे और वेदद्वारा बतलाए हुए मार्गपर चले तो परमात्मा उन भक्तोंके हृदयोंको अपनी ओर कर लेता है अर्थात् वह परमात्मा-का अत्यन्त प्रिय भक्त हो जाता है और वही मुक्ति भी पा लेता है।

६६. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

हे अर्जुन! (सर्वधर्मान्) श्रद्धा और भक्तिसे युक्त तथा श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्मोंके करनेसे नष्ट हुए पापोंवाला तू निष्प्रयोजन अनित्य फलवाले ज्योतिष्टोमातिरात्रादि और वाजपेय, द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, तपोयज्ञादि असद्विषयवाले और मुक्तिके प्रतिबन्धक सब धर्मोंको, (परित्यज्य) छोड़कर अथवा प्राकृतिक धर्मोंको छोड़कर, (एकं माम्) माया और उसके कार्यसे रहित नित्य शुद्धसच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय मुझ परब्रह्मको, (शरणं व्रज) आश्रय कर अर्थात् परब्रह्म परमात्माकी शरणको प्राप्त कर। (अहम्) मैं परमात्मा, (त्वा=त्वाम्) सर्वदा सर्वत्र सबको ब्रह्मस्वरूप देखते हुए तुझ नररूप अपने सखाको, (सर्वपापेभ्यः) आचार्य-गुरु-श्वशुर-मातुलादि-हत्याजन्य, गोत्रहत्या-जन्य और जरा-जन्म-मृत्युकारक पापोंसे, (मोक्षयिष्यामि) छुड़ा दूँगा। (मा शुचः) तू किसी प्रकारका शोक मत कर॥ ६६॥

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव॥

(अथर्ववेदः ५-३०-८)

हे मुमुक्षु जीवात्मन्! (अहम्) मैं परमात्मा, (निः अवोचम्) पूर्णरूपसे कहता हूँ अर्थात् उपदेश देता हूँ। (तव) सारे चराचर जगत्को परमात्माका स्वरूप देखनेवाले तुझ भक्तके, (अङ्गेभ्यः) सब अङ्गोंसे अर्थात् समग्र देहसे, (यक्ष्मम्) व्याधियोंके राजा जन्म-मरणादिकारक और सांसारिक प्राणियोंसे पूजनीय अर्थात् करणीय प्राकृतिक कर्मरूप रोगको, और, (अङ्गज्वरम्) देह-जन्य पाप और तापको दूर करता हूँ। (न मरिष्यसि) मेरी अर्थात् पर-मात्माकी शरणमें आया हुआ तू न मरेगा यानी मृत्युसे छूट जाएगा। फिर तू जन्म-मृत्युके बन्धनमें न आएगा। (मा बिभेः) गुरु, आचार्यको मारकर पापी बनूँगा, ऐसा भय मत कर और न शोक कर। (त्वा) परमात्माकी शरणमें प्राप्त हुए तुझ मुमुक्षु जनको, (जरदष्टिं कृणोमि) जराहीन अर्थात् अजर-अमर बनाकर मुक्त करता हूँ।

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः ।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ।।

(ऋग्वेदः २-२३-५)

(ब्रह्मणस्पते !) हे विस्तृत ब्रह्माण्डके स्वामिन् ! हे परमात्मन् ! (सुगोपाः) समीचीनतया अर्थात् पूर्णरूपसे रक्षा करनेवाले तुम, (यम्) शरणमें आए हुए जिस ममुक्षु मनुष्यकी, (रक्षसि) रक्षा करते हो, (अंहः तं न) उसे कोई पाप नहीं छूता अर्थात् वह पापसे दूर रहता है। (न दुरितम्) उसे आध्यत्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःख नहीं प्राप्त होता। (कुतश्चन) किसी प्रकारसे भी, (न अरातयः) काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार प्रभृति शत्रु भी प्राप्त नहीं होते। (द्वयाविनः) दोनों लोकोंमें गमन करनेवाले अर्थात् इस लोकमें और परलोकमें, (न तितिरुः) तिरस्कारको नहीं पाता अर्थात् दोनों लोकोंमें परमात्माकी कृपासे सुखी और आनन्दित रहता है। (अस्मात्) इस कारण, (विश्वा ध्वरसः इत्) सब कायिक, वाचिक और मानसिक हिंसाएँ ही, (यम्) जिस परमात्माके प्रिय भगवद्भक्तको, (न वि बाधसे) विशेष करके बाधित नहीं करतीं अर्थात् जो परमात्माकी शरणमें जाता है उसे कोई सांसारिक बाधा दुःख नहीं देती, वह मुक्तिपथगामी होता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि हे मनुष्य ! यदि तू अनित्यफलोत्पादक श्रौत-स्मार्त यज्ञ और नैमित्तिक सकाम कर्मोंको त्यागकर परमात्माकी शरण-में चला जायगा तो तुझे कोई पाप नहीं छू जायगा और न तुझे पाप करनेकी रुचि ही होगी। यदि अकस्मात् कोई पाप अज्ञान से हो भी जावे तो परमात्मा तुझे उस पापसे छुड़ा देगा। अतः सांसारिक शोकोंका परित्याग करके पर-मात्माकी शरण जा। लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको छोड़कर और शरीर तथा संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परमगति और सर्वस्व समझ तथा अनन्य भावसे, अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति और अत्यन्त प्रेमसे भगवान्के ॐ तत् सत्, हरि इत्यादि नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करता रह। इसी प्रकार परमात्मा-का भजन और स्मरण रखते हुए उनके आज्ञानुसार कर्तव्य कर्मोंका निःस्वार्थ भावसे केवल परमेश्वरार्पित आचरण ही सब प्रकारसे परमात्माकी अनन्य शरणा-गति अर्थात् शरण होना कहा गया है। वेदमें भी यही कहा गया है कि हे पर-मात्माकी शरणमें आया हुआ मुमुक्षु मनुष्य ! मैं तेरी देहसे सब प्रकारके पाप और तापोंको दूर करता हूँ। परमात्माकी शरण लेनेवाला मुमुक्षु मनुष्य अजर

और अमर होकर मुक्त हो जाता है अर्थात् उसमें द्वैतभाव नहीं रह जाता अतः वह निर्भय हो जाता है। परमात्मा जिसका रक्षक है, वह कभी भी पापी, तापी और दोनों लोकोंमें तिरस्कृत नहीं होता तथा काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओंसे रहित हो जाता है।

६७. इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

हे अर्जुन! (ते) तुझे, (इदम्) यह गुह्यसे गुह्य शरणागति-ज्ञानशास्त्र अथवा मोक्षशास्त्र, (कदाचन) कभी भी, (अतपस्काय न, अभक्ताय न वाच्यम्) तपस्या और भगवद्भक्तिसे रहित मनुष्यको नहीं बताना चाहियें। (च अशुश्रूषवे न वाच्यम्) शास्त्र अर्थात् गीताशास्त्रको सुननेकी इच्छा न रखनेवालेको भी नहीं बताना चाहिए। (च यः माम् अभ्यसूयति) और जो मुझे प्राकृत मनुष्य मानकर अथवा नास्तिक बनकर मुझ परमात्माकी निन्दा भी करता है, (न वाच्यम्) उसे भी यह ज्ञान-शास्त्र नहीं बताना चाहिये ॥६७॥

निरुक्तमें आया है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम ॥

(निरुक्तम् २-४)

(वै) निश्चय ही, (ह) यह बात प्रसिद्ध है कि, (विद्या) सत्यासत्यविवेक करानेवाली वेदवाणी अर्थात् वैदिकज्ञानात्मक विद्यारूपी सरस्वती, (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञानी ऋषियों, ब्रह्मतत्त्वके जाननेवाले और निष्काम भावसे परमात्माकी भक्ति करनेवाले ब्राह्मणोंके पास, (आजगाम) आई और कहने लगी! (मा) मुझे अथवा मेरी, (गोपाय) नास्तिक मनुष्योंसे रक्षा कर। (अहम्) मैं ब्रह्मविद्या, (ते) तेरी अर्थात् ब्रह्मज्ञानीकी, (शेवधिः अस्मि) निधि अर्थात् कोष हूँ। (असूयकाय) व्यर्थ ही दूसरोंकी निन्दा करनेवाले अथवा ब्रह्मज्ञानियोंसे ईर्ष्या करनेवाले, तथा, (अयताय) इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाले इन्द्रियाधीन असावधान मनुष्यको, और, (अनृजवे) कूटनीति अर्थात् कुटिल बर्ताव करनेवाले इन मनुष्योंको मेरा ज्ञान मत दे। केवल विद्याके अधिकारियोंको मेरा ज्ञान दे, (तथा) जिससे, (वीर्यवती स्याम्) मैं बलवती होऊँ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि ब्रह्मविद्या परमात्माके विरोधियों अर्थात् नास्तिकोंको, सांसारिक विषयोंमें आसक्त जीवोंको, ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये तपस्वी जीवन न रखनेवालोंको और दूसरोंके निन्दकोंको नहीं देना चाहिये। वेदाङ्ग निरुक्तमें भी यही लिखा है कि परनिन्दक मनुष्यको, कुटिल नीतिवाले मनुष्योंको तथा प्रमा ी मनुष्योंको ब्रह्मकी विद्या न बताये। ऐसे मनुष्योंको बतानेसे ब्रह्मविद्या निर्बल हो जाती है। अधिकारियोंको बतानेसे वही ब्रह्मविद्या बलवती होती है।

६८. य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

६९. न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

हे अर्जुन! (यः) जो ब्रह्मज्ञानी अर्थात् ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा मनुष्य, (इमं परमं गुह्यम्) इस अत्यन्त गुह्य, सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानको, (मद्भक्तेषु) मेरे भक्तोंको, (अभिधास्यति) बताएगा, (मयि परां भक्तिं कृत्वा) वह गीताशास्त्र-प्रोक्त ब्रह्मज्ञानका उपदेशक मुझ परमात्मामें अनन्यशरणागतिरूप पराभक्ति करके, (माम् एव एष्यति) मुझे ही प्राप्त होगा अर्थात् मुक्त हो जायगा। (असंशयः) इसमें कोई संदेह नहीं है॥ ६८॥

(मनुष्येषु) सब मनुष्योंमें, (तस्मात्) अधिकारियोंको ही गीताशास्त्र-प्रतिपादित ब्रह्मज्ञानका उपदेश देनेवाले उस भगवद्भक्त ब्रह्मज्ञानी मनुष्यसे भिन्न, (अन्यः कश्चित्) दूसरा कोई मनुष्य, (मे प्रियकृत्तमः) मेरा अत्यन्त प्रिय करनेवाला, (भुवि) सारी भूमिपर, (न च) और कोई नहीं है। (तस्मात् अन्यः) उपदेष्टा ब्रह्मज्ञानीसे भिन्न दूसरा, (प्रियतरः) अत्यन्त प्रिय, (न भविता) मेरा प्रिय न होगा अर्थात् अधिकारियोंको ही ब्रह्मज्ञान देनेवाला मेरा प्रिय है॥ ६९॥

असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः।
विदाना अस्य योजनम्॥

(**ऋग्वेदः ९-७-१**)

(**अस्य**) वेदतत्त्वके प्रतिपादक इस भगवद्गीताके ज्ञानके, (योजनम्) प्रयोगको अर्थात् गीताज्ञानके सम्बन्धको, (विदानाः) पूर्ण एकाग्र वृत्तिवाले मनसे जानते हुए, (सुश्रियः) भगवद्भक्ति द्वारा ब्रह्मज्ञान धारण करनेसे संसारमें

शोभायमान होते हुए, ब्रह्मज्ञानसे सुन्दर शोभा और सुन्दर प्रभाववाले होकर, (धर्मन्) सत्यधर्ममें वर्तते हुए, (ऋतस्य पथा) सत्यस्वरूप ब्रह्मयज्ञके मार्ग-द्वारा, (इन्दवः) सत्त्वगुणकी अधिकतासे या ब्रह्मज्ञान धारण करनेसे शीतल और शान्त स्वभाववाले भक्तजन, (असृग्रम्) अपने आपको उस ब्रह्मज्ञानसे युक्त करते हैं और सांसारिक मर्यादासे उपराम पा जाते हैं।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥

(निरुक्तम् २-४)

(हे ब्रह्मन् !) हे ब्रह्मविद्याके जाननेवाले ब्राह्मण ! आप, (यम् एव) जिस विद्यार्थीको ही, (शुचिम्) शरीर, मन और वाणीसे शुद्ध, (अप्रमत्तम्) प्रमादसे रहित अर्थात् सावधान, (मेधाविनम्) धारणाशक्ति रखनेवाला शुद्ध-बुद्धि, और, (ब्रह्मचर्योपपन्नम्) ब्रह्मचर्यसे युक्त, (विद्याः) जानें, (यः ते न द्रुह्येत्) और जो आपके साथ अर्थात् विद्यागुरुके साथ द्रोह न करे, (निधिपाय तस्मै) विद्या-निधिकी रक्षा करनेवाले उस अधिकारीको, (माः ब्रूयाः) मेरा उपदेश करें ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो ब्रह्मतत्त्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानके अधिकारी मनुष्योंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देगा, पराभक्तिद्वारा वह मुझमें ही प्रवेश करेगा अर्थात् वह निःसंशय मुक्त हो जायगा। वेद और निरुक्तमें भी यह कहा गया है कि यदि तत्त्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानी विद्याग्रहण करनेमें अनधिकारियोंको छोड़कर यथावत् ब्रह्मज्ञानका उपयोग करनेवाले तथा कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धि रखनेवाले, पूर्णतया धारणाशक्तियुक्त बुद्धिवाले, सावधान अर्थात् अप्रमादी तथा ब्रह्मचारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश देता है तो इससे विद्या-निधि सुरक्षित रहती है।

७०. अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

हे अर्जुन ! (यः) जो अधिकारी मुमुक्षु मनुष्य, (आवयोः) तेरे-मेरे (धर्म्यम्) धर्म-संयुक्त, (इमं संवादम्) इस प्रश्नोत्तरमय संवादको अर्थात् गीताशास्त्रको, (अध्येष्यते) पढ़ेगा, उसका, (अहम्) मैं श्रीकृष्ण अर्थात् परमात्मा, (तेन ज्ञानयज्ञेन) उस गीताशास्त्रीय ज्ञानयज्ञसे, (इष्टः स्याम्) आराधित, प्रिय हो जाऊँगा, (इति मे मतिः) यह मेरी बुद्धि अर्थात् सम्मति है ॥ ७० ॥

इमं स्तोमं सक्रतवो मे अद्य मित्रो अर्यमा वरुणो जुषन्त ।
आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः ॥

(ऋग्वेदः २-२७-२)

(मित्रः) प्रमाज्ञानद्वारा अपनी रक्षा करनेवाला अथवा मित्ररूप होकर प्राणिमात्रका हित करनेवाला, (अर्यमा) काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओंको वशमें रखनेवाला, (वरुणः) सबसे वरनेयोग्य अर्थात् सबसे मान देनेयोग्य, श्रेष्ठ विचारवाला और दया-श्रद्धादि शुभ गुणवाला, (सक्रतवः) परमात्माकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयज्ञात्मक कर्म करनेवाला मनुष्य, (अद्य) आज अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके समयपर, (मे) मुझ परमात्मासे उपदेश दिये हुए, (इमं स्तोमम्) इस ज्ञानशास्त्रका, (जुषन्त) सेवन करे अर्थात् अभ्यास करे । ज्ञानशास्त्रके अभ्यासी मनुष्य, (आदित्यासः) सूर्यके समान तेजस्वी अथवा आदित्य, ब्रह्मचारी अथवा न कटनेयोग्य अर्थात् अमर, और, (शुचयः), कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धिवाले हो जाते हैं । वे, (धारापूताः) भगवत्प्रोक्त ब्रह्मज्ञानकी धारासे पवित्र, और, (अवृजिनाः) पापोंसे रहित होकर भगवद्भक्त ज्ञानियोंके साथ मिलकर रहनेसे, (अनवद्याः) निन्दित कर्मोंसे रहित अर्थात् शुद्धमन होकर, (अरिष्टाः) सब अनर्थोंसे रहित अर्थात् मुक्ति-पदके अधिकारी हो जाते हैं ।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि इस ज्ञानशास्त्र अर्थात् गीताशास्त्रका अध्ययन करनेसे मन शुद्ध होता है और इस ज्ञानयज्ञसे जो ज्ञानी प्रसन्न हो जाते हैं उन ज्ञानियोंका भगवान् प्रिय हो जाता है, वे भी भगवान्के प्रिय हो जाते हैं और संसारके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं । वेदमें भी यही कहा गया है कि सबका मित्र, सबके आदरयोग्य और सद्गुणोंसे श्रेष्ठ, काम-क्रोधादि शत्रुओंको जीतनेवाला जो मुमुक्षु मनुष्य मेरे इस वैदिक ज्ञानशास्त्रको पढ़ता है और इसका अभ्यास करता है, वह आदित्यवत् ज्ञानमय सूर्यसे प्रकाशित, पाप-रहित और शुद्धमनवाला होकर सब बुराइयोंसे रहित और परमात्माका प्रिय होकर अमर हो जाता है ।

७१.　श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥

(यः नरः) जो मनुष्य, (श्रद्धावान्) ज्ञानशास्त्रमें पूरी श्रद्धा रखता हुआ, (च) और, (अनसूयः) दूसरे मनुष्योंकी निन्दा न करता हुआ,

(शृणुयात्) इस गीताशास्त्रको दूसरे ज्ञानी मनुष्यसे सुने, (सः अपि) गीता-शास्त्र सुननेवाला वह मनुष्य भी, (पुण्यकर्मणाम्) यज्ञ-यागादि शुभकर्मोंके करने-वाले मनुष्योंसे प्राप्त किये हुए, (शुभान् लोकान्) सुखस्वरूप लोकों अर्थात् स्वर्गादि लोकोंको, (मुक्तः) संसारबन्धनसे मुक्त होकर, (प्राप्नोति) प्राप्त हो जाता है ॥ ७१ ॥

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः ।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥

(ऋग्वेदः २-२६-३)

(देवानाम्) दिव्यकर्म करनेवाले या ज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशमान पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्योंमें-से, (यः) सांसारिक पदार्थोंपर मोहित युवा अथवा वृद्ध जो मनुष्य, (श्रद्धामनाः) परमात्माद्वारा उपदेश किये हुए वैदिक ज्ञानशास्त्रपर पूर्ण श्रद्धासे युक्त मनवाला होकर, (पितरम्) सारे ब्रह्माण्डके पालक और रक्षक, (ब्रह्मणस्पतिम्) वेदवाणीके दाता और इस विस्तृत ब्रह्माण्डके स्वामी परमेश्वरकी, (हविषा) अनन्य भक्तिरूपी हविसे, (आविवासति—विवासतिः परिचरणकर्मा) सेवा करता है अर्थात् परमात्माके चरणोंमें वास करता है, (सः इत्) वह भगवद्भक्त मनुष्य ही, (जनेन) मनुष्यमात्रके साथ, (सः विशा) प्रजा और अपने संबन्धियोंके साथ, (सः पुत्रैः) तथा अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ, (वाचं भरते) ज्ञानबलको धारण करता है अर्थात् उसी ज्ञानी मनुष्यसे उसके सम्बन्धी और पुत्र-पौत्रादि ज्ञानचर्चा सुनकर शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं। (सः) वह ज्ञानी मनुष्य, (नृभिः) दूसरे सहचारी मनुष्योंके साथ, (अपि) भी, (धना=धनानि) ज्ञानमय धन-सम्पत्तिको, (भरते) धारण करता है।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि जो मनुष्य परनिन्दक न होकर भगवत्प्रोक्त गीताशास्त्रमें पूरी श्रद्धा रखता हुआ गीता-शास्त्रको सुनता है वह भी शुद्ध मनवाला होकर पुण्यलोकोंको अर्थात् स्वर्गलोक अथवा मुक्तिधामको प्राप्त करता है। वेदमें भी यही कहा गया है कि जो मनुष्य वेदवाणीपर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए ब्रह्माण्डके पालक परमात्माकी भक्ति करता है वही मनुष्य अपने पुत्र-पौत्रों और संबन्धियोंके साथ पुण्य लोकोंको प्राप्त होता है।

७२. कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥

अर्जुन उवाच—

७३. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (त्वया) तत्त्वज्ञानको जाननेकी इच्छावाले तूने, (एकाग्रेण चेतसा) एकाग्र मनसे अर्थात् सावधान मनसे, (एतत्) मुझसे कहा हुआ यह ज्ञान-शास्त्र, (कच्चित्) क्या, (श्रुतम्) सुना है ? (धनञ्जय !) हे युद्ध द्वारा धनको जीतनेवाले अर्जुन ! (ते) तेरा, (अज्ञानसम्मोहः) अज्ञानसे उत्पन्न हुआ सम्मोहात्मक विपरीत ज्ञान, (कच्चित्) क्या, (प्रणष्टः) नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन इस प्रश्नको सुनकर कहने लगा— (अच्युत !) हे भगवान् कृष्ण ! (त्वत्प्रसादात्) आपकी कृपासे अर्थात् आपके उपदेशजन्य अनुग्रहसे, (मोहः) अनर्थका कारण, अपने अज्ञानसे उत्पन्न हुआ और आत्मतत्त्वका बोध न करानेवाला विपरीत ज्ञान, (नष्टः) नष्ट हो गया है । (स्मृतिः) आत्मा क्या है ? संसारके साथ उसका संबन्ध क्या है ? कर्म, अकर्म और विकर्म क्या है ? निष्काम कर्म करता हुआ मनुष्य संसारमें निर्लेप रहता है, कर्तव्य कर्म करता हुआ मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है, इन कारणोंके सुननेसे अपनी क्षात्रधर्मकी स्मृति मैंने, (लब्धा) पा ली है । (गतसन्देहः) सब प्रकारके संदेहोंसे रहित होकर, (स्थितः अस्मि) अपनी क्षात्रधर्मावस्थामें स्थिर हो गया हूँ अर्थात् मैंने क्षात्रधर्मका भाव समझ लिया है । (तव) आपके, (वचनम्) 'युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म है, तू युद्ध कर' इस वचनको, (करिष्ये) करूँगा अर्थात् आपके उपदेशको सत्य मानकर श्रद्धा रखते हुए युद्ध करूँगा ॥ ७३ ॥

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥

(ऋग्वेदः १०-१२०-५)

हे परमात्मन् ! (वयम्) अपने क्षात्रधर्मपर आरूढ़ हुए हम क्षत्रिय जन, (त्वया) आपसे अनुगृहीत होकर, (प्रपश्यन्तः) अपने क्षात्र धर्मको भलीभाँति देखते हुए अर्थात् अपने वर्णधर्मको पूर्ण रूपसे पहचानते हुए, (रणेषु) संग्राम-स्थलोंमें, (शाशद्महे) सम्मुखस्थ शत्रुओंको भलीभाँति छिन्न-भिन्न कर देते हैं । हे परमात्मन् ! क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर क्षात्रधर्मको रखनेवाला मनुष्य मैं, (युधेन्यानि) युद्धमें चलनेयोग्य, (भूरि) अधिकसे

अधिक, (आयुधा=आयुधानि) आयुधों अर्थात् बाण-भुशुण्डी-कृपाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंको, (ते वचोभिः) आपके उपदिष्ट वचनोंसे, (चोदयामि) शत्रुओंपर चलाता हूँ। हे परमात्मन् ! (ते=तुभ्यम्) आपको, (ब्रह्मणा) स्तुति-रूप मन्त्रसे, (वयांसि) अपनी सारी आयु, (सं शिशामि) सम्यक्तया समर्पण करता हूँ अर्थात् मैं सदा क्षात्रधर्मपर ही आचरण करता हुआ आपके चरणोंमें वास करूँगा और आपके वचनामृतको कभी न भूलूँगा।

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।
सजोषा वृषभं पतिम् ॥

(ऋग्वेदः १-९-४)

परमात्माका भक्त वेदवाणीको सुनकर इस मन्त्र द्वारा परमात्मासे प्रार्थना करता है—(इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वसामर्थ्ययुक्त परमात्मन् ! (ते गिरः) वेदद्वारा उपदेश की हुई सर्वज्ञानोत्पादक आपकी वेदवाणियोंको, (असृग्रम्) मैंने भली प्रकार एकाग्र मनसे अन्तःकरणमें पूर्ण शिक्षाप्रद समझकर ग्रहण कर लिया है, वेदोपदेशको पूर्णरूपसे ग्रहण कर लिया है और सांसारिक मोहजन्य अज्ञान सब प्रकारसे नष्ट हो चुका है। (ताः गिरः) वे वेदवाणियाँ, (त्वां प्रति) आपकी ओरसे, (उत्+अहासत) प्राप्त हुई हैं क्योंकि आप ही सब प्राणियोंको सुखप्रदान करनेवाले वचनोंको नित्य रूपसे अपने आपमें रखते हैं, क्योंकि आप नित्य हैं और आपकी वाणी भी नित्य है। (सजोषाः) आपके सेवक, (वृषभम्) सब कामनाओंकी वर्षा करनेवाले, (त्वां पतिम्) पालक और स्वामी आपको ही, (उत्+अहासत) सांसारिक मोहको छोड़कर प्राप्त होते हैं।

तुलना—गीतामें कहा गया है कि हे मनुष्य ! क्या गीताका ज्ञान तूने सुना है ? क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हुआ ? नररूप अर्जुनने नारायणको उत्तर दिया—हे भगवन् ! मेरा अज्ञानजन्य मोह अर्थात् विपरीत ज्ञान नष्ट हो गया। अब क्षात्रधर्मकी स्मृति आ गई है। आपके उपदेशका प्रभाव मुझपर पूर्ण जम गया है। आपके आदेशके अनुसार अब मैं क्षत्रिय धर्मका पालन करते हुए युद्ध अवश्य करूँगा। वेदमें भी यही कहा गया है कि हे परमात्मन् ! आपकी वाणीका प्रभाव हम क्षत्रियोंपर पूरा पड़ा है, आपकी कृपासे हम क्षत्रिय जन युद्धोंमें अस्त्र-शस्त्रादिका प्रयोग शत्रुओंपर पूर्ण रीतिसे करेंगे और शत्रुओंको छिन्न-भिन्न कर देंगे। हम सारी आयुपर्यन्त मन्त्रमें कथित इस

उपदेशको न भूलेंगे और सदा क्षात्रधर्मका पालन करते हुए आपकी चरण-सेवा करते रहेंगे।

सञ्जय उवाच—

७४. इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥

सञ्जयने कहा—हे राजन् धृतराष्ट्र! (अहम्) मैंने, (वासुदेवस्य) महात्मा श्रीकृष्णके, (च) और, (महात्मनः पार्थस्य) महानुभाव अर्जुनके, (इति) इस प्रकार पूर्व कहे हुए, (अद्भुतम्) आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले, (रोमहर्षणम्) रोम-रोमको प्रसन्न करनेवाले, (इमं संवादम्) इस गीता-ज्ञानवाले संवादको अर्थात् प्रश्नोत्तर-वचन-समूहको, (अश्रौषम्) श्रीवेद-व्यासजीकी कृपासे सुना॥ ७४॥

७५. व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यतमं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम्॥

हे राजन्! (अहम्) मैंने, (व्यासप्रसादात्) श्रीगुरुदेव व्यासजीने युक्तयोगाभ्यासद्वारा मेरे मन और श्रवणेन्द्रियका संबन्ध कुरुक्षेत्रके युद्धस्थलसे जोड़ दिया था, जिससे मैं युद्धस्थलका संवाद हस्तिनापुरमें सुनता रहा, इस प्रकार दूरश्रुति यन्त्रद्वारा, श्रीव्यासजीकी कृपासे, (स्वयं साक्षात् कथयतः) अपने आप सामने खड़े होकर कथन करते हुए, (योगेश्वरात्) ज्ञानयोग और कर्मयोगादि सिद्धियोंके स्वामी अथवा मायायोग अर्थात् सृष्टचुत्पत्तिके स्वामी, (कृष्णात्) श्रीकृष्णजीसे, (परम्) श्रेष्ठ, (गुह्यम्) गुप्त, (इमं योगम्) इस गीता-ज्ञानयोगको, (श्रुतवान्) सुना॥ ७५॥

७६. राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥

(राजन्!) हे राजन् धृतराष्ट्र! मैं, (केशवार्जुनयोः) श्रीकृष्ण और अर्जुनके, (पुण्यम्) पवित्र और पुण्य देनेवाले, (अद्भुतम्) आश्चर्यान्वित कर देनेवाले, (इमम्) इस, (संवादम्) प्रश्नोत्तररूप संवादको, (संस्मृत्य संस्मृत्य) पुनः-पुनः स्मरण करके, (मुहुः मुहुः) बार-बार, (हृष्यामि) प्रसन्न होता हूँ॥ ७६॥

७७. तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

(राजन् !) हे राजन् धृतराष्ट्र ! (हरेः) सब पापोंके हरनेवाले श्रीकृष्ण-जीके, (अत्यद्भुतम्) अत्यन्त आश्चर्यान्वित कर देनेवाले, (तत् रूपम्) उस विराट्रूपको अर्थात् सहस्रों सिर-भुजाओंवाले उस स्वरूपको, (संस्मृत्य संस्मृत्य) पुनः-पुनः स्मरण करके, (मे) मुझे, (महान्) बहुत बड़ा, (विस्मयः) आश्चर्य हुआ, और, (पुनः पुनः हृष्यामि) उस अद्भुत विराट्-स्वरूपका स्मरण कर मैं बार-बार प्रसन्न होता हूँ। मैं धन्य हूँ, मैंने परमात्माके अद्भुत स्वरूपको देखा अतः मैं अतीव प्रसन्न होता हूँ ॥ ७७ ॥

७८. यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।

हे राजन् धृतराष्ट्र ! (यत्र) जिस संग्राम-यज्ञमें, (योगेश्वरः) विद्या और मायाके स्वामी अथवा ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोगादि सिद्धियोंके स्वामी, (कृष्णः) श्रीकृष्णजी हैं, (यत्र) जिस युद्ध-यज्ञमें, (धनुर्धरः) गाण्डीव धनुषको धारण करनेवाला, (पार्थः) अर्जुन है, (तत्र) उस युद्धयज्ञमें अर्थात् कुरुक्षेत्रके महाभारत-युद्धमें, (ध्रुवा श्रीः) स्थिर राजलक्ष्मी, और, (विजयः) विजय, (भूतिः) राज्यमें घोड़ा, गौ, हाथी तथा धन-धान्यादिकी सम्पत्ति, और, (ध्रुवा नीतिः) उस पक्षमें ही शास्त्रद्वारा बताई हुई नीति अर्थात् मर्यादा स्थिर रहती है। (मम मतिः) यह मेरी सम्मति है ॥ ७८ ॥

यस्मिन् विश्वा अधिश्रियो रणन्ति सप्त संसदः ।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥

(ऋग्वेदः ८-९२-२०)

(यस्मिन्) जिस यज्ञ, कर्म अथवा पक्षमें, (अधि) परमात्माका अधि-कार रहता है या जो कर्म अथवा पक्ष परमात्माके सहारे और परमात्माके अधीन रहता है, (विश्वाः श्रियः) राज्य-लक्ष्मी, धन-धान्यादि सम्पत्ति और शास्त्र-प्रतिपादित राजनीति यह सब और सब प्रकारकी शोभाएँ, (रणन्ति) वहीं

रमण करती हैं। (सप्त संसदः) भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, ये सात लोक अथवा शरीरमें रहनेवाली रक्त-मज्जादि सात धातुएँ अथवा शरीर-को धारण करनेवाले प्राण-अपानादि सात वायु अथवा राज्य चलानेवालेके लिये विद्वानोंकी सात संस्थाएँ, (रणन्ति) वहीं शोभा पाती हैं। (सुते) हम भक्तजन अपने आत्मामें ब्रह्मानन्द रसके प्राप्त होनेपर, (इन्द्रम्) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न परमात्माकी, (हवामहे) स्तुति करते हैं और परमात्माकी भक्तिमें आनन्दित हो जाते हैं।

तुलना—गीतामें संजयने धृतराष्ट्रको अपनी यह सम्मति दी है कि जिस पक्षमें भगवान् कृष्ण और गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन है उसी पक्षमें राजलक्ष्मी, विजयलक्ष्मी, धनसम्पत्ति और श्रेष्ठ राजनीति वास करेगी। वेदमें भी यही कहा गया है कि जिस कर्म अथवा जिस पक्षमें परमात्माका आश्रय लिया जाता है वहीं सब प्रकारकी शोभाएँ, राजलक्ष्मी, धन-सम्पत्ति आदि वास करती हैं, अतः भक्तजन भी परमात्माकी शरण होकर अपनी कार्यसिद्धिमें सफलता पाते हैं और अन्तमें परमात्माके चरणोंमें वास करते हैं।

न्यायभूषण श्रीजगन्नाथशास्त्रिकृत वेदगीता का सप्तदश अध्याय समाप्त।

वसुनन्दाङ्कचन्द्रेऽब्दे ज्येष्ठे मासि सिते दले।
द्वादश्यां च भृगौ वारे वेदगीता सुपूरिता॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

परिशिष्ट

गीता : वैदिक विज्ञानके परिप्रेक्ष्यमें

श्री सुरजनदास स्वामी, आचार्य, एम० ए०

गीता वह विज्ञानशास्त्र है जिसमें भारतीय धर्म, संस्कृति तथा दार्शनिक तत्त्वोंका सिद्धान्तरूपमें प्रतिपादन किया गया है। इसमें अभ्युदय-निःश्रेयसके उपयोगी ज्ञान, भक्ति व कर्म तीनों मार्गोंका प्रतिपादन विद्वान् मानते हैं। शंकरादि आचार्योंने गीतामें ज्ञान, भक्ति तथा कर्मका प्रतिपादन मानते हुए भी स्व-स्व सिद्धान्तके अनुसार गीताको प्रधानतया ज्ञानपरक, भक्तिपरक व कर्मपरक माना है। गीताका महत्त्व इसीसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रत्येक आचार्यने इसपर अपनी लेखनी चलाई है। इतना ही नहीं, राजनैतिक नेताओंने भी अपनी मान्यतानुसार इसकी व्याख्या की है। श्री बालगंगाधर तिलकने गीताकी निष्कामकर्मपरक व्याख्या करते हुए इसको कर्मपरक सिद्ध किया है। महात्मा गाँधीने इसकी अनासक्तियोगपरक व्याख्या की है। श्री विनोबा भावेने गीताकी साम्ययोगपरक व्याख्या की हैं।

वस्तुतः गीता वह कामधेनु है जिसमें प्रत्येक मानव अपनी-अपनी मान्यताका दर्शन करता है और उससे उसको प्राप्त करता है। इसका कारण यही है कि गीता धर्म, संस्कृति आदिका सैद्धान्तिक विश्वकोष है जिसमें सिद्धान्तरूपसे ज्ञान, कर्म, भक्ति, धर्म, वैराग्य, निष्कामता, अनासक्ति, प्रपत्ति, समत्व आदि सभी विषयोंका स्वरूप उपलब्ध होता है। परन्तु जैसा ऊपर बतलाया गया है, प्रायः सभी आचार्य इसमें स्व-स्वमतानुसार ज्ञानयोग, भक्तियोग (उपासना) व कर्मयोगका तथा कूटस्थ आत्माका प्रधानतया प्रतिपादन मानते हैं। किन्तु विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझाने गीतामें अन्य शास्त्रोंकी अपेक्षा कतिपय महनीय विशेषतायें मानी हैं, उन्हींका संक्षेपसे दिग्दर्शन इस निबन्धमें किया जा रहा है।

दार्शनिकोंके अनुसार आत्मा सर्वदुःखरहित है किन्तु अनादि अविद्या-दोषके कारण इसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान न होनेसे बुद्धि आदिके दुःखादिकी इसमें प्रतीति होनेसे मानव दुखी होता रहता है। अतः सर्वथा दुःखसे रहित व आगन्तुक दुःखोंसे भी वस्तुतः अस्पृष्ट आत्मामें दुःखोदयके मूल कारण अविद्यारूप महादोषके उपशमनका उपाय बतलाना ही गीताशास्त्रका लक्ष्य है। श्री ओझाजी भी इसी तथ्यको मानते हैं।

किन्तु अविद्यादोषसे किस आत्मामें दुःखोदय होता है, इस विषयमें ओझाजीका मत भिन्न है। उनके अनुसार आत्मा अनेक हैं। यद्यपि मूल कारण ब्रह्म एक ही है तथापि बलसम्बन्धके कारण आत्माके अनेक भेद हो जाते हैं: निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर आदि। अतः ओझाजीके अनुसार गीताका प्रतिपाद्य आत्मा कौन है जिसका गीता प्रधानतया प्रतिपादन करती है तथा जिसके दुःखोपशमनका उपाय वह बतलाती है, इसके लिए सर्वप्रथम आत्माके भेद—निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर एवं क्षरके स्वरूपका निरूपण आवश्यक है।

रस, बल : वैदिक विज्ञानके अनुसार सृष्टिसे पूर्व रस और बल–दो मौलिक तत्त्व हैं। इन्हें शास्त्रोंमें अमृत-मृत्यु तथा सत्-असत् शब्दसे भी कहा गया है, जैसा कि गीता (९-१९) में भगवान्ने कहा है :

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

इनमें रस सदा एकरूप, स्थिर, निष्कल, निर्विशेष, अविनाशी, शाश्वत तत्त्व है तथा बल प्रतिक्षण परिवर्तनशील, विशेषरूप, नानारूप तथा अस्थिर तत्त्व है। रस सर्वविध विशेषताओंसे रहित है, जब कि बलका स्वरूप ही विशेष है।

निर्विशेष ब्रह्म : इनमें शुद्ध रसतत्त्वको ही निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं। यद्यपि रस और बलके परस्पर अविनाभूत होनेसे बिना बलके रस नहीं रहता और बल विशेषरूप है, अतः उस ब्रह्ममें निर्विशेषता नहीं बन सकती तथापि बिना बलके रसकी भावना की जा सकती है। इस भावनाद्वारा भावित बलरहित रसतत्त्व ही निर्विशेष ब्रह्म है। यही अद्वैतवेदान्तियोंका निर्विशेष आत्मतत्त्व है। इसीलिये अभियुक्तोंने कहा है :

अमृतं निर्विशेषं स्याद् गृहीतं मृत्युतः पृथक् ।
तद्भावनामात्रगम्यं नोऽमृतं मृत्युना विना ॥

(ब्रह्मसमन्वय पृ० २४)

यह निर्विशेष ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है। इसका शब्दद्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्दकी शक्ति किसी न किसी धर्ममें या धर्मविशिष्ट धर्मीमें ही होती है, निर्धर्मक वस्तुमें नहीं। इसीलिए तलवकारश्रुति निर्विशेष ब्रह्मको अविज्ञेय व अनिर्वाच्य बतला रही है :

[1]संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

---

१. श्री मधुसूदन ओझा द्वारा विरचित ब्रह्मसमन्वयसे उद्धृत यह मन्त्र तैत्तिरीयोपनिषद्में निम्नलिखित रूपसे उपलब्ध है :

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥
(केनोप० २-३)

जब विना बलके रसकी भावना नहीं की जाती तब अशेषबलविशिष्ट रस-तत्त्व ही बलरूपविशेषतासे युक्त होनेके कारण सविशेष ब्रह्म कहलाता है। इस अशेषबलविशिष्ट रसतत्त्वको ही परात्पर कहते हैं। यहाँ रस और बल दोनोंकी सत्ता है, दोनों साथ रहते हैं तथापि इनमें परस्पर किसी प्रकारका बन्धन नहीं है। शुद्ध रस-तत्त्व बलोंके बन्धनमें नहीं है। दोनों स्वतन्त्ररूपसे रहते हैं। प्रकारान्तर-से यहाँ रस तथा बलोंका समुच्चयमात्र है। इस रसबल-समुच्चय रूपको परात्पर इसलिए कहते हैं कि यह पररूप अव्यय पुरुषसे भी पर अर्थात् उत्कृष्ट है।

यह अशेषबलविशिष्ट रसरूप परात्पर भी अवाच्य है। शब्दोंद्वारा इसका भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि शब्दकी शक्ति यत्किञ्चिद्धर्म-विशिष्ट धर्मीमें होती है, न कि सर्वधर्मविशिष्ट धर्मीमें। सर्वधर्मविशिष्ट (अशेष-बलविशिष्ट) धर्मी होनेसे यह परात्पर अव्यावृत्तरूपवाला है तथा शब्दोंद्वारा व्यावृत्तरूपवाले धर्मीका ही बोध होता है। इस प्रकार शुद्ध रसरूप निर्विशेष तथा अशेषबल(धर्म)विशिष्ट रसरूप परात्पर दोनों ही शास्त्रके विषय नहीं हैं। अत: गीतामें निर्विशेष तथा परात्पररूप आत्मतत्त्वका निरूपण सम्भव नहीं। गीताका प्रतिपाद्य सर्वधर्मयोग्य पुरुष-तत्त्व ही हो सकता है।

पुरुष : जब रस-बलघन असीम परात्पर मायारूप बलके द्वारा सीमित बना दिया जाता है तब उसीकी पुरुष संज्ञा हो जाती है, क्योंकि मायाद्वारा रसबलके सीमित हो जानेपर पुरका निर्माण सम्भव है तथा वह रसतत्त्व मायाबलद्वारा सीमित बलात्मक पुरमें निवास करता है अत: 'पुरि वसति' इस व्युत्पत्तिसे उसे पुरुष कहना सर्वथा समुचित है। इसी अभिप्रायसे श्वेताश्वतरश्रुति कह रही है :

मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥
(श्वेता० ४-१०)

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
(श्वेता० ३-९)

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ॥
(तै० उ० २-४-१)

अव्यय पुरुष : यह पुरुष भी अव्यय अक्षर क्षर भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें केवल मायाबलसे सीमित रसको अव्यय कहते हैं। इसमें न हृद्बलकी सत्ता है, न अन्य बलोंकी। हृद्बलका अव्ययमें अभाव होनेसे इसमें ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र— इन हृद्याक्षरोंका उदय नहीं होता। यह अव्यय मायाद्वारा सीमित होनेसे निष्कल नहीं रहा है। अतः इसमें कलाओंका उदय होता है। इस अव्ययकी ५ कलायें हैं: आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण तथा वाक् (अन्न)। इन पाँचों कलाओंका प्रतिपादन तैत्तिरीय श्रुतिमें हुआ है। इन्हीं पाँचों कलाओंको वेदान्तियोंने पंच-कोष शब्दसे व्यवहृत किया है।[1]

यह अव्यय असंग है तथा बन्धनरहित है, क्योंकि हृद्बलके अभावसे तथा बन्धनकारी चितिबलके अभावसे बन्धनकी संभावना ही नहीं है। असंग होनेसे ही श्रुतिमें इसे सभी परिस्थितियोंमें, सभी व्यक्तियों व वस्तुओंमें एकरूप बतलाया गया है:

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥
नैनं वाचा स्त्रियं ब्रुवन्नैनमस्त्री पुमान् ब्रुवन् ।
पुमांसं न ब्रुवन्नेनं वदन् वदति कश्चन ॥

(ऐ० आ० २-१-३-९)

नैवं स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥

(श्वेता० ५-१०)

इस अव्ययको उपनिषदों व गीतामें पुरुषोत्तम[2], उत्तमपुरुष[3], अज[4],

---

१. तै० उ० २-१-५।

२. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गी० १५-१८)

३. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (गी० १५-१७)

४. (क) अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ (गी० ४-६)

(ख) दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ॥ (मुण्डको० २-१-२)

(ग) वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ॥ (गी० २-२१)

पर,[१] साक्षी[२], परमात्मा[३] आदि शब्दोंसे कहा गया है। गीतामें सर्वत्र अव्ययका अव्यय पदके द्वारा ही कथन नहीं किया गया अपितु अज, पर, महेश्वर आदि शब्दोंके द्वारा भी बहुत स्थलोंमें किया गया है। अतः अव्ययके इन नामोंका उल्लेख आवश्यक है, जिससे गीतामें जहाँ अज आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है वहाँ अव्यय पुरुषका निरूपण है, इस तथ्यका ज्ञान हो सके।

अक्षर पुरुष : मायाबलसे सीमित रसात्मक असंग अव्ययमें जब हृद्‌बलका और उदय होता है तब अक्षरका स्वरूप निष्पन्न होता है। अर्थात् मायाबल तथा हृदय-बलसे अवच्छिन्न रसरूप तत्त्व अक्षर कहलाता है। हृदयबलके कारण उसमें गति, आगति, स्थिति, गतियुक्त स्थिति तथा आगतियुक्त स्थिति इन पाँच प्राणोंका उदय हो जाता है।[४] इनमें गतितत्त्वका नाम इन्द्र, आगतिप्राणका नाम

---

१. (क) गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
(मुण्डको० ३-२-७)

(ख) अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ (मुण्डको० २-१-२)

(ग) परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (मुण्डको० ३-२-८)

(घ) अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ (गी० ९-११)

(ङ) स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (गी० ८-१०)

(च) पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥ (गी० ८-२२)

२. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥
(श्वेता० ६-११)

३. (क) अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ॥ (गी० १३-३१)

(ख) उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गी० १३-२२)

४. हृदयं बलकोशोऽन्यः पञ्चप्राणोदयस्ततः ।
तदन्तर्यमनं विद्याद्धृदयं पञ्चभिर्बलैः ॥
यदन्तर्यमनं तेनावच्छिन्नः पुरुषोऽक्षरः ।
मायायां हृदये सर्वे प्राणकोशा उपाहिताः ॥
(ब्रह्मसमन्वय पृ० १४, श्लोक १२९, १३०)

विष्णु, स्थिति-प्राणका नाम ब्रह्मा, गतियुक्त स्थितिप्राणका नाम अग्नि तथा आगतियुक्त स्थितिप्राणका नाम सोम है। अक्षरके ये पाँच भेद हैं। इनमें आदिके तीन ब्रह्मा, विष्णु व इन्द्र प्राण हृद्य अक्षर कहलाते हैं तथा अन्तके दो अग्नि व सोम प्राण बाह्य अक्षर कहलाते हैं। हृदय शब्द ही हरति, द्यति, यच्छति इस व्युत्पत्तिद्वारा क्रमशः आहरणकर्मा विष्णु, विक्षेपणकर्मा इन्द्र तथा नियमनकर्ता ब्रह्मा—इन तीन अक्षरों या प्राणोंका बोध कराता है। इन्हीं हृद्याक्षरों—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रको अन्तर्यामी कहते हैं।

अक्षरपुरुषमें हृदयबलका उदय होनेपर भी चितिके अभावसे बलोंका परस्पर ग्रन्थिबन्धन नहीं होता। यहाँ बल स्वतन्त्ररूपसे रहते हैं। ग्रन्थिबन्धनके अभावसे इसका क्षरण नहीं होता।[1] इसीलिए इसे अक्षर कहते हैं। अक्षर ही सकल जगत्का शास्ता व नियन्ता माना गया है। यही अन्तर्यामी है। यही सेतु तथा परावर है। पर (अव्यय), अवर (क्षर), इन दोनोंके मध्यवर्ती होनेसे ही इसे परावर कहते हैं। यह पर अव्यय तथा अवर क्षरको मिलने नहीं देता इसीलिए इसे सेतु कहा जाता है। ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंमें इस अक्षर पुरुषका निरूपण स्पष्टरूपसे उपलब्ध होता है।

क्षरपुरुष : जब बलोंके चयनके द्वारा परस्पर ग्रन्थिबन्धन होता है तब माया-हृदयबलावच्छिन्न अक्षर ही ग्रन्थिबन्धनके और उदय हो जानेपर क्षरपुरुष कहलाने लगता है। इस प्रकार मायाद्वारा सीमित हो जानेपर जो रसतत्त्व पुरुष बनता है वही बलोंके तारतम्यसे अर्थात् भिन्न-भिन्न बलोंसे अवच्छिन्न होकर अव्यय, अक्षर व क्षर भेदसे तीन प्रकारका हो जाता है। इन तीनोंमें अव्ययपुरुष सृष्टिका आलम्बनकारण, अक्षरपुरुष निमित्तकारण तथा क्षरपुरुष उपादान कारण बनता है। अव्ययरूपी आलम्बनपर अक्षरपुरुष क्षरपुरुषसे संयुक्त होकर उसे विकारयुक्त बनाता हुआ नाना प्रकारकी सृष्टिरचना करता है।

इन तीनों पुरुषोंमें अव्यय—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् (अन्न) भेदसे पंचकल है।[2] अक्षर—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम भेदसे पंचकल

---

१. बलानां तु बलैर्योगे यत्र न ग्रन्थिबन्धनम्।
तत्र यः पुरुषो जज्ञे स कूटस्थोऽक्षरो मतः॥
नास्त्यत्र बलहृद्ग्रन्थिस्तस्मान्न क्षरति क्वचित्।
तेनायमक्षरो नाम क्षराधारः प्रवर्तते॥

(ब्रह्मसमन्वय पृ० ७२, श्लोक ४, ५)

२. तै० उ० २-१-५।

है[1] तथा क्षर-पुरुष—प्राण, आपः, वाक्, अन्नाद, अन्न भेदसे पंचकल है।[2] इस प्रकार पुरुष पंचदशकलात्मक हो जाता है। परात्पर इनमें अनुस्यूत है, एक कला उसकी हो जाती है और इस तरह वह षोडशकलात्मक हो जाता है। इसे ही षोडशी पुरुष कहते हैं, जिसका प्रतिपादन निम्नलिखित श्रुतियोंमें किया गया है :

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

(शु० यजु० ८-३६)

यस्मान्न जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

(शु० यजु० ३२-५)

अव्यय, अक्षर तथा क्षर इन तीनों पुरुषोंका प्रतिपादन उपनिषदोंमें स्पष्ट-रूपसे उपलब्ध होता है। यथा :

अव्यय-प्रतिपादक वचन :

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥

(मुण्डको० २-१-२)

गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥

(मुण्डको० ३-२-७)

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(कठोप० १-२-१७)

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डको० ३-२-८)

अक्षर-प्रतिपादक वचन :

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि॥

(कठोप० १-३-२)

---

१. शत० ११-१-६-१३।

२. शत० ११-१-६-१६—१९।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

(कठोप० १-२-१६)

......स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति ॥

विज्ञानात्मा सहदेवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥

(प्रश्नोप० ४-१०, ११)

द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च ।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्...
तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

(मुण्डको० १-४-५—६)

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु
अह्रस्वमदीर्घम्........न तदश्नाति कश्चन ॥
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः...
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः ॥

(बृ० उ० ३-८-८—९)

एष सर्वेश्वरः, एष भूताधिपतिः, एष भूतपालः, एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय इत्यादि ॥

(बृ० उ० ४-४-२२)

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय, नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं, सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते, अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः । तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा......सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥

(छा० उ० ८-४-१—२)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डको० २-२-८)

क्षर-प्रतिपादक वचन :

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥

(मुण्डको० १-१-९)

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

(ईशोप० ४)

जैसा कि बतलाया जा चुका है कि निर्विशेष एवं परात्पर अवाङ्मनसगोचर तथा सर्वधर्मविशिष्ट होनेसे शब्दप्रतिपाद्य नहीं है। मायाद्वारा सीमित रसतत्त्वमें पुरभावका उदय होनेके कारण पुरुषपदवाच्य अव्यय, अक्षर व क्षर ही शब्दके विषय होनेसे शास्त्रोंद्वारा प्रतिपाद्य हैं। उपर्युक्त तीनों पुरुषोंमें वैशेषिकदर्शन प्रधानरूपसे क्षरपुरुषका, सांख्य तथा वेदान्त अक्षर पुरुषका निरूपण करते हैं। 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इस गीतावचनके अनुसार क्षररूप भूतमय जडतत्त्वमें स्थित चैतन्य तत्त्व ही अक्षर है। सांख्यदर्शन प्रकृत्यादि भूतसंघमें प्रविष्ट इस अक्षरपुरुषका स्पष्ट ही प्रतिपादन करता है, न कि अव्ययपुरुषका। क्योंकि अव्ययपुरुष सृष्टिका कारण नहीं, केवल आलम्बन मात्र है, जैसा कि इस श्रुतिसे सिद्ध है:

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

(श्वेता० ६-८)

वेदान्तदर्शन 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', 'जन्माद्यस्य यतः[1]', 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः[2]', 'योनिश्च गीयते[3]' इत्यादि सूत्रोंद्वारा स्पष्टतः अक्षर-पुरुषका ही निरूपण करता है, क्योंकि अक्षर ही सृष्टिका निमित्तकारण है। वही क्षररूप उपादानके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है। वेदान्तने भी ब्रह्मको जगत्की सृष्टि, स्थिति, संहारका कारण बतलाया है। वेदान्तमें ब्रह्मको योनि भी कहा गया है और योनि क्षरपुरुषसे युक्त होनेसे अक्षर ही है, जैसा कि निम्नलिखित मुण्डकश्रुतियोंसे स्पष्ट है:

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते......
तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

(मुण्डको० १-१-६, ७)

---

१. ब्रह्मसूत्र १-१-२ ।

२. ब्रह्मसूत्र १-३-१० ।

३. ब्रह्मसूत्र १-४-२७ ।

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।।

(मुण्डको० २-१)

गीताका प्रतिपाद्य अव्यय

किन्तु गीताका प्रधान प्रतिपाद्य पुरुष अव्यय-पुरुष है। गीता क्षर तथा अक्षरसे परे विद्यमान असंग अव्ययपुरुषका स्थान-स्थानपर प्रतिपादन कर रही है। गीतामें 'अहं', 'मम', 'माम्' इत्यादि अस्मद्-शब्द-प्रयोगद्वारा अव्ययपुरुषका ही बोध किया गया है। गीताके अनुसार अव्ययपुरुष सृष्टिका न उपादानकारण है, न निमित्तकारण। वह केवल सृष्टिके उपादनकारण तथा निमित्तकारण-रूप अपरा व परा प्रकृतिका अधिष्ठाता व अध्यक्षमात्र है। इसीलिए गीतामें कहा है:

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ।।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।

(९-१०, ८)

अव्ययपुरुषसे अधिष्ठित जो प्रकृति सचराचर जगत्का कारण है वह अपरा व परा प्रकृति भी क्षर व अक्षरपुरुष ही है। गीताके सप्तम अध्यायमें प्रतिपादित अपरा व परा प्रकृतियाँ क्षर व अक्षरपुरुष ही हैं। इन क्षर व अक्षरमें क्षर जड़ है तथा अक्षर चेतन तत्त्व है। इसीलिए गीतामें भी अपरा व परा प्रकृतियोंका निरूपण करते हुए इस तथ्यका स्पष्टीकरण किया गया है। जैसे:

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।

(७-४, ५)

यहाँ पराप्रकृतिको चेतनरूप तथा जगत्का विधारक बतलाया है। श्वेताश्वतर श्रुति (१-१०) भी इसी तथ्यका प्रतिपादन कर रही है:

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।।

इस श्रुतिमें स्पष्टरूपसे क्षरको प्रधान अर्थात् जडात्मिका अपराप्रकृति तथा अक्षर-

को 'हर' पदद्वारा चेतन अक्षरात्मिका प्रकृति बतलाकर उन दोनोंका अध्यक्ष व ईशिता इनसे भिन्न देव (परमात्मा) को बतलाया है जो इन दोनों पुरुषोंसे अतीत अव्ययपुरुष ही है और उसीके ध्यानसे विश्वमायानिवृत्ति बतलायी है। यही बात गीता (७-१४) में इस प्रकार कही गई है :

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

उपर्युक्त रीतिसे श्वेताश्वतरके क्षर, अक्षर व देवगीताके पंचदश अध्यायके क्षर, अक्षर और अव्यय तथा गीताके सप्तम अध्यायकी अपरा प्रकृति, परा-प्रकृति तथा अहम् एक ही तत्त्व हैं। उपर्युक्त तीनों पुरुषोंमें अव्यय ही वस्तुतः अकर्ता, निर्लेप, उदासीन, असंग, कार्यकारणातीत तथा सबका अधिष्ठाता महेश्वर तत्त्व है, जिसे गीतामें पुरुषोत्तम, परपुरुष, महेश्वर, परमेश्वर, अज, परमात्मा आदि शब्दोंसे व्यपदिष्ट किया गया है। भगवान्ने अर्जुनको उपदेश देते हुए अव्ययपुरुषका ही प्रधानरूपसे प्रतिपादन किया है और स्वयंको स्थान-स्थानपर अव्ययपुरुषरूप ही बतलाया है। गीतामें सर्वत्र 'अहम्' शब्द इसी अव्ययपुरुषका बोधक है।

गीता के २-१७, २१, ४-६, ७-१३, २४, २५, ८-१०, २०, २१, ९-११, १३, १८, १३-३१, १५-५, १७ श्लोकोंद्वारा उपर्युक्त तथ्यकी स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है।

उपर्युक्त गीताश्लोकोंके द्वारा अव्ययपुरुषकी सर्वोत्कृष्टता, सर्वालम्बनता, निर्लेपता, सर्वाधिष्ठानता, सर्वव्यापकता तथा भगवान्की अव्ययरूपता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। गीतामें माम्, मम, अहम्, मयि इत्यादि रूपसे प्रयुक्त 'अस्मत्' शब्द अव्ययका ही बोधक है, क्योंकि भगवान्ने गीता (७-१३, २३) में स्वयंको अव्यय-स्वरूप बतलाया है। अतः अस्मद् शब्दवाले सभी श्लोक अव्ययके ही बोधक हैं। इस प्रकार गीता प्रधानतया इस अव्यय ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती है, यह श्री ओझाजीकी मान्यता है।

गीताके प्रतिपाद्य योग

इसी प्रकार बुद्धियोग गीताका प्रतिपाद्य है, ऐसा ओझाजी मानते हैं। बुद्धि-योगके प्रतिपादनसे पूर्व, आचार्योंद्वारा गीतामें प्रतिपादित ज्ञानयोग आदिका स्वरूप संक्षेपमें बतलाना आवश्यक है। विभिन्न आचार्य गीतामें विभिन्न योगोंका प्रधानतया प्रतिपादन मानते हैं। वे विभिन्न योग—ज्ञानयोग, भक्तियोग व

कर्मयोग हैं। प्रधानतया विद्वान् इन्हीं तीनों योगोंमें-से अन्यतम योगका प्रतिपादन गीतामें मानते हैं।

ज्ञानयोग : निर्विशेषाद्वैतवादी शंकराचार्य तथा ज्ञानमार्गको ही निःश्रेयसका साधन माननेवाले ज्ञानमार्गी प्रधानतया ज्ञानयोगका ही प्रतिपादन गीतामें मानते हैं। कर्म व भक्ति उसीके अंग हैं, क्योंकि ज्ञानके बिना कर्म नहीं बन सकता, जैसा कि निम्न अभियुक्त-वचन बतला रहे हैं :

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्यः क्रतुर्भवेत्।
क्रतुजन्यं भवेत्कर्म तदेतत् कृतमुच्यते ॥
ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा किञ्चिदाचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे ॥

भक्ति भी ज्ञानका अंग है। इसीलिए गीता (१३-१०) में आत्मज्ञानके साधनोंका निरूपण करते हुए परमात्मामें अव्यभिचारिणी भक्तिको भी गिनाया गया है :

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

भक्तिके लिए सेव्य परमात्मा तथा सेवक जीवके स्वरूपका ज्ञान आवश्यक है, वह भी ज्ञानसे ही साध्य है। आत्यन्तिकी मुक्तिरूपा सिद्धि तथा ऐहलौकिकी अभ्युदयात्मिका सिद्धि भी क्रमशः ज्ञान व विज्ञानके द्वारा ही निष्पन्न होती है। अतः ज्ञानयोग ही गीताका प्रतिपाद्य है। गीतामें ज्ञानयोगके प्रतिपादक १९ श्लोक या श्लोकार्ध हैं, जिनमें से कतिपय वचन उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

(४-३३)

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

(४-३६–३९)

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(५-१७)

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
(७-१७, १८)

भक्तियोग : भक्तिमार्गी आचार्योंके अनुसार ईश्वरप्राप्तिका उपाय भक्तियोग ही गीताका प्रतिपाद्य है। कर्म व ज्ञान उसीके अंग हैं। गीतामें आदिके ६ अध्यायोंमें भक्तिके लिए उपादेय तत्पदार्थ (उपास्य ईश्वर) के स्वरूपज्ञानके उपयोगी कर्म व ज्ञानका प्रतिपादन है। मध्यम ६ अध्यायोंमें त्वं पदार्थ (उपासक जीव) के स्वरूपज्ञानोपयोगी कर्म व ज्ञानका निरूपण है तथा अन्तिम ६ अध्यायोंमें विश्वकी उत्पत्ति, भक्तिके स्वरूप आदि प्रकीर्ण विषयोंका निरूपण है। इस प्रकार ज्ञान व कर्म भक्तियोगके ही अंग हैं। गीतामें भक्तियोगके बोधक २० वचन (श्लोक या श्लोकार्ध) उपलब्ध होते हैं। उनमें कतिपय वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(९-२९, ३०)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(११-५४, ५५)

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
(१२-२, १७)

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
(१८-५५, ६५, ६८)

कर्मयोग : वेदके विधिभागके अनुयायी प्राचीन ब्रह्मर्षि तथा लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक आदि विद्वान् गीतामें प्रधानतया कर्मयोगका ही उपदेश मानते हैं। उनके अनुसार शौच, अनायासप्रवृत्ति, दया, अनसूया, रक्षा, क्षमा, अकृपणता, अस्पृहा—इन ८ आत्मगुणोंके ज्ञानयोगका साधन होनेसे ज्ञान कर्मयोगके बिना नहीं बन सकता। इस प्रकार ज्ञानमें भी कर्म ही कारण है। भक्ति भी ज्ञान-कर्मसमुच्चयात्मक होनेसे बिना कर्मके उपपन्न नहीं हो सकती। अतः भक्ति भी कर्मसाध्य ही है। इस प्रकार कर्मयोग ही गीताका प्रतिपाद्य है। कर्मयोगके प्रतिपादक ९ वचन गीतामें उपलब्ध हैं। उनमें-से कुछ वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है:

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ॥
(२-४८)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
(३-४, ८, ९, १९, २०)

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥
(४-१५)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ॥
(१८-४५, ४७, ४८)

तीनों योगोंकी वैदिकता

उपर्युक्त रीतिसे गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग व ज्ञानयोग—इन तीन योगों-का उपदेश दिया गया है। ये तीनों योग वेदविहित हैं, क्योंकि ब्रह्म तथा ब्राह्मण-

को वेद कहते हैं। इनमें संहितात्मक मन्त्रभाग ब्रह्म कहलाता है तथा उसके तात्पर्य-का निरूपण करनेवाला मन्त्रव्याख्यात्मक वेदभाग ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण-भाग—विधि, आरण्यक, उपनिषद्-भेदसे तीन प्रकारका है। विधिभागमें कर्म-का उपदेश है। आरण्यक-प्रकरणमें सगुणविद्यारूप उपासनाका तथा उपनिषत्-प्रकरणमें निर्गुणविद्यारूप ज्ञानका उपदेश है। अतः विधिप्रकरणको कर्म-काण्ड, आरण्यक-प्रकरणको उपासनाकाण्ड तथा उपनिषत्प्रकरणको ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। इन तीनोंमें कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंका प्रतिपादन है। इन्हीं तीनों कर्म, उपासना तथा ज्ञानका उपदेश गीता-शास्त्रमें भी किया गया है। किन्तु ये तीनों ही योग बुद्धिके योग (सम्बन्ध) तथा अयोग (असम्बन्ध) के कारण दो प्रकारके हैं। बुद्धिसे युक्त ये तीनों योग उपादेय हैं। बुद्धियोगके बिना तीनों योग अनुपादेय हैं। यद्यपि सभी योगोंका अनुष्ठान प्रेक्षापूर्वक होता है अतः सभी योग बुद्धियुक्त ही हैं, तथापि बुद्धि—विद्याबुद्धि तथा अविद्याबुद्धि भेदसे द्विविध है। निश्चयात्मिका एकरूपा बुद्धि विद्याबुद्धि कहलाती है तथा अनिश्चया-त्मिका, संशयात्मिका तथा विपरीतज्ञानात्मिका नानारूपा बुद्धि अविद्याबुद्धि। इन्हींको गीता (२-४१) में व्यवसात्मिका तथा अव्यवसायात्मिका बुद्धि कहा है। यथा :

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

बुद्धियोगरहित तीनों योगोंकी अनुपादेयता

विद्याबुद्धिसे युक्त तीनों योग उपादेय हैं, अविद्याबुद्धिसे युक्त अनुपादेय। इसीलिए विद्याबुद्धिरहित कर्मकी हेयता गीताके द्वितीय अध्यायमें श्लोक ४२ से ४६ तक ('यामिमां पुष्पितां वाचम्' से आरम्भ कर 'ब्राह्मणस्य विजानतः' तक) बतलायी गई है। इसी प्रकार बुद्धियोगरहित ज्ञानयोगकी हेयता भी निम्नलिखित गीतावचनोंद्वारा प्रतिपादित है। सर्वकर्मसंन्यास ही ज्ञानयोगमें बुद्धियोगका राहित्य है :

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥

(५-२)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

(३-४)

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।।

(५-६)

बुद्धियोगरहित भक्तियोग भी उपादेय नहीं। बुद्धियोगरहित शुष्क भक्तियोगमें कामनाका साम्राज्य है। भिन्न-भिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिए जो भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना करते हैं तथा ईश्वरकी भी यदि उपासना करते हैं तो जो लौकिक या पारलौकिक कामनाओंकी पूर्तिके लिए, अर्थप्राप्तिके लिए या ऐश्वर्यप्राप्तिके लिए करते हैं वे यह नहीं समझते कि निष्कामभावपूर्वक अनन्यभावनासे ईश्वरकी उपासना की जाय तो उसकी प्राप्तिसे अन्य कामनाओंकी प्राप्ति तो स्वतः हो जाती है। भगवान् अनन्तैश्वर्ययुक्त हैं, सर्वदुःखातीत हैं। उनकी प्राप्तिसे सर्वविध ऐश्वर्यकी, कामनाओंकी पूर्ति तथा आर्तिकी निवृत्ति अनायास हो जाती है। वे यह भी नहीं समझते कि विभिन्न देवता ईश्वरसे भिन्न नहीं हैं तथा ईश्वरकी अपेक्षा अल्पशक्तिमान् हैं। ऐसे सकाम भक्तियोगमें भी अरुचि भगवान्ने बतलायी है :

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।

(९-२३, २४)

बुद्धियोग-सहकृत अनन्यनिष्ठासे ईश्वरोपासनाकी भगवान्ने प्रशंसा की है :

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

(१०-८,१०)

ऐसे भक्तोंको योगक्षेमकी तथा तुच्छकामकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती, उसकी पूर्ति तो स्वयं भगवान् करते हैं :

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

(९-२२)

अतः अविद्याबुद्धिके विनाशक विद्याबुद्धिके योगद्वारा ज्ञानयोग, भक्तियोग व कर्मयोगका अनुष्ठान भगवान्को अभीष्ट है।

बुद्धियोगयुक्त तीनों योगोंकी उपादेयता भगवान्ने गीतामें व्यक्त की है।

बुद्धियोगयुक्त कर्मयोगकी उपादेयता

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

(५-७, १०)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

(२-५०)

बुद्धियोगयुक्त ज्ञानयोगकी उपादेयता

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

(५-६)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

(६-४)

सर्वकर्मसंन्यासरूप ज्ञानयोगमें कर्मोंका संन्यास नहीं किया जाता, आसक्ति, संकल्प या फलका संन्यास ही उसमें बुद्धियोग है। वही उपर्युक्त श्लोकोंमें बतलाया गया है। उपर्युक्त वचनोंमें योगयुक्त तथा योगारूढ़ पदोंमें योग शब्दसे बुद्धियोगका ग्रहण है।

बुद्धियोगयुक्त भक्तियोगकी उपादेयता

बुद्धियोगयुक्त भक्तियोगमें ईश्वरको सर्वकर्मोंका अर्पण कर उनका ईश्वरार्पण-बुद्धिसे अनुष्ठान होता है। इसके प्रतिपादक वचन भी गीतामें स्पष्ट उपलब्ध होते हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(९-२७,२८)

इस प्रकार सर्वत्र बुद्धियोग ही भगवान्‌को अभीष्ट है और वही गीताका प्रतिपाद्य विषय है।

बुद्धियोगके स्वरूपका विवेचन करनेसे पूर्व बुद्धितत्त्व तथा ईश्वराव्यय व जीवाव्ययके स्वरूपको संक्षेपसे बतलाना अनिवार्य है।

बुद्धि : सांख्यदर्शनने जिसे महत्तत्त्व बतलाया है वही बुद्धि है। यह महद्-रूपा बुद्धि अव्ययपुरुषकी प्रकृति है। प्रकृतिसे ही सृष्टि होती है, यह दार्शनिक व वैज्ञानिक सिद्धान्त है। प्रकृतिसे सृष्टि माननेवाले सांख्यदर्शनमें गुणत्रय-साम्यावस्थाको प्रकृति कहा है। उससे सृष्टि नहीं होती अपितु गुणत्रयमें वैषम्य आ जानेसे सृष्टि होती है। गुणत्रयमें वैषम्यका उदय होनेपर विषमावस्थापन्न गुणत्रयकी ही बुद्धि संज्ञा है। अतः वस्तुतः सृष्टि समष्टिबुद्ध्यपरपर्याय महत्तत्त्व-से ही होती है। भगवद्गीता (९-१०) के

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥

इस श्लोकके द्वारा प्रकृतिको सृष्टिका कारण बतलाया है। १४-३,४ में भी इसी तथ्यका प्रतिपादन किया गया है :

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

यह महद्रूपा बुद्धि विद्या व अविद्या भेदसे द्विविध है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये ४ भेद विद्याबुद्धिके हैं तथा अधर्म, अज्ञान, राग और अनैश्वर्यरूपा अस्मिता ये ४ भेद अविद्याबुद्धिके हैं । ईश्वरकृष्णने निम्नलिखित कारिकामें इन्हीं भेदोंका प्रतिपादन किया है :

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥

(सां० का० २४)

इनमें अविद्याबुद्धिके ४ भेदोंको ही सांख्यदर्शनमें तम, मोह, महामोह, तामिस्र व अन्धतामिस्र नामसे तथा योगदर्शनमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश नामसे पञ्चविध क्लेश बतलाया है। इनमें द्वेषका मूल राग ही है। यदि द्वेषमें राग न हो तो कोई भी व्यक्ति विद्वेष नहीं कर सकता। अतः द्वेषका रागमें अन्त-र्भाव होनेसे ४ ही भेद क्लेशके बच जाते हैं। ये ही अविद्याबुद्धि कहलाते हैं। गीतामें भी रागका निरूपण द्वेषका एक विभाग मानकर ही किया गया है, जिसका स्पष्टीकरण आगेके उदाहरणोंमें हो जायगा।

अव्ययकी विद्याकर्मोभयात्मकता

इस निबन्धके आदिमें अव्ययपुरुषका स्वरूप बतलाते हुए आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् भेदसे उसकी पाँच कलाओंका निर्देश किया गया है। इन कलाओं-में आनन्द, विज्ञान, मन—ये तीन कलायें विद्या कहलाती हैं और मन, प्राण, वाक् तीन कलायें कर्म कहलाती हैं। विद्या मुक्तिसाधिका है तथा कर्म सृष्टिसाधक। मध्यपतित मनका आनन्द तथा विज्ञानके साथ भी सम्बन्ध है और प्राण तथा वाक्के साथ भी। इसीलिये मनको बन्ध तथा मोक्षका कारण बतलाया गया है:

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥

(मुक्तिकोपनिषद्)

उपर्युक्त रीतिसे अव्यय विद्याकर्मोभयात्मक है। यह अव्यय ईश्वराव्यय तथा जीवाव्यय भेदसे दो प्रकार का है। दोनोंका प्रतिपादन गीतामें हुआ है। ईश्वराव्ययप्रतिपादक वचन ९-१८ में यह है:

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

ईश्वराव्ययमें अविद्याबुद्धिका सम्पर्क न होनेसे सर्वविध क्लेशोंका अभाव है। यही सृष्टिका उत्पादक, पालक, संहारक है। भगवान् वस्तुतः ईश्वराव्ययस्वरूप हैं इसीलिए उन्होंने उपर्युक्त श्लोकमें अपनेको पिता, माता, धाता, पितामह तथा जगत्का उत्पादक व संहारक बतलाया हैं। गीता (७-६) में भी इसी तथ्यका प्रतिपादन किया गया है:

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

ईश्वर यद्यपि अव्ययस्वरूप है फिर भी अज्ञानी पुरुष मेरी योगमायासे मोहित होकर मनुष्य शरीर धारण करनेसे मेरे उस स्वरूपको नहीं समझते हैं।[१]

दूसरा जीवाव्यय है। इसमें अनादिकर्मप्रेरित नैसर्गिक अविद्याबुद्धिके कारण अविद्यादि पंच क्लेशोंका उदय हो जाता है। इन्हीं अविद्याबुद्धिजनित पंचक्लेशोंके सम्पर्कसे अव्ययका आनन्द-विज्ञान आदि विद्याभाग कलुषित प्रतीत होता है और उसके नैसर्गिक धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यरूप भगोंके तिरोहित हो जानेसे उसकी भगवत्ता अभिभूत हो जाती है और वह अपनेमें अनैश्वर्य, अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता आदिका अनुभव करता हुआ परतन्त्रता, दुःख आदिसे दुखी रहता है। इस प्रकार नैसर्गिक अविद्याबुद्धिके संसर्गसे अभिभूत ज्ञानशक्तिवाला अव्यय ही जीवाव्यय कहलाता है।

---

१. गीता ७-२५, ९-११।

बुद्धियोग : नैसर्गिक भगवत्ताके प्रतिबन्धक अविद्यादोषोंका वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म इन विद्याबुद्धिके भेदोंद्वारा परिहार कर विद्याबुद्धिके धर्म-ज्ञानादि भेदोंका जीवाव्ययके आनन्द-विज्ञानादिरूप विद्याभागके साथ सम्बन्ध करना ही बुद्धियोग कहलाता है। इससे वैराग्यादि विद्याबुद्धि-भेदोंके योगसे अव्ययके विद्याभागके प्रतिबन्धक राग-द्वेषादि दोषोंका परिहार हो जाता है और जीवाव्ययमें रागादि-दोषजन्य कालुष्यका परिहार हो स्वाभाविक नैर्मल्यरूप प्रसादका आविर्भाव हो जाता है तथा सब दुःखोंका विनाश हो जाता है, जिसका प्रतिपादन गीताके द्वितीय अध्यायमें ६४-६५ श्लोकोंके द्वारा किया गया है।

बुद्धियोगसे जीवाव्ययमें नैसर्गिक ऐश्वर्यादिका आविर्भाव ही जीवाव्ययकी ईश्वराव्ययमें अपीति या एकीभाव है जिसका प्रतिपादन 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा', 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः' (मुण्डको० ३-२-७, ८)—इन श्रुतियोंमें किया गया है। यहाँ 'पर अव्यय' पदसे तथा 'दिव्य परपुरुष' पदसे ईश्वराव्ययका ग्रहण है।

बुद्धियोगकी चतुर्विधता

जीवाव्ययके आनन्द-विज्ञानादि विद्याभागका तिरोधान करनेवाली बुद्धिके अविद्याभागके रागद्वेष, अज्ञान, अस्मितारूप अनैश्वर्य, तथा अभिनिवेश— ये चार भेद हैं। अतः इनका परिहार करनेवाली बुद्धिके विद्याभागके भी चार भेद हो जाते हैं जिन्हें क्रमशः वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा धर्म कहा जाता है। बुद्धिके चतुर्विध अविद्याभागोंकी निवृत्ति करनेवाले बुद्धिके विद्याभागके चातुर्विध्यके कारण ही बुद्धियोग भी चार प्रकारका हो जाता है जिन्हें क्रमशः वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग तथा धर्मबुद्धियोग कहा गया है। इन चारोंका गीतामें प्रतिपादन हुआ है। प्रत्येकका निरूपण क्रमशः किया जा रहा है।

१. **वैराग्यबुद्धियोग :** रागद्वेषरूपी अविद्याबुद्धिकी विरोधिनी वैराग्यरूपा विद्याबुद्धि है। इससे सम्बन्धित बुद्धियोग वैराग्यबुद्धियोग कहलाता है। विषयोंमें कामक्रोधमूलक रागद्वेषके कारण बुद्धिके विद्याभागका जीवाव्ययके विद्याभागके साथ योग नहीं होता। इन्हीं राग तथा द्वेषकी निवृत्तिके लिए विषयोंमें अनासक्ति-रूपा तथा फलानभिसन्धिरूपा वैराग्यबुद्धिकी आवश्यकता है। विषयोंमें राग तथा द्वेषके कारण ही उनमें आसक्ति है अथवा विषयोंमें राग तथा द्वेष ही आसक्ति है। राग तथा द्वेषका मूल काम व क्रोध है। काम तथा क्रोधके आयतन इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि हैं। इसीलिए गीतामें कहा है :

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
(३-३४, ३८, ४०)

रागद्वेषमूला या रागद्वेषरूपा आसक्तिकी वैराग्यबुद्धिद्वारा निवृत्ति हो जाने-पर जीवाव्यय निर्मल हो जाता है और अपनी नैसर्गिक सच्चिदानन्दरूपताको प्राप्त कर लेता है। इसीलिए गीता (२-६४, ६५) में कहा है :

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥

इस प्रकार वह जीवाव्यय पराव्ययरूप ईश्वराव्ययको प्राप्त कर लेता है। जीवा-व्ययका अपने नैसर्गिक स्वरूपको प्राप्त करना ही ईश्वराव्ययको प्राप्त करना है। गीता (३-१९) में कहा है:

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

वैराग्यजन्य अनासक्ति ही चित्तके द्वारा कर्मोंका परित्याग है, न कि सर्वथा कर्मों-का परित्याग। इस प्रकारका कर्मत्याग भगवान्‌को अभिप्रेत है और यह वैराग्य-रूपा बुद्धिके योगसे ही प्राप्त होता है। इस वैराग्य-बुद्धियोगपूर्वक कर्म करनेपर मानव सुकृत, दुष्कृत तथा जन्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है, जैसा कि इन गीता-वचनोंसे स्पष्ट हो रहा है:

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(२-४९—५१)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
(१८-५७)

विषमता रागद्वेषसे ही उत्पन्न होती है। रागद्वेषके अभावमें अव्ययरूप पुरुषमें समता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि उसका स्वरूप ही समता है। केवल उसकी अभिव्यक्तिके लिए रागद्वेषकी निवृत्ति अपेक्षित है, जो कि वैराग्यबुद्धियोगसे होती है। इसीलिए गीतामें कहा है :

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(२-४८)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(५-१९)

इस वैराग्यबुद्धियोगका ही गीतामें प्रारम्भके ६ अध्यायोंमें प्रतिपादन किया गया है। इस वैराग्यबुद्धियोगके आद्य उपदेष्टा भगवान् ही हैं, जैसा कि गीताके चतुर्थ अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्ने कहा है कि इस योगका उपदेश मैंने विवस्वान्को दिया। विवस्वान्ने मनुको, मनुने इक्ष्वाकुको। इस प्रकार इस योगकी परम्परा राजर्षियोंमें प्रचलित थी किन्तु कालप्रभावसे उस योगका लोप हो गया। उसी उत्तम रहस्यमय योगका आज मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो।[1]

इस वैराग्यबुद्धिके आदि उपदेष्टा भगवान् हैं अतः इसे भगवद्विद्या, तथा यह विद्या राजर्षियोंमें प्रचलित थी अतः इसे राजर्षिविद्या भी कहा जाता है।

२. **ज्ञानबुद्धियोग :** ज्ञान, अज्ञान तथा मिथ्याज्ञानमें और कर्म, अकर्म तथा विकर्ममें परस्पर संघर्षसे मोह उत्पन्न होता है। यह मोहरूपी अविद्याबुद्धि ही ज्ञानरूपी विद्याबुद्धिका प्रतिबन्ध कर जीवाव्ययके विद्याभागको तिरोहित कर देती है। जैसा कि गीता (५-१५) में कहा है :

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

और इस मोहके कारण ही पुरुष अपने हृदयस्थ ईश्वराव्ययके वास्तविक स्वरूपको जाननेमें असमर्थ हो जाता है :

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(गी० ७-२५)

किन्तु विद्याबुद्धिके अन्तर्ज्योतिःस्वरूप ज्ञानभागद्वारा मोहकी निवृत्ति हो जाती

---

१ गीता ४-१—३।

है। जीवाव्ययके विद्याभागमें विद्याबुद्धिके ज्ञानभागका सम्बन्ध ही ज्ञानबुद्धि-योग है। इस ज्ञानबुद्धियोगका प्रतिपादन गीतामें ७–८ अध्यायोंमें ५८ श्लोकोंके द्वारा किया गया है। इसीलिए सप्तम अध्यायमें ज्ञानमार्गानुयायी सांख्यशास्त्रके अनुसार प्रकृति, पुरुष तथा माया व पुरुषका प्रतिपादन किया गया है तथा अपरा व परा प्रकृतिसे सृष्टि बतलायी गयी है। अष्टम अध्यायमें सांख्यवेदान्तसम्मत अक्षर-पुरुषका प्रतिपादन किया गया है। मोहरूप अज्ञानकी निवृत्तिके लिए इन अध्यायोंमें सांख्यवेदान्तसम्मत ज्ञान-विज्ञानका ही निरूपण किया गया है :

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

(७-२)

इस ज्ञानबुद्धियोगकी साधिका ज्ञानविद्याको ही सिद्धविद्या कहा जाता है, क्योंकि यह विद्या सांख्यशास्त्र-प्रवर्तक कपिलादि सिद्धोंके कुलमें बाहुल्यसे प्रचलित थी। उसी विद्याका भगवान्‌ने उस विद्यामें कुछ अनुपादेय विषयोंके परिहारद्वारा परिशोधन तथा उसमें विद्यमान उपादेय विषयोंपर अपनी सम्मति-प्रदर्शन-के लिए इस विद्याका गीतामें निरूपण किया है। इस विद्यामें अनुपादेय विषय, जिसका भगवान्‌ने परिशोधन किया, सर्वविध कर्मोंका संन्यास है। ज्ञानमार्गानु-यायी :

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।

(कैवल्योप० २)

इत्यादि श्रुतियोंद्वारा ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर सर्वकर्मसंन्यासको स्वीकार करते हैं जो भगवान्‌को अभीष्ट नहीं है। उन्हें कर्मोंमें आसक्ति तथा कर्मफलका संन्यास ही अभिप्रेत है। उपर्युक्त श्रुतिमें त्यागपद भी उनके अनुसार सर्वकर्मफलत्यागका ही बोधक है। यज्ञादि कर्मोंका परित्याग उन्हें किसी भी दशामें अभिप्रेत नहीं है। इस तथ्यका प्रतिपादन गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें हुआ है :

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

(६-३)

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।
(१८-२, ३, ६)

इसी प्रकार सिद्धविद्योपदेशक सांख्यमार्गी विद्वान् अक्षरपुरुषको ही परम आराध्य मानते हैं किन्तु भगवान् अक्षरसे परे विद्यमान अव्ययपुरुषको आराध्य बतलाते हैं। अक्षरपुरुषकी आराधना करनेवालोंको शरीरत्यागानन्तर अव्यक्तरूप अक्षरकी प्राप्ति होती है। इसको ही अवरगतिरूप परमगति गीतामें कहा है। अव्ययपुरुषका चिन्तन करते हुए शरीरत्याग करनेवालोंको परमसंसिद्धिरूप परागतिकी प्राप्ति होती है जहाँसे पुनरावर्तनकी सम्भावना नहीं है। इस तथ्यका प्रतिपादन गीतामें निम्नांकित श्लोकोंमें किया गया है :

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ।।
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।
(८-१३-१५)

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।
(८-१६)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।
(८-२१)

उपर्युक्त पद्योंमें 'माम्', 'मम' इन पदोंसे ईश्वराव्ययका ग्रहण है। गीतामें सर्वत्र अस्मद् शब्दसे भगवान्ने अपने ईश्वराव्ययरूपका बोधन किया है, यह पहले बतलाया जा चुका है।

३. **ऐश्वर्यबुद्धियोग :** अविद्याबुद्धिका तीसरा भेद अस्मिताक्लेश है। अनैश्वर्य अर्थात् शक्तिके विकासाभावको अस्मिता कहते हैं। जैसे बालकमें शक्तिका विकास न होनेसे उसकी प्राणमात्रा, प्रज्ञामात्रा व भूतमात्रा निर्बल रहती है और वह लौकिक व्यवहारमें भी पूर्ण समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार शक्ति-विकासाभाव या अनैश्वर्यरूप इस अस्मिताके कारण मानव लौकिक-वैदिक-व्यवहारोंमें परतन्त्र रहता है और स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं कर सकता। यह दोष भी बुद्धिके विद्या-भागों—धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य आदिका जीवाव्ययके विद्याभागसे

सम्बन्ध नहीं होने देता। वह बुद्धिको कलुषित कर देता है। अतः जीवाव्ययके आनन्द-ऐश्वर्यादिकी इसमें पूर्ण प्रतीति नहीं होती। कलुषित अर्थात् अनैश्वर्य दोषसे ग्रसित बुद्धिमें आभासरूपसे विद्यमान जीव भी इस कारण अनीश्वरता तथा अल्पशक्तिमत्ताका अपनेमें अनुभव करता है और दुखी रहता है। इस दोषकी निवृत्तिका उपाय अनन्तशक्तिमय ईश्वरकी अनन्यभावसे उपासना है। इससे अनैश्वर्यरूप दोषका परिहार होकर उसमें ऐश्वर्यका उदय हो जाता है और वह परतन्त्रता आदि विषादोंका अनुभव नहीं करता। इसे ही ऐश्वर्यबुद्धियोग कहते हैं। इसकी उपायभूता ज्ञान-विज्ञानपूर्वक, ईश्वरमें सर्वकर्म-समर्पणपूर्वक अनन्य-भावसे ईश्वरोपासना ही ऐश्वर्यविद्या है। इस ऐश्वर्यविद्या तथा ऐश्वर्य-बुद्धियोगका प्रतिपादन गीतामें नवम अध्यायसे द्वादश अध्याय तक १५१ श्लोकों-द्वारा किया गया है। इस ऐश्वर्यविद्यामें भी परमात्माकी प्राप्ति ऐश्वर्य-बुद्धि-योगसे ही होती है। इसीलिए भगवान्‌ने (१०-१० में) कहा है :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

ऐश्वर्यविद्याको राजविद्या भी कहा जाता है क्योंकि इस विद्याका प्राचीन कालमें आधिक्येन राजकुलोंमें ही प्रचार था तथा यह राजाओंमें ही निगूढ थी। इसीलिए गीता (९-२) में भी इसे राजविद्या तथा राजगुह्य कहा है :

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्॥

प्राचीनकालमें कितनी ही विद्यायें एकान्ततः राजकुलों व राजर्षियोंमें ही प्रचरित थीं। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद्में जैबलि प्रवाहणने गौतमपुत्र श्वेतकेतुसे 'वेत्थ यथा त्वं पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि रूपसे पाँच प्रश्न किये। उनका उत्तर न दे सकनेके कारण गौतम श्वेतकेतुके साथ प्रवाहणके पास उन प्रश्नोंको पूछनेके लिए गये। उस समय गौतमके प्रश्नोंका उत्तर देनेसे पूर्व जैबलि प्रवाहणने कहा :

यथा मा गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्॥

(छा० उ० ५-३)

अर्थात् 'गौतम! इससे पूर्व यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं थी इसलिए सब लोकोंमें क्षत्रियका ही प्रशासन था' इत्यादि सन्दर्भसे सिद्ध है। उस समय ब्रह्मपरिषदोंकी तरह राजर्षिपरिषदें भी थीं जिनके अध्यक्ष राजा ही होते थे। जैसे—प्रवाहण-पर्षत्, अश्वपतिपर्षत्, प्रतर्दनपरिषत् आदि। इन परिषदोंमें भिन्न-भिन्न विद्याओंका अनुसन्धान किया जाता था।

यह राजविद्या ज्ञानविद्यापरपर्याय सिद्धविद्यासे उत्तम है, क्योंकि यह सरल है और इसमें ईश्वरका प्रत्यक्ष हो सकता है। कारण, यह अव्यक्तविषयक नहीं है। इसीलिए भगवान्ने इसके लिए 'पवित्रमिदमुत्तमम्', 'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्' (गी० ९-२) ऐसा कहा है तथा सिद्धविद्यापरपर्याय ज्ञानविद्याको अव्यक्तविषयक होनेसे क्लेशकर बतलाया है :

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

(गी० १२-४)

उपर्युक्त रीतिसे ऐश्वर्यविद्यापरपर्याय राजविद्याके प्रति भगवान्की अभिमति स्पष्ट प्रतीत होती है।

४. धर्मबुद्धियोग : अभिनिवेशरूप अविद्याबुद्धिकी निवृत्तिद्वारा जीवाव्ययके विद्याभागमें विद्याबुद्धिके धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यका योग करनेके लिए धर्मबुद्धिकी आवश्यकता है। भावना तथा वासना ही अभिनिवेशका अर्थ है। ज्ञानेन्द्रियोंसे उत्पादित, अनुभवसे आहित संस्कार भावना तथा कर्मेन्द्रियों-से जनित, कर्मद्वारा आहित संस्कार वासना कहलाता है। इन भावना तथा वासनारूप संस्कारोंको ही अभिनिवेश कहते हैं। भावना-वासनारूप अभिनिवेश ही अधर्म कहलाता है।

अभिनिवेशरूपा अविद्याबुद्धि आत्माके स्वाभाविक धर्म, ज्ञान, वैराग्य व ऐश्वर्यको आवृत कर उसे जन्मसिद्ध दैवी व आसुरी सम्पदाओंके संस्कारोंसे युक्त कर देती है। दैवी व आसुरी सम्पदायें आत्माके स्वरूपधर्म नहीं हैं, अपितु आग-न्तुक धर्म हैं। आगन्तुक धर्म होनेसे ये सम्पदाएँ आत्माको अनेक अनर्थोंसे संसृष्ट कर देती हैं। अतः इस अनेकानर्थजनक अभिनिवेशरूप अधर्मकी निवृत्तिके लिए तद्विरोधिनी धर्मरूपा विद्याबुद्धिकी आवश्यकता है।

निवृत्तिकर्मजनित विद्यातिशय ही धर्म कहलाता है। निवृत्तिप्रधान निवृत्त कर्मोंके अनुष्ठानसे उत्पादित धर्मरूपी विद्यातिशय प्रवृत्तिकर्मजनित विषयवासना-रूप अर्थात् अधर्मरूप अभिनिवेशको नष्ट कर देता है।[1]

---

१. कर्म प्रवृत्त-निवृत्त भेदसे दो प्रकारका है, जैसा कि भगवान् मनुने कहा है :

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥

(म० स्मृ० १२-८८, ८९)

अभिनिवेशरूप अधर्मके नाशसे आत्मा (जीवाव्यय) अपने स्वाभाविक सच्चिदानन्दरूपके आविर्भावके कारण स्वतन्त्र तथा दुःखरहित हो जाता है। अभिनिवेशरूप अधर्मकी निवृत्तिके लिए प्रयुक्त बुद्धिके धर्मरूप विद्याभागका जीवाव्ययके साथ योग ही धर्मबुद्धियोग कहलाता है।

गीतामें इस धर्मविद्या तथा धर्मबुद्धियोगका प्रतिपादन १३वें अध्यायसे १८वें अध्यायतक १८९ श्लोकोंद्वारा किया गया है। यह धर्मविद्या प्राचीन-कालमें वैदिक कर्मकाण्डका अनुष्ठान करनेवाले ब्रह्मर्षियोंमें प्रचलित थी, अतः इस धर्मविद्याको ब्रह्मर्षिविद्या भी कहा जाता है।

गीताका मुख्य प्रतिपाद्य

उपर्युक्त रीतिसे चतुर्विध विद्याबुद्धिको अभिभूत कर जीवाव्ययपुरुषके आनन्द-विज्ञानादि विद्याभागका तिरोधान करनेवाले रागद्वेष, अज्ञान, अस्मितारूप अनैश्वर्य तथा अधर्मरूप अभिनिवेश चार दोष या क्लेश हैं। इनकी निवृत्ति क्रमशः बुद्धिके वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा धर्म इन चार भेदोंके द्वारा होती है। इन्हीं चारोंका नाम विद्याबुद्धि है। रागद्वेषादिकी निवृत्ति कर वैराग्यादि चारों विद्याबुद्धियोंका जीवाव्यय (जीवपुरुष) से योग होनेपर जीवपुरुषकी स्वाभाविक आनन्द-विज्ञानरूपता आविर्भूत हो जाती है और वह रागद्वेषादि क्लेशोंसे निवृत्त होकर स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लेता है। इसी प्रयोजनके लिए जीवाव्ययके साथ बुद्धिके वैराग्यादि भेदोंका योग आवश्यक है। इसीको बुद्धियोग कहते हैं।

गीतामें प्रधानतया इस चतुर्विध बुद्धियोगका निरूपण है। यह गुरुवर्य श्री ओझाजीको अभिमत है। गीतामें बुद्धियोगके प्रतिपादक वचन तत्तत् स्थलों-पर पहले दिये जा चुके हैं। यहाँ भी कुछ उद्धृत किये जा रहे हैं:

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

(२-३९)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(२-५०,५१)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(१०-१०)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

(१८-५७)

गीतामें अकेले योगपदका जहाँ प्रयोग हुआ है वहाँ वह बुद्धियोगका बोधक है क्योंकि बुद्धियोगमें ही बुद्धिके धर्म, ज्ञानादि विद्याभागोंका जीवाव्ययके विद्याभागसे योग होनेके कारण वह मुख्यार्थक है ।

गीताका विषय-विभाग

प्रकरण	श्लोकांक	विषय
प्रथम अ०		
१.	१–११	दोनों सेनाओंके प्रधान वीरों तथा सामर्थ्यका वर्णन।
२.	१२–१९	दोनों सेनाओंके वीरों-द्वारा शंखध्वनि।
३.	२०–२८ पू.	अर्जुनकृत सैन्य-निरीक्षण।
४.	२८ उ.–४७	मोहाविष्ट अर्जुनकी कार्पण्योक्ति।
द्वितीय अ०		
१.	१–१०	अर्जुन-कार्पण्य-विषयक श्रीकृष्णार्जुन-संवाद।
२.	११–३०	सांख्ययोग।
३.	३१–३८	क्षात्रधर्मानुसार युद्धकी अनिवार्यता।
४.	३९–५३	कर्मयोग।
५.	५४–७२	स्थितप्रज्ञके लक्षण और महिमा।
तृतीय अ०		
१.	१– ८	ज्ञानयोग और कर्मयोगके अनुसार अनासक्तिपूर्वक नियत कर्म करनेकी श्रेष्ठता।
२.	९–१९	यज्ञादि कर्म करनेकी आवश्यकता।
३.	२०–२९	भगवान् तथा ज्ञानीके लिये भी कर्म करनेकी आवश्यकता।
४.	३०–३५	राग-द्वेष-रहित होकर कर्म करनेकी प्रेरणा।
५.	३६–४३	कामका निरोध।
चतुर्थ अ०		
१.	१–१८	सगुण भगवान्‌का प्रभाव और कर्मयोग।
२.	१९–२३	महात्माओंके आचरण और महिमा।
३.	२४–३२	फलसहित पृथक्-पृथक् यज्ञ।
४.	३३–४२	ज्ञानकी महिमा।
पञ्चम अ०		
१.	१– ६	सांख्ययोग और कर्मयोगका निर्णय।
२.	७–१२	सांख्ययोगी और कर्मयोगीके लक्षण और महिमा।

गीताप्रयुक्त छन्दोंका परिचय

ऋग्वेदमें प्रयुक्त मुख्य छन्द १४ हैं जो २४ से ७६ अक्षरोंतक उत्तरोत्तर ४-४ अक्षरोंकी वृद्धिसे निष्पन्न होते हैं। छोटे आकारके ३ छन्दोंमें गायत्री २४ अक्षर, उष्णिक् २८ अक्षर तथा अनुष्टुप् ३२ अक्षरके होते हैं। मध्यम आकार-के छन्दोंमें बृहती ३६, पंक्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४ तथा जगती ४८ अक्षरोंके होते हैं। आगे दीर्घ छन्दोंमें अतिजगती ५२, शक्वरी ५६, अतिशक्वरी ६०, और अतिदीर्घ छन्द अष्टि ६४, अत्यष्टि ६८, धृति ७२ और अतिधृति ७६ अक्षरोंके होते हैं।

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस वैदिक-सिद्धान्तानुसार जगत्के मुख्य तत्त्व अग्नि और सोम हैं। अग्निका स्थान पृथिवी है। ८ वसु पृथिवीनिवासी होनेसे अग्निके सहचर हैं। गीतामें स्पष्ट ही कहा गया है: 'वसूनां पावकश्चास्मि'। अतः अष्टाक्षर-पाद-अनुष्टुप्के आश्रयणसे गीताका संकेत अग्नितत्त्वकी ओर है। मध्यमस्थानी देवताओंमें सोमका पाठ है (निघण्टु ५-५-२) जो मध्यम स्थान-वाले रुद्रदेवकी विभूति हैं। अतः एकादशाक्षर त्रिष्टुप् छन्दकी स्वीकृतिद्वारा गीताका संकेत सोमतत्त्वके प्रति है।

पुत्रवत्सला गीता माताने दयावश इस अभिप्रायसे लघु छन्द अनुष्टुप् तथा मध्यम छन्द त्रिष्टुप्को अपनाया कि बच्चोंको अध्ययनमें कष्ट न हो। दूसरी बात यह है कि गीताके विवेच्य विषयोंमें समता (साम्यबुद्धि) का प्रमुख स्थान है। अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् छन्दोंमें ४ चरण और क्रमशः ३२ और ४४ अक्षर होते हैं। इनमें चरणों और अक्षरोंकी सभी संख्याएँ सम हैं। अतः समत्वके प्रति विशेष-पक्षपातवश गीतामें इन्हीं छन्दोंका प्रयोग हुआ और शेष दीर्घातिदीर्घ छन्द गीतामें प्रयुक्त नहीं हुए। इन्द्रवज्रा आदि छन्द त्रिष्टुप्के ही अवान्तर भेद हैं अतः त्रिष्टुप्-के ग्रहणसे वे सभी गृहीत हो जाते हैं। अनुष्टुप्से क्रमशः ४ और ८ अक्षर न्यून करनेसे उष्णिक् तथा गायत्री, ४ और ८ अक्षरोंकी वृद्धिसे क्रमशः बृहती एवं पंक्ति, तथा उत्तरोत्तर ४-४ अक्षरोंकी वृद्धिसे अवशिष्ट जगती आदि छन्द सुविज्ञेय हैं।

'गायत्री छन्दसामहम्' इस गीतावाक्यमें चतुर्दश छन्दोंके आदिम गायत्री छन्दके उल्लेखसे सूचित होता है कि गीताको गायत्री आदि चतुर्दश छन्द ही अभि-प्रेत हैं।

पूरी गीताके सात सौ श्लोकोंमें ६४५ अनुष्टुप्, ३७ उपजाति, १० इन्द्रवज्रा, ४ उपेन्द्रवज्रा और ४ विपरीतपूर्वा छन्दोंमें रचित हैं। अध्याय-क्रमसे इनका विवरण निम्नलिखित है।

अध्याय	अनुष्टुप्	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपजाति	विपरीतपूर्वा	संकलन
१	४७	...	...	...	...	४७
२	६४	२	...	६	...	७२
३	४३	...	...	...	...	४३
४	४२	...	...	...	...	४२
५	२९	...	...	...	...	२९
६	४७	...	...	...	...	४७
७	३०	...	...	...	...	३०
८	२४	१	...	३	...	२८
९	३२	१	...	१	...	३४
१०	४२	...	...	...	...	४२
११	१९	४	४	२४	४	५५
१२	२०	...	...	...	...	२०
१३	३४	...	...	...	...	३४
१४	२७	...	...	...	...	२७
१५	१५	२	...	३	...	२०
१६	२४	...	...	...	...	२४
१७	२८	...	...	...	...	२८
१८	७८	...	...	...	...	७८
	६४५	१०	४	३७	४	७००

गीतामें अर्जुनके २९[1] (मतान्तरसे २८) प्रश्न

अध्याय	श्लोकांक	प्रश्न
२	५४	४
३	१–२	१
,,	३६	१
४	४	१
५	१	१
६	३३–३४	१
,,	३७–३९*	२
८	१	५
,,	२	३
१०	१७	२
११	३१	२
१२	१	१
१४	२१	३
१७	१	१
१८	१	१
		२९

१. 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' (८-२) इस प्रसंगमें श्री मधुसूदन सरस्वती प्रकार-सहित अधियज्ञविषयक एक ही प्रश्न मानते हैं, एक प्रश्न कम हो जानेसे २८ प्रश्न रह जाते हैं। श्रीधर स्वामी अधियज्ञविषयक प्रश्नके अतिरिक्त अधियज्ञ सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की शरीरमें किस प्रकार अवस्थिति है, ऐसा प्रकारविषयक प्रश्न पृथक् मानते हैं। उनका आधार है 'किम्' शब्दका द्विधा प्रयोग—किम् और कथम्।

* श्रीधर स्वामी, मधुसूदन सरस्वती आदि व्याख्याकारोंने ३७, ३८, ३९ इन तीनों श्लोकोंमें एक ही प्रश्न माना है। उनका मत है कि सैंतीसवें श्लोक-में जो 'कां गतिं कृष्ण गच्छति' यह एक प्रश्न है, इसीका स्पष्टीकरण अगले दोनों श्लोकोंमें है, कोई नूतन प्रश्न नहीं है। जहाँतक हमारा विचार है, सैंतीसवें-श्लोक-पठित 'काम्' और अड़तीसवें-श्लोक-पठित 'कच्चित्' इन दोनों प्रश्नवाचक पदोंका प्रयोग दो प्रश्नोंके ही अभिप्रायसे हुआ है। प्रथम 'काम्' शब्दसे हीनयोनिविषयक प्रश्न सूचित होता है और दूसरे 'कच्चित्' शब्दसे विनाशविषयक प्रश्नकी सूचना प्राप्त होती है। इस प्रकार दो प्रश्न मानना ही उचित है।

गीताप्रयुक्त संबोधनोंका स्थलनिर्देश

श्रीकृष्ण

			योग
१.	अच्युत	(१-२१; ११-४२; १८-७३)	३
२.	अनन्त	(११-३७)	१
३.	अनन्तरूप	(११-३८)	१
४.	अनन्तवीर्य	(११-४०)	१
५.	अप्रतिमप्रभाव	(११-४३)	१
६.	अरिसूदन	(२-४)	१
७.	कमलपत्राक्ष	(११-२)	१
८.	कृष्ण	(१-२८, ३२-४१; ५-१; ६-३४, ३७, ३९; ११-४१, १७)	९
९.	केशव	(१-३१; २-५४; ३-१; १०-१४)	४
१०.	केशिनिषूदन	(१८-१)	१
११.	गोविन्द	(१-३२)	१
१२.	जगत्पते	(१०-१५)	१
१३.	जगन्निवास	(११-२५, ३७, ४५)	३
१४.	जनार्दन	(१-३६, ३९, ४४; ३-१; १०-१८; ११-५१)	६
१५.	देव	(११-१५, ४४)	२
१६.	देवदेव	(१०-१५)	१
१७.	देववर	(११-३१)	१
१८.	देवेश	(११-२५, ३७, ४५)	३
१९.	परमेश्वर	(११-३)	१
२०.	पुरुषोत्तम	(८-१; १०-१५; ११-३)	३
२१.	प्रभो	(११-४; १४-२१)	२
२२.	भगवन्	(१०-१४, १७)	२
२३.	भूतभावन	(१०-१५)	१
२४.	भूतेश	(१०-१५)	१
२५.	मधुसूदन	(१-३५; २-४; ६-३३; ८-२)	४

२६. महात्मन्	(११-२०, ३७)	२
२७. महाबाहो	(६-३८; ११-२३; १८-१)	३
२८. माधव	(१-३७)	१
२९. यादव	(११-४१)	१
३०. योगिन्	(१०-१७)	१
३१. योगेश्वर	(११-४)	१
३२. वार्ष्णेय	(१-४१; ३-३६)	२
३३. विश्वमूर्ते	(११-४६)	१
३४. विश्वरूप	(११-१६)	१
३५. विश्वेश्वर	(११-१६)	१
३६. विष्णो	(११-२४, ३०)	२
३७. सखे	(११-४१)	१
३८. सर्व	(११-४०)	१
३९. सहस्रबाहो	(११-४६)	१
४०. हृषीकेश	(११-३६; १८-१)	२
		७६

अर्जुन

१. अनघ	(३-३; १४-६; १५-२०)	३
२. अर्जुन	(२-२, ४५; ३-७; ४-५, ९, ३७; ६-१६, ३२, ४६; ७-१६, २६; ८-१६, २७; ९-१९; १०-३२, ३९, ४२; ११-४७, ५४; १८-९, ३४, ६१)	२२
३. कुरुनन्दन	(२-४१; ६-४३; १४-१३),	३
४. कुरुप्रवीर	(११-४८)	१
५. कुरुश्रेष्ठ	(१०-१९)	१
६. कुरुसत्तम	(४-३१)	१
७. कौन्तेय	(२-१४, ३७, ६०; ३-९, ३९; ५-२२; ६-३५; ७-८; ८-६, १६; ९-७, १०, २३, २७, ३१; १३-१, ३१; १४-४, ७; १६-२०, २२; १८-४८, ५०, ६०)	=२४
८. गुडाकेश	(१०-२०; ११-७)	
९. तात	(६-४०)	२

१०. देहभृतां वर	(८-४)	१
११. धनञ्जय	(२-४८, ४९; ४-४१; ७-७; ९-९; १२-९; १८-२९, ७२)	१ ८
१२. परंतप	(२-३; ४-२, ५, ३३; ७-२७; ९-३; १०-४०; ११-५४; १८-४१)	९
१३. पाण्डव	(४-३५; ६-२; ११-५५; १४-२२; १६-५)	५
१४. पार्थ	(१-२५; २-३, २१, ३२, ३९, ४२, ५५, ७२; ३-१६, २२, २३; ४-११, ३३; ६-४०; ७ ७-१, १०; ८-८, १४, १९, २२, २७; ९-१३, ३२; १०-२४; ११-५; १२-७; १६-४, ६, १७-२६, २८; १८-६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ७२)	३८
१५. पुरुषर्षभ	(२-१५)	
१६. पुरुषव्याघ्र	(१८-४)	
१७. भरतर्षभ	(३-४१; ७-११, १६; ८-२३; १३-२६; १४-१२; १८-३६)	७
१८. भरतश्रेष्ठ	(१७-१२)	
१९. भरतसत्तम	(१८-४)	
२०. भारत	(२-१४, १८, २८, ३०; ३-२५; ४-७, ४२; ७-२७; ११-६; १३-२, ३३; १४-३, ८, ९, १०; १५-१९, २०; १६-३; १७-३; १८-६२)	२०
२१. महाबाहो	(२-२६, ६८; ३-२८, ४३; ५-३, ६; ६-३५; ७-५; १०-१; १४-५; १८-१३)	११
२२. सव्यसाचिन्	(११-३३)	१
		१६२

सञ्जय

१. सञ्जय	(१-१)	१

धृतराष्ट्र

१. परंतप	(२-९)	१
२. पृथिवीपते	(१-१८)	१

३. भारत	(१-२४; २-१०)	२
४. महीपते	(१-२१)	१
५. राजन्	(११-९; १८-७६, ७७)	३
		८

द्रोणाचार्य

१. आचार्य	(१-३)	१
२. द्विजोत्तम	(१-७)	१
		२

	पुनरुक्तिसहित संख्या	अपुनरुक्त सम्बोधन संख्या
श्री भगवान्	७६	४०
अर्जुन	१६२	२२
धृतराष्ट्र	८	५
द्रोणाचार्य	२	२
सञ्जय	१	१
	२४९	७०

कर्म, भक्ति और ज्ञान योगोंकी विशेषताएँ

यह बहुजनसम्मत बात है कि गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका विवेचन किया गया है। यहाँ इन तीनों योगोंकी १८ विशेषताएँ सारिणीद्वारा प्रस्तुत की जा रही हैं, जिससे प्रत्येक योगकी विशेष प्रकारकी मान्यताएँ एवं परस्पर योगोंका अन्तर सुस्पष्ट हो जायगा।

विशेषता	कर्मयोग	भक्तियोग	ज्ञानयोग
१. निर्विकारता	कर्म करते हुए अन्तःकरणकी निर्विकारता	भगवच्चिन्तन एवं विधानसे सन्तुष्टिपूर्वक निर्विकारता	आत्मस्वरूपविचारपूर्वक मात्र परमात्म-सत्ता मानकर निर्विकारता
२. समता	सिद्धि-असिद्धिमें समभावसे अन्तःकरणकी समता	सर्वत्र भगवद्बुद्धिसे व्यवहारकी समता	एक परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे स्वरूपकी समता
३. एकाग्रता	बुद्धिकी	मनकी	स्वरूपस्थितिकी
४. अन्तःकरण, इन्द्रिय एवं शरीरपर स्वत्व	जगत्का	भगवान्का	प्रकृतिका
५. कर्मका उद्देश्य	सेवा	भगवत्प्रीति	स्वभाव (निरहंकारता)
६. श्रद्धा-विश्वास	फलत्यागपर	भगवान्पर	तात्त्विक स्वरूपपर
७. योगमें प्रवृत्तिका हेतु	फलभोगसे उकताना	प्रभु-विमुखताका दुःख	संसार-दुःख निरीक्षण

विशेषता	कर्मयोग	भक्तियोग	ज्ञानयोग
८. अधिकारी	क्रियाप्रधान	भावप्रधान	विचारप्रधान
९. प्रधानता	कर्तव्य कर्मकी (स्थूल शरीरकी)	भगवान्‌में ममता-शरणागतिकी (सूक्ष्म शरीरकी)	निर्ममता-निरहंकारताकी (कारण शरीरकी)
१०. आश्रयानाश्रयता	कर्मफलकी अनाश्रयता	भगवान्‌की आश्रयता	निराश्रयता
११. त्याग	स्वार्थका	ममताका	अहंकारका
१२. योगका उद्देश्य	क्रियावेगकी शान्ति	सांसारिक-आकर्षणविहीन भगवद्रति	आकर्षणविहीन स्वरूपमें स्थिति
१३. काम-क्रोध वेगोंकी शान्ति-का उपाय	दूसरोंकी सेवा	भगवन्नामकी रटन	पूर्ण विचार
१४. भय-निवृत्ति	स्वयंको जगत्‌का मानकर	स्वयंको भगवान्‌का मानकर	ब्रह्मातिरिक्त किसीकी सत्ता न मानकर
१५. कर्तृत्वाकर्तृत्व	जगत्सेवा-कर्तृत्व	भगवत्पूजाकर्तृत्व	सब करते हुए भी अकर्तृत्व
१६. विशेष प्रीतिके विषय	सेवनीय जगत् (प्राणि-वर्ग)	भगवान्	स्वरूप (आत्मा)
१७. सुख-दुःखादि	कर्मके फल	भगवान्‌के विधान	मायाका पसारा
१८. प्राप्तव्य	शान्ति (कृतकृत्यता)	प्रीति (प्राप्त-प्राप्तव्यता)	बोध (ज्ञात-ज्ञातव्यता)

विभिन्न व्याख्याकारोंद्वारा प्रयुक्त गीताध्यायनामावली

गीताके विभिन्न व्याख्याकारोंने प्रत्यध्यायकी पुष्पिकामें अपने-अपने दृष्टिकोणसे तत्तद् अध्यायका नाम दिया है। १, ३, ९, १०, ११, १२, १४, १५, १६ सख्यक नौ अध्यायोंमें कोई अन्तर नहीं है। अवशिष्ट नौ अध्यायोंके अन्तमें प्रयुक्त नामोंका विभेद स्पष्ट किया जाता है। शून्य (०) का प्रयोग श्री शंकराचार्य-द्वारा प्रयुक्त नामका द्योतक है।

अध्यायाङ्क	शंकराचार्य	मधुसूदन सरस्वती	श्रीधरस्वामी	तिलक	निर्णयसागर
२	सांख्ययोग:	सर्वगीतार्थसूत्रणम्	कोई नाम नहीं	०	
४	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग:	ब्रह्मार्पणयोग:	ज्ञानयोग:	०	कर्मब्रह्मार्पणयोग:
५	संन्यासयोग:	स्वस्वरूपपरिज्ञानम्	०	०	कर्मसंन्यासयोग:
६	ध्यानयोग:	अध्यात्मयोग:	अध्यात्मयोग:	अध्यात्मयोग: (मूल), ध्यानयोग: (व्याख्या)	आत्मसंयमयोग:
७	ज्ञानविज्ञानयोग:	ज्ञेयध्येयप्रतिपाद्यतत्त्व-ब्रह्मनिरूपणम्	०	०	०
८	ब्रह्माक्षरनिर्देश:	अक्षरपरब्रह्मविवरणम्	महापुरुषयोग:	अक्षरब्रह्मयोग:	अक्षरब्रह्मयोग:
१३	प्रकृतिपुरुषविवेकयोग: (मूल), क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग: (भाष्य)	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेक:	प्रकृतिपुरुषविवेकयोग:	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग:	प्रकृतिपुरुषनिर्देशयोग:
१७	श्रद्धात्रयविभागयोग:	श्रद्धात्रयविभागविवरणम्	श्रद्धात्रयविभागविवरणम्	०	०
१८	मोक्षसंन्यासयोग:	मोक्षसंन्यासप्रतिपादनम्	मोक्षयोग:	०	संन्यासयोग:

अकारादिश्लोकानुक्रमणी